अनुक्रम

विषय	लेखक	पृष्ठ-संख्या
१. शुभ सन्देश और पत्र		
२. पारिवारिक जीवन, संस्मरण और रेखा-चित्र		
श्रीयुत केशवराव और उनका परिवार	श्री काशीनाथराव वैद्य	१९
श्रीयुत केशवराव-एक मित्र की दृष्टि में	,, नेमचंद गांधी	२४
पिता और पुत्र : कुछ संस्मरण	,, गुलाम पंजतन	२८
बैरिस्टर विनायकराव विद्यालंकार	,, इन्द्र विद्यावाचस्पति	३१
श्री विनायकराव : कुछ विशेष झांकियां	,, खण्डेराव कुलकर्णी	३४
श्री विनायकराव : कुछ मधुर संस्मरण	,, भीमसेन विद्यालंकार	४६
श्री विनायकराव का विद्यार्थी जीवन : कुछ संस्मरण	,, देशबन्धु विद्यालंकार	४९
कोरटकर : कुछ निजी संस्मरण	,, डी. वी. राव	५४
श्री विनायकराव विद्यालंकार : एक महाराष्ट्रीय दृष्टिकोण से	,, रघुनाथ मुरलीधर जोशी	५८
हमारे प्रधान जी	,, विनयकुमार	६१
श्री विनायकराव : मंत्री के रूप में	,, कृष्णदत्त	६५
कुछ मधुर स्मृतियाँ	,, वागीश्वर विद्यालंकार	७७
श्रीयुत विनायकराव का हास्य	,, वंशीधर विद्यालंकार	८१
श्रीयुत विनायकराव : एक अन्विक्षक : एक कथाकार	,, ज्ञानेन्द्रकुमार भटनागर	८४
३. राजनैतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक आंदोलन		
उन्नीसवीं शती के धार्मिक आंदोलन	,, हरिदत्त वेदालंकार	८९
हैदराबाद राज्य की राजनैतिक चेतना	,, दिगम्बरराव बिन्दु	१०२
स्वराज्य-संग्राम में आर्यसमाज का भाग	,, इन्द्र विद्यावाचस्पति	११५
हैदराबाद में आर्यसमाज का संघर्ष	,, नरेन्द्र	१२४
आर्यसमाज और हिन्दी	,, हरिशंकर शर्मा	१४८

विषय	लेखक	पृष्ठ-संख्या
हैदराबाद जन-शिक्षा-परिषद्	श्री लक्ष्मणराव गानू	१५३
भाग्यनगर का सत्याग्रह	„ नरदेव शास्त्री	१५८
आर्यसमाज की आवश्यकता	„ अम्बिका प्रसाद वाजपेयी	१६३
हैदराबाद और सन् १८५७-५८ का स्वतंत्रता-संग्राम	„ सेतुमाधवराव पगड़ी	१६६
विदेशों में आर्यसमाज	„ रघुनाथ प्रसाद पाठक	१७२
इण्डियन नॅशनल कॉंग्रेस (सिकन्दराबाद की एक सभा का विवरण १८८८ ई.)	„ के. सजनलाल	१९०
आर्यसमाज के शहीद	„ बंसीलाल व्यास	१९४
एशिया के नव जागरण में भारत का स्थान	„ सत्यकेतु विद्यालंकार	२०२

४. कला, साहित्य और संस्कृति

हैदराबाद राज्य की कलानिधि	„ लक्ष्मीनारायण गुप्त	२१३
भारत की आधुनिक चित्रकला	„ विश्वनाथ मुखर्जी	२१८
हैदराबाद में पुरातत्व शास्त्र	„ श्रीनिवासाचार्य	२२२
हैदराबाद के आधुनिक कलाकार	„ नीहार	२२६
विश्वनाथ मुखर्जी : चित्रकला	„ ज्ञानेन्द्रकुमार भटनागर	२३१
अजन्ता के चित्र	„ गुलाम यजदानी	२३५
हैदराबाद की चित्रकला : आदि युग	„ हैदराबाद पुरातत्व विभाग से	२४२
चित्रकला : मध्यकाल	„ ख्वाजा मुहम्मद अहमद	२४८
कवि और कविता	„ हरीन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय	२५०
संस्कृत के नाटकों में ट्रेजेडी	„ वंशीधर विद्यालंकार	२६७
आधुनिक तेलुगु-साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियां	„ के. लक्ष्मीरंजनम्	२७७
तेलुगु की आधुनिक काव्यधारा	„ भीमसेन 'निर्मल'	२८४
कन्नड़ के रत्नत्रय	„ कृष्णमूर्ति	३०३
आधुनिक कन्नड़ साहित्य	„ नरसिंहराव मानवी	३१२
आधुनिक मराठी साहित्य की प्रवृत्तियां	„ प्रभाकर बलवंत माचवे	३२१
मराठी नाटकों के हिन्दी 'ललित'	„ विनयमोहन शर्मा	३२९
संस्कृत-साहित्य का गौरव	„ प्रियव्रत वेदवाचस्पति	३३३

विषय	लेखक	पृष्ठ-संख्या
यूरोप में संस्कृत विद्याओं का अन्वेषण	श्री शंकरदेव विद्यालंकार	३४२
उर्दू-उपन्यास की परम्परा	श्रीमती ज़ीनत साजिदा	३४९
उत्तरी भारत की भाषा पर दक्खिनी उर्दू का प्रभाव	श्री सैयद मुहींउद्दीन क़ादरी	३५६
दक्खिनी साहित्य : एक विहंगम दृष्टि	,, राजकिशोर पाण्डेय	३६१
गुरु नानक : पंजाबी काव्य में	,, कर्तारसिंह दुग्गल	३६८
अरबी भाषा तथा साहित्य	,, एम. अब्दुल मुईद खान	३७६
भारत में लोकतंत्र राज्य	,, डा. सूर्यकान्त	३८७
हिन्दी प्रचार सभा : विहंगावलोकन	,, नरेन्द्र	३९४
महाकवि नाथूराम शंकर शर्मा	,, बनारसीदास चतुर्वेदी	३९९
हिन्दी साहित्य में प्रयोगवाद	,, रामकुमार खण्डेलवाल	४०५
धर्म और राजनीति	,, ध्रुवानंद सरस्वती	४१३
भारतीयों में अपनी संस्कृति के लिए उच्च भाव हो	,, वैद्यनाथ शास्त्री	४१७
आर्य संस्कृति का दार्शनिक आधार	,, मदनमोहन विद्यासागर	४२२
५. वेद, दर्शन और अध्यात्म		
ईश्वर और राज्यशासन	श्री दामोदर सातवलेकर	४३३
वेद और गौ-पालन	,, प्रियव्रत वेदवाचस्पति	४४५
कारणवैचित्र्ये सति कार्यवैचित्र्यम्	,, गोपदेव दर्शनाचार्य	४६२
मोक्ष तथा मृत्यु	,, हरिदत्त शर्मा, शास्त्री	४६७
कर्म का सिद्धान्त	,, सत्यव्रत सिध्दान्तालंकार	४७२
विभिन्न प्रमाणों के प्रयोग की शक्तिसापेक्षता	,, रामशंकर भट्टाचार्य	४८५
ऋग्वेद के ऋषि	,, उदयवीर शास्त्री	४९५
वेद में विद्याएं	,, स्वामी वेदानन्द तीर्थ	५०९
वैदिक राष्ट्र-व्यवस्था	,, विश्वनाथ वेदोपाध्याय	५१६
६. विविध		
हैदराबाद में वकील आंदोलन और रावसाहब	,, गोपालराव एकबोटे	५२७
राष्ट्र निर्माता महर्षि दयानन्द	,, धर्मदेव विद्यावाचस्पति	५३५

विषय	लेखक	पृष्ठ-संख्या
स्वामी दयानन्द का राष्ट्रीय दृष्टिकोण और आर्यसमाज का वास्तविक रूप	,, सत्यदेव विद्यालंकार	५४५
ऋषि दयानन्द का राजनैतिक दृष्टिकोण	,, भीमसेन विद्यालंकार	५५४
चीन में भारतीय पंडित	,, सुमन वात्स्यायन	५६०
७. काव्य-मालिका		
मनोमय	श्री सुमित्रानंदन पंत	५७१
गीत	,, हरिवंशराय 'बच्चन'	५७३
एक भारतीय प्रेम-गीत	श्रीमती सरोजिनी नायडू	५७५
कवि	श्री हरीन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय	५७६
झलक	,, वंशीधर विद्यालंकार	५७७
"गीताञ्जलि" के दो मेघ-गीत	,, रवीन्द्रनाथ ठाकुर	५७९
मेरेमन	,, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'	५८१
विज्ञान और धर्म	,, हरिशंकर शर्मा	५८३
मुक्ति	,, आरसी प्रसाद सिंह	५८५
गीत	,, जितेन्द्रकुमार	५८७
कवि का पाथेय	,, प्रो. मित्तल	५८९
कल रात स्वप्न में देखा मैंने	,, वीरेन्द्रकुमार जैन	५९३
मैं तुम्हें पहचान लूंगा	,, रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'	५९५
गीत	,, रवीन्द्र भ्रमर	५९६
अमर प्रेम	,, डा. रामानंद तिवारी	५९७
भाग्य और कर्म	श्रीमती कुमारी श्यामा श्रीवास्तव	६००
जीवन का संकल्प	श्री शांति मेहरोत्रा	६०१
पौरुष	,, रामेश्वर दयाल दुबे	६०२
गीत	,, दीप्ति	६०३
श्री विनायकराव-प्रशस्ति	,, प्रकाशवीर शास्त्री	६०५

शुभ संदेश और पत्र

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः

* * *

य एतद्विदुः अमृतास्ते भवन्ति

* * *

किमहं तेन कुर्याम्

* * *

येनाहं नामृता स्याम्

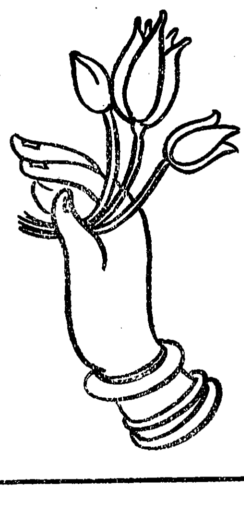

शुभ संदेश

, गृह मंत्री, भारत सरकार
नई दिल्ली

प्रिय श्री नरेन्द्र जी,

मुझे यह जान कर प्रसन्नता हुई कि आप श्रीयुत विनायक राव के षष्टि-पूर्ति के समारोह को मना रहे हैं और विनायक राव अभिनन्दन ग्रन्थ का प्रकाशन कर रहे हैं । मैं इस शुभ अवसर पर श्री विनायक राव को हार्दिक बधाई देता हूं और आपके प्रयत्नों में पूर्ण सफलता चाहता हूं ।

आपका
गोविन्द वल्लभ पन्त

* * *

राज्यपाल

गवर्नर का कैम्प
उत्तर प्रदेश

उत्तर प्रदेश

जुलाई २६, १९५५.

प्रिय श्री विद्यालंकार जी,

आपका १८ जुलाई, १९५५ का कृपापत्र मिला ।

मुझे यह जान कर बड़ी प्रसन्नता हुई कि आप लोग श्री विनायक राव की षष्टि-पूर्ति के समारम्भ को मना रहे हैं । वे मेरे पुराने मित्र हैं । मैं उन्हें १९३७-३८ के हैदराबाद के आर्य-सत्याग्रह के समय से जानता हूं । १९४८ में मैं हैदराबाद में एजेन्ट-जनरल था । मुझे उस समय भी उनका सौहार्द और सहयोग प्राप्त हुआ था । जिस समय वकीलों ने न्यायालयों का बहिष्कार किया था उस समय उन्होंने ही उसका नेतृत्व किया था और उस समय में की हुई जांच हैदराबाद की जनता के लिए बहुत सहायक सिद्ध हुई थी ।

वे एक विद्वान् और निःस्वार्थ देशभक्त हैं । उनकी प्रवृति धार्मिक हैं । वे अनेक वर्षों से लगातार साधारण जनता की सेवा कर रहे हैं । उनकी षष्टि-पूर्ति को मनाकर आप उनका जो उचित सम्मान कर रहे हैं वे पूर्ण रूप से उसके अधिकारी हैं ।

आपका
के. एम. मुंशी

राज भवन

नागपुर
जनवरी १६, १९५६.

हैदराबाद प्रशासन के वित्त, वाणिज्य और उद्योग के मंत्री श्रीयुत विनायक राव के षष्टि-पूर्ति के समारम्भ में मैं अपने को प्रसन्नतापूर्वक सम्मिलित करता हूँ। यह बतलाने की आवश्यकता नहीं है कि हैदराबाद राज्य में वे स्वतंत्रता और लोकतंत्र के प्रदीप-वाहक हैं और उन्होंने स्वेच्छाचारी शक्तियों से जहां भी सम्भव हुआ लोहा लेने का प्रयत्न किया है। पुलिस कार्यवाही से पूर्व उन्होंने अपने उदाहरण से उस नाजुक समय लोगों में उत्साह को बनाए रखा। मैं उनके दीर्घायु होने की और समृद्धि की कामना करता हूँ।

बी. पट्टाभि सीतारामैय्या
राज्यपाल, मध्य प्रदेश

* * *

बिहार गवर्नर का कैम्प
जनवरी १५, १९५६.

प्रिय श्री काशीनाथराव जी,

हैदराबाद राज्य के वित्त, वाणिज्य और उद्योग के मंत्री श्रीयुत विनायक राव विद्यालंकार के ६१ वें जन्म-दिवस के शुभ समारोह के अवसर पर मुझे बधाइयां प्रेषित करने में परम प्रसन्नता है।

उन्होंने अपने जीवन में देश की स्वतंत्रता के लिए निरन्तर संघर्ष किया है और अब वे प्रशासन के द्वारा जनता की सेवा कर रहे हैं।

वे दीर्घायु हों और अपने त्यागपूर्ण जीवन में और शानदार अध्यायों का संयोजन करें।

आपका
आर. आर. दिवाकर
राज्यपाल, बिहार

शुभ संदेश

पूना नगर
जुलाई ३१, १९५५.

प्रिय श्री विद्यालंकार जी,

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि आप लोग श्री विनायक राव के षष्टि-पूर्ति समारोह को मना रहे हैं। मैं सम्पादक-समिति के साथ अपने को सम्मिलित करता हूँ और आपके प्रयत्नों में सफलता चाहता हूँ। मैं भगवान् से प्रार्थना करता हूँ कि वह उनको दीर्घ आयु और आरोग्य प्रदान करे। श्रीयुत विनायक राव ने १९४७-४८ के आर्य-सत्याग्रह के द्वारा समस्त राष्ट्र की महान् सेवा की। आप जानते हैं कि मैं बीमार हूँ और बिस्तर पर पड़ा हूँ और इस कारण विनायक राव अभिनन्दन ग्रन्थ के लिए लेख लिखने में असमर्थ हूँ। तो भी मैं पूर्ण भावना के साथ लिख रहा हूँ और मैं आपके कार्य में पूर्ण सफलता चाहता हूँ।

मेरा स्वास्थ्य धीरे धीरे सुधर रहा है और कुछ महीने लगेंगे जब कि मैं बैठने के योग्य हो सकूँगा। श्रीयुत काशीनाथ राव वैद्य और अन्य सब को नमस्कार कहिएगा।

आपका
ए. एन. एस. अणे

* * *

मंत्री
यातायात और रेलवे
भारत-सरकार
नई दिल्ली
जनवरी १६, १९५६.

प्रिय नरेन्द्र जी,

पुलिस कार्यवाही से पूर्व श्रीयुत विनायक राव ने राष्ट्र की जो सेवा की है और विरोधी शक्तियों से जिस प्रकार टक्कर ली है उससे हैदराबाद का प्रत्येक व्यक्ति परिचित है। मैं उनके ६१ वें जन्म-दिन के शुभ अवसर पर अपनी शुभ कामनाएँ प्रेषित करता हूं। वे दीर्घायु हों जिससे कि हमें उनकी सेवा और अनुभव का लाभ और भी अधिक प्राप्त हो सके।

आपका
लाल बहादुर

मंत्री
वाणिज्य एवं उद्योग
भारत-सरकार,
नई दिल्ली
२१ जनवरी, १९५६.

मुझे यह जान कर प्रसन्नता हुई कि हैदराबाद प्रदेश आर्य प्रतिनिधि सभा श्रीयुत विनायक राव विद्यालंकार के ६१ वें जन्म-दिन को मना रही है। श्री विनायक राव का हैदराबाद राज्य के सामाजिक और राजनैतिक जीवन में एक प्रमुख स्थान है। उन्होंने आर्य समाज को जो सेवाएँ की हैं वे अविस्मरणीय हैं। आनेवाली नवयुवकों की पीढ़ियाँ उनकी सेवा और त्याग को अपना आदर्श बनाएँगी। यद्यपि उनका जीवन अत्यन्त व्यस्त है तो भी, उनके विचारों में संतुलन प्रशंसनीय है। लोकतंत्र और स्वतंत्रता के लिए उनका त्याग और स्वेच्छाचारी शक्तियों के साथ संघर्ष हैदराबाद राज्य के इतिहास का एक प्रमुख अध्याय है। मैं आपके साथ श्री विनायक राव की दीर्घायु होने की कामना करता हूँ जिससे वे राष्ट्र की और भी अधिक सेवा कर सकें। मैं इस समारोह की पूर्ण सफलता चाहता हूँ।

डी. पी. करमाड़कर

* * *

नई दिल्ली
जुलाई २३, १९५५.

प्रिय श्री नरेन्द्र जी,

आपके २१ जुलाई के कृपापत्र के लिए धन्यवाद। इस पत्र से मुझे ज्ञात हुआ कि आप हमारे माननीय मित्र श्री विनायक राव विद्यालंकार को उनकी षष्टि-पूर्ति के शुभ अवसर पर एक अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट में देना चाहते हैं जिसमें कि उनके जीवन की स्मरणीय घटनाओं का उल्लेख रहेगा। मुझे आप के पत्र से संयोगवश पहली बार यह पता लगा कि श्री विनायक राव वास्तव में आयु में मुझ से छोटे हैं।

मैं अभिनदन-ग्रन्थ के आयोजकों को बधाई देता हूँ। वे इसके द्वारा एक ऐसे व्यक्ति का सम्मान कर रहे हैं जो कि एक प्रमुख नागरिक है, जो चरित्रवान् और विनयशील है और जिसका साहस निर्भयता-पूर्ण है। हैदराबाद की स्वतंत्रता के लिए उन्होंने जो त्याग किया है वह महान् है। पुलिस कार्यवाही के पश्चात् जब सबसे प्रथम नागरिक शासन की स्थापना हुई तब वे हैदराबाद के प्रशासन में मेरे एक सह-योगी थे। उन दिनों मुझे उनके निकट सम्पर्क में आनेका पर्याप्त अवसर प्राप्त हुआ। उनसे अच्छे सहयोगी और अधिक सहानुभूतिपूर्ण और बुद्धिमान् मंत्रणा देनेवाले व्यक्तियों का मिलना कठिन है। हैदराबाद में जो सर्व-प्रथम लोकतंत्र का निर्माण हुआ उसमें वे मंत्री पद पर रहे हैं। इस प्रमुख राज्य का जो भी भविष्य हो-वे इस राज्य और उसकी जनता की इसी प्रकार सेवा करते रहेंगे। वे इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए दीर्घायु हों-मेरी यही प्रार्थना है।

आपका
एम. के. वेल्लोडी

शुभ संदेश

मुख्य मंत्री,
हैदराबाद राज्य

गत तीस वर्षों से भी अधिक समय से, श्री विनायक राव मेरे घनिष्ठ मित्र और अनन्य सहयोगी रहे हैं। उनके साथ व्यावसायिक और सार्वजनिक सेवा के क्षेत्रों में साथ साथ कार्य करने का सौभाग्य मुझे प्राप्त रहा है, इस कारण श्री विनायक राव विद्यालंकार के बारे में कुछ लिखने का साहस करते हुए मेरी लेखनी रुक रही है। १९१७ ई. से ही जबकि मैं कालेज का एक विद्यार्थी था, स्व. श्री. केशवराव से परिचित होने का ही नहीं अपितु उनके कृपापात्र बनने का भी सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ था। १९२४ ई. तक, जबकि मैं अपने व्यावसायिक क्षेत्र में पदार्पण करने का प्रयत्न कर रहा था मैं श्री विनायक राव के सम्पर्क से वंचित ही रहा क्योंकि वे हैदराबाद से दूर गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी तथा उसके पश्चात् बैरिस्टरी के लिए लंदन चले गए थे। गुरुकुल के सुयोग्य स्नातक के नाते उनके प्रति मेरी जो असीम श्रद्धा थी उसका मुझे अभी भी ठीक तरह से स्मरण है। मधुर व्यवहार, मिलनसार वृत्ति तथा स्पष्टवादिता के कारण औरों के भांति मैं भी बहुत शीघ्र ही उनकी ओर आकृष्ट हुआ। सहज स्वीकार्ह तीव्र बुद्धिमत्ता तथा नैष्ठिक क्रियाशीलता, सहव्यवसायी तथा सार्वजनिक कार्यकर्ता दोनों में उनके प्रति आकर्षण के केन्द्र बिंदु थे। इन गुणों के कारण ही, वे आज तक हैदराबाद के प्रमुख व्यक्तियों में गिने जाते रहे हैं और विरोधियों से भी प्रशंसा प्राप्त कर एक महान् नररत्न सिद्ध हुए हैं।

सभी उर्दू शब्दों के पूर्ण अरबी तथा फ़ारसीकरण के प्रति अति उत्साही विद्वानों की हास्यास्पद चेष्टाओं पर गंभीर व्यंग्य करते हुए उन्होंने टिकट का अटकाट, कोट का अवकाट जैसे विचित्र बहुवचनों के निर्माण द्वारा न्यायाधीश मंडळ (Bench) तथा वकील संघ (Bar) में जो उन्मुक्त हंसी उत्पन्न की थी उसकी गूंज आज भी मेरे कानों में बनी हुई है। उर्दू की अनभिज्ञता के बहाने जो एक हद तक वास्तविक भी कही जा सकती है वे ऐसे शिष्ट हास्य के स्रष्टा वे कभी कभी बन जाते हैं किंतु शीघ्र ही अपनी अध्यवसायपूर्ण प्रवृत्ति के सहारे इतनी अच्छी योग्यता उर्दू में उन्होंने प्राप्त की कि तत्कालीन पत्रों में प्रौढ लेख लिखकर कुशल लेखक के नाते उन्हें पर्याप्त प्रशंसा मिली। श्री एम. नरसिंहराव

द्वारा संचालित उर्दू दैनिक "रैयत" में उच्च न्यायालय (High court) की, स्पष्ट दीखनेवाली अनियमितताओं पर व्यंग्य करते हुए "लिलिपुर का मीर मुंशी" नाम से छपे उनके लेख ने न्यायमंडल तथा वकील संघ में जो हलचल मचाई थी वह भुलाई नहीं जासकती। धन्य है, उस समय के मुख्य न्यायाधीश श्री नवाब मिर्जा यार जंग जिन्होंने अपनी सहनशीलता तथा खिलाड़ियों जैसी सौहार्द्रता के कारण लेखक का पता लगाकर उससे प्रशंसापूर्ण तथा स्नेहयुक्त बातें कीं और अनियमितताओं में सुधार के प्रयत्न किए। हिंदी और उर्दू दोनों भाषाओं में श्री राव साहब लेखनी के धनी हैं। वक्ता के रूप में आर्य समाज तथा राजनैतिक मंच से, हजारों श्रोताओं के विश्वास व श्रद्धा के भाजन बने रहे हैं। एक कट्टर आर्य समाजी के नाते चरित्रशील गुणों का समावेश उनमें अनिवार्य रूप से हुआ है। विभिन्न तत्वों से युक्त संस्था को नियंत्रित रखने के लिए आवश्यक सहनशीलता के आप तो विशाल सागर हैं। कहना नहीं पड़ेगा कि सफलता सदा उनके साथ रही है आज भी वे अनेक शैक्षणिक सामाजिक तथा अन्य संस्थाओं के अध्यक्ष हैं। इस बात पर मैं मुग्ध हूं कि इतने विभिन्न क्षेत्रों के मार्गदर्शन के लिए अपनी व्यस्तताओं में से समय कहाँ से निकाल पाते हैं।

गत दो तीन दशकों का समय जबकि हैदराबाद अतीव अप्रिय तथा दमनपूर्ण स्थितियों से घिरा हुआ था श्री विनायक राव अदम्य साहस के अपूर्व उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। आर्यसमाज राज्य के शासकों की आंख में सदा एक कांटे की भांति खटकता था। यह कहना असंगत है कि उस समय इस संस्था का आविर्भाव अवांछित था। केवल आर्यसमाज के लिए ही नहीं सभी राजनैतिक संस्थाओं के लिए भी उस समय नागरिक अधिकार शून्य के बराबर थे। "गश्ती" (सर्कुलर नं. ५३) के नाम से कुप्रसिद्ध आदेश ने राज्य के सार्वजनिक जीवन को असहनीय बना रखा था और पूर्व अनुमति के बिना किसी प्रकार की सार्वजनिक सभा का आयोजन असंभव था। स्वस्थ सार्वजनिक जीवन उन विषमतम दशाओं में अपना अस्तित्व खो चुका था। राजनैतिक या अन्य कोई सार्वजनिक चेतना के निर्माण के लिए हम लोगों को कई बार राजाज्ञाओं का उल्लंघन करते हुए अपने ध्येयों की पूर्ति के मार्ग खोजने पड़े। कानून तोड़ना कई अवसरों पर नैतिक कर्तव्यों का रूप धारण कर लेता था। आर्यसमाज के प्रमुख नेता होने के नाते अपने कर्तव्यों की पूर्ति में श्री विनायक राव सदा आगे ही रहे। आर्य समाज के ऐतिहासिक सत्याग्रह का स्मरण, उसमें श्री विनायक राव के अमूल्य योगदान के बिना हम नहीं कर सकते। उन्होंने उसे अखिल भारतीय रूप प्रदान किया। उत्तर प्रदेश तथा भारत के अन्य भागों में उन्हें जो भव्य स्वागत मिला वह अविस्मरणीय है। उनका हाथियों पर शानदार जुलूस निकाला गया। करेन्सी नोटों की मालाएँ पहनाई गईं, मानों इनकी साधना से संतुष्ट स्वयं लक्ष्मी धन वर्षा कर रही हो। यह सत्याग्रह राज्य में नागरिक स्वतंत्रताओं के अभाव के विरूद्ध एक अंतिम तथा विवश प्रयत्न था। किंतु उद्दंड शासकों की ओर से इस पर सांप्रदायिकता के रंग पोतने का प्रयत्न किया गया। सरकारी दमन के विरोधी प्रत्येक कार्य के बारे में ऐसा

ही प्रयत्न किया जाता था। १२,००० से अधिक सत्याग्रहियों से राज्य की जेलें खचाखच भर गईं और सरकार एक प्रकार के समझौते पर उतर आई। परिणामस्वरूप सत्याग्रहियों की मुक्ति हुई। इस समझौते का श्रेय दिल्ली के स्व. श्री देशबंधु गुप्त को है। जिन्होंने हमारे गण्यमान्य नेताओं के सुझाव पर इस ओर कदम उठाया था। ऐसे अनेक अवसर आए जबकि विनायक राव का अपना जीवन भी संकट में पड़ गया। मैं अधिकार के साथ यह कहने का साहस करता हूँ कि उनके राजनीतिक तथा सांप्रदायिक विरोधी भी उनके व्यक्तित्व के प्रति महान् आदर दर्शाते हैं। स्व. नवाब बहादुर यार जंग जैसे व्यक्ति के भी इनके प्रति प्रशंसा तथा गौरव के जो शब्द थे उन्हें मैं भूलने में असमर्थ हूँ। अपने विरोधियों के भी श्रद्धा-पात्र बनने वाले व्यक्ति की महत्ता के बारे में ग्रंथ के ग्रंथ लिखे जाएँ तो भी वे भी कम ही हैं। श्री विनायक राव का आर्यसमाज से घनिष्ठ संबंध रहने पर भी तथा आक्रमक इस्लाम, विशेषतः राष्ट्र में बढ़ती हुई मुस्लिम-लीग की दूषित विचारधारा के प्रति, आर्य समाज की प्रतिरोधात्मक ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के होते हुए भी अत्यंत विश्वास के साथ मैं कह सकता हूँ कि आज भी हैदराबाद के मुसलमानों के दिल में उनके प्रति अतीव आदर है और वे उन्हें अपना सर्व श्रेष्ठ मित्र और हितैषी समझते हैं। अपने वैयक्तिक तथा राजनीतिक व्यवहारों के नाते तथा शासन के एक सदस्य के नाते वे सदा अपनी सहनशीलता उदारता तथा सत्यप्रियता के असंदिग्ध प्रमाण देते रहे हैं।

व्यावसायिक तथा विभिन्न सार्वजनिक क्षेत्रों में, सहयोगी के नाते उनके साथ कार्य करने का सौभाग्य-पूर्ण गौरव मुझे प्राप्त रहा है। फ़ौजदारी मुकद्दमों से विशेष रुचि न रहने पर भी परिस्थितियों ने उन्हें उनमें भाग लेने विवश किया है। तत्कालीन शासन द्वारा बहुत से आर्यसमाजी तथा अन्य कार्यकर्ताओं पर आए दिन, मनगढ़ंत मुकद्दमें चलाए जाने के कारण उन्हें अभियुक्तों के बचाव को साहसपूर्ण कार्य करने पड़े हैं। इनमें बहुत अवसरों पर उनके सहयोगी के रूप में मैंने काम किया है। वास्तव में, उस समय के बहुत से सनसनी पैदा करने वाले मुकद्दमों की पैरवी बचाव पक्ष की ओर से राव साहब को ही करनी पड़ी है। विनोद तथा स्पष्टवादिता के मेल ने उन्हें व्यावसायिक क्षेत्र में बहुत चमका दिया। वकील के रूप में व्यावसायिक ज्ञान के आधार पर ही नहीं अपितु चारित्रिक दृढ़ता के कारण मुक्त हृदय से इनकी प्रशंसा न करने वाले मुन्सिफ़ या जज शायद ही कोई हों। कार्यनिष्ठा तथा दृढ़ चारित्रिक बल की कीर्ति के आधार पर ही आपको १९५० में, श्री वेल्लोडी द्वारा आहार कृषि तथा प्रादाय (Supply) विभागों के सदस्य के नाते मंत्रि मंडल में सम्मिलित किया गया। वह ऐसा समय था जबकि प्रादाय विभाग का कोई मंत्री आलोचना से मुक्त नहीं रह सकता था। परन्तु कटुतम आलोचक भी, कुछ साधारण सी अनियमितताओं के अतिरिक्त आप की ओर उंगली उठाने का दुस्साहस नहीं कर सका। यह सिद्ध करता है कि उनकी सार्वजनिक सिद्धि कितनी उचित और न्याय्य है।

मेरे अपने मंत्रि मंडल के सदस्य के नाते उनके कार्यों पर कुछ कहना अपनी सीमा को लांघना है। मैं केवल यही कह सकता हूँ कि वे मेरे लिए एक अमूल्य निधि हैं और अपने उन्नत सिद्धांत, उदार दृष्टिकोण तथा संतुलित निर्णय के आधार पर वित्त, वाणिज्य तथा उद्योग मंत्री के लिए जो भी गुरुतर भार और उत्तर-दायित्व वहन करने पड़े हैं, उन्हें सफलता के साथ पूर्ण कर रहे हैं। कभी कभी उनकी स्पष्टोक्तियाँ परेशान कर देती हैं, फिर भी वे अपने विरोधियों का सामना, विधान सभा में अपनी पराजित करनेवाली मुसकान तथा स्निग्ध हँसी के साथ करते हैं। वे अपने विरोधियों पर कठोर चोट करने से नहीं चूकते किंतु वह माधुरी से इतनी आवृत रहती है कि लोग तिलमिलाकर रह जाते हैं किंतु व्यथित नहीं होते। सबसे बढ़कर मैं उन्हें विश्वसनीय साथी और मित्र, निष्कलंक चरित्रशील व्यक्तित्व तथा हैदराबाद की जनता की निष्काम और अथक सेवाओं के लिए अपने आपको समर्पित तपस्वी के रूप में समझता और मानता हूँ। देश की और अधिक सेवाएँ समर्पित करने के लिए वे पूर्ण आरोग्य कर्मठता से पूर्ण तथा दीर्घायु प्राप्त करें।

बी. रामकृष्ण राव
मुख्यमंत्री, हैदराबाद-राज्य

* * *

इस शुभ अवसर पर श्री विनायक राव विद्यालंकार का मैं हार्दिक अभिनंदन करता हूं। श्री विनायक राव का समस्त आर्य जगत् में एक विशिष्ट स्थान है और हैदराबाद के आर्य समाज के तो मानो वे प्राण ही हैं।

पुलिस कार्यवाही के अनंतर वे हमारे समक्ष मंत्री के रूप में हैं। इस पद पर रहकर उन्होंनें जनता और राज्य की स्तुत्य सेवा की है। वे अत्यंत मधुर और मिलनपूर्ण स्वभाव के हैं। वे अपने क्रोध पर भी पूर्णतः सन्तुलन रखते हैं और उनका कोई मित्र उनसे इसी कारण नाराज़ नहीं हो पाता।

प्रभु उन्हें दीर्घायु प्रदान करें ताकि वे जनता की अविरत सेवा करते रहें।

काशीनाथ राव वैद्य
स्पीकर, विधान सभा, हैदराबाद-राज्य

श्री विनायक राव के षष्टि-पूर्ति के शुभ अवसर पर मैं उनके दीर्घायु होने की कामना करता हूँ। उनका अध्ययन गम्भीर और विस्तृत है, उनकी प्रकृति उदार और व्यवहार विनयपूर्ण है। इन्हीं गुणों के कारण वे सर्व-प्रिय हो गए हैं।

वे नागरिक स्वतंत्रताओं के लिए निर्भयतापूर्वक लड़ते रहे। हैदराबाद के स्वतंत्रता के संग्राम में वे अग्रणी थे और इसके लिए उन्होंने महत्वपूर्ण कार्य किया। उन्होंने आर्यसमाज की जो सेवा की है और उसके कार्य को जिस तरह आगे बढ़ाया है वह सदा अविस्मरणीय रहेगा।

वित्त-मंत्री का कार्य सरल नहीं है परन्तु उन्होंने कुशल योग्यता से सब को अपने कार्य से संतुष्ट किया है। भगवान् उन्हें स्वास्थ्यपूर्ण दीर्घायु प्रदान करें जिससे वे इसी प्रकार निष्ठापूर्वक देश सेवा करते रहें।

हैदराबाद-दक्षिण
२३-१-५६.

श्रीपत राव पलनिटकर
चीफ़ जस्टिस, हैदराबाद-हाई कोर्ट

* * *

हैदराबाद-दक्षिण
२५-१-५६

प्रिय श्री नरेन्द्र जी,

आपका पत्र सं. ४२९५।५६ का प्राप्त हुआ। धन्यवाद। आपने मुझे लिखा है कि मैं श्री विनायक राव विद्यालंकार के षष्टि-पूर्ति के शुभ अवसर पर अपनी मंगल कामनाएँ भेजूं। इसके द्वारा मुझे प्रतिष्ठा और आनन्द दोनों प्राप्त हुए हैं।

श्री विनायक राव को हैदराबाद में कौन नहीं जानता। उन्हें सब प्रेम और आदर की दृष्टि से देखते हैं। यद्यपि वे अपने रंग-ढंग में मृदु और बातचीत में मज़ाक करते रहते हैं तो भी वे वास्तविक बातों में बड़े गम्भीर हैं। एक अच्छे कार्य के लिए त्याग करना उनके लिए जैसा स्वाभाविक है वैसा अनेक व्यक्ति नहीं कर सकते। पद और अधिकार का उन पर कुछ प्रभाव नहीं पड़ता। वे जैसे अपने अधिकार की अवस्था में हैं वैसे ही उसे छोड़ कर भी। उनके चरित्र की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे प्रत्येक दृष्टि से ईमानदार हैं।

मैं आपको और आर्य प्रतिनिधि सभा को इस समारोह के आयोजन के लिए बधाई देता हूँ। मैं समझता हूँ कि श्री विनायक राव को सम्मान प्रदान कर आर्य प्रतिनिधि सभा अपने को सम्मानित कर रही है। मैं इस समारोह की पूर्ण सफलता चाहता हूँ।

आर. एस. नायक
रिटायर्ड चीफ़ जस्टिस, हैदराबाद-हाई कोर्ट

गोल्डन थ्रेशोल्ड,
हैदराबाद-दक्षिण
३० सितम्बर, १९५५.

प्रिय श्री नरेन्द्र जी,

मुझे आपका २३ सितम्बर, १९५५ का कृपापत्र प्राप्त हुआ। आप श्री विनायक राव के षष्टि-पूर्ति के शुभ अवसर पर एक अभिनन्दन ग्रन्थ को सम्पादित कर रहे हैं। आप चाहते हैं कि मैं भी इस के लिए अपना लेख भेजूं।

यद्यपि मैं श्री विनायक राव जी का नाम बचपन से सुनती आ रही हूँ मुझे गत वर्ष से पूर्व उनके व्यक्तिगत सम्पर्क में आने का अवसर प्राप्त नहीं हुआ। मैं उनकी निःस्वार्थ सेवा और सत्यता की बहुत कायल हूँ तो भी उनके जीवन के विषय में मेरा ज्ञान इतना नहीं कि उनके सम्बन्ध में कोई लेख लिख सकूं।

मुझे विश्वास है कि आपको इस ग्रन्थ के सम्पादन में पूर्ण सफलता प्राप्त होगी।

आपकी
पद्मजा नायडू

* * *

होम मिनिस्टर (गृह मंत्री)
हैदराबाद-दक्षिण

श्रीयुत विनायक राव हैदराबाद के सामाजिक और राजनैतिक जीवन में एक प्रसिद्ध व्यक्ति हैं। श्रीयुत विनायक राव आर्यसमाज के एक अनुयायी हैं और पुलिस कार्यवाही से पूर्व विषम समयों में उन्होंने आर्यसमाजियों की निष्ठा को कायम रखा।

सचमुच हम सब के लिए यह बड़ा शुभ समय है जबकि हम उनका षष्टि-पूर्ति समारोह मना रहे हैं। इस आनन्द और मंगल के अवसर पर मैं परमात्मा से प्रार्थना करता हूँ कि वह श्री विनायक राव को दीर्घायु, स्वास्थ्य और समृद्धि प्रदान करें।

इस अवसर पर श्री विनायक राव के लिए मैं यही कामना करता हूँ कि यह आनन्दमय दिन अनेक वर्षों तक बार बार आए।

डी. जी. बिंदु
गृह, न्याय और समाजसेवा के
मंत्री

हैदराबाद-दक्षिण
२४ जनवरी १९५६.

मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे

मेरा परिचय श्री विनायक राव से उनके बालकपन से हो है। तबसे अब तक सुदीर्घ परिचय के आधार पर मैं कह सकता हूं कि अपने पूज्य पिता और पूज्य गुरु के अनुरूप ही उनमें भी विनय, सौजन्यता, सभ्यता, सहृदयता, विवेक, धैर्य आदि गुण समुचितता से विद्यमान हैं। इन गुणों का विस्तृत प्रतिपादन उपरोक्त वेदमंत्र भी करते हैं।

गणेश अनंत धारेश्वर
बेगमपेट, हैदराबाद

*　　*　　*

दुर्ग, (म. प्र.)

श्रीयुत विनायकराव विद्यालंकार को मैं तब से जानता हूँ जब कि वे गुरुकुल कांगड़ी (हरिद्वार) में एक बहुत छोटी उम्र के विद्यार्थी थे और मैं वहां गणित और पदार्थ विज्ञान का प्राध्यापक था। यह सम्पर्क बाद को और भी बढ़ा जब कि वे हैदराबाद में आर्य समाज के कार्यों में अग्रगन्य होने लगे। उनका और श्री नरेन्द्र का एक बहुत सुन्दर और वांछनोय संयोग रहा है। दोनो गुण एक दूसरे के पूरक हैं। श्री विनायक राव गंभोर विचार करने वाले शांत प्रकृति के कार्यकर्ता हैं जो आवेग में आकर किसी कार्य को नहीं करते। उनका विचार परिपक्व रहता है। हैदराबाद में आर्यसमाज के सत्याग्रह के समय उनके गुण और भी व्यक्त हुए।

परमात्मा उनको चिरायु बनाएँ ताकि उनके द्वारा धर्म और देश की सेवा होती रहे।

घनश्यामसिंह गुप्त

इस शुभ अवसर पर मेरे हृदय से उनके प्रति सस्नेह सहज भावनाएँ स्वतः प्रकट हो रही हैं।

श्री विनायक राव का हृदय आस्तिक भावना से सर्वदा ओत-प्रोत है। जीवन की कठिनाइयों और उलझनों की स्थिति में उनकी बुद्धि संतुलित रहती है, जिससे किसी भांति भी आवेश और उद्वेग उन पर प्रभावोत्पादक नहीं होते। उनका सीधा-सादा, सदाचारपूर्ण जीवन-व्यवहार हमारे समाज के लिए गौरव का विषय है।

भगवान् समाज एवं राष्ट्र की इस विभूति को चिरायु और स्वस्थ रखे, ऐसी मेरी मंगल कामना है।

स्वामी अभेदानंद
पटना (बिहार)

* * *

श्री विनायक राव विद्यालंकार दक्षिण भारत के अमूल्य रत्न हैं। हैदराबाद में जब धार्मिक स्वतंत्रता का आन्दोलन प्रारम्भ हुआ, तो आप सच्चे सैनिक की भांति आगे बढ़े। धर्म प्रचार, आचार सुधार, देश उद्धार में नम्रता की मूर्ति—और अत्याचार के समक्ष फ़ौलाद से भी अधिक कठोर, समस्त राष्ट्र के सच्चे भक्त होते हुए भी दक्षिण की मान मर्यादा तथा हैदराबाद के गौरव को बढ़ाने वाले विनायक राव असाधारण व्यक्ति हैं। ऐसे विलक्षण व्यक्ति का जितना अधिक मान हो, उतना थोड़ा है। मेरी तो सदा यही याचना रहती है कि भगवान् श्री विनायक राव को सदा स्वस्थ रखें, स्थिर आयु दें और इन्हें भक्ति शक्ति निरन्तर देते रहें।

आनन्द स्वामी सरस्वती
प्रधान, प्रादेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा,
पञ्जाब, देहरादून

शुभ संदेश

श्री विनायक राव विद्यालंकार गुरुकुल कांगड़ी के सुप्रसिद्ध स्नातक तथा आर्य जगत् के एक रत्न हैं। यों तो उनकी सेवाएँ प्रत्येक क्षेत्र में अमूल्य सिद्ध हुई हैं। परन्तु हैदराबाद में वैदिक संस्कृति की रक्षा के लिए जो युद्ध १९३९ ई. में संचालित हुआ था उसके तो आप प्राण थे। हैदराबाद को स्वतंत्रता में भी उनका मुख्य भाग रहा है। विद्यालंकार जी एक प्रसिद्ध, विद्वान्, लेखक, नीतिज्ञ तथा व्याख्याता हैं। आप मेरठ आर्य सम्मेलन के सभापति थे। आपका नेतृत्व आर्य समाज के लिए सदा सफलतापूर्ण रहा है। आप निर्भीक, दूरदर्शी और निःस्वार्थ कार्यकर्ता हैं। आपकी हीरक जयन्ती पर मैं अपनी शुभ कामनाएँ समर्पित करता हूं।

ईश्वर आपको चिरायु करें।

गंगाप्रसाद उपाध्याय
इलाहाबाद (यू. पी.)

* * *

मैं श्री विनायक राव विद्यालंकार के पुण्यात्मा पिता जस्टिस श्रीयुत केशवराव कोरटकर से भली-भांति परिचित था। वे स्वर्गीय महाराजा सर किशनप्रसाद के विश्वस्त मित्र एवं परामर्शदाता थे ; मैं स्वयं भी महाराजा बहादुर के निजी सम्पर्क में था। मैं श्री विनायक राव विद्यालंकार को उनके इंग्लैण्ड जाने के समय से जानता हूं। मैं यहां बिना किसी संकोच के कह सकता हूं कि श्री विनायक राव विद्यालंकार का प्रभाव प्रारम्भ से ही मुझ पर बड़ी दृढ़ता और गहराई से पड़ा।

श्री विनायक राव को अपने आडम्बरहीन सत्य के कारण बड़ी निराशाओं में से गुजरना पड़ा है। लेकिन वे अपने देदीप्यमान चरित्र के कारण उत्तरोत्तर वर्चस्वी होते गए। श्री विनायक राव दीर्घकाल तक राष्ट्र की सेवा करते रहें यही मेरी हार्दिक कामना है।

मेहदी नवाज़ जंग
मंत्री
स्वास्थ्य एवं चिकित्सा, हैदराबाद-राज्य

मंत्री
राजस्व तथा कृषि
सचिवालय, बम्बई १.
दि. २०–१–१९५६.

प्रिय महाशय,

श्री विनायक राव विद्यालंकार षष्टि वर्षोत्सव अभिनन्दन ग्रन्थ के संबंध में आपका पत्र मिला। समाज सेवा के विविध क्षेत्रों में कार्य करनेवाले श्री विनायक राव जैसे व्यक्तियों के अभिनन्दनार्थ ग्रन्थ प्रकाशित करने का आपका निर्णय अत्यंत उचित है। क्योंकि ऐसे ग्रन्थों से नयी पीढ़ी को सेवाभाव का सन्देश मिलता है।

इस शुभ अवसर पर मैं श्री विनायक राव के लिए दीर्घायु और आरोग्य की कामना करता हूँ।

आपका
भाऊसाहेब हिरे

* * *

लोकसभा कांग्रेस दल
२४–२५ लोकसभा गृह,
नई देहली–२
दि० २३-१-५६

प्रिय श्री नरेन्द्र जी,

आपका ता० ९-१-५६ का पत्र मिला। तदर्थ धन्यवाद। श्री विनायक राव के इस षष्टि–पूर्ति उत्सव पर लाख लाख बधाइयाँ।

सधन्यवाद

आपका
सत्यनारायण सिन्हा
सचेतक

पारिवारिक जीवन, संस्मरण और रेखाचित्र

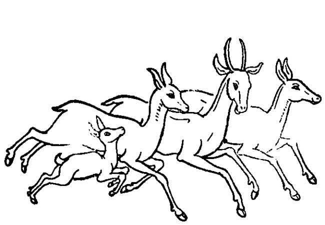

यद्भद्रं तन्न आसुव

✲ ✲ ✲

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम,

✲ ✲ ✲

भद्रं पश्येमा क्षभिः

——वेद

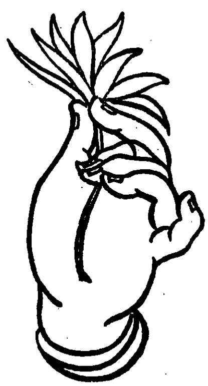

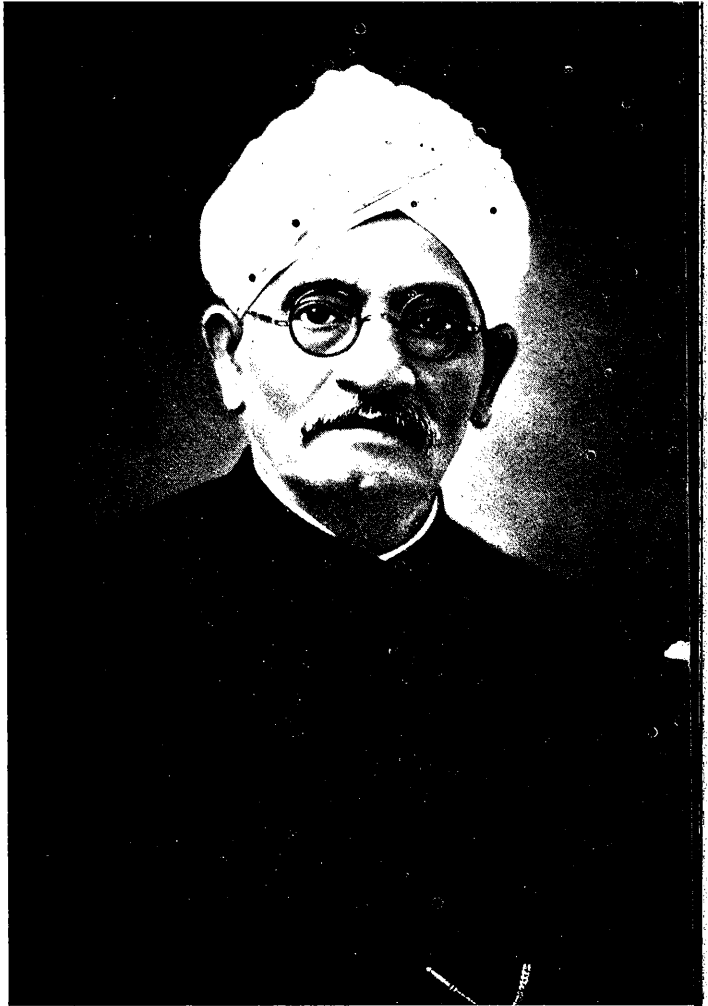

श्रीयुत केशवराव कोरटकर

श्रीयुत केशवराव और उनका परिवार

जिस परिवार में श्रीयुत विनायकराव विद्यालंकार के पिता श्रीयुत केशवराव कोरटकर का जन्म हुआ वह साधारण होते हुए भी एक सम्मानित महाराष्ट्रीय परिवार था। परभणी जिले के बसमत तालुके में पुरजळ नाम का एक गांव है। वहां अपने नाना के घर में सन् १८६७ ई. में श्रीयुत केशवराव उत्पन्न हुए। श्रीयुत केशवराव के पिता का निवास कोरट नाम के ग्राम में था। इनके पिता श्रीयुत सन्तुकराव उस ग्राम के वतनी 'जोशी थे। इस कारण गांव के सम्पूर्ण हव्य कव्यादि व्यवहार करने का भार उन्हीं पर था। श्री केशवराव जब हैदराबाद राज्य के एक प्रतिष्ठित नेता बन गए तब विनोद के साथ कहा करते थे कि 'मैं तो एक सामान्य जोशी हूं'।

श्री सन्तुकराव कोरटकर का छोटा-सा परिवार था। धन और सम्पत्ति की दृष्टि से ये धन-वान् नहीं थे। और न इनके पास कुछ सम्पत्ति थी, किन्तु इन वस्तुओं का महत्त्व ही क्या है? मनुष्य-की भावनाएँ शुद्ध, कामनाएँ शुभ, आकांक्षाओं में स्वार्थहीनता तथा आचरण में सत्यनिष्ठा होनी चाहिए। ये गुण जिस कुल में होते हैं वही कुल नररत्नों को जन्म देता है।

आज से ८४ वर्ष पहले सन् १८६७ ई. में श्रीयुत केशवराव का जन्म हुआ था। उस समय इनके एक बड़े भाई और एक बड़ी बहन थी। उसके पश्चात् दो और छोटे भाई भी हुए। श्री केशवराव जब शैशव अवस्था पार कर रहे थे उस समय उनके पिता श्री सन्तुकराव एक साहूकार के पास कुछ हिसाब किताब का काम करके मासिक ३ रु. पाते थे। इनके ज्येष्ठ भ्राता तात्या साहब एक दूसरे साहूकार के पास ऐसा ही काम कर ५ रु. कमाते थे। अपनी आयु के ५ से ९ वर्ष तक का समय श्री केशवराव को बसमत तालुके में ही बिताना पड़ा। शिक्षा शास्त्र की दृष्टि से यही काल अत्यधिक मूल्यवान् तथा संस्कार-योग्य माना जाता है। इस समय जिन विशेषताओं के संस्कारों को मनुष्य का अंतःकरण ग्रहण करता है वे ही दृढ बन जाते हैं। बसमत तालुके में श्री. केशवराव ने अनुमान किया कि इस समय समाज बड़ा दीन और दुःखी है। जनता सरल और सीधी है। खेती तथा अन्य व्यवसायों में उसे बहुत परिश्रम करना पड़ता है और उसके परिश्रम का पूरा फल उसे नहीं मिलता। इन अवस्थाओं ने समाज की सेवा करने की भावना उनके अन्तःकरण में बो दी। मृत्युपर्यन्त श्रीयुत केशवराव ने "मैं अपना नहीं हूं, समाज का हूं" इसी भावना को इतना विकसित किया कि उन्होंनें सदा समाज को अपना परिवार समझा। जिन दिनों वे बसमत तथा कोरट में रहते थे उस समय श्री केशवराव को अध्ययन के लिए एक पुस्तक का भी मिलना कठिन था। दूसरों से पुस्तक मांग कर वे स्वयं अपने हाथ से उसकी प्रतिलिपि किया करते थे। इस अभ्यास के कारण उनके फ़ारसी तथा मराठी अक्षर मोतियों जैसे सुन्दर थे।

नौ वर्ष की आयु में श्री केशवराव गुलबर्गा गए। वहां उनके बहनोई श्री हरिहरराव शेष रहते थे। वहां जाकर श्री केशवराव ने फ़ारसी तथा उर्दू भाषाओं का ज्ञान प्राप्त किया। उन दिनों जैसा वायुमंडल था उसमें जनता के सामने कोई विशेष आदर्श नहीं था। दस पंदरह रुप्यों की सरकारी नौकरी प्राप्त करना और विवाहित होकर दो चार बच्चों का परिवार पालना यही उस समय प्रायः सरकारी अफ़सरों का मुख्य ध्येय था। परन्तु समाज-कल्याण का स्फुलिङ्ग जब उत्पन्न हो जाता है तब वह धीरे धीरे ज्योति के रूप में प्रकाशमान् हो जाता है। श्रीयुत केशवराव १५ रु. मासिक वेतन पर तहसील के कार्यालय में एक क्लर्क बन गए। जिस महापुरुष ने अपने अनेक सद्गुणों के बल पर जनता को अपनी ओर आकृष्ट किया तथा हाई कोर्ट में न्यायाधीश के पद को सुशोभित किया उसने यदि वहां के तहसीलदार को अपनी ओर आकृष्ट कर लिया, तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। तहसीलदार इनसे बहुत सन्तुष्ट थे। वे सोचने लगे कि केशव को अधिक लाभ पहुंचाने के लिए क्या किया जाए? उन्होंने श्री केशवराव को नगदीनवीस का कार्य दिया और वह ऐसा पद था कि किसी प्रकार का अन्याय किए बिना, वेतन के अतिरिक्त, सौ पचास रुपए अहलकार को मिल ही जाते थे। तहसीलदार साहब ने जब देखा कि केशव अपने वेतन के अतिरिक्त और कुछ नहीं कमाता तो वे बड़े आश्चर्य में पड़ गए। दो साल नौकरी करने के पश्चात् श्रीयुत केशवराव को ऐसा प्रतीत होने लगा कि सरकारी सेवा उनके जीवन का क्षेत्र नहीं है, इसलिए उन्होंने कानून का अध्ययन किया और १८८९ में वे ज्यूडीशियल परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए। हाई कोर्ट में वकालत करने का अधिकार इनको प्राप्त हुआ। ज्यूडीशियल परीक्षा से भी कठिन हाई कोर्ट प्लीडर की एक परीक्षा थी, उसमें भी उन्होंने सुयश प्राप्त किया। इस समय उन्हें अपने बहनोई श्रीयुत हरिहरराव शेष का बड़ा आधार था। शेष महोदय गुलबर्गा में प्रधान अदालत की सिरिस्तेदारी के पद पर थे। उनके छोटे भाई का नाम गणपतराव था। ये बड़े बुद्धिमान् युवक थे। वे चाहते थे कि यहां का अध्ययन समाप्त होने पर उनको

इंग्लैण्ड भेजा जाए, किन्तु दुर्भाग्यवश पूने के फर्ग्युसन कालेज में प्रथम वर्ष में, पढ़ते समय ही उनका देहान्त हो गया। उनके हृदय को इससे बड़ी चोट लगी। बाईस वर्ष की आयु में श्रीयुत केशवराव ने वकालत के क्षेत्र में पदार्पण किया और इस क्षेत्र में उन्होंने उत्तम कोटि की कुशलता प्राप्त की। इन्होंने सेवा तथा हृदय की उदारता से लोकप्रियता भी प्राप्त की। जीवन की विविध समस्याओं को सुलझाने के लिए विभिन्न मार्गों का अवलम्बन किया। श्रीयुत केशवराव की योग्यता को देखकर हैदराबाद के उस समय के मुख्य मंत्री श्री अली इमाम ने इनको १९२१ ई. में हैदराबाद हाई कोर्ट के न्यायाधीश के पद पर नियुक्त किया। ये इनके चयालीस वर्ष की तपश्चर्या का फल था। इस प्रतिष्ठा से श्रीयुत केशवराव को धन सम्बन्धी तो कोई विशेष लाभ नहीं हुआ, क्योंकि वकालत उनके लिए कई गुनी अधिक लाभदायक थी, परन्तु सरकार तथा जनता के प्रेम का ये परिणाम था इसलिए उन्होंने इसे स्वीकार कर लिया।

जब उन्होंने अपनी वकालत प्रारम्भ की उसी समय उनका विवाह हुआ। इनकी पत्नी श्रीमती गीता-देवी उस्मानाबाद ज़िले के कलम तालुके के एक देशमुख घराने की कन्या थी। विशेष आश्चर्य की बात तो यह थी कि श्रीयुत केशवराव ने अपने व्यक्तित्व का इतना विकास किया कि सामाजिक तथा धार्मिक उन्नति की नई दृष्टि तथा प्रभा प्राप्त की, और श्रीमती गीता देवी ने सनातन धर्म की अपनी निष्ठा अटल रखी। उन्होंने एक श्रद्धालु महिला की परिधि के बाहर कभी एक पग नहीं रखा, फिर भी इस दम्पति में इतना प्रेम था कि कदाचित् ही वह अन्य पति-पत्नियों में पाया जाता हो। श्रीयुत केशवराव के पहले पुत्र हैं श्रीयुत विनायकराव। श्रीयुत केशवराव आर्यसमाज के सिद्धान्तों से बहुत प्रभावित थे। आर्य-समाज के सिद्धान्तों का उन्होंने गभीर अनुशीलन किया था। उनके अन्तरंग का महर्षि स्वामी दयानन्द के सिद्धान्तों ने परिवर्तन कर दिया था। उच्च सिद्धान्तों को मानते हुए आचरण के समय हिचकिचाना वीरों की नीति नहीं होती? इसी कारण श्रीयुत केशवराव ने अपने पुत्र विनायक को आठ वर्ष के आयु में ही हरिद्वार के कांगड़ी गुरुकुल में प्रविष्ट करा दिया। माता गीता देवी को यह बात पसन्द न आई। श्री केशव-राव की निष्ठा इतनी प्रबल थी कि पत्नी के पुत्रप्रेम से समाजसेवा को उन्होंने अधिक प्रिय समझा। कांगड़ी गुरुकुल की शिक्षा पद्धति ऐसी आदर्श भावनाओं के आधार पर बनाई गई थी कि वहां के स्नातक राष्ट्र के अभ्युत्थान और सेवा के लिए सुयोग्य कार्यकर्ता बनें। पत्नी के दुःख को हलका करने के लिए उन्होंने वचन दिया कि वे दूसरी सन्तानों को पत्नी की इच्छा के विरुद्ध अन्य शिक्षा नहीं दिलवाएंगे। श्रीयुत केशवराव की इस दूरदर्शिता का ही यह परिणाम है कि श्री विनायकराव विद्यालंकार आज हैदराबाद राज्य के वित्त तथा वाणिज्य विभाग के मंत्री हैं।

श्रीयुत केशवराव के द्वितीय पुत्र हैं श्री विट्ठलराव। इनका जन्म सन् १९०७ में कलम तालुके में हुआ। उन्होंने प्रारम्भिक शिक्षा विवेकवर्धिनी पाठशाला में प्राप्त की। उसके बाद उच्च शिक्षा के लिए इनको, इतर छोटे भाई रामराव और बहन गंगूबाई को श्रीयुत केशवराव ने पूने में रखा। श्रीयुत विनायकराव सन् १९०४ ई. में गुरुकुल में प्रविष्ट हुए और सन् १९१९ में विद्यालंकार बनकर हैदराबाद लौट आए। इसके पश्चात् उन्हें इंग्लैण्ड भेजा गया ताकि वे अच्छे कानून जानने वाले बैरिस्टर बनें। श्री विद्यालंकार लिंकन्स—बैरिस्टर तथा एलएल. बी. (लन्दन) बनकर सन् १९२३ ई. में स्वदेश लौट आए। हैदराबाद में रह कर उन्होंने धार्मिक, सामाजिक और सभी क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण सेवा की और इन महान् सेवाओं के कारण जनता में एक अपना विशेष आदरपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया।

इसके साथ ही श्री विट्ठलराव ने पूने के फ़र्ग्युसन कालेज में डिग्री प्राप्त करने के पहले विलायत की यात्रा की। इनके पहले इनके छोटे भाई रामराव विलायत गए हुए थे। छोटे भाई ने पिता की आज्ञा के अनुसार क्राइडन में धिमान विद्या की शिक्षा प्राप्त की। श्रीयुत विट्ठलराव कानून का अध्ययन करने लगे। इसी समय स्वयं श्री केशवराव भी विलायत चले गए थे। उस समय उच्च शिक्षा पानेवाले दोनों पुत्र तथा सेवानिवृत्त न्यायमूर्ति पिता इन तीनों का निवास कुछ दिन तक विलायत में साथ रहा। श्री विट्ठलराव ने वेल्स विश्वविद्यालय की एलएल. बी. परीक्षा उत्तीर्ण की, और इनर टेम्पल में डेढ़ वर्ष तक बैरिस्टरी के लिए अध्ययन किया।

उन्हीं दिनों २१ मई सन् १९३२ को श्री केशवराव का देहान्त हो गया। इस से श्री विट्ठलराव को बड़ा दुःख हुआ। वे माता तथा बन्धुभगिनियों से मिलने के लिए स्वदेश लौट आए। श्री रामराव अपना पाँठ्यक्रम पूरा कर पहले ही स्वदेश आ चुके थे।

श्री विनायकराव विद्यालंकार के दो पुत्र तथा एक कन्या है। इनके बड़े बेटे श्री पुरुषोत्तम पूना विश्वविद्यालय के एम. एस-सी. हैं और अधिक यांत्रिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए विलायत गए हुए हैं। दूसरी हैं पुत्री श्रीमती सुमित्रा देवी। ये बी. एस-सी. उत्तीर्ण कर चुकी हैं। इनका विवाह इसी वर्ष हुआ है। इनके पति हैं श्री भालचन्द्र जोशी। मोमिनाबाद के श्री नारायणराव के सुपुत्र श्री भालचन्द्र एम. ए. उत्तीर्ण कर सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्रज्ञ श्री धनञ्जयराव गाडगील की देखरेख में पूने में पीएच.डी. के लिए थीसिस तैयार कर रहे हैं। श्री विनायकराव के दूसरे पुत्र का नाम कान्तिकुमार है। ये अभी मिडल स्कूल की कक्षा में अध्ययन कर रहे हैं। श्री विनायकराव की पत्नी श्रीमती लक्ष्मी देवी हुबळी के टेम्बे परिवार से सँम्बन्ध रखती हैं। हैदराबाद नगर के प्रसिद्ध किर्लोस्कर परिवार से भी इनका सम्बन्ध है। श्रीमती लक्ष्मी देवी बड़े डॉ. किर्लोस्कर की पत्नी श्रीमती काशीताई किर्लोस्कर की भतीजी हैं।

श्री विट्ठलराव हैदराबाद राज्य के न्याय विभाग में डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट के पद पर प्रतिष्ठित हैं। श्री विठ्ठलराव बड़े मिलनसार अतिथिसेवी होने के अतिरिक्त बड़े ही सौन्दर्य तथा कला प्रेमी हैं। साहित्य में इनकी विशेष रुचि है। ये एक अच्छे कवि हैं। "कुंदाच्या कळ्या" शीर्षक एक कविता संग्रह इन्होंने विद्यार्थी अवस्था में ही प्रकाशित किया था। "मेरा विलायत का सफ़र" नाम की एक अन्य पुस्तक भी उन्होंने प्रकाशित की है। "हिटलरचें भूत" नामक एक एकांकी भी आपने प्रकाशित किया है। ये अच्छे वक्ता हैं, विनोद में ऐसे कुशल हैं कि हास्य की तरंग उत्पन्न किए बिना इनका भाषण हो ही नहीं सकता। इनकी पत्नी श्रीमती लीलाबाई, श्री सोमेश्वरराव अरळकर की पुत्री हैं जो कि औरंगाबाद के एक प्रसिद्ध वकील है। पूना के हिंगणे विद्यालय में इनकी शिक्षा हुई थी। ये कथा-कहानियाँ लिखती रहती हैं।

श्री विट्ठलराव के तीन पुत्र तथा तीन कन्याएं हैं। पुत्रों के नाम हैं श्री अरविन्द, शरच्चन्द्र, तथा धनञ्जय। श्री अरविन्द और शरच्चन्द्र उस्मानिया विश्वविद्यालय में आर्टस् तथा साइन्स की शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं। श्री धनञ्जय विवेकवर्धिनी हाई स्कूल में पढ़ते हैं। श्रीमती स्नेहलता ज्येष्ठ पुत्री हैं। इन्होंने बी. एस-सी परीक्षा पास की है और एलएल.बी. में पढ़ रही हैं। इसी वर्ष इनका विवाह श्री प्रभाकर राव घाटे से हुआ है। श्री प्रभाकर राव बी. ई. उत्तीर्ण हैं और राज्य के लोक कर्म विभाग (पी. डब्ल्यू. डी.) में कार्य

कर रहे हैं। श्री प्रभाकरराव, श्री बळवन्तराव घाटे, सिकन्दराबाद के प्रसिद्ध सेशन जज्ज के ज्येष्ठ पुत्र हैं। श्री विट्ठलराव की दो कन्याएँ मंगला तथा अञ्जलि मिडल स्कूल में शिक्षा प्राप्त कर रही हैं।

श्रीयुत केशवराव के तीसरे पुत्र श्री रामराव बहुत दिन तक कराची में एयर सर्विस में थे। अभी अभी उनका स्थानपरिवर्तन शान्ताक्रूस (बम्बई) के हवा पोर्ट पर एयर इन्स्पेक्टर के पद पर हुआ है। ये खेलने में बड़े दक्ष हैं। कोई भी खेल हो श्री रामराव उसमें विशेष निपुणता प्राप्त कर लेते हैं। इन्होंने विमानशास्त्र के अनुभव पर आधारित कुछ लेख भी लिखे हैं। इनकी पत्नी श्रीमती सरला देवी नागपुर के बैरिस्टर देशमुख की पुत्री हैं। इनकी चार सन्तानें हैं। ज्येष्ठ पुत्र अशोक खडकवासला के मिलिटरी अकादमी में शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं। दूसरे पुत्र अविनाश प्राथमिक शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं। ज्येष्ठ पुत्री कुमारी मृणालिनी बी.ए. उत्तीर्ण कर चुकी हैं। दूसरी लड़की कुमारी सुहासिनी मिडल स्कूल में पढ़ती हैं।

श्रीयुत केशवराव की पुत्री श्रीमती गंगूताई ने पूना विश्वविद्यालय के हुजूर पागा हाई स्कूल में शिक्षा प्राप्त की। इनका विवाह श्रीयुत श्रीनिवासराव शर्मा से हुआ था। ये बम्बई के बी. ए. तथा इंग्लैण्ड के इनर टेम्पल के बैरिस्टर थे। उन्होंने वकालत के अतिरिक्त राजनैतिक तथा सामाजिक क्षेत्रों में उच्च स्तर का कार्य किया। उस समय राजकीय नीति की आलोचना या विरोध कोई साधारण काम नहीं था। श्रीयुत श्रीनिवासराव शर्मा लातूर के महाराष्ट्र परिषद् के अध्यक्ष चुने गए थे। उनका अध्यक्षीय भाषण इतना निर्भयतापूर्ण था कि उस समय यहाँ के सार्वजनिक रंगमंच से ऐसा निर्भीक भाषण शायद ही कभी दिया गया हो। सन् १९४२ ई. में श्रीयुत श्रीनिवास शर्मा का देहान्त हो गया। सुशिक्षित होने पर भी श्री गंगूताई ने माता का आदर्श ही अपने समक्ष रखा। श्रीमती गंगूताई की चार कन्याएँ हैं। श्रीमती शकुन्तला देवी बी. ए. उत्तीर्ण हैं, दूसरी उषा देवी भी बी. ए. उत्तीर्ण कर चुकी हैं। तीसरी पुत्री कनकलता बी.एस-सी. उत्तीर्ण हो चुकी हैं। सबसे छोटी हैं सविता देवी, जो कॉलेज के प्रथम वर्ष में शिक्षा प्राप्त कर रही हैं।

जिस प्रकार जब सुवर्ण से कोई मूर्ति बनाई जाती है तो उस के पाँव की अंगुलियां लोहे की और मस्तक सुवर्ण का नहीं होता वैसे ही जब किसी का जन्म शुद्ध कुल में होता है तो उसके वंशवृक्ष का विस्तार भी शुद्ध और मधुर फलों से संयुक्त होता है। स्वर्गवासी श्रीयुत केशवराव कोरटकर का सुन्दर परिवार 'शुद्ध बीजा पोटीं फळें रसाळ गोमटीं' सन्त-रत्न तुकाराम महाराज के इस सूक्ति का जीता जागता उदाहरण है।

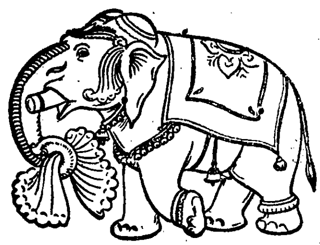

काशीनाथराव वैद्य (एम.ए., एलएल. बी.)
स्पीकर, विधान सभा,
हैदराबाद-राज्य

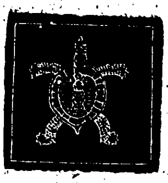

संयम

श्रीयुत केशवराव : एक मित्र की दृष्टि में

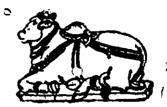

बचपन में श्रीयुत केशवराव को घर पर चरवाहे का काम भी करना पड़ा था। एक बार की घटना ऐसी हुई कि जहां आप पशु चरा रहे थे उसी खेती की एक घास की गंजी में आग लग गई। किसान दौड़ कर आया। उसने बालक चरवाहे को आग का कारण समझ कर उन्हें पीटना शुरू किया। श्रीयुत केशवराव अपने निरपराध होने की बात कह रहे थे पर उसे विश्वास न होता था। लेकिन उसी समय एक मुसल्मान नौजवान ने खेतवाले से चरवाहे को निर्दोषी बताकर मारपीट से बचा लिया।

बरसों बीत चुके थे। चरवाहा केशव अपने प्रयत्नों और पुरुषार्थ से जस्टिस केशवराव और राव साहब बन चुके थे। जनता और सरकार को आप पर अभिमान था। वे उसी स्थान पर हाई कोर्ट जज की हैसियत से गए हुए थे, जहां पर कभी उन्हें चरवाहे के कार्य से जीवनारम्भ करना पड़ा था। आपने उस मुसल्मान नौजवान की खोज कराई और वे उससे मिलकर बड़े प्रसन्न हुए। वह कुछ सहम सा गया था कि मामला क्या है ? चलते समय राव साहब ने उसके हाथ में दस रुपए का एक नोट

श्रीयुत विनायक राव की माता
स्व. गीता देवी

रख दिया। वह और अधिक परेशान हो उठा। विनम्र होकर पूछा, "सरकार, यह क्या है?" राव साहब ने कहा "कुछ नहीं"। इसरार करने पर कहा, "भाई, यह है उसका स्मरण जब कि तुमने मुझे एक दिन किसान के क्रोध का शिकार होने से बचा लिया था।" डबडबाई आंखों से वह राव साहब की ओर देखता ही रह गया।

राव साहब अपने एक निकटवर्ती सम्बन्धी हरिहरराव के पास गुलबर्गा में जा चुके थे और दफ़्तर में उम्मीदवार थे। आप का उर्दू हस्तलेख बहुत बढ़िया था, जिसपर सम्भवतः नाज़िम सदर अदालत अता-उर-रहमान बड़े प्रसन्न थे। श्री केशवराव के अन्य सद्गुणों का भी उन पर प्रभाव था। अतः वे श्री केशवराव को बराबर विद्याध्ययन में प्रोत्साहित करते रहते थे।

अब श्री केशवराव वकील बन चुके थे। जो कुछ कमाते वे अपने सम्बन्धी के हाथ में लौ देते और अपने खर्च के लिए भी कुछ न रखते। यहां तक कि उन्हें अपने व्यवसाय के अनुरूप कपड़े तक पहनने न मिलते थे। मैंने जब उनकी यह अवस्था देखी तो मुझे यह बात बड़ी अखरी। मैंने कहा, "भाई इतनी मुरव्वत भी किस काम की? व्यवहार में यह चुप्पी ठीक नहीं"। राव साहब अपनी आदत के अनुसार कहते "हां ठीक है" और चुप हो जाते। "हां ठीक है" कहने से काम न चलेगा तो कहते कि "हां देखूंगा।" ग़ज़ब की मुरव्वत थी।

उन दिनों हैदराबाद में रामाचार्य नाम के एक प्रसिद्ध वकील थे। उनकी श्री केशवराव बड़ी कद्र किया करते थे। कभी कभी मुझ को भी कार्यवश उनके यहां राव साहब के साथ जाने का अवसर प्राप्त होता। दोनों में बड़ा स्नेह था। श्री रामाचार्य की मृत्यु पर श्री केशवराव ने निश्चय किया कि हैदराबाद में वकालत आरम्भ कर दी जाए। उन्हें ठीक मालूम नहीं कि श्री रामाचार्य ने ही उनसे इस का अनुरोध किया था या यह स्वयं इनकी अपनी ही योजना थी। गुलबर्गा से जाते समय मैंने उन्हें मना किया कि वे वहाँ से न जाएँ कारण उन्हें वहाँ ८०० रुपए मासिक तक आय हो जाती थी। कहीं ऐसा न हो कि "भागते के पीछे दौड़ने में हाथ का ही चला जाए"। वकालत का व्यवसाय परिपाटी पर निर्भर है, इस में नया डंडा और नई गुल्ली ख़तरे से ख़ाली नहीं। लेकिन किस में सामर्थ्य था कि उन्हें अपने निश्चय से रोक सके। साल-छह मास के बाद मैं जब हैदराबाद में उनसे मिला तो बतलाने लगे कि पहले मास में उन्हें केवल १७ रुपए की आय हुई। कचहरी जाते समय दूसरों के टांगे में उन्हें पुस्तकें लानी ले जानी पड़ती थीं अतः आरम्भ में उन्हें बड़ी तकलीफ़ उठानी पड़ी। पर बाद में उन्होंने आनन्दित होकर कहा कि चन्द्र! अब तुम्हारे मित्र की आय मासिक ५,००० से कम नहीं। वे बड़े अलौकिक पुरुष थे।

उन दिनों राव साहब ने भूम जागीर की तरफ़ कुछ ज़मीनें ख़रीद लीं। मैंने कहा कि "आप यह क्या कर रहे हैं। रहते हैं हैदराबाद में और यहां इतनी दूर और वह भी खेती में रुपया लगा रहे हैं। खूब "अव्यापारेषु व्यापार" है। कहने लगे, "कभी इसमें से भी लाभ निकल आएगा"। वे बड़ी दूर की सोचा करते थे।

बेगमपेट में उन्होंने कुछ ज़मीन ख़रीद ली। बाग़ बनाने की धुन में थे। पूने से माली बुलवा चुके थे। एक दिन टेबल पर कुछ टमाटर रखे थे। उधर संकेत कर आपने कहा, "ये हमारे बाग़ के हैं"।

पूछा, "इतना रुपया लगा कर यही प्राप्ति हुई होगी"। कहने लगे, "अपने होने के कारण खाते समय आनन्द होता है"।

बेगमपेट की उसी भूमि में बंगले का निर्माण आरम्भ हुआ। ५०-६० हजार रुपया उस पर लग चुका। यह मुझ को ठीक न जँचा। पर उनके भाग्य अथवा उनकी भावी कल्पना का हमें अनुमान न होता था। अब उनके ज्येष्ठ पुत्र श्री विनायकराव विद्यालंकार बैरिस्टर बनकर आ गए थे और राव साहब जज बन चुके थे। अतः जज पिता और बैरिस्टर पुत्र का एकत्रित रहना योग्य न था इस लिए बेगमपेट की योजना थी। तब कहीं मन ही मन मैंनें उनकी दूरदर्शिता को सराहा।

स्वर्गीय राव साहब बहुत दान किया करते थे। मैं पूछा, "यह वृत्ति आप में कहां से आई? इस उदारता का आखिर कारण क्या है? शिक्षा भी आप को ऐसी न मिली, एक दृष्टि से तो आप अशिक्षित ही हैं।" उन्होंने उत्तर दिया कि यह प्रेरणा उन्हें न्याय मूर्ति महादेव गोविन्द रानडे से मिली हैजिनके साथ वे कुछ दिन रह चुके थे। हैदराबाद स्टेट और स्टेट के बाहर भी उन्होंने अनेक संस्थाओं की दिल खोल कर आर्थिक सहायता प्रदान की थी।

दूसरों के लिए जो बातें कल्पनातीत या अशक्य थीं वे राव साहब के लिए शक्य थीं। ५५ वर्ष की आयु में मैंने उनके हाथ में न्यायालय में अंग्रेज़ी प्राइमर देखी *। हैरान होकर मैंने पूछा "अब क्या यह भी कीजिएगा?" तो कहने लगे 'हां कुछ देख रहा हूं।' 'आखिर समय कहां से निकालते हैं?' कहने लगे, 'रातमें इसके लिए एक मास्टर रख छोड़ा है'। थोड़े ही दिनों में वे न्यायालय के नज़ायर अंग्रेज़ी में पढ़ने और समझने के योग्य बन गए। उनके ये प्रयत्न उनकी इंग्लैण्ड यात्रा में बड़े सहायक सिद्ध हुए।

श्री राव साहब का उत्कर्ष कुछ सामयिक अधिकारियों को खटकता था और वे निरन्तर उन के मार्ग में रोड़े अटकाते रहते थे। जज नियुक्त होने के बाद वे चाहते तो उनका बहुत नुक़सान कर सकते थे पर कभी भी उन्होंने अपने अधिकार का अनुचित उपयोग नहीं किया।

उन दिनों राव साहब भूम के दौरे पर थे। साथ अन्य बड़े अधिकारी भी थे। उन्हीं दिनों मद्रास में किसी राष्ट्रीय नेता की गिरफ़्तारी हो चुकी थी। डेरे में जब इसकी चर्चा चली तो राव साहब ने "नलोपाख्यान" में से कुछ पंक्तियां सुना कर इस घटना पर उसे चरितार्थ करना आरम्भ किया। मैं चकित रह गया और मुक्त कंठ से कह उठा, "नलोपाख्यान" का अध्ययन करके भी हम इन गहराइयों में गोता नहीं लगा सके। आपकी समझने की शक्ति और अध्ययन को धन्य है।" व्यवस्थित शिक्षण तो हुआ ही नहीं था। सब कुछ अपने पुरुषार्थ और प्रयत्न के बल पर अपना व्यवसाय संभालते हुए राव साहब यह सब अधिगत कर चले जा रहे थे। वे एक महान् बुद्धिमान् पुरुष थे।

राव साहब के जज नियुक्त होने के बाद मैं पहली बार हैदराबाद गया। बधाई के पत्र रखे हुए थे। उधर संकेत करके राव साहब कहने लगे, "मित्र इस में तुम्हारा नहीं है, उसे मैंने पृथक् ही रखा है।" राव साहब के जजी कुबूल करने से मुझे बड़ा दुःख हुआ था। मैंने अपने बधाई-पत्र में

---

* हैदराबाद राज्य में उस समय उर्दू राज्य-भाषा होने के कारण जजों के लिए भी अंग्रेज़ी का ज्ञान अनिवार्य नहीं था।

श्रीयुत विनायक राव अपने परिवार के साथ

राव साहब को लिखा था, "यह तुमने अच्छा नहीं किया। आज तक निजी, सार्वजनिक, व्यक्तिगत, सामाजिक, धार्मिक और राजकीय समस्याओं पर सभी लोग आप से सलाह मशविरा करते रहते थे। आज आप हमारे होते हुए भी पराए हो गए हैं।"

जज बनने के बाद मैंने उनसे पूछा, "कई मुक़द्दमात हमारे होंगे, सच्चे वाक़यात आपको बतलाकर उचित सिफ़ारिश की जा सकती है या नहीं?" उत्तर मिला, "सिफ़ारिश नहीं करनी चाहिए।" तब मैंने कहा, "आपमें हिम्मत नहीं है।" मैंने लुत्फ़े हसन का दृष्टान्त उनके सामने रखा और बतलाया कि मेरे पिता और लुत्फ़े हसन डिस्ट्रिक्ट जज में बड़ी घनिष्ठता थी। आना जाना था। पर मेरे वकील बनने के बाद मेरे पिता ने आना जाना बन्द कर दिया। इस पर कुछ दिन के बाद जब डिस्ट्रिक्ट जज मेरे पिता जी से मिले तो पूछने लग गए, "क्यों अब आप आते नहीं"। मेरे पिता ने कहा, "बेटा वकील हो चुका है अतः मेरा अब आप के पास अधिक आना जाना उचित न होगा।" वे कहने लगे "ऐसी बात हरगिज़ न होने दो। आप ज़रूर मिलें, वाक़यात जो बतलाने हों वे बतलाते रहें, लेकिन हां यह ज़रूरी नहीं कि मेरा निर्णय आप के अनुकूल ही रहे।" बड़े निःस्पृह आदमी थे।

एक मामले में, जो कि मेरा निजी था श्री लुत्फ़े हसन साहब को कुछ आशंका हुई। फ़ौरन उन्होंने बड़ी निःस्पृहता के साथ हाई कोर्ट को लिखा कि यह वकील साहब का निजी मामला है, घटित वाक़या में इन का स्वार्थ है और ऐसा मालूम होता है कि यह सब इन्होंने अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए किया है। लुत्फ़े हसन अपनी मित्रता को बालाए ताक रख कर कर्तव्य पर तुल गए थे। हां, अन्त में उन्होंने यह नोट ज़रूर दिया कि आज तक मेरी यह धारणा रही है कि श्री नेमचन्द बड़े ही दयानतदार आदमी हैं, और अब भी मेरे ज़मीर की यही आवाज़ है कि इस में इन की बद-दयानती न होगी, फिर भी कर्तव्य समझ कर मैं हाई कोर्ट को इसकी रिपोर्ट कर रहा हूं।"

राव साहब के सम्मुख हाई कोर्ट में, मेरा अपना एक निजी मुक़दमा चल रहा था। मैं और मेरे प्रतिपक्षी श्री यादवराव तुलजापुरकर दोनों राव साहब के मित्र थे। दूसरे दिन पेशी थी। शाम में मैं राव साहब के साथ नाटक देखने गया। लौटते समय राव साहब कहने लगे: "तुम दोनों मेरे मित्र हो। मैं नहीं चाहता कि मेरे इजलास पर तुम दोनों प्रतिस्पर्धी के नाते खड़े हों। क्यों न आपस में तुम्हारी सुलह करा दी जाए।" दोनों सहमत हो गए पर दोनों की शर्तें ऐसी थीं कि सुलह न हो सकी। श्री राव साहब ने मुख्य न्यायाधीश को यह लिख भेजा, "ये दोनों मेरे मित्र हैं अतः इनका मुकद्दमा मेरे इजलास से बदल दिया जाए, मैं यह मुकद्दमा नहीं चलाना चाहता।"

अपने शत्रु का भी वे महान् आदर करते थे। यह एक उनका विलक्षण गुण था। उठ कर उसका स्वागत करते, उसका आतिथ्य करते और अभिवादन के साथ उसे विदा करते। हम यह समझने में असमर्थ रहते कि यह नाटक था या वास्तविक।

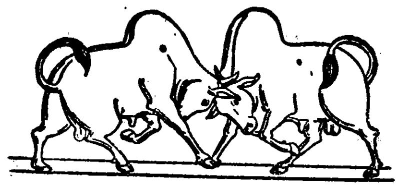

नेमचन्द गांधी, वकील
उस्मानाबाद (हैदराबाद राज्य)

राव साहब को लिखा था, "यह तुमने अच्छा नहीं किया। आज तक निजी, सार्वजनिक, व्यक्तिगत, सामाजिक, धार्मिक और राजकीय समस्याओं पर सभी लोग आप से सलाह मशविरा करते रहते थे। आज आप हमारे होते हुए भी पराए हो गए हैं।"

जज बनने के बाद मैंने उनसे पूछा, "कई मुक़द्दमात हमारे होंगे, सच्चे वाक़यात आपको बतला-कर उचित सिफ़ारिश की जा सकती है या नहीं ?" उत्तर मिला, "सिफ़ारिश नहीं करनी चाहिए।" तब मैंने कहा, "आपमें हिम्मत नहीं है।" मैंने लुत्फ़े हसन का दृष्टान्त उनके सामने रखा और बतलाया कि मेरे पिता और लुत्फ़े हसन डिस्ट्रिक्ट जज में बड़ी घनिष्ठता थी। आना जाना था। पर मेरे वकील बनने के बाद मेरे पिता ने आना जाना बन्द कर दिया। इस पर कुछ दिन के बाद जब डिस्ट्रिक्ट जज मेरे पिता जी से मिले तो पूछने लग गए, "क्यों अब आप आते नहीं"। मेरे पिता ने कहा, "बेटा वकील हो चुका है अतः मेरा अब आप के पास अधिक आना जाना उचित न होगा।" वे कहने लगे "ऐसी बात हरगिज़ न होने दो। आप ज़रूर मिलें, वाक़यात जो बतलाने हों वे बतलाते रहें, लेकिन हां यह ज़रूरी नहीं कि मेरा निर्णय आप के अनुकूल ही रहे।" बड़े निःस्पृह आदमी थे।

एक मामले में, जो कि मेरा निजी था श्री लुत्फ़े हसन साहब को कुछ आशंका हुई। फ़ौरन उन्होंने बड़ी निःस्पृहता के साथ हाई कोर्ट को लिखा कि यह वकील साहब का निजी मामला है, घटित वाक़या में इन का स्वार्थ है और ऐसा मालूम होता है कि यह सब इन्होंने अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए किया है। लुत्फ़े हसन अपनी मित्रता को बालाए ताक रख कर कर्तव्य पर तुल गए थे। हां, अन्त में उन्होंने यह नोट ज़रूर दिया कि आज तक मेरी यह धारणा रही है कि श्री नेमचन्द बड़े ही दयानतदार आदमी हैं, और अब भी मेरे ज़मीर की यही आवाज़ है कि इस में इन की बद-दयानती न होगी, फिर भी कर्तव्य समझ कर मैं हाई कोर्ट को इसकी रिपोर्ट कर रहा हूं।"

राव साहब के सम्मुख हाई कोर्ट में, मेरा अपना एक निजी मुक़दमा चल रहा था। मैं और मेरे प्रतिपक्षी श्री यादवराव तुलजापुरकर दोनों राव साहब के मित्र थे। दूसरे दिन पेशी थी। शाम में मैं राव साहब के साथ नाटक देखने गया। लौटते समय राव साहब कहने लगे: "तुम दोनों मेरे मित्र हो। मैं नहीं चाहता कि मेरे इजलास पर तुम दोनों प्रतिस्पर्धी के नाते खड़े हों। क्यों न आपस में तुम्हारी सुलह करा दी जाए।" दोनों सहमत हो गए पर दोनों की शर्तें ऐसी थीं कि सुलह न हो सकी। श्री राव साहब ने मुख्य न्यायाधीश को यह लिख भेजा, "ये दोनों मेरे मित्र हैं अतः इनका मुक़द्दमा मेरे इजलास से बदल दिया जाए, मैं यह मुक़द्दमा नहीं चलाना चाहता।"

अपने शत्रु का भी वे महान् आदर करते थे। यह एक उनका विलक्षण गुण था। उठ कर उसका स्वागत करते, उसका आतिथ्य करते और अभिवादन के साथ उसे विदा करते। हम यह समझने में असमर्थ रहते कि यह नाटक था या वास्तविक।

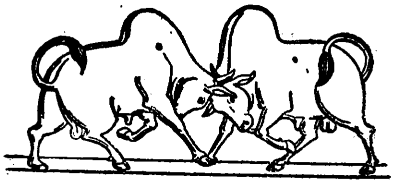

नेमचन्द गांधी, वकील
उस्मानाबाद (हैदराबाद राज्य)

अध्याय

पिता और पुत्र : कुछ संस्मरण

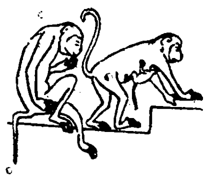

हम श्री विनायकराव विद्यालंकार का उनकी साठवें जन्म दिन पर अभिनन्दन कर रहे हैं। भले ही यह स्वाभाविक हो कि आयु की वृद्धि के साथ उनके उत्साह की आग ठण्डी हो गई हो, किन्तु उनकी कीर्ति उत्तरोत्तर प्रशस्त और अक्षुण्ण होती जा रही है। उनके अन्तस्तल में मुख्यतः यह ध्येय बड़ी दृढता से रहा है—अपने राष्ट्र और धर्म के प्रति गहरा अनुराग। उनका तारुण्य इन दो बातों से पूर्णतः अनुप्राणित है। शक्ति और धन की तृष्णा उनकी मानसिक शान्ति और स्थिरता का स्पर्श भी नहीं कर सकी। वीर और प्रतिभाशाली वे बचपन से ही हैं। उनका प्रारम्भिक उत्साह अभी भी ठण्डा नहीं हुआ है। उन्होंने अपने कार्यों पर कभी गर्व नहीं किया। आज के दिन उनके मित्र और शुभेच्छु सार्वजनिक रूप में उनका वास्तविक मूल्यांकन करने के प्रयास में उनके कार्यों की प्रशस्ति कर रहे हैं।

प्रोफ़ेसर आर्नोल्ड के अनुसार "जीवन का सर्वाधिक प्रसन्नतायुक्त और स्वच्छन्दता से परिपूर्ण भाग वह होता है, जब कि आयु के दोष और दुर्बलताएँ प्रारम्भ नहीं होतीं।" यही काल कुछ करने और आनन्द मनाने का होता है। श्री विनायकराव ने अपने इस समय को निःस्वार्थ भाव से राष्ट्र की सेवा में

विनायक (गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में ब्रह्मचारी के रूप में)

अर्पित कर दिया। उनके पिता के दर्शन मैंने चालीस वर्ष पूर्व हैदराबाद से बाहर, पूना या इलाहाबाद में किए थे। यह एक संक्षिप्त सी भेंट थी। उस समय मैंने लोगों से सुना था कि ये हैदराबाद के एकमात्र ऐसे वकील हैं, जो अपने पुत्र को गुरुकुल कांगड़ी में पढ़ने के लिए भेज रहे हैं। अब पुराने समय की कठिनाइयों की ठीक-ठीक कल्पना भी नहीं हो सकती कि राष्ट्रीय शिक्षा संस्थाएँ, विशेषतः आर्यसमाज के संरक्षण में चलनेवाली शिक्षा संस्थाएँ शासकीय अधिकारियों की दृष्टि में कैसी कोप-भाजन थीं और उन्हें किस प्रकार निरुत्साहित किया जाता था। उस समय मैंने आश्चर्य, हर्ष और गर्व के मिश्रित भावों के साथ स्व. केशवराव से हाथ मिलाया था——यह एक अद्भुत दृश्य और चिरस्मरणीय बात है।

श्रीयुत केशवराव का देहावसान एक अत्यन्त दुःखद घटना है। उन्होंने नई पीढ़ी में नई विचारधारा और राष्ट्रीय भावना को जागृत किया था। वे तिलक महाराज के प्रशंसकों में से थे। साथ ही वे श्रीयुत गोखले के अनुयायी थे। उनका आन्दोलन धार्मिक और नैतिक था। वे आधार को दृढ करने के पक्ष में थे; उत्तेजनाजन्य वातावरण उत्पन्न करने में उनका विश्वास नहीं था। उनका आन्दोलन शान्त और सृजनात्मक था। शनैः शनैः उन्होंने वातावरण को तैयार किया। उनकी छाया और प्रभाव में ही श्री विनायकराव का विकास हुआ।

इंग्लैण्ड से लौटने पर विनायकराव में उन्होंने पूर्ण सादगी पाई। वे बाह्य आडम्बर को तो एक बार सह सकते थे, पर उनके लिए यह नितान्त असह्य था कि विनायकराव विदेशी आचारों को ग्रहण करके लौटे लेकिन यह अत्यन्त हर्ष का विषय था कि विनायकराव अपने तीन साल के लन्दन प्रवास में स्वामी श्रद्धानन्द तथा आचार्य रामदेव से गुरुकुल कांगड़ी में ग्रहण की हुई शिक्षा और संस्कृति को लेश-मात्र भी न भुला सके। वे उस समय भी स्वदेशी वस्त्रों को ही पहनते थे, जब कि काँग्रेस के तत्कालीन नेतागण भी अंगरेजी वेशभूषा को निःसंकोच अपनाए हुए थे। मैंने कभी भी उन्हें सिगरेट आदि का उपयोग करते हुए नहीं देखा। आधुनिक अंग्रेजी शिक्षित समाज का उन्होंने बिलकुल भी अनुकरण नहीं किया। हम देखते हैं कि थोड़े दिनों बाद सारे देश ने भी उनकी इसी नीति का अवलम्बन किया। नेता बनने की भावना से दूर रहकर, उन्होंने नवयुवकों को बिना किसी संस्थागत दृष्टिकोण से संगठित किया। ये नवयुवक स्वस्थ समाज के प्रतीक थे। सब में सामाजिक भेद भाव को समाप्त करने की भावना थी। श्रीयुत केशवराव ने सामाजिक क्षेत्र में हमारा नेतृत्व बड़ी दूरदर्शिता और सूझबूझ से किया। उन्होंने समाज में सभी वर्गों के उद्धार के लिए आन्दोलन किया।

उनमें अपनत्व की भावना पर्याप्त थी, किन्तु उनका अपनत्व पक्षपात रहित था। इस कारण उनका न्याय समुचित और दृढ होता था। इस सम्बन्ध में उनके विचार मौलिक और ठोस थे। कुछ अवसर ऐसे भी आए कि उन्हें पक्षपात का भी अवलम्बन करना पड़ा, किन्तु इसके लिए वे सर्वथा दोषरहित थे। चीन के सुप्रसिद्ध विचारक कनफ्यूशियस ने कहा है—

"भविष्य के ज्ञान के लिए भूत का अध्ययन करना चाहिए।"

यह दुर्भाग्य है कि :—

"मनुष्यों की बुराइयाँ तो पीतल पर लिखी जाती हैं,
और उनके गुणों को हम पानी पर लिखते हैं।"

—शेक्सपियर (**हेनरी अष्टम**)

खिलाफ़त और असहयोग आन्दोलन के समय हैदराबाद में भी हिन्दु-मुस्लिम एकता को कुछ बल मिला था। हैदराबाद राज्य के धार्मिक विभाग के अध्यक्ष मौलवी हबीबुर्रहमान उस समय इस तथाकथित मुस्लिम राज्य को वास्तविक मुस्लिम राज्य में परिवर्तित करने की सोचते थे। उस्मानिया विश्वविद्यालय का प्रथम उप-कुलपति भी मुसल्मान युवकों में मज़हबी जोश कूट-कूट कर भरा देखना चाहता था। ग़ैर मुस्लिमों को मुसलमान बनाने की योजना बड़े निम्न स्तर तक बनाई गई, बाहर के मुसल्मानों को हैदराबाद में बसने के लिए प्रोत्साहित किया गया। मुस्लिम उद्योगपतियों के व्यवसाय को स्थापित करने में विशेष सहायता दी गई, यद्यपि इस विषय में असफलता ही मिली। परिणामतः हिन्दू और मुसल्मानों के बीच वैमनस्य की भावना और भी तीव्र होती गई। लगभग इसी समय युवक और समर्थ युवक विनायकराव ने सार्वजनिक जीवन में प्रवेश किया। उन्होंने अपना अधिकाधिक समय और धन सामाजिक उत्कर्षक कार्यों के लिए अर्पित कर दिया। बीड, गुलबर्गा और मुहर्रम के उपद्रवों के समय स्थिति बड़ी भयंकर और चिंताजनक हो गई थी। विनायकराव उसके निवारण के लिए सामने आए। उन्होंने अपने अन्य साथियों के साथ त्रस्त लोगों में आत्मविश्वास और धैर्य की भावना को जागृत किया। उन्होंने सारा कार्य बिना किसी शोरोग़ुल के किया। उनकी सफलता का प्रभाव आर्यसमाज द्वारा संचालित प्रथम सत्याग्रह के समय अपने विराट रूप में था। उनके और आर्यसमाज के सम्बन्ध अभिन्न और अविच्छिन्न हैं। संगठनकर्ता के रूप में तो वे विख्यात हो ही चुके हैं, किन्तु वे एक उच्चकोटि के प्रशासक भी हैं। इस अत्यन्त शुभ दिवस पर मेरी यह पुनः पुनः कामना है कि वे दीर्घ काल तक राष्ट्र की सेवा करते रहें।

ग़ुलाम पंजतन (भूतपूर्व सेशन जज)
बनजारा हिल, हैदराबाद-दक्षिण

सेवा

बैरिस्टर विनायकराव विद्यालंकार

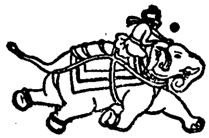

लगभग दो वर्ष हुए, गुरुकुल विश्वविद्यालय के लिए धनसंग्रह करने में हैदराबाद गया था। जब से श्री विनायकराव हैदराबाद राज्य के मन्त्री बने तब से मेरी इच्छा थी कि मैं वहां जाकर गुरुकुल के लिए कुछ धनसंग्रह करूं, और साथ ही यह भी अपनी आंखों से देखूं कि गुरुकुल का एक स्नातक किसी राज्य का मन्त्री बन कर कैसा काम करता है और कैसी ख्याति उपलब्ध करता है। जाने से पूर्व मैंने श्री विनायकराव को लिखा था कि आप मेरे साथ चलकर चन्दा एकत्र करने में सहायता दीजिएगा। उस समय उन्होंने उत्तर दिया था कि आप पांच हज़ार रुपया मिलने की आशा लेकर आइएगा। वह राशि मैं एकत्र करा दूंगा। मैं तो विनायकराव को विद्यार्थी अवस्था से ही जानता था। वे जब गुरुकुल में पढ़ते थे तभी बहुत सावधान परन्तु सीधे छात्र समझे जाते थे। सावधानता शायद महाराष्ट्र-निवासियों की विशेषता भी है। मैंने मन में समझ लिया कि इन पांच हज़ार में सात-आठ हज़ार की गुंजाइश है ही, और एक दिन प्रातःकाल बम्बई के रास्ते हैदराबाद जा पहुंचा।

रेल में मेरे साथ एक सज्जन बैठे हुए थे। वे बातचीत में इस बात पर बड़ा गर्व प्रकट कर रहे थे कि हैदराबाद के मन्त्रिमण्डल में महाराष्ट्र के जो सदस्य हैं वे बहुत योग्य हैं, उन्हीं के बल पर मन्त्रिमण्डल चल रहा है। वे श्री विनायकराव की विशेष प्रशंसा कर रहे थे। मैंने उन्हें न तो अपना परिचय दिया और न यही बतलाया कि मैं श्री विनायकराव को जानता हूं। जब गाड़ी हैदराबाद पर पहुंची तो स्टेशन पर श्रीयुत विनायकराव बहुत बड़ी मण्डली के साथ उपस्थित थे। उनके हाथों में हार देख कर वे महाराष्ट्र-सज्जन बहुत आश्चर्यित हुए और मुझसे पूछने लगे कि क्या बैरिस्टर विनायकराव आपको लेने आए ह? मैंने अनुभव किया कि इस बात से उनकी दृष्टि में मेरे प्रति आदर का भाव बहुत बढ़ गया। इससे मुझे इस बात का थोड़ा सा आभास मिल गया कि श्री विनायकराव हैदराबाद के साधारण नागरिकों की दृष्टि में कितने सम्मान की दृष्टि से देखे जाते हैं।

मेरी पत्नी भी मेरे साथ थी। हम दोनों को श्री विनायकराव अपने बंगले पर ले गए और उन्होंने हमें वहीं ठहराया। मुझे गत आठ वर्षों में दर्जनों मन्त्री महोदयों के बंगलों पर जाने का अवसर मिला होगा। दिल्ली के मन्त्रिगण, राज्य-मन्त्रियों और उप-मन्त्रियों के रहन-सहन और रंग-ढंग को तो दिन-रात ही देखता हूं। श्री विनायकराव के बंगले पर जाकर मैंने अन्य मन्त्रियों से जो भेद पाया उसने मेरे मन पर बहुत प्रभाव डाला। प्रायः देखा जाता है कि मन्त्री अथवा उप-मन्त्री पदारूढ़ होते ही पहला काम यह करते हैं कि बढ़िया खद्दर के अथवा खद्दर भंडार के रेशम के कुछ सूट बनने के लिए देते हैं, ताकि सप्ताह दो सप्ताह में वे स्टैण्डर्ड मिनिस्टर बन सकें। श्री विनायकराव के वेश में मैंने कोई परिवर्तन नहीं पाया। वे लगभग उसी वेश में रहते थे जिसमें मन्त्री बनने से पहले रहा करते थे। मन्त्री-पद पर आरूढ़ होने के पश्चात् पहली चिन्ता यह होती है कि निवास-स्थान पर दो-चार फ़ालतू टेलीफ़ोन लगाएँ जाएँ, एक टेलीफ़ोन तो सभी के यहां होता है। मन्त्री महोदय के यहां भी एक ही टेलीफ़ोन हो तो फिर भेद ही क्या रहा? प्रायः देखा जाता है कि मन्त्रियों के दफ़्तर में, शयनागार में, वेटिंग रूम में, और पी.ए. के कमरे में, अलग अलग टेलीफ़ोन लगाए जाते हैं। कभी कभी एक ही मेज़ पर दो दो टेलीफ़ोन भी धरे रहते हैं। सुनते ह कि इतने टेलीफ़ोन भी काफ़ी नहीं समझे जाते, और प्रायः अधिक मांग बनी रहती है। मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ तथा प्रसन्नता भी हुई कि हैदराबाद राज्य के वित्त मन्त्री के बंगले में केवल एक ही टेलीफ़ोन था। और उसके पास कोई पी. ए. साहब भी विराजमान नहीं थे। पूछने पर श्री विनायकराव ने कहा कि "मुझे घर पर पी. ए. की कोई आवश्यकता मालूम नहीं होती, वह दफ़्तर में ही बैठता है। टेलीफ़ोन सुनने के लिये चपरासी ही काफ़ी है। आवश्यकता होने पर वह मुझे बुला लेता है।"

हमारे कुछ मन्त्रियों तथा उप-मन्त्रियों को अपने बंगले के अन्दर शरीर-रक्षा के लिये गन-मैनों की ज़रूरत होने लगी है। कभी कभी तो बंगले पर गारद पड़ जाते हैं। श्री विनायकराव के बंगले पर मैंने कोई गन-मैन नहीं देखा। अपने जीवन की ममता तो श्री विनायकराव को भी होगी ही, परन्तु प्रतीत होता है कि उनके मन में किसी से भय की आशंका नहीं थी। वह शहर में प्रायः खुले घूमते थे। लोग कहते थे कि वह अब भी वैसे ही निःशंक भाव से सबसे मिलते हैं जैसे मन्त्री बनने से पहले मिला करते थे।

दूसरे दिन चन्दे का काम आरंभ हुआ। बहुत स्थानों पर जाना नहीं पड़ा। एक मुसलमान सज्जन आए और गुरुकुल के लिए दो हज़ार का चैक दे गए। अन्य स्थानों पर भी दो बार नहीं कहना पड़ा। हम

श्री बिनायक राव विद्यालंकार
गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी से स्नातक
होने के समय १९१९ ई. में

लोग एक सेठ जी के बैंक में गए, वहां जाने से पहले टेलिफ़ोन से सूचना दे दी गई थी। जब पीढ़ी पर पहुंचे तो सेठ जी और उनके सब आदमी दरवाज़े पर खड़े मिले। आदर सत्कार से अन्दर ले जाकर हम लोगों को बिठाते हुए उन्होंने मुझ से कहा—"आप यह न समझें कि हम लोग बैरिस्टर विनायकराव मिनिस्टर के सत्कार के लिए बाहर खड़े थे, हम तो उन्हीं पुराने राव साहब के सम्मान में द्वार पर पहुंचे थे। हम लोगों के लिए तो वे अब भी वैसे ही हैं जैसे पहले थे।" रियासत में जो मान इनके पिता श्रीयुत केशवराव का था वही उनका भी है।

तीसरे दिन आर्यसमाज की ओर से एक सार्वजनिक सभा का आयोजन किया गया था। उसके सभापति श्री विनायकराव थे। शायद चौथे दिन 'हिन्दी-प्रचार-सभा' की ओर से एक विशेष सभा की गई। जिसके सभापति हैदराबाद की विधान सभा के अध्यक्ष थे। उस सभा में यह पता चला कि श्री विनायकराव सभा द्वारा आयोजित साहित्य गोष्ठियों में अपनी लिखी कहानियां भी सुनाते रहते हैं। आप एक सक्रिय साहित्यिक हैं मेरे लिए यह नई जानकारी थी। आपकी कथाओं का संग्रह मुझे वहीं मिल गया। जब मैंने उसे पढ़ा तो एक नए साहित्यिक विनोद का अनुभव हुआ। भाषा में प्रसाद गुण और रोचकता के साथ साथ वे मीठी चुटकियां भी थीं जो मराठी-साहित्य में विशेष रूप से पाई जाती हैं। इसमें सन्देह नहीं कि यदि श्री विनायकराव ने कभी मन्त्री-पद के झमेले को छोड़ कर हिन्दी-साहित्य की सेवा करने का निश्चय किया तो उसमें भी वे काफ़ी सफलता प्राप्त कर सकेंगे।

मैं हैदराबाद में लगभग छह दिन तक रहा। मैं जो जिज्ञासा लेकर गया था, उन दिनों में मुझे उसका उत्तर मिल गया। श्री विनायकराव के मन्त्री-पद पर कार्य करने से न केवल मन्त्री-पद को शोभा मिली है, गुरुकुल का नाम भी उज्ज्वल हुआ है। यह देख कर मन को अत्यन्त सन्तोष हुआ कि गुरुकुल का एक स्नातक राज्य का मन्त्री बना तो भी उसने अपनी स्वाभाविक सादगी और सज्जनता का परित्याग नहीं किया और साथियों तथा जनता का विश्वास प्राप्त किया है। जनता के हृदय में अपने एक गुरुभाई के प्रति ऐसा सम्मान का भाव देख कर मेरे हृदय ने सन्तोष का अनुभव किया। तब मैंने मन ही मन में ईश्वर से प्रार्थना की कि वह मेरे भाई की इस सद्बुद्धि को विकासोन्मुख रखे।

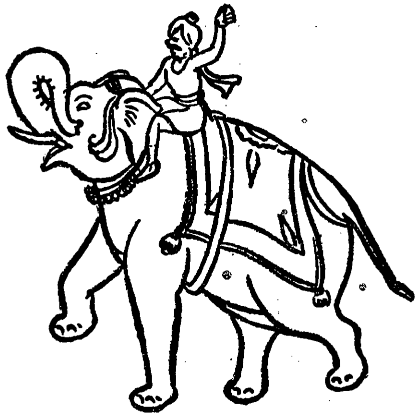

इन्द्र विद्यावाचस्पति (एम. पी.)
कुलपति, गुरुकुल विश्वविद्यालय
कांगड़ी, हरिद्वार

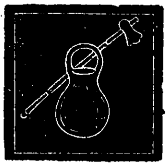

त्याग

श्री विनायकराव : कुछ विशेष झांकियां

हैदराबाद का गोलकुण्डा-दुर्ग हमारे देश की एक ऐतिहासिक सम्पत्ति है । उसके गौरव और वैभव तथा उत्थान और पतन की कथा का भारत के इतिहास में अपना स्थान है । साथ ही हीरों की खान के नाते भी उसकी अपनी ख्याति दूर दूर तक व्याप्त रही है । कोहेनूर की यह खान आज भी सूनी नहीं । उसकी रत्न-प्रसवा कोख से आज जो नररत्न हमें मिला है, उसकी सुंदर आभा, उसका दीप्तिमान् प्रकाश और उसकी समूची जगमगाहट देखनेवाले को विस्मित और विभोर किए बिना नहीं रह सकती ।

श्री विनायकराव का जीवन बहुविधि है । उनके जीवन के अनेक पहलू हैं । इस छोटे से शब्दचित्र में श्री राव साहब के जीवन के हर पहलू की छटा और आभा का यथार्थ चित्रण सरल और सुगम नहीं ह ।

हैदराबाद के धार्मिक, सामाजिक, शैक्षणिक, साहित्यिक तथा राजनीतिक जीवन का इतिहास न्याय-मूर्ति श्री केशवराव के बिना अधूरा है । उन्होंने स्वावलंबन से विद्याध्ययन किया । कुशाग्र बुद्धिमत्ता, सतत

3*

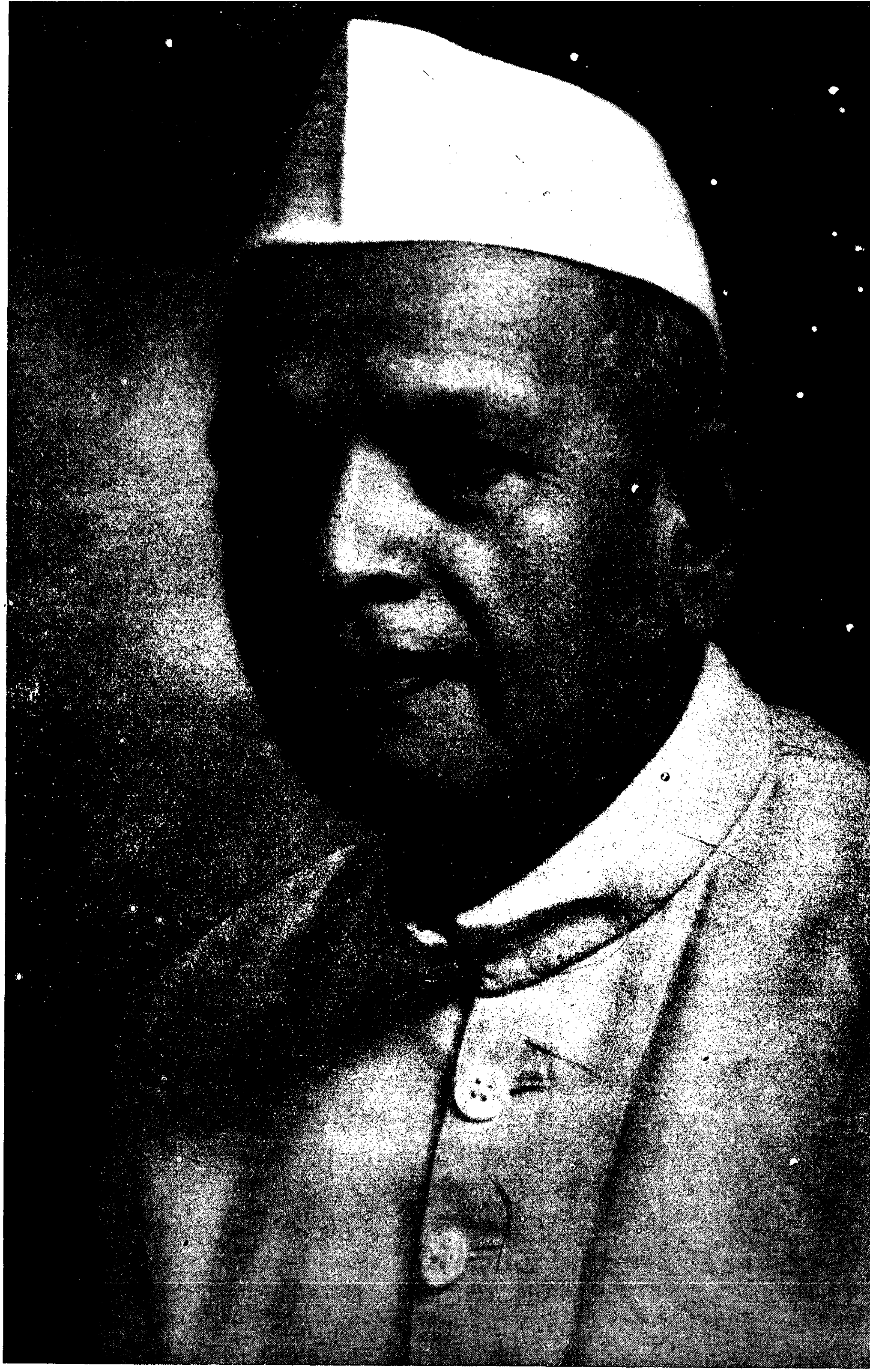

श्रीयुत विनायक राव (६१ वें वर्ष की समाप्ति पर)

परिश्रम और पुरुषार्थ से वे एक कुशल और सफल वकील बने। उनकी योग्यता और क्षमता से प्रभावित होकर तत्कालीन सरकार ने उन्हें हाई कोर्ट में न्यायाधीश के पद पर नियुक्त किया। नौकरी की स्वर्ण श्रङ्खलाओं में जकड़े रहने पर भी उन्होंने अपने सार्वजनिक जीवन पर आँच न आने दी। हैदराबाद जैसे मुस्लिम राज्य में वे आर्यसमाज के प्रधान बने रहे और उसके आंदोलन में सदा हाथ बटाते रहे। हैदराबाद राज्य के सामाजिक, धार्मिक, शैक्षणिक, और राजनीतिक कार्य-क्षेत्रों का उन्होंने यथा शक्य मार्ग-दर्शन किया। श्री विनायकराव उनके ज्येष्ठ पुत्र हैं। आपका जन्म ता. ३ फरवरी १८९५ ई. में कळंब, जिला उस्मानाबाद में हुआ जहाँ आपका ननिहाल है। आप सुयोग्य पिता के सुयोग्य पुत्र हैं। श्री केशवराव को आपके अतिरिक्त श्री विट्ठलराव कोरटकर, श्री रामराव कोरटकर और दो पुत्र भी हैं वे क्रमश: जिला जज तथा इंडियन एयरवेज़ में ग्राउंड इंजिनियर हैं। इन तीनों के अतिरिक्त एक पुत्री हैं। श्रीमती सिंधु शर्मा। इन सब को सौजन्यता तथा सरलता परंपरा में मिली हैं—मानों ये उनके वंशगत गुण हैं। श्री विनायकराव जहां श्री केशवराव के औरस पुत्र हैं; वहां वे उनके सामाजिक, धार्मिक, और राजनीतिक कार्यों में सच्चे उत्तराधिकारी भी हैं। इन पिता-पुत्रों की यह संयोग जनित परम्परा देखकर बड़े पिट और छोटे पिट और श्री मोतीलाल नेहरू तथा श्री जवाहरलाल नेहरू की परम्परा की याद का हो आना स्वाभाविक है।

श्री केशवराव रचनात्मक सुधारक थे। स्व. स्वामी श्रद्धानंद ने हैदराबाद के तीन प्रमुख आर्यसमाजी कार्यकर्ताओं, श्री केशवराव, श्री कुँवर बहादुर तथा श्री गोविंद सिंह से गुरुकुल कांगड़ी के लिए उनके बच्चे मांगे। अत: श्री केशवराव ने अपने ज्येष्ठ पुत्र विनायकराव को गुरुकुल कांगड़ी में प्रविष्ट करा दिया। उन दिनों एक संपन्न पिता का अपने ज्येष्ठ पुत्र को दक्षिण से सुदूर हिमालय की तलहटी में शिक्षणार्थ भेजना जब कि देशवासी इस शैक्षणिक प्रयोग को एक खिलवाड़ मात्र समझते थे, नि:संदेह आसाधारण बात थी और था एक महान् त्याग एक संपन्न परिवार के पुरुष के लिए। कांगड़ी गुरुकुल से श्री विनायकराव १९१९ में 'विद्यालंकार' की उपाधि लेकर निकले। इसके पश्चात् कुछ समय के लिए आप पूना के कृषि कॉलेज में प्रविष्ट हो गए। इस बीच ही में आप कृषि शिक्षण को छोड़ कर विलायत चले गए। वहां किंग्स-कॉलेज तथा मिडल टेम्पल में आपने शिक्षा प्राप्त की। एलएल. बी. तथा बार-एट-ला की उपाधियां लेकर ३ वर्ष बाद १९२२ ई. में आप स्वदेश लौटे। हैदराबाद में आपने वकालत आरंभ की। आपके विद्यार्थी जीवन की केवल दो घटनाएँ यहां दी जाती हैं जो जिनसे उनके बहुमुखी व्यक्तित्व का सुरुचि पूर्ण आभास मिलता है

गुरुकुल विश्वविद्यालय में वार्षिक परीक्षा चल रही थी। रसायन शास्त्र आपका प्रिय विषय था। उसकी प्रयोग परीक्षा के दिन अन्य प्रयोगों के साथ-साथ एक विशेष क्षार भी बनाना था। परीक्षा आरम्भ हुई। अन्य प्रयोगों को छोड़ कर आपने उस विशेष सॉल्ट बनाने की क्रिया आरंभ कर दी। परीक्षा का निर्धारित समय बीता जा रहा था। आप एक ही प्रयोग में लगे हुए थे। परीक्षक महोदय जो एक बंगाली प्रोफ़ेसर थे, आपके इस प्रयोग को देखते जा रहे थे। समय समाप्त हुआ। आप प्रयोग में सफल न हुए। सॉल्ट न बना, पर प्रयत्न में आप इतने तन्मय थे कि परीक्षा के अन्य प्रश्नों को आपने छुआ तक नहीं। समय समाप्त होने पर परीक्षक महोदय ने कहा कि "लो, तुम्हें और समय देते हैं" पर फिर भी वे अपने प्रयोग में सफल न हुए। परीक्षक महोदय रुक कर और भी समय

दिया । अब की बार आपने पूरा जोर लगाया और परिणाम पर पहुंच गए। लगभग कोरी उत्तर पुस्तिका को केवल एक वाक्य लिख कर आपने लौटा दिया। आपका प्रति-स्पर्धी निश्चिन्त था कि अब उसके सिवाय कोई अन्य प्रथम न आ सकेगा। अपने ही सर्वप्रथम होने का उसे विश्वास सा था। यथासमय परीक्षाफल निकला। आपको १००% अंक मिले थे और प्रतिस्पर्धी को ८४%। परिणाम पर वह विस्मित रह गया। प्रोफ़ेसर महोदय से पूछने पर उन्होंने स्पष्ट कहा कि विनायक की तन्मयता और बुद्धिमत्ता पर मैं बहुत प्रसन्न हूं। उसकी प्रक्रिया बिलकुल ठीक थी। क्षार बनता था और उड़ जाता था। मैंने भी यह प्रयोग किया था। पहली ही बार जो मुझे न सूझा था वह विनायक ने प्रथम प्रयोग-प्रयत्न में ही भांप लिया। कारण अंत में उसने जो नोट दिया है कि "इस क्षार के बनाने की प्रक्रिया तो यही है पर यहां की जल वायु की स्थिति में यह उड़कर ग़ायब हो जाता है।" केमिस्ट्री में आपको विशेष रुचि थी। इस विषय में अपनी विशेषता के लिए आपको एक स्वर्ण पदक भी दिया गया था।

राव साहब को हैदराबाद राज्य में अजातशत्रु कहा जाता है। वर्तमान राजनीतिक दलबंदियों में आपके प्रतिपक्षी भी आपका आदर करते हैं। हैदराबाद राज्य मन्त्रिमण्डल के तो मानों आप नैतिक रीढ़ हैं। आपका स्वभाव इतना सरल और निरभिमानी है कि अपने प्रतिपक्षी को भी सरलता से अपना बना लेते हैं। अपने विरोधियों को अपना बनाने की क्षमता आप में बाल्यकाल से थी जो कि एक घटना के उल्लेख से स्पष्ट हो जाएगी। गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी का वार्षिकोत्सव था। विद्यार्थियों के लिए उत्सव के दिनों में बड़ा आकर्षण होता था। राव साहब जिस श्रेणी में पढ़ते थे, उसने यह निश्चय किया कि वे इस बार एक मासिक-पत्रिका को इस उत्सव के अवसर पर निकालेंगे। सब मिलकर स्व. स्वामी श्रद्धानन्द के पास इस लिए गए कि उन्हें एक डुप्लिकेटर दिया जाए। डुप्लीकेटर आ गया, पर उस पर उच्च कक्षा के विद्यार्थियों ने अधिकार कर लिया। उत्सव सिर पर आ गया था। श्रेणी हताश थी कि अब क्या किया जाए ? जो विद्यार्थी सम्पादक था उसकी राव साहब से बनती न थी और दोनों में बात चीत तक बस थी। उत्सव में चार-पांच दिन शेष थे। राव साहब ने देखा कि अब उनकी श्रेणी को नीचा देखना पड़ेगा। केवल एक दिन अवशिष्ट रह गया था। आपने किसी को न बताते हुए निश्चय कर लिया कि अपनी श्रेणी की पत्रिका भी कल ज़रूर प्रकाशित होगी। उनकी श्रेणी में केमिस्ट्री के विद्यार्थी थे, अतः झटपट खरिया और लिक्विड ग्लास से एक प्रेस तैयार कर लिया। और तीन रात जागते रहे, इस प्रकार हस्तलिखित पत्रिका तैयार कर ली। अपने विरोधी का नाम संपादक के स्थान पर लिख दिया। सारी श्रेणी आप पर लट्टू थी। सभी ने आग्रह किया कि आपका नाम भी सम्पादक के साथ सह-सम्पादक के नाते शरीक कर लिया जाए। राव साहब एकदम बिगड़ गए और कहने लगे कि क्या मैंने यह नाम के लिए किया है ? अगर आप लोगों न मेरा नाम उस पर लिख दिया तो मैं सारी पत्रिका ही नष्ट कर डालूंगा। बात स्वामी श्रद्धानंद तक गई। फिर भी रावसाहब अपनी बात पर अड़ रहे। सम्पादक जो उनका विरोधी था इस घटना से मित्र बन गया।

१९२२ से १९३३ की अवधि पिता की छत्रछाया में बीती। विलायत से अपनी शिक्षा पूरी करके लौटने के बाद आपने वकालत आरंभ कर दी। हैदराबाद के सार्वजनिक कार्यों में भी आप हाथ बटाने लगे। इस अवधि में होनेवाली परिषदों और सम्मेलनों में, जिनका एकमात्र उद्देश्य राज्य की प्रजा में

जागृति उत्पन्न करना था, स्व. श्री केशवराव कहीं अध्यक्ष और कहीं स्वागताध्यक्ष और कहीं संयोजक रहते थे। १९२४ के गुलबर्गा के भीषण दंगे में उन्होंने जनता की बड़ी सेवा की। इन सब में अपने पिता के साथ श्री विनायकराव ने भी किसी न किसी रूप से हाथ बटाया था। प्लेग में होनेवाले सेवाकार्य से लेकर समाज में लगनेवाली सभी पाठशालाओं तक में आपने कार्य किया। समाज में हरिजनों के प्रौढ़ शिक्षा के लिए प्रबंध किया गया था।

१९२२ से १९३३ तक पिता के जीवनकाल में आप यद्यपि आर्यसमाज तथा अन्य सार्वजनिक कार्यों में भाग लेते रहे तथापि आर्यसमाज का नेतृत्व आपने अपने हाथों में नहीं लिया। मई १९३३ में श्रीयुत केशवराव का स्वर्गवास हुआ, तो जैसे सम्पूर्ण परिवार का भार ज्येष्ठ होने के नाते आप पर ही आ पड़ा, उसी प्रकार आर्यसमाज का नेतृत्व भी आपके ही कन्धों पर आ पड़ा। सर्वसम्मति से आप आर्य प्रतिनिधि सभा, हैदराबाद राज्य के प्रधान निर्वाचित हुए। १९३३ से १९५० तक आप सभा के प्रधान रहे। १९५० ई. में हैदराबाद राज्य के मंत्री-पद पर आसीन होने के बाद आपने सभा के प्रधान-पद से त्यागपत्र दिया। सभा की अंतरंग की उस बैठक में जो उपस्थित थे वे जानते हैं कि श्री राव साहब के त्यागपत्र देते समय सब की कैसी अवस्था हो गई थी। श्री राव साहब का गला भर आया था। सब सदस्यों की आंखें नम हो गई थीं। किसी के मुंह से शब्द न निकलता था। और हो भी क्यों नहीं ? श्री राव साहब ने इन १६-१७ वर्षों में जिस साहस, धैर्य और आत्मीयता से नेतृत्व किया था, उसे इन सभी ने अपनी आंखों से देखा था। अपनी मान-प्रतिष्ठा और आर्थिक हानि-लाभ का इस अवधि में आपने विचार तक नहीं किया। अनेक कष्ट और मुसीबतें झेलीं, आक्रमाण सहे, लाठियां खाईं, प्राणांतक दुर्घटनाओं तक के शिकार हुए और अपने कार्य में अपूर्व सफलता प्राप्त की। सभा उनके लिए केवल एक संगठन न थी, उनके लिए वह एक परिवार था। आपके प्रधान बनने के बाद आर्यसमाज के कार्यों में तेज़ी आई और उधर आर्य प्रतिनिधि सभा तत्कालीन सरकार की आँखों में अधिकाधिक खटकने लगी थी। सरकार इस संगठन को कुचल देना चाहती थी। अतः आर्यसमाजी कार्यकर्त्ताओं को पुलिस किसी न किसी मुकद्दमें में फांस कर परेशान करने लगी थी। किसी साधारण हिन्दू वकील में साहस नहीं था कि आर्यसमाज की ओर से मुकद्दमे लड़े और वह भी मुफ़्त; न केवल मुफ़्त अपितु अपनी जेब से रूपया लगाकर। रहे मुसल्मान वकील, उन्हें उन साम्प्रदायिक गड़बड़ के दिनों में क्या पड़ी थी कि इन मुकद्दमों की पैरवी करते। श्री राव साहब पर इन मुकद्दमों का भार आ पड़ा। उसे आप बराबर निभाते आ रहे थे। १९३९ में वकालत के पेशे से घृणा होने के कारण आपने उसे त्याग दिया। पर आर्यसमाजी कार्यकर्ताओं पर चलाए जानेवाले मुकद्दमों में आप बराबर काम करते रहे। एक बार दो मित्रों ने अपने मामलों में जबरन आपको फ़ीस दे दी। आपने उसे समाज को दान में दे दिया। आर्यसमाज का प्रचार और आर्यसमाजियों पर चलाए जानेवाले मुकद्दमों की पैरवी ये दोनों कार्य ऐसे थे कि उर्दू अख़बारों ने आपको सांप्रदायिक मुसलमानों की नज़रों में एक खटकनेवाला काँटा बना दिया। दूसरी तरफ़ जनता में एक भारी आतंक फैल चुका था, अफ़सर लोग आर्यसमाजियों से सम्पर्क रखने में डरते थे। सरकार जानती थी कि यदि श्री राव साहब ने इस आंदोलन से हाथ खींच लिया तो इसे दबाना आसान होगा। अदालती नौकरी के प्रलोभन दिए गए। दंगे और आक्रमण करवाए गए ताकि श्री राव साहब डर जाएँ और आर्यसमाज के काम को छोड़ दें।

न्यूटन के सिद्धान्त के अनुसार जिस मात्रा में दो वस्तुओं के मध्य का अंतर कम होगा उसी मात्रा

में आकर्षण अधिक होगा । नेताओं की लोकप्रियता की सच्ची कसौटी भी ठीक ऐसी ही है । प्रसिद्धि तथा लोकप्रियता का विश्लेषण करते हुए अंग्रेज़ी के एक लेखक ए. क्लटन-ब्रोक ने अपने 'लोकप्रियता' नामक निबंध में सच्ची लोकप्रियता की यही कसौटी बताई है । व्यक्ति की सच्ची प्रसिद्धि और लोकप्रियता तब है जब कि अपने निकटतम जनों में वह श्रद्धा का भाजन हो । अन्यथा सामान्य समाज जब किसी एक की पूजा में लग जाता है तो दूर से ही एक नेता पर अनेक काल्पनिक सद्गुणों का आरोप कर लेता है; और प्रसिद्धि के बहुत से साधनों के इस युग में ऐसी कल्पित प्रसिद्धि दूर दूर तक फैल जाती है, और वह होती है एकमात्र ढकोसला । अतः निकटस्थ जनों में प्रिय होना लोकप्रियता की सच्ची कसौटी है । दूर के ढोल सुहावने की तरह कतिपय दूरस्थ लोकप्रियता प्राप्त करनेवाले नेताओं का यही हाल होता है कि ज्यों ज्यों उनके निकटतर होते जाइए उनके प्रति आपका आकर्षण कम होता जाएगा । जितने ही आप उनके समीप जाएँगे उतने ही आप दूर होते जाएँगे । पर जो वास्तव में महान् हैं जिस कदर आप उनके निकट जाएँगे उसी कदर आप अधिकाधिक उनकी ओर आकृष्ट होते जाएँगे । श्री राव साहब का व्यक्तित्त्व उपरोक्त कसौटी पर खरा उतरता है ।

आर्यसमाज के नेता होने के कारण हैदराबाद की मुस्लिम जनता में आपके प्रति क्या धारणा होगी, इसके लिखने की आवश्यकता नहीं और हैदराबाद के बाहर की जनता भी पुलिस कार्यवाही के बाद यहां की तत्कालीन मुस्लिम मनोवृत्ति से भली भांति परिचित हो चुकी है । उन दिनों जिस समय की घटना हम यहां लिख रहे हैं "मुस्लिम ऐक्यवादी" सिद्धान्त का दौरदौरा था । और मुस्लिम ऐक्यवादी के मार्ग में अगर कोई रुकावट थी तो वह केवल आर्यसमाज थी ; क्रारण उन दिनों राज्य में किसी राजनीतिक संस्था का जन्म नहीं हुआ था । और जो संस्थाएँ भिन्न भिन्न नाम धारण किए हुए मौजूद थीं उनमें इतना साहस और बल नहीं था कि वह हुकूमत अथवा मुसल्मानों का अत्याचार सह सके । दलित जातियों के सामूहिक धर्म परिवर्तन करनेवाले श्री नवाब बहादुरयारजंग के आंदोलन से जो कि इत्तिहादुल-मुस्लिमीन के सर्वेसर्वा थे, लोहा लेने का साहस और कार्य आर्यसमाज ने आरंभ कर दिया था । अतः हिन्दू जनता तथा आर्यसमाज के नेताओं को आतंकित करने के लिए दंगे आरंभ कर दिए गए थे ।

हैदराबाद शहर के धूलपेठ मुहल्ले में फ़िसाद फूट पड़ा । श्री राव साहब अपने एक मित्र की गाड़ी में बैठकर दंगाग्रस्त क्षेत्र की स्थिति का स्वयं अवलोकन करने के लिए गए हुए थे । लौटते समय जिस रास्ते वे गए थे, उसे छोड़ कर वे दूसरे मार्ग से अपने घर लौट रहे थे । उस समय तक पुलिस ने सब रास्ते रोक रखे थे । केवल एक मार्ग खुला था, जिससे मोटर चल पड़ी । गाड़ी दबीरपुरा पहुंची । सामने, उत्तेजित सशस्त्र मुस्लिम दंगाइयो का समूह खड़ा था और उनका लक्ष्य थे श्री विनायकराव । उन दंगा करनेवालों में से एक ने भी अगर आपको पहचान लिया होता तो आपके टुकड़े-टुकड़े कर दिए गए होते । किसी तरह जब आप अपने मुहल्ले जामबाग पहुंचे तो देखते क्या हैं कि एक उत्तेजित भीड़ ने आपके बंगले को घेर रखा है । यहां तो मौत प्रत्यक्ष सामने खड़ी थी । क्या माजरा है यह जानने के लिए आप गाड़ी से उतर पड़े । उतरते ही चारों ओर से हज़ारों सशस्त्र फ़िसादी लोगों ने आपको घेर लिया पर मारनेवाले से बचानेवाला महान् है । दैववशात् ठीक उसी समय पुलिस अंग्रेज अफ़सर की गाड़ी वहाँ आ पहुंची । उसने सभी गुंडों को पीछे हटने की आज्ञा दी और राव साहब को घर में प्रविष्ट होने दिया । दंगे में एक दो हत्याएँ हो चुकी थीं । घर पर आक्रमण करने के दंगाइयों के प्रयत्न असफल रहे ।

दंगा समाप्त होने के कुछ दिन बाद एक मुसल्मान व्यक्ति श्री राव साहब के पास आकर कहने लगा कि आपके ऋण से अऋण हो गया हूं। श्री राव साहब कुछ समझ नहीं पा रहे थे कि वह क्या कह रहा है। जब उससे पूछा गया कि उसके इस कहने का मतलब क्या है? तब उसने बतलाया कि आपने एक बार बैंक से अपनी सिफारिश पर मेरी बेटी की शादी के लिए कर्ज़ दिलवाया था। गत धूलपेठ के दंगे में जब मोटर में बैठ कर आप दबीरपुरे से गुज़र रहे थे और जिस समय फ़िसादियों के बीच में से आपकी मोटर थी उस समूह में मैं भी था। मैंने आपको पहचान भी लिया और यह आवाज़ मेरे गले तक आई कि कह दूं कि इन सारे फ़ितनों की जड़ आप ही हैं। पर आपके सद्व्यवहार के कारण ज़बान हिलती न थी। मैं यह अनुभव कर रहा हूं कि मैंने अपने उपकारकर्ता के प्रति नमकहरामी नहीं की।

दयानन्द ने अपने विष देनेवाले पाचक को क़ानून की नज़र से दूर भाग जाने के लिए रुपए दिए थे। एक और प्रसंग गुलबर्गा के आर्य सम्मेलन से सम्बन्ध रखता है। श्री राजा नारायणलाल पित्ती इस सम्मेलन के अध्यक्ष थे। सम्मेलन के दौरान में कुछ शरारती गुंडों ने पंडाल में घुस कर छेडछाड की, जिस पर स्वयंसेवकों से उनकी कुछ हाथपाई हुई। इन शरारती गुंडों में एक पुलिसमैन भी था। बस इस बात को लेकर दंगा हो गया। पंडाल से राव साहब, श्री गणपति शास्त्री तथा श्री नरेन्द्र पुलिस अधिकारियों से मिलने के लिए रात के ७ बजे बुलाए जाने पर थाने गए। वहां इनके पहुंचते ही अधिकारियों की उपस्थिति में पुलिस के जवानों ने इन पर बेतहाशा डंडे बरसाए। तीनों घायल और मूर्च्छित हो गए। लगभग रात के १२ बजे इन लोगों को सरकारी दवाखाने में पहुंचाया गया। श्री नरेन्द्र की टांग टूट चुकी थी। श्री गणपति शास्त्री इस आघात से पागल हो गए। राव साहब का शरीर लाठियों की मार से नीला-पीला हो गया था। बाद में इस दुर्घटना के सम्बन्ध में श्री राव साहब का एक वक्तव्य अखबारों में छपा जिसमें आपने उस पुलिस डी. एस. पी. को बचाने के लिए जिसकी उपस्थिति में उन्हें और उनके उपरोक्त दो साथियों को बेहोश होने तक पीटा गया था निर्दोष बताया। सारे आर्यसमाजी कार्यकर्ता राव साहब पर उनके इस वक्तव्य के कारण नाराज़ हो गए।

राव साहब के निकट सम्पर्क में आनेवाला व्यक्ति उनके सद्व्यवहार और चरित्र की श्रेष्ठता से कुछ ऐसा प्रभावित हो जाता है कि वह उनकी बिना प्रशंसा किए नहीं रहता। उनके चरित्र में क्षमाशीलता और सौजन्यशीलता प्रचुर है।

एक प्रसंग और है। नारायणपेठ में उन दिनों हैदराबाद आर्य सम्मेलन का अधिवेशन हो रहा था। गरमी के दिन थे, दिन भर की कड़ी धूप में शरीर झुलस रहा था। पसीने की धाराएँ छूट रही थीं। प्राण व्याकुल थे। किसी तरह शाम हुई पर लू से पिण्ड नहीं छूटता था। इतने में राव साहब के एक मित्र आ पहुंचे। आप रहते तो हैदराबाद में ही थे पर नारायणपेठ में भी निजी घर और बहुत बड़ी जायदाद रखते थे। बातों बातों में जब यह कहा गया कि स्नान की सुविधा हो तो कुछ आराम मिल जाएगा। उसी समय राव साहब के मित्र ने कहा कि क्यों नहीं, आप मेरे घर चलें। सारा प्रबन्ध मौजूद है, हम सभी ने 'हां' भर दी और तत्काल पंडाल से चल पड़े। गहरी बावली का, पंप से खींचा हुआ पर्याप्त ठंडा जल, जी खोलकर नहाए। राव साहब के मित्र ने भोजन का आग्रह आरंभ कर दिया पर उनकी आदत यह है कि ऐसे समारोहों पर सब के साथ मिलकर खाते पीते हैं। भोजन के प्रस्ताव को आपने स्वीकार करने से मजबूरी प्रकट की पर उनके मित्र यों माननेवाले नहीं थे। कम-से-कम कॉफ़ी पीने के लिए उन्होंने

सब को मजबूर किया । राव साहब दूसरों का हमेशा खयाल रखते हैं । कॉफ़ी के साथ साथ उपमा * भी आ पहुंची । हमारे पेट में तो चूहे कूद रहे थे । ज्यों ही पहला ग्रास मुंह में रखा, दांतों में रेत किरकिराने लगी । खाते न बनता था । जी चाहता था कि इस प्लेट को फेंक दिया जाए । जब कोई छुट्टी पाने की सूरत न नज़र आई तो निरुपाय होकर हमने निश्चय कर लिया कि उस रेतयुक्त उपमा को वैसे ही छोड़ दिया जाए । अतः इधर उधर करके समय काटने लगे । राव साहब की ओर देखा तो मेरे आश्चर्य का ठिकाना न था । पूरी प्लेट समाप्त कर चुके थे । घरवालों ने यह समझ कर कि राव साहब को उपमा पसंद है, फिर से प्लेट को भर दिया । उनके 'ना' को कौन सुनने चला था ? राव साहब उस प्लेट को भी पानी की सहायता से बराबर गले तले उतारते जा रहे थे । ग़ज़ब की मुरव्वत है !

शहीद श्यामलाल आर्यसमाज के एक महान् कार्यकर्ता थे । दैववशात् उन्हें किसी महारोग की शिकायत थी । रोग का जब प्रकोप बढ़ा तो वे कुछ दिन श्री राव साहब के कहने पर हैदराबाद आकर इलाज के लिए उन्हीं के यहां ठहरे हुए थे । श्री श्यामलाल को केशव-राव अपने पुत्र के समान मानते थे । उन दिनों हम विद्यार्थी थे और श्री राव साहब के बंगले पर ही रहते थे । श्री श्यामलाल के प्रति सभी का आदर था । उनकी अवस्था रोग के कारण काफ़ी बिगड़ी हुई थी । महारोग संसर्गजन्य होने के कारण हम उनके पास तक नहीं फटकते थे । उनसे दूर दूर रहते । श्री राव साहब के यहां के नौकर चाकर भी उनकी सहायता करने में जी चुराते और कतराते थे । प्रसंगवशात् एक दिन मैंने शाम के समय कमरे में झांका और देख कर हैरान रह गया । श्री राव साहब स्वयं उनका बिस्तर अपने हाथ से लगा रहे थे । चुपचाप स्वयं अपने हाथों से उनके ज़रूरी कामकाज कर देते । अपने नौकरों तक से न कहते । यह देखकर मन में हम लज्जित ज़रूर थे पर उनके वस्त्रादि को छूने की हिम्मत हमसे तब भी न होती थी ।

हैदराबाद में आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव लोकशिक्षा और जागृति का एक महान् साधन था । बड़ी-बड़ी सभाओं के मंच पर पचासों लोगों के बैठने का प्रबंध रहता । पर राव साहब केवल आवश्यकता के अनुसार ही मंच पर जाते और शेष सारा समय सभा स्थान में श्रोताओं के पीछे कहीं बैठे हुए या घूमते हुए मिलते । प्रचार की यात्राओं में पैदल, घोडा, बंडी जो भी साधन उपलब्ध होते, उससे काम चलाते । यात्रा में अपने साथियों के छोटे मोटे काम तक भी खुद कर देते । पर अपने काम को किसी दूसरे को छूने तक का अवसर न देते । दूसरे साथियों के कपड़े धो डालते । बिस्तर लगा देते या बांध देते । सादगी आपका स्वभाव है । हैदराबाद राज्य के सार्वजनिक जीवन में राव साहब की यह विशेषता रही है कि जब और जहां खतरा होता आप उस में डटने के लिए आगे निकल आते हैं । श्री वामन नायक साहब की बरसी पर कुछ नवयुवकों नें नागरिक अधिकारों की मांग के लिए राज्य के मुख्यमंत्री सर अकबर हैदरी के बंगले पर मोर्चा ले जाने का निश्चय किया । शहर के प्रतिष्ठित और मान्य नेता अपनी अपनी जगह तटस्थ थे । पर राव साहब से रहा न गया । इन नवयुवकों को जहां पुलिस ने आगे बढ़ने से रोक रखा था वहां जा पहुंचे । समीप ही सर अकबर का बंगला था । नवयुवकों के इस कार्य को एक खिलवाड़ और ग़ैर

* उपमा : दक्षिण में एक प्रकार का भोजन है जो रवे से बनाया जाता है और नमकीन होता है । यह एक प्रकार का रवे का नमकीन हलवा होता है ।

जिम्मेदाराना हरकत सिद्ध करना पुलिस का उद्देश्य था। नगर का कोई भी का प्रतिष्ठित व्यक्ति इनके साथ न था। इससे पुलिस खुश थी। पुलिस का अंग्रेज अफ़सर मि. हॉलिन्स, राव साहब को वहां देख कर चौंक गया और आश्चर्य से कहने लगा कि "मि. विनायकराव, आप यहां और इन लोगों के साथ?" वह शायद श्री राव साहब से इस साहस की अपेक्षा न रखता था।

किशनगंज आर्यसमाज के ध्वजारोहण और जुलूस के समारोह को पुलिस रोके हुए थी और तानाशाही का दौर था। पुलिस समझती थी कि वह जो चाहे कर सकती है। श्री राव साहब इस विषय में राज्य के पुलिस अफ़सर अहमद शाह खां से मिलने गए। उन्होंने यह समझकर कि श्री राव साहब चक्कर में पड़ जाएंगे, कहा कि 'हम इजाज़त देंगे इस शर्त पर कि आप स्वयं झंडा लेकर जुलूस के सामने निकलें'। शायद वह यह समझे हुए थे कि विनायकराव झेंप जाएंगे। श्री विनायकराव ने तुर्की ब तुर्की जवाब दिया कि, "ज़रूर! पर आप अपना सोचिए साधारण स्थिति में जिस जुलूस में ४-५ सौ आदमी होते मेरे आगे बढ़ने पर वह १०-२० हजार का जुलूस बन जाएगा। अतः परिणामों की तब जिम्मेदारी मुझ पर नहीं, आप पर होगी"। पुलिस जानती थी कि राव साहब जो कहेंगे सो करेंगे। और उनके इस नेतृत्व का रूप बड़ा विशाल स्वरूप धारण कर लेगा, जिसे काबू करना टेढ़ी खीर बन जाएगी। तत्काल आज्ञा मिल गई। आर्यसमाज का जुलूस पूर्ण समारोह और शान्ति के साथ निकला। श्री राव साहब आर्य समाज के नेता थे। तत्कालीन संप्रदायवादियों की आंखों में खटकते थे। एक दिन एक मुसल्मान जो कुछ दीवाना जैसा लगता था श्री राव साहब की बैठक में घुस आया। दो चार व्यक्ति जो वहां थे उन्होंने उसे पकड़ लिया। तलाशी में उसके पास से एक चाकू मिला।

सर्वश्री राव साहब, नरेंद्र तथा गंगाराम आदि टेकमाल के आर्यसमाज के उत्सव में गए हुए थे। वहाँ की मुस्लिम जनता बिगड़ी हुई थी। वह आर्यसमाज का उत्सव नहीं होने देना चाहती थी। काफ़ी तनाव था। टेकमाल के दरगाह के मुतवल्ली राव साहब को जानते थे। वे उन्हें दरगाह ले गए। दरगाह के समीप सशस्त्र मुसल्मानों की काफ़ी भीड़ जमा थी। वे सब के सब श्री बसवामाणय्या उस जिले के आर्यसमाजी कार्यकर्ता—पर खार खाए हुए थे। श्री बसवामाणय्या भी श्री राव साहब के साथ दरगाह में गए हुए थे। कुशल यह हुई कि उन उत्तेजित लोगों में से कोई भी श्री बसवा-माणय्या को जानता न था। अन्यथा वहाँ सभी के लिए मुसीबत थी, साथ ही दरगाह के मुतवल्ली के प्रभाव ने भी उत्तेजित भीड़ को बेकाबू नहीं होने दिया। उत्सव समाप्त हुआ। सभी टैक्सी में हैदराबाद वापस लौटे। पर रास्ते में पठानों की एक सशस्त्र टोली मिली। टैक्सी का ड्राईवर मुसल्मान था। मानो सारी बातें पहले से आयोजित थीं।

पठानों ने गोलियां दागना आरंभ कर दिया। एक गोली श्री नरेंद्र की टोपी को छूते हुए निकल गई। श्री गंगाराम की पीठ में एक छर्रा लगा। षड्यंत्र सा मालूम हो रहा था। पर मुसल्मान ड्राइवर जो ईमानदार था गाड़ी को तेजी से आगे बढाता हुआ भगा ले गया। थोड़ी ही देर में गाड़ी बातें करने लगी और सभी खतरे से बाहर हो गए।

भारत की आर्य जनता ने आर्यसमाज के लिए आपकी की हुई सेवाओं का गौरव अखिल भारतीय आर्य महासम्मेलन, मेरठ का १९५१ में आपको अध्यक्ष चुन कर किया।

पुलिस कार्यवाही समाप्त हो चुकी थी। पर राज्य के तेलंगाना के क्षेत्र में कम्युनिस्टों द्वारा तोडफोड का कार्य जारी था। सरकार ने उनके विरुद्ध मुहीम शुरू कर दी थी। लूटपाट, आगज़नी कतल व ग़ारत की घटनाओं ने सबको आतंकित कर रखा था। हैदराबाद में वंदेमातरम् बंधुओं ने कम्युनिस्ट विरोधी मोर्चा शुरू कर दिया था। स्थान स्थान पर वे सभाएँ करते और प्रचार करते थे। उन्होंने श्री राव साहब से इस कार्य में सहायता चाही। संकटों और खतरों से सदा जूझते रहना आपका स्वभाव हो गया है। राव साहब ने इस आन्दोलन में सक्रिय सहायता देना मान लिया। एकबार इसी कार्य से वे तेलंगाने के दौरे पर थे। शाम हो चुकी थी। अंधेरा हो चला था। मोटर अचानक खराब हो गई। उस समय आप ज़िला महबूबनगर के देहातों में घूम रहे थे। वह प्रदेश कम्युनिस्टों से प्रभावित था। मोटर जल्द ठीक न होती देखकर श्री राव साहब गाड़ी से उतर गए। सभी साथी परेशान थे। जंगल का स्थान, रात्रि की बेला, चारों ओर अंधेरा। श्री रावसाहब सड़क के एक ओर खड़े थे। इतने में उन्हें पैर में कुछ काटने का आभास हुआ। संयोग से वहां एक लॉरी आ गई। राव साहब उसमें बैठकर और तुरन्त पास के गांव को चलने का आदेश दिया। वहां केवल जानवरों का आस्पताल था। वहीं से पुटासियम परमैंगनेट लेकर गिलास भर पानी पी गए। कम्पाउण्डर यह देख कर पूछ बैठा, "क्या आपको सांप ने डस लिया है?" तब कहीं साथियों को पता चला। पांव पर दो दांतों के घाव स्पष्ट थे। वहां से लौट कर हैदराबाद पहुंचे। दूसरे दिन सुबह शहर में खबर फैल गई, मुलाक़ातियों का तांता लगा था।

ईश्वर पर आपका दृढ़ और अप्रतिम विश्वास है। आप सदा कहा करते हैं कि वह जो कुछ करता है, सो ठीक ही करता है।

आपकी लोकप्रियता तथा निर्भीकता के कारण निजाम सरकार सदा ऐसे अवसर टालती रही कि जिसमें श्री राव साहब को गिरफ़्तार करना पड़े। बेशक उन्हें जेल जाने का एक अवसर हैदराबाद आर्य सत्याग्रह के समय आया था। वे आठवें सर्वाधिकारी बने थे। अहमदनगर में २५०० स्वयंसेवकों के साथ कूच की तैयारी में खड़े थे। मानो हिमालय हिल गया। निजाम ने आर्य समाजियों की मांगें स्वीकृत कर लीं। सत्याग्रह जब आरंभ हुआ था तो लोग कहते थे कि यह हिमालय से टक्कर लेनी है। इसमें होना-जाना कुछ नहीं। आर्यसमाज को मुंह की खानी पड़ेगी। पर आँखिर हिमालय हिल गया और सत्याग्रह सफल हुआ।

१९४२ में, उदगीर में हैदराबाद राज्य आर्य सम्मेलन का अधिवेशन हुआ। श्री राव साहब उसके अध्यक्ष थे। इस अवसर पर अपूर्व उत्साह के दर्शन हुए। अध्यक्ष का जुलूस हाथी पर निकाला गया। उर्दू अखबारों ने जुलूस में राजचिन्हों के उपयोग और 'शाही मरातब' के शीर्षकों से शौर मचाया। निजाम चौंक गए। उन्होंने विशेष फ़रमान निकाल कर दम लिया कि भविष्य में किसी सार्वजनिक कार्यों के लिए शाही सवारियों का प्रयोग न किया जाए।

राज्य की धारा सभा में राज्य के वकीलों में से निर्वाचित दो प्रतिनिधि लिए जाते थे। श्री राव साहब ने १९३५ में चुनाव में भाग लिया। जितने वोट इस चुनाव में आपको प्राप्त हुए उतने वोट किसी को नहीं मिले। क्या पहले और क्या बाद। सरकारी साम दाम किसी को ठीक करने के

अनुकूल करने के त्रिविध उपाय हैं। इन सभी का हैदराबाद की तत्कालिक सरकार ने उपयोग किया, पर, व्यर्थ। दंगे करवाए। हमले हुए। पुलिस से बेदम पिटवा दिया। जब इससे कुछ न बनता देखा तो अन्य दो अस्त्र 'साम' और 'दाम' को भी आज़मा लिया। सैशन-जजी, मशावरती (अॅड्वाइज़री) कमेटी की सदस्यता तथा मंत्री पद तक के प्रलोभन दिए गए। सरकार को हर समय खरी खरी सुनाकर आपने स्वयं प्रलोभनों को ठोकर लगाई। आपको आर्थिक हानि पहुंचाने के भी कोशिशें की गईं। आपके 'दक्कन-लॉ रिपोर्ट' को क्षति पहुंचानें के लिए सरकार ने स्वयं एक विधि पत्रिका चलाई। पर राव साहब सदा अटल और अचल रहे।

१९४७-१९४८ में जब रज़ाकारों का ज़ोर बढ़ा तो राज्य के वकीलों ने मिलकर कांग्रेस की असहयोग नीति का स्वागत करते हुए अदालत का बहिष्कार करने का निश्चय किया। उस समय हैदराबाद के कुछ नेता जेलों में थे और शेष सभी राज्य से बाहर थे। किन्तु श्री विनायकराव मित्रों और सम्बन्धियों के आग्रह पर भी हैदराबाद नगर में ही जमे रहे। रज़ाकारी आतंक बाहर कुछ ऐसा था कि जेल में रहना लोग अधिक सुरक्षित समझते थे। ऐसे कठिन समय में भी उन्होंने वकीलों के न्यायालय बहिष्कार आंदोलन का नेतृत्व अपने हाथ में लिया ओर प्लीडर्स प्रोटेस्ट कमेटी की अध्यक्षता की। हैदराबाद राज्य भर के लोकतन्त्रवादी वकीलों ने आपके नेतृत्व में निजाम की अदालतों का बहिष्कार पूर्णत: किया।

रज़ाकारी आंदोलन अपनी चरम सीमा पर था। उनका और उनके तत्त्वोंका विरोध मौत से खेलना था। श्री शहीद शुईबुल्ला जैसे एक मुसलमान को भी उन्होंने केवल इस लिए कि वह लोकतंत्र के समर्थक थे मौत के घाट उतार दिया था। राजधानी के राजमार्ग में उनके टुकड़े टुकड़े कर दिए गए। राज्य के अंदर प्रजा को इस प्रकार आतंकित और चुप करके सरकार अपनी शांति का ढिंढोरा पीट रही थी तथा भारत सरकार पर दोष मढ़ रही थी। श्री के. एम. मुन्शी भारत सरकार के एजंट बनकर हैदराबाद में तैनात थे। श्री विनायकराव ने अपनी जान पर खेल जानेवाले मित्रों की और वकील कमेटी की सहायता से श्री मुन्शी के द्वारा भारत सरकार को इतनी पर्याप्त सामग्री दी कि जिसका खंडन करना श्री लायक अली, तत्कालीन हैदराबाद के प्रधान मंत्री, को असंभव हो गया। इस जानकारी में विविध स्थानों के अत्याचारों संबंधी चित्र हैदराबाद को सिडनी काटन का हवाई जहाजों द्वारा शस्त्रास्त्र पहुंचाना तथा तत्संबंधी मवाद और अन्य घटनाओं के प्रमाण एकत्रित कर लिए गए थे। भारत सरकार की हैदराबाद से हो रही बातचीत टूट चुकी थी। संसार की सहानुभूति पाने के लिए दुनियां की आंखों में धूल झोंकने के लिए अपने को निष्पाप, निर्दोष शांतिप्रिय, तथा न्यायसिद्ध करने के लिए श्री लायक-अली ने हैदराबाद से एक झूठा बयान दिया। यह सिद्ध करने के लिए चुनौती दी गई कि, हैदराबाद राज्य में संपूर्ण शांति नहो है। मामले को अब यू. एन. ओ. में ले जाना था। लायक अली के इस आव्हान का प्रतिवाद करना खेल न था। श्री विनायकराव ने अपूर्व साहस का परिचय दिया। श्री लायक अली के आव्हान को श्री विनायकराव ने अपने बयान से कड़ा और करारा उत्तर दिया और यह चुनौती दी कि वे यहां की अशांति को सप्रमाण सिद्ध करने के लिए उद्यत है। सरकार चौंक गई श्री विनायकराव के हाथों से सारे मवाद और प्रमाणों पर वह काबू करना चाहती थी। शाम को किसी कार्य से बाहर निकल कर आप सड़क पर पैदल जा रहे थे कि पुलिस कान्स्टेबल ने सूचना दी कि होली

के बारे में बातचीत करने के लिए नायब कोतवाल बुला रहे हैं। थाने पर जाते ही आप को गिरफ़्तार कर लिया गया। मवाद पाने के लिए घर का कोना कोना छान मारा पर सब बेकार था। कारण भविष्य की पूरी पूरी और खरी कल्पना करके सारे का सारा मवाद तिरमलगिरि के किले में सुरक्षित कर दिया गया जहां भारत सरकार का अधिकार था। श्री राव साहब की गिरफ्तारी ११ सितंबर को हुई। जेल पहुंचने पर स्वामी रामानंद तीर्थ ने आपका स्वागत किया। उसके उत्तर में आपने हंसते हुए कहा "स्वामी जी मैं जेल में रहने नहीं, जैल से सबको मुक्त कराने आया हूं"– ठीक १३ सितंबर को पोलिस कार्यवाही हुई। १६ सितंबर को हैदराबाद की सेना ने हथियार डाल दिए। और उसी दिन जेल से श्री राव साहब भी मुक्त कर दिए गए।

आर्य प्रतिनिधि सभा हैदराबाद राज्य की ओर से स्व. श्री केशवराव की स्मृति में स्थापित केशव स्मारक विद्यालय से आपको ग़ैरमामूली लगाव है। जिस प्रकार किसी पौधे को बोकर बालक उसके विकास को देखने के लिए हर सुबह बिस्तर से उठते ही उसकी क्यारी के पास जा ठहरता है, उसकी निकलनेवाली कोंपलों, कलियों और फूल घंटों देख कर भी नहीं उकताता श्री राव साहब की भी उपरोक्त विद्यालय के बारे में मैंने ऐसी ही स्थिति पाई है। चाहे कितनी ही व्यस्तता हो वे जरूर स्कूल पहुंच जाते हैं। आप के प्रयत्नों से यह विद्यालय केवल १०-१५ वर्ष के आयु में ही शहर के भव्य और बड़े विद्यालयों में गिना जाने लगा है। नगर के प्रथम श्रेणी के विद्यालयों में इसका विशेष स्थान है।

१९४७ ई. में सर मिर्जा इस्माइल हैदराबाद राज्य के प्रधान मंत्री बन कर आए। उन्होंने श्री राव साहब को एक हिंदी पत्र "आर्य भानु" के चलाने की आज्ञा प्रदान की। यह हैदराबाद का सर्व-प्रथम हिंदी पत्र था। पहले आज्ञा मिलती ही न थी। इसके चलाने में श्री राव साहब ने 'क्या किया' से बढ़ कर 'क्या कुछ नहीं किया' कहना पड़ेगा। संपादकीय लिखते। टिप्पणी भी लिखते। कंपोज़ीटरों की हड़ताल में अपनें हाथ से लिख कर इसे लिथो पर छपवाकर प्रकाशित करते। सम्मेलनों और उत्सवों के अवसर पर पुकार पुकार कर इसकी प्रतियां स्वयं बेचते।

इसके अतिरिक्त आप एक सफ़ल कहानी लेखक हैं। और 'चाबुक' नाम से एक हिन्दी कथा-संग्रह हैदराबाद हिंदी प्रचार सभा की ओर से प्रकाशित हो चुका है। हिन्दी प्रचार सभा की साहित्य गोष्ठी में आपकी कहानियाँ (जो हास्य और कटाक्षों से भरपूर होती हैं) जान डाल देती हैं। आपकी मातृ-भाषा मराठी है फिर भी आप हिंदी के प्रबल समर्थक हैं। ओर इन दिनों हैदराबाद राज्य हिंदी प्रचार सभा के अध्यक्ष हैं जो दक्षिण में हिन्दी के लिए सराहनीय कार्य कर रही है।

श्री राव साहब का स्वभाव अत्यंत शांत और गंभीर है। और साथ ही है विनोदप्रिय भी। आपमें सहृदयता, सहानूभूति तथा सौजन्य कूट कूट कर भरा हुआ है। आपका हंसमुख चेहरा देखकर और आपकी प्रेमपूर्ण वाणी सुनकर अत्यंत क्रोध से भरा हुआ व्यक्ति भी शांत हो जाता है। बुरे से बुरे व्यक्ति को खरी खरी सुनाएँगे पर इस ढंग से कि सुननेवाले को कुछ कहते न बनता।

आपमें उदारता, निःस्वार्थ सेवाभाव तथा सच्चरित्रता पैत्रिक संपत्ति के रूप में स्वभावतः आई है। "नेकी कर और कुएं में डाल" यह कहावत आप पर पूर्णतया चरितार्थ होती है। आपके निकटतम मित्रों

ने भी आपके मुख पर कभी क्रोध-भाव नहीं देखे। यह गुण आपके संपूर्ण कुटुंब में दिखाई देता है। निर-भिमानी, विनीत तथा सीधेपन के आपके स्वभाव का पता आपके निकट जो जितना आएगा उतना ही अधिक उसे मिलेगा। बनावट, ढोंग आदि जैसे गुण आपके पास फटकने भी नहीं पाते। समस्याओं को कुशलता से सुलझाने में आप बड़े सिद्धहस्त हैं।

हैदराबाद के भारत-विलय के पश्चात् जो चार लोकप्रिय मंत्री नियुक्त किए गए उनमें से आप भी एक थे। आपने कृषि और आदाय विभाग के मंत्री के नाते सफलता और निर्भीकता से कार्य किया। लोक-निर्वाचित मंत्रिमंडल में आप वाणिज्य और अर्थ-मंत्री के नाते भी बड़े सफल और लोकप्रिय रहे हैं। आपके प्रथम बजट-भाषण की राज्य के प्रमुख पत्रों ने दिल खोलकर सराहना की है।

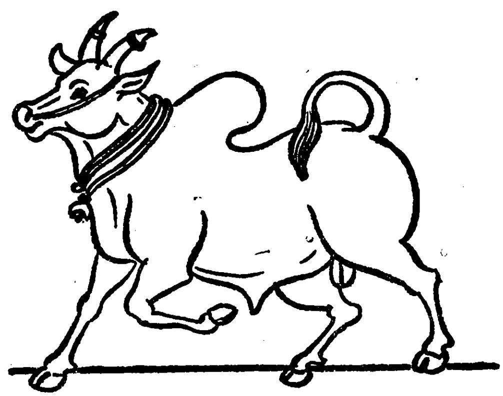

खण्डेराव कुलकर्णी (बी.ए., डिप.एड़)
हैदराबाद-दक्षिण

ज्ञान

श्री विनायकराव : कुछ मधुर संस्मरण

१९१८ का ईस्वी सन् था। में श्रीयुत स्वामी श्रद्धानन्द के गुरुकुल कांगड़ी उपवन में—गंगा के उस पार चंडी की उपत्यका में दसवीं श्रेणी में पढ़ता था—अधिकारी परीक्षा देनी थी; गणित में रुचि न थी—इस लिए बार-बार हृदय में गणित में उत्तीर्ण होने में संदेह होता था। गणित पढ़ाने वाले अध्यापक प्राय: स्वभाव के कठोर और रूखे होते हैं—इस लिए उनसे विद्यालय के अतिरिक्त समय में पढ़ने का साहस न होता था। पता नहीं किस कर्म धर्म संयोग से संभवत: श्रीयुत बलभद्र की प्रेरणा या मराठी भाषा पढ़ने की रुचि के सिलसिले में मुझे उन दिनों गुरुकुल महाविद्यालय की १२वीं श्रेणी के मिलनसार स्वभाव के श्री विनायकराव से एल्जेबरा पढ़ने की, और परीक्षा की तैयारी करने का अवसर मिला। उस प्रसंग में गणित तो पढ़ी ही परन्तु मराठी भाषा की रीडरें पढ़ते पढ़ते गुरुकुल पुस्तकालय में रखी मराठी पुस्तकों में (Art of Public Speaking) आदि के मराठी अनुवाद भी पढ़ने का उनसे अवसर प्राप्त हुआ। पढ़ते पढ़ते बड़े भाई जी कभी गुरु रूप में और कभी साथी रूप में परिवर्तित होते थे। मैं गणित में पास हो गया और मराठी साहित्य के अध्ययन से उनके प्रति शिष्य भाव में परिणत हो गया।

परन्तु उनका क्या कहना। उन्होंने कभी अपने को गुरु या अध्यापक नहीं समझा। मुझे छोटा कुल भाई समझ कर अनेक बातों—भाषण लेखादि—में प्रविष्ट कराया। वे मधुर स्मृतियाँ आज बार बार हृदय में उठती हैं। मेरी इन पंक्तियों को पढ़ कर शायद ६१ साल की आयु में उनके हृदय में भी वे स्मृतियाँ प्रतिध्वनित हो उठें।

१९१९ का साल है। श्री रामदेव आचार्य थे। उन्हें हर समय गुरुकुल के ब्रह्मचारियों को भाषण कला और लेखन कला में सिद्धहस्त कराने की चिन्ता रहती थी। इस प्रसंग में उन्होंने प्रथम बार गुरुकुल कांगड़ी में महाविद्यालय के ब्रह्मचारियों को मॉक पार्लियामेण्ट करने का आदेश दिया। दो महीने पहले श्री विनायकराव को जो उन दिनों १४वीं श्रेणी में पढ़ते थे—प्रधान मंत्री नियत किया था। सभी गुरुजनों को आशा थी कि निश्चय ही भावी जीवन में वे इस पद को सफलता से निभाएँगे। उसी समय आज के उनके जीवन का संकेत मिल रहा था। आपने बड़ी दक्षता से अपना मंत्रिमण्डल बनाया और अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा का बिल पेश किया। विरोधी दल के नेता श्री जयचंद्र वर्तमान युग के प्रसिद्ध इतिहासकार को नियत किया गया। मैं अर्थशास्त्र का विद्यार्थी था। श्री जयचन्द्र भी इतिहास और अर्थशास्त्र के त्रयोदश श्रेणी के विद्यार्थी थे। मैं उनके सहायक के रूप में विरोधी दल में सम्मिलित हुआ। मराठी के गुरु, गणित के अध्यापक का शिष्य तथा स्वभावमधुर श्री विनायकराव का विशेष कृपापात्र होने पर भी इस प्रसंग में विरोधी दल में आया। खूब प्रश्नोत्तर हुए, नोंक झोंक हुई, भाषण प्रतिभाषण हुए, वैधानिक विप्रतिपत्तियां उठाई गईं। आचार्य रामदेव अपने आपको ब्रिटिश पार्लमेण्ट के स्पीकर से कम हैसियत का न समझ व्यवस्थाएँ देते थे और नागरी प्रचारिणी सभा के संस्थापक स्व. रामनारायण मिश्र के साथ सलाह और मनोविनोद करते थे। और हम विद्यार्थी लोग भी अपने सीमित क्षेत्र, गुरुकुल की उस निराली दुनिया में गुरुकुल पार्लियामेण्ट की नाटकीय हार-जीत को असली हार-जीत समझकर जी-जान से जीतने और हराने की कोशिश करते थे। सभा का वातावरण गरम था। स्पीकर तथा हिज़ मैजेस्टी के जुलूस में आज हैदराबाद के मन्त्री गुरुकुल पार्लियामेण्ट के प्रथम प्रधान मन्त्री आगे आगे थे। बिल पेश किया गया। भाषण हुए। उनका स्वभावसिद्ध वाक्‌चातुर्य, प्रभावजनक भावभंगी, भाषण करते हुए हस्तोत्तोलन और हस्तविस्तार ने जादू दिखाया। विरोधी दल की युक्तियां निस्सार साबित हुईं। प्रधान मन्त्री के वाक्‌चातुर्य ने विजय प्राप्त की। विरोधी दल के अनेक वक्ताओं ने भाषण करते हुए व्यंग में उन्हें गप्प कॉलेज का प्रिन्सिपल कहने में भी संकोच न किया। किसे मालूम था कि वही प्रधान मंत्री, वही गप्प कॉलेज का प्रिन्सिपल, स्वतंत्र भारत में हैदराबाद राज्य के मन्त्रिमण्डल में एक मिनिस्टर होंगे। और मुख्यमंत्री न होते हुए भी अपने स्वभावसौष्ठव के कारण, मंत्री पद को अधिकारप्राप्ति या धनोपार्जन का साधन न मानकर अपितु सेवा का साधन मानकर मंत्रिमण्डल में मुख्य स्थान प्राप्त कर, सब का प्रिय, अनुकरणीय अजातशत्रु मंत्री बनेंगे। और अपने साथियों को यह षष्टि स्मृति दिवस मनाने के लिए सहसा प्रेरित करेंगे।

१९१९ में गुरुकुल से स्नातक बनकर विनायकराव विलायत बैरिस्टर बनने चले गए। कुलमंत्री होने के नाते मैंने उन्हें जन्मोत्सव पर संदेश भेजने को लिखा। उन्होंने जो पत्र कुलमाता के चरणों में भेंट—श्रद्धांजलि अर्पित की, उसमें लिखा कि, " यहां लंदन के प्रलोभनपूर्ण वातावरण में जब कभी मेरा मन

डिगने या विचलित होने लगता है तो सहसा गुरुकुल माता का स्मरण, उसके नाम की शान को क़ायम रखने की भावना मुझे पथभ्रष्ट होने से रोक देती है "—क्या ही सुन्दर आध्यात्मिक संदेश है। आज भी कुलबन्धुओं के लिए यह मार्गदर्शक का कार्य कर सकता है।

आर्यसमाज का हैदराबाद में धार्मिक अधिकार रक्षायुद्ध चल रहा है। हैदराबाद के आर्य धर्म की अग्नि-परीक्षा में जल रहे हैं। भारत की आर्यसमाजें सत्याग्रही वीरों को भेज रही हैं। उनका संचालक कैसा हो। निज़ाम की मुसल्मान नौकरशाही उग्र रूप में दमन कर रही है। ऐसे समय में अपनी सांसारिक सम्पत्ति, सांसारिक प्रतिष्ठा को ख़तरे में डाल कर हैदराबाद हाई कोर्ट के भूतपूर्व जस्टिस केशवराव के ज्येष्ठ पुत्र धर्म की रक्षा के लिए नागरिक अधिकारों की रक्षा के लिए जूझ पड़ते हैं। किस तरह दिन रात पता नहीं वे किन विषम परिस्थितियों में रहते हैं। पारिवारिक सुख—सांसारिक ऐश्वर्य को ख़तरे में डाल हैदराबाद का नेता, राजघरानों से सम्मानित कुल का बड़ा बेटा सत्याग्रह आन्दोलन के संचालन में अपने आपको कभी स्वयंसेवक के रूप में—कभी नेता के रूप में, पेश करता है। आन्दोलन समाप्ति के दिनों में मैंने मनमाड़ स्टेशन पर उन्हें सिर पर फेंटा बांधे स्वयंसेवक की स्थिति में, घूमते देखा। उसके बाद हैदराबाद में गत आर्य सम्मेलन में पर्दे के पीछे, रंगमंच से दूर रह कर, सम्मेलन का चक्र चलाते देखा। सार्वदेशिक के प्रधान श्री धुरेन्द्र शास्त्री ने अन्तिम दिन हैदराबाद के नेता तथा कार्यकर्त्ताओं को भारत की आर्य जनता की ओर से धन्यवाद देने के लिए बुलाया। श्री विनायकराव को भी बुलाया; बार बार बुलाया; परन्तु वे तो 'महाभारत' के अर्जुन के सारथि कृष्ण की भाँति इस विजय के बाद अन्तर्धान होकर जनता की आंखों से दूर, कहीं पंडाल के कोने में बैठ बैठे मुसकुरा रहे थे, परमात्मा तथा जनता का धन्यवाद कर रहे थे और आज भी इस षष्टि उत्सव में इन अभिनन्दनों का उत्तर मुसकुरा कर दे रहे होंगे।

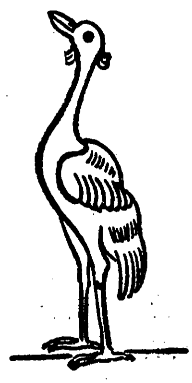

भीमसेन विद्यालंकार
अम्बाला (पंजाब)

श्रीयुत विनायकराव का विद्यार्थी जीवन : कुछ संस्मरण

आज से लगभग ४३ वर्ष पहले की बात है । उस समय श्रीयुत विनायक राव विनायक नाम से स्वामी श्रद्धानन्द द्वारा संस्थापित गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के महाविद्यालय विभाग में अध्ययन कर रहे थे। उस समय आपकी आयु १७ या १८ वर्ष की होगी। वस्तुत: गुरुकुल का वायु मण्डल निराला ही था । प्रशान्त गंभीर गगनचुम्बी पर्वत माला उत्तर और पूर्व दिशा में, कलकल नादिनी पुण्यतोया भागीरथी, पश्चिम दिशा में चारों तरफ चित्र-विचित्र वृक्षों और कांटेदार सघन झाड़ियों से भरा बीहड़ वन जिसमें दिन के समय भी हिंस्त्र पशुओं का संचार सर्व साधारण के दिल को दहला देने के लिए पर्याप्त था। इस एकान्त उपत्यका में स्थित इस विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में ब्रह्मचारियों के अध्ययन को विस्तृत करने के लिए संस्कृत, हिन्दी और अंग्रेज़ी की ८० हज़ार पुस्तकों का संग्रह किया गया था। भारत के कोने कोने से अपने अपने विषय के धुरंधर विद्वान् आग्रहपूर्वक आमंत्रित किए जाकर उपाध्यायों के पदों पर नियुक्त किए गए थे । श्री विनायकराव की मुकुलित गुणावलि को विकसित करने के लिए इससे अधिक किन साधनों की आवश्यकता हो सकती थी।

शिक्षा केन्द्रों में विद्यार्थियों को वैधानिक संस्थाओं में होने वाले वादविवादों में शाब्दिक अथवा आचार-परम्परा की सिखलाने के लिए मॉक पार्लियामेण्ट का अभिनय आज भी एक सर्वोत्तम साधन समझा जाता है। उन दिनों राजनीति सम्बन्धी या वैधानिक परिभाषाओं को सिवाय अंग्रेजी के किसी भी दूसरी भाषा में रूपांतरित करने का विचार भी उपहासास्पद समझा जाता था। परन्तु उन दिनों भी गुरुकुल के विद्यार्थी वार्षिक छुट्टियों के दीर्घावकाश में तत्कालीन ज्वलन्त राजनीतिक प्रश्नों पर, पक्ष प्रतिपक्ष बना कर राजसभा के अभिनय में बड़ी योग्यता के साथ अत्यन्त शुद्ध हिन्दी में अनुसंधान पूर्ण वक्तृताएं दिया करते थे। विशाल पुस्तकालय में संगृहीत पुस्तकें और गुरुजनों का हार्दिक सहयोग, ज्ञान वृद्धि में बड़े सहायक सिद्ध होते थे। श्रीयुत विनायकराव उस अभिनय में भाग लेने वाले वक्ताओं में अन्यतम सिद्ध हुआ करते थे। उस समय उनकी इस वाक्पटुता को देख कर कौन कह सकता था कि यह बालक, एक दिन जननायक बन कर प्रान्तीय राजसभा के प्रतिष्ठित और उत्तरदायित्वपूर्ण पद को गौरवान्वित करेगा। आज उस राजसभा के अभिनय की एक धुंधली स्मृति अवशिष्ट है। श्री विनायकराव की तर्कशैली प्रखर और वक्तृता प्रभावशालिनी होती थी। इनके अकाट्य तर्क का उत्तर बन न पड़ने पर प्रतिवादी प्राय: यह कहते सुने जाते थे "अरे भाई हाई कोर्ट के जज का पुत्र है !"

विद्यार्थी जीवन की एक साधारण-सी झांकी है कि परीक्षाकाल निकट आजाने पर विद्यार्थी अध्यापन में ऐसे तन्मय होजाते हैं कि उनको किसी प्रकार अपनी सुधि नहीं रह जाती। शारीरिक स्वास्थ्य की सर्वथा अवहेलना करते हुए दिन को दिन और रात को रात समझना भी छोड़ देते हैं। इसके विपरीत कुछ विद्यार्थी ऐसे खिलाड़ी स्वभाव के होते हैं कि उनकी जीवनचर्या को देख कर यह अनुमान लगाना कठिन हो जाता है कि इनका परीक्षाकाल निकट है। श्री विनायकराव इन दिनों भी सीमा रेखाओं के कहीं बीच में रहने वाले थे अर्थात् मध्यमार्गावलम्बी थे। यह मध्यमार्गावलम्बन एक चारित्रिक गुण है जिसको धारण करने वाला संसार की अनेक कठिनाइयों को सहज ही पार कर लेता है। विद्यार्थी जीवन के किसी एक पहलू को आपने एकान्त रूपसे नहीं अपनाया अपितु सब की तरफ़ यथायोग्य ध्यान दिया जिसका परिणाम यह हुआ कि अध्ययन में आप कक्षा के उत्तम विद्यार्थियों में माने जाते थे। खेल कूद में आपको सम्मानित स्थान प्राप्त था। शारीरिक दृष्टि से यद्यपि आप पहलवान कहलाने के योग्य कभी नहीं रहे, तो भी साथियों में कमज़ोर भी कभी नहीं समझे गए। गुरुकुल–जीवन की इतर विशेषताओं गंगा में तैरना–जंगलों और पहाडों में भ्रमण करना–इनमें भी आप पीछे रहने वाले नहीं थे। सारांश यह कि आपका विद्यार्थी जीवन सर्वांगीण विकास का जीवन था। गुरुकुल विश्वविद्यालय के वातावरण की यही विशेषता थी जिसका कि आपने पूरा लाभ उठाया। इस मध्यमार्गावलम्बन गुण को आज भी आप उनके जीवन की प्रमुख विशेषताओं में परिलक्षित कर सकते हैं।

मनोविनोद या हंसी खुशी तो आपके जीवन का एक प्रमुख अंग रही है। महाविद्यालय के जीवन में आपके साथियों का ऐसा विश्वास था कि यदि किसी की चित्तवृत्ति पर उदासीनता की छाप पड़ जाए तो उसको विनायकराव के पास चले जाना चाहिए। मनोविनोद की कला के आप धुरंधर माने जाते थे। यहां तक कि आपके सहपाठियों ने गुरुकुल महाविद्यालय के अंतर्गत कई पीठों में मनोविनोद की एक पीठ की भी कल्पना कर ली थी; और आपको सर्वसम्मति से उसका आचार्य स्वीकार कर लिया गया था। स्नातक परीक्षा के बाद गुरुकुल से विदाई लेते समय आप अपने स्थान पर (जहां तक मेरी स्मृति मेरा साथ

गुरुकुल कांगड़ी में हैदराबाद के
तीन ब्रह्मचारी १९०४ ई.

★

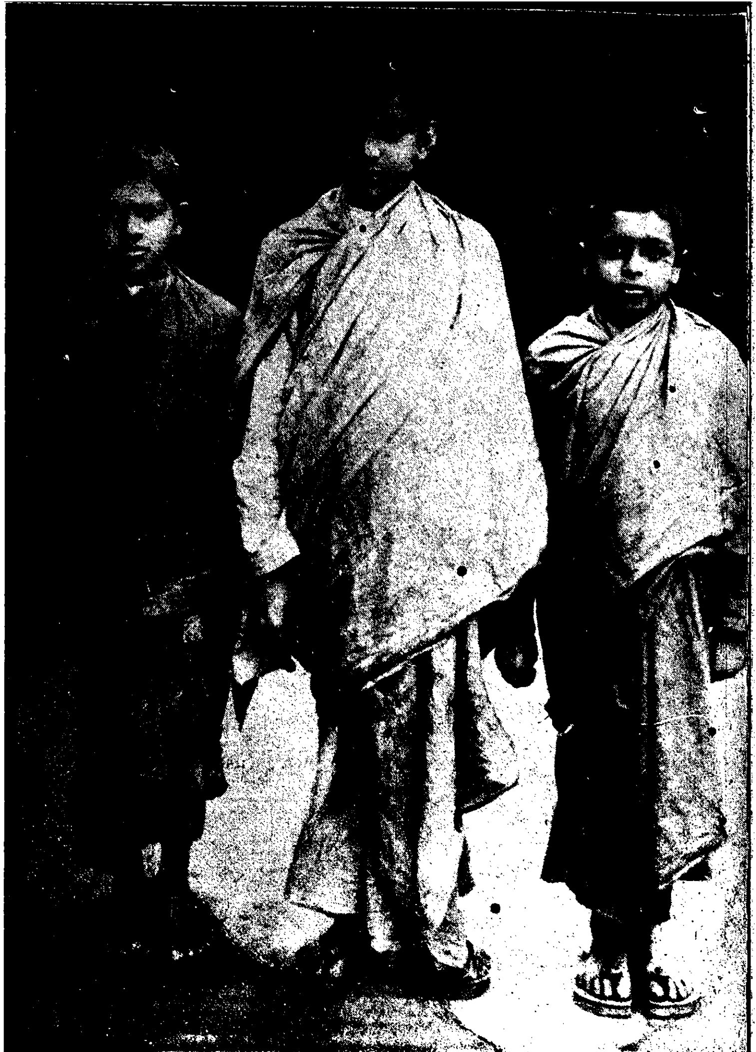

बाएं से :

विनायक राव : पुत्र श्री केशवराव कोरटकर
धर्मपाल : पुत्र श्री ठाकुर गोविन्द सिंह
शान्ति बहादुर : पुत्र श्री कुंवर बहादुर

देती है) अपने उत्तराधिकारी की नियुक्ति भी कर आए थे। यह कह देना यहां पर अप्रासंगिक न होगा कि गुरुकुलीय मनोविनोद भाषा और भाव की दृष्टि से गुरुकुलीपन से ओतप्रोत होते थे। छुट्टी और खेल कूद के अवसरों पर ऐसे हास-परिहास विद्यार्थी जीवन के स्वाभाविक अंग बन जाते हैं। यह मनोविनोद-प्रियता राव साहब के जीवन के गंभीरतम पहलू को भी अछूता नहीं छोड़ती। उनके जीवन की सफलताओं के कारणों में इस विनोदप्रियता को भी अवश्य स्थान देना होगा। राव साहब के आधुनिक राजनैतिक जीवन के निकट सम्पर्क में रहने वाला व्यक्ति मेरे इस कथन की सत्यता को अधिक गहराई से अनुभव करते होंगे। विद्यार्थी जीवन के संस्मरणों की यदि एक झांकी प्रस्तुत कर दी जाय तो अप्रासंगिक न होगा। शीत ऋतु का अन्त काल था। पतझड़ हो रही थी। गंगा की धारा लगभग सूख चुकी थी। सायंकाल का समय था। संध्या हवन आदि नित्य कर्मों से निवृत्त होकर भोजन भंडार की घंटी की मधुर-ध्वनि सुन कर महाविद्यालय के ब्रह्मचारी जो कि इस समय गिनती में लगभग ५० थे, गंगा की सूखी धार के किनारे बने बांध के साथ साथ भंडार की तरफ़ चले जा रहे थे। गंगा की सूखी धार लगभग दो फर्लांग चौड़ी थी। श्री विनायकराव को कुछ सूझा। साथ चलते एक साथी को रोक कर गंगापार स्थित जंगल के वृक्षों में से एक वृक्ष की तरफ तर्जनी से संकेत करते हुए धीरे स्वर में कहने लगे वह देखो: "रीछ पेड़ पर चढ़ रहा है"। किसी के कान में कोई बात जितनी अधिक धीमे स्वर में कही जाती है उतनी ही अधिक आकर्षक होती है। साथ जाते हुए विद्यार्थी, आगे और पीछे दोनों तरफ़ से धीमे स्वर में कहे गए रहस्य को जानने के लिए उत्सुक विनायकराव के चारों तरफ आकर जमा होगए। सबको यही सन्देशा दिया गया। बात की बात में ब्रह्मचारियों की एक लम्बी कतार दौडती हुई गंगा की सूखी धार को पार कर उस पार स्थित जंगल के वृक्षों का अनुसंधान करने लगी। सायंकाल के झुटपुटे में आंखें कम और कल्पना अधिक काम करती है। जो काला धब्बा उस पार से रीछ समझ लिया गया था इस पार आजाने पर कहीं दिखलाई न दिया। इस किनारे लगभग ४० विद्यार्थी काल्पनिक रीछ को ढूंढ़ रहे थे और श्री विनायकराव उस पार खड़े मुसकरा रहे थे। निराश साथियों के लौटने तक आपने उस स्थान पर डटे रहना आवश्यक न समझा और भण्डार का रास्ता नापा। जब शेष विद्यार्थी भण्डार में आए तो आप अपने आसन पर बैठे सामने रखी भोजन सामग्री पर हाथ साफ़ कर रहे थे। साथियों में से कुछ एक ने उन के चेहरे पर खेलती हंसी को देख कर दांत भी किटकिटाये—परन्तु अधिकांश ने विनोद महाविद्यालय के मनोनीत आचार्य का सिक्का मानते हुए इस क्रियात्मक प्रहसन का अभिनन्दन ही किया।

नेतृत्व भी एक कला है। विद्यार्थी अवस्था में इस कला के अंकुर भी आपकी जीवन में परिलक्षित होने लग गए थे। महाविद्यालय के द्वितीय वर्ष में पदार्पण करते ही फुटबाल की टीम का नेतृत्व आपको सौंपा गया था जिसको कि आगामी दो तीन वर्षों तक आपने बड़ी योग्यता के साथ निबाहा। गुरुकुल के उस स्वर्णीय युग में गुरुकुल, प्रायः सभी प्रचलित मर्दाना खेलों में अजेय माना जाता रहा। इस अजेयता का कुछ श्रेय उस समय के विभिन्न दलों के नेताओं को भी दिया जाना चाहिए। निरन्तर अभ्यास और सहनशीलता ही किसी भी मैदान में विजय के लिए पर्याप्त नहीं माने जा सकते। इन गुणों के साथ नेता का चरित्रबल अत्यन्त आवश्यक गुण है जिसके अभाव में शेष सभी वैयक्तिक गुण सफलता प्राप्त नहीं कर सकते। श्री विनायकराव का विद्यार्थी जीवन यदि सर्वांगीण था तो खेल के मैदान में भी आप "हर फ़न मौला" माने जाते थे। क्रिकेट में बाउलिंग पर आपको विशेषाधिकार था। अपने चरित्र और स्वभाव

के अनुसार आपकी गेंद धीमी पर भूमि का स्पर्श करते ही मालूम नहीं दांए बांए चली जाए, आकाश में चढ़ जाए या ज़मीन में धंस जाए। इन आशंकाओं से युक्त विपक्ष का खिलाड़ी देर तक आपके गेंद प्रहार को सहन नहीं कर सकता था। हाकी में आप अपनी चिरसंगिनी गम्भीरता का परित्याग करके फ़ारवर्ड के स्थान को सुशोभित करते थे। गुरुकुल के इतिहास के कठोरतम साम्मुख्यों में आपने विपक्ष पर गोलों की झड़ी लगा दी। उस समय आपका हस्तलाघव देखते ही बनता था। यदि मेरी स्मृति इस समय मुझे धोखा नहीं देती तो कबड्डी, कुश्ती, जमनास्टिक आदि में आपको इतनी रुचि थी कि आप इन खेलों के खिलाड़ियों को प्रोत्साहन देने के लिए ही मानो मैदान में उपस्थित हो जाते थे।

सम्भवतः उन्हीं की प्रेरणा से 'लंकाविजय' नाम का एक अद्वितीय खेल प्रारम्भ हुआ था। यह खेल दशहरे के त्योहार पर खेला जाता था। गुरुकुल के सब समर्थ विद्यार्थियों के दो दल बना दिए जाते थे। दोनों दलों का अपना अपना एक एक झंडा होता था। छल, बल, नीति कुशलता, रणचातुरी, किसी भी प्रकार से अपने झण्डे की रक्षा करना और विपक्ष के झण्डे को छीन लेना ये था खेल का सार। इसके अतिरिक्त मिठाई का एक थैला जिसमें लगभग पाँच सेर मिठाई बन्द की जाती थी किसी ऊंचे पेड़ पर छिपा दिया जाता था; इस को ढूंढ़ कर निकालना भी दोनों दलों का काम था। प्रत्येक दल दूसरे दल के सैनिक को क़ैद कर सकता था, भगा सकता था, रोक सकता था; परन्तु मार पीट की सर्वथा मनाई थी। इस खेल के लिए ४ से ६ घंटे का समय निश्चय कर दिया जाता था। नियत समय के अन्त में कौन पक्ष विजयी हुआ इसका निर्णय निर्णायक के ऊपर छोड़ दिया जाता था। विजयी दल को राम दल और विजित को रावण-दल की उपाधि दी जाती थी। इस प्रकार यह खेल समाप्त हो जाता था और इसकी पुनरावृत्ति के लिए ठीक् ३६४ दिन की प्रतीक्षा करनी पड़ती थी। अपने गढ़ की झण्डे की रक्षा के साथ साथ विपक्ष के गढ़ पर चढ़ाई करना, अज्ञात स्थान पर रखी मिठाई के थैले को ऊंचे वृक्ष पर से उतार कर अपने गढ़ में सुरक्षित पहुंचा देना, निरंतर ५ या ६ घंटों तक इस खेल के संचालन में असाधारण कौशल की आवश्यकता थी। निरे शारीरिक बल के आधार पर ये तीनों बातें सम्भव न थीं। इस कौशल में श्री विनायक राव ने बड़ी ख्याति प्राप्त कर ली थी। दलों के दलपति दलविभाग करने के समय श्री विनायक राव को अपन दलमें शारीरिक बल की अपेक्षा बुद्धि कौशल के लिए सम्मिलित करने का आग्रह करते थे। 'लंकाविजय' के समय विनायकराव की बालबुद्धि पक्ष विपक्ष के बलाबल का निर्णय कर के 'लंकाविजय' का संचालन करती थी। पूर्णतया विकसित होने पर उसी बुद्धिकौशल ने सन् ३८ के सत्याग्रह-संग्राम में जो चमत्कार दिखलाया आर्य जगत् ने और विशेषतः हैदराबाद निवासियों ने उसको आश्चर्य और अभिमान के साथ देखा।

सहानुभूति की भावना आपके स्वभाव की एक बड़ी विशेषता थी। विद्यार्थी अवस्था में और विशेषरूप से गुरुकुलीय जीवन में इस सहानुभूति की भावना का क्षुद्रतम परिचय रुपए पैसे की सहायता करके दे देने का तो कोई अवसर ही न था क्योंकि गुरुकुल में ब्रह्मचारी अपने पास रुपए पैसे रख नहीं सकते थे। इस प्रकार के सस्ते प्रदर्शन के अभाव में गुरुकुल में सहानुभति का प्रदर्शन केवल क्रियात्मक ही सकता था। और क्रियात्मक प्रदर्शन चरित्र की गम्भीरता का निर्देशक होता है। यदि किसी रोगग्रस्त सहपाठी के प्रति सहानुभूति प्रदर्शन करने की इच्छा हो तो उसका केवल एक ही मार्ग था कि दिन के पठन पाठन के और नित्यकर्म के बाद रात के विश्राम और शयन के समय में से कुछ समय निकाल कर अपने रुग्ण साथी की परिचर्या करना। यदि अपने किसी साथी को पाठ उपस्थित न होने के

कारण परीक्षा में अनुत्तीर्ण होने से बचाने का विचार मन में उठ जाए तो उसका एक ही साधन था अपने अध्ययन काल में से समय निकाल कर उस साथी की सहायता करना। श्री विनायकराव के सहपाठियों को उनकी सहानुभूति की भावना पर ऐसी आस्था थी कि जब कभी किसी ने उनसे इसकी आशा की तो उसको निराश नहीं होना पड़ा। श्री विनायकराव के विद्यार्थी जीवन का यह स्वभाव सांसारिक जीवन में प्रविष्ट होने के बाद किस प्रकार फला और फूला यह बतलाना मेरा काम नहीं। हैदराबाद निवासी उनके दैनिक जीवन में इसकी झाँकी देख रहे हैं। मेरा कार्य तो इस समय उनके विद्यार्थी जीवन के संस्मरणों को ताज़ा करना है। तीन लम्बे युगों के व्यतीत हो जाने के बाद भी जो संस्कार अमिट रह गए है मैं तो केवल उनको ही आपके सामने प्रस्तुत करने का प्रयत्न कर रहा हूं। अतीत के धुंधले पट पर अपनी दृष्टि को केन्द्रित करके जब देखने का प्रयास करता हूं तो उनके विद्यार्थी जीवन के कई और पहलू दिखलाई पड़ने लगते हैं।

कुछ लोग ऐसे कट्टरपन्थी होते हैं कि स्वभाव से अथवा सफलनीति समझ कर ये लोग इस कट्टरता का भी किसी प्रकार परित्याग नहीं कर सकते। लोग चाहे इनको दक़ियानूसी कहते रहें उनपर इन बातों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। ठीक इनसे विपरीत कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जिनके सम्बन्ध में कहा जाता है कि 'गंगा गए गंगादास जमना गए जमनादास,' ये बेपेंदे के लोटे होते हैं जिनका कि कोई आधार नहीं होता। वस्तुतः ये दोनों सफलता से दूर रहते हैं। गुरुकुल विश्वविद्यालय की शिक्षा की यह विशेषता थी और श्री विनायकराव पर उसकी पूरी छाप पड़ी है। विचार स्वातंत्र्य के साथ कुछ आधारभूत आदर्श सामने रहना चाहिए जिनसे कि प्रेरणा प्राप्त कर व्यक्ति, विचित्र परिस्थितियों में से गुज़रता हुआ भी उनको अपने अनुकूल बना लेता है या स्वयं उनके अनुकूल बन जाता है फिर भी उसकी स्थिर दृष्टि अपने आदर्श पर जमी रहती है। उसकी दृष्टि अपने आदर्श से नहीं डिगती। श्री विनायकराव ने गुरुकुल के आदर्श को अपने जीवन में खूब निभाया। उन्होंने अपने आचार्य स्वामी श्रद्धानंद द्वारा अनुप्राणित परम्पराओं को अपने सांसारिक जीवन में चरितार्थ करके दिखला दिया। विचार स्वातंत्र्य और आदर्शवाद का सामंजस्य ही तो गुरुकुल जीवन की विशेषता है और आपका समस्त जीवन उसका एक क्रियात्मक उदाहरण है। उनके दैनिक जीवन से थोड़ा भी परिचय रखने वाला इस बात को जानता है कि श्री विनायकराव अपने को किस सरलता से परिस्थिति के अनुकूल बना लेते हैं। मन्त्रिपद पर अवस्थित गम्भीर विचारक विनायकराव का अपने साथियों के बीच बैठ कर मनोविनोद करते जिन्होंने देखा है और फिर देखा है कि वे बच्चों से घिर जाने पर किस प्रकार स्वयं बच्चे बन जाते हैं वे मेरे कथन की सत्यता में सन्देह नहीं कर सकते।

श्री विनायकराव के विद्यार्थी जीवन की एक और अनुकरणीय विशेषता को मैं बिना लिखे नहीं रह सकता। आपकी सादगी, सादगी होते हुए भी शानदार थी। वेशभूषा की सादगी असमर्थता के कारण भी हो सकती है। चाल ढाल बोलचाल की सादगी शारीरिक विकार या मूर्खता के कारण भी हो सकती है परन्तु आज भी उनके जीवनभर दृष्टि डालने के बाद हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि ये सादगी किसी बाह्य कारण से नहीं, उनके अन्तरात्मा की सादगी का बाह्य प्रकाश है।

देशबन्धु विद्यालंकार
हैदराबाद-दक्षिण

सत्य

कोरटकर : कुछ निजी संस्मरण

बात सन् १९२० ईसवी की है। उच्चशिक्षा के लिए पिता जी ने मुझे इंग्लैण्ड भेजने का निश्चय किया। उनके सामने एक प्रश्न यह था कि इंग्लैण्ड में मेरी सुख-सुविधा की क्या व्यवस्था होगी ? मेरे पिता को मुझ से बहुत प्रेम था। लगभग छः हजार मील दूर विदेश में उनका पुत्र किस प्रकार प्रवास करेगा ? उनकी यह चिन्ता स्वाभाविक ही थी। इसी बीच उन्हें यह पता चला कि स्व. केशवराव का लड़का इंग्लैण्ड में अध्ययन कर रहा है। श्रीयुत केशवराव उस समय प्रसिद्ध जननेता थे। इस प्रकार मैंने कुछ थोड़े से पत्र-व्यवहार के पश्चात् भारत छोड़ दिया। श्री विनायकराव को मैं कोरटकर के नाम से ही जानता रहा। मैं यह तो भारत लौटने पर ही जान सका कि उनका वास्तविक नाम विनायकराव है। मेरे पिता कोरटकर के साथ कुछ पत्र-व्यवहार करके आश्वस्त हो गए। उनको मुझे धर्म भाई कोरटकर ही कहना चाहिए क्योंकि उनके संरक्षण में मुझे बिना किसी भय के सौंपा जा सकता था। मेरे पिता को पूर्ण विश्वास हो गया था कि कोरटकर का चरित्र उदार और शुद्ध है। मुझे स्मरण है, मेरे पिता ने बम्बई में विदाई देते समय मुझ से कहा था कि तुम इंग्लैण्ड

में किसी अभाव और भय का अनुभव न करना और सचमुच मैंने अपने को कोरटकर के ऊपर निर्भर किया। मेरी आने की सूचना इंग्लैण्ड में कोरटकर के अतिरिक्त श्री एस. एन्. रेड्डी (आप अब हैदराबाद के पुलिस कमिश्नर पद से अवकाश ग्रहण कर चुके हैं) को भी दी गई थी। इस पृष्ठभूमि मे मैंने भारत का तट छोड़ा था। मैं युवक और अनुभवशून्य था, कोरटकर का पता लेना ही भूल गया। मैं अथाह सागर की गर्जन करती लहरों के बीच बुरी तरह चिन्ताग्रस्त था। मेरी चिन्ताओं से प्रो. नाग ने जो मेरे साथ ही समुद्र-यात्रा में थे, मुझे मुक्त किया। उनसे मैं जान सका कि मुझे आश्रय कहाँ लेना है। मैं अत्यन्त कौतूहल मिश्रित उत्कण्ठा के साथ टिलबरी बन्दर पर उतरा। मैंने उतरते ही चारों ओर देखा, वहाँ रेड्डी या कोरटकर में से कोई भी नहीं थे। हठात् ही मुझे बड़ा धक्का सा लगा। किसी प्रकार गिरता-पड़ता मैं २१, क्रामवेल रोड पर पहुंचा, वहां कृपा कर मिस बैंक ने मुझे सहारा दिया। मैंने उनसे पहला प्रश्न कोरटकर और रेड्डी के संबन्ध में ही किया। पर वे दोनों से अनभिज्ञ थीं। परिणामतः मैं बहुत उदास मन से कमरे में पड़ा रहा। दुःख के आवेग से मेरी आंखों में आँसू भी छलछला उठे। अगले दिन मैंने मानसिक रूप से व्यवस्थित होने की बहुत चेष्टा की और निरन्तर यही सोचता रहा कि किसी न किसी प्रकार से कोरटकर ही मुझे खोज निकाले। मैंने दूसरा और तीसरा दिन अनन्त कल्पनाओं में बिताया। चौथे दिन जब मैं अपने कमरे में था कि मिस बैंक ने मुझे बताया कि नीचे के खण्ड में कोई व्यक्ति आपकी प्रतीक्षा कर रहा है। मैं दुविधा में पड़ गया कि आखिर यह कौन हो सकता है। यह भी सोचा कि शायद कोरटकर ही हों। एक प्रश्न यह भी उठा कि मैं तो कोरटकर को बिलकुल पहचान भी न सकूंगा। अन्ततः मै नीचे आया और नवागन्तुक से मिला। नवागन्तुक अन्य कोई नहीं, कोरटकर ही थे। मैं प्रसन्नता के आवेग से विव्हल हो उठा। प्रथम मिलन के वे क्षण बड़े प्रभावकारी थे। उन क्षणों को मैं कभी भी भूल न सकूंगा। कोरटकर के संबंध में मैंने अपने पिता की धारणा को बिलकुल सही पाया कि यह नवयुवक अपने में उच्चता और भव्यता को समेटे हुए है। कोरटकर ने पहले मेरे स्थायी निवास का प्रबन्ध किया। उस के बाद मैं कालेज में प्रविष्ट हुआ। मेरा अन्तःकरण स्वतः ही ऐसे सात्विक चरित्र और व्यवहारपटु व्यक्तित्व का आदर करने लगा। इस प्रकार सन् १९२० ई. के लगभग लन्दन से हमारी मित्रता का आरम्भ होता है।

यद्यपि हम अलग अलग मकानों में रहते थे, किन्तु मुहल्ला एक ही था। मुझे अकेलेपन का आभास तक नहीं होता था। मुझे कोरटकर से बहुत सी कठिनाइयों में न केवल मार्गदर्शन मिलता था अपितु भ्रातृस्नेह की भावना को लेकर वह मेरी प्रत्येक प्रकार की सहायता के लिए सदा तत्पर रहते थे। मैं अन्य छात्रों के सम्पर्क में भी आता रहता, किन्तु कोरटकर के प्रति मुझ में जैसा ममत्व था, वैसा मैं उनमें से किसी के प्रति अनुभव न कर सका।

हिन्दू दर्शन और संस्कृति से प्रभावित शिक्षा-संस्था गुरुकुल कांगड़ी में कोरटकर ने प्रारम्भिक शिक्षा ग्रहण की, अतः भारत छोड़ने से पूर्व ही उनके व्यक्तित्व का निर्माण हो चुका था। यहां मैं उनके प्राच्य विद्या के ज्ञान और उनकी विद्वत्ता के विषय में कुछ भी नहीं कहना चाहता। मुख्य बात तो उनके विशिष्ट व्यक्तित्व से सम्बन्ध रखती है। उनके व्यक्तित्व के पहले प्रभाव से ही मुझे लगा कि वह 'सुदृढ़' हैं। शनैः शनैः मुझे ऐसे कितने अवसर अनायास ही मिले, जिनसे मुझे उनके चरित्र की आन्तरिक उच्चता और उनकी शिक्षा की गम्भीरता का बार–बार आभास मिला।

अपन लन्दन-प्रवास के कुछ समय पश्चात् हमने गर्मी की छुट्टियों में देश में भ्रमण करने का निश्चय किया। कोरटकर तो शुद्ध शाकाहारी थे। हमने एक शाकाहारी परिवार में ठहरने का निश्चय किया। वाट्सन परिवार (इन्हीं के घर में हमने ठहरने का निश्चय किया था)न केवल शुद्ध शाकाहारी था, बल्कि वह ईसाई धर्म के कट्टर, अनुयायी भी था। कोरटकर ने मुझ से पूछा कि क्या मैं शाकाहारी भोजन को ग्रहण कर सकूंगा, मुझे इसमें कोई आपत्ति ही नहीं थी। हम अपनी निर्दिष्ट यात्रा पर निकल पड़े।

वाट्सन परिवार सुरुचि पूर्ण और सम्पन्न परिवार था। वाट्सन का लन्दन में अच्छा कारोबार था, स्वास्थ्य संबन्धी कारणों से उन्हें अपना निवास स्थान हडेनहम नामक स्थान को बनाना पड़ा। यह स्थान उन के लिए अनुकूल था। लगभग एक सप्ताह में ही हम लोग वाट्सन परिवार के साथ घुल मिल गए। विशेष कर वाट्सन का तरुण पुत्र कैनेथ हम लोगों से बड़ा प्रेम करने लगा था। उसकी अवस्था ११ वर्ष की थी और वह निकट के ही ग्राम के एक विद्यालय में पढ़ने जाता था। हमारा वहां का सामान्य कार्यक्रम था, दिन में विविध पुस्तकों का अध्ययन और संध्या को टेनिस खेलना। टेनिस खेलने का यह मेरा प्रथम अवसर था। हमारे खेल में सरल स्वभाव की, सुन्दर लड़कियाँ भी भाग लेतीं थीं। यद्यपि कोरटकर विनोदप्रियता में उनसे भी न चूकते थे, किन्तु उन्होंने इस सम्बन्ध में एक मर्यादा का पालन किया और उनकी भावना उन युवतियों के प्रति आदर की ही रही। वह टेनिस के भी अच्छे खिलाड़ी थे। उन्होंने मुझे टेनिस का अच्छा खिलाड़ी बनाने के लिए बहुत परिश्रम किया था। मैंने इस खेल में धीरे-धीरे निपुणता प्राप्त की, मगर कोरटकर कभी भी मुझ से हताश या उदासीन नहीं हुए। जब कभी खेल के स्थान पर कुछ भीड़ एकत्र हो जाती थी, वह खेल के प्रति समान गम्भीरता नहीं रख पाते थे। वे कितने सुखदायक क्षण थे, जब कि हम कुछ मील घूम कर थके थकाए लौटते थे और एक एक गिलास लेमोनेड का पीते थे। परिवार के लोगों का अनुरोध था कि हम लोग लेमोनड न पीकर जिंजरालेट पिया करें। मैं ने तो इस पेय से स्पष्ट इनकार कर दिया था क्योंकि मुझे सन्देह था कि उसमें अलकोहल का भी कुछ मिश्रण होता है। किन्तु इस सम्बन्ध में कोरटकर अपेक्षाकृत उदार ही थे। उन्हे पता था कि इसम ऐसी किसी वस्तु का मिश्रण नहीं होता अतः वह बिना किसी हिचकिचाहट के पूरा गिलास जिंजरालेट पी जाते मगर इस बात में मैंने उनका अनुसरण करना बिलकुल ही स्वीकार नहीं किया। यों कहिये कि मैं उन दिनों एक अच्छा लड़का बनने की धुन में था। मुझमें यह प्रवृत्ति कोरटकर के सान्निध्य से ही उत्पन्न हो सकी थी।

वाट्सन परिवार के लोग ईसाई धर्म के नैष्ठिक अनुयायी थे। एक समय की बात है, मि. वाट्सन ने हम लोगों को कुछ आत्मा सम्बन्धी चित्र (Spirit Photographs) दिखलाए। मैं उनकी और आकर्षित हुआ और उनको पुनः उतारने का विचार मेरे मन में उठा ; इस सिलसिले में वाट्सन परिवार, कोरटकर और स्वयं मैं, चित्र लेने का प्रयास करने लगे। प्रत्येक संध्या को भोजन के पश्चात हमारा यह नियम सा हो गया कि हम आत्माओं को बुलाया करते। दिन में और दिन का अन्त हो जाने के पश्चात् भी हम गम्भीरता के साथ मेज़ के सहारे बैठ कर किसी विस्मयकारी क्षण के आने की प्रतीक्षा किया करते। कोरटकर इस प्रकार के अनुभव गुरुकुल कांगड़ी के अपने छात्रजीवन में प्राप्त कर चुके थे। एक बार इस विषय को लेकर वाट्सन और कोरटकर के बीच में बहस छिड़ गई—स्वयं मैं एक दर्शक के रूप में था—विवाद का मुख्य विषय था हिन्दूधर्म की आत्मा-सम्बन्धी मान्यता। कोरटकर

बैरिस्टर विनायक राव (लंदन में)

ने हिन्दू दर्शन का सारगर्भित और प्रभावोत्पादक विश्लेषण हमारे सामने रक्खा। जीवन, बुद्धि, आत्मा और मनुष्य की ऐसी गम्भीर व्याख्या सुन कर मैं तो चकित रह गया था।

इस वादविवाद का मुझ पर गहरा प्रभाव पड़ा और मुझ में दर्शन की ओर रुचि पैदा हो गई। लंदन लौटते समय मैंने इस गहन विषय की कुछ पुस्तकें भी खरीदीं थीं। वाट्सन ने मुझ से कहा था कि यह विवाद कोरटकर का केवल तर्क ही नहीं था, उन्हे धर्म के उच्च सिद्धान्तों का यथेष्ट ज्ञान भी था। वह आश्चर्य-चकित हो गया था, और उस पर इस बात का बड़ा गहरा प्रभाव था कि कोरटकर इतना मेधावी है। इस स्थान पर कोरटकर के सम्बन्ध में एक अत्यन्त उल्लेखनीय बात यह है कि मैंने उन्हे कभी भी मिथ्यावादी नहीं पाया। वह सदा शुद्ध और सौजन्यशील रहे हैं। अपने साथियों के बीच वह सत्यता और पारदर्शक विश्वस्तता के प्रतीक हैं। वह दूसरों के अवगुणों को छोड़ने और भुला देने के लिए सदा तत्पर रहते हैं। उनका जीवन और व्यक्तित्व दोनों प्रखर और प्रशस्त हैं।

डी. वी. राव, बी. एस-सी, एम. आइ. ई (लंदन)
चीफ़ इंजिनियर, पी. डब्ल्यू. डी.
हैदराबाद-दक्षिण

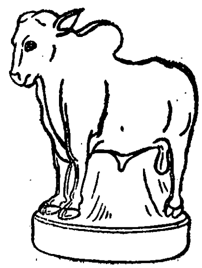

श्री विनायकराव विद्यालंकार : एक महाराष्ट्रीय दृष्टिकोण से

श्री विनायकराव और उनका सारा परिवार महाराष्ट्रीय है परन्तु देखने में वे महाराष्ट्रीय नहीं प्रतीत होते और यह कुछ स्वाभाविक भी है। तीन साल की आयु में वे अपने माता-पिता के साथ हैदराबाद आए और केवल आठ वर्ष की अल्पायु में वे विद्याध्ययन के लिए गुरुकुल कांगड़ी भेज दिए गए। उसके बाद उनका सामाजिक, व्यावसायिक, धार्मिक, राजनैतिक क्षेत्र इतना विशाल रहा कि उसमें वे महाराष्ट्रीय के रूप में शायद ही कभी कुछ सोच पाए हों। गुरुकुल कांगड़ी का समस्त वातावरण प्राचीन और अर्वाचीन संस्कृति का अद्‌भुत सामञ्जस्य है। वहां वे शुद्ध राष्ट्रीय संस्कारों में दीक्षित हुए। इंग्लैण्ड में उन्होंने आधुनिक काल की सभी नई प्रवृत्तियों से सीधा परिचय प्राप्त किया। सार्वजनिक क्षेत्र में प्रवेश करते समय वे सर्व साधन सम्पन्न थे। उनके पिता स्व. श्री केशवराव न केवल हाई कोर्ट के एक न्यायाधीश थे, समाज में भी उनकी बड़ी प्रतिष्ठा थी। हैदराबाद में वे अपने पिता के सम्पर्क में ग्यारह-बारह वर्ष तक ही रह पाए अपनी समाजसेवा के कारण श्रीयुत केशवराव बड़े लोकप्रिय थे। महाराष्ट्रीय समाज उनकी सेवाओं से विशेष रूप में लाभान्वित हुआ था किन्तु श्री विनायकराव का कार्य-क्षेत्र, बिना किसी प्रान्तीय भावना के, समस्त जन-समुदाय है। वे महाराष्ट्रीय समाज की सीमा में न बंध सके।

राष्ट्र के सूत्रधार आज वर्गविहीन समाज की रचना में संलग्न हैं। ऐसे अवसर पर महाराष्ट्रीय भावना या प्रदेश विशेष की भावना को लेकर कोई चर्चा करना नितान्त अनुपयुक्त है। जाति विशेष, भाषा विशेष, प्रदेश-विशेष आदि के भेदों को मिटाने में श्री विनायकराव के जीवन से हमें बड़ी प्रेरणा प्राप्त होती है।

आठवीं शताब्दी के श्री उद्योतन सूरि ने अपनी 'कुवलय माला' में 'महाराष्ट्रीय' शब्द पर कुछ चर्चा की है। प्रकृतिजन्य गुण-दोष की सामान्य प्रवृत्तियाँ किसी वर्ग या जाति विशेष में ही नहीं होतीं। सत्य की स्थापना और असत्य का विरोध मानवता की आधारशिला है। श्री विनायकराव के व्यक्तित्व में महाराष्ट्रीय और उत्तर भारतीय नागरिक की सामान्य प्रवृत्तियों का अद्भुत सम्मिश्रण है। साधारण महाराष्ट्रीय नागरिक अपने समाज तक ही सीमित होता है, किन्तु सुसंस्कृत और सुशिक्षित व्यक्ति का दृष्टिकोण विशाल एवं उदार होता है। श्री विनायकराव के प्रारम्भिक जीवन का निर्माण विशाल हिन्दी भाषी क्षेत्र में हुआ। वकालत प्रारम्भ करते समय देश में असहयोग आन्दोलन की लहर थी। हैदराबाद के महाराष्ट्रीय समाज में गणेशोत्सव को बड़े समारोह पूर्वक मनाया जाता था किन्तु श्री विनायकराव को इन उत्सवों में नहीं बुलाया जाता था। इसका कारण यह भी हो सकता है कि वे सिद्धान्ततः मूर्तिपूजा को स्वीकार नहीं करते थे। इसमें दोष महाराष्ट्रीय समाज का ही था। समाज के उत्कर्ष तथा उपकार के लिए वे सतत भाव से संलग्न रहे हैं। लोक प्रसिद्धि और प्रतिष्ठा की उन्होंने कभी किसी प्रकार की चिन्ता नहीं की। अपने पिता के देहावसान पर सारे सामाजिक कार्यों को उन्होंने अपने हाथों में ले लिया। आर्यसमाज के भी वे प्रधान नेता बनाए गए। राजनैतिक आन्दोलन में भी उनका बड़ा भाग रहा। शिक्षा, साहित्य और संस्कृति के कार्यों में भी उनकी अभिरुचि निरन्तर रही है और अपने दायित्वों को उन्होंने पूरी सफलता से निभाया है। कर्त्तव्य पालन में वे सदा अग्रसर रहे हैं, यह उनका एक महान् गुण है। वे हैदराबाद के सर्व-जनप्रिय एवं अजातशत्रु नेता हैं।

सन् १९३० में मराठी साहित्य की अभिवृद्धि के ध्येय को लेकर स्व. श्रीयुत केशवराव ने निजी धन से 'राजहंस' नामक एक मराठी पत्रिका प्रकाशित की थी। उस समय श्री विनायकराव 'डक्कन ला रिपोर्टर' के सम्पादक के रूप में कार्य करते थे। और मैं 'राजहंस' का सम्पादक था। श्री विनायकराव के सम्पर्क में आने की बात सोचकर मुझे अत्यधिक प्रसन्नता हुई। पत्रिका किस प्रकार की और उसमें कौन-सी सामग्री दी जानी चाहिए, इसके लिए परामर्श करने में उनके पास गया। उन्होंने बड़ी सरलता से कहा कि साहित्य-सम्बन्धी विषयों की वे अच्छी जानकारी नहीं रखते। इस बारे में आप ही निर्णय करें। हाँ, पत्रिका का प्रकाशन भारतीय मासों के हिसाब से न होकर, अंग्रेजी मासों के आधार पर हो तो बड़ी सुविधा होगी।

हिन्दी प्रचार संघ ने एक साहित्यिक समारोह का आयोजन किया था। प्रत्येक भाषा के लिए एक-एक विद्वान् भी नियुक्त किया गया था। श्री विनायकराव से मराठी साहित्य समारोह की अध्यक्षता के लिए प्रार्थना की गई, किन्तु वे संस्कृत और हिन्दी के विद्वान् थे। अन्ततः उन्होंने मराठी-साहित्य-समारोह के अध्यक्ष पद से जो कुछ कहा उससे उन्होंने अपनी मातृभाषा के ज्ञान को लोगों के सामने रखकर चकित कर दिया। श्री विनायकराव हिन्दी के एक लब्धप्रतिष्ठ लेखक हैं। उनकी 'तहसीलदार' कहानी का मराठी अनुवाद करने का सुअवसर मुझे मिला है।

एक बार लोकमान्य तिलक की पुण्य तिथि मनाई जा रही थी। विभिन्न वक्ताओं ने उनपर प्रकाश डाला, मगर श्री विनायकराव का भाषण विशेष उल्लेखनीय रहा। उन्होंने बताया कि 'गीतारहस्य' के अमर रचयिता के रूप में और 'स्वराज्य मेरा जन्म सिद्ध अधिकार है' की महान् मंत्र देनेवाले लोकमान्य तिलक को तो सब जानते हैं, किन्तु वे बड़े कोमल और स्नेहपूर्ण हृदय के व्यक्ति भी थे। उन्होंने सुनाया : "जब मैं लन्दन में था, उस समय श्री तिलक भी वहां आए हुए थे, पिताजी ने मुझे तार देकर कहा था लोकमान्य तिलक के दर्शन अवश्य करना। मैं श्री तिलक महाराज के निवास स्थान पर जा पहुँचा। बड़े प्रेम से बातें हुईं। मैं उनके विशाल प्रेम से बहुत प्रभावित हुआ।"

श्री विनायकराव की प्रतिभा प्रखर है। उनमें व्यक्ति को गहराई तक पहचानने की अद्भुत शक्ति है। उनका सामान्य व्यवहार मधुर और हास्यमय होता है। उनके हास्य में शमशीर की चमक है, लेकिन उसकी घातक चोट नहीं है।

श्री विनायकराव एक सात्विक व्यक्ति हैं। आर्यसमाज के लिए उन्होंने बड़ा संघर्ष किया। हैदराबाद राज्य के पुराने उच्च अधिकारियों में भी उनके प्रति बड़ा आदर था। उनका जीवन सहज रूप से समन्वयवादी है। संस्थागत झगड़ों को वे सफलतापूर्वक सुलझा देते हैं। कलह और रोष की भावनाओं से भरे हुए दोनों पक्षों पर वे समान प्रेम रखते हैं।

वे हिन्दी भाषा और आर्य संस्कृति के अनन्य भक्त और यशस्वी लोक नेता हैं, उनका जन्म महाराष्ट्रीय कुल में हुआ, किन्तु वे सर्व जनप्रिय हैं। प्रत्येक महाराष्ट्रीय वस्तुतः उन पर बड़ा गर्व करता है। प्रभु उन्हें दीर्घायु दें, यही हमारी सामूहिक मंगल प्रार्थना है।

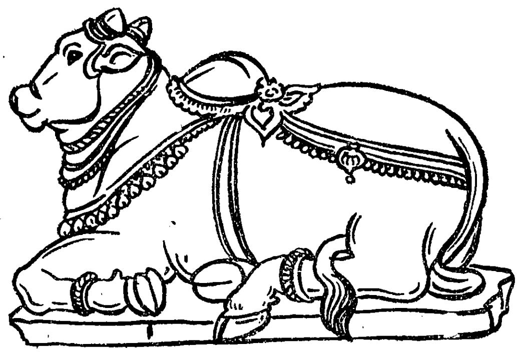

रघुनाथ मुरलीधर जोशी
काचीगुड़ा, हैदराबाद-दक्षिण

हमारे प्रधान जी

हमारे प्रधान जी भी एक अजीब तबीयत के आदमी हैं। उनसे मिलने का अवसर बहुतों को प्राप्त हुआ होगा। क्योंकि उनका दरवाज़ा हर समय खुला रहता है और बाहर कभी कोई दरबान नहीं रहता, जिससे पूछ कर अन्दर जाने की आवश्यकता हो और न ही उनका कोई प्राइवेट सेक्रेटरी है जिससे पहलेही मिलने का समय लेने की ज़रूरत पड़े। वे स्वतः अपने आफ़िस के दरबान और मालिक हैं और अपने आप प्राइवेट सेक्रेटरी भी। उनके मित्रों ने या यों कहिए कि उनके पास आने जाने वाले सब ही छोटे बड़ों ने देखा होगा कि प्रधान जी की टेबल पर सदा अस्त-व्यस्त काग़ज़ों के दो-तीन ढेर लगे रहते हैं और वे आप से बातें करते जाते हैं और इस ढेर का १-१ काग़ज़ उस ढेर में और फिर उस ढेर का १-१ काग़ज़ इस ढेर में रखते हैं। जो उन्हें नहीं जानते वे कभी कभी यह समझ लेते हैं कि प्रधान जी की यह प्रक्रिया उनके लिए शीघ्र स्थान छोड़ने का इशारा है। परन्तु उठने की चेष्टा को देख प्रधान जी उन्हें ठहरने के लिए कहते हैं और

[यह लेख उस समय लिखा गया था जब कि श्री विनायकराव आर्य प्रतिनिधि सभा हैदराबाद प्रदेश के प्रधान थे–सं.]

अपने काम को अधिक तेज़ी से प्रारंभ करते हैं। अभ्यागत परेशान होकर पूछता है कि "पंडित जी आप क्या ढूंढ़ रहे हैं ?" वे उत्तर देते हैं कि "एक बड़ा ज़रूरी सरकारी काग़ज़ खो गया है। समझ में नहीं आता कि मैं ने उसे कहां रख दिया है।" जिन्होंने प्रधान जी को अधिक नज़दीक से देखा है वे जानते हैं कि प्रधान जी ने काग़ज़ बहुत ज़रूरी समझ कर किसी बहुत ही सुरक्षित स्थान पर रखा होगा। अन्त में ऐसे काग़ज़ प्रधान जी को कभी तो किसी किताब में से जिसे वे उस समय पढ़ रहे थे, या किसी कोट के जेब में से जिसे उस समय उन्होंने पहना हुआ था या किसी मित्र के घर में से जहां वे उस समय बैठे हुए थे जब कि वह काग़ज़ उन्हें दिया गया था, मिल जाता है।

नियुक्त किए हुए समय को भूल जाना प्रधान जी के लिए कोई बड़ी बात नहीं है। एक समय की बात है कि प्रधान जी ने तीन भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को सर्वथा भिन्न-भिन्न कार्यों के लिए एक ही समय दे रखा था। वे तीनों अपने नियुक्त समय पर आगए तो ज्ञात हुआ कि अभी पन्दरह मिनट हुए कि प्रधान जी एक चौथे व्यक्ति के साथ एक झगड़े के निर्णय के लिए चले गए हैं। अब क्या हो ? आखिर आए हुए व्यक्तियों में से एक बहुत ही गरम हुए कि यह क्या बात है कि इतने बड़े आदमी समय देकर घर में अनुपस्थित हैं ? तब दूसरे ने जो कि प्रधान जी के इस स्वभाव से परिचित थे हंसते हुए कहा कि यह तो उनका स्वभाव ही है। जो व्यक्ति तीन व्यक्तियों को मिलने के लिए एक ही समय दे सकता है वह सहज ही चौथे के साथ जा सकता है। इसम कोई बड़ी बात नहीं है। हां ! एक बात कह दूं कि प्रधान जी को जानने वाले उनकी इन बातों का कभी बुरा नहीं मानते।

बहुत से सज्जन प्रधान जी की इस कमज़ोरी से भली प्रकार परिचित हो चुके हैं। कुछ दिन पूर्व की घटना है कि एक सज्जन प्रधान जी को अपने पुत्र के विवाह संस्कार में निमन्त्रण देने के लिए पधारे थे। प्रधान जी की आदत है कि वे अपरिचित से भी इतनी मिठास से बात करते हैं कि मानों उनसे बहुत ही गहरे सम्बन्ध हैं। फिर निमन्त्रण देने वाले महाशय उनके निकट मित्रों में से थे। प्रधान जी ने कहा : "अवश्य आऊँगा"। इस पर उनके मित्र ने कहा "देखिए पंडित जी आप बहुत भूलते हैं, कहीं ऐसा न हो कि आप भूल जाएं"। प्रधान जी ने अपनी डायरी निकाली और उसमें दिन और समय नोट कर लिया। निमन्त्रण देनेवाले महाशय प्रधान जी के चिर परिचित थे अतः उन्होंने जाते जाते पुनः कह दिया कि "आपने नोट तो कर लिया है किन्तु आपको डायरी देखने की कौन याद दिलाएगा ?" "बस अब तो मैं भूल नहीं सकता"। प्रधान जी ने हंसते हुए उत्तर दिया। यह बताने की ज़रूरत नहीं कि इतने पर भी प्रधान जी उस विवाह में जाना भूल ही गए। और दूसरे दिन जाकर उन्हें क्षमा की याचना करनी पड़ी।

उनके जीवन में ऐसी अनेक घटनाएं होती रहती हैं। एक दिन अपना कुरता हाथ में लिए वे मकान में इधर से उधर और उधर से इधर चक्कर काट रहे थे। मैं ने यों ही पूछा कि "क्या देख रहे हैं ?" पंडित जी, ने कहा कुछ नहीं बाबा ! घुंडियां कहीं रख दी हैं, याद नहीं आ रहा है कि कहां हैं ? उन्हीं को खोज रहा हूं। मैं ने कहा "घंडियों की क्या ज़रूरत है ?" इस पर प्रधान जी कुछ झुंझला कर बोल उठे "क्या बिना घुंडियों के ही कुरता पहना जाए ? आखिर आपका मतलब क्या है ?" तब मैं ने चकित हो कर उनसे पूछा कि "क्या एक कुरते पर ही दूसरा कुरता पहना जाएगा ?" तब उन्होंने अपने पहने हुए कुरते की ओर देखा तो पेट भर हंसना शुरू किया। बात यह थी कि हमारे प्रधान जी को इस बात का ख़याल ही नहीं

था कि उन्होंने एक कुरता पहले ही से पहना हुआ था। मालूम ऐसा पड़ता है कि कुरता पहन कर ज्यों ही वे बाहर आ रहे थे तो उनके हाथ एक और धुला हुआ कुरता लग गया। उन्होंने उसे उठाया और लगे घुंडियां ढूंढ़ने। घुंडियां तो पहने हुए कुरते पर ही लगी हुई थीं और प्रधान जी घर-भर घुंडियों को ढूंढ़न में परेशान थे।

हमने यह घटना अपने एक मित्र को सुनाई जो कि प्रधान जी के संबन्धी भी होते हैं तो उन्होंने यह कहा कि यह कौन सी बात है ? इस तरह से भूलना तो उनका स्वभाव ही है। एक दिन की बात है कि नित्य की भांति वे मकान में इधर से उधर और उधर से इधर फिर रहे थे। मैंने भी उधर कुछ ध्यान नहीं दिया क्यों कि वस्तुओं का कहीं रख देना और फिर उन्हें ढूंढ़ते फिरना उनके लिए कोई नई बात नहीं थी। मैंने समझा कहीं बाहर जाने वाले होंगे और हर रोज़ की तरह चप्पल या टोपी ढूंढ़ रहे होंगे। परन्तु जब देखा कि ५-१० मिनट हो गए और उनके चक्कर पूर्ववत् जारी हैं तो मुझ से न रहा गया। मैंने पूछ ही लिया कि "किस चीज़ की तलाश हो रही है।" उन्होंने उत्तर दिया "मेरी ऐनक नहीं मिल रही है और अख़बार के अक्षर इतने बारीक हैं कि बग़ैर ऐनक के ठीक से पढ़े नहीं जाते।" मेरे आश्चर्य का सचमुच पारावार नहीं रहा जब मैंने देखा कि ऐनक प्रधान जी की नाक पर बराबर अपने स्थान पर लगी हुई थी। मैंने बताया कि ऐनक तो वे पहने हुए हैं तो पहले हम दोनों पेट भर कर हंस लिए और बाद में प्रधान जी ने कहा, "मैं ऐनक ढूंढ़ रहा था इसका मुझे कुछ आश्चर्य नहीं क्यों कि वस्तुओं को रख कर भूलना मेरा स्वभाव ही हो गया है किन्तु आश्चर्य इस बात का है कि ऐनक के रहते हुए भी मुझे अख़बार के अक्षर बराबर नज़र नहीं आ रहे थे"। जब कभी कोई ऐसी घटना हो जाती है तो उससे स्वयं प्रधान जी भी मज़ा लेले कर हंसते हैं और अपने मित्रों से कह कह कर आनन्द उठाते हैं।

एक दिन तो इससे भी अधिक आश्चर्य की बात हुई। प्रधान जी को एक बहुत ही ज़रूरी दरख़्वास्त लिखनी थी। उन्होंने बड़े श्रम से उस दरख़्वास्त को तैयार किया, उसे एक बार लिखा, फिर उसे सुधारा और अन्त में उसकी तीसरी साफ़ और शुद्ध प्रति तैयार की। इस प्रति के तैयार हो जाने के उपरान्त काग़ज़ के सिरे पर टाइपिस्ट की सूचना के लिए "फोर कापीज़" अर्थात इसकी चार कापियां तैयार की जाएं लिख कर उन्होंने टेबल पर रख दिया और वे स्वतः अन्दर स्नान करने के लिए चले गए। स्नान करके जब वे फिर आफ़िस में आए तो वे सज्जन भी वहीं बैठे हुए थे जिनके लिए वह दरख़्वास्त तैयार की गई थी। प्रधान जी ने एक बार उस सज्जन की तरफ़ देखा और टेबल पर रखी हुई दरख़्वास्त की ओर देखा। फिर उन्होंने उस दरख़्वास्त को उठाया और उसके टुकड़े टुकड़े कर रद्दी की टोकरी में फेंक दिया। शायद कोई समझेगा कि या तो उनको दरख़्वास्त पसन्द नहीं आई होगी या यह कि प्रार्थी की किसी बात पर नाराज़ होकर उन्होंने उसे फ़ाड़ दिया होगा। परन्तु वास्तव में ऐसी कोई बात नहीं हुई थी। दरख़्वास्त को उन्होंने आफ़िस में आने के बाद पढ़ा भी नहीं था इस लिए पसन्द और नापसन्द का तो कोई प्रश्न ही नहीं था। प्रार्थी ने कोई बात भी नहीं की अतः क्रोध का भी कोई सवाल नहीं था। बात यह हुई कि दरख़्वास्त के कोने पर लिखे गए "फ़ोर क़ापीज" के दो शब्दों ने उनके भटके हुए मन पर एक विचित्र प्रभाव उत्पन्न कर दिया। उन्होंने समझा कि दरख़्वास्त की चार प्रतियां टाईपशुदा तैयार हो गई हैं, अब हस्तलिखित प्रति की क्या आवश्यकता है और इसीलिए उन्होंने वह हस्तलिखित प्रति फ़ाड़ कर फेंक दी। बेचारा प्रार्थी सहम कर रह गया। जब बात समझ में आ गई तो हंसते हुए प्रधान जी, फिर दुबारा दरख़्वास्त तैयार करने बैठ गए।

प्रधान जी को भूलने का यह स्वभाव बहुत से लोगों को उनका एक बड़ा दोष प्रतीत होता है, किन्तु मुझे उसमें उनके मनोल्लास और निश्चिन्तता की आभा दिखाई देती है। अपने इसी स्वभाव के कारण वे बड़े से बड़े अपमान और बड़े से बड़े दुःख को उसी प्रकार भूल जाते हैं जैसे कि अपनी रखी हुई वस्तुओं को। यह बात मुझे एक घटना के देखने पर महसूस हुई जिसने मुझे यह लेख लिखने की प्रेरणा की। उस घटना को लिख कर मैं इस लेख को समाप्त करूंगा।

एक दिन प्रधान जी के पास एक व्यक्ति एक सिफ़ारशी पत्र लेने के लिए आया था। इस व्यक्ति ने कुछ ही दिन पूर्व एक भरी सभा में प्रधान जी का अपमान किया था। मैं भी देख रहा था कि देखें अब क्या होता है। प्रधान जी ने दो-चार बातों के उपरान्त उसे उन्हीं शब्दों में सिफ़ारशी पत्र दे दिया जिन शब्दों में वह चाहता था। उसके जाने के बाद मैंने कहा, "यह व्यक्ति भी विचित्र है। उस रोज़ इतनी बातें करने के बाद भी सीधा सिफ़ारिशी पत्र प्राप्त करने आपके पास आया"। प्रधान जी ने सरल भाव से कहा, अरे "मुझे तो याद ही नहीं रहा। उसके रहते हुए याद दिलाते तो कम से कम उससे एकाध प्रश्न तो पूछ ही लेता"। मैंने देखा कि उनका भूलने का स्वभाव वस्तुओं तक ही नहीं अपितु ज़ीवन के समस्त व्यापारों में समरस है। यह उनकी ख़ूबी है न कि दोष।

विनयकुमार, साहित्यालंकार
हैदराबाद-दक्षिण

श्री विनायकराव मंत्री के रूप में

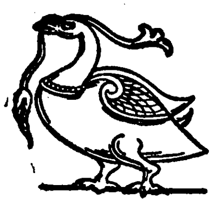

जून १९५० हैदराबाद के राजनैतिक जीवन में अत्यंत महत्वपूर्ण एवं उल्लेखनीय मास है। हैदराबाद के इतिहास में पहली बार यहां के शासन-प्रबन्ध में, आंशिकरूप में ही, जनता को प्रतिनिधित्व प्राप्त हुआ। मन्त्रियों के नामों की घोषणा से पूर्व जनता में नाना प्रकार की अटकलें लगायी जा रही थीं, पत्रों में नामों की अनुमानिक सूची छप रही थी, जिसमें श्री विनायकराव का भी नाम बड़े विश्वास के साथ लिया जा रहा था। किन्तु एक व्यक्ति को उनके मन्त्रि मण्डल में लिए जाने का तनिक भी विश्वास नहीं था और वे स्वयं राव साहब थे। और जब कांग्रेस के चार मन्त्री लिए गए और उनमें राव साहब का नाम भी था तो उनके सिवा अन्य किसी को आश्चर्य भी नहीं हुआ। उनका मन्त्रि मण्डल में लिया जाना सब के लिए अपेक्षित ही था।

मन्त्री बनने के पश्चात पहली दीपावली के अवसर पर राव साहब ऋषि निर्वाणोत्स में भाषण देने के लिए आर्य समाज सुलतान बाजार में पधारे। दो-ढाई घण्टे के बाद आने का आदेश देकर मोटर को

5

किसी काम पर भिजवा दिया। किन्तु सभा का कार्य एक घण्टे में ही समाप्त हो गया। लक्ष्मी-पूजन के अवसर पर पान-सुपारी के लिए नगर के धनी-मानी और सामान्य व्यक्तियों के बहुत से आमन्त्रण आए थे। इस वर्ष बुलाने वालों की बड़ी लम्बी सूची थी। निर्वाणोत्सव का कार्यक्रम समाप्त करने के पश्चात् राव साहब ने मुझ से पूछा, "अब कहां कहां चलना है।" मैं ने नामों की सूची सामने कर दी कहने लगे, "ये सभी आमंत्रण मिनिस्टर विनायक राव के लिए हैं, मुझे वहीं जाना है जहां से केवल विनायक राव को बुलाया गया है। जो पहले भी बुलाते थे और जो आज भी बुला रहे हैं।" मुझे असमञ्जस में देखकर अन्त में इतना और जोड दिया, "यदि समय रहा तो दूसरों के पास भी जाएंगे।"

आर्य समाज मन्दिर से बाहर निकले तो वहां मोटर ही नहीं थी। मैं और परेशान हो गया कि अब क्या किया जाए? राव साहब ने चट् से कह दिया, "चलो उपाय सूझ गया।" मैंने सोचा कि सम्भव है किसी मित्र की मोटर दीख गई होगी, किन्तु पूर्व इसके कि मैं कुछ समझ पाता, राव साहब भीड़ को चीरते, लोगों से टकराते, कन्धे से कन्धा मिलाते लम्बे लम्बे डग भरते हुए सड़क पर चले जा रहे हैं और वहां खड़े हुए दो-चार सज्जन, राव साहब को मन्त्री के उस रूप में देखने की अपेक्षा में थे जो जनता से पृथक् रहते और जिसके दर्शन भी लोगों के लिए दुर्लभ होते थे। मैं पीछे-पीछे भागता जा रहा था, राव साहब कह रहे थे, "कौन जानता है जी मुझे को? सब अपनी-अपनी धुन में है। किसी को किसी की ख़बर नहीं।" दस मिनट चलकर राव साहब एक व्यापारी मित्र की दुकान पर पहुंच गए। वहां खड़े हुए लोग राव साहब को झण्डी लगी हुई उनकी बड़ी सरकारी मोटर में तथा पट्टे वाले जमदार के साथ देखने की अपेक्षा कर रहे थे, किन्तु जब उन्होंने राव साहब को पैदल भीड़ से टकराते दुकान की ओर बढ़ते देखा तो चकित हो गए।

मन्त्री होने के पश्चात् राव साहब शीघ्र ही सरकारी बंगले में चले गए जो शहर से तीन-साढ़े तीन मील दूर बेगमपेठ में है। मिलने-जुलने वालों को इतनी दूर आना कठिन था--कठिन नहीं तो खर्चीला अवश्य था। इस बात को राव साहब की दूर-दृष्टि ने पहले दिन से ही भांप लिया था अतः अब नियम बन गया कि सरकारी कार्यालय से सीधे अपने निजी बंगले में आते, जो शहर के मध्य मोअज्जमजाही मार्केट के पास है। यहां डेढ़-दो घण्टे तक ठहर कर बेगमपेठ लौट जाते। आने वालों का तांता बन्धा रहता।

नित्य प्रति सरकारी कार्यालय में, निजी तथा सरकारी बंगलों पर आकर मिलने वालों की संख्या बहुत होती थी। कभी-कभी तो राव साहब की इन मिलने वालों के कारण आवश्यक सरकारी कामों के लिए समय नहीं मिलता था। अतः राव साहब का सरकारी काम उस समय आरम्भ होता था जब की इन मिलने वालों का समय समाप्त हो जाता था। इस प्रकार रात में डेढ़-दो बजे तक मिसलों और आवश्यक काग़ज़ों को देखना और उनपर अपना निर्णय लिखना चलता रहता था। इन सभी असुविधाओं को देखकर निकटवर्ती लोगों ने जब मिलने-जुलने वालों के समय को निश्चित करने की सलाह दी तो कहने लगे, "ऐसा करना उचित नहीं है। यह भी एक प्रकार की प्रतिक्रिया है। पहले मिनिस्ट्रों को तो क्या बड़े अधिकारियों को मिलना भी जनता के लिए कठिन था। अब जब हम जनता के प्रतिनिधि के रूप में यहां आए हैं तो जनता में हमसे मिलने तथा अपनी कठिनाइयों को सीधे तथा प्रत्यक्ष रूपसे हम तक

पहुंचाने की उत्सुकता का होना स्वाभाविक है। उनमें हमारे प्रति अपनत्व है इसलिए वे हम से मिलने आते हैं। अतः उनकी इस साधारण सी इच्छा को कुचलना अच्छा नहीं है। यह बहुत दिन नहीं चलेगा किन्तु इसको रोकने के परिणाम बड़े दूरवर्ति होंगे।" फिर भी दोनों प्राइवेट सेक्रेट्रियों ने मिलकर सरकारी कार्यालय में मिलने जुलने वालों का समय निश्चित कर दिया। मन्त्री के कमरे से बाहर मिलने के समय का बोर्ड टंग गया। बड़ी कठिनाई से दो-चार दिन तक उसका पालन किया जा सका। एक दिन पुनः राव साहब ने अपनी स्वाभाविक हंसी के साथ अपने दोनों सेक्रेट्रियों से कहा," बोर्ड को तो वहीं लटकाए रखो किन्तु किसी मिलने वाले को लटकाए रखने की आवश्यकता नहीं है।"

मिलने वालों में सभी ऐसे नहीं थे जिनका राव साहब के कार्यालय से सीधे कोई कार्य हो। उनमें कुछ अपने घरेलू झगड़े लेकर आते, कुछ अपने किसी मित्र के भतीजे के किसी बेरोजगार मित्र की सिफ़ारिश करने आते, कुछ अपने किसी बीमार संबंधी के इलाज के बारे में सलाह लेने आते, कुछ केवल मन्त्री से मिलने का "गौरव" प्राप्त करने आते थे। राव साहब का एक ही तर्क हमें चुप करा देता, "जब कोई दुःखी आकर अपना दुखडा हमारे सामने रखना चाहता है और हम उसकी बात को सुन भी न सकें तो उसके दुःख में वृद्धि का ही कारण होंगे। जितना और जिस रूप में भी हो सके हमें दूसरों के दुःख निवारण का कारण बनना चाहिए। काम करने के लिए मनुष्य के पास पर्याप्त समय रहता है, उसको अपने आराम को कुछ कम करने की आवश्यकता है।" यही कारण है कि जनता को कभी राव साहब से न मिल सकने की कभी शिकायत नहीं हुई। जिनका कार्य बन जाता या बनने की आशा हो जाती है वे तो प्रसन्न होकर ही निकलते हैं, किन्तु जिनका कार्य न बनता या बनने की आशा नहीं होती उन्हें कम से कम राव साहब के मधुर भाषण और सद्-व्यवहार से कुछ सान्त्वना तो अवश्य मिल जाती है"।

१९५० की उस दीपावली के पश्चात् मुझे १९५५ के दशहरे का भी एक दृश्य स्मरण है। २६ अक्तूबर १९५५ को दशहरा था और २७ अक्तूबर को प्रातः ९-३० बजे हवाई जहाज से राव साहब को बम्बई जाना था। उसी दिन प्रातः दशहरे की भेंट के लिए सभी छोटे बड़े लोग आ रहे थे। मैं, श्री खण्डेराव, श्री बी. किशनलाल और राव साहब के निजी कार्यालय के कुछ लोग खड़े हुए थे। नौ बजने में १५ मिनट शेष थे, उस समय चपरासी ने सूचना दी कि दो चार लोग मिलने आए हैं। आने वाले सामान्य स्थिति के ही लोग थे। मैं ने कहा, "प्लेन जाने में केवल ४५ मिनट शेष हैं और आपने अभी स्नान भी नहीं किया है अतः आप स्नान कीजिए और मैं अभ्यागतों का इत्र-पान से स्वागत करता हूं।" इत्रदान और पानदान हाथ में लेकर कमरे से बाहर जाते हुए राव साहब ने कहा, "हवाई अड्डे को दस मिनट में पहुंच सकते हैं, पांच मिनट पूर्व वहां जाने से कार्य बन जाएगा अतः मैं सवा नौ बजे तक लोगों से मिल सकता हूं। अधिक से अधिक स्नान न कर सकूंगा। यहां न किया तो बम्बई में स्नान हो जाएगा किन्तु दशहरे के दिन अभ्यागतों से भेंट प्राइवेट सेक्रेटरी के द्वारा नहीं हो सकती।" (यद्यपि मैं अब प्राइवेट सेक्रेटरी नहीं रहा तथापि राव साहब अब भी मुझे प्राइवेट सेक्रेटरी ही कहते हैं) लोगों से मिलने के उनके स्वभाव में मन्त्रित्वकाल के इन ६ वर्षों में मुझे कोई अन्तर दिखाई नहीं दिया।

प्रारम्भ से ही आपका स्वभाव खुले वातावरण में रहने का है। बन्धन, कृत्रिमता, बनावट और

तक्कलुफ़ आपको अधिक पसन्द नहीं है। मन्त्री बनने से पूर्व कितने ही लोगों ने आपको खुले सिर, खुले पांव, केवल कमीस तथा धोती पहने ही सड़क से अपने मित्रों के घर जाते हुए देखा है। पुलीस कार्यवाही के पश्चात् ही पहले दशहरे के अवसर पर निकलने वाले आर्यसमाजी जुलूस में जब लोगों ने, ५५ वर्ष की आयु में राव साहब को घुटनों तक धोती चढ़ाये, कमीज की आधी आस्तीनों को मोडे, खुले सिर और खुले पांव एक छोर से दूसरे छोर तक २५ वर्षीय युवक की भान्ति व्यवस्था में व्यस्त होकर दौड़ते हुए देखा तो चकित हो गए। इतने खुले वातावरण में रहने वाले व्यक्ति के सामने मन्त्री बनने के पश्चात् बड़ी कठिनाई उपस्थित हो गई। चलते-फिरते समय साथ में चपरासियों को लेजाना उन्हें कभी पसन्द नहीं था, मन्त्री की मोटर पर लगने वाली झण्डी का भी उन्हें मोह नहीं था, किन्तु उस पद की गम्भीरता, श्रेष्ठता और दबदबे को स्थिर रखने के लिए उन्हें कितनी ही बातें अपनी इच्छा के विरूद्ध करनी पड़ी। अपने खुले स्वभाव के करण मन्त्रित्व की गम्भीरता को उन्होंने नीचा भी आने नही दिया। एक बार मैं ने उनसे कहा "कभी-कभी आपको घर की गाड़ी में भी इधर-उधर जाना पड़ता है, अतः उस पर भी झण्डी लगाने की व्यवस्था करने की इच्छा है।" उत्तर मिला, "घर की छोटी गाड़ी और लकड़ी की सादी कुर्सी पर बैठकर ही तो मैं कभी-कभी अपने वास्तविक जीवन का आनन्द उठा लिया करता हूं और तुम मुझे उससे भी वञ्चित करना चाहते हो?" मैं चुप हो गया। किन्तु मन्त्री रहते हुए जब भी अवसर आ जाता है उनके सरल तथा सादे-सीधे स्वभाव का परिचय लिए बिना नही रहता।

एक बार देहली के उनके सरकारी प्रवास में मैं भी साथ था। हैदराबाद पॅलेस में ठहरे थे। चपरासी और सन्तरियों के बीच में उनका दम घुट रहा था मुझ से कहा, "ज़रा गेट आफ़ इण्डिया तक पैदल घूमने चलो।" बाहर निकलते ही चपरासी आगे हो लिया। राव साहब का संकेत पाकर मैं ने उसे रोक दिया ? कुछ दूर जाकर उन्होंने ही एक तांगे को आवाज दी और उस पर सवार होकर केनॉट सर्कस की ओर चल पड़े। मैंने कहा, "ऐसा ही था तो मोटर तो लेते।" एक मीठी मुस्कान के साथ कहा, "जब तक तांगे में बैठकर और केनॉट सर्कस में पैदल घूम-फिरकर न लौटूं देहली आने का मुझे आनन्द ही नहीं आता" केनॉट सर्कस पहुंचे, बीसियों बार देखी हुई दुकानों को देखा, पट्टरीवालों से कुछ माल खरीदा, बड़ी दुकानों से कपड़ा लिया, फल वालों से फल मोल लिये, कुछ मेरे हाथ में और कुछ अपने हाथ में थामे मार्ग से फल खाते हुए जा रहे थे। मैं चुप-चाप राव साहब का अनुकरण कर रहा था। मन्त्री होने से पूर्व भी मैं साथ में देहली गया था और मन्त्री बनने के पश्चात् भी। उस समय और अब के व्यवहार में मुझे कोई विशेष अन्तर दिखाई नहीं दिया, "यहां कौन जानता है कि मैं मन्त्री हूं" यही उनका उत्तर था। किन्तु उनके इस रूप को देखने के लिए उनके साथ कोई साथी अवश्य हो, जो उनके खुले व्यवहार में उनका पूरा-पूरा साथ दे। संकोच और तक्कलुफ़ करने वाले को उनका यह रूप देखने नहीं मिलता और न ही अकेले में वे इस आनन्द को उठा सकते हैं।

मन्त्री बनने के पश्चात् राव साहब को सरकारी वातावरण के कारण अनेक बन्धनों और औपचारिक व्यवहारों की ओर विशेष ध्यान देना पड़ा। अब उन्हें महीनों खुलकर हंसने का अवसर नहीं मिलता,

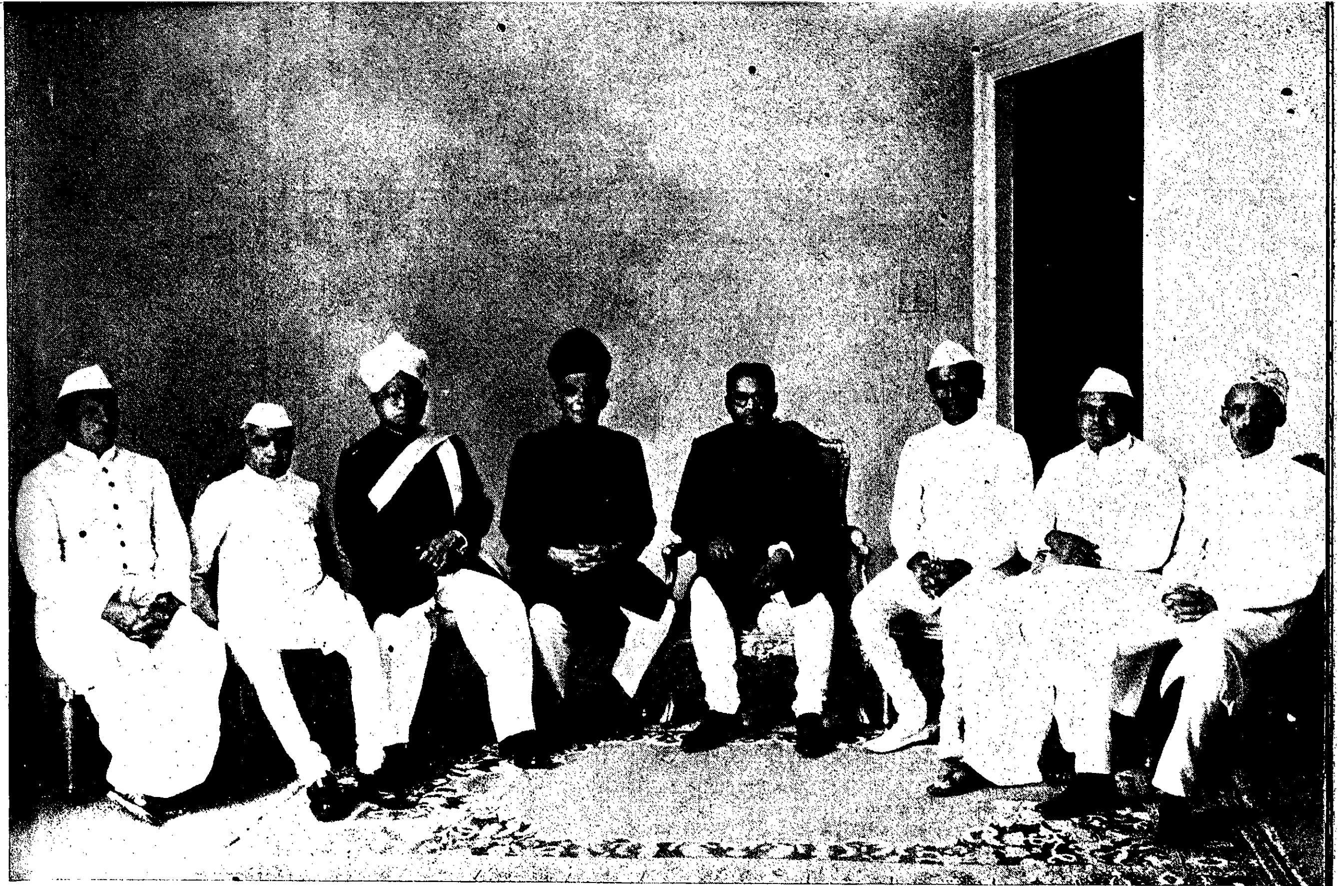

श्रीयुत विनायक राव प्रथम बार हैदराबाद के मंत्रि मण्डल (१९५० ई. में)

जिसको वे पहले दिन में अनेक बार काम में लाते रहते थे। यह बात नहीं कि मन्त्री बनते ही उनका विनोद-पूर्ण स्वभाव बदल गया हो। अब उनका वातावरण बदल गया है। विनोद और हंसी उनके लिए जीवन-दायिनी वस्तुए हैं, जिनके अभाव ने उनके स्वास्थ्य पर कुप्रभाव डाला है। अब भी जब कभी उन्हें अवसर मिलता है वे अपने विनोदपूर्ण स्वभाव का परिचय दे ही देते हैं। सार्वजनिक सभाओं में जब भी वे बोलते हैं तो मानो हास्य की लहरें उठती रहती हैं। मित्रों से मिलते हैं तो वही पुरानी हंसी और वही विनोदपूर्ण चर्चा। औरंगाबाद के सरकारी भ्रमण से लौट रहे थे। सलून में प्रवास हो रहा था। निजामाबाद से पूर्व ही चा-पानी समाप्त हो चुका था। सामान मेज़ पर ही रखा हुआ था। निजामाबाद पर दो चार मित्र आ गए जिनमें श्री मनोहरलाल भी थे। राव साहब जानते थे कि श्री मनोहरलाल को चबीना बहुत पसन्द है। उनके बैठते ही राव साहब ने मुझ से पूछा "क्या चबीना समाप्त हो गया?" मैं ने "हां" कह दिया। किन्तु राव साहब को विश्वास न आया और मेज़ से एक डब्बा उठाकर हिलाया तो उसमें थोड़े से चबीने का भास हुआ। डब्बा मेज़ पर रखते हुए कहा, "मनोहरलाल जी पहले ही मालूम होता कि आप आ रहे हैं तो आपके लिए रख छोडता। औरंगाबाद के एक मित्र ने बड़ा स्वादिष्ट चबीना बनाकर भेजा था" झट-पट चर्चा का विषय बदल दिया। किन्तु श्री मनोहरलाल का मन बेचैन हो उठा। डब्बे में पड़े हुए थोड़े से चबीने को भी वे हाथ से नहीं जाने देना चाहते थे, लपक कर डब्बा उठा लिया। खोला तो उसमें चाय की पत्ती थी। राव साहब का विनोद अब उनकी समझ में आ गया उस समय की उनकी निराश और विवशता को देखकर सभी हंस पड़े और राव साहब की हंसी सब से ऊंची थी।

सन् १९५४ की घटना है। अखिल भारतीय औद्योगिक प्रदर्शनी हैदराबाद में हो रही थी। उसमें बालकों के खेल तथा मनोरंजन की भी व्यवस्था थी। फिसलन और झूलों का प्रबन्ध किया गया था और उस विभाग का उद्घाटन राव साहब करने वाले थे। सैकड़ों लोग खड़े हैं, बड़े-बड़े आधिकारी हैं, नर-नारी, बाल-वृद्ध सभी हैं। उद्घाटन एक रेशमी फ़ीते को काटकर किया जाने वाला था। राव साहब ने फ़ीता काटते हुए कहा, "इसका उद्घाटन केवल फ़ीता काटकर नहीं किया जा सकता।" पूर्व इसके कि लोग कुछ समझ पाएं राव साहब चपलता के साथ फिसलन पर चढ़कर फिसलने लग गए। उनके पीछे बच्चों की सेना थी। खेल आरम्भ हो गया। वहां उपस्थित सभी नर-नारी आश्चर्य भरी हंसी से लोट-पोट हो रहे थे और राव साहब ६० वर्षीय बालक बने खेल रहे थे।

१९५१ में राष्ट्रपति का हैदराबाद में शुभागमन हुआ था। फ़तेह मैदान में हैदराबाद और सिकन्दरा-बाद की नगरसमितियों की ओर से अभिनन्दन-पत्र के भेंट करने का समारोह आयोजित था। सहस्रों की भीड़ थी। मंच से आगे नगर के प्रतिष्ठित लोगों के लिए कुर्सियों की व्यवस्था थी जहां वकील, व्यापारी आदि बैठे हुए थे। मंच पर मन्त्री, राज्य के बड़े अधिकारी और चुने हुए नागरिकों के लिए स्थान सुरक्षित था। राव साहब आये और मंच पर चढ़ते हुए सामने बैठे हुए अपने मित्र वकीलों और साथियों को देखा। वहीं से पलट गए और उनमें घुसकर कुर्सियों पर बैठ गए। एक ने कहा, "राव साहब! आपका स्थान यहां नहीं, वहां मंच पर है।" "उत्तर मिला," साथी वकीलों और मित्रों में बिना किसी बन्धन के बैठे बहुत दिन हुए, आज में उसीका आनन्द लेना चाहता हूं।" और हंसते हुए अन्त में यह भी जोड दिया, "यह स्थान हमेशा का है, मंच की जगह आरज़ी (अस्थायी) है।" सभी ने यह सुनकर ज़ोर से हंस दिया।

भारत के सुप्रसिद्ध संगीतज्ञ श्री ओंकारनाथ ठाकुर अक्तूबर १९५५ में हैदराबाद पधारे थे। उनके स्वागत समारोह में एक सभा का आयोजन हुआ था, जिसमें राज्य के मन्त्री, बड़े-बड़े अधिकारी और नगर के प्रतिष्ठित व्यक्ति बैठे हुए थे। श्री ओंकारनाथ के परिचय का भार राव साहब पर डाला गया। आप उठे और कहने लगे, "सूर्योदय हो रहा है, किसी को यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि सूर्य निकल रहा है। वह तो अपना आप परिचय है। किन्तु मुर्गा अपनी कुकड़ूं-कूं से संसार को सूर्य का परिचय दिलाने का प्रयत्न करता है। श्री ओंकारनाथ का परिचय दिलाना मेरे लिए ऐसा ही है मानों मुर्गा सूर्य का परिचय करा रहा है।" और वे बैठ गए। सम्पूर्ण सभा गृह हंसी से भर गया।

अपने अधीनस्थों के प्रति आपका पितृ तुल्य स्नेह और क्षमाशीलता यह दोनों उल्लेखनीय गुण हैं। अपने अधीनस्थ अधिकारियों और कर्मचारियों को राव साहब सदैव सुधार का अवसर देते रहते हैं। मन्त्री की हैसियत से आप किसी का रिकॉर्ड बिगाडने और त्रुटियों को लेखबद्ध करने का यथा सम्भव कम यत्न करते हैं। सामान्य कर्मचारियों और अधीनस्थ व्यक्तियों की भूलों को सुधारने का अवसर देना आपका विशेष गुण है। बड़े अधिकारियों को सदैव आप चर्चा और वार्तालाप करके भूल-सुधार का अवसर देते हैं। चर्चा में आपके तर्क तथा युक्तियां अत्यंत समाधानकारक होती हैं। इस स्वभाव से सज्जन वृत्ति के लोगों के सुधार का मार्ग खुल जाता है किन्तु दुष्ट वृत्ति वाले इसका दुरूपयोग करते हैं। किन्तु राव साहब की सजग दृष्टि ऐसों को सीमा का उल्लंघन भी नहीं करने देती। राव साहब की क्षमा-वृत्ति को मैं जन्म भर नहीं भूल सकता। मन्त्रि-मण्डल की एक उप-समिति की बैठक थी। प्राइवेट सेक्रेटरी के नाते आपके दिन भर के कार्यों का ब्यौरा मेरे पास रहता था। मैं भी अपने भुल्लकड़ स्वभाव से विवश था अत: उपर्युक्त बैठक के बारे में याद दिलाना भूल गया। बैठक के समय से १५-२० मिनिट के उपरान्त दूसरे प्राइवेट सेक्रेटरी नें तुरन्त सुझा दिया। राव साहब उठकर बैठक में सम्मिलित होने चले गए और मैं ग्लानी और लज्जा के मारे हतबुद्ध हो खड़ा हो गया। जब लौटे तो मुझ से केवल इतना कहा, "भाविष्य में कामों को ध्यानपूर्वक याद दिलाते रहो।" और दूसरे प्राइवेट सेक्रेटरी से भी कहा, "सरकारी कामों का नोट तुम भी रखकर याद दिलाया करो।" सत्य तो यह है कि इस अपराध के आधार पर मुझे अपने पद से पृथक् भी किया जा सकता था।

मैंने राव साहब को कभी भी अपने स्टेनोग्राफ़र को बुलाकर कुछ लिखवाते नहीं देखा। फैसला चाहे जितना बड़ा हो वे स्वयं अपने कलम से ही लिखते हैं। मैंने एकबार सहज ही पूछ लिया, "घर पर आपको काफ़ी लिखना पड़ता है, यदि घर पर किसी कलर्क की डचूटी लगा दी जाए तो उत्तम होगा।" उत्तर मिला, "अपना कार्य करने में सदैव दूसरों पर अवलम्बित नहीं रहना चाहिए।" अधीनस्थ कर्मचारियों को अनावश्यक कष्ट न देने की ओर आपका सदैव ध्यान रहता है। इसी लिए आपके निजी कार्यालय के कर्मचारियों को उनके साथी परिचित यह पूछा करते हैं, "आप लोग मिनिस्टर को सहुलत पहुंचाते हैं या मिनिस्टर से ही आप लोगों को सहुलत पहुंचती रहती है। राव साहब का यह व्यवहार सामान्य कर्मचारी और चपरासी के साथ भी होता रहता है। माली बीमार हो जाए तो उसके ओषधोपचार तथा हस्पताल भेजने से लेकर नौकरों के भोजन तथा चाय-पानी तक का ध्यान रखते हैं। मुझे यह आदेश था कि जब भी वे दौरे पर जाएं तो साथ के चपरासी और ड्राइवर के भोजन की व्यवस्था पहले कर दी

जाए। जालने की घटना है कि वहां के एक सज्जन ने राव साहब को भोजन का आमन्त्रण दिया। अपने नियमानुसार मैं ने एक व्यवस्थापक से कहा, "पहले राव साहब के चपरासी और ड्राइवर को भोजन करवा दीजिए ताकि बाद में उन बिचारों के भोजन में गड़बड़ न हो जाए।" उन्होंने बिगड़ कर और तेज होकर कहा, "वाह? यह भी कोई बात है? मन्त्री और अन्य अधिकारियों से पूर्व ही चपरासी और ड्राइवर को खिला दूं?" राव साहब ने तुरन्त स्थिति को समझ लिया और पूर्व इसके कि मैं उन महाशय को कुछ कहूं, राव साहब ने ही उन्हें पास बुलाकर कहा, "बात ऐसी है कि मैं भोजन करते ही लेटने का अभ्यस्त हूं। मेरे भोजन के उपरान्त उन्हें खिलाने से मुझे यहां रुकना पड़ेगा। अतः मेरी सुविधा के लिए ही आप से ऐसा कहा जा रहा है।" उन्हें सन्तोष हुआ और राव साहब की इच्छा पूरी हुई। किन्तु उन्होंने यह देखा कि भोजन के उपरान्त राव साहब आधा घण्टे तक बात-चीत करते रहे। हैदराबाद नगर में भी कभी किसी कर्मचारी को राव साहब के कारण देर तक भूखा रहना नहीं पड़ा। समय पर उन्हें छुट्टी मिल जाती या भोजन मिल जाता है।

सरकारी दौरों में राव साहब अपनी ओर से समय की पाबन्दी का बड़ा ध्यान रखते हैं। डेढ़-दो सौ मील के लम्बे-लम्बे भ्रमण में भी मोटर से समय पर—कभी-कभी तो इतना समय पर कि एक-दो मिनट का भी अन्तर न हो—पहुंचने के कारण सरकारी अधिकारियों को अचम्भा होता है। एक-दो स्थानों पर तो जिलाधिकारियों ने यह समझकर कि मिनिस्टर देर से ही आएंगे राव साहब के पहुंचने के बाद ही कॅम्प पर पहुंचे। किन्तु ऐसे अवसरों पर, जिनकी व्यवस्था में राव साहब का हाथ न हो या उनकी इच्छा काम नहीं करती हो तो वहाँ समय की पाबन्दी न हो तो वे विवश हो जाते हैं। केवल इतना कह-कर वे चुप हो जाते हैं कि हमें समय की पाबन्दी का ध्यान रखना चाहिए।

राव साहब से जो परिचित हैं उन्हें राव साहब के सत्याचरण का पूर्ण ज्ञान है। उनके साथ घोर मतभेद रखने वाला भी हृदय से उनपर मिथ्या भाषण या मिथ्या व्यवहार को दोषारोपण नहीं कर सकता। किन्तु एक बार मैं अपने मित्रों में बैठा हुआ था कि एक सज्जन ने छूटते ही कह दिया "मन्त्रियों में प्रायः झूठ बोलने की आदत होती है और उनमें सब से अधिक झूठ बोलने वाले आपके श्री विनायक राव हैं।" सांप सूंघ गया। मैं कुछ देर चुप हो गया। किन्तु उन महाशय का यह कटाक्ष अत्यन्त असहनीय हो उठा। मैं ने अपने आवेश को दबाते हुए कहा, "क्यों, आपको इसका अनुभव किस प्रकार हुआ?" वे सज्जन व्यापारी वर्ग से सम्बन्ध रखने वाले हैं। उन्होंने कहा, "जब से वे व्यापार-उद्योग विभाग के मन्त्री बने हैं हमारा उनके साथ कड़ा सम्पर्क आता है। हम व्यापार सम्बन्धी अनेक सरकारी निर्णयों को इधर उधर से सुनते हैं, किन्तु अपनत्व की भावना से जब हम राव साहब से कुछ पूछते हैं तो, "मालूम नहीं कहकर या हमें ही झुठलाकर हमारी ऐसी दिशा भूल करते हैं कि हमें बड़ी हानि उठानी पड़ती है।" यह सुनकर मुझे कुछ समाधान हुआ। मुझे भी ऐसा अनेक बार अनुभव हुआ है। अनेक सरकारी गोपनीय बातें लोगों ने आकर मुझ से उनकी संपुष्टि के लिए पूछा किन्तु अत्यंत समीप रहकर भी मैं राव साहब से उन बातों की गन्ध भी नहीं पा सका। मेरी अनभिज्ञता को लोगों ने मुझे ही झूटा समझा। किन्तु राव साहब सरकारी गोपनीय बातों को अपने अत्यंत समीपस्थ लोगों से भी छुपाने में इतने कुशल हैं कि उनके संयम पर कभी कभी अचम्भा होता है। इस स्वभाव का महत्त्व इस

लिए भी बढ़ जाता है कि बहुत सी गोपनीय बातें अन्य क्षेत्रों से निकलकर सामान्य चर्चा का विषय बन जाती हैं। मैं निश्चयपूर्वक कह सकता हूं कि राव साहब के मन्त्रित्व काल में उनके जीवन तथा चरित्र पर प्रकाश डालने वाली अनेक ऐसी महत्वपूर्ण घटनाएं हुई हैं, जिनको केवल राव साहब ही जानते हैं, किन्तु उनकी गन्ध मात्र भी उनसे समीपस्थ लोगों को नहीं मिल सकी। इसी स्वभाव के कारण मेरे एक परिचित ने राव साहब पर मिथ्या भाषी होने का जो दोषारोपण किया था वह मन्त्री होने के नाते उनके लिए सद्‌गुण ही है।

जब राव साहब मन्त्री बने तो सामान्यतः दो बातों के बारे में बड़ी चर्चा हो रही थी। एक, मुसल्मान यह समझ रहे थे कि यह आर्यसमाजी नेता मन्त्री बनकर उनसे पूरा-पूरा बदला लेगा। दूसरे, आर्यसमाजियों की तो अब पांचों अंगुलियां घी में हैं। किन्तु गत छः वर्षों में सभी ने देख लिया कि यह दोनों कल्पनाएं निराधार थीं। यदि मैं अब यह कह दूं तो अनुचित न होगा कि शिकायत का रुप उलट गया है। मैं ने अनेक जिम्मेदार मुसल्मानों को यह कहते हुए सुना है, "जितना ज्यादा इस शख्स (व्यक्ति) से पहले हम खायफ़ (भयभीत) थे, उसके बर-खिलाफ़ (विपरीत) यह इन्सान उतना ही ज्यादा फ़रिश्ता-खसलत (सन्त-स्वभाव) सिद्ध हुआ है।"

प्रायः यह समझा जाता है कि बड़े व्यक्तियों के समीप रहने वाले उनसे बहुत कुछ करवा लेते हैं। दूसरों का हाल मैं नहीं जानता, किन्तु राव साहब के लिए मैं इतना अवश्य कह सकता हूं कि अत्यन्त समीप रहने वाले इस बात का दावा नहीं कर सकते कि वे मित्रता का प्रभाव डाल कर राव साहब से कोई कार्य करवा लेंगें, सिफ़ारिशों के न सुनने में राव साहब की ख्याति बदनामी तक फ़ैल गई है। बहुत से लोग सख्त-सुस्त कहकर भी अपना क्रोध शान्त कर लेते हैं। राव साहब का यह गुण भी मन्त्री के नाते इतना उल्लेखनीय और प्रशंसनीय है कि उनसे दुष्ट होने वाले भी उनकी निस्पृहता की मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा करते हैं।

एक बार राव साहब के एक परम स्नेही मित्र जिनका स्वयं राव साहब भी बड़ा सन्मान करते हैं, किसी मामले में राव साहब के पास सिफ़ारिश की। जिसकी सिफ़ारिश वे कर रहे थे उस व्यक्ति का कथन था कि सरकार से उसको कुछ लाख रुपए प्राप्त होने हैं। मामला राव साहब के "हां" या "ना" पर टिका हुआ था। राव साहब के मित्र पूरी शक्ति के साथ सिफ़ारिश कर रहे थे। किसी की सिफ़ारिश न सुननी हो तो भी राव साहब कोरा उत्तर देकर उनका दिल दुखाना नहीं चाहते। परोक्ष में या किसी ढंग से उसको अपनी विवशता बतला देते हैं। इस पर भी राव साहब की बात को कोई न समझ सका तो कार्य का परिणाम उसको समझा देता है। उक्त मित्र के साथ भी यही हुआ। जिसकी वे सिफ़ारिश कर रहे थे उसके बात में न्याय की कोई बात न देखकर राव साहब अपने मित्र की सिफ़ारिश को टालते जा रहे थे, किन्तु जब वे पंजे झाड़कर ही उनके पीछे पड़ गए तो एक दिन उन्होंने अपने मित्र से स्पष्ट शब्दों में कह दिया, "मुझ से यह कार्य नहीं हो सकता। मैं आपकी सिफ़ारिश में न्याय की कोई बात नहीं पा रहा हूं अतः मुझे किसी अन्यायपूर्ण बात के लिए विवश न कीजिए।" इस पर राव साहब के मित्र यह कहते हुए उठे, "मैं अब कभी तुम से नहीं बोलूंगा।" राव साहब को जो करना था वही किया किन्तु अपने रुठे हुए मित्र को मनाने के लिए चार-पांच दिन बाद उनके घर पर गए और अपने मधुर भाषण से उन्हें शान्त कर दिया।

एक और घटना है—राव साहब के गहरे मित्र राव साहब से एक ऐसा कार्य करवाने के लिए दबाव

डाल रहे थे जिसमें सरकार के लाखों रूपयों की हानि थी। हर ओर से सिफ़ारिशें पहुंची, अनेक बहाने बनाए गए किन्तु राव साहब पर कोई प्रभाव न पड़ा। अन्त में एक दिन बंगले पर पहुंच कर उन्होंने राव साहब के अत्यंत कोमल स्थान पर प्रहार किया। कहने लगे, "राव साहब यदि इस बार आप मुझे लाखों के नुकसान से बचा लेंगे तो में आपके कथनानुसार किसी सार्वजनिक संस्था की कुछ सेवा कर दूंगा" उस व्यक्ति का यह मर्माघात प्रहार प्रशान्त सागर में आन्धी का कारण बना। अत्यंत संयमित रहते हुए राव साहब ने उनसे केवल इतना ही—किन्तु कुछ रूखे शब्दों में—कहा, "अब आप जा सकते हैं।" और वे क्षुब्धावस्था में अपने कमरे को लौट आए। उस समय उनकी मुखाकृति पर हार्दिक पीड़ा तथा मानसिक वेदना प्रतिबिम्बित हो रही थी। हृदय पर यही बोझ था कि इतने दिनों से सम्पर्क में रहकर भी उस व्यक्ति ने उन्हें समझने में इतनी भूल किस प्रकार की। उधर वह व्यक्ति कांपता हुआ ही कमरे से बाहर निकला और पुन: कभी राव साहब के पास किसी कार्य को लेकर नहीं गया।

मन्त्री बनते ही इन्हें अन्न तथा प्रदाय-विभाग दिया गया। १९५० और १९५१ में राज्य की अन्न परिस्थिति अत्यंत शोचनीय थी। सामन्यतः सम्पूर्ण देश की अन्न परिस्थिति विकट हो गई थी। हैदराबाद के पश्चिमी जिलों में अनावृष्टि के कारण अकाल की परिस्थिति उत्पन्न हो गई थी। ग्रामीण जनता इमली के बीज, ताड़ी के तनों के बीच की गिरी आदि खाकर दिन काट रहे थे। मनुष्य इस परिस्थिति में जो कुछ कर सकता था वह यह कि विदेशों से अनाज मंगवाकर अन्न की कमी की पूर्ति की जाए। किन्तु यह कार्य प्रान्तीय सरकारों का न था। केन्द्र इस ओर पूर्णतः सचेष्ट था, फिर भी स्थिति चिन्ताजनक ही थी। ऐसी परिस्थिति में राजनैतिक दलों को शासक-दल के विरूद्ध आन्दोलन करने का अवसर मिल जाता है। सामान्य कोटि के समाचार-पत्र भी स्थिति को सुलझाने की अपेक्षा बिगाड़ने के ही कारण बनते हैं। इन सभी विरोधी बातों के होते हुए भी राव साहब ने स्थिति पर काबू पाने का पूरा प्रयत्न किया। उन्होंने राज्य के जिलों का भ्रमण करके लोगों को परिस्थिति की वास्तविकता बतलाई, राज्य की ओर से किए जाने वाले प्रयत्नों पर प्रकाश डाला, सरकार की विवशता को स्पष्ट किया और जनता एवं सार्वजनिक संस्थाओं के कर्तव्यों को बतलाया। मैं ने अपनी आंखो से देखा है कि राव साहब ने किस प्रकार छोटे-छोटे ग्रामों में पहुंचकर किसानों और गरीबों की परिस्थिति को देखा, उनके दुःख-दर्द को सुना और उनकी कठिनाई का प्रत्यक्षरूप से निरीक्षण किया और उन्हें प्रत्येक सम्भवनीय सहायता दी। बिदर जिले के एक ग्राम में राव साहब पहुंचे। एक हरिजन की झोंपडी में गए तो उसने इमली के बीजों और एक प्रकार के पत्तों की बनी हुई रोटी बतलाते हुए कहा, "सरकार! आजकल हम लोग यह खा रहे हैं।" राव साहब ने उस रोटी का एक टुकडा लेकर खाया और भारी मन से झोंपडी के बाहर निकल आए। उन्हीं दिनों राव साहब ने यह अनुभव किया कि हैदराबाद राज्य से यदि चन्ने तथा चन्नेकी दाल का निर्यात बन्द कर दिया जाए तो लोगों की बड़ी सहायता होगी, किन्तु यह केन्द्र का विषय था और केन्द्र इस बात को मानने के लिए तैयार नहीं था। अन्त में राव साहब ने अपने विशेष अधिकार को काम में लाकर चन्ने तथा चन्ने की दाल का निर्यात बन्द कर दिया। फलस्वरूप उन्हें केन्द्र का कोप-भाजन भी बनना पड़ा।

उन्हीं दिनों की बात है कि हैदराबाद के कुछ साम्प्रदायिक उर्दू-पत्रों ने राव साहब के विरुद्ध आन्दोलन का क्रम बान्ध दिया था। उनका उद्देश्य केवल अपनी आय के साधनों को बढ़ाना तथा सरकार के विरुद्ध

असन्तोष फैलाना था। उनमें से कुछ तो व्यक्तिगत आक्रमण भी किए। किन्तु इन शस्त्रों से वही लोग परास्त होते हैं जो अखबारी प्रसिद्धि के सहारे आगे आना चाहते हैं। राव साहब के कुछ मित्रों ने जब इन पत्रों की ओर उनका ध्यान आकृष्ट किया तो उन्होंने यही कहा, "मैंने तो इन पत्रों के समाचार देखना ही छोड़ दिया है।" तात्पर्य यह कि १९५० और ५१ के अन्न-संकट का काल राव साहब के धैर्य, साहस तथा उनकी लोकप्रियता का परिचायक सिद्ध हुआ। उस परिस्थिति में जिन दिशाओं से और जिस मात्रा में विरोधी आन्दोलन के उठने की कल्पना की जा रही थी, वह राव साहब के महान व्यक्तित्व के कारण दबा रहा। चारों ओर से परिस्थिति को काबू में लाने के लिए रचनात्मक सहयोग प्राप्त हुआ। आर्यसमाज और कुछ स्थानों के व्यापारियों ने धन एकत्रित करके कुछ स्थानों पर हजारों मन अनाज जनता में वितरित किया।

हैदराबाद राज्य की विधान-सभा में आपके भाषण तथा प्रश्नों के उत्तर अत्यंत समाधानकारक होने के साथ-साथ रोचक भी होते हैं। १९५३–५४ के बजट सेशन में वित्त मन्त्री के नाते आपने भाषण दिया तथा विरोधी दल के आक्षेपों का निराकरण किया था वह इतना मार्मिक था कि राज्य के समाचार पत्रों ने उसकी बड़ी प्रशंसा की। मुख्य-मन्त्री तथा उप-मुख्य-मन्त्री की अनुपस्थिति में आपको अनेक बार विधान सभा के नेता के रूप में भी कार्य करना पड़ा, उस समय आपका कार्य-संचालन तथा सूझ बहुत प्रशंसनीय रहा।

सैद्धान्तिक बात के लिए राव साहब का साहस अत्यंत प्रशंसनीय और कभी-कभी अद्भुत हो जाता है। १९५१ की बात है, जब कि गणतन्त्र दिवस की प्रथम वर्षगांठ के अवसर पर, काँग्रेस सरकार के मन्त्री होते हुए राव साहब ने राष्ट्रीय स्वयं-सेवक संघ (आर. एस. एस.) की ओर से आयोजित गणतन्त्र दिवस के समारोह में भाग लेकर राष्ट्रीय ध्वज फहराया था। आपका यह तर्क था कि देश का कोई व्यक्ति या संस्था यदि राष्ट्रीय हित का कोई कार्य कर रही है अथवा राष्ट्र ध्वज या संविधान के सम्मान में कोई समारोह मना रही है, तो उससे राजनैतिक मतभेद रखकर भी हम उक्त प्रकार के कार्यों में सहयोगी हो सकते हैं। विरूद्ध दिशा में सोचने वाले जिन स्थानों पर मिलकर कार्य कर सकते हैं वहां उन्हें अवश्य मिलना चाहिए। विचार-भेद सामाजिक शत्रुता का रूप न लेने पाए। राव साहिब के इस कार्य से काँग्रेसी क्षेत्रों में हलचल मच गई, काना-फूंसी होने लगी और इसकी प्रतिध्वनि काँग्रेसी हाईकमान तक पहुंची। तत्कालीन प्रान्तीय काँग्रेस अध्यक्ष श्री दिगम्बरराव बिन्दु ने राव साहब के कार्य को उचित ठहराकर अपनी सम्मति काँग्रेस हाईकमान के पास भेज दी। राव साहब के इस कार्य पर हैदराबाद के एक अंग्रेजी दैनिक डेक्कन क्रॉनिकल ने एक महत्वपूर्ण अग्रलेख लिखा, जिसमें राव साहब के इस साहस की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए यह सुझाव दिया था कि राजनैतिक मतभेद रखने वाले व्यक्तियों को एक स्थान पर लाने का यही उपाय है कि उन्हें ऐसे सामान्य स्थानों पर मिलना चाहिए, जहां मिलने से देश का गौरव, राष्ट्र का हित और जन-कल्याण होता है। पारस्परिक मतभेद को मिटाने या उसे कम करने के लिए एक साथ बैठना तथा एक दूसरे के समीप आना अत्यन्त आवश्यक है।

राव साहब पार्टी के नियन्त्रण का बहुत ध्यान रखते हैं। किन्तु उन्होंने प्रायः काँग्रेस की आन्तरिक

दल-बन्दी या गुट बाज़ी से अपने आपको पृथक् रखा है। दल-बन्दी में पूर्णतः फंसे हुए लोगोंकी दृष्टि में राव साहब का यही एक अपराध है कि वे किसी दल के नहीं हैं। यह बात अत्यंत स्पष्टरूप से सर्वविदित है कि राव साहब हैदराबाद के काँग्रेसी मन्त्रिण्डल में किसी दल अथवा गुट की कृपा अथवा पक्षपात के कारण नहीं हैं अपितु वहां पर उनका अस्तित्व केवल उनकी योग्यता, पात्रता तथा सद्‌गुणों के कारण ही है। आज तक उनके मन्त्रित्व काल में उन्हें एक-दो बार काँग्रेसी दल-बन्दी में अपनी सम्मति प्रगट करने पर विवश होना पड़ा था, क्योंकि उसके बिना उनके सामने कोई अन्य मार्ग नहीं था। किन्तु ऐसे एक दो अवसरों पर भी उन्होंने अपनी स्वतन्त्र बुद्धि को काम में लाकर ही अपना मत प्रगट किया था परन्तु उल्लेखनीय बात यह है कि जनता तथा विरूद्ध दलवालों ने, जो उनको दल-बन्दी से सर्वथा ऊपर मानते थे, यही समझा कि ऐसे अवसरों पर भी या तो राव साहब को धोखा दिया गया है या उनके नाम का उनकी इच्छा के विरूद्ध दुरूपयोग किया गया है। दल-बन्दी या गुट-बाजी से इतना अलिप्त रहने वाले राव साहब पार्टी या संस्था के नियन्त्रण का अन्धानुकरण करते हुए भी पाए जाते हैं जो आश्चर्य में डालने वाला होता ह। उदाहरणार्थ, जिस रूप में काँग्रेस सामान्यतः उद्योगों वा विकेन्द्रीयकरण तथा ग्रामोद्योग का प्रचार करना चाहती है, राव साहब व्यक्तिगत रूप से उससे पूर्णतः सहमत नही हैं। भूदान आन्दोलन की सभी बातों से भी वे सहमत नहीं है। तथापि उन्होंने कभी भी भाषण तथा सरकारी कार्यवाही में अपने व्यक्तिक मत को आने नहीं दिया। उन्होंने आंख बन्द किए उसी सिद्धान्त का पालन किया जिस पर काँग्रेस-दल का विश्वास है। ऐसी विवादास्पद बातों पर जब भी सार्वजनिक सभाओं में बोलने का अवसर आया राव साहब ने दलीय विचारों का पूरी शक्ति के साथ समर्थन किया है। प्रश्न पूछने पर आपने यही उत्तर दिया, "प्रत्येक व्यक्ति को अपने संगठन अथवा संस्था के नियन्त्रण का पूरा-पूरा पालन करना चाहिए अन्यथा संगठन दुर्बल हो जाता है।"

किसी व्यक्ति को उसकी भूल अथवा उसके मिथ्याभाषण पर विशेषतः अन्य लोगों के सामने लज्जित करने के आप अत्यन्त विरोधी हैं। आपके जीवन में ऐसी अनेक घटनाएं मिलती हैं। प्रदाय विभाग के मन्त्रीत्व-काल में आप एक जिले का मोटर द्वारा भ्रमण कर रहे थे। मार्ग में मोटर कुछ बिगड़ गई। एक पेड़ के नीचे ठहरकर उसे ठीक किया जा रहा था। राव साहब स्वयं पेड़ की आड़ में बैठे हुए थे और मैं तथा श्री खण्डेराव मोटर के पीछे वार्तालाप करते हुए खड़े थे। सहसा जीप में एक पुलिस अधिकारी आए और मिनिस्टर की गाड़ी देखकर रूक गए। शेरवानी और गांधी टोपी के कारण मिनिस्टर समझकर श्री खण्डेराव को उन्होंने अभिवादन किया और बातचीत आरंभ की। उनकी भूल को भांपकर मैं ने उक्त अधिकारी की राव साहब से भेंट कराई। पांच-दस मिनट बातें हुई। बात-चीत में उन्होंने कहा कि राव साहब से उसकी जान-पहचान खान्दानी है, उनके पिता राव साहब के पिता श्रीयुत केशवराव के बड़े प्रेम-पात्र थे और उनके चाचा के शिष्य थे। राव साहब उनकी बातें बहुत ध्यान से सुनते रहे। जब वे आज्ञा लेकर चले गए तो राव साहब हंसने लगे। कारण पूछने पर बताया, "इसकी झूठ की भी कोई सीमा नहीं। अपने पिता को मेरे चाचा का शिष्य बतलाता है और मेरे चाचा ने कभी अध्यापन का कार्य ही नहीं किया।" जब श्री खण्डेराव ने यह कहा, "राव साहब! यह तो आप की शकल को भी नहीं जानता, क्योंकि गाड़ी से उतरते ही इसने मुझे ही विनायक राव समझकर सलाम किया था।" तो राव साहब की हंसी और अधिक ऊंची हो गई।

मन्त्री होने के बाद भी आपने यही नियम बना रखा था कि रॅशन की दुकान से ही अनाज खरीदा जाए, यद्यपि आप प्रदाय तथा अन्न विभाग के मन्त्री थे। वही मोटा चांवल, लाल ज्वार और गेहूं जो सभी खाते थे राव साहब के लिए भी खरीदे जाते थे। सगे सम्बन्धियों के आने पर उनके लिए अस्थायी कार्ड निकाल कर ही अनाज की व्यवस्था की जाती थी। मैं न दो चार बार कहा भी कि आमेरा से, (हैदराबाद राज्य का एक सरकारी विभाग जो मन्त्रियों के लिए मोटरों, फर्नीचर तथा सरकारी अतिथियों के रहने-सहने और भोजनादि की व्यवस्था करता है) अच्छे चांवल और गेहूं मंगवाने की अनुमति दी जाए, किन्तु उन्होंने मना कर दिया। संकेत मात्र से कोई भी व्यापारी अच्छे से अच्छा अनाज भेज सकता था उन्होंने ऐसा न करने का घर पर कड़ा आदेश दे रखा था। दीपावली के अवसर पर जब मैं न शक्कर के लिए अधिक कूपन प्राप्त करना चाहा तो मुझको मना कर दिया और घर में कह दिया, "यदि कूपन की शक्कर काफ़ी नही हो तो गुड़ का प्रयोग किया जाए।" उनके इस नियम-पालन का पता बहुत दिनों बाद जब उनके कुछ मित्रों को लगा तो उनमें से कुछ लोगों ने अपने घर में भी राव साहब का अनुकरण करना प्रारम्भ किया।

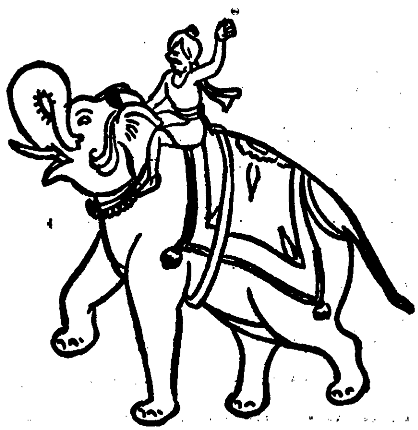

कृष्णदत्त एम. ए.
नारायणगुडा, हैदराबाद

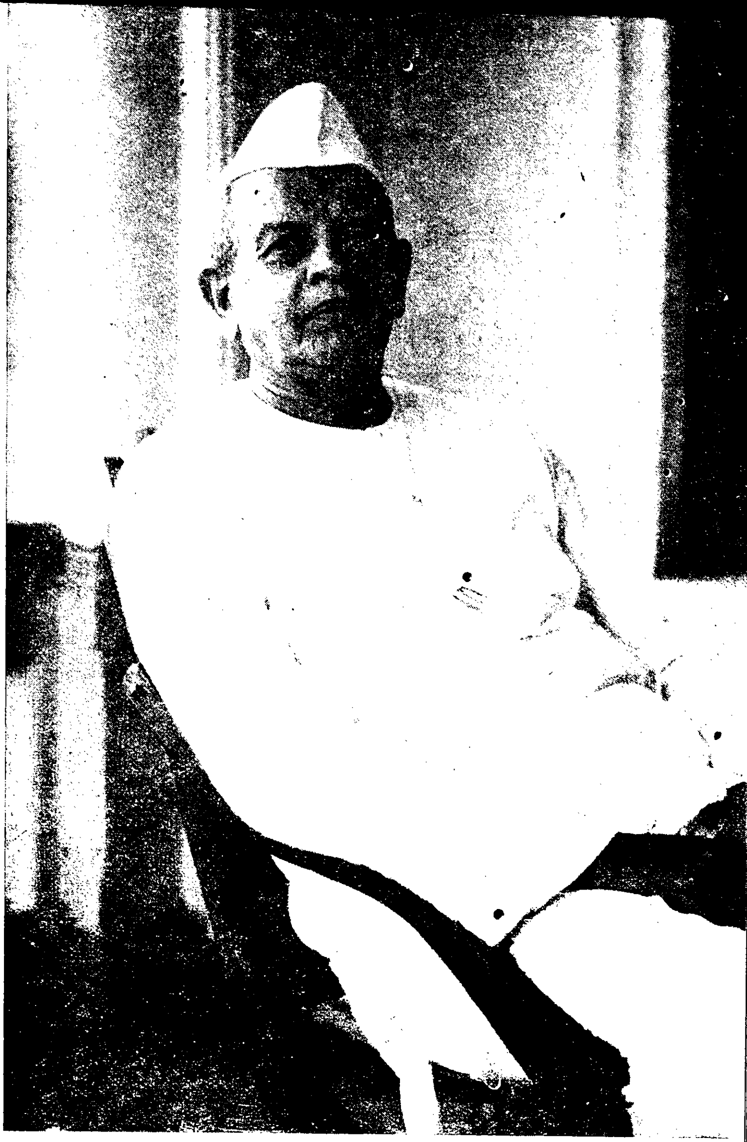

श्रीयुत विनायक राव (वित्त, वाणिज्य तथा
उद्योग मंत्री, हैदराबाद-राज्य)

कुछ मधुर स्मृतियाँ

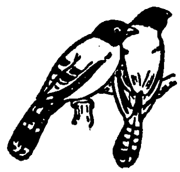

मुझे अपने बाल सहचर, हैदराबाद राज्य के वर्तमान अर्थमन्त्री श्री विनायकराव विद्यालंकार के सम्बन्ध में कुछ लिखने की प्रेरणा हुई है, और यह मेरे लिए अत्यन्त प्रसन्नता का विषय है, अतः मैं इनके जीवन के उस अध्याय की यहां चर्चा करूंगा जिसमें मेरा और इनका अत्यन्त निकट सम्पर्क रहा है।

अनन्त विश्राम के लिए अतीत के गर्भ में विलीन हो रहे सन् १९५५ के अन्तिम क्षणों के शिखर खड़ा हुआ मैं जब विगत पांच दशकों से परे, विस्तृत सुन्दर क्षितिज पर दृष्टि-पात करता हूं तो जो अनेक स्वर्णिम मधु-स्मृतियां वहां जगमगाती प्रतीत होती हैं उनमें चिरसुदृढ़ श्री विनायकराव का रेखाचित्र अपना, विशेष स्थान रखता है।

स्वाधीन भारत में हैदराबाद राज्य का विलयन हो जाने के अनन्तर वहां जो मन्त्रिमण्डल बना, उसमें श्री विनायकराव का नाम देखकर हर्ष अवश्य हुआ किन्तु आश्चर्य तनिक भी नहीं, क्योंकि उनमें इसके लिए योग्यता तो पहले ही विद्यमान थी। श्री विद्यालंकार उन दुर्लभ राजनीतिज्ञों की कोटि में हैं जिनके विषय में 'पंचतन्त्र' के कर्ता विष्णुशर्मा ने कहा है कि "राज्य का हित चाहने वाला प्रजा का प्रिय नहीं रह

सकता तथा प्रजा के कल्याण की कामना करने वाला व्यक्ति शासक की आंखों में खटकने लगता है"। पारस्परिक विरोध की इस विषम परिस्थिति में ऐसा कार्यकर्ता दुर्लभ है जो शासन तथा प्रजा-दोनों का विश्वास भाजन हो, दोनों का प्रिय हो । सौभाग्य से श्री विनायकराव ऐसे ही हैं और इस सफलता का एक मात्र रहस्य है उनकी सरलता तथा सज्जनता ।

छात्र जीवन में इनकी रूचि अध्ययन के साथ साथ कविता, निबन्ध लेखन और वादविवाद आदि विविध साहित्यक अनुष्ठानों की और भी थी । सन् १९१३, १४ में गुरूकुल कांगड़ी की नवम दशम श्रेणियों के कुछ उत्साही छात्रों ने मिलकर साहित्य संजीवनी नामक जिस संस्था की स्थापना की थी ये भी उसके एक प्रधान स्तम्भ थे । उसके साप्ताहिक अधिवेशन में होने वाले वादविवादों में ये विशेष उत्साह से भाग लिया करते थे जिसके परिणामस्वरूप इनकी वक्तृत्वशक्ति का तभी सुन्दर विकास हो गया था । प्रसिद्ध शिक्षाविज्ञ स्वर्गीय श्री श्रीनिवास शास्त्री की यह धारणा थी कि भारतीय शिक्षणालयों में शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी ही उचित है अन्यथा नवयुवकों का मानसिक विकास अधूरा रह जाएगा । वे एक बार गुरूकुल का अवलोकन करने के लिए पधारे । यहां नीचे से ऊपर तक सारी शिक्षा का माध्यम हिन्दी भाषा ही थी, अतः उक्त विषय पर श्री शास्त्री तथा आचार्य रामदेव में खूब विचार विनीमय हुआ और दोनों ही विद्वान् अपने अपने पक्ष पर अटल रहे । श्री शास्त्री महोदय के सम्मान में गुरूकुल में एक सभा का आयोजन किया जा रहा था । श्री शास्त्री ने विचार प्रकट किया कि वे तात्कालिक राजनीति का एक विषय देंगे, और उस पर छात्रों के आशु भाषण सुनना चाहेंगे । आचार्य रामदेव ने इस चुनौती को तुरन्त स्वीकार कर लिया । "दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों की समस्या ।" विषय विचार के लिए दे दिया गया । छात्रों के भाषणों को सुनकर श्री शास्त्री महोदय अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन्होंने स्वीकार किया कि हिन्दी के माध्यम द्वारा शिक्षित होने पर भी गुरूकुल के छात्रों का मानसिक विकास अपरिपक्व नहीं कहा जा सकता । इस वादविवाद के प्रमुख वक्ता श्री विनायकराव ही थे, और इनका भाषण युक्ति युक्त होने के साथ साथ अत्यन्त भावुकतापूर्ण तथा ओजस्वी था ।

साहित्य संजीवनी सभा, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, एक मासिक पत्रिका भी निकाला करती थी । इसका प्रत्येक अंक ५०, ६० पृष्ठ का होता था। जिसका संपादक प्रतिभास कोई नया छात्र चुना जाता था और वह लेख, कहानी, कविता एकांकी आदि का संग्रह कर सारी सामग्री को आदि से अन्त तक, अपने हाथ से लिखता था। चित्रकला के प्रेमी छात्र पत्रिका के लिए बड़े परिश्रम मे तरह तरह के चित्र भी तैयार करते थे। हमारी इस पत्रिका का नाम साहित्य चन्द्रिका था और इसमें हिन्दी तथा संस्कृत भाषाओं के लेख तथा कविता आदि रहते थे । महाविद्यालय विभाग के छात्र भी दो पत्रिकाएं निकालते थे, एक हिन्दी में "राजहंस" दूसरी संस्कृत में 'प्रभा' । इन पत्रिकाओं में नोकझोंक खूब हुआ करती थी और व्यंग्यात्मक कविताओं तथा कहानियों द्वारा परस्पर कटाक्ष भी किए जाते थे जिनसे पाठकों का बड़ा कुतूहल होता था । वे कई दिन पहिले से ही नए अंकों की प्रतीक्षा बड़ी आतुरता से करने लगते थे । अंक निकलते ही गुरूकुल के छोटे से जगत् में एक हलचल मच जाती थी । पत्रिका की केवल एक ही प्रति और पढ़ने वाले पचासों एक साथ । पूज्य आचार्य महात्मा मुन्शीराम जो सन्यास लेकर पीछे स्वामी श्रद्धानन्द नाम से प्रसिद्ध हुए, पत्रिका को, आदि से अन्त तक पढ़ते थे और साधुवाद देकर उत्तम लेखकों का उत्साह बढ़ाया करते थे।

इस चन्द्रिका के तीसरे अंक का संपादन श्री विनायकराव ने ही किया था। इसमें गोलकुण्डा का प्राचीन क़िला शीर्षक इनका ऐतिहासिक लेख पढ़ने योग्य है। चन्द्रिका के दूसरे अंक के सम्पादन का भार इन, पंक्तियों के लेखक पर पड़ा था। उसमें श्री विनायकराव का एक सुन्दर एकांकी "भूतलीला" प्रकाशित हुआ था। यह एकांकी सन् १९१३, १४ में लिखा गया था उस समय इनकी आयु लगभग १६-१७ वर्ष की थी। इस एकांकी में संस्कृत के पुराने नाटकों की पद्धति का अनुसरण करते हुए संस्कृत के साथ साथ प्राकृत भाषाओं के स्थान पर हिन्दी का प्रयोग किया गया है। यह एकांकी छोटा सा है किन्तु इसमें लेखक की सूक्ष्म, स्वतन्त्र प्रतिभा, तथा संस्कृत और हिन्दी दोनों भाषाओं में रचना करने की शक्ति का सुन्दर आभास मिलता है। इसमें नान्दी तथा प्रस्तावना का अभाव ह, इससे विदित होता है कि लेखक प्राचीन परम्परा का अन्धा अनुयायी नहीं है। श्री विनायकराव ने अपने एकांकी के लिए यह विषय क्यों चुना इसकी भी एक मनोरंजक कहानी है। उन दिनों, गुरूकुल से कुछ दूर किसी पहाड़ी ग्राम में एक घर पर पत्थर पड़ने लगे। पत्थर फेंकने वाले का पता न चलता था, अतः यह फैल गया कि भूत पत्थर फेंकते हैं यह प्रवाद गुरूकुल भी पहुंचा। लोग कहने लगे कि आर्य समाज यों ही भूत प्रेत का खण्डन करता है, जिसे विश्वास न हो वह वहां जाकर देख ले। आचार्य जी को चिन्ता हुई कि बच्चों के मन पर संस्कार पड़ रहा है, यह ठीक नहीं। उन ही दिनों गुरूकुल में एक स्वामी सदानंद ठहरे हुए थे, आचार्य जी ने उन्हें मामले की छानबीन के लिये भेजा लोट कर स्वामी जी ने भी भूत संबन्धी प्रवाद की पुष्टि ही की। इस पर गुरूकुल के कुछ बड़े छात्रों ने वहां स्वयं जाकर जांच करने की इच्छा प्रकट की, आचार्य जी ने उन्हें स्वीकृति प्रदान कर दी। वहां पहुंचकर छात्रों ने दो तीन दिन सतर्कता से काम लिया तो पता लगा कि उस घर की एक स्त्री, जो किसी बात पर असंतुष्ट थी, आंख बचाकर चुपके से पत्थर फेंक दिया करती थी। छात्रों ने उसे पकड़ लिया और इस प्रकार यह भूतलीला समाप्त हुई। इस घटना से श्री विनायकराव की कर्तृत्वशील प्रतिभा को प्रेरणा मिली और उन्होंने "चन्द्रिका" के मेरे वाले अंक के लिए एक एकांकी लिख डाला। इस एकांकी में स्वामी जी तो स्वामी जी ही रहे किन्तु घटना के नायक नायिका डोम डोमनी लेखक की लेखनी के पारस-स्पर्श से राजा रानी बन गए। यह छोटा सा नाटक आदि से अन्त तक उत्सुकता, सजीवता तथा सरसता से ओतप्रोत है। भूतबाधा की शान्ति के लिए देवी के सामने बकरे की बलि अपने हाथ से करने के लिए राजा को कहा जाता है किन्तु राजा इससे घृणा करता ह। अन्त म एक प्रज्ञाचक्षु पुरुष की बुद्धिमता से भूत पकड़ लिया जाता है और बकरे की भी जान बच जाती है। इतनी छोटी आयु में ही श्री विनायकराव को संस्कृत भाषा पर कितना अधिकार प्राप्त था और वे उसमें कैसी सुन्दर पद्य रचना कर लेते थे इसके लिए हम एक दो उदाहरण दिए बिना आगे नहीं बढ़ सकते। राजा बलिदान के लिए बकरे को ले जाते समय सोच रहा है।

"अद्यावधि प्रतिदिनं मधुरोपहारैरभ्यर्चिताऽपि सुचिरं कुलदेवतेयम्।
हा हा प्रसीदति न मे, किमहं करोमि, यामि क्व वा कमथवा शरणं व्रजामि॥
कर्तव्यमस्ति मम घोरतरं नृशंसं, यच्छागलं खलु नयामि बलिक्रियार्थम्।
देव्याः पुरस्तु (विचिन्त्य) न मया कृतपूर्वमेतद् घातं करोमि कथमद्य विदन्नवद्यम्॥

अन्त में एक प्रज्ञाचक्षु आता है और वह राजा से प्रश्न करता है—

प्रज्ञाचक्षु—किं जातं भवतो गृहेषु ?

राजा—भगवन् भूतप्रकोपो महान्।
प्रज्ञाचक्षु—भूतं किं विदधाति ?
राजा—हन्त निभृतं पाषाणपातं सदा।
प्रज्ञाचक्षु—भूतं किंचिदिहास्ति वस्त्विति बुधः को वक्ति ?
राजा—सर्वे जनाः
प्रज्ञाचक्षु—आसीत्, नास्त्यधुना तु, यज्जगति तद् भूतं, तदन्यन्मृषा ॥"

इस समय अकस्मात् फिर एक पत्थर गिरता है और प्रज्ञाचक्षु राज परिवार की एक स्त्री को पकड़ने के लिए संकेत करता है और इस आशीर्वाद के साथ एकांकी समाप्त हो जाता है—

विज्ञानं परितः सृतं भवतु, सोऽ विद्यान्धकारः सदा,
नाशं यातु, विघटय मोहजलदं चण्डांशुरुज्जृम्भताम्।
प्रच्छिन्नानि भवन्तु देव सततं जालानि मायाविनां,
वेदोक्तः प्रकटीकृतः प्रसरतात् धर्मश्च लोकेऽखिले ॥

इस प्रकार हम देखते हैं की छात्र जीवन में ही श्री विनायकराव में बहुमुखी विविध शक्तियों का अद्भुत समन्वय था, ये प्रभावशाली वक्ता, सफल लेखक, प्रतिभा सम्पन्न कवि तथा नाटककार, हाकी, फुटबाल के अच्छे खिलाड़ी और प्रबन्ध पटु व्यक्ति थे। गुरूकुल की शिक्षा समाप्त कर ये बैरिस्टरी पास करने के लिए इंग्लैण्ड भेजे गए। यद्यपि वह आयु ऐसी थी जब नवयुवक स्वभाव से ही चंचल होता है तथा नानाप्रकार के प्रलोभनों में अनायास ही फंस जाता है तथापि श्री विनायकराव वहां भी अपने आचार विचार में दृढ़ रहे। चरित्र की यह दृढ़ता ही इनके भविष्य जीवन की सफलता का मुख्य आधार है।

ये आज अपने जीवन के ६१ वर्ष पूर्ण कर ६२ वें में पदार्पण कर रहे हैं इस शुभ अवसर पर हम हृदय से इनकी संवर्धना करते हैं और चाहते हैं कि ये दीर्घायु हों, फलें फूलें, इनका शरीर स्वस्थ, मस्तिष्क सन्तुलित, हृदय उदार तथा जीवन सुखी हो।

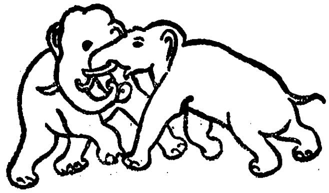

वागीश्वर विद्यालंकार, एम्. ए., साहित्याचार्य
रजिस्ट्रार, गुरूकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

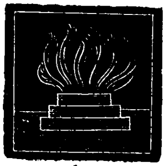

श्रीयुत विनायकराव का हास्य

जिन बातों पर औरों को क्रोध आता है और वे गुस्से में आकर बिगड़ने लग जाते हैं उन बातों पर श्री विनायकराव को हँसी आती है ऐसी हँसी जिसमें किसी प्रकार की गरमी या कटुता की गुंजाइश ही नहीं होती। उस हँसी में दूसरे की स्थिति को जहां समझने का प्रयत्न होता है वहां उसमें एक प्रकार की दया और करूणा का भी मिश्रण रहता है। मैंने ऐसी कई घटनाओं के सम्बन्ध में उनकी मानसिक अवस्था का विश्लेषण करने का प्रयत्न किया है जो यदि किसी दूसरे के साथ घटित होतीं तो वह क्रोध में अपनी मनः स्थिति पर इस प्रकार शान्ति और सौम्यता से नियंत्रण न रख सकता। मैंने कई बार तो यहां तक देखा है कि साथ का व्यक्ति जितना अधिक उग्र रूप हो जाता है उनकी आंखों और मुख पर उतनी ही अधिक हँसी खेलने लग जाती है। वे एक विज्ञान के विद्यार्थी हैं और इसलिए स्वभावतः उनकी बड़ी बड़ी आँखें वस्तुस्थिति का पूर्णतया विश्लेषण कर उसे समझना चाहती हैं और जब वे वस्तुस्थिति को समझ लेती हैं तो उन्हें व्यक्तिगत रूप में न लेकर एक ऐसे सामान्य रूप में ग्रहण करती हैं कि उनके हृदय में व्यक्ति के

प्रति तो सहानुभूति या करुणा उत्पन्न हो जाती है और स्थिति की विषमता और विचित्रता की उसे ऐसे रूप में उपस्थित कर देती है जिससे हँसी का प्रादुर्भाव होता है।

हँसी साधारणतया ऐसी अवस्थाओं से उत्पन्न होती है जो कि असाधारण और विचित्र होती है और जो कि अपने चारों ओर से वातावरण से मेल नहीं खाती। यह असाधारण बेमेलपन हँसी का कारण बन जाता है। कइयों की हँसी इस प्रकार की होती है जो कि उग्र होती है और अपनी उग्रता के कारण झगड़े का कारण बन जाती है परन्तु श्री विनायक राव की हँसी में किसी प्रकार की उग्रता या कटुता नहीं होती उसमें सौम्यता और एक प्रकार की कोमलता होती है और इसीलिए वह मधुर होती है। वह करुणा और सहानुभूति से उत्पन्न होती है, किसी प्रकार के विद्वेष या अहंकार की भावना से नहीं। उनकी हँसी इस प्रकार की होती है जिसमें कि जो हँसी का पात्र होता है वह भी हँसता है और जो हँसानेवाला होता है वह भी हँसता है। श्री विनायक राव की हँसी में एक प्रकार की मुक्तता है किसी प्रकार का रिजर्वपना नहीं। उसका हास्य स्वभाविक होता है, उसमें किसी प्रकार की कृत्रिमता नहीं होती। हँसी में भी एक प्रकार की हीनता और उच्चता की मनोवृत्ति होती है। जिस की हँसी उड़ाई जाती है उसे हीनता और उपेक्षा की दृष्टि से देखा जाता है और जो हँसनेवाला होता है वह अपने आपको उच्च और श्रेष्ठ समझता है इस कारण इस प्रकार की हँसी में कटुता और वैमनस्यता का आ जाना स्वाभाविक और अनिवार्य है परन्तु जिस हँसी में इस प्रकार की हीनता या उच्चता की मनोवृत्ति नहीं होती वह हास्य मधुर होता है और सबके हृदय को अपने प्रकार के भोलेपन से गुदगुदा देता है। वह दुःखी और रोनेवालों को भी हँसा देता है।

जो चीज हलकी-फुलकी होती है वही हँस सकती है। हँसी वातावरण में एक तैरनेवाली वस्तु के समान हलकी होती है। फूल हलका-फुलका होता है और इसी कारण वह सिरों पर लगाया जाता है। यदि फूल में बोझ होता तो उसे सिर पर कौन लगा सकता था? इसके विपरीत जो वस्तु वजन में भारी होती है वह नीचे बैठ जाती है। फूल जैसी हलकी-फुलकी चीज सदा हँसती रहती है और भारी वस्तु जो बोझ बन कर बैठ जाती है हँसी का पात्र बन जाती है। श्री विनायक राव यद्यपि शरीर में तो हलके-फुलके नहीं हैं—कुछ भारी-भरकम ही हैं—परन्तु उनके तबीयत में एक प्रकार की Buoyancy है, उसमें एक प्रकार का हलका-फुलकापन है। इसी मनोवृत्ति के कारण वे प्रत्येक वस्तु और घटना को अत्यन्त सरलता और हलके-फुलकेपन सें लेते हैं—वे उसमें किसी प्रकार फँसने नहीं पाते। कोई घटना—चाहे वह कितनी ही बोझल क्यों न हो—बहुत देर तक उनके दिल पर नहीं बैठ सकती। थोड़े से समय में ही उनका दिल उस पर हावी हो जाता है और इसी कारण वे किसी बड़े से बड़े नुकसान या बड़ी से बड़ी दुर्घटना पर झट काबू पा लेते हैं और ऐसी स्थिति में आ जाते हैं कि वे उस पर स्वच्छन्दता से हँसने लग जाते हैं। बहुत-से लोग तो इस प्रकार के होते हैं जो हँसने पर रोते हैं परन्तु श्री विनायक राव उन लोगों में से हैं जो रोने पर भी हँसते हैं, और इसी कारण कई बार ऐसा अनुभव होता है कि वे इस संसार के व्यक्ति नहीं हैं।

श्रीयुत विनायक राव से जो लोग अच्छी तरह परिचित हैं वे इस बात को जानते हैं कि जब कभी वे अपनी मुख-मुद्रा को गम्भीर बनाकर बैठते हैं तो उनमें कुछ कृत्रिमता और अस्वाभाविकता-सी प्रतीत

होने लग जाती है। यद्यपि वे उस समय अपनी परिस्थितियों और समय के अनुसार गम्भीर होते हैं परन्तु उनको देखते हुए कुछ ऐसा प्रतीत होता है जैसे कि वे बन रहे हों और सत्य तो यह है कि मुझ जैसे व्यक्तिको उनकी उस गम्भीर मुख-मुद्रा को देखकर हँसी सी आने लग जाती है परन्तु ज्यों ही उनकी मुख-मुद्रा बदलती है और वे अपनी स्वाभाविक मुद्रा में आ जाते हैं तब हँसी उनके मुख पर स्वयं खेलने लग जाती है। वे चाहे हज़ार गम्भीर परिस्थितियों में रखे जाएँ वे उन व्यक्तियों में से हैं जो हँसे और हँसाए बिना रह ही नहीं सकते। हँसना और हँसाना उनका जीवन है, इसीसे उन्हें शक्ति प्राप्त होती है और यही वस्तु उन्हें जीवन की हज़ारों कठिनाइयों और विघ्न-बाधाओं से पार लगा देती है। जहाँ दूसरे जीवन में कुछ गहरे पानी में ऊब-डूब करने लग जाते हैं वहाँ वे उसमें से आसानी से तैरकर पार हो जाते हैं।

उन्हें यदि हँसने के लिए कोई और वस्तु न मिले तो वे अपने आप पर ही हँसने लग जाते हैं। वे एकमात्र औरों पर ही नहीं अपने पर भी हँसना जानते हैं, और दूसरों के सामने मज़े लेले कर अपने जीवन की ऐसी घटनाएँ रखते हैं जिनसे वे अपने ऊपर खूब खुलकर हँसते हैं और दूसरों को हँसाते हैं। उन्होंने एक कहानी लिखी है जिसका शीर्षक है "हँसूं या रोऊँ"। इस कहानी में उन्होंने जीवन की कुछ ऐसी सच्ची घटनाओं को उपस्थित किया है जिसे पढ़ने और विश्लेषण करने से हम श्री विनायक राव की उस मानसिक दृष्टि की कुछ झलक पा सकते हैं जिससे वे इस संसार की घटनाओं का गहराई से पर्यवेक्षण करते हैं। क्योंकि यह एक कहानी ही नहीं है ; इसमें उन्होंने कुछ घटनाओं को उसी रूप में प्रस्तुत किया है जिस रूप में कि उन्होंने उन्हें देखा और अनुभव किया है। मेरी सम्मति में उस कहानी का शीर्षक "हँसूं या रोऊँ" के स्थान में "रोऊँ या हँसूं" होना चाहिए था। क्योंकि वे इस कहानी में चाहते तो रोना है परन्तु हँस पड़ते हैं और उनकी अधिकांश कहानियां इसी प्रकार की हैं और उनकी इसी मानसिक स्थिति का परिदर्शन कराती हैं। उन कहानियों में भी ऐसी घटनाओं को प्रस्तुत किया गया है कि जिनके केन्द्रबिन्दु में हमें रुदन की झलक प्राप्त होती है परन्तु ज्यों ही यह रुदन आँसुओं में फूट उठना चाहता है —वह हँसी में ठीक उसी प्रकार परिवर्तित हो जाता है जैसे कि अत्यन्त गम्भीरता हँसी में परिवर्तित हो जाती है।

वंशीधर विद्यालंकार
प्रिन्सिपल, नानकराम भगवानदास कॉलेज,
हैदराबाद-दक्षिण

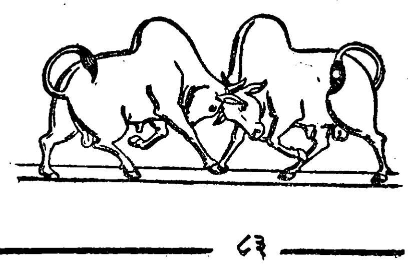

शौर्य

श्री विनायकराव : एक अन्वीक्षक : एक कथाकार

उस्मानिया विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के भूतपूर्व अध्यक्ष प्रो. श्री वंशीधर विद्यालंकार ने " चाबुक " कहानी-पुस्तक की भूमिका में लिखा है : "श्रीयुत विनायकराव का अधिकांश जीवन हैदराबाद के सार्वजनिक क्षेत्र में व्यतीत हुआ है । सर्वजन के सम्पर्क ने उन्हें जहां एक ओर नेता और मिनिस्टर बनाया है, वहां दूसरी ओर मानव जीवन का अन्वीक्षक और अध्ययनकर्त्ता भी। उनकी आंखें मानव स्वभाव का अन्वीक्षण करती हैं, हृदय चुटकियां लेता है और ओठों पर हास्य खेलता रहता है । इसी अन्वीक्षण, चुटकियों और हास्य ने मिलकर उन्हें एक कथाकार का रूप प्रदान किया है।" इस निष्कर्ष के द्वारा श्री विनायकराव के साहित्यिक जीवन का ही नहीं, अपितु उनके समग्र व्यक्तित्व, मनः स्थिति और उनके जागतिक दृष्टिकोण का भी एक आभास हमें प्राप्त होता है । उनका जीवन अधिकांश में सार्वजनिक रहा है और जगत् के प्रति उनकी अनुभूतियां हास्य, संवेदना, मधुरता, उन्मुक्तता से मुखरित रही है। उनका सार्वजनिक जीवन से सान्निध्य कुछ इतना अधिक मुखर और उन्मुक्त है कि हम हठात् ही जीवन के प्रति आश्वस्तता और मधुरिमा के विचित्र भावों में अभिभूत-से रहजाते हैं। उनका बाल्य और शैशव हिमालय

श्रीयुत विनायक राव अपनी धर्मपत्नी लक्ष्मी देवी के साथ

की उपत्यिका में बीता ; जहां उन्होंने भारतीय संस्कृति से अनुप्राणित गुरुकुल की शिक्षा मनोयोगपूर्वक ग्रहण की; अपने तारुण्य में उन्होंने इंग्लैण्ड जैसे आधुनिक जीवन–मान के आकर्षण–विकर्षणों से उद्वेलित देशमें कानून की शिक्षा प्राप्त की ; तत्पश्चात् अपना सारा जीवन उन्होंने 'सर्व जन हिताय' की कामना में उत्संगित कर दिया। अपने ध्येय के अनुसार उन्होंने जीवन के विभिन्न क्षेत्रों को ग्रहणकिया—वकील, समाज सुधारक, आन्दोलनकर्त्ता, शिक्षा शास्त्री, पत्रकार और यहां तक कि कथाकार। साहित्य सृजन के सम्बन्ध में सामान्यतः धारणा कुछ ऐसी है कि वह अमूर्त्त का चिन्तन और अङ्कन ही अधिक करता है और कथा-साहित्य के सम्बन्ध में तो धारणा प्रचलित है कि उसमें अकल्पित जीवन का चित्रण करने वाले मनोरंजन तत्त्व ही अधिकाधिक प्रचुर होते हैं। अंशतः ही ऐसा कहा जा सकता है। तथ्य यह है कि कथा जीवन का मूर्त्त विहंगावलोकन है। कथा के इस मूल पक्ष की पुष्टि श्रीमती क्लारा रीव, ने इस प्रकार की है —

"कथा यथार्थ जीवन और तात्कालिक रीतिरिवाज़ों और परिस्थितियों का एक सामान्य चित्र है।" क्लारा रीव की इस व्याख्या को एक अन्य कथा–समीक्षक क्रास ने अधिक स्पष्ट करते हुए लिखा है "वर्तमान जीवन का यथार्थवादी विधि से अंकन करने वाला गद्य कथा-साहित्य कहलाता है।"

श्री राल्फ़ फ़ाक्स ने और भी स्पष्ट कर दिया है—"कथा गद्य में लिखी गई कथा-मात्र ही नहीं है ; वह तो मनुष्य के सत्य और शाश्वत् जीवन का गद्य है। कथा कला का वह प्रथम रूप है, जिसमें समग्र मनुष्य को समझने और अभिव्यक्त करने के प्रचुर तत्व सन्निहित होते हैं।"

हमारा कहने का अभिप्राय यह है कि श्री विनायकराव ने कथा के माध्यम में न केवल जीवन को यथाशक्य मूर्त्तता प्रदान की है, अपितु इसी प्रयास की पृष्ठभूमि में उनका कथा–सृजन सप्राण और सार्थक भी बन गया है। उनकी कथा पुस्तक 'चाबुक' में संगृहीत कहानियां साहित्य के शिल्प, सौष्ठव आदि दृष्टिकोणों से भले ही आलोच्य कही जा सकती हों, किन्तु उनका जीवन का पक्ष इतना उज्ज्वल और स्पष्ट है कि जीवन के पृष्ठ पर पृष्ठ खुलते चले जाते हैं और उन पृष्ठों में जो सजीवता, सादगी और स्वच्छता उपलब्ध होती है, उससे हमें स्वतः ही कभी मुग्ध, कभी विस्मित हो जाना पड़ता है। श्री विनायकराव का मानव जीवन का अन्वीक्षण कुछ इतना अधिक गंभीर है और इसीके परिपार्श्व में उन्हों ने अपनी कहानियों की रचना की है।

उनकी कहानियों का वर्ण्य–विषय सीधा-साधा जीवन परक है ; सूक्ष्म और सहज चित्रण उनकी शैली है और यही शैली उनकी कहानियों में प्रभावकारी सौष्ठव का समावेश कर देती है। जिस प्रकार– जीवन एक अविराम गति है, उसमें भूलचूक बहुत -कुछ होती है, पर वह अदम्यता से आगे आगे चलता ही जाता है ; मानो आगे चलने में ही उसकी सार्थकता सन्निहित है—श्री विनायकराव की कहानियों में बहुत-कुछ ऐसा अविरत प्रवाह हमें उपलब्ध होता है और उसमें हम निःसन्देह ही व्यक्ति, जीवन और जगत का इतना सूक्ष्म और हृदयग्राही पर्यवेक्षण पाते हैं कि अप्रतिहत भाव से अभिभूत से हो उठते हैं। लगता है, कहानियों के माध्यम में जो कहा गया है, वह हमारे अपने अन्दर ही कहीं अन्तर्निहित तो नहीं है। साथ ही हम मर्माहत से रह जाते हैं—कुछ ऐसी चोटें ये आलोच्य कहानियां अनायास ही कर जाती हैं।

श्री विनायकराव की कहानियों की भाषा और शैली उनके व्यक्तित्व से अधिकाधिक अनुप्राणित प्रतीत होती है और हमें तो यह भी आभास होता है कि इन कहानियों में या तो श्री विनायकराव का व्यक्तित्व

यत्र-तत्र बिखरी पड़ी हैं अथवा इनका अस्तित्त्व उनके निजी संस्मरणों, अनुभवों या सम्पर्कों में ही आत्मसात् है—हमारा मूल निष्कर्ष यह है कि इन कहानियों का स्वयं का अपना अस्तित्व प्रतीत नहीं होता—सामान्य कथा-तत्व के सैद्धान्तिक विवेचन को दृष्टिगत रखते हुए—हमारे निष्कर्ष को ये कहानियां बहुत अंशों में स्वतः ही स्पष्ट कर देती हैं। हम कहना चाहेंगे कि इन कहानियों का वर्ण्य-विषय मनोविश्लेषणात्मक होने के नाते शाश्वत होते हुए भी प्रशस्त नहीं—प्रायः सारी कहानियां एक ही वर्ण्य-विषय और उसकी संकल्पित मनोभूमिके ऊपर सप्रयास संतुलित की गई प्रतीत होती हैं—उनका बहुत-कुछ रूप कुछ संस्मरणों सा, कुछ रेखाचित्रों-सा और अधिक स्पष्ट करें तो कहानी, रेखाचित्र और संस्मरण का एक अद्भुत समन्वित दृश्य भी हमें इन कहानियों में मिल जाता है। जो हो, इन कहानियों के वर्ण्य-तत्व और भाव-भूमि में भव्यता, प्रवाह, आकर्षण—साथ ही जीवन की विरोधाभासात्मक प्रवृत्तियां, मानव मन की चिर चिरन्तन कुण्ठाएँ, तिरस्कार, विकर्षण और पश्चात्तापकारी वातावरण—अपने व्यक्तित्व और विशिष्टता के साथ मुखरित होता है। इन कहानियों में एक विशेषता की बात और उल्लेखनीय है—इनमें व्यक्ति और जीवन की कटु विकृतियों, कृत्रिमताओं तथा सम्भवतः वातावरणजन्य अवशताओं की पृष्ठभूमि में बड़ा प्रखर चित्रण किया गया है। मगर चित्रण के उत्तरोत्तर विकास के परिपार्श्व में से ऐसे व्यक्तित्व का भी क्रमिक विकास होता चलता है, जिसमें मानव विकृतियों के लिए व्यंग्य के साथ ही उनके लिए गहरी सहानुभूति और संवेदना भी है—और व्यक्तित्व के इस व्यंग्य में सहानुभूति संवेदना, की भावनाओं में हमें निश्छलता, अकृत्रिमता सर्वत्र छलछलाती मिलती है। यह निश्छलता और अकृत्रिमता तो स्वयं विनायक राव जी के जीवन में आत्मसात है और सम्भवतः इसीलिए जैसा अनुभव किया, सोचा अथवा जैसा कहना चाहा, विनायक राव जी ने अपनी कहानियों में कह डाला। कहानियों में जो कहा गया है, उसे संवारकर, भाषा, भाव शैली और सौष्ठव को सँजोकर कहने का प्रयास भी मानो उन्होंने कहीं नहीं किया है।

श्री विनायक राव के कहानी-संग्रह 'चाबुक' में संगृहीत 'दुनिया तेरा नाम झूठ है', 'पूने का आतिथ्य', 'मैं कितना प्रसन्न हूं', जंगल की कली' 'हँसू या रोऊँ', तहसीलदार', 'परिवर्तन', 'पुर्नमिलन', सरदारजी' 'घर का चोर', 'छुटकारा', 'टेलीफ़ोन', 'परामर्श', 'रास्ते की झड़प', आदि कहानियों में समग्रतः व्यक्ति, जीवन और मनोविश्लेषण के जो तथ्य शाश्वत हैं अधिकांश में प्रखर है और जिनका हम सभी के जीवन-मानों पर अप्रतिहत प्रभाव है, उसका अङ्कन श्री विनायक राव ने हास्य, व्यंग्य, सहानुभूति और संवेदना को पृष्ठभूमि में जिस अकृत्रिमता और निश्छलता से किया है, उससे उनकी सारी कहानियों में एक व्यक्तिगत वैशिष्टय प्रतीत होता है।

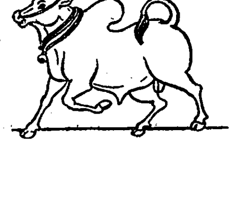

ज्ञानेन्द्रकुमार भटनागर, एम० ए०
हैदराबाद–दक्षिण

राजनैतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक आंदोलन

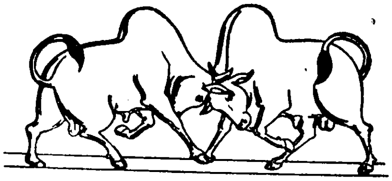

चरन् वै मधु विन्दति

चरैवैति चरैवैति

—वेद

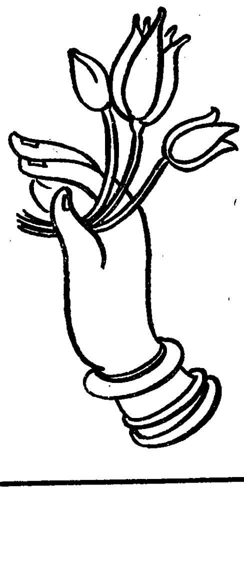

—महर्षि दयानन्द सरस्वती

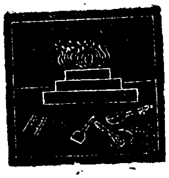

शुद्धि

उन्नीसवीं शती के धार्मिक आन्दोलन और आर्यसमाज

वर्तमान भारत की आश्चर्यजनक उन्नति और स्वतंत्रता प्राप्ति का एक महत्वपूर्ण स्रोत उन्नसवीं शती के धार्मिक आन्दोलन हैं। यूरोप के आधुनिक इतिहास में सोलहवीं शती में जो स्थान लूथर, कल्विम आदि द्वारा प्रवर्तित धार्मिक सुधार को है, वही नव भारत में राममोहन राय, स्वामी दयानन्द, रामकृष्ण परमहंस आदि द्वारा चलाए गए नवीन धर्म सुधार आन्दोलन को है। इनसे भारत शताब्दियों की मोह-निद्रा का परित्याग कर जागृत, स्वतंत्र और उन्नति पथ पर अग्रसर हुआ। इन आन्दोलनों में ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज, थियोसोफ़ी और आर्य समाज विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। यहां सब का संक्षिप्त एवं तुलनात्मक विवेचन करते हुए आर्यसमाज के आन्दोलन का मूल्यांकन किया जाएगा।

ये आन्दोलन भारत में ब्रिटिश शासन स्थापित होने से उत्पन्न नवीन परिस्थितियों का परिणाम थे। प्रारम्भ में ईस्ट इंडिया कम्पनी ने अपने व्यापार की सुरक्षा की दृष्टि से ईसाई प्रचारकों द्वारा ब्रिटिश प्रदेश में धर्म प्रचार पर प्रतिबन्ध लगाया हुआ था। उस समय कम्पनी की नीति यह थी कि शासितों की

सद्भावना प्राप्त करने के लिए इनके धार्मिक समारोहों में कम्पनी सोत्साह भाग ले। कट्टर ईसाइयों को यह कुफ़्र प्रतीत होता था और वे ब्रिटिश प्रदेश में ईसाईयत के प्रचार पर लगे प्रतिबन्ध को हटाने का आन्दोलन कर रहे थे। अन्त में उन्हें सफलता मिली और १८१३ ई० के कम्पनी के चार्टर द्वारा मिशनरियों को कम्पनी द्वारा शासित प्रदेश में ईसाईयत के प्रचार की अनुमति दी गई। इनका विषैला प्रचार और अंग्रेजी शिक्षा का प्रभाव उपर्युक्त धार्मिक आन्दोलनों के प्रधान कारण थे। अधिकांश शिक्षितों की नास्तिकता, संदेहवाद और आचार शैथिल्य समझदार भारतीयों के हृदयों को संतप्त कर रहा था। मिशनरी हिन्दू धर्म और इस्लाम का भद्दा मज़ाक उड़ाकर साधारण जनता में इन धर्मों के प्रति जमी हुई आस्था खोखली कर रहे थे। इन परिस्थितियों से उत्पन्न होने वाली धार्मिक सुधार प्रवृत्तियों के भेद से तीन और कालों में विभक्त की जा सकती हैं। पहला काल बीज-वपन या तैयारी का था, दूसरा उग्र सुधार आन्दोलनों का तथा तीसरा कट्टर सुधार आन्दोलनों का।

उन्नसवीं शती के पहले २८ वर्ष इन धार्मिक आन्दोलनों की तैयारी का समय था। १८२८ से १८७० तक उग्र सुधार आन्दोलनों की प्रबलता रही। इस समय के सुधारक हिन्दू धर्म में आमूल परिवर्तन करना चाहते थे। इनमें ब्रह्म समाज और प्रार्थना समाज प्रमुख हैं।

ब्रह्म समाज ने हिन्दू धर्म में अनेक मौलिक सुधार करने चाहे और तर्कवाद (Rationalism) के नाम पर उसने धीरे धीरे सभी मौलिक या आधारभूत हिन्दू सिद्धान्तों का त्याग किया। मूर्ति-पूजा और जाति भेद की कुरीतियों के विरुद्ध प्रचार करते हुए, ब्रह्म समाज ने शीघ्र ही वेदों की निर्भ्रान्तिता और कर्मवाद आदि प्रमुख हिन्दू सिद्धान्तों को तिलांजलि दे दी। १८७२ के स्पेशल मैरिज ऐक्ट से ब्रह्म समाज ने कानूनी दृष्टि से भी अपने को शेष हिन्दू समाज से पृथक् कर लिया। प्रार्थना समाज के सुधार ब्रह्म समाज के सुधारों के साथ समानता रखते थे। किन्तु प्रार्थना समाजी कभी हिन्दुओं से पृथक् नहीं हुए।

१९ वीं शती का अंतिम चरण उग्र सुधार आन्दोलनों की प्रतिक्रिया का काल था। हिन्दू धर्म के समर्थक उस समय तक सचेत हो चुके थे और उन्होंने न केवल ईसाइयों के ख़तरे को अनुभव किया, किन्तु उग्र सुधार आन्दोलनों को सुधारों द्वारा हिन्दू धर्म के मौलिक सिद्धान्तों की उपेक्षा एवं तिरस्कार को भी भली भांति अनुभव किया। ५० वर्ष पहले जहां हिन्दू धर्म शिक्षित समाज में निरादर एवं निन्दा की दृष्टि से देखा जाता था; उसके अनुष्ठानों और क्रियाकलाप की हंसी उड़ाई जाती थी वहाँ अब उसी हिन्दू धर्म का तथा उसके सभी तत्वों का समर्थन एवं सुन्दर व्याख्या की जाने लगी और प्रत्येक हिन्दू प्रथा और रूढ़ि की चाहे वह कितनी दूषित और समाजिक दृष्टि से हानिकर क्यों न हो—आलंकारिक ढंग से इस प्रकार व्याख्या की जाने लगी कि वह प्रथा स्पृहणीय और आदर्श समझी जाए। इस प्रकार के आन्दोलनों में श्री रामकृष्ण परमहंस तथा स्वामी विवेकानन्द का प्रचार और थियोसोफ़ी मुख्य थे।

इसी समय ऋषि दयानन्द के नेतृत्व में आर्य समाज का आन्दोलन शुरू हुआ। यह आन्दोलन १९ वीं शती के धार्मिक आन्दोलनों में अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है। न तो यह आन्दोलन ब्रह्म समाज के आन्दोलन की तरह उग्र था तथा मौलिक हिन्दू सिद्धान्तों का परित्याग करने वाला था और न ही थियोसोफ़ी आदि कट्टर आन्दोलनों की तरह समाज में प्रचलित प्रत्येक प्रथा रूढ़ि का समर्थन था यह हिन्दू धर्म के मूल तत्वों वेद, ईश्वर और कर्म आदि के सिद्धान्तों को सुरक्षित रखते हुए प्रचलित कुरीतियों एवं

बुराइयों को दूर कर हिन्दू जाति को सबल एवं संगठित तथा भारतीय राष्ट्र को उन्नत एवं स्वतंत्र बनाना इस आन्दोलन का परम लक्ष्य था। कालक्रम से इन आन्दोलनों के विकास की संक्षिप्त रूप रेखा का तथा उनमें तथा आर्य समाज के विशिष्ट महत्व का ज्ञान उपयोगी एवं शिक्षाप्रद है।

उग्र सुधार आन्दोलन :—

ब्रिटिश शासन की नींव सबसे पहले बंगाल में पड़ी। अतः इन धार्मिक सुधार आन्दोलनों का प्रारम्भ भी बंगाल से ही हुआ। बंगाल में इस आन्दोलन के जन्मदाता राजा राममोहन राय १७७२, से १८३३ ई०तक थे। इनकी जाति ब्राह्मण और पैतृक व्यवसाय मुसलमान शासकों की सेवा थी। बचपन में श्री राममोहन राय ने अरबी फ़ारसी पढ़ी। वे सूफ़ी और मोतज़ली सम्प्रदायों की विचारधारा से प्रभावित हुए। बाद में उन्होंनें बनारस में संस्कृत का अध्ययन किया और अपनी सहज तत्वान्वेषिणी बुद्धि से शीघ्र ही यह अनुभव किया कि सब धर्म एक ईश्वर को मानते हैं और सम्प्रदायों के झगड़े व्यर्थ हैं। घर लौट कर १६ वर्ष की अवस्था में मूर्तिपूजा विरुद्ध एक पुस्तिका लिखकर आपने बंगला भाषा में सर्व प्रथम गद्य-रचना की। उनके पिता रमाकान्त मूर्तिपूजा के विरोध से उन पर कुपित हो गए और उन्होंने पुत्र को घर से निकाल दिया। राममोहन राय घर से निकल कर सत्य की खोज में इधर उधर घूमते रहे। कुछ लोगों का विचार है कि वे बौद्ध धर्म के अध्ययन के लिए तिब्बत चले गए। कुछ समय बाद पिता का रोष शान्त हो गया और विद्रोही पुत्र को उन्होंने घर बुला लिया।

१७९६ ई० से ही उन्होंने अंग्रेजी का अभ्यास शुरू कर दिया था और १८०४ ई० में रंगपुर की कलक्टरी में वे मुहर्रिर हुए। अपने कार्य में उन्नति करते हुए वे सरिश्तेदार के पद तक पहुंचे और १० वर्ष माल विभाग में सेवा कर, पर्याप्त वित्तोपर्जन कर उन्होंने सेवा से अवकाश ग्रहण किया। इस सारे समय में, वे बौद्ध, हिन्दू, जैन आदि धर्मों का अध्ययन करते रहे। १८११ ई० में उन्होंने एक दारुण दृश्य देखा और इसने उनके जीवन पर गहरा प्रभाव डाला। उनके बड़े भाई जगतमोहन के मरने पर उनकी स्त्री को प्रचलित प्रथा के अनुसार सती होने के लिए बाध्य होना पड़ा। वह चिता पर बैठी, पर जब उसे चिता की ज्वाला सह्य न हुई तो वह वहां से उठ कर भागी। उसके संबंधी धर्म का यह उल्लंघन कैसे सहन कर सकते थे, उन्होंने उसे जबर्दस्ती चिता पर रस्सियों से कस कर बांधा ताकि वह भाग न सके। उसका करुण चीत्कार दर्शकों के हृदयों को विदीर्ण कर रहा था। उस चीत्कार से त्राण पाने के लिए सम्बन्धियों ने शंख, खड़ताल तथा अन्य वाद्य बजाने शुरू किये ताकि उस अबला का आर्त्तनाद किसी व्यक्ति को कर्णगोचर न हो। इस हृदय विदारक घटना ने राममोहन राय को सती प्रथा का कट्टर विरोधी बना दिया और उनको तीव्र आन्दोलन के फल स्वरूप १८२९ ई० में यह अमानुषी प्रथा कानून द्वारा बन्द कर दी गई।

कम्पनी की नौकरी से छुट्टी पाकर कलकत्ते में बसकर उन्होंन सारा समय धर्मों के अध्ययन में बिताना शरू किया। उन्होंने उपनिषदों व वेदान्त दर्शन के बंगाली और अंग्रेज़ी में अनुवाद लिखे और प्राचीन हिन्दू धर्म की ओर लौटने तथा उपनिषदों के शुद्ध ईश्वरवाद की उपासना पर बल दिया। उन्होंने थोड़ी यूनानी और इबरानी भी सीखी और ईसा के चमत्कारों के अंश को निकाल कर ईसा की जीवनी तथा उपदेशों को बंगला और संस्कृत अनुवाद के साथ

प्रकाशित किया। ईसाई ईसामसीह के चमत्कारों से शून्य ईसामसीह के उपदेशों के प्रकाशन से बहुत चिढ़े और दोनों ओर से उत्तर प्रत्युत्तर का क्रम आरम्भ हुआ। ईसाई मिशनरियों ने विद्वेषवश जब उनके प्रत्युत्तर छापने से इनकार किया तो उन्होंने अपना छापाखाना खोलकर ईसाइयों के विषमय प्रचार तथा हिन्दू धर्म पर मिशनरियों द्वारा भद्दे आक्षेपों का निराकरण किया। शुद्ध ईश्वरवाद की उपासना के लिए उन्होंने २० अगस्त १८२८ को चितपुर रोड़ पर ब्रह्म समाज की पहली बैठक की। इसके बाद प्रति शनिवार इसके साप्ताहिक सत्संग होने लगे जिनमें वेदपाठ, उपनिषदों का बंगला अनुवाद और बंगला उपदेश होते थे। वेद पाठ के लिए दो तेलुगु पंडित बुलाए गए थे। वेदों का पाठ इस दृष्टि से परदे के पीछे से होता था कि कहीं वेद भ्रष्ट न हो जाए।

राजा राममोहन राय १८३० ई० में इंगलैंण्ड चले गए। १८३३ में कम्पनी का चार्टर पेश होने पर उन्होंने पार्लियामेंटरी कमेटी के समक्ष भारतीय शासन सुधार के सम्बन्ध में गवाही भी दी और उसी वर्ष ब्रिस्टल में उनका देहान्त हो गया।

राजा राममोहन राय के बाद ब्रह्म समाज के मुख्य नेता श्री देवेन्द्रनाथ ठाकुर हुए। उन्होंने ब्रह्म समाज के संगठन को निश्चित नियम बनाकर तथा प्रार्थना का एक रूप स्थिर कर दृढ़ किया। प्रचारकों द्वारा प्रचार का कार्य प्रारम्भ हुआ। आधारभूत ग्रंथों में वेद माना जाए या नहीं इसी विषय का निर्णय करने के लिए चार विद्यार्थी वेदाध्ययन के लिए बनारस भेजे गए। उन चार विद्यार्थियों की गवेषणा के बाद ब्रह्म समाज ने सम्पूर्ण वेद की निभ्रान्तिता का विचार छोड़ दिया। वेदों के केवल वही भाग मान्य समझे गए जो एकेश्वरवाद का समर्थन करते थे। एक प्रकार से यह वेदों का छोड़ना ही था। श्री केशवचन्द्र सेन कहा करते थे कि श्री देवेन्द्रनाथ ने वदों को छोड़ दिया था।

१८५७ में ब्रह्म समाज में एक वैश्य जातीय अंग्रेजी शिक्षासम्पन्न अत्यधिक भावनाप्रधान तथा वाग्मी युवक श्री केशवचन्द्र सेन का आगमन हुआ। इस युवक ने ब्रह्म समाज को नई भावना एवं स्फूर्ति से अनुप्राणित किया। इसके विचार अधिक उदार थे और १८६० ई. में इस उदारता के नाम पर अत्यन्त प्राचीन काल से प्रत्येक हिन्दू को तीन ऋणों के स्मरण कराने वाले पवित्र यज्ञोपवीत को तिलांजलि दी गई। केशवचन्द्र सेन दिनों दिन ईसाईयत से अधिक प्रभावित हो रहे थे। १८६६ ई० में श्री केशवचन्द्र सेन ने सीले की पुस्तक (Ecce-Homo) इक होमो पढ़ी और उसके बाद उन्होंने ईसा मसीह, यूरोप और एशिया इस विषय पर एक व्याख्यान दिया। श्रोताओं पर यह प्रभाव पड़ा कि श्री केशवचन्द्र सेन अब शीध्र ईसाई होने वाला है। ११ नवम्बर १८६६ ई. को श्री सेन ने ब्रह्म समाज से पृथक् अपना नया समाज स्थापित किया जिसमें सामान्य प्रार्थना के बाद हिन्दू, ईसाई, मुस्लिम, पारसी और चीनी धर्म ग्रंथों के संदर्भ पढ़े गए। अब श्री केशवचन्द्र सेन न तो हिन्दू रहे और न उस धर्म के सुधारक। ब्रह्म समाज का हिन्दू समाज से जो थोड़ा बहुत सम्बन्ध था वह १८७२ के स्पेशल मैरिज एक्ट से टूट गया। इस कानून द्वारा ब्रह्म लोगों का समाज हिन्दू समाज से सर्वथा पृथक् स्वीकार किया गया।

ईसाईयत के विरोध में हिन्दू समाज की रक्षा के लिए जो पहला बांध बना था वह ईसाईयत के ज़बर्दस्त प्रवाह का मुकाबिला न कर उसी के साथ बह गया। ब्रह्म समाज का अगला इतिहास अनावश्यक है। उसमें तथा ईसाईयत में बहुत थोड़ा सा अन्तर रह गया था। एक लेखक ने लिखा है कि

केशवचन्द्र सेन ने ब्रह्म समाज को न केवल समाज सुधार और परोपकार के कार्यों की ओर प्रवृत्त किया अपितु उस समाज को ईसा का शिष्य बनाया। यह स्पष्ट था कि ईसाई रंग में रंगा हुआ ब्रह्म समाज ईसाईयत के आक्रमणों से रक्षा करने के लिए हिन्दू धर्म की ढाल नहीं बन सकता था।

बम्बई प्रान्त में ब्रह्म समाज का दूसरा रूप प्रार्थना समाज के रूप में विकसित हुआ। १८३९ ई० में तीन पारसियों के तथा १८४३ में एक ब्राह्मण के ईसाई हो जाने से हिन्दुओं और पारसियों को अपने धर्मों की रक्षा के लिए सन्नद्ध होना पड़ा। शिक्षित हिन्दुओं ने प्रारम्भ में गुप्त तथा परमहंस सभाओं द्वारा सुधार करना चाहा किन्तु १८६० ई० में उनका रहस्योद्घाटन हो जाने से इस तरह के प्रयत्न बन्द हो गए। १८६४ ई. में श्री केशवचन्द्र सेन बम्बई आए और उनके व्याख्यानों का शिक्षित समाज पर बड़ा प्रभाव पड़ा और इसके तीन वर्ष बाद १८६७ ई० में प्रार्थना समाज की स्थापना हुई। इसके नेता डा० आत्माराम, पाण्डुरंग, रामकृष्ण गोपाल भंडारकर, महादेव गोविन्द रानाडे आदि सज्जन थे। ये जाति प्रथा के उच्छेद, विधवा पुनर्विवाह, स्त्रीशिक्षा के प्रोत्साहन तथा बाल विवाह निषेध के सुधारों पर बल देते थे। इस समाज का संगठन कुछ निश्चित नियमों पर नहीं हुआ। वह केवल ऐसे व्यक्तियों का समूह मात्र था जो हिन्दू धर्म की अनेक कुरीतियों के विरुद्ध आन्दोलन करते थे, हिन्दू समाज में सुधार चाहते थे किन्तु व्यवहार में हिन्दू कर्मकांड और रूढ़ियों का पालन करते थे। यही कारण है कि प्रार्थनासमाज एक शक्तिशाली संगठन नहीं बन सका और उसका प्रभाव सामाजिक सुधार के आन्दोलन के सिवाय बहुत ही न्यून एवं नगण्य है।

कट्टर सुधार आन्दोलन :

यूरोप की धार्मिक सुधारणा में, जिस प्रकार लूथर तथा अन्य सुधारकों के सुधारों के प्रतिकूल इगनेशियस लायोला ने जेसुइट सम्प्रदाय की स्थापना १८४० ई० में की तथा ट्रेण्ट की महान् परिषद् : १९४५, से ६३, द्वारा प्रति सुधारणा (Counter Reformation) आन्दोलन शुरू हुआ, उसी प्रकार, १९ वीं शती की धार्मिक सुधारणा में श्री रामकृष्ण परमहंस तथा थियोसोफ़ी के प्रयत्नों से एक सुधारणा प्रारम्भ हुई। पहले आन्दोलन उदार एवं सुधारों की दृष्टि से बहुत अग्रगामी थे। वे तर्क को आधार न कर चलने वाले थे। और तर्क की कसौटी पर खरी न उतरने वाली रूढ़ियों एवं कुरीतियों से हिन्दू और पारसी धर्मों को तथा इस्लाम को मुक्त करना चाहते थे किन्तु नए आन्दोलन धर्म में आन्तरिक सुधार चाहते हुए भी, उसकी प्रत्येक रूढ़ि एवं मर्यादा की रक्षा करना चाहते थे। इन रूढ़ियों एवं मर्यादाओं का तर्क एवं विज्ञान से संपर्क करते थे। १८७३ ई० में कलकत्ता में हिन्दू धर्म की रक्षा के लिए सनातन धर्म रक्षिणी सभा स्थापित हुई किन्तु हिन्दू धर्म पूर्ण रक्षा का प्रबलतम समर्थन श्री रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द तथा थियोसोफ़ी द्वारा हुआ।

रामकृष्ण परमहंस (उनका पहला नाम गदाधर चट्टोपाध्याय था) की साधना का इतिहास बड़ा मनोरंजक है। हम यहां उसका केवल संक्षिप्त उल्लेख करेंगे। उनका जन्म २० फ़रवरी १८३४ में हुआ। बचपन से उन्हें धार्मिक कथाओं में प्रबल अभिरुचि थी। १८५५ ई० में कलकत्ते के उत्तर में दक्षिणेश्वर के मन्दिर की स्थापना के बाद, उनके ज्येष्ठ भ्राता श्री रामकुमार इस मन्दिर के मुख्य पुरोहित नियत हुए और श्री गदाधर उनके एक सहायक पुजारी बने। श्री गदाधर अब काली को विश्व की तथा अपनी

माता समझकर घंटों उसकी स्तुति, उपासना तथा कीर्तन में मग्न होकर समाधि अवस्था को प्राप्त हो जाते थे। उनके माता पिता ने अपने पुत्र को समाधि से विरत करने का सर्वोत्तम उपाय विवाह समझा और १८५९ ई० में षड्वर्शीय कन्या से उनका परिणय कर दिया गया, किन्तु विवाह के बाद, उनका धार्मिक भाव घटने के बजाय और तीव्र होने लगा। घंटों तक वे समाधि में अचेत पड़े रहते थे। मन्दिर के अधिकारियों को अब ऐसे पुजारी की आवश्यकता नहीं रही। अगले १२वर्ष उनके कठोर साधना के थे। इन दिनों एक धार्मिक तूफ़ान ने उनके हृदय को विक्षुब्ध कर रखा था। इस विक्षोभ में तंत्र से परिचय रखने वाली योगाभ्यासिनी एक ब्राह्मण सन्यासिनी उनकी मार्गदर्शिका हुई। उन्होंने अपना संचित उपार्जित सम्पूर्ण ज्ञान श्री गदाधर को दिया किन्तु उनकी योगतृष्णा शान्त नहीं हुई। फिर श्री लोनापुरी नामक वेदान्त शास्त्रज्ञ सन्यासी ने उन्हें सन्यास की दीक्षा दी। वे गदाधर से रामकृष्ण परमहंस हुए और श्री लोनापुरी महाराज से उन्होंने निर्विकल्प समाधि आदि अनेक नई बातें सीखीं।

उनके जाने के बाद भी रामकृष्ण लगभग छ: मास तक समाधि की दशा में रहे। इन दिनों में यदि एक साथी साधु उन्हें समाधि से विरत न करता और ज़बर्दस्ती भोजन न करवाता तो उनका जीवित रहना कठिन होता। कई बार वह साधु अन्य उपायों से श्री रामकृष्ण की समाधि भंग करने में असमर्थ होकर उनके सिर पर भारी डंडों का प्रहार कर उनकी समाधि भंग करता था। इसके बाद भी रामकृष्ण ने फिर राधा रूप से कृष्ण की भक्ति प्रारम्भ की। १८७१ तक उनका मानसिक तूफ़ान समाप्त हो चुका था किन्तु जाति का अभिमान अभी शेष था। उन्होंने इस अभिमान पर विजय पाने के लिए चाण्डाल के कार्य शुरू किए। वे मंदिर में अपने बालों से झाड़ू लगाने का कार्य करने लगे तथा उन्होंने भिखारियों, शूद्रों तथा मुसलमानों के भोजन की झूठी पत्तलों तथा अवशिष्ट अंशों को ही अपना भोजन बनाया। बाद में उन्हें अन्य धर्मों के जानने का शौक़ हुआ और वे एक मुसल्मान फ़क़ीर के पास कुछ दिनों तक मुसल्मान दरवेश की दशा में रहे। एक बार उन्हे स्वप्न में ईसा का दर्शन हुआ और तीन दिन तक उन्होंने ईसा के अतिरिक्त किसी विषय पर चर्चा नहीं की।

श्री रामकृष्ण के दर्शन के लिए अब बहुत से व्यक्ति आने लगे। १८७५ ई० में श्री केशवचन्द्र सेन ने उनसे भेंट की। १८७९ से १८८६ तक उनका सारा समय शिष्यों के साथ वार्तालाप में तथा उपदेश देने में व्यतीत हुआ। उनके शिष्यों में श्री नरेन्द्रनाथ (स्वा० विवेकानन्द) बहुत प्रसिद्ध हैं। श्री राम-कृष्ण परमहंस की मृत्यु के बाद वे सन्यासी हुए तथा ६ वर्ष तक तिब्बत आदि में, बौद्ध धर्म के अध्ययन के लिए पर्यटन करते रहे। १८९२ में उन्होंने भारत के विभिन्न प्रदेशों की यात्रा की और १८९३ के सितम्बर मास में शिकागो के सर्व धर्म सम्मेलन में संम्मिलित होकर उन्होंने वह प्रसिद्ध ऐतिहासिक वक्तृता दी, जिससे अमेरिका को भारत के धार्मिक महत्व का पहली बार पूरा ज्ञान हुआ। उनकी वक्तृता के बाद "दी न्यूयार्क हैरल्ड" ने लिखा था कि "सर्व धर्म परिषद् (Parliament of Religions) में निरसन्देह विवेकानन्द सबसे बड़े व्यक्ति हैं। उनका भाषण सुनने के बाद हम यह अनुभव करते हैं कि उस शिक्षित राष्ट्र (भारत) को मिशनरी भेजना कितना मूर्खतापूर्ण है।" इसके बाद विवेकानन्द ने अमेरिका में प्रचार किया और दो अमेरिकन अभयानन्द (Madam Louise) तथा स्वामी कृपानन्द (Mr. Sandsberg) उनके शिष्य बने। अमेरिका के बाद वे इंग्लैण्ड आए और यहां भगिनी निवेदिता (Miss Margaret Noble) उनकी शिष्या बनी। जनवरी १८९७ में वे कोलम्बो में उतरे।

सारे देश में उनका अभूतपूर्व स्वागत हुआ। उन्होंने बेलूर (कलकत्ता) तथा मायावती (अल्मोडा) में दो केन्द्र स्थापित किए। उस वर्ष देश में भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा। उस दुर्भिक्ष के लिए उन्होंने सहायता कार्य का संगठन किया और बाद में इसकी परिणति श्री रामकृष्ण सेवाश्रम में हुई। १८९७ में स्वास्थ्य सुधार के लिए वे विदेश गए। केलीफ़ोर्निया के जलवायु से उन्हें लाभ पहुंचा। उन्होंने सन्फ्रांसिस्को और न्यूयार्क में वेदान्त सोसाइटी की स्थापना की। १९०० ई. में पेरिस की धर्म परिषद् में भाग लेकर वे भारत लौट आए। ४ जुलाई १९०२ को उनका देहावसान हो गया।

स्वामी विवेकानन्द के प्रयत्न से पाश्चात्य लोगों की दृष्टि नें भारत का सम्मान बढ़ा। पूर्व और पश्चिम के बीच में वे पहले सांस्कृतिक दूत थे। उनका जनसेवा का कार्य आदर्श एवं स्पृहणीय था किन्तु सुधार के विषय में उनके सिद्धान्त रक्षात्मक एवं कट्टर प्रवृत्ति के सूचक हैं। उन्होंने हिन्दू धर्म के वर्तमान स्वरूप की कठोर भर्त्सना की है। छुआछूत के वे घोर विरोधी थे किन्तु राममोहन राय की भांति उन्होंने यह अनुभव नहीं किया कि हिन्दू जाति को अवनत करने वाली और हिन्दू धर्म को दूषित करन वाली मूर्तिपूजा है। उन्होंने मूर्तिपूजा के हानिप्रद परिणामों की ओर हिन्दू जनता का ध्यान नहीं खींचा। हिन्दू धर्म की विभिन्न रूढ़ियों तथा कर्मकाण्ड में उनकी पूरी श्रद्धा थी। मूर्तिपूजा को वे पूजा की उत्तम विधि समझते थे। उनके मत में हिन्दू धर्म का प्रत्येक अंश बहुमूल्य था। और उसकी सुरक्षा आवश्यक थी। वे सुधारकों का मार्ग ठीक नहीं समझते थे। पुराने सभी विचार अन्ध विश्वास हो सकते हैं किन्तु अन्ध विश्वासों के इस विशाल समूह में सुवर्ण एवं सत्य की कणिकाएँ हैं। क्या तुमने ऐसा साधन ढूंढ़ लिया है कि तुम सुवर्ण को सुरक्षित रखते हुए उसकी अशुद्धि को दूर कर सको * सरल शब्दों में यह समूचे सुधार का प्रबल प्रत्याख्यान है।

प्राचीन धर्मों की सम्पूर्ण रूढ़ियों, विश्वासों एवं क्रियाकलापों का वैज्ञानिक तथा प्रबल समर्थन थियासोफ़ी द्वारा हुआ। थियासोफ़ी का जन्म अमेरिका में हुआ किन्तु बड़ी विचित्र परिस्थितियों में यह आन्दोलन महर्षि दयानन्द तथा आर्य समाज की सहायता से भारत में प्रारम्भ हुआ। एक रूसी महिला मण्डल ब्लैवेटस्की इसकी जन्मदात्री थी। १८७९ में वह कर्नल अल्काट के साथ भारत पहुंची। पहले इन दोनों ने स्वामी दयानन्द जी की शरण ली किन्तु जब उन्हें यह विश्वास हो गया कि भारत में इतना अधिक अन्धविश्वास है कि अनुयायी मिलना कठिन नहीं तो उन्होंने स्पष्टतया कुछ ऐसी बातों का प्रचार करना शुरू किया जो आर्य समाज के सिद्धान्तों के प्रतिकूल थीं। स्वामी दयानन्द ने उन्हे अपनी पूर्व प्रतिज्ञाओं तथा पत्रों का स्मरण कराया किन्तु सब निष्फल हुआ और १८८१ में दोनों संस्थाओं का सर्वथा पृथक्करण हुआ*।

श्रीमती ब्लैवेटस्की तथा कर्नल अल्काट ने भारत का भ्रमण किया। ब्लैवेटस्की ने अनेक स्थानों पर चमत्कार दिखाकर लोगों का ध्यान थियोसोफ़ी की ओर खींचा। कांग्रेस के प्रारम्भिक संस्थापकों में अन्यतम श्री ह्यूम के घर पर शिमला में ब्लैवेटस्की ने श्रीमती ह्यूम के खोए हुए सोने के कांटे का ठीक

* माई मास्टर पृष्ठ १३

* इस विषय के विस्तार के लिए बाबू देवेन्द्रनाथ कृत महर्षि दयानन्द के चरित्र के द्वितीय भाग का एतद्विषयक परिशिष्ट देखिए।

पंता बताकर बहुत प्रसिद्धि प्राप्त की। किन्तु शीघ्र ही पायोनियर, टाइम्स आफ़ इंडिया और बाम्बे गज़ट द्वारा लोगों को यह ज्ञात हुआ कि श्री ह्यूम के परिवार का एक व्यक्ति ब्लैवेटस्की से पहले मिलता रहा था। ब्लैवेटस्की जिसे चमत्कार कहती थी वह काम इसी व्यक्ति द्वारा करवाया गया था। बाद में ह्यूम ने कहा कि यह एक बहुत बड़ी प्रवंचना थी। भारतीयों में अपने को लोकप्रिय बनाने के लिए थियासोफ़ी के नेता भारतीय धर्मों की ओर झुके। बौद्धों का तन्त्रवाद ब्लैवेटस्की को बहुत रुचिकर प्रतीत हुआ। अडयार (मद्रास) के एक कक्ष में उसे तिब्बत के कूट होमी तथा अन्य गुरुओं से गुप्त संदेश प्राप्त होते थे। १८८४ तक भारत में, थियोसोफ़ी सोसाइटी की १०० से अधिक शाखाएं स्थापित हो चुकी थी। इसी वर्ष २१ फ़रवरी को अल्काट और मैडम ब्लैवेटस्की विलायत चले गए। उनके बाद शिष्यों को ब्लैवेटस्की का उपर्युक्त कक्ष देखने का कुतूहल उत्पन्न हुआ। इस विषय को लेकर दो दल हो गए और एक दल ने ब्लैवेटस्की के सम्पूर्ण पत्र क्रिश्चियन कालेज मैगज़ीन को दे दिए और दूसरे दल ने अपने पर जांच की आंच न आने देने के लिए ब्लैवेटस्की का वह विशेष कक्ष ही नष्ट कर दिया। कैम्ब्रिज के दर्शन के उपाध्याय श्री हेनरी शिजविक ने इस सारे काण्ड में प्रेत संवाद और भूत विद्या (Spiritualism) की सत्यता का अन्वेषण करने के लिए श्री रिचर्ड हयांगसन को भेजा। उसका स्वयं इस विद्या पर विश्वास था और उसने १८८४ के अन्त में विलायत से अल्काट और ब्लैवेस्टकी के लौटने पर उन्हीं से इस विषय की जांच का प्रारम्भ किया। उसके सूक्ष्म अन्वेषण का यह परिणाम था कि प्रत्येक चमत्कारिक घटना की वह जहां तक जांच कर सका है—छल मात्र है। तिब्बत से आने वाली कूट होमी के पत्र ब्लैवेटस्की के स्वयं लिखे हुए हैं। ब्लैवेटस्की के पत्रों के प्रकाशित होने पर ब्लैवेटस्की ने कहा था कि वे पत्र झूठे हैं और पत्र प्रकाशित करने वाली श्रीमती कूलोम (Coulomb) पर वह मुकदमा चला कर अपने को निर्दोष सिद्ध करेगी। बहुत समय बीत जाने पर भी जब उसकी ओर से कोई मुकदमा न चला तो श्रीमती कूलोम ने उन पत्रों को सार्वजनिक रूप से जाली कहने वालों पर, मान हानि का अभियोग चलाने का निश्चय किया तथा एक थियोसोफ़िस्ट जनरल मार्गन को मान हानि के लिए दो अप्रैल तक क्षमा मांगने का नोटिस दिया। मैडम ब्लैवेस्टकी अदालत की जांच से घबराती थी। उसे डर था कि अदालत में बहुत सी बातें खुल जाएँगी। गर्म जलवायु उसके स्वास्थ्य के लिए हानिप्रद है। इस आशय के डाक्टरी प्रमाण पत्र के आधार पर उसने पास-पोर्ट प्राप्त किया और दो अप्रैल को वह एक जहाज़ पर बैठकर यूरोप रवाना हो गई। उसके यूरोप जाने का कारण बीमारी नहीं अपितु मुकदमे का डर था। यह उसके एक पत्र से स्पष्ट है। २९ अप्रैल १८८५ के एक पत्र में नेपल्स से वह लिखती है :

वे (मेरे विरोधी) कुछ भी सिद्ध नहीं कर सकते थे, किन्तु केवल सन्देह के आधार पर मुझे जेल भिजव सकते थे गिरफ़्तार करवा सकते थे तथा कौन जानता है कि वे और क्या कर सकते थे। अभी मैंने इसके विषय में विस्तार से सुना है, उन्होंने पहले मुझे कुछ नहीं बताया किन्तु बिस्तर से उठाकर सीधा फ्रेंच स्टीमर से सवार करवा दिया*। १८८८ में उसने "सीक्रेट डाक्ट्रिन" नामक पुस्तक प्रकाशित की। १८९१ में इस विलक्षण महिला का देहान्त हो गया। ब्लैवेटस्की के मरने के बाद थियोसोफ़ी में अनेक

---

* सोलोवयोफ-मार्डन प्रीस्टेस आव् आइसिस पृ० ७७। थियोसोफ़ी वर्णन के लिए मैं श्री फ़रकुहार की माडर्न रिलीजस मूवमैण्टस् का आभारी हूं। उपर्युक्त उद्धरण उसी पुस्तक में से लिया गया है।

मतभेद उत्पन्न हुए, थियोसोफ़ी का स्वरूप परिवर्तित हुआ किन्तु वह हमारे काल से बाद की वस्तु है। धीरे धीरे थियोसोफ़ी वाले सब धर्मों को पवित्र मानने तथा उनकी कट्टरता की वैज्ञानिक एवं आलंकारिक व्याख्या करने लगे। इसके साथ ही वे वैयक्तिक विकास साधना के मार्ग का उपदेश करते हैं, जिसको गुप्त ही रखा जाता है। बाद में श्री एनीबीसेन्ट तथा श्री अरण्डेल इसके प्रमुख प्रचारक तथा समर्थक बने किन्तु ये बातें २० वीं सदी के पूर्वार्द्ध का विषय होने से प्रकृत प्रसंग का विषय नहीं है।

आर्य समाज का आन्दोलन उपर्युक्त सभी आन्दोलनों से विभिन्न प्रकार का था। इसे पूरी तरह समझने के लिए इसके प्रवर्त्तक ऋषि दयानन्द के जीवन की प्रमुख घटनाओं का ज्ञान आवश्यक है।

स्वामी दयानन्द का जन्म औदीच्य ब्राह्मण कुल में संवत् १८८१ वि० १८२४ ई० में हुआ। सम्वत् १८९४ विक्रम १८३७ ई० : में शिवरात्रि के प्रसिद्ध रात्रि जागरण में शिवलिंग पर मूषिक लीला देख कर उन्हें मूर्तिपूजा पर अनास्था हुई। बाद के वर्षों में भगिनी एवं पितृक की मृत्यु ने उनके मन में वैराग्य संबंधी विचार सच्चे शिव को खोजने की इच्छा एवं दुःखसंतप्त मानव जाति के दुःखों के निराकरण के उपायों के अन्वेषण की आकांक्षा प्रबल होती गई। जब माता पिता ने युवावस्था में ही उनका यह वैराग्य देखा तो उन्होंने पुत्र को विवाह की श्रृंखला में बांधना चाहा। तरुण मूलशंकर ने इस श्रृंखला में बद्ध होने से बचने के लिए संवत् १९०३ वि०: १८४६ ई० : में घर से पलायन या महाभिनिष्क्रमण किया। बुद्ध महाभिनिष्क्रमण कर, शाक्य कुल को प्रव्रजित करने के उद्देश्य से, बोधि प्राप्त करने के बाद एक बार पुनः कपिलवस्तु पधारे थे किन्तु स्वामी दयानन्द अपने छोड़े हुए ग्राम में फिर कभी वापिस नहीं आए।

स्वामी जी के जीवन के अगले १४ वर्ष गुरुओं की खोज, विद्याभ्यास, कष्ट सहन और पर्यटन के वर्ष हैं। उन्होंने मधुकरी वृत्ति से ज्ञान सम्पादन किया, जहां किसी प्रसिद्ध गुरु का नाम सुना, उसके पास गए और उससे जो मिल सका वह ग्रहण किया। पूर्णानन्द सरस्वती से, सन्यास सम्प्रदाय में दीक्षित होने के बाद चाणोद में उन्होंने ज्वालानन्द पुरी और शिवानन्द गिरी से योग सीखा। आबू का चक्कर काटा और सम्वत् १९११ वि० :१८५४ ई०: के हरिद्वार कुंभ के अवसर पर, योगियों एवं गुरुओं की तलाश में वे उत्तर भारत में आए। दो वर्ष तक ऋषिकेश, टिहरी गढ़वाल, रुद्रप्रयाग, गुप्तकाशी, त्रियुगी नारायण, तुंगनाथ, ओखीमठ, केदारनाथ, जोशीमठ, बद्रीनाथ आदि उत्तराखंड के प्रसिद्ध एवं दुर्गम तीर्थों में साधना एवं ज्ञान संचय करते रहे। १८५६ ई० में स्वामी जी बनारस गए और उसके बाद ३ वर्ष तक वे मध्य प्रान्त के विन्ध्याचल पर्वत एवं नर्मदा की घाटी का पर्यटन करते रहे। जिस समय भारत-वर्ष के वीर सैनिक एवं जनता अपनी स्वाधीनता का पहला संग्राम लड़ रही थी, उस समय ऋषि दयानन्द विन्ध्याचल के बीहड़ कान्तारों में योगाभ्यास एवं ज्ञान साधना कर रहे थे। १८६० में १४ वर्ष की खोज के अनन्तर, मथुरा में उन्हें दंडी स्वामी विराजानन्द का शिष्यत्व प्राप्त करने का सौभाग्य मिला। स्वामी विरजानन्द जी से ३ वर्ष तक व्याकरण का गम्भीर अध्ययन करने के अतिरिक्त उन्हें प्रत्येक वस्तु को परखने की आर्ष दृष्टि प्राप्त हुई और आर्ष एवं मौलिक ग्रंथों का महत्त्व ज्ञात हुआ। पर अभी तक उन्हें वेदों की उपलब्धि नहीं हुई थी। १८६४ में स्वामी विरजानन्द से अनुज्ञा प्राप्त कर वे मथुरा से विदा हुए। अगले ५ वर्षों में उन्होंने वेदों को प्राप्त कर, उनका अध्ययन एवं गहरा अनुशीलन किया। धौलपुर, लश्कर, ग्वालियर, करौली, जयपुर, पुष्कर, अजमेर आदि स्थानों का भ्रमण कर

हरिद्वार के कुम्भ (१८६६ ई०) पर हिन्दू जाति में फैले हुए महान् पाखंड के विरुद्ध खंडिनी पताका की प्रतिष्ठा कर उन्होंने अपने जीवन के महान् कार्य को आरम्भ किया।

स्वामी दयानन्द जी का अगला जीवन हमें सहसा शंकराचार्य की स्मृति करा देता है। हरिद्वार से गंगा के पवित्र प्रवाह की तरह, उनके सुधार एवं प्रचार की पुनीत धारा बह चली और मार्ग की बाधाओं को अपने साथ बहाती ले गई। शंकर के सामने जिस प्रकार बौद्ध पंडित परास्त हो गए थे, ऋषि दयानन्द के सामनें सनातनी पंडित परास्त होते गए। स्वामी दयानन्द जी का प्रसिद्ध मन्तव्य यह था कि मूर्तिपूजा वेद विहित नहीं है। काशी के ३०० पंडित वेदों में से मूर्ति पूजा करने वाला एक भी प्रमाण ढूंढ़ कर नहीं दे सके (१६ नवम्बर १८६९ ई०) स्वामी जी की इससे बढ़कर और क्या विजय हो सकती थी?

इसके बाद वे मुंगेर, भागलपुर होते हुए, कलकत्ता गए (मार्च १८७३), में वे ब्रह्म समाज के नेताओं के सम्पर्क में आए, उस आन्दोलन को तथा अंग्रेजी शिक्षा के प्रभाव को, उन्होंने अच्छी तरह देखा। कलकत्ता यात्रा के बाद श्री स्वामी जी ने लोक भाषा हिन्दी में भाषण देने शुरू किये और राजा जयकिशन दास की प्रेरणा से इलाहाबाद में, 'सत्यार्थप्रकाश' लिखा। (जून १८७४ ई०) इसके बाद स्वामी जी जबलपुर होते हुए पश्चिम भारत चले गए और बंबई तथा गुजरात में १८७५ ई० में उन्होंने वैदिक धर्म के प्रचार का कार्य किया अपने कार्य को स्थायी रूप देने के लिए, उन्होने पहले राजकोट और पूना तथा बाद में बंबई में (१८७५ ई०) आर्यसमाज की स्थापना की। १८७६ ई० में उन्होंने संयुक्त प्रान्त में फर्रुखाबाद, बनारस, जौनपुर, अयोध्या आदि शहरों में वैदिक धर्म का सन्देश सुनाया। १८७७ ई० महारानी विक्टोरिया के साम्राज्ञी पद लेने के उपलक्ष में लार्ड लिटन द्वारा दिल्ली में जो दरबार आयोजित हुआ था, उसका लाभ उठाने के लिए स्वामी जी १८७७ ई० में दिल्ली आए। स्वामी जी ने सर सय्यद अहमद, केशवचन्द्र सेन आदि की एक परिषद् बुलाकर, धार्मिक मतभेदों को दूर करना चाहा किन्तु वह प्रयत्न सफल नहीं हुआ इसके बाद स्वामी जी पंजाब में गए और १८७९ के कुम्भ तक वे संयुक्तप्रान्त, बिहार, और पंजाब का पर्यटन करते रहे। इस कुम्भ के बाद उदयपुर के महाराणा के निमन्त्रण पर वे उदयपुर आए। अपने जीवन के अन्तिम दिनों में वे ४ वर्ष तक देशी रजवाड़ों में रहे। सत्यार्थप्रकाश के बाद उन्होंने 'संस्कार विधि, यजुर्वेद भाष्य (सम्पूर्ण), 'ऋग्वेद भाष्य (अपूर्ण)' 'ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका,' वेदांग प्रकाश (१४ भाग) आदि महत्वपूर्ण ग्रंथ लिखे। वेद भाष्यों के अतिरिक्त, उनके सम्पूर्ण ग्रन्थ दयानन्द जन्म शताब्दी के अवसर पर कई खंडों में प्रकाशित हुए हैं। ३० अक्तूबर १८८३ ई० को दीपमालिका के दिन अजमेर में उन्होंने "प्रभु तेरी इच्छा पूर्ण हो" इस वाक्य के साथ अपनी जीवन लीला पूर्ण की।

महर्षि दयानन्द द्वारा प्रवर्तित आर्य समाज का आन्दोलन १९ वीं सदी का सब से महत्वपूर्ण आन्दोलन था। काल की दृष्टि से आर्य समाज का आन्दोलन परवर्ती है किन्तु प्रभाव की दृष्टि से वह सब आन्दोलनों मे अग्रवर्ती है। ब्रह्म समाज और आर्य समाज के आन्दोलनों में पूरी आधी सदी का अन्तर है। १९३३ ई. में ब्रह्म समाज ने राममोहन राय की निर्वाण शताब्दी मनाई और आर्यसमाज ने महर्षिदयानन्द की निर्वाण अर्द्ध शताब्दी। आर्य समाज के महत्व को निष्पक्ष विदेशी विद्वानों ने भी अनुभव किया है। १९०१ में भारतीय जनगणना के अध्यक्ष श्री रिज़ली ने आर्यसमाज को १९ वीं सदी का मुख्यतम सुधार आन्दोलन कहा है। श्री ब्लण्ट ने १९११ ई. की संयुक्त प्रान्त की जनगणना सम्बन्धी रिपोर्ट में आर्य समाज का वर्णन

करते हुए उसे गत सदी का महत्तम सुधार आन्दोलन बताया है। यहां धार्मिक सामाजिक एवं राष्ट्रीय, दृष्टि से आर्यसमाज के आन्दोलन की अन्य आन्दोलनों से तुलना की जाएगी।

धार्मिक क्षेत्र में स्वामी दयानन्द के सुधार की यह विशेषता थी कि वह कट्टर एवं उदार सुधार था। कट्टर उदार शब्द बदतो व्याघात है किन्तु आर्यसमाज के सुधार को इन्हीं विरोधी शब्दों में प्रकट किया जा सकता है। स्वामी जी पाश्चात्य प्रवाह में बह जाने वाले ब्रह्म सुधारकों की तरह नहीं थे जिन्होंने आर्य जाति के सर्वमान्य एवं पूज्य वेद ग्रन्थ को तिलाञ्जलि दे दी थी और न ही वे हिन्दू धर्म के इतने भक्त थे कि वे उस में सुधार की आवश्यकता ही न अनुभव करें और थियोसोफिस्टों की भांति हिन्दू धर्म की प्रत्येक रूढ़ि को तर्क एवं विज्ञान द्वारा श्रेष्ठ और महत्वपूर्ण सिद्ध करें। सत्य को ग्रहण करने एवं असत्य को छोड़ने में सदा उद्यत रहने के कारण स्वामी दयानन्द ने कट्टरता एवं सुधार में सामंजस्य स्थापित किया। स्वामी जी ने अपने सुधार के विशाल प्रासाद को वेद की सुदृढ़ चट्टानी नींव पर खड़ा किया। उनका दृढ़ विश्वास था कि हिन्दू धर्म की अवनति वेद विरुद्ध बातों के अंगीकार करने से हुई है। हिन्दू जाति एवं मानवता का कल्याण इसी में है कि वह अवैदिक शिक्षाओं का परित्याग कर वैदिक सिद्धान्तों को ग्रहण करें। अतएव उन्होंने वेद की और लौटने का जय जयकार उद्घोषित किया। धर्मों का इतिहास इस बात का साक्षी है कि प्रारंभ में उनका स्वरूप शुद्ध होता है किन्तु बाद में उस धर्म में अनेक विकार आ जाते हैं। स्वामी जी ने इन्हीं का संशोधन किया। इन में मूर्तिपूजा सबसे बड़ा विकार था। मूर्तिपूजा के वेदानुमोदित न होने से स्वामी जी ने उसका विरोध किया। स्वामी जी में १९ वीं शती के अन्य धर्म सुधारकों की अपेक्षा यह विशेषता थी कि वे वेदों के अद्वितीय पंडित थे। श्री राममोहन राय, श्री देवेन्द्र बाबू, श्री केशवचन्द्र सेन, श्री रामकृष्ण परमहंस या स्वामी विवेकानन्द वेदों के ज्ञाता नहीं थे। श्री राममोहन राय उपनिषदों तक जाकर रूक गए। श्री अरविन्द ने इस विषय में लिखा है कि "आवश्यक बात यह है कि उन्होंने (स्वामी दयानन्द जी ने) वेद को युगों से चले जाने वाले भारत की चट्टान समझा तथा उनमें यह साहसपूर्ण कल्पना थी कि वे उसी वेद के आधार पर अपने सुधार का निर्माण करें जिस वेद में उनकी तीक्ष्ण दृष्टि ने एक समूची राष्ट्रीयता के दर्शन किए थे। एक दूसरी महान् आत्मा तथा शक्तिशाली कार्यकर्ता राममोहन राय ने बंगाल पर अपना हाथ रखा। नदियों तथा धान के खेतों के पास आलस्यपूर्ण तन्द्रा में मग्न बंगाल को उद्बुद्ध किया किन्तु राममोहन राय उपनिषदों पर ही ठहर गए। दयानन्द ने उपनिषदों से भी आगे देखा और यह जान लिया कि हमारा वास्तविक मूल बीज वेद है"।

महर्षि दयानन्द ने इस मूल बीज वेद का गहरा अध्ययन कर अपनी कार्य प्रणाली निश्चित की। श्री काशीप्रसाद जायसवाल के मतानुसार स्वामी दयानन्द वशिष्ठ विश्वामित्र आदि प्राचीन विषयों के वर्तमान प्रतिनिधि थे। उनमें बुद्ध तथा शंकर के सुन्दर और उदात्त तत्वों का सुन्दर सम्मिश्रण था। उनमें बुद्ध की उदारता एवं व्यापकता थी किन्तु बुद्ध की भांति वेदों तथा ईश्वर की उपेक्षा नहीं थी। शंकर की भांति पांडित्य, वाग्मिता और प्राचीन मर्यादाओं को अक्षुण्ण बनाए रखने तथा वेद की प्रतिष्ठा की भावन थी। किन्तु शुद्रों तथा स्त्रियों के साथ अन्यायपूर्ण बर्ताव जारी रखने का विरूद्ध प्रबल विद्रोह था। स्वामी दयानन्द ने मूर्तिपूजा अवैदिक एवं सबसे बड़ा विकार समझ कर १८६९ ई. में बनारस की सम्पूर्ण पंडित मंडली को चुनौती दी थी कि वह मूर्तिपूजा को वेद विहित सिद्ध करें। १६ नवम्बर १८६९ ई. के प्रसिद्ध

शास्त्रार्थ में काशी के ३०० पंडित मूर्तिपूजा के समर्थन में एक भी प्रमाण न दे सके। उसके बाद स्वामी जी सात बार काशी गए और हर बार उन्होंने उपर्युक्त चुनौती को दुहराया किन्तु कोई भी पंडित मूर्तिपूजा को वेदानुमोदित सिद्ध करने के लिए आगे नहीं बढ़ा।

वर्षों तक मठों मन्दिरों और तीर्थों की दुरावस्था देख कर तथा स्वामी विरजानन्द जी से आर्ष दृष्टि प्राप्त कर स्वामी जी को यह अनुभव हो चुका था कि हिन्दू धर्म की प्रचलित बुराइयों का मूल कारण अवैदिक ग्रन्थों एवं रूढ़ियों का अनुसरण है। उन्होंने धर्म के नाम पर संगृहीत कूड़ा करकट को हटाने का यत्न प्रारम्भ किया। उनका दृढ़ विश्वास था कि हिन्दू धर्म के स्वस्थ विकास में बाधक बने हुए अन्ध विश्वासों तथा कुप्रथाओं के झाड़ झंखाड़ को उखाड़ फेंकना चाहिए। ब्रह्म समाज भी आधी शती पूर्व इसी पुनीत उद्देश्य से स्थापित हुआ था किन्तु श्री राममोहन राय की मृत्यु के बाद दुर्भाग्यवश उसका नेतृत्व ऐसे लोगों के हाथ में चला गया जो सुधार की आवश्यकता को अनुभव करते हुए भी अपने धर्म की पूरी जानकारी नहीं रखते थे। श्री देवेन्द्र बाबू ने ४ व्यक्तियों को वेदाध्ययन के लिए बनारस भेजा और उनकी सम्मति के आधार पर वेदों को निर्भ्रान्ति एवं परम प्रमाण मानना छोड़ दिया। यह बात सम्भवतः उनकी दृष्टि से ओझल हो गई कि वेद ही एक ऐसा दृढ़ एवं सर्वादि सम्मत आधार है जिस पर हिन्दू समाज के किसी चिरस्थायी सुधार संगठन का निर्माण किया जा सकता है।

ब्रह्म समाजी सब धर्मों के उदात्त तत्वों का संग्रह कर उनके आधार पर अपने सुधार की नींव रखना चाहते थे और ऋषि दयानन्द वेद के ठोस आधार पर। सब धर्मों का समन्वय भले ही कितना अधिक आकर्षक प्रतीत हो किन्तु उसके साथ किसी की गहरी आत्मानुभूति या ममत्व बुद्धि न होने से वह कभी लोकप्रिय धर्म नहीं हो सकता। अकबर ने ऐसा धर्म चलाने का प्रयत्न किया वह उसकी मृत्यु के साथ समाप्त हो गया। कोम्ट का प्रयत्न भी कुछ बुद्धिवादियों को ही सन्तुष्ट कर सका है। एक ईरानी कवि ने कहा है कि "जो किसी धर्म में विश्वास नहीं रखता वह धूर्त है और सब में विश्वास रखता है वह मूर्ख है"। ब्रह्म समाज ने सब धर्मों के सुन्दर तत्व इकट्ठे करते हुए और अपने दृष्टिकोण को विस्तृत करते हुए जब हिन्दू धर्म का सुधार किया तो उसने हिन्दू धर्म के विकास को रोकने वाले झाड़ झंखाड़ समझ कर सफ़ाई करने के साथ साथ असली धर्म को भी झाड़ झंखाड़ समझ कर छांट डाला। पहले वेदों को अर्ध चन्द्र दिया गया फिर यज्ञोपवीत के पवित्र सूत्र को तिलाञ्जलि दे दी गई। और १८७२ में उन्हें हिन्दू शब्द भी अखरने लगा। श्री केशवचन्द्र सेन के परामर्श से १८७२ में स्पेशल मैरिज एक्ट के लिए सरकार के पास जो प्रार्थना पत्र भेजा गया था उसमें स्पष्ट लिखा था कि "हिन्दू शब्द ब्रह्म समाज वालों पर लागू नहीं होता क्योंकि वे वेद प्रमाणित नही मानते। वे ब्राह्मण धर्म के सभी रूपों के विरुद्ध हैं और चूंकि उन्होने अपने सिद्धान्तों को सब धर्मों से चुन कर बनाया है इसलिए हिन्दू मुसलमान ईसाई और अन्य धर्म वाले सभी ब्रह्म सभा में प्रवेश करते हैं"। इसका स्पष्ट आशय यह था कि ब्रह्मसमाजी हिन्दू नहीं रहे। जो सम्प्रदाय हिन्दुओं में सुधार के उद्देश्य से शुरू हुआ था उसे अब अपने को हिन्दू कहना भी बुरा लगने लगा।

प्रारम्भ में आर्यसमाज, ब्रह्म समाज और प्रार्थना समाज के मन्तव्यों में आर्यसमाज के वेद सम्बन्धी तीसरे नियम को छोड़कर कोई अन्तर नहीं था। ईश्वर के स्वरूप एवं विशेषणों हिन्दू धर्म की बुराइयों और उनके सुधार में तीनों एक मत थे। उनमें भेदक अंश केवल वेद में विश्वास करने के सम्बन्ध में

ही था। श्री स्वामी जी से यह प्रार्थना की गई थी कि वे तीसरे नियम को हटा दें ताकि ब्रह्म समाज और प्रार्थना समाज एक हो सके। यह आर्यसमाज का सौभाग्य था कि महर्षि ने यह प्रार्थना स्वीकार नहीं की। अन्यथा आर्य समाज ने जितना कार्य किया है वह भी न कर सकता। ब्रह्म समाज दूसरों की अच्छी अच्छी बातें चुनकर उन्हें मानता था। ऐसा धर्म कुछ बुद्धि जीवियों को संतुष्ट कर सकता है। किन्तु जनता जब किसी मत का अपनी प्राचीन परम्पराओं, आचार एवं रूढ़ियों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं देखती तो उस मत का अनुसर करना छोड़ देती है। जब हिन्दुओं ने ब्रह्म समाज को ईसाई मत की ओर झुकते हुए देखा तो उन्होंने उसको मानना छोड़ दिया। एक पादरी लेखक मारीसिन ने तो यहां तक दावा किया है कि 'राजा राममोहन राय वास्तव में ईसाई थे। उन्होंने ब्रिस्टल में स्पष्ट रूप से ईसा के चमत्कार माने और अपने उत्तराधिकारियों का दाय भाग सुरक्षित रखने के लिए ही अंतिम समय तक यज्ञोपवीत धारण किए रखा'*।

यदि यह सत्य न हो तो भी श्री केशवचंद्र सेन के समय में तो ब्रह्म समाज ईसाईयत का ही एक रूपान्तर हो गया। यही कारण है कि ब्रह्म समाज का प्रभाव घटने लगा और इसका कोई उत्तम संगठन नहीं बन पाया। इस बात को ब्राह्म लोगों की संख्या से प्रामाणित किया जा सकता है। १८३० ई. से १९०१ ई. तक ७० वर्ष में ब्राह्मों की संख्या कुल ४०५० थी और १८७५ ई. से १९०१ ई. तक के २५ वर्षों में आर्यों की संख्या ९२,४१९ थी। १९३१ में दोनों की संख्या अधोलिखित तालिका से स्पष्ट है*।

नाम वर्ग	पुरुष	स्त्री	सर्व योग
ब्राह्म	३,१६६	२,२१२	५,३७८
आर्य	५,४७,९६४	४,४२,२६९	९,९०,२३३

ये अंक इतने स्पष्ट हैं कि इन पर किसी प्रकार की टिप्पणी करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

सामाजिक सुधारों तथा हिन्दू जाति के संगठन दृष्टि से अन्य आन्दोलन आर्य समाज की समता नहीं कर सकते। धार्मिक क्षेत्र की तरह, सामाजिक क्षेत्र में भी आर्य समाज का कार्य अनुपम है। आर्यसमाज के इस क्षेत्र में अवतीर्ण होने से पहले, जातिभेद, अस्पृश्यता, बालविवाह बहुविवाह आदि भयंकर कुरीतियां हिन्दू समाज की जड़ को खोखला कर रही थीं। शिक्षा का प्रचार बहुत कम था। स्त्रियों की दशा अत्यन्त शोचनीय थी। शुद्धि की कल्पना करना ही असम्भव था। इन सब भयानक कुरीतियों का परिणाम यह था कि हिन्दू जाति संख्या एवं महत्व की दृष्टि से क्रमशः क्षीण होती चली जा रही थी। उसके

*पादरी मारीसिन–'न्यू आइडियाज़ इन इंडिया' पृ. १२१

*हट्टन–सेन्सस आफ़ इण्डिया १९३१ खंड १, भाग २, पृ. ५१५

विरोधी हिन्दू जाति का अन्त निकट ही समझते थे और उसके विभिन्न भागों को बांट खाने के मंसूबे बांध रहे थे। स्वामी दयानन्द जी और आर्य समाज के कार्यों ने उनके इरादों पर पानी फेर दिया। उन्होंने इन कुरीतियों के विरुद्ध जबर्दस्ती जिहाद किया। म्रियमाण एवं तन्द्रापरायण हिन्दू जाति को उद्बुद्ध एवं भारी भयों से अवगत कराया।

मध्यकाल में इस्लाम के आक्रमण के प्रबल प्रवाह को रोकने के लिए हिन्दुओं ने जाति पांति के प्राकार का निर्माण किया। इस प्राकार में, बाहर से कोई प्रवेश पाने का अधिकारी नहीं था और अन्दर के लोग ३००० से अधिक उपजातियों में बंटे हुए थे। केवल ब्राह्मणों में ही १८० उपजातियां थीं। इस जातिभेद ने हिन्दू जाति को इतने अधिक भागों में विभाजित किया हुआ था कि हिन्दू जाति का कोई प्रभावशाली संगठन सम्भव नहीं था। कहा जाता है कि जब अहमदशाह अब्दाली ने पानीपत की तीसरी लड़ाई से पहले मराठों के शिविर में, रात के समय आग सी लगी हुई देखी तो उसने अपने साथियों से इसका कारण पूछा। साथियों ने उत्तर दिया कि मराठे जाति के भेद के कारण एक दूसरे के हाथ का खाना नहीं खाते। इसलिए सब अलग अलग चूल्हों पर खाना बना रहे हैं। उस समय अब्दाली ने कहा कि मराठे कभी नहीं जीत सकते क्योंकि उनमें संगठन ही नहीं है। पानीपत के युद्ध के परिणाम ने अब्दाली की उक्ति सत्य सिद्ध की और ऋषि दयानन्द के समय तक हिन्दू एकता का सबसे बड़ा शत्रु जातिभेद हमारे समाज में विद्यमान था। ब्रह्म समाज ने जाति भेद को दूर करने का प्रयत्न किया किन्तु वह प्रयत्न इसलिए असफल रहा कि उन्होंने जातिभेद का आमूलोन्मूलन करना चाहा। यह सम्भव नहीं था। अन्त में हिन्दुओं में जाति भेद दूर करते हुए वे स्वयं हिन्दू समाज से पृथक् हो गए। आर्यसमाज ने ३००० जातियों को ४ वर्षों तक सीमित करके, उन वर्णों को भी गुण कर्मानुसार माना तथा वर्णों के बीच के महान् अन्तर एवं वैषम्य को दूर करने के लिए स्वामी जी ने शूद्रपाचकों की व्यवस्था की। ब्रह्म समाज यद्यपि इस सिद्धान्त को स्वीकार करता था कि जाति भेद का अन्त होना चाहिए किन्तु जब वैश्य जातीय अब्राह्मण श्री केशवचन्द्र सेन ब्रह्म समाज में प्रविष्ट होकर इसका विरोध करने लगे तो ब्रह्म समाज दो भागों में बंट गया। ब्रह्म समाज ने जातिभेद आदि कुरीतियों का अन्त करने के लिए, अपने सुधारकों के इंजन को इतनी तेज़ी से दौड़ाया कि हिन्दू जाति के डब्बे पीछे छुट गए। परिणाम यह हुआ कि ब्रह्म समाज का परिश्रम इस दिशा में बिलकुल असफल रहा और आर्यसमाज नें इस विषय में पर्याप्त कार्य किया। जाति भेद का ही एक विकसित एवं उग्र रूप अस्पृश्यता है। मद्रास में यह कुरीति अपनी पराकाष्ठा को पहुंची हुई है। छूने की बात तो दूर रही, उच्च जातियां दूर से नीच जातियों के दर्शन मात्र से ही अपवित्र हो जाती हैं। १९०१ की कोचीन की जन गणना रिपोर्ट के अनुसार एक नायर उच्च जाति को छूकर भ्रष्ट करता है, कम्मालन (राज, लुहार, बढ़ई, चम्मार) २४ फीट की दूरी से ब्राह्मण को अपवित्र करता है, नाड़ी निकालने वाला २६ फीट से, पलयान ४८ फीट से तथा परिया ६४ फीट की दूरी से उच्च वर्णों को भ्रष्ट करते हैं। हिन्दू जाति ने अपने समाज के चतुर्थांश को इस प्रकार के असह्य अन्याय पूर्ण अमानुषिक एवं दारुण व्यवहार से सदियों तक पददलित किया है। वे दलित जातियां १९ वीं शती में स्वभावतः इस्लाम और ईसाईयत की ओर आकृष्ट हो रही थीं। आर्य समाज ने दलितोद्धार और अस्पृश्यता के निवारण के लिए जो कार्य किया है, वह ब्रह्म प्रार्थना या किसी अन्य समाज ने इतने विशाल ढ़ंग पर नहीं किया।

किन्तु इन सब कार्यों से अधिक महत्वपूर्ण कार्य शुद्धि का है। मध्यकालिक हिन्दू समाज को एक विद्वान् लेखक उल्टे चूहेदानी की उपमा दी है। इसमें बाहर से तो कोई प्रविष्ट नहीं हो सकता किन्तु जो इससे एक बार बाहर निकल जाता था वह इसमें पुनः प्रविष्ट नहीं हो सकता था। हिन्दू अपने जातीय दुर्ग की दीवारों में बन्द रहकर, दूषित वायु एवं जल का सेवन करते हुए जीवन-यापन को परम कर्तव्य समझते थे। समुद्र यात्रा, या विधर्मी के स्पर्श से ही व्यक्ति पतित समझा जाता था। हिन्दू धर्म की मर्यादाओं का उल्लंघन करने पर हिन्दुओं को जाति से बाहर कर दिया जाता था। दक्षिण में ईसाई मिशनरियों ने गांव के कुओं में भोजन के टुकड़े डालकर पहले कुओं को ख़राब किया। उन ख़राब कुओं का पानी पीने वालों को उच्च वर्णों ने जब अपनी जाति से बहिष्कृत कर दिया तो पादरियों ने उन्हें ईसाई बना लिया। जाति से एक बार बहिष्कृत को सदा के लिए बहिष्कृत समझा जाता था। हिन्दू जाति यह भूल गई थी कि पुराने ज़माने में व्रात्यस्तोम द्वारा जाति से बहिष्कृत लोगों को फिर अपने में शामिल कर लिया जाता था। ताण्डय ब्राह्मण के १७ वें अध्याय में इस विधि का विस्तृत वर्णन है। लाट्यायन और द्राह्मयाण सूत्रों तथा कात्यायन श्रौत सूत्र में इस विधि का उल्लेख है। बौद्धों के अवनति काल में, हिन्दू धर्म छोड़कर पतित हुए वृषलों की शुद्धि भी इस व्रात्यस्तोम द्वारा की गई, किन्तु मध्य काल में हिन्दुओं ने इस प्रथा को सर्वथा भुला दिया और बाहर की ओर ही खुलने वाली बहिष्कार की क्यारी में, हिन्दू जनता का विशाल प्रवाह अन्य जातियों की तरफ़ बहने लगा। ऐसा जलाशय कब तक बना रह सकता है जिसमें बराबर जल बाहर निकलता जाता हो, किन्तु नया पानी न आता हो? जिस देश में हिन्दू १०० प्रतिशतक थे, उस देश में उनकी संख्या कुल ६६प्रतिशतक तक रह गई है। स्वामी दयानन्द जी ने हिन्दू जाति की इस कमी को अनुभव किया और शुद्धि की व्यवस्था कर हिन्दू जाति को न केवल क्षीण होने से रोका किन्तु उसमें नवीन वृद्धि कर उसे पुष्ट किया। यह कार्य किसी अन्य सुधारक ने नहीं किया। हिन्दू धर्म को परिपुष्ट एवं सजीव तथा क्रियाशील बनाने का तथा मुर्दा हिन्दू जाति में प्राण संचार करने का सबसे बड़ा श्रेय महर्षि दयानन्द एवं आर्य समाज को ही है। इसलिए स्वातंत्र्य वीर श्री विनायकराव दामोदर सावरकर ने लिखा कि "वर्तमान् युग में हिन्दू संगठन के प्रथम दूत होने की प्रतिष्ठा श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती को प्राप्त होगी जो आर्य समाज आन्दोलन के यशस्वी संस्थापक हैं"*।

राष्ट्रीय दृष्टि से आर्यसमाज के महत्व को अभी तक बहुत कम अनुभव किया गया है। यह बात स्मरण रखनी चाहिए कि अन्य सुधार आन्दोलनों के नेता जब ब्रिटिश शासन को भारत के लिए ईश्वरीय वरदान मानते थे श्री सरसय्यद मुसल्मानों को स्पष्ट रूप से ब्रिटिश शासन का समर्थन करने तथा कांग्रेस से अलग रहने की प्रेरणा करते थे। तब श्री स्वामी दयानन्द जी ने यह लिखा था कि "कोई कितना ही करे परन्तु जो स्वदेशीय राज्य होता है—मत मतान्तर के आग्रह रहित पक्षपात शून्य प्रजा पर पिता माता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं है" ('सत्यार्थ प्रकाश' अष्टम समुल्लास पृ. २३८)। यह वाक्य सहसा इस अंग्रेजी की उक्ति की याद दिलाता है कि सुराज्य स्वराज्य का स्थानापन्न नहीं हो सकता (Good Government is no substitute for self Government)मुंशी समर्थदान ने जो उस समय वैदिक यंत्रालय के मैनेजर थे स्वामी जी को सम्भवतः

---

* श्री सावरकर—ए रिव्यू आफ़ दी हिस्ट्री एण्ड वर्क आफ़ दी हिन्दू महा सभा पृ. १७

उक्त संदर्भ के विषय में एक पत्र यह लिखा था कि ऐसे कड़े शब्दों को हटा दीजिए*। किन्तु 'सत्यार्थ प्रकाश' में विद्यमान वे पंक्तियां ऋषि की कान्त दृष्टि एवं विशुद्ध भारतीय राष्ट्रवाद का उज्जवल परिचय देरही हैं। श्री लाला लाजपतराय ने विनोद में एक बार यह कहा था कि–"ऋषि दयानन्द का यह सौभाग्य था कि वे अंग्रेजी नहीं जानते थे, अन्यथा यह कहा जाता कि उन्होंने उपयुक्त विचार जान स्टुअर्ट मिल आदि पश्चिमी विचारकों से ग्रहण किए हैं।" स्वामी जी ने १८८३ में स्वराज्य के जिस सिद्धान्त को प्रतिपादित किया था, १८८५ में संस्थापित राष्ट्रीय सभा उसे बहुत देर तक राजद्रोह ही समझती रही। १९०६ में पहली बार कांग्रेस के मंच से स्वराज्य शब्द का उच्चारण हुआ और १० वर्ष बाद लोकमान्य तिलक ने यह घोषणा की कि "स्वराज्य हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है"। महर्षि ३३ वर्ष पूर्व ही देशवासियों को स्वराज्य की महत्ता का ज्ञान करा चुके थे।

स्वामी जी के सभी ग्रन्थ चाहे वे वेदभाष्य या प्रार्थनाएं हों या खण्डनपरक स्वदेश प्रेम एवं राष्ट्रवाद की भावना से ओत-प्रोत हैं। 'यजुर्वेद' (१।६) के भाष्य में मनुष्य के दो मुख्य प्रयोजनों में से स्वामी जी पहला प्रयोजन चक्रवर्ती राज्य की प्राप्ति बताते हैं और दूसरा प्रचार। यजुर्वेद (३६।२४) के "अदीनाः स्याम शरदः शतम्" के भाष्य में लिखते हैं कि हम सौ वर्ष की आयु में कभी पराधीन न हों और स्वाधीन ही रहे। 'आर्याभिविनय' की प्रार्थनाओं में राष्ट्रीय भावनाओं की उत्कट अभिव्यक्ति हुई है। ब्रह्मसमाजियों तथा प्रार्थना समाजियों की आलोचना करते हुए वे लिखते हैं कि इन लोगों में स्वदेश भक्ति बहुत न्यून है। भला जब आर्यावर्त देश में उत्पन्न हुए और इसीदेश का अन्न जल खायापिया, अब भी खाते पीते हैं तब अपने माता व पितामहादि के मार्ग को छोड़ कर दूसरे दूसरे विदेशी मतों पर अधिक झुक जाना और एतद्देशस्य संस्कृत विद्या से रहित अपने को विद्वान् प्रकाशित करना, इंग्लिश भाषा पढ़ कर पंडिताभिमानी होकर झटिति एक मत चलाने में प्रवृत्त होना मनुष्यों का स्थिर और वृद्धिकारक काम क्यों कर हो सकता है। (११ वां समुल्लास) मूर्तिपूजा के खण्डन के १६ कारणों में अधिकांश राष्ट्रीय हैं। उनमें से कुछ कारण ऐसे हैं "नाना प्रकार की विरुद्ध स्वरूप नाम चरित्र युक्त मूर्तियों के पुजारियों का एक्यमत नष्ट होकर विरुद्ध मत में चलकर, आपस में फूट बढ़ा के देश का नाश करते हैं।—छठा मूर्ति के भरोसे शत्रु का पराजय और अपना विजय मान कर बैठते हैं। उनका पराजय होकर राज्य स्वातंत्र्य और उनका सुख उनके शत्रुओं के स्वाधीन होता है और आप पराधीन भटियारे के टट्टू और कुम्हार के गधे के समान शत्रुओं के वश में होकर अनेक विध दुःख पाते हैं*"। द्वारका के रणछोड़ जी तथा सोमनाथ के मंदिरों की आलोचना भी उनकी उग्र राष्ट्रीय भावना का परिचयक है। रणछोड़ जी के विषय में उन्होंने लिखा है कि सम्वत् १९१४ (१८५७ भारतीय स्वतंत्रता के युद्ध का प्रथम वर्ष) के वर्ष में तोपों के मारे मंदिर मूर्तियां अंग्रेजों ने उड़ा दी थी तब मूर्ति कहां गई थी? सोमनाथ के मंदिर की लूट का उल्लेख करते हुए वे लिखते हैं; "हाय क्यों पत्थर की पूजा कर सत्यानाश को प्राप्त हुए? देखो जितनी मूर्तियां हैं उनके स्थान में शूरवीरों की पूजा करते तो भी कितनी रक्षा होती? पुजारियों ने इन पाषाणों की इतनी भक्ति की परन्तु मूर्ति एक भी उन (शत्रुओं) के सिर पर उड़ कर न लगी*।" स्वामी जी को अंग्रेजों की देश

---

*. महात्मा मुंशीराम द्वारा सम्पादित ऋषि दयानन्द का पत्रव्यवहार पृष्ठ ४६७ व ४६८
* वही पृ. ३८९–३९०
* वही पृ. ४०१

भक्ति एक स्पृहणीय वस्तु जान पड़ती है। उन्होंने लिखा देखो, "अपने देश के बने हुए जूते को कार्यालय और कचहरी में जाने देते हैं तथा देशी जूते को नहीं। इतने ही में समझ लो कि अपने देश के बने जूतों की भी कितनी मान प्रतिष्ठा करते हैं उतनी भी अन्य देशस्थ मनुष्यों की नहीं करते।" अन्तिम वाक्य में कितना कठोर व्यंग्य है।

स्वामी जी ने अपने वैयक्तिक जीवन में उस स्वदेशी आन्दोलन के चालीस वर्ष पूर्व ही जिसके कारण १९०७ में कांग्रेस में दो दल हो गए थे स्वदेशी का व्यवहार किया तथा दूसरों स्वदेशी वस्तु व्यवहार की प्रेरणा की। उधोसिंह को विदेशी कपड़े पहने हुए देखकर उन्होंने कहा था " क्या तुम इस विदेशी कपड़े से बने नए वेश से विभूषित होकर अपने पिता जी से अधिक संस्कृत हो गए हो? उधो अपने ही देश के वेश को अपनाने में शोभा है।"

राष्ट्रीय दृष्टि से स्वामी दयानन्द जी का सबसे अधिक महत्वपूर्ण कार्य यह था कि उन्होंने मानसिक पराधीनता को दूर किया। मानसिक पराधीनता शारीरिक पराधीनता से भी अधिक घातक वस्तु है। जब तक व्यक्ति अपने को पराधीन समझता है तब तक वह उससे मुक्त होने का प्रयत्न करता है किन्तु यदि वह अपने बन्धन का अनुभव ही न करे तो उसके उद्धार की कोई आशा नहीं रहती। अंग्रेजी शिक्षा द्वारा भारतीयों में आत्महीनता की भावना उत्पन्न कर दी थी और वे मानसिक दासता का शिकार होकर प्रत्येक भारतीय वस्तु को तिरस्कार की दृष्टि से देखने लगे। मैकाले ने लिखा कि " किसी अच्छे यूरोपीय पुस्तकालय की किसी अलमारी के एक ताक पर पड़ी हुई पुस्तकें समूचे संस्कृत और अरबी वाङमय से कहीं अधिक महत्वपूर्ण हैं—संस्कृत भाषा में लिखी पुस्तकों में संग्रहीत इतिहास इंग्लण्ड की प्रारम्भिक पाठशालाओं में उपयोग में आने वाले तुच्छतम संक्षिप्त इतिहासों से भी अधिक निष्कृष्ट हैं—क्या हम सच्चे दर्शन शास्त्र और इतिहास का संरक्षण करें या सार्वजनिक व्यय से चिकित्सा शास्त्र के सिद्धान्त पढ़ाएँ, जिसे सुनकर अंग्रेजी बोर्डिंग स्कूल की छात्राएँ हंस पड़े या वह इतिहास पढ़ाएँ जिसमें ३० फुट ऊंचे और ३०,००० वर्ष राज्य करने वाले राजाओं का वर्णन हो या वह भूगोल पढ़ाएँ जिसमें मधु और नवनीत के समुद्रों का वर्णन हो।" भारतीयों ने मैकाले पर विश्वास कर लिया। मैक्समूलर ने जब वेदों को गड़रियों का गीत कहा तो शिक्षित भारतीय समाज ने श्रद्धा भाव से वह बात स्वीकार कर ली। अंग्रेजों ने राष्ट्रीय शिक्षा तथा संस्कृत और अरबी वाङमय के अध्ययन का इस लिए विरोध किया कि उसके अध्ययन से भारतीयों में स्वदेश भक्ति उत्पन्न होगी, ब्रिटिश शासन की स्थिरता ख़तरे में पड़ जाएगी। मैकाले के सम्बन्धी तथा मद्रास के गवर्नर चार्ल्स टेकलियन ने १८५३ में पार्लियामेंट्री कमेटी की समक्ष मैकाले की नीति का अभिप्राय स्पष्ट करते हुए कहा था कि मुसल्मान ग़ैर मुसल्मानों को काफ़िर समझते हैं और हिन्दू अपने भिन्न व्यक्तियों को अछूत मानते हैं। सौभाग्यवश इनके ग्रंथ क्लिष्ट भाषा में लिखे हुए हैं यदि इन भाषाओं के पुनंजीवन के आधार पर राष्ट्रीय शिक्षा की योजना बनाई जाए तो वह मुसल्मानों को हमेशा यह स्मरण कराएगी कि हम काफ़िर हैं और हिन्दुओं को यह याद दिलाएगी कि हम अस्पृश्य पशु हैं जिनके साथ मित्रतापूर्ण सम्बन्ध रखना लज्जास्पद एवं घातक हैं। हमारे तीव्रतम विरोधी भी शिक्षा की ऐसी पद्धतियों को नहीं चाहते जिनसे हमारे विरुद्ध घृणा के प्रबल भाव पैदा हों।—भारतीयों को अपनी दशा सुधारने का एक ही प्रबल उपाय है और वह है अंग्रेजी शिक्षा का फ़ौरन तथा पूर्ण बहिष्कार—। आगे उसने अंग्रेजी शिक्षा

के सुपरिणामों का उल्लेख किया है। अंग्रेजी पढ़े लिखे युवक अंग्रेज महापुरुषों का हमारी तरह मान करते हैं और वे हिन्दू की अपेक्षा अधिक अंग्रेज होते हैं।" शिक्षित हिन्दुओं में अंग्रेजी शिक्षा के प्रभाव से जातीय गौरव बिलकुल नष्ट हो गया था। साथ ही भौतिक साधनों रेल, तार, मशीन आदि में अंग्रेजों के अधिक उन्नत एवं श्रेष्ठ होने के कारण भारतीयों में आत्महीनता की भावना घर कर गई। वे इंग्लैण्ड को अपना गुरु और ईसा को अपना त्राता समझ कर अंग्रेजी शासन को ईश्वरीय वरदान मानने लगे थे। अपनी प्राचीन संस्कृति एवं राष्ट्रीय अभिमान का उनमें बिलकुल लोप हो गया था। ऐसे समय में ऋषि दयानन्द ने इस तथ्य का प्रचार किया कि वेद सब सत्य विद्याओं का भंडार है। उसमें विज्ञान के आधनिक आविष्कार तथा विद्याएँ बीज रूप से निहित हैं। हमें इस विषय में इंग्लैण्ड या पश्चिम से लज्जित होने की आवश्यकता नहीं। वैदिक काल में हमारा आर्यावर्त्त सब देशों का गुरु एवं शिक्षक रहा है। हमारा अतीत अत्यन्त उज्ज्वल था। ऋषि दयानन्द के इस प्रचार ने सर्व प्रथम मेकाले की माया से मुग्ध भारतीयों की मोहनिद्रा को भंग किया और उनमें आत्म विश्वास एवं राष्ट्रीयता की भावना को पुष्ट किया।

इन्हीं तथ्यों को दृष्टि में रखते हुए राष्ट्रीय महा सभा की ओर से प्रकाशित इतिहास में आर्य समाज को राष्ट्रीयता का अग्रदूत माना गया है। ब्रिटिश अधिकारी देर तक आर्य समाज को राजद्रोह का बड़ा केन्द्र समझते रहे। १९०७ में पंजाब के आर्य समाजियों के एक शिष्टमण्डल ने जब लेफ्टिनेंट गवर्नर से मिलकर यह कहा कि तत्कालीन उपद्रवों में उनका कोई हाथ नहीं है तो उसे यह उत्तर मिला कि जहां कहीं आर्यसमाज है वह उपद्रव का केन्द्र है (लाला लजपतराय कृत आर्य समाज पृष्ठ २५३) वेलेण्टाइन शिरोल ने लिखा था कि "जहां जहां आर्य समाज का ज़ोर है वहां वहां राजद्रोह प्रबल है।" इस विषय में आर्य समाज की अन्य सुधार आन्दोलनों से कोई तुलना ही नहीं हो सकती। जिस अंग्रेजी शिक्षा के विषैले परिणामों का ऊपर उल्लेख किया गया है राजा राममोहन राय उस शिक्षा के प्रबल समर्थक थे। वे अंग्रेजी शासन के भक्त थे। श्री केशवचन्द्र सेन पर तो अंग्रेजियत का इतना गहरा असर चढ़ा हुआ था कि उनसे राष्ट्रीयता की किसी भावना की आशा दुराशा मात्र थी। सर सय्यद उस समय स्पष्ट रूप से मुसल्मानों को अंग्रेजों का साथ देने का उपदेश कर रहे थे। इसलिए यह कहना अत्युक्ति नहीं कि भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन प्रारम्भ करने का श्रेय ऋषि दयानन्द और आर्य समाज को ही है। श्री स्वामी सत्यानन्द ने भावपूर्ण शब्दों मे लिखा है "समय आएगा जब भारत की भावी सन्तति अपने जातीय मंदिरों में स्वायत्त शासन देवी का पूजन करने से पूर्व उसे पहले पहल आव्हान करने वाले देव स्वरूप दयानन्द का प्रथम आर्चन किया करेगी।"

इस प्रकार १९ वीं शती के धार्मिक आन्दोलनों में आर्य समाज के आन्दोलन का विशिष्ट स्थान है। धार्मिक सामाजिक और राष्ट्रीय क्षेत्र में वह अपने सम सामयिक आन्दोलनों से अधिक महत्वपूर्ण और प्रभावशाली है। आर्य समाज की इस सफलता का मुख्य कारण पुरातन और नूतन, श्रद्धा और तर्क परम्परा और बुद्धि, पूर्व और पश्चिम में उचित समन्वय एवं सामञ्जस्य करते हुए सुधार की 'अतियों' (Extreemes) से बचते हुए मध्यम मार्ग का अनुसरण करना था। ब्रह्म समाज ने सुधार की एक 'अति' पर चलते हुए हिन्दू धर्म में इतने आमूल सुधार किए कि ब्रह्म लोग प्राचीन भारतीय संस्कृति के प्रवाह से सर्वथा विछिन्न हो गए। सामान्य जनता से उनका सम्बन्ध कट गया। दूसरी "अति" पर थियोसोफ़िस्ट तथा अन्य कट्टर पन्थी थे। विज्ञान एवं बुद्धि के बल पर घातक कुरीतियों का समर्थन भले ही किया जाए

किन्तु उनका निराकरण तो अवश्यमेव होना चाहिए। ऋषि दयानन्द ने वेद एवं भारतीय परम्परा के सुदृढ़ आधार पर अपने सुधार की आधारशिला रखी और प्राचीन वैदिक साहित्य को आधुनिक दृष्टि से समझकर अपने महान कार्य को आरम्भ किया। अतएव उनके द्वारा प्रवर्तित आर्य समाज हिन्दू धर्म का मार्गदर्शक, हिन्दू समाज संस्कार का अग्रणी और राष्ट्रीयता का अग्रदूत बना। वर्तमान भारत में सर्वतो-मुख उद्बोधन एवं जागृति का जो पुनीत भागीरथी प्रवाह प्रवाहित हो रहा है, ऋषि दयानन्द उस प्रवाह के लाने वाले अभिनव भगीरथ हैं। श्री अरविन्द ने लिखा है "भारतीय पुर्नजागृति के शीर्ष स्थान पर स्थित प्रथित आत्माओं के महान् समुदाय में एक अकेली और अपने ढंग और कार्य में निराली महान् आत्मा अपनी विशिष्ट एवं एकान्त विशेषता के साथ खड़ी है। ऐसा प्रतीत होता है कि मानों कोई दीर्घकाल तक छोटी या बड़ी ऊंचाई की पहाड़ियों में चलता रहा हो——उन पहाड़ियों में एक उत्तंग गिरि श्रृंग है, जिससे शुद्ध शक्तिदायक और उपजाऊ बनाने वाले जल का स्रोत उद्भूत हो रहा है, मानो वह सारी घाटी के जीवन और स्वास्थ्य का स्रोत हो। मेरे मन पर दयानन्द का इस प्रकार का प्रभाव पड़ा है।" यही बात आर्य समाज के विषय में, भी पूर्ण रूप से सत्य है।

हरीदत्त वेदालंकार, एम. ए.
गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार

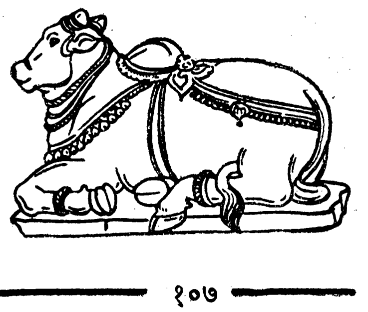

संगठन

हैदराबाद राज्य की राजनैतिक चेतना

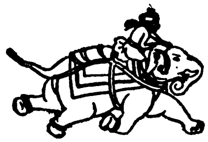

हैदराबाद राज्य में राजनीतिक चेतना उत्पन्न करने का अधिकांश श्रेय यहां के उस समय के शासन को दिया जाना चाहिए, ऐसा मानना अनुचित न होगा। यदि यहां की शासन प्रणाली न्याय तथा जनता के हित पर आधारित होती तो इस प्रदेश की जनता में इतनी शीघ्र जागृति का उत्पन्न होना सम्भव न था। ब्रिटिश शासनकाल में अंग्रेजों की दमन नीति तथा अनियंत्रित शासन की बाधाओं की उपेक्षा करते हुए ब्रिटिश भारत की जनता में नव चेतना का प्रादुर्भाव जिस प्रकार होता गया उसी की प्रतिक्रिया के फल स्वरूप देशी राज्य पर अंग्रेज़ी शासन दृढ़तर होता गया। कुछ अपवादों को छोड़कर प्रारम्भ से ही देशी राज्यों की नीति प्रजातंत्र के अनुकूल न थी। अंग्रेज़ी शासकों की कृपा पर उनका अस्तित्व निर्भर होने के कारण देशी राज्यों में अंग्रेज़ी दमन नीति का पूर्णतया पालन किया जाता था। यह कहना अनुचित न होगा कि ऐसे देशी राज्य अंग्रेज़ों का आदेश पालन कर गौरव अनुभव करते थे। इसी लिए ब्रिटिश भारत में वहां की जनता को स्वाधीनता की सांस लेने की जो सुविधा मिल सकी उसकी कल्पना तक देशी राज्यों में सम्भव न थी। हैदराबाद राज्य पर तो ब्रिटिश शासकों की विशेष कृपा थी। भारत पर अपना शासन दृढ़ रखने के लिए प्रजातंत्रीय आन्दोलन के संसर्ग से हैदराबाद राज्य को सुरक्षित रखने का यहां के रेज़िडेन्टों ने पूरा

प्रबन्ध कर लिया था और अनेक रेज़िडेन्टों ने अपने कार्यभार से मुक्त होने के बाद भी इस विषय से सम्बन्धित अपनी दुश्चिंताओं को व्यक्त किया था। इस लिए सबसे बड़े देशी राज्य के नाते हैदराबाद का अपना असाधारण महत्त्व था ही किन्तु इसके अतिरिक्त ब्रिटिश नीति निर्धारण में हैदराबाद को निर्णयात्मक स्थान प्राप्त था। इस लिए यहां की जनता राजनीतिक दृष्टि से सुप्त ही रहे, कभी उसमें चेतना उत्पन्न न होने पाए इसकी अंग्रेजों ने पूरी पूरी चेष्टा की थी। कई वर्षों तक हैदराबाद राज्य में राजस्व तथा पुलिस के विभाग अंग्रेज़ों के प्रत्यक्ष नियंत्रण में संचालित होते थे इसका भी यही रहस्य है।

यहां के राजा भी प्रगतिशील विचार धारा के पोषक न थे। राजा ईश्वर का अंश है, जनता से अधिक राजा जनता के हितों का ध्यान रख सकता है, जनता का वही एकमेव प्रतिनिधि है। अतः राज्य शासन में जनता अपने अधिकारों को प्राप्त करने के लिए आंदोलन करे यह पागलपन की बात है। ऐसी आसफ़जाही घराने के कुछ राजाओं की धारणा थी। इस तरह के पवित्र आदेश (फ़र्मान मुबारक) स्वाधीनता प्राप्ति से पूर्व कितने ही निकाले जा चुके थे। स्वाधीनता से पूर्व केवल तीन वर्ष २६ जुलाई १९४४ ई. को प्रकाशित एक फ़मारन में निज़ाम ने अपना स्पष्ट मत प्रदर्शित किया था कि "देशी राज्यों में और विशेष रूप से हैदराबाद में उत्तरदायित्वपूर्ण शासन पद्धति की स्थापना असम्भव है" दि. १९ जुलाई के सरकारी पत्रों में यह बात असंदिग्ध रूप से व्यक्त की गई है कि-"राजा स्वयं जनता का प्रतिनिधि है।"

निज़ाम जब फ़रमान निकालते थे तब तो पूरी राज्य शक्ति के साथ यह स्पष्ट था। उसके फ़रमान का विरोध का अर्थ था उसकी समस्त राज्य शक्ति को चैलेंज देना। हदराबाद की जनता ने बड़ी भयानक स्थिति में राज्य शक्ति को ललकारा। आश्चर्यजनक घटनाओं, दुर्गम बाधाओं से और असाधारण तपस्या के कारण जनता इस आन्दोलन में यश को प्राप्त कर सकी। आज यह बात तो स्पष्टरूप से प्रत्येक व्यक्ति जानता है किन्तु हैदराबाद के जन आन्दोलन के कुछ स्मरणीय अंश आज भी प्रकट नहीं है। हैदराबाद के राजनैतिक आन्दोलन के गत तीन पीढ़ियों तथा श्री विनायकराव के निकट सम्पर्क में होने के कारण मैं भी जन आन्दोलन पर एक विहंगम दृष्टि डालने का प्रयत्न कर रहा हूं।

हैदराबाद की जनता में नव चेतना उत्पन्न करने में जैसे अंग्रेज़ों की विशेष नीति बाधा डाल रही थी वैसे ही यहां की जनसंख्या का प्रश्न भी था। राज्य की जनसंख्या में १२ प्रतिशत मुसलमान और ८० प्रतिशत ग़ैर मुसल्मान का अनुपात था। शासकों का सम्बन्ध मुसल्मानों से होने के कारण यहां की शासन प्रणाली में ग़ैर मुस्लिमों को किसी प्रकार का प्रवेश या अधिकार न मिलने पाए इसकी पूरी चेष्टाएँ की जाती थीं। सन् १९२१ ई. में स्थापित (स्टेट्स रिफार्म्स असोसिएशन) राज्य सुधार समिति में, नवाब असग़र यार जंग, मौ. असकर हसन, बैरिस्टर खलीलउज़्ज़मा, जैसे नेताओं ने भाग लिया। उसी प्रकार १९३४ ई. का अस्तित्व में आने वाले "स्टेट्स सब्जेक्टस लीग" में सर निज़ामत जंग, शमशेर जंग, बैरिस्टर अकबर अली ख़ान, मिर्ज़ा ज़ाहिद बेग, अबुहसन सैयद अली जैसे नेता अग्रसर थे। किन्तु राष्ट्रीय वृत्तियों के इन नेताओं को तत्कालीन शासन ने सामाजिक तथा सरकारी क़ानूनों से जकड़ने का प्रयत्न किया। जन आन्दोलन की किसी भी प्रवृत्ति को उस समय साम्प्रदायिक की मुहर लगाई जा सकती थी। यदि उस समय के राष्ट्रीय वृत्ति के मुस्लिम नेता रुपए और पद मर्यादा के मोह का संवरण कर पाते और अधिक दूर दृष्टि या उदारता से काम लेते तो यहां का राजनीतिक वातावरण अधिक स्वस्थ बन सकता था। सरकार की इस नीति के

कारण यहां की मुस्लिम जनता अपने को शासक समझने लगी और यहां का शासन इस ग़लत सिद्धान्त पर चलाया जाने लगा कि यह राज्य एक मुस्लिम राज्य है। "हम दक्कन के शासक वर्ग हैं। हैदराबाद के निज़ाम हमारी राजनीतिक और सांस्कृतिक आकांक्षाओं के प्रतीक मात्र हैं" 'इत्तेहादुल मुसल्मीन संस्था' का यह मूलभूत सिद्धान्त इसी विचारधारा का फल था। साम्प्रदायिक नीति का अनुसरण करते हुए हिन्दू मुसल्मानों में फूट डालकर अंग्रेज़ों ने भारतीय स्वाधीनता को बहुत दिनों तक टाल दिया लेकिन हैदराबाद में इसी नीति के प्रयोग के कारण विपरीत परिणाम निकला और राज्य की स्वाधीनता जनता की प्रिय आकांक्षाएं शीघ्र ही पूर्ण हो सकीं। साम्प्रदायिक वर्ग पर अंग्रेज़ शासकों ने अंत तक अपना पूर्ण नियंत्रण रखा किन्तु निज़ाम के लिए ऐसा करना सम्भव न हो सका। इसलिए एक विशेष दल की साम्प्रदायिक राजनीति हैदराबाद के जन आन्दोलन के लिए आखिर में अनुकूल ही सिद्ध हुई।

सरकार की उपरोक्त नीति के कारण बाह्यतः देखने पर यहां की प्रारम्भिक राजनीतिक चेतना साम्प्रदायिक सिद्धान्त पर आधारित प्रतीत होती है। यहां की जनता की राजनीतिक आकांक्षाओं को विधायक दृष्टि से व्यक्त और प्राप्त करने के लिए जो "हिन्दू स्टैंन्डिग कमेटी" अथवा आर्य समाज जैसी राज्य भर में व्यापक रूप से कार्य करने वाली संस्थाएं थीं उनका भी अधिकार सरकार की साम्प्रदायिक नीति की प्रतिक्रिया ही थी। सरकार की यह नीति अत्यन्त असंदिग्ध और स्पष्ट रूप में १९३८ ई. में जनता के सामने आई।

हैदराबाद के राजनैतिक इतिहास में १९३८ का वर्ष बहुत बड़ा क्रांतिकारी समय माना जाता है। हिन्दू-सभा, आर्य समाज और स्टेट कॉंग्रेस की तीनों संस्थाएं लगभग एक साथ ही कार्य क्षेत्र में उतर पड़ीं। आर्य समाज के कारण हैदराबाद के आन्दोलन की प्रतिध्वनि भारत के कोने कोने में पहुंच गई। स्टेट कॉंग्रेस के आन्दोलन के कारण हैदराबाद की सामान्य जनता में राजनीतिक चेतना का संचार हुआ। परन्तु जनता की राजनीतिक आकांक्षाओं को जगाने में यह आन्दोलन पहला न था अपितु वर्षों से असंतोष की जो आग यहां दहक रही थी उसकी ज्वालाएँ इस आन्दोलन के रूप में एकाएक भड़क उठीं।

इन आन्दोलन से पूर्व १९२१ में "हैदराबाद स्टेट रिफार्मस् एसोसिएशन" (हैदराबाद राज्य सुधार समिति) की स्थापना हो चुकी थी। जनता में राजनीतिक चेतना निर्माण करना और यहां के विधि मंडल में सुधार करने के लिए आवश्यक जनमत को तैयार करना ये ही दो इस संस्था के प्रमुख उद्देश्य थे। यहां की सरकार ने किसी न किसी साधन को अपनाकर इस संस्था में दिलचस्पी लेने वाले प्रमुख और प्रतिष्ठित मुसल्मान नेताओं को राजनैतिक क्षेत्र से पृथक् कर दिया। इसलिए यह संस्था आगे कार्यरत न रह सकी। १९३२ में "हिन्दू-स्टैंन्डिग कमेटी" की स्थापना हुई। उस पर जान बूझ कर "हिन्दू" की मुहर लगाई गई थी। इसके द्वारा व्यक्त की जाने वाली आकांक्षाओं पर ध्यान देने की तत्कालीन शासक वर्ग को क्या पड़ी थी? सन् १९३४-३५ में उत्तरदायी शासन पद्धति का आधार लेकर "निजाम्स सब्जेक्टस-लीग" (निज़ामी जन संघ) की स्थापना हुई। किन्तु नागरिक अधिकार और "उत्तरदायी शासन पद्धति" इन दोनों का सरकार से नकुल-सर्प का वैर था इस लिए इस संस्था को भी कार्य करना असम्भव हो गया।

इस संस्था के अधूरे कार्य को आगे बढ़ाने का बीड़ा स्टेट कॉंग्रेस ने उठाया किन्तु स्टेट कॉंग्रेस की स्थापना से पूर्व ही उसको ख़तम करने की पूरी तैयारी यहां के शासकों ने कर ली थी। हरिपुर के कॉंग्रेस अधि-

वेशन के बाद भारतीय कँाग्रस ने देशी राज्यों के प्रश्न को वहां की जनता का प्रश्न माना और प्रत्यक्ष आन्दोलन करना उचित नहीं माना। १९३५ के विधान के अनुसार ब्रिटिश भारत के अनेक प्रान्तों में कँाग्रेस के मंत्रिमण्डल बने और भारतीय कँाग्रेस अब केवल आन्दोलनकारी संस्था न रहकर शासन चलाने वाली प्रमुख संस्था में परिवर्तित हो गई। इसलिए देशी राज्यों में आन्दोलन करने के लिए देशी राज्य परिषद् की स्थापना हुई। इस परिषद् से देशी राज्यों में कार्य करने वाली राज्य कँाग्रेस और लोक-परिषद् की स्थापना हुई। इस परिषद् से देशी राज्यों में कार्य करनें वाली राज्य कँाग्रस और लोक परिषद् जैसी संस्थाएं सम्बन्धित हो गईं। अन्य राज्यों के साथ हैदराबाद का प्रश्न भी कँाग्रेस के सामने आया। हैदराबाद की राजनीतिक संस्था अखिल भारतीय लोक परिषद् से सम्बन्धित तो की जानी चाहिए किन्तु यह बात कैसे सम्भव हो? इतने बड़े देशी राज्य में जनता की कोई संस्था नहीं थी क्योंकि शासक वर्ग इसके लिए कभी अनुकूल नहीं बन सकता था। राजा ही जब प्रजा का एक मात्र प्रतिनिधि है तो फिर प्रजा की प्रतिनिधिक संगठन की क्या आवश्यकता थी? देशी राज्यों में जो जन जागृति हो चुकी थी उससे शासकों की नीति का मेल अब नहीं हो सकता था। जनता ने अपनी शक्ति को जैसे ललकारा। हैदराबाद में राज्य कँाग्रेस की स्थापना के लिए प्रयत्न किए जाने लगे। किन्तु उस समय की स्थिति ऐसी विचित्र थी कि हर बात के लिए उच्च शासक की अनुमति लेनी पड़ती थी। उस समय के एक प्रमुख नेता ने एक बार यह बात कही थी कि वह आज भी याद आती है। नेता ने कहा था: "यहां तो रोने के लिए भी इजाज़त लेना लाज़मी है।" तब एक राजनैतिक संस्था की स्थापना के लिए सरकार की अनुमति आवश्यक हो यह बिलकुल स्वाभाविक बात थी। धार्मिक और सामाजिक समारोहों का आयोजन तभी हो सकता था जब सरकार की अनुमति प्राप्त हो जाती और इस अनुमति का प्राप्त करना सहज-साध्य न था। और तो "शव यात्रा" के लिए भी किसी समय अनुमति लेनी पड़ती थी। इससे यह स्थिति स्पष्ट हो जाती है कि यहां की जनता को अनुमति की भीख मांगने के अतिरिक्त और कोई अधिकार या स्वाधीनता न थी।

इन परिस्थितियों में राज्य कांग्रेस जैसी राजनीतिक उद्देश्यों से प्रेरित संस्था की स्थापना के लिए सरकार की अनुमति प्राप्त करना टेढ़ी खीर से कम न थी। नेताओं ने निर्णय किया कि राज्य में कांग्रेस की स्थापना करके रहेंगे और उधर सरकार ने दृढ़ निश्चय किया कि किसी भी स्थिति में राज्य कांग्रेस की स्थापना न होने दी जाए। पत्र व्यवहार आरम्भ हुआ। सरकार के आक्षेप तो पहले के नाम मात्र ही थे। बाद में संस्था के अस्तित्व में आने से पूर्व ही इसके संस्थापकों पर यह ज़िम्मेदारी डाल दी गई कि वे इस संस्था की असाम्प्रदायिकता तथा राष्ट्रीयता को सिद्ध करें। इस संस्था में मुसलमान सदस्य या कार्यकर्ता नहीं हैं। अतः इस पर साम्प्रदायिकता की मुहर सरकार ने लगा दी। मुसलमान कई तरह की बंधनों में पहले से ही झकड़े हुए थे। केवल एक उपवाद को छोड़ दें तो यह बात सत्य है कि राज्य कांग्रेस की स्थापना के समय यहां के मुसलमानों का सहयोग प्राप्त नहीं था। तब भी स्वयं जिस सरकार की नीति साम्प्रदायिकता पर आधारित थी उस सरकार की राष्ट्रीय संस्था राज्य कांग्रेस पर साम्प्रदायिकता का आरोप करना यह उसी सरकार की नीति को अधिक स्पष्ट रुप से व्यक्त कर रहा था। कट्टर साम्प्रदायिकता के कीटाणु जिन शासक वर्ग के रक्त में प्रवाहित हो रहे थे ऐसी सरकार को राष्ट्रीयता का प्रमाण देना उतना ही असम्भव था जैसे जन्मांध को दृष्टि प्राप्त करा देना। क्योंकि यहां कि सरकार मूलतः राष्ट्रीय और जनवाद की विरोधी थी अपनी यह भावना गृह सचिव के पत्र में सरकार ने व्यक्त की है।

२९-५-१३४९ फ़सली को श्री काशीनाथ राव वैद्य को लिखे हुए एक पत्र में गृह विभाग के सचिव ने लिखा है :—

" Since your organisation aims at a form of Government derviving authority from the majority in the Legislature it is directed as the principle, recently made the subject of an Official statement that the needs of the people must continue to be determined by the undivided responsibility of the Ruler for the welfare of his subject."

जटायु की मृत्यु उसके पंखो में थी, अहिरावण का अंत उसके शीलभ्रष्ट होने के कारण हुआ। उसी प्रकार एकतंत्री राज्य शासन का मर्म स्थान जनता को अधिकार सम्पन्न करने में है यह बात जानकर ही कांग्रेस की स्थापना के लिए प्रणपण से विरोध जारी रहा।

किन्तु जनता जागृत हो चुकी थी। राष्ट्रीय वृत्ति के लिए पोषक तथा लोकतंत्र पर आधारित संस्था को स्थापित करना हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है इसका विश्वास जनता को हो चुका था। इसलिए राज्य कांग्रेस की स्थापना के अधिकार को मनवाने के लिए हैदराबाद में सत्याग्रह प्रारम्भ हुआ। शताब्दियों से दासता को निर्वाक् बनकर रहने वाली जनता में चेतना उमड़ पड़ी। धधकती आग ने ज्वालाओं का रूप धारण किया। कभी न बुझने वाली ज्योति प्रदीप्त हुई। यहां की प्रतिकूल आँधियों से यह ज्योति बुझने न पाए इस लिए जनता ने इसको अपने हृदय में सुरक्षित रखा था।

स्टेट कांग्रेस के सत्याग्रह ने देखते देखते राज्य व्यापी-आन्दोलन का रूप धारण कर लिया। यहां के जेल के अधिकारियों के लिए प्रथम बार "सियासी क़ैदी" से परिचय प्राप्त करने का अवसर मिला। महात्मा गांधी के आदेश पर १९३८ में सत्याग्रह स्थगित किया गया परन्तु आन्दोलन चालू रहा।

जनता को चुप करने के लिए सरकार की ओर से शासन सुधारों की घोषणा हुई। आयंगार कमेटी ने पहले से ही शासन सुधार की रूप रेखा तैयार की थी। इसके सुझाव प्रतिक्रियावादी थे इस प्रकार के विचार अपने "भिन्नमत" (Dissent) के द्वारा कमेटी के एक सदस्य ने व्यक्त कर दिए थे। सुधारों की घोषणा की गई जनता का विरोध था इस विरोध को एकत्रित और संगठित रूप में व्यक्त न होने देने के लिए सरकार ने जी जान से कोशिश की। इसी स्थिति में स्टेट कांग्रेस की स्थापना के लिए फिर पत्रव्यवहार प्रारम्भ हुआ। "नेशनल-कांग्रेस" राष्ट्रीय परिषद् के नाम से काम करने की अनुमति मिली परन्तु इसकी अनुमति देते देते फिर सरकार ने उसे रद्द कर दिया। सरकार ने "नेशनल' शब्द पर आपत्ति की। उसके लिए फिर एक बार सत्याग्रह हुआ। किन्तु वह केवल प्रतीकात्मक था। स्वामी रामानन्द तीर्थ ने अपने पांच सहयोगियों के साथ सत्याग्रह किया।

इसी बीच द्वितीय महायुद्ध की ज्वालाएँ भड़कीं। पहले से ही नागरिक अधिकारों का अभाव था। उस पर फ़रमान और (Ordinances) अध्यादेशों का राज्य था। ज़बरदस्ती से युद्ध-फंड वसूल किया जाने लगा। साम्प्रदायिक झगड़े बार बार होने लगे। ऐसी भीषण स्थिति में आन्ध्र, महाराष्ट्र और कर्नाटक परिषदों के द्वारा यथामति और यथाशक्ति कार्य चल रहा था। महायुद्ध के प्रारम्भ में रूस के शत्रु-राष्ट्र होने से भारतीय कम्युनिस्टों पर प्रतिबन्ध डाला गया था; उसका अनुचित लाभ उठाकर राज्य सरकार ने प्रान्तीय परिषदों के कार्यकर्ताओं पर कम्युनिस्ट होने का आरोप लगाया।

उसने नीति बदली। अब वह मित्र राष्ट्र बना। कम्युनिस्टों ने अब युद्ध को लोक युद्ध माना। भारत के कम्युनिस्टों पर से प्रतिबन्ध हट गया। वे जेल से बाहर आए, इसी बीच ९ अगस्त १९४२ का आन्दोलन शुरू हुआ। "करेंगे या मरेंगे" की घोषणा से भारत प्रतिध्वनित हुआ। महात्मा गांधी और उनके सहयोगी नेता क़ैद कर लिए गए। हैदराबाद में स्वामी रामानन्द और डा० मेलकोटे ने ९ अगस्त की नीति का प्रतीकात्मक समर्थन करने के लिए सत्याग्रह किया। कुछ काल के लिए सत्याग्रह चालू रहा किन्तु केवल प्रतीकात्मक रूप से।

ये दिन भी समाप्त हुए। अंग्रेज़ों ने भारतीय नेताओं को जेल से मुक्त कर दिया। युद्ध स्थगित हुआ। भारतीय वातावरण शान्त हुआ। ब्रिटिश शासकवर्ग भारत को स्वाधीन करने की बात करने लगा। उसी बीच हैदराबाद में तीनों प्रान्तीय परिषद् के ऐकीकरण के प्रयत्न किए जाने लगे। इसके लिए आवश्यकता इस बात की थी कि सभी प्रान्तीय परिषदों के उद्देश्यों में समानता हो। समान स्तर पर खड़े इन तीनों संस्थाओं के कार्य अब अधिक संगठित और एकता को लेकर होने लगा। इसी समय सर मिर्ज़ा इस्माईल ने दूरदृष्टि से काम लेकर जुलाई १९४६ में स्टेट कांग्रेस पर का प्रतिबन्ध हटा दिया।

इस काल के सम्बन्ध में एक विशेष बात ध्यान देने योग्य है। हैदराबाद के राजनीतिक आन्दोलन का इतिहास उसके बिना अधूरा ही रह जाएगा। वह है श्री स्वामी रामानन्द तीर्थ द्वारा उत्पन्न की गई राजनीतिक चेतना। यदि स्वामी जी के नेतृत्व में, राजनीतिक आदर्शवाद को यथार्थवाद में परिणत कराने के लिए संगठित, त्यागी कार्यकर्ताओं का समूह एकत्रित न होता तो हैदराबाद की राजनीति में प्रगतिपूर्ण भावनाओं का विकास कहां तक सम्भव था यह बात संदेहास्पद होती। माननीय गोखले के नेतृत्व में उदारमतवादी किन्तु त्यागी समाज सेवकों की परम्परा का निर्माण हुआ। गांधी जी के नेतृत्व में भारतीय जन-जीवन में विशेष श्रद्धा, सिद्धान्त और निष्ठा का विकास हुआ उसी प्रकार प्रतिकूल वातावरण में आक्रमक वृत्ति के वीर स्वाधीनता प्रेमी सैनिकों के निर्माण में स्वामी जी ने योग दिया यह भुलाया नहीं जा सकता।

बदली हुई स्थिति में स्टेट पर से वर्षों का प्रतिबन्ध हट गया किन्तु जेल-जीवन निकट आ गया। प्रतिक्रियावादी सुधारों को क्रियान्वित कराने के लिए अनुकूल वातावरण निर्माण हो इस उद्देश्य से प्रतिबन्ध हटाया गया था परन्तु आयोजित सुधारों से लोकतंत्र की गंध तक न थी। दासता के अतिरिक्त और किसी प्रकार के विशेषाधिकार यहां की जनता को प्राप्त न हुए थे। इसलिए आठ वर्ष तक प्रतिबन्ध में पड़कर मुक्त होने वाले कांग्रेस के कर्यकर्ताओं के लिए इन सुधारों का स्वीकार करना असम्भव था। एक तरफ़ ब्रिटिश भारत में शासकों का एक शिष्ट मंडल भारतीय स्वाधीनता के सम्बन्ध में चर्चा करने के लिए आया था। श्री नेहरू के नेतृत्व में दिल्ली में अस्थायी भारतीय सरकार की स्थापना हुई तब हैदराबाद में स्टेट कांग्रेस का प्रथम अधिवेशन सम्पन्न हुआ। जनता ने उत्तरदायी शासन पद्धति की मांग की। इसकी पूर्ति के लिए किन साधनों को अपनाया जाने वाला है उसका मार्ग दर्शन अविलम्ब किया जायगा इस प्रकार का आश्वासन जनता को दिया गया।

अगस्त १९४२ की रात को "भारत छोड़ो" प्रस्ताव पर महात्मा गांधी भाषण देने के बाद जिस प्रकार गम्भीर वातावरण बन गया था उसी प्रकार कांग्रेस के प्रथम अधिवेशन के पश्चात हैदराबाद

राज्य में वातावरण में सनसनाहट थी। वातावरण अधिक विक्षुब्ध न हो इस उद्देश्य से नेता को न छूकर प्रमुख कार्यकर्ताओं को बंदी बनाया जाने लगा। १५ अगस्त भारतीय स्वाधीनता का शुभ मुहूर्त निश्चित, किया जा चुका था। ठीक उससे एक सप्ताह पूर्व स्टेट कांग्रेस ने राज-शक्ति का आव्हान किया। भारतीय स्वाधीनता का प्रथम समारोह हैदराबाद के कई देशभक्तों ने जेल में मनाया।

जेल में स्वाधीनता दिवस। हां ! जेल में ! राष्ट्र स्वाधीन हो गया परन्तु हैदराबाद पराधीनता की आग में जल रहा था। वे भी दिन गए। जनता का मुक्ति-दिन आपने, हमने सभी लोगों ने अपनी आंखों से देखा जो इस आन्दोलन में शहीद हुए वे अमर हुए और जो जीवित रहे उन्होंने स्वाधीनता का मंगल-दर्शन देखा। शहीदों का बलिदान, नेताओं के बीसों वर्षों का परिश्रम, जनता का असहनीय त्याग, देश भक्तों की ज्वलंत प्रेरणा का फल मिला। जनता स्वतंत्र हुई।

जनता स्वाधीन हुई और तत्काल स्वाधीनता के स्वयं प्रेरित बन्धनों से यह स्वयं जकड़ी गई। हैदराबाद के राजनीतिक आन्दोलन का यह विहंगावलोकन है। इसकी एक विशेषता है। सब प्रयत्नों में प्रजातंत्र का विकास समाया हुआ था। व्यक्ति और दल की श्रद्धा यहां के प्रजातंत्र के विकास में कभी बाधक नहीं बनी। वैदिक धर्म का प्रचार करने वाला आर्य समाज, धर्म के मामले में विशेष विचारों का संदेशवाहक था। परन्तु उसके नेताओं में राष्ट्रीय प्रवृत्ति के नेताओं का कभी अभाव नहीं था। कांग्रेस के संगठन को श्री विनायक राव जैसे नेताओं ने पर्याप्त शक्तिशाली बनाया। राजनीतिक आन्दोलन के अवसर पर श्री नरेन्द्र जैसे नेता जेल में थे तो श्री विनायक राव ने वकीलों की समिति बनाकर यहां की सरकारी नीति का खंडन किया और राष्ट्रीय आन्दोलन को शक्तिशाली बनाने का प्रयत्न किया।

उसी प्रकार सर्वस्व को होम करके तीनों प्रान्तीय परिषदों के नेता और कार्यकर्ताओं ने राजनीति में प्रान्तीयता को कभी बाधक नहीं बनने दिया। जनता के हितों की सब प्रकार से रक्षा और विकास करना यही आज तक के कार्यकर्ताओं का उद्देश्य रहा है। इसी लिए परिस्थिति अत्यंत कठिन होकर भी हम अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सके। विविध विचार प्रणाली और मतभेद जनतंत्र के विकास के लिए साधक होते हैं। जब आस्था और त्याग का अंत होता है तभी संघर्ष होने लगता है। आज तक के कार्यों में त्याग और आदर्श के प्रति श्रद्धा का कभी अभाव न रहा। इसी लिए इसमें संघर्ष के लिए स्थान न था। न्याय का अन्याय से संघर्ष, प्रजातंत्र का राज्य तंत्र से संघर्ष, सत्य का असत्य से संघर्ष इन्हीं रूपों में आज तक का हमारा संघर्षमय जीवन व्यक्त हुआ है। और जिनसे लोहा लिया गया वे शक्तियां बलशाली थीं। इसलिए इन संघर्षों में जो हमें सफलता प्राप्त हुई उसका कारण है, हमारी असीम निष्ठा और त्याग। इन्हीं आदर्शों पर दृढ़ रहकर जनता के कल्याण के लिए हम लोग कार्य करते रहेंगे तो हमारा भविष्य सदा ही उज्जवल रहेगा।

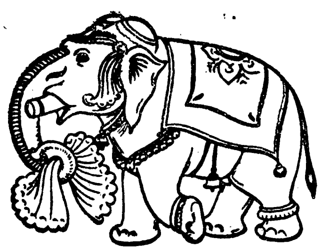

दिगम्बर राव बिन्दु
गृह-मंत्री, हैदराबाद-राज्य

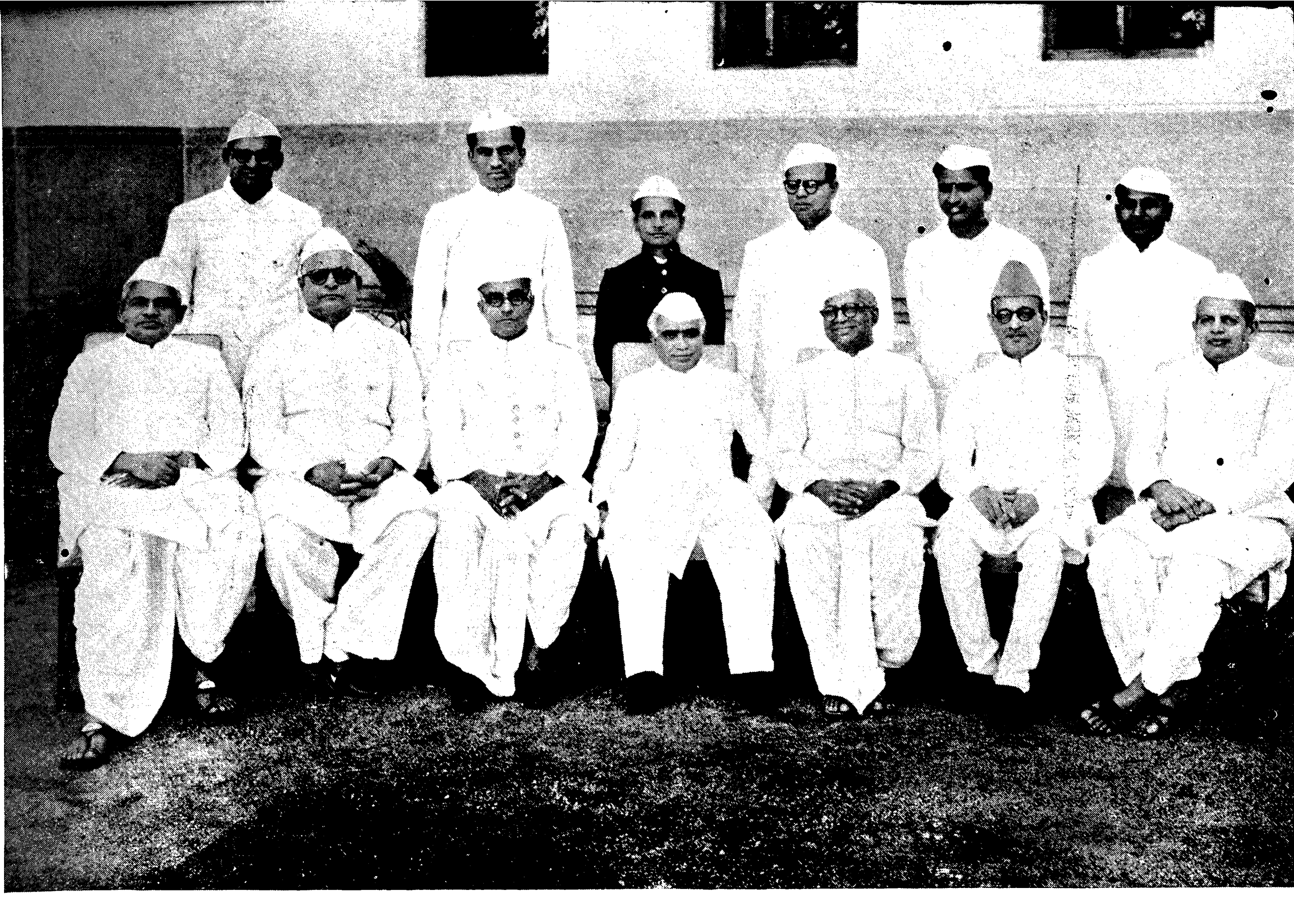

कांग्रेस का प्रथम लोकप्रिय मंत्रीमंडल (१९५१ ई. में) श्रीयुत विनायक राव (उद्योग और वाणिज्य मंत्री के पद पर)

स्वराज्य संग्राम में आर्यसमाज का भाग

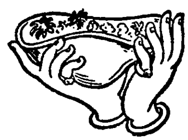

यदि हम यह कहें कि १९४७ ई. के अगस्त मास की १५ तारीख को जिस स्वाधीनता यज्ञ की पूर्ति हुई उसका प्रारंभ महर्षि दयानन्द ने किया था और अन्तिम आहुति महात्मा गांधी ने दी तो कोई अत्युक्ति न होगी। इसमें सन्देह नहीं कि गणतन्त्र राज्य की प्राप्ति में समाप्त होने वाली राज्य-क्रान्ति का बीजारोपण महर्षि ने ही किया था।

महर्षि ने तीन उपायों से भारतवासियों के हृदयों में पराधीनता से छूटने और राजनैतिक स्वाधीनता प्राप्त करने की अभिलाषा को जन्म दिया। सबसे पहला उपाय था-भारतवासियों के हृदयों में अपने देश और धर्म के लिए स्वाभिमान उत्पन्न करना। जिस समय वह कार्यक्षेत्र में अवतीर्ण हुए उस समय देश का शिक्षित समाज पाश्चात्य और सभ्यता और इंग्लैण्ड की भक्ति के प्रवाह में बहा चला जा रहा था। यों सुधार की आवाज तो उससे पहले भी उठ चुकी थी परन्तु वह आवाज देशवासियों को अंग्रेजी भाषा और अंग्रेजी विचारों का भक्त बनाकर आत्म सम्मान को घटाने वाली थी। महर्षि ने बाहर की ओर भागती हुई देशवासियों की दृष्टियों को स्वदेशाभिमान सिखाने वाले अपने उपदेशों द्वारा मानों खींचकर अन्दर

की ओर कर लिया। महर्षि ने लिखा–"यह आर्यावर्त्त देश ऐसा है कि जिसके सदृश भूगोल में दूसरे देश नहीं हैं। आर्यावर्त्त देश ही सच्चा पारसमणी है कि जिसको लोहे रुपी विदेशी छूते ही सुवर्ण अर्थात् धनाढ्य हो जाते हैं।"

दूसरे स्थान पर वह लिखते हैं—"जिस देश के पदार्थों से अपना शरीर बना, अब भी पालन होता है और आगे होगा उसकी उन्नति तन मन धन से सब मिलकर प्रीति से करें।"

मैंने यह दो उद्धरण केवल दृष्टान्त रूप में दिए हैं। महर्षि के ग्रंथों में स्वदेशाभिमान कूट-कूट कर भरा है। महर्षि भारतवासियों के हृदयों में स्वदेशाभिमान की जो भावना उत्पन्न करना चाहते थे उसका सार 'सत्यार्थप्रकाश' के एकादश समुल्लास की निम्नलिखित चार प्रास्ताविक पंक्तियों में आजाता है —"सृष्टि से लेके पांच सहस्रों वर्षों से पूर्व समय पर्यन्त आर्यों का सार्वभौम चक्रवर्ती अर्थात् भूगोल में सर्वोपरि एकमात्र राज्य था, अन्य देश में माण्डलिक अर्थात् छोटे छोटे राजा रहते थे क्यों कि कौरव पाण्डव पर्यन्त यहां के राज्य और राज्य शासन में सब भूगोल के सब राजा और प्रजा चलाते थे।"

राष्ट्र को यह अनुभव कराना कि वह एक दिन शक्ति सम्पन्न और स्वाधीन था, और यदि वह ठीक प्रकार से यत्न करे तो फिर भी स्वाधीन हो सकता है, स्वाधीनता के शिखर पर पंहुचने का पहला कदम है। दूसरा कदम यह है कि राष्ट्र उन कारणों को दूर करे जिन्होंने उसे पराधीन बनाकर पुराने गौरव से गिराया और संसार में अपमानित कराया है। महर्षि ने भारत के अधः पतन पर गंभीरता से विचार किया तब देखा कि उसकी मानसिक दासता ही राष्ट्र की राजनैतिक तथा आर्थिक दासता का मूल कारण है। रोग के असली रूप को पहचान कर महर्षि ने कुशल वैद्य की भांति पहले रोग के मूल कारणों को दूर करने का उपक्रम किया और इसमें शायद किसी को ही सन्देह हो कि वह बहुत दूर तक उसमें सफल हुए। महर्षि के प्रत्येक विचार से सहमत न होने वाले व्यक्तियों को भी यह मानना पड़ता है कि उन्होंने अपनी शास्त्रीय आलोचना और ओजस्विनी वाणी से आर्य जाति के सदियों से बन्द पड़े विचार-सागर का ऐसे ज़ोर से मंथन किया कि उसमें से अनायास विचारों की स्वाधीनता और कर्म करने की ओर प्रवृत्ति जैसे बहुमूल्य उपहारों का प्रादुर्भाव हो गया। यह माना हुआ सिद्धान्त है कि मानसिक स्वाधीनता के बिना सामाजिक स्वाधीनता और सामाजिक स्वाधीनता के बिना राजनैतिक स्वाधीनता संभव नहीं। महर्षि ने जहां भारतवासियों को स्वदेश के प्रति भक्ति भावना का अमृत पिलाया वहां साथ ही मानसिक स्वाधीनता की श्रृंखलाओं को काट-कर राष्ट्र को स्वाधीनता के मार्ग पर डाल दिया।

परन्तु वह इतने से ही सन्तुष्ट नहीं हुए। उन्होंने देश के सन्मुख सच्चे स्वराज्य का रूप भी रखा, यह देखकर आश्चर्य होता है कि महर्षि ने स्वराज्य प्राप्ति से लगभग ७० वर्ष पहले स्वराज्य का जो आदर्श 'सत्यार्थप्रकाश' में प्रदर्शित किया था, भारत का शिक्षित समाज उस समय उस आदर्श से कोसों पीछे था। 'सत्यार्थप्रकाश' के अष्टम समुल्लास में महर्षि ने लिखा था: "आर्यावर्त्त में भी आर्यों का अखण्ड, स्वतन्त्र, स्वाधीन, निर्भय राज्य इस समय नहीं है जो कुछ है सो भी विदेशियों के पादाक्रान्त हो रही है। कुछ थोड़े राजा स्वतन्त्र हैं। दुर्दिन जब आता है तब देशवासियों को अनेक प्रकार के दुःख भोगना पड़ता है कोई कितना ही करे, परन्तु जो स्वदेशी राज्य होता है, वह सर्वोपरि उत्तम होता है अथवा मतमतान्तर

के आग्रह रहित अपने और पराये का पक्षपात शून्य, प्रजा पर पिता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं ह।"

पूर्ण स्वराज्य की इस से अच्छी व्याख्या क्या हो सकती है? 'इन्डियन नेशनल कॉंग्रेस' की स्थापना 'सत्यार्थप्रकाश' के ऊपर उद्धृत किये वाक्यों के कई वर्ष पीछे हुई। उसमें पहले केवल विदेशी राज्य में नौक-रियों की मांग की गई, फिर कई वर्षों तक इंग्लैण्ड की छत्रछाया में थोड़े बहुत प्रतिनिधित्व के अधिकार मांगे गए। आगे चलकर औपनिवेशिक स्वराज्य को अपना ध्येय बनाया गया। पूर्ण स्वराज्य की मांग १९२९ के अन्त में रावी के तट पर की गई। जिस आदर्श पर राजनीतिज्ञ कहलाने वाले लोग २० वीं शताब्दी का प्रथम चरण समाप्त होने पर पंहुचे वहां महर्षि दयानन्द १९ वीं शताब्दी के अन्तिम चरण के आरंभ में पंहुच चुके थे। महर्षि ने स्वराज्य के जिस स्वरूप का वर्णन किया उसे हम गणराज्य का नाम देते हैं। राजा, प्रजा द्वारा निर्वाचित हो, शासन मंत्रियों की सभा द्वारा हो, पुरुषों और स्त्रियों के अधिकार समान हों, ये सब मूल सिद्धान्त जिन्हें देश न गणराज्य की स्थापना के साथ स्वीकार किया महर्षि ने अपने ग्रन्थों में प्रति-पादित कर दिए थे। ऐसी दशा में हमारा यह कहना सर्वथा उचित है कि जिस स्वाधीनता यज्ञ की पूर्ति १५ अगस्त १९४७ के दिन हुई उसका प्रारंभ महर्षि दयानन्द ने किया था।

श्री श्याम जी कृष्ण वर्मा, स्वामी दयानन्द जी के प्रमुख शिष्यों में से थे। वह काठियावाड़ के निवासी थे। उन्होंने इंग्लैण्ड जाकर बैरिस्टरी पास की थी। महर्षि का उन पर बड़ा भरोसा था। जब उन्होंने परोपकारिणी की स्थापना की तब उसके सदस्यों में श्याम जी कृष्ण वर्मा का नाम भी रखा। यद्यपि महर्षि स्वयं अंग्रेजी भाषा से सर्वथा अनभिज्ञ थे तो भी वह भारतवासियों के लिए विदेशी भाषा का पढ़ना तथा विदेश जाकर आधुनिक विज्ञान, शिल्प आदि का अध्ययन करना आवश्यक समझते थे। इस विषय में उन्होंने यूरोप के कुछ विद्वानों से पत्रव्यवहार भी किया था। स्वामी जी ने श्री श्याम जी कृष्ण वर्मा को विलायत भेजकर देश के लिए अधिक उपयोगी बनाने का विचार कई बार प्रगट किया था। स्वामी जी की मृत्यु के कुछ वर्ष पश्चात् वर्मा जी इंग्लैण्ड जाकर बस गए। वहां रहकर उन्होंने भारत के स्वाधीनता संग्राम में जो बहुमूल्य सहयोग दिया वह राष्ट्रीय आन्दोलन का इतिहास जानने वालों को भली प्रकार विदित है। उन्होंने १९०५ में लन्दन में 'इन्डिया हाऊस' नाम का एक केन्द्र खोला था और उसमें 'इन्डियन होम रूल सोसाइटी' की स्थापना की थी। सोसाइटी के प्रधान वे स्वयं थे। सोसाइटी की ओर से 'इन्डियन सोशयोलोजिस्ट' नाम का एक मासिक पत्र प्रकाशित होता था। उसके सम्पादक भी वर्मा जी थे। पत्र का मूल्य केवल एक आना था। यह पत्र खूब गरम राजनीति का प्रचार करता था। इंग्लैण्ड में रहने वाले भारतीय नौजवानों के लिए 'इन्डियन सोशयोलोजिस्ट' मानो राजनीति का धर्मशास्त्र बना हुआ था। बीसों भारतीय विद्यार्थी वर्मा जी की दी हुई छात्रवृत्ति से इंग्लैण्ड में शिक्षा पा रहे थे। मदनलाल धींगड़ा द्वारा कर्जन वापली की लन्दन में हत्या हो जाने पर अंग्रेजी सरकार ने श्याम जी कृष्ण वर्मा जैसे क्रान्ति के नेताओं का इंग्लैण्ड में रहना कठिन बना दिया। तब वर्मा जी पेरिस चले गए और वहीं से राष्ट्रीय आन्दोलन चलाने लगे। लाला हरदयाल एम. ए., भाई परमानन्द आदि प्रमुख क्रान्तिकारी भारतवासी जब विलायत में रहते थे तब उन्हें वर्मा जी से हर प्रकार का सहारा मिलता रहता था।

कॉंग्रेस के प्रारंभिक युग में उसकी नीति को "भिक्षावृत्ति" कहा जा सकता है। कॉंग्रेस के प्रस्तावों में महारानी विक्टोरिया के घोषणा-पत्र की दुहाई देकर सरकारी नौकरियों और ओहदों की मांग की जाती

थी। यों कांग्रेस का उद्देश्य भारतवासियों के लिए राजनैतिक अधिकार प्राप्त करना ही था। जिन लोगों ने महर्षि दयानन्द के पूर्ण प्रतिनिधि सत्तात्मक राज्य के उपदेशों का अमृतपान किया था उनका हृदय ओहदों की भीख की ओर कैसे आकृष्ट हो सकता था। उन दिनों कांग्रेस में प्रवेश पाने के लिए किसी चरित्र संबन्धी परख की ज़रूरत नहीं समझी जाती थी। आर्यजनों को यह बात भी पसन्द नहीं थी, इस कारण सामान्य रूप से उन दिनों आर्यजन कांग्रेस के प्रति उपेक्षा का व्यवहार रखते रहे। परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि कांग्रेस का भारत के लिए राजनैतिक अधिकार प्राप्त करने का लक्ष्य उन्हें आकृष्ट नहीं करता था। उनमें से जो लोग राजनैतिक मनोवृत्ति के थे वह प्रारंभ से ही कांग्रेस के कामों में सहयोग देने लगे थे। प्रयाग में कांग्रेस का जो अधिवेशन हुआ उसमें लाला लाजपतराय और अम्बाले के बाबू मुरलीधर प्रतिनिधि रूप में सम्मिलित हुए थे। अगले वर्ष कांग्रेस अधिवेशन को लाहौर में निमन्त्रित करने वालों में वह भी सम्मिलित थे। लाहौर का अधिवेशन अपने ढंग का अनूठा था। श्री दादाभाई नौरोजी ब्रिटिश पार्लियामेंट के सदस्य होने के पश्चात पहली बार भारत में आये थे। उनके स्वागत और कांग्रेस के अधिवेशन का प्रबन्ध करने वालों में बहुत से प्रमुख आर्यसमाजी सम्मिलित हुए। लाला लाजपतराय के अतिरिक्त बख़्शी जय श्रीराम, राय मूलराज एम. ए., बाबू मुरलीधर आदि आर्यसज्जन स्वागत कारिणी के प्रमुख सदस्य थे।

१९०६ तक देश की राजनीति इसी प्रकार ढीली ढाली चलती रही।—लॉर्ड कर्ज़न ने बंगाल का विभाजन करके भारत की राजनीति में मानो जान डाल दी। अंग-भंग से बंगाल के निवासियों के हृदयों को जो पीड़ा पहुंची उसे उन्होंने ऐसे ऊँचे आर्त्तनाद से प्रकट किया कि सारे देश की आंखें खुल गई। देशवासियों को यह अनुभव होने लगा कि दासता सचमुच एक महान् अभिशाप है। बंग-भंग का आन्दोलन देशभर में फैल गया। जिन प्रान्तों में उसने बहुत उग्र रूप धारण किया उनमें से एक पंजाब भी था। उस समय तक पंजाब का राजनैतिक नेतृत्व पूरी तरह लाला लाजपतराय के हाथों में आ चुका था। उनके प्रभावशाली शब्द ने सारे प्रान्त को आवेश की पराकाष्ठा तक पहुंचा दिया था। उनकी उस गर्जना के कारण ही उनका 'पंजाब केसरी' नाम पड़ा। वे ऋषि दयानन्द के पक्के शिष्य थे। स्वभावतः उनकी गर्जना का आर्यसमाजियों पर विशेष प्रभाव पड़ा। बंग-विच्छेद के कारण पंजाब में जो आन्दोलन खड़ा हुआ उसके नेताओं में हम अनेक आर्यसमाजियों के नाम पाते हैं। रावलपिण्डी में जो काण्ड हुए उनके लाला हंसराज साहनी आदि सभी नेता आर्यसमाजी थे। लाहौर के राष्ट्रीय कार्यकर्ताओं में भी आर्यसमाजी बहुत बड़ी संख्या में थे। जब लाला जी के बढ़ते हुए प्रभाव से डरकर सरकार ने उन्हें माण्डले के क़िले में नज़रबन्द कर दिया तब सरकार की सबसे अधिक कड़ी दृष्टि आर्यसमाजियों और आर्यसमाज की संस्थाओं पर पड़ी। वह समय आर्यसमाजियों के लिए कड़ी परीक्षा का था। सरकार के अन्तरंग क्षेत्रों में यह प्रस्ताव चक्कर काटने लगा था कि जो आर्यसमाजी सरकारी नौकरी में हैं यदि वह आर्यसमाज से त्यागपत्र न दें तो उन्हें नौकरी से पृथक् कर दिया जाए। कुछ लोगों की उन्नतियां रोक दी गई और दो चार को नौकरी से पृथक् भी किया गया। परन्तु सन्तोषपूर्वक कहा जा सकता है कि किसी एक भी आर्यसमाजी ने नौकरी की रक्षा के लिए समाज की सदस्यता का पदत्याग नहीं किया।

कांग्रेस के दूसरे युग का प्रारंभ उस समय हुआ जब रौलेट ऐक्ट के विरोध में महात्मा गान्धी ने सत्याग्रह की घोषणा की। सत्याग्रह के मूल सिद्धान्त दो थे। पहला सत्य, दूसरा अहिंसा। इन दोनों सिद्धान्तों

का पालन वही मनुष्य कर सकता था जो चरित्रवान् हो। यह विचार परम्परा आर्यसमाजियों को प्रिय थी क्योंकि यह उनके जीवन संबन्धी विचारों से मेल खाती थी। मूल सिद्धान्तों की इस समानता का परिणाम यह हुआ कि आर्यसमाज के प्रमुख नेता श्री स्वामी श्रद्धानन्द ने, जो इससे पूर्व कांग्रेस की रीति नीति के कठोर समालोचक थे एक तार द्वारा महात्मा जी को यह सूचना भेज दी कि "मैंने सत्याग्रह की प्रतिज्ञा पर हस्ताक्षर कर दिए हैं।" सत्याग्रह में स्वामी जी का सम्मिलित होना मानो एक सूचक था। देश भर में हजारों आर्यसमाजियों ने सत्याग्रह की सेना में अपने नाम लिखा लिए। जहां उन्हें सत्याग्रह का मूल रूप धर्मानुकूल प्रतीत होता था वहां साथ ही महात्मा गांधी का ऊंचा जीवन भी अपनी ओर आकृष्ट करता था। सत्याग्रह की घोषणा से लेकर पंजाब में मार्शल लॉ और अमृतसर के कांग्रेस-अधिवेशन की समाप्ति तक के विस्तृत इतिहास को देखें तो उस समय के उत्तरीय भारत के स्वाधीनता संग्राम के सिपाहियों में हमें आर्यसमाजियों की अधिक संख्या मिलती है। पंजाब के डॉ. सत्यपाल, श्री रामभजदत्त आदि नेता आर्यसमाजी थे। मुफ़स्सिल शहरों में भी आर्यसमाज के प्रमुख अधिकारियों ने आगे बढ़कर आन्दोलन में भाग लिया। परिणाम यह हुआ कि जब पंजाब में मार्शल लॉ लगाया गया तो प्रायः मार्शल लॉ वाले सभी शहरों में न केवल आर्यसमाज के अधिकारियों पर मुसीबतें ढाई गईं, आर्यसमाज की संस्थाओं पर भी वार किए गए। अनेक प्रमुख आर्यसमाजियों पर मार्शल लॉ का प्रहार हुआ। डी. ए. वी. कॉलेज के सब छात्रों पर जो अत्याचार किये गए उनका वृत्तान्त सरकारी और कांग्रेसी जांच कमेटियों की रिपोर्टों में पढ़ें तो रोमांच हो आते हैं। हॉस्टल के सब छात्रों का गोरे सिपाहियों के पहरे में सिर पर बिस्तर रख कर मई की धूप में दो-तीन मील चलने पर बाधित किया जाता था, ताकि वह रात को क़िले में सोएं। जहां किसी छात्र की चाल ढीली हुई कि गोरे की गाली और संगीन की नोक उसकी पीठ पर आ धमकती थी। गुजरांवाला में एक गुरुकुल स्कूल था। उस पर भी मार्शल लॉ के अधिकारी की कुदृष्टि पड़ गई और वह सब कुछ किया गया जिसकी मार्शल लॉ में गुंजाइश थी। देश के अन्य भागों में भी आर्यसमाज के सदस्यों ने पहले सत्याग्रह में और फिर कांग्रेस में सहयोग देना आरंभ कर दिया।

१९१९ के अन्त में अमृतसर में कांग्रेस का जो अधिवेशन हुआ उसकी स्वागत-योजना के चलाने वाले यदि सौ प्रतिशत नहीं तो पचहत्तर प्रतिशत आर्य समाजी अवश्य थे। स्वागताध्यक्ष श्री स्वामी श्रद्धानन्द के व्यक्तिगत प्रभाव और परिश्रम के बिना अमृतसर में कांग्रेस का अधिवेशन शायद ही हो सकता। स्वभावतः उनके चारों ओर जो कार्यकर्त्ता एकत्र हुए वह आर्यसमाजी थे। कांग्रेस के इतिहास में वह पहला ही अवसर था कि स्वागताध्यक्ष ने अपना भाषण राष्ट्रभाषा हिन्दी में पढ़ा। वह भी कांग्रेस को आर्यसमाज की एक देन ही थी।

यूरोप में क्रान्तिकारी दल को संगठित करने में श्री श्याम जी कृष्ण वर्मा ने जो प्रमुख भाग लिया उसकी चर्चा हम पहले कर आए हैं। भारत में उससे पूर्व ही क्रान्तिकारी दल जन्म ले चुका था। संभव है कुछ लोग क्रान्तिकारी दल की कार्यप्रणाली से सहमत न हों, परन्तु उस दल के सदस्यों की ओजस्विनी देशभक्ति तथा अद्भुत साहसिकता से कोई भी भारतवासी इनकार नहीं कर सकता। इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि स्वराज्य की उपलब्धि में उन लोगों के बलिदान से बहुत सहायता मिली।

आर्यसमाजी विचार रखने वाले क्रान्ति कारियों में से पहला नाम मदनलाल धींगड़ा का है जिसने लन्दन में कर्ज़न वायली की हत्या की थी। अदालत में बयान देते हुए युवक मदनलाल ने कहा था—

"मुझ जैसे निर्धन और मूर्ख युवक-पुत्र के पास माता की भेंट के लिए अपने रक्त के अतिरिक्त और हो ही क्या सकता है। और इसी से मैं अपने रक्त की श्रद्धांजलि माता के चरणों में चढ़ा रहा हूं। भारत में इस समय केवल एक ही शिक्षा की आवश्यकता है और वह है मरना सीखना। और उसके सिखाने का एक मात्र ढंग स्वयं मरना है। मेरी ईश्वर से यही प्रार्थना है कि मैं बारबार भारत की गोद में जन्म लूं और उसी के कार्य में प्राण देता रहूं। वन्देमातरम्।"

भाई परमानन्द उन आर्य विद्वानों में से थे जो अपने आरंभिक जीवन में अनेक विदेशों में वैदिक धर्म का प्रचार करने गए थे। वह पंजाब में क्रान्तिवाद के मुखिया बनकर सरकार के कोपभाजन बने और काले पानी में जन्म भर की कैद भोगने के लिए भेजे गए। भाई बालमुकन्द, भाई परमानन्द के चचेरे भाई थे। आपने डी. ए. वी. कॉलेज से बी. ए. की परीक्षा पास की। १९१०-११ ईस्वी में पंजाब में राजनैतिक अशान्ति का जो बवंडर उठा उसने बहुत से नवयुवकों को क्रान्तिकारी बना दिया। भाई बालमुकन्द भी उन नवयुवकों में थे। वह लाहौर-षड्यन्त्र केस के सिलसिले में पकड़े गए। दीनानाथ नाम के एक मुखीबर के बयानों पर जिन अनेक नवयुवकों को फांसी का आदेश दिया गया उनमें बालमुकन्द भी थे। भाई बालमुकन्द के बलिदान के साथ लगी हुई एक और सुन्दर बलिदान की सच्ची गाथा भी है। जब उनकी नवविवाहिता पत्नी को विदित हुआ कि पतिदेव को फांसी मिल गई तो वह उठीं, स्नान किया और कपड़े और गहने पहनकर एक चबूतरे पर जा बैठीं और वहीं बैठे बैठे प्राण त्याग दिए। वह भी मातृभूमि की वेदी पर एक बहुमूल्य बलिदान ही था।

इसी हल्ले में महात्मा हंसराज के सुपुत्र बलराज भी पकड़े गए थे। पंजाब में अन्य जो क्रान्तिकारी नवयुवक जेलों में भेजे गए या फांसी चढ़ाये गए उनमें से अनेक आर्यसमाजी थे।

१९२४-२५ ईस्वी में उत्तर प्रदेश में क्रान्तिकारी दल का विस्तृत संगठन तैयार हो गया था। उस दल के अनेक कारनामों में से काकौरी की डकैती सबसे अधिक प्रसिद्ध है। उस दल के प्रमुख नेता श्री राम प्रसाद 'बिस्मिल' कट्टर आर्यसमाजी थे। आपके दूसरे साथी श्री गेंदालाल भी आर्यसमाजी विचार रखते थे। 'बिस्मिल' बहुत छोटी आयु से ही क्रान्तिकारी विचारों से प्रभावित हो गए थे। उन्होंने सरकारी अड्डों या खज़ानों पर किए गए कई आक्रमणों में भाग लिया। अन्त में लखनऊ के समीप काकौरी के स्थान पर जो सनसनीदार डाका डाला गया उसके नेता के रूप में श्री रामप्रसाद भी पकड़े गए। 'बिस्मिल' कवि भी थे। यह उनका कविता का ही उपनाम था। जेल में वह प्रायः जो अपना बनाया गीत गाया करते थे उसके अन्तिम पदों में एक देशभक्त की सच्ची तड़पन पाई जाती है। पद यह था—

"अब न पिछले वलवले हैं और न अरमानों की भीड़,
एक मिट जाने की हसरत बस दिले बिस्मिल में है।"

फाँसी पर चढ़ते हुए 'बिस्मिल' ने यह गीत गाया था—

"मालिक तेरी रज़ा रहे और तू ही तू रहे
बाक़ी न मैं रहूं न मेरी आरज़ू रहे।"

इसी समय अन्य भी कई स्थानों में स्वाधीनता प्राप्त करने के लिए क्रान्तिकारी दलों की स्थापना हुई। उनके सदस्यों में हम अनेक आर्यसमाजी युवकों के नाम पाते हैं।

राष्ट्रीय जागृति और उस द्वारा स्वराज्य की प्राप्ति को आर्यसमाज की एक बड़ी देन गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली के रूप में मिली। गुरूकुल की स्थापना १९०० ईस्वी में गुजरांवाला में हुई। १९०२ में वह गंगा के तट पर कांगड़ी ग्राम के समीप एक शिक्षणालय के रूप में प्रतिष्ठापित हुआ। प्रारंभ से ही गुरुकुल के मूल सिद्धान्त ऐसे स्वीकार किए गए थे जो पूर्णरूप से राष्ट्रीय भावना को लिए हुए थे। छात्रों का आश्रम में गुरुओं की संरक्षा में निवास गुरुकुल शिक्षा प्रणाली का पहला और आवश्यक अंग था। उनका वेश भारतीय और सीधा सादा था। छात्रों को सब अर्वाचीन और नवीन विषयों की शिक्षा राष्ट्रभाषा हिन्दी में दी जाती थी। संस्कृत वाङमय और आर्य धर्म प्रत्येक छात्र की शिक्षा के आवश्यक अंग थे। गुरुकुल शिक्षाप्रणाली का सबसे मुख्य लक्ष्य चरित्र निर्माण था। यही विशेषताएँ हैं जो किसी जाति को राष्ट्र बनाने वाली शिक्षा में होनी चाहिएं। गुरुकुलों में यह पहले से विद्यमान थीं। गुरुकुल कांगड़ी के पश्चात् देश भर में अनेक गुरुकुलों की स्थापना हुई। सभी में इन्हीं शिक्षा के मूल सिद्धान्तों को स्वीकार किया गया जिनका निर्देश महर्षि दयानन्द ने अपने ग्रन्थों में किया था। १९०६ और १९१९ के राजनैतिक उत्थान के समय जाति ने राष्ट्रीय शिक्षा के महत्व को समझकर अंग्रेजी शिक्षणालयों के बहिष्कार और राष्ट्रीय शिक्षणालयों के संस्थापन का आयोजन किया। कई केन्द्रों में राष्ट्रीय शिक्षणालय खोले भी गए। परन्तु वह राजनीतिक आन्दोलन के उत्थान और पतन के प्रभाव से न बच सके। जब राजनीतिक आन्दोलन प्रबल हुआ तब वह राष्ट्रीय शिक्षणालय चमक उठे, और जब वह ढीला पड़ा, ढीले पड़ गए। इसी ज्वार-भाटे के सिलसिले में आन्दोलन के कारण बने हुए ९९ प्रतिशत राष्ट्रीय शिक्षणालय समाप्त हो गए। उन सारे झोंको को सहकर यदि कोई शिक्षणालय न केवल जीवित रहे, अपितु निरन्तर उन्नति करते रहे वह गुरुकुल थे। उन्होंने सरकार के सर्वथा स्वाधीन राष्ट्रीय शिक्षा के दीपक को प्रज्वलित रखा। आज स्वाधीन भारत की सरकार इस सत्य को स्वीकार करे या न करे, स्वराज्य मिलने से पूर्व उसके नेता मुक्त-कण्ठ से जय घोषणा करते रहे हैं "कि गुरुकुल सच्चा राष्ट्रीय शिक्षणालय है और उसकी आधारभूत पद्धति ही राष्ट्र की मानसिक दासता की एकमात्र औषधि है।"

यह सर्वसम्मत बात है कि हमारे देश के नैतिक अधः पतन का मुख्यकारण सामाजिक बुराइयाँ थीं। जन्मगत जातपात के बन्धन, छुआछूत का भयंकर रोग और स्त्रियों की अशिक्षा और सामाजिक हीनता आदि रोगों के घातक कीटाणुओं ने जाति को ऐसा निर्बल कर दिया था कि वह किसी आक्रान्ता के आक्रमण का सामना नहीं कर सकती थीं। यह भी स्पष्ट सत्य है कि ज्यों ज्यों जाति के इन रोगों का निवारण होता गया त्यों त्यों हम स्वाधीनता के समीप पहुंचते गए। जब राज्य क्रान्ति का अन्तिम दौर शुरू हुआ तब यह स्पष्ट हो चुका था कि यद्यपि सामाजिक रोग सर्वथा नष्ट नहीं हुए थे, वह जड़ से हिल अवश्य चुके थे। इस से शायद आर्यसमाज का कोई कट्टर विरोधी भी इनकार न करे कि जातपात के जाल को काटने, छुआछूत के भूत को भगाने और स्त्रियों को सुशिक्षित और समुन्नत करने में आर्यसमाज ने अगुआ का काम किया है। अर्वाचीन भारत में महर्षि दयानन्द पहले सुधारक थे जिन्होंने सर्वसाधारण जनता में सामाजिक जागृति पैदा की। महात्मा जी का सत्याग्रह यज्ञ सफल न हो सकता यदि महर्षि दयानन्द ने उससे लगभग ९० वर्ष

पूर्व समाज सुधार का मंगलाचरण न कर दिया होता। भारत के बड़े भाग में समाज सुधार की योजनाओं को कार्यान्वित करने का श्रेय आर्यसमाज को देना ही पड़ेगा।

यदि २० वीं सदी के प्रारंभिक ४० वर्षों के इतिहास पर दृष्टि डालें तो हम देखेंगे कि उत्तरीय भारत के प्रायः सभी प्रान्तों में आर्यसमाज के कार्यकर्त्ता समाजसुधार के अग्रदूत बने हुए थे। एक समय था जब बड़ौदे की रियासत शिक्षाप्रचार और समाज सुधार में बहुत आगे बढ़ी हुई मानी जाती थी। जानकार लोगों को मालूम है कि महाराज सयाजीराव गायकवाड़ को सुधार की ओर प्रेरित करने का बहुत-सा श्रेय उनके मानसिक गुरु स्वामी नित्यानन्द महाराज को था। और उनकी सुधार संबन्धी योजनाओं को केन्द्रित करने वाले राज्यरत्न पण्डित आत्माराम अमृतसरी थे। दोनों ही विद्वान आर्यसमाजी थे। इसी प्रकार अन्यत्र भी जहां कहीं समाज सुधार की समस्या कठिन हो जाती थी वहां आर्यसमाज के कार्य कर्त्ता मैदान में कूद पड़ते थे।

मैं इस लेख में बतला चुका हूं कि सत्याग्रह के पहले दौर में आर्यसमाजियों ने असाधारण उत्साह से भाग लिया। क्योंकि वह आन्दोलन उन्हें धार्मिकता की भावना से ओतप्रोत मालूम हुआ। १९२२-२३ में आन्दोलन के शिथिल हो जाने पर एक नई परिस्थिति उत्पन्न हो गई। यूरोपियन महायुद्ध के विजयी मित्रदल ने ख़िलाफ़त का ख़ात्मा करके भारत के ख़िलाफ़त आन्दोलन को लगभग समाप्त कर दिया। सर्व-साधारण मुसल्मान जनता ख़िलाफ़त के नाम पर ही संगठित होकर महात्मा गान्धी के सत्याग्रह में सम्मिलित हुई थी। ख़िलाफ़त का अन्त हो गया इस कारण साधारण मुसल्मान जनता का रुख़ कांग्रेस की ओर से हट गया परन्तु उनका संगठन दृढ़ हो चुका था और उन पर मौलानाओं की प्रधानता चरम सीमा तक पहुंच गई थी। इस परिस्थिति ने भारत में साम्प्रदायिक संघर्ष उत्पन्न कर दिया। मालाबार, मुलतान आदि स्थानों पर हिन्दुओं पर भयंकर आक्रमण हुए। जीवित संस्था होने के कारण आर्यसमाज ने उन आक्रमणों का शान्तिपूर्ण उपायों से प्रतिरोध खड़ा किया। इसे पहले मुसल्मान नेताओं ने और फिर उनकी ऐनक से देखनेवाले कुछ राजनैतिक नेताओं ने आर्यसमाज पर दोषारोपण करना आरंभ कर दिया। जेल से बाहर आने पर मौलाना मुहम्मद अली और शौकत अली जैसे बाहर से राष्ट्रवादी परन्तु हृदय से कट्टर सम्प्रदायवादी मुसल्मान नेताओं के कथन पर विश्वास करके महात्मा जी ने भी आर्यसमाज को दोषी ठहरा दिया। और अपने मत को बड़ी शीघ्रता से 'यंग इण्डिया' के स्तंभों में प्रकाशित कर दिया। महात्मा जी के उस एक पक्षीय लेख ने आर्यजनों के हृदयों को बहुत पीड़ा पहुंचाई। लेख में वस्तुतः आर्यसमाज के साथ अन्याय किया गया था। इस कारण महात्मा जी ने पीछे से कई लेखों और नोटों द्वारा उसका मार्जन करने की चेष्टा की। परन्तु उस लेख के बोए हुए सब कांटे सिमट न सके। उस लेख के सुदूरवर्ती परिणामों में हम स्वामी श्रद्धानन्द और महाशय राजपाल की हत्याओं की गिनती कर सकते हैं। इन सारी घटनाओं का परिणाम यह हो जाता कि आर्यसमाज के सदस्य राष्ट्रीय आन्दोलन से विमुख हो जाते यदि उनकी राष्ट्रीयता की भावना बहुत गहरी न होती। उनकी राष्ट्रीयता केवल राजनैतिक नेताओं के सामयिक लेखों पर आश्रित नहीं थी। वह महर्षि दयान्द की सिखलाई हुई निष्कलंक देशभक्ति पर आश्रित थी। अतः कुछ राष्ट्रीय नेताओं के व्यवहार से असन्तुष्ट होकर भी आर्यजन देश के स्वाधीनता संग्राम से पृथक् न हुए। वह निरन्तर २५ वर्षों तक स्वराज्य की उन सब लड़ाइयों में तन-मन-धन से पूरा सह-योग देते रहे जिनका नेतृत्व महात्मा जी ने किया। मैं एक भी ऐसे आर्यसमाजी को नहीं जानता कि जिसने

कुछ अदूरदर्शी राष्ट्रीय नेताओं के दुर्व्यवहारों के कारण स्वाधीनता यज्ञ में अपनी बलि देने में संकोच किया हो। यह दृढ़तापूर्वक कहा जा सकता है कि स्वराज्य की अन्तिम मुहिम की सफल समाप्ति तक महर्षि दयानन्द के शिष्य अपना धर्म समझकर सेना की अगली श्रेणी में लड़ते रहे।

स्वतन्त्रता की घोषणा के पश्चात् फिर एक ऐसा समय आया जब आर्यजनों ने अपनी अद्भुत देश-भक्ति का परिचय दिया। जब यूरोप के देश टर्की के खलीफ़ा का अन्त कर रहे थे तब भारत वर्ष के मुसल्मानों ने अंग्रेजी सरकार के सामने यह प्रस्ताव रखा था कि वे हैदराबाद के निज़ाम को संसार भर के मुसल्मानों का ख़लीफ़ा मान ले। निज़ाम ने उस समय उस प्रस्ताव का विरोध नहीं किया था। उस समय से यह बात स्पष्ट हो गई थी कि भारत के मुसलमान और हैदराबाद का निज़ाम इस बात में सहमत है कि यदि अवसर मिले तो हैदराबाद के शासक को भारत से पृथक् ऊँचे पद का अधिकारी बनाया जाए। अंग्रेज़ों के भारत से विदा होने पर उन लोगों के दिल का सोया हुआ भूत जाग उठा और निज़ाम तथा उसके साथियों ने भारत से पृथक् आज़ादी का झण्डा खड़ा कर दिया। निज़ाम के ग़रीब प्रजा का रक्त चूसकर एकत्र किये हुए स्वर्ण भण्डार की सहायता से रज़ाकारों की एक आततायी सेना खड़ी की गई जिसने रियासत के हिन्दू निवासियों को लूटना और मारना प्रारंभ कर दिया। भारत सरकार के पुलिस कारवाई प्रारम्भ करने से पूर्व हैदराबाद के हिन्दुओं की दशा बहुत ही शोचनीय हो जाती यदि आर्यसमाज के कार्यकर्ता सिर पर कफ़न बांधकर क्षेत्र में न कूद पड़ते। उन थोड़े से संकटमय दिनों में आर्यनवयुवकों ने रज़ाकारों का जो मुंह तोड जवाब दिया उसने परिस्थिति को काफ़ी संभाले रखा। हैदराबाद के स्वतन्त्रीकरण में उन नवयुवकों ने जो प्रशंसनीय कार्य किया वह यद्यपि प्रकट इतिहास का भाग नहीं है तो भी वह विस्मरणीय नहीं समझा जा सकता।

आर्यसमाजियों ने अपने देश की स्वाधीनता के लिए जितने बलिदान किये हैं उनका प्रेरक कारण कोई स्वार्थ नहीं था। अपितु धर्म था। वैदिक धर्मी प्रतिदिन प्रार्थना करता है—"अदीनाः स्याम शरदः शतम्"। दासता में रहना उसके धर्म के प्रतिकूल है। इसी भावना से प्रेरित होकर, गलतफ़हमियों के शिकार बनकर भी आर्यजन देश के प्रति अपने कर्तव्य का पालन अबतक करते रहे हैं। और आशा है कि आगे भी करते रहेंगे। नौकरियों, उपधियों या पदों की इच्छा से न वह अब तक प्रेरित हुए और न आगे प्रेरित होंगे। वह स्वाधीनता को धर्म समझकर उसके लिए लड़ते रहे हैं। विश्वास रखना चाहिए कि भविष्य में भी राष्ट्र पर संकट आने की दशा में वह उसी विशुद्ध भावना से कार्यक्षेत्र में उतरेंगे। महर्षि दयानन्द के अनुयायियों को यही शोभा देता है।

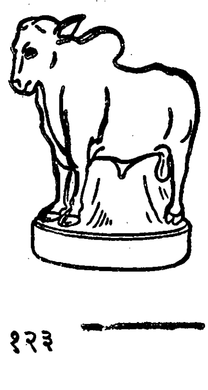

इन्द्र विद्यावाचस्पति एम. पी.
कुलपति, गुरुकुल विश्व विद्यालय कांगडी,
हरिद्वार

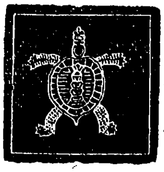

संयम

हैदराबाद में आर्य समाज का संघर्ष

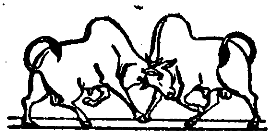

उन्नीसवीं शताब्दी ने जिन महान् आत्माओं को जन्म दिया, उनमें महर्षि दयानन्द को अत्यन्त महत्व-पूर्ण स्थान प्राप्त है। इसी महान् आत्मा के कारण भारत में धार्मिक पुनर्जीवन का प्रादुर्भाव हुआ। सृष्टि के आदि काल के मानवीय-धर्म की यथार्थता की पुनरपि चर्चा होने लगी। पथ भ्रष्ट मानव तथा युग के पथ प्रदर्शन के निमित्त महर्षि ने एक ऐसा मार्ग निर्धारित कर दिया कि जिसका अनुसरण करके देश एवं राष्ट्र शान्ति तथा प्रेम, आध्यात्मिक तथा भौतिक शक्ति प्राप्त कर सकते हैं। यद्यपि महर्षि का संदेश पूर्व से लेकर पश्चिम तक विस्तार पा चुका था तथापि ऐसा ज्ञात होता है कि संसार उनके संदेश की उपयोगिता को पूर्ण रुप से समझने में असमर्थ था। वस्तुतः ऋषिवर्य एक गम्भीर चिंतक एक महान् समाज-सुधारक एवं एक उच्च आध्यात्मिक पथ-प्रदर्शक के रूप में एक शताब्दी पूर्व ही भारत में अवतरित हो चुके थे।

संसार के सभी राष्ट्र आज शान्ति और प्रेम के इच्छुक हैं विशेषतः पश्चिमी राष्ट्र अपनी महान् भौतिक उन्नति के साथ साथ आध्यात्मिक और नैतिक समाधान प्राप्त करने के लिए छटपटा रहे हैं किन्तु यह सुख उसकी पहुंच से बाहर है। वैदिक धर्म के राज-मार्ग पर चलकर तथा जीवन सम्पदा स्वरूप आर्य

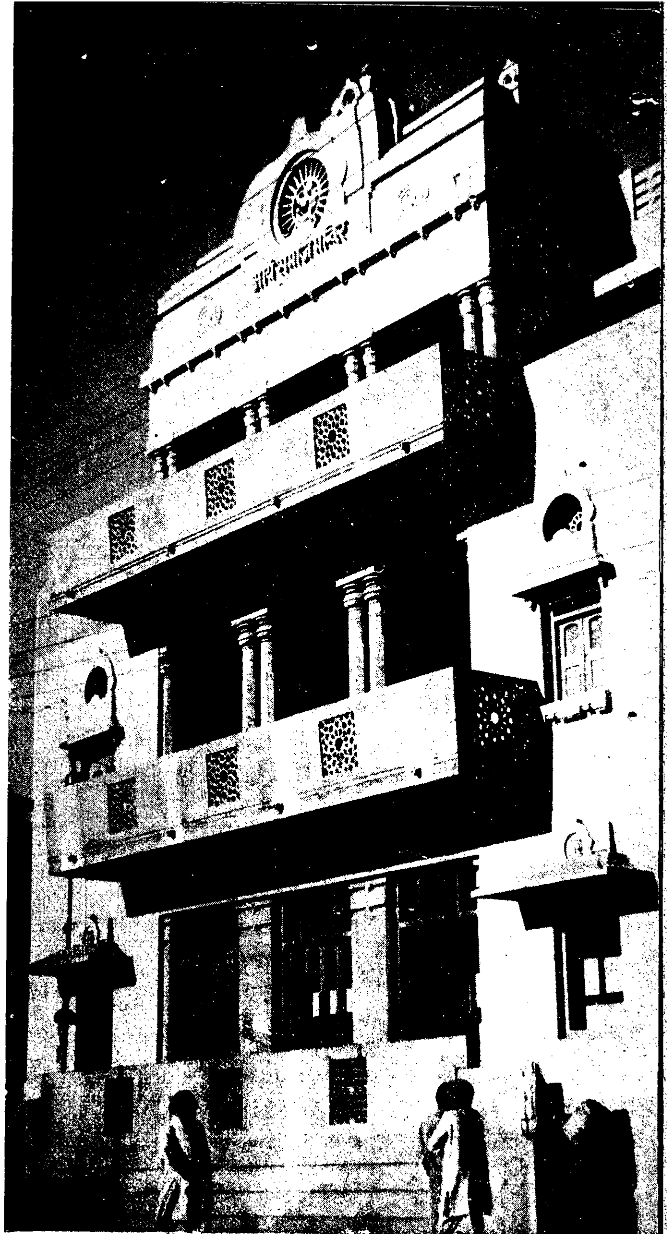

आर्यसमाज, सुलतान बाज़ार
(श्रीयुत विनायक राव का इस आर्यसमाज से प्रारंभ से सम्बन्ध रहा है)

समाज की छत्र-छाया में ही पश्चिम को यथार्थ में सुख एवं शान्ति प्राप्त हो सकती है। महर्षि दयानन्द ने जिस सार्वभौम संस्था की नींव डाली थी वह आर्य समाज के नाम से एक जीवित तथा शक्तिशाली संगठन के रूप में भारत और भारत से बाहर के अनेक देशों में अपनी सत्ता तथा प्रभाव जमा चुकी है। मानव मात्र से स्नेह तथा उसकी सेवा आर्य समाज का अन्तिम उद्देश्य है तथा संसार को सन्मार्ग पर लाना उसका उच्चतम लक्ष्य है।

महर्षि के उपरान्त उनके लाखों अनुयायियों ने बड़े उत्साह और उमंग के साथ उनके कार्य को आगे बढ़ाने, आर्य समाजों की स्थापना करके अविद्या, अंधविश्वास को नष्ट करने तथा विद्या एवं शिक्षा का प्रसार करके ईश्वरोपासना, दया, जन सेवा तथा सदाचरण का प्रचार करने में प्रयत्नशील बन गए यद्यपि भारत में देशी-राज्यों ने सबसे बड़ा होने के कारण हैदराबाद का स्थान प्रमुख था तथापि अविद्या, अन्ध-विश्वास तथा अविवेकता ने यहां भी अपनी सत्ता जमा रखी थी, जिनके उन्मूलन के लिए आवश्यक था कि हैदराबाद में आर्य समाज की स्थापना की जाए। अतः श्री भगवान स्वरूप (अजमेर) तथा श्री गोकुलप्रसाद के प्रयत्नों से धारूर जिला बीड़ में सर्व प्रथम आर्यसमाज की स्थापना हुई। सन् १८९२ ई.में हैदराबाद नगर के सुलतान बाजार * नामक मुहल्ले में बड़ी बड़ी अपेक्षाओं के साथ आर्य समाज की स्थापन की गई। आर्य समाज सुलतान बाजार के संस्थापकों को क्या ज्ञात था कि यह संस्था भविष्य में इतनी लोक-प्रियता तथा शक्ति प्राप्त कर लेगी कि जिसके मुकाबले में एक स्वच्छन्द तथा निरंकुश शासन सत्ता को भी शस्त्र डालने पड़ेंगे और महर्षि का अमर संदेश राज्य के कोने कोने में फैल जाएगा।

हैदराबाद राज्य में आर्यसमाज के आन्दोलन के इतिहास के लिए कई ग्रंथों की आवश्यकता होगी क्योंकि यह साठ वर्षों के दीर्घकालीन घटनाओं का इतिहास होगा। इस निबन्ध में उस इतिहास की परिचयात्मक चित्रण भी कठिन होगा। अतः मैं इस ग्रंथ के पाठकों के सामने आर्य समाजी आन्दोलन की रूप रेखा मात्र रखूंगा।

हैदराबाद में आर्य समाज के आन्दोलन को चार कालों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम काल में आर्य समाजों की स्थापना हुई जो १८९२ से १९३० तक है। द्वितीय काल १९३१ से १९४१ तक का है जब कि आर्य प्रतिनिधि सभा हैदराबाद राज्य के केन्द्रीय संगठन की अधीनता में हैदराबाद राज्य की आर्य समाजों के आन्दोलन को निज़ाम-शाही के अन्याय तथा अत्याचार का सामना करना पड़ा। सन् १९४२ से १९४८ के तृतीय काल में आर्य समाज को एक क्रान्तिकारी आन्दोलन का रूप लेने पर विवश किया और उसने हैदराबाद की स्वातन्त्रता के संघर्ष में प्रमुख भाग लेकर उल्लेखनीय सफलता प्राप्त की तथा हैदराबाद को स्वतंत्र भारत का अविच्छिन्न भाग बना दिया। चौथा काल पुलिस कार्य-वाही के उपरान्त २० सितम्बर १९४८ से दिसम्बर १९५४ तक का है जिसमें आर्य समाज को शान्ति और समाधान पूर्वक अपने निर्माण कार्यों में भाग लेने का अवसर मिला।

प्रथम-काल

आर्य समाज को अपने प्रथम काल में अत्यन्त शान्ति के साथ कार्य करने का अवसर प्राप्त हुआ। १८९२ ई० में जब आर्य समाज सुलतान बाजार अस्तित्व में आया तो उसके प्रथम अध्यक्ष श्री कामता

* (यह मुहल्ला सन् १९३६ ई. तक अंग्रेज रेज़ीडेन्ट के शासनांतर्गत था और इसका नाम रेसिडेंसी था।)

प्रसाद और मंत्री महात्मा लक्ष्मणदास निर्वाचित हुए। श्री कामता प्रसाद ने आर्य समाज के प्रसार में पर्याप्त भाग लिया। उनके अन्दर एक ऐसी आकर्षण शक्ति थी कि बहुत शीघ्र उनके आस-पास अनेक कार्यकर्ता एकत्रित हो गए। वर्षान्त पर कन्दास्वामी बाग़ में उसका प्रथम वार्षिकोत्सव मनाया गया, जिसमें राज्य से बाहर के स्वामी आत्मानन्द, श्री रिक्षाराम, श्री कृष्णदास और श्री सेवकलाल प्रभृति विद्वान सम्मिलित हुए थे। पूर्वलिखित दोनों महानुभावों ने चार सप्ताह तक प्रचार कार्य किया।

आर्य समाज का कार्य शनैः शनैः बढ़ता गया। इसका लक्ष्य जनता में ईश्वर विश्वास, सदाचार दया, जन सेवा, प्रेम, तथा सौहार्द्य उत्पन्न करना था। आर्य समाज के इन रचनात्मक कार्यों को देखकर सनातन धर्मी भाइयों में हलचल सी मच गई। आर्य समाज के बढ़ते हुए प्रचार को देखकर उससे उलझने तथा शास्त्रार्थ करने का विचार उनके मन में उत्पन्न हो गया। अतः अनेक शास्त्रार्थ हुए किन्तु सनातनियों का उद्देश्य पूरा न हो सका, प्रत्युत आर्य समाज का यश उत्तरोत्तर बढ़ता गया।

आर्य समाज के वार्षिकोत्सवों के अवसरों पर राज्य से बाहर के उपदेशकों के भाषणों और प्रचार से हमारी इस संस्था को बहुत बल प्राप्त हुआ। रुढ़िवादी, संकोचवृत्ति तथा ईर्ष्यालु व्यक्तियों के अतिरिक्त सामान्य जनता में आर्य समाज के सिद्धान्तों तथा विचारों के प्रति अभिरुचि उत्पन्न होती गई। इसका प्रमाण यह है कि नवाब जाफ़रजंग अमीर पायगा* नवाब इमादुल्मुल्क बहादुर डाक्टर अघोर नाथ चट्टोपाध्याय, श्री कृष्णमाचार्य जैसे प्रभावशाली व्यक्तियों ने भी आर्य समाज के कतिपय उत्सवों की अध्यक्षता की।

१८९२ से १९०० तक की आठ नौ वर्ष की अवधि में आर्य समाज सुलतान बाजार की नगर में उल्लेखनीय स्थिति हो गई। उसके साप्ताहिक सत्संगों में श्रोताओं की संख्या निरंतर बढ़ती गई तथा वार्षिकोत्सव बड़ी सफलता के साथ सम्पन्न होते थे। आर्य समाजियों की संख्या में भी संतोषजनक वृद्धि होती गई।

ऊंच नीच के भाव के कारण हिन्दुओं के जिन वर्गों की स्थिति दयनीय हो गई थी ,उनकी दशा पशुओं जैसी थी। आर्य समाज इस दशा को देखकर बहुत दुःखी हुआ। अतः इन दलित तथा अस्पृश्य लोगों के सुधार की ओर ध्यान देना आर्य समाज के लिए स्वाभाविक था। इसी प्रकार महिलाओं में बढ़ी हुई अविद्या के कारण राष्ट्रोन्नति में जो बाधाएं तथा कुप्रभाव उत्पन्न हो रहा था उन्हें भी आर्य समाज में अनुभव किया। महिलाओं में चेतना उत्पन्न करने के लिए आर्य समाज ने स्त्री समाज की स्थापना की। उसी वर्ष सिकन्दराबाद में भी आर्य समाज की स्थापना हुई।

मानव मात्र से प्रेम और उसकी सेवा आर्य समाज की परम्परागत विशेषता रही है। दैवी तथा भौतिक आपदाओं के अवसरों पर जब जनता संकटग्रस्त हो जाती है तो एक दूसरे की सहायता करना मानव कर्तव्य हो जाता है। आर्य समाज ने बिहार, कांगड़ा, क्वेटा, आदि स्थानों के भूकम्पों आदि में व्यथित और त्रस्त लोगों की प्रत्येक सम्भवनीय सहायता की है। सन् १९०८ ई० में जब मूसा (मुचकुन्दा) नदी की बाढ़ में जब सहस्रों लोग मृत्यु का ग्रास बन गए तो आर्य समाज ने अपना कर्तव्य पालन

* (हैदराबाद निज़ाम के राज घराने से सम्बन्ध रखने वाला जागीरदारों का एक घराना अमीर पायगाह कहलाता था।)

किया। इसी प्रकार प्लेग और इन्फ्लुएंजा के अवसरों पर इसने बिना धर्म और जाति का भेद भाव किये जनता की जो सेवा की तथा आर्य समाज के तत्कालीन मंत्री श्रीयुत गयाप्रसाद ने जिस तन्मयता के साथ रोगियों की सेवा सुश्रषा की थी उसको तत्कालीन हुकूमत और जनता की और से स्वीकृति प्राप्त हुई। हुकूमत ने तो श्री गयाप्रसाद की अपूर्व सेवाओं की मान्यता में सोने की एक घड़ी भी भेंट की थी।

सन् १९१९ में श्रीयुत केशवराव आर्य समाज सुलतान बाजार के अध्यक्ष निर्वाचित हुए और १९३२ ई० तक हैदराबाद में आर्य समाज के प्राण बने रहे। १९२१ में हैदराबाद के आन्ध्र प्रदेश में प्रचार के उद्देश्य से सत्यार्थ प्रकाश का तेलुगु अनुवाद करके प्रकाशित किया गया। इसी समय के आस-पास मालबार में मोपला-काण्ड हुआ। आर्य समाज ने वहां के संकट ग्रस्त लोगों की सहायता के लिए धन संग्रह करके भेजा। १९२४ में गुरुकुल कांगड़ी के एक प्रतिनिधि मण्डल को ५,०००) रुपयों की धन राशि एकत्रित करके भेंट की गई। इसी वर्ष राज्य के कुछ स्थानों पर आर्य समाज की शाखाएं खोली गई।

सन् १९२९ में सिद्दीक दीनदार नामक एक मुस्लिम प्रचारक अपने आपको "चन्न बसवेश्वर" का अवतार दर्शाकर लिंगायतों पर डोरे डाल रहे थे। हिन्दुओं के महा पुरुषों राम और कृष्ण पर भी उनके असभ्य आक्षेप खुल्लम खुल्ला हो रहे थे। आर्य समाज के निर्भीक उपदेशक श्री मंगलदेव ने स्थान स्थान पर भाषण देकर इस नामधारी अवतारी पुरुष का भंडा फोड़ा। उसी समय पहली बार शास्त्रार्थ महारथी श्री रामचन्द्र देहलवी को आर्य समाज हैदराबाद ने आमंत्रित किया जिनके विद्वत्तापूर्व भाषणों ने न केवल दीनदार सिद्दीकी की बोली बन्द की अपितु आर्य समाज द्वारा प्रतिपादित वैदिक धर्म के सिद्धान्तों की यथार्थता को भी सिद्ध किया।

सन् १९३० ई० में श्रीयुत मंगलदेव और कतिपय उत्साही व्यक्तियों के प्रयत्नों से राज्य के जिलों तथा तालुकों में आर्य समाज की पचीस तीस शाखाएँ स्थापित हो गईं। इस प्रकार आर्य समाज को राज्य में तीव्रता से लोकप्रियता तथा विस्तार प्राप्त होता गया।

१९३० में श्रीयुत केशवराव ने हैदराबाद की धारासभा में हिन्दू विधवाओं के पुनर्विवाह का एक बिल प्रस्तुत किया किन्तु रुढ़िवादी हिन्दुओं ने इस बिल का घोर विरोध प्रारम्भ किया। मुसल्मानों ने बिल के इस विरोध का साथ दिया विशेषतः धारा सभा में बिल को अस्वीकृत कराने में मुसल्मान सदस्यों ने पर्याप्त भाग लिया किन्तु कालान्तर में श्री विनायकराव विद्यालंकार ने उस बिल को पुनः धारासभा में प्रस्तुत करके उसको स्वीकार करवा लिया जो श्री केशवराव के सुधार कार्य का स्मारक बनकर रह गया।

द्वितीय काल

सन् १९३० तक आर्य समाज हैदराबाद में पर्याप्त विस्तार पा चुका था। अब एक केन्द्रीय संस्था की आवश्यकता अनुभव की जा रही थी। सन् १८९२ से १९३० तक आर्य समाज सुलतान बाजार ने एक ऐसी सुदृढ़ संस्था का रूप धारण किया था कि राज्य की सभी आर्य समाजों का उसको केन्द्रीय स्वरूप प्राप्त हो चुका था, तथापि वैधानिक रूप से एक केन्द्रीय संस्था की स्थापना की आवश्यकता तीव्रता से अनुभव की जाने लगी थी। १९३१ में स्व. महात्मा नारायण स्वामी की अध्यक्षता में एक सभा की गई जिसमें

आर्य समाज के एकत्रित सभी प्रतिनिधियों ने एकमत से आर्य प्रतिनिधि सभा की स्थापना की घोषण की जिसके प्रथम अध्यक्ष श्रीयुत केशवराव और मन्त्री चन्दूलाल आर्य निर्वाचित हुए। श्री विनायकराव सभा के कोषाध्यक्ष चुने गए।

यहां पर आर्य समाज के दो कर्मठ सेनानियों का उल्लेख किये बिना हैदराबाद में आर्य समाज का इतिहास अपूर्ण रह जायगा। मेरा तात्पर्य श्री बंशीलाल वकील तथा श्री श्यामलाल वकील बंधुद्वय से है। ये दोनों जिला बीदर के हल्लीखेड नामक ग्राम के निवासी थे। इनका प्रारम्भिक जीवन आर्य समाज के अत्यन्त विपरीत था-एक इस्लाम की ओर झुक रहे थे और दूसरे कट्टर मूर्ति पूजक थे। इन के मामा स्व० गोकुलप्रसाद अपने विद्यार्थी जीवन में आर्य समाज सुलतान बाजार में आते जाते रहते थे। उन्होंने आर्य समाज की ज्योति को इन दोनों भाइयों के जीवन में जगाई और ऐसी जगाई कि वही ज्योति ज्वाला और कालान्तर से एक गत्यात्मक-शक्ति (Dynomic Force) बन गई। दोनों ने प्रथमतः बिदर जिले में कार्य प्रारम्भ किया। दोनों ने क्रमशः हल्लीखेड तथा उदगीर को अपना केन्द्र बनाकर आर्य समाज का क्षेत्र बढ़ाया। पाठशालाएं खोलीं, व्यायाम शालाएं चलायीं, वाचनालय स्थापित किए। और अपने चारों ओर सैकड़ों कर्मठ नव युवकों का ऐसा संगठन तैयार किया कि देखते ही देखते बिदर, उस्मानाबाद, और गुलबर्गा में अनेक आर्य समाजों की स्थापना हो गई। इस कार्य में दोनों को इतनी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा कि जिनका वर्णन स्वयं एक इतिहास बन गया। पुलिस ने डाके से लेकर कत्ल तक के बीसियों आभियोग में फांसने वकालात की सनद की जब्ती और नाना प्रकार से आतंकित करने का यत्न किया किन्तु सब कुछ व्यर्थ सिद्ध हुआ। जहां श्री बंशीलाल के प्रयत्नों को आर्य समाज के सत्याग्रह को प्रारम्भ करने का श्रेय प्राप्त है वहां बिदर जेल में श्री श्यामलाल के हुतात्मा पद प्राप्त करने को सत्याग्रह में जान फूंकने का श्रेय प्राप्त है। दोनों भाई चलते फिरते आर्य समाज थे। उनके लिए आर्य समाज का कार्य ही जीवन का मुख्य उद्देश्य था और उसी के लिए वे दोनों मृत्यु प्रर्यन्त प्रयत्नशील रहे।

आर्य प्रतिनिधि सभा की स्थापना इसलिए भी आवश्यक थी कि आर्य समाज के धार्मिक तथा सामाजिक सुधार कार्य में निज़ामी-शासन बाधाएं डाल रहा था और निरन्तर प्रतिबन्ध लगाने के प्रयास बढ़ रहे थे। आर्य प्रतिनिधि सभा अपने कार्यक्रम की सफलता एवं उद्देश्य पूर्ति के लिए कटिबद्ध होकर क्षेत्र में उतर चुकी थी। किन्तु सभा के इसी शैशव काल में दुर्भाग्यवश १९३२ के प्रारम्भिक दिनों में ही पूना में श्रीयुत केशवराव का स्वर्गवास हो गया। केशवराव के निधन से साधारणतः हैदराबाद राज्य को तो हानि हुई ही किन्तु विशेषरूप से उनके परलोक गमन ने आर्य समाज के कार्यों को बहुत बड़ा धक्का पहुंचाया और आर्य समाज उनके योग्य, अनुभव-पूर्ण तथा बहुमूल्य नेतृत्व से सदा के लिए वंचति हो गया। वे आर्य समाज के प्रमुख आधार स्तम्भ थे।

१९३३ में सभा का नेतृत्व श्री विनायकराव के हाथों में गया। इसके साथ ही साथ हैदराबाद की पुलिस ने आर्य समाज के प्रचारकों, उत्सवों तथा जुलूसों पर प्रतिबन्धों को तीव्र करना प्रारम्भ किया। आर्य प्रतिनिधि सभा को इन प्रतिबन्धों की ओर बरबस अपना ध्यान आकर्षित करना पड़ा। सभा ने राज्य के वरिष्ट अधिकारियों का ध्यान इन प्रतिबन्धों की ओर आर्काषित किया। साथ ही

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, देहली ने भी हैदराबाद के शासन पर इस बात का दबाव डाला कि राज्य के अन्य धर्मावलम्बियों के समान ही आर्य समाज को भी अपने धार्मिक कार्यों में पूर्ण स्वतंत्रता दे किन्तु इन औचित्य पूर्ण मांगों की न केवल उपेक्षा की गई अपितु प्रतिबन्धों को अधिक तीव्र एवं कठोर बनाया जाने लगा।

राज्य के पुलिस विभाग के अन्याय अत्याचार के विरोध प्रदर्शन के निमित्त हैदराबाद राज्य के बीसियों स्थानों पर आर्य समाजियों ने बड़े ही उत्साह के साथ "हैदराबाद-दिवस" मनाया और अपनी गत मांगों की पुनरावृत्ति करते हुए सामूहिक रूप से आर्य समाज के कार्यों, उत्सवों, जुलूसों तथा प्रचारकों पर लगाए गए बन्धनों के प्रति अपना रोष प्रकट किया किन्तु शासन के उच्चाधिकारियों ने आर्य समाज के इस विरोध प्रदर्शन की ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया।

सन् १९३२ ई० में श्रीयुत चन्द्रभानु को अकारण ही राज्य से निकाल कर उनके प्रवेश को निषिद्ध घोषित कर दिया गया। १९३३ ई० में श्रीयुत रामचन्द्र देहलवी पर आर्य समाज हल्लीखेड (जिला बीदर) के वार्षिकोत्सव में एक तथाकथित उत्तेजक भाषण का दोषारोपण करके अभियोग चलाने का प्रयत्न किया गया किन्तु जब समूचे भारत में इसके विरुद्ध एक प्रचण्ड आन्दोलन खड़ा हो गया तो श्रीयुत रामचंद्र पर से अभियोग तो हटा लिया गया किन्तु राज्य में उनका प्रवेश निषिद्ध घोषित किया गया। १९३४ में सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, देहली ने एक मेमोरेण्डम हैदराबाद की सरकार के पास भेजा था। उसके उत्तर में निज़ाम सरकार ने जो पत्र सार्वदेशिक सभा को भेजा उसमें उसने यही बतलाने का निष्फ़ल प्रयत्न किया कि हैदराबाद की हुकूमत का अपनी प्रजा से निष्पक्षपात व्यवहार है और आर्य समाजियों पर विशेष रूप में प्रतिबन्ध लगाने का उसका कभी भी विचार नहीं रहा है। परिस्थिति का प्रत्यक्ष-अवलोकन करने के लिए एक प्रतिनिधि मण्डल देहली से आया, जिसके अध्यक्ष महात्मा नारायण स्वामी महाराज थे और सदस्य स्वामी स्वतंत्रानन्द महाराज तथा आचार्य रामदेव थे। इन आर्य नेताओं ने कई दिन तक राज्य में घूम-घूम कर प्रचार किया किन्तु कहीं भी पुलिस ने बाधा नहीं डाली किन्तु जैसे है इन्होंने पीठ फेरी कि पुलिस ने अपना दुर्व्यवहार और अत्याचार प्रारम्भ कर दिया।

जून १९३५ में निलंगा ज़िला बीदर के अव्वल ताल्लुक़ेदार ने अपने आदेश से आर्य समाज मंदिर और हवन कुण्ड को जिस प्रकार तुड़वा दिया था उससे यह स्पष्ट दिखाई दे रहा था कि हैदराबाद की हुकूमत ने आर्य समाज को राज्य से नष्ट करने का निश्चय सा कर लिया था। बीदर के ताल्लुक़ेदार के इस नियम विरुद्ध कार्य का जब देश-व्यापी विरोध हुआ तो तत्कालीन गृह-सचिव नवाब जुलक़दर जंग को यह निर्णय करना पड़ा कि ताल्लुक़ेदार का कार्य अन्यायपूर्ण था अतः ताल्लुक़ेदार अपने निजी धन से आर्य समाज मंदिर को बना दे। इस आज्ञा का तुरन्त पालन किया गया।

पुलिस के प्रतिबन्धों तथा बाधाओं का क्रम इतना तीव्र तथा व्यापक हो गया कि उत्सवों, जुलूसों नगरकीर्तनों, महान् व्यक्ति के जन्म अथवा मृत्यु की सभाओं, सांस्कृतिक अथवा ऐतिहासिक भाषणों धार्मिक ग्रंथों तथा मासिकों, शैक्षणिक संस्थाओं, अखाड़ों, ओं-ध्वजा और यहां तक हवन-कुण्डों पर भी प्रतिबन्ध लगा दिए गए।

बड़े प्रयत्नों के बाद १९३४ ई० में राज्य के आर्य समाजियों के विचारों की अभिव्यक्ति के लिए एक उर्दू साप्ताहिक "वैदिक आदर्श" के प्रकाशन की आज्ञा प्राप्त हुई। इस पत्र की स्पष्टवादिता एवं

सत्यप्रियता के फल स्वरूप राज्य के साम्प्रदायिक मुसलमानों ने उसका विरोध प्रारम्भ किया। अतः हुकूमत ने १९३५ के अन्तिम दिनों में 'वैदिक आदर्श' का गला घोंट दिया।

१९३६ ई० में ज़िला बीदर के माणिकनगर नामक स्थान के मेले में प्रति वर्षानुसार आर्य समाजी प्रचारकों ने अपना प्रचार प्रारम्भ किया। कुछ मुस्लिम गुण्डों ने आर्य समाज के नगर कीर्तन में झगड़ा कर दिया और कुछ लोगों को पुलिस की उपस्थिति में घायल भी कर दिया। पुलिस का कर्तव्य था कि दंगाइयों को गिरफ्तार करके दण्ड दिलाती किन्तु उसने उल्टे आर्य समाजियों को गिरफ्तार करके उन पर अभियोग चलाया। जिनको गिरफ़्तार करके अभियोग चलाया गया उनमें श्रीयुत श्यामलाल, श्रीयुत बंशी लाल के साथ मैं भी था। उसी वर्ष उमरगा नामक स्थान पर पुलिस ने श्रीराम चन्द्र नामक एक आर्य समाजी के पास से सत्यार्थ प्रकाश को जब्त कर लिया। पुलिस के इस विचित्र आज्ञा के प्रतिशोध स्वरूप जब आर्य समाजियों ने श्री रामचन्द्र को "सत्यार्थप्रकाश" की अनेक प्रतियां भेजी और चारों और से पुलिस के इस कार्य के प्रति रोष प्रकट किया जाने लगा तो पुलिस को जब्त की हुई "सत्यार्थप्रकाश" की प्रति को लौटाने पर विवश होना पड़ा।

१९३७ ई० में निज़ाम की हुकूमत ने सामाजिक जीवन को मृत-प्राय करने वाले आज्ञा पत्र प्रसारित किया जो गश्ती सं० ५३ के नाम से प्रसिद्ध है। इसके कारण किसी भी प्रकार की सभाओं पर प्रतिबन्ध लग गया। आर्य समाजियों ने बिना आज्ञा प्राप्त किए उत्सव करके इस गश्ती की धज्जियां उड़ाईं।

दिसम्बर सन् १९३७ में गुंजोटी में श्री वेद प्रकाश नामक एक आर्य समाजी उत्साही कार्यकर्ता की स्थानीय मुस्लिम गुण्डों के हाथों निर्मम हत्या की गई। मारने से पूर्व उन्हें इस्लाम स्वीकार करने के लिए कहा गया, जिसको उन्होंने बड़ी वीरता के साथ ठुकरा दिया। इस पर तलवार से उनकी गर्दन धड़ से पृथक् कर दी गई। हैदराबाद में आर्य समाज के ये प्रथम हुतात्मा हैं। इस भीषण हत्या के विरोध में सम्पूर्ण देश ने रोष प्रकट किया।

१९३८ ई० में निज़ाम की हुकूमत ने एक हास्यास्पद आज्ञा-पत्र के द्वारा हवन-कुण्ड के बनाने पर प्रतिबन्ध लगा दिया। इस आज्ञा के विरुद्ध भी देश भर के आर्यों ने विरोध प्रकट किया। स्वयं हैदराबाद में आर्य समाजियों ने इस गश्ती का भी खुल्लम खुल्ला उल्लंघन किया।

हैदराबाद की पुलिस रात-दिन इस चिन्ता में रहने लगी कि आर्य समाजियों को कब और किस प्रकार से जाल में फंसाया जाए। इस उद्देश्य पूर्ति के लिए पुलिस ने साम्प्रदायिक दंगों को अपना शस्त्र बनाया जिसका प्रारम्भ गुलबर्गे में होली के दंगे से हुआ। गुलबर्गे की जनता १६ मार्च १९३८ ई. को होली मनाने में व्यस्त थी। सहसा रंग के कुछ छींटे भीड़ के पास से गुज़रने वाले कुछ मुसलमानों पर गिर गए, फ़लस्वरूप उस जमघट पर मुसलमानों ने आक्रमण कर दिया। इस दंगे में दोनों ओर से कुछ लोग घायल और मारे गए। पुलिस को स्वर्ण-संधि प्राप्त हुई और उसने हिन्दुओं और आर्यों को गिरफ़्तार करके उन पर अभियोग खड़ा किया। धारूर में भी होली पर दंगा हुआ और वहां भी आर्य समाजी पुलिस के शिकार बने।

१६ अप्रैल १९३८ को कुछ मुस्लिम गुण्डों की शरारत के कारण हैदराबाद नगर के धूलपेट नामक मुहल्ले में साम्प्रदायिक दंगा फूट पड़ा। सम्पूर्ण नगर में अशान्ति फैल गई। श्री विनायकराव के

9*

निवास स्थान पर हज़ारों मुसल्मानों ने धावा बोल दिया। हुकूमत ने वास्तविक दंगाइयों पर हाथ न डालकर धूलपेट के ऐसे २१ व्यक्तियों पर संगीन अभियोग चलाया जो आर्य समाजी कार्यकर्ता और आर्य समाज से स्नेह रखने वाले थे। इस अभियोग में आर्य प्रतिनिधि सभा ने पैरवी करने के लिए बम्बई के प्रसिद्ध वकील श्री के. एफ. नरिमन को बुलाना चाहा तो हैदराबाद की हुकूमत ने उनके राज्य में प्रवेश पर प्रतिबन्ध लगा दिया। श्री भूलाभाई देसाई ने कुछ दिन पैरवी की, बाद में देहली के प्रसिद्ध एडवोकेट श्री ब्रजबिहारी तव्वकुली को अभियुक्तों की ओर से पैरवी के लिए नियुक्त किया गया किन्तु अदालत से सभी अभियुक्तों को दण्ड दिया गया जिसमें सर्व श्री सोहनलाल, उमरावसिंह तथा देवीसिंह विशेष रूपसे हुकूमत के कोप भाजन बने।

२२ जून १९३८ ई० को कल्यानी ज़िला बीदर के धर्मान्ध मुसल्मानों ने वहां के एक उत्साही आर्य समाजी कार्यकर्ता श्री धर्म प्रकाश की हत्या की। धर्म प्रकाश का अपराध यही था कि वे बड़ी वीरता तथा लग्न के साथ आर्य समाज का कार्य कर रहे थे जिसको वहां के धर्मान्ध मुसल्मान सह न सके।

१९३८ ई० में दशहरे के अवसर पर उदगीर ज़िला बीदर में भीषण दंगा हुआ। परम्परानुसार पुलिस ने आर्य समाजियों को ही गिरफ़्तार कर लिया किन्तु इस दंगे से आर्य समाज को बहुत बड़ी कीमत चुकानी पड़ी अर्थात् आर्य प्रतिनिधि सभा के उप प्रधान श्री श्यामलाल को उनके २० साथियों के साथ गिरफ़्तार कर लिया गया और बीदर की जेल में १७ दिसम्बर १९३८ को उन्हें विष देकर मारा गया। श्री श्यामलाल के निधन से आर्य समाज की बड़ी क्षति हुई। इस हत्या के विरूद्ध भी सम्पूर्ण देश में रोष प्रकट किया गया।

आर्यों के विरुद्ध पुलिस और हुकूमत के निरन्तर बढ़ते हुए अन्याय तथा अत्याचार से प्रोत्साहित तथा प्रेरित होकर राज्य भर के जिलों, तालुकों और ग्रामों में मुसल्मान गुण्डों ने रक्तपात तथा लूटमार मचा दी। आर्य प्रतिनिधि सभा ने इन अत्याचारों तथा अपने उचित अधिकारों की ओर निरन्तर हुकूमत का ध्यान आकर्षित करती रही किन्तु उसका कोई परिणाम नहीं निकला। सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, देहली स्वयं निज़ाम, उनके राजनैतिक विभाग के मंत्री और अन्य उच्चाधिकारियों का ध्यान इन अत्याचारों की और आर्कषित करती रही किन्तु अत्याचार और अन्याय तीव्र होते ही गए कम नहीं हुए। अन्तत : इसके सिवा और कोई मार्ग ही नहीं रह गया कि संगठित रूप से हैदराबाद राज्य के मुक़ाबले की तयारी की जाए।

अंततः आर्य प्रतिनिधि सभा ने सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, देहली से विचार विनिमिय करके एक आर्य रक्षा समिति की स्थापना की और हदराबाद में सत्याग्रह प्रारम्भ कर दिया। २४ अक्तूबर १९३८ ई० को श्री देवीलाल के नेतृत्व में आर्य समाज का पहला जत्था सत्याग्रह करके जेल गया, जिसको तीन वर्ष का सश्रम कारावास दिया गया।

हैदराबाद की हुकूमत के अत्याचारों के विरुद्ध सत्याग्रह का सर्वाधिकार सार्वदेशिक सभा, देहली ने महात्मा नारायण स्वामी महाराज को सौंप दिया था किन्तु आर्य जगत् की सम्मति प्राप्त करने के लिए स्वामी जी महाराज ने २९ दिसम्बर १९३८ को शोलापुर में सार्वदेशिक आर्य महा सम्मेलन का अधिवेशन आमंत्रित किया जिसमें सर्व सम्मति से सत्याग्रह करने का निर्णय किया गया। अब इस आन्दोलन का रूप

अखिल भारतीय हो गया और सत्याग्रह संचालन केन्द्रीय समिति ने इसे अपने हाथों में ले लिया। सत्याग्रह समिति किसी भी रूप में शीघ्रता नहीं करना चाहती थी अतः उसने हैंदराबाद की हुकूमत को एक और अवसर दिया और पुनः एक बार आर्य समाजियों की मांगों को स्वीकार करने के लिए लिखा किन्तु हुकूमत ने इस और कोई ध्यान नहीं दिया। सत्याग्रह प्रारम्भ करने से पूर्व "हैंदराबाद दिवस" मनाया गया और आर्य समाज की मांगों की पुनरावृत्ति की गई।

आर्य समाज का सत्याग्रह किस शक्ति और तीव्रगति से चलेगा इसका अनुमान भी हैंदराबाद की हुकूमत को नहीं हुआ था। केन्द्रीय सत्याग्रह समिति की आवाज़ पर भारत के सम्पूर्ण प्रान्तों से जत्थे हैंदराबाद की ओर चल पड़े, सम्पूर्ण देश में उत्सव का सागर उमड़ पड़ा। सत्याग्रह के प्रथम सर्वाधिकारी महात्मा नारायण स्वामी महाराज निर्वाचित हुए। हुकूमत को सूचित करके स्वामी जी महाराज ने ३१ जनवरी १९३९ को हैंदराबाद नगर में प्रवेश किया किन्तु पुलिस ने उन्हें गिरफ्तार करके मोटर से शोलापुर भेज दिया अतः स्वामी जी ने पुनः ४ फरवरी को २० सत्याग्रहियों के साथ गुलबर्गा में सत्याग्रह किया, और उनसब को एक एक वर्ष का सश्रम कारावास का दण्ड दिया गया। दूसरे डिक्टेटर श्री कुंवर चांदकरण शारदा ५ मार्च को गुलबर्गा में गिरफ्तार कर लिए गए। तीसरे सर्वाधिकारी श्रीयुत खुशालचन्द्र (वर्तमान महात्मा आनन्द स्वामी) ने १५४ साथियों के साथ सत्याग्रह किया। चौथे सर्वाधिकारी श्री राजगुरु धुरेन्द्र शास्त्री (वर्तमान स्वामी ध्रुवानन्द थे) इनके जेल जाने से पूर्व ही हैदराबाद की हुकूमत डांवा डोल होने लगी और उसने समझौते का प्रयत्न प्रारम्भ किया, किन्तु मुसल्मानों की संस्था मजलिस इत्तेहादुल्मुसल्मीन के दबाव के कारण हुकूमत ने अपना प्रयत्न अधूरा छोड़ दिया। अतः सत्याग्रह पुनरपि पूरे वेग के साथ चल पड़ा और श्रीयुत धुरेन्द्र शास्त्री ने ५३० साथियों के साथ गुलबर्गा में सत्याग्रह करके २-२ वर्ष का कारावास पाया। पांचवें सर्वाधिकारी श्रीयुत वेदव्रत (वर्तमान स्वामी अभेदानन्द महाराज), छठे सर्वाधिकारी श्री महाशय कृष्ण बी. ए. तथा सातवें सर्वाधिकारी श्रीयुत ज्ञानेन्द्र ने क्रमशः सत्याग्रह किया। इन अखिल भारतीय ख्याति के नेताओं के अतिरिक्त, हैंदराबाद राज्य के आर्य समाजी नेताओं के डिक्टेटरशिप में भी बड़े बड़े जत्थे जेल गए, जिनमें केवल हैंदराबादी सत्याग्रहियों ने ही भाग लिया। इन सर्वाधिकारियों में श्री शेषराव, श्री दत्तात्रय प्रसाद, श्री दिगम्बरराव शिवनगीरकर लातूर, श्री शंककरराव पटेल आन्धोरी, श्री निर्वति रेड्डी अहमदपुर, श्री दिगम्बरराव लाठकर, श्री गणपतराव कथले कलम के नाम उल्लेखनीय हैं। अब तक लगभग १२ हज़ार सत्याग्रहियों ने सत्याग्रह किया था, जिनमें पांच हज़ार हैंदराबादी सत्याग्रही थे। श्री विनायकराव विद्यालंकार आठवें सर्वाधिकारी निर्वाचित हुए। उन्होंने घोषणा की कि वे अपने साथ एक हज़ार केवल हैंदराबादी सत्याग्रही ही ले जाएंगे। २१ जुलाई १९३९ को उन्हें सत्याग्रह करना था किन्तु १७ जुलाई को हैंदराबाद की हुकूमत ने शासन-सुधार की घोषणा कर दी।

जेलों में सत्याग्रहियों के साथ बड़ी कठोरता की जाती थी। उन्हें नाना प्रकार से त्रस्त किया जाता था। आन्दोलन के संचालकों तथा आन्दोलन में भाग लेने वाले सत्याग्रहियों को आतंकित करने के लिए भी जेलाधिकारियों ने सत्याग्रहियों पर काफ़ी अत्याचार ढाए। अनेक स्थानों पर सत्याग्रहियों के जत्थों पर पुलिस की उपस्थिति में मुसल्मानों ने आक्रमण किए और निहत्थे सत्याग्रहियों को घायल किया, घायलों के औषधोपचार की समय पर कोई व्यवस्था नहीं की गई, अनेक स्थानों पर सत्याग्रहियों को

कई कई घण्टों तक भूखा और प्यासा रखा गया, मार-पीट तो साधारण बात थी। श्री रामचन्द्र राव नामक एक सत्याग्रही को केवल "वन्दे मातरम्" के उच्चारण मात्र पर दो दर्जन बेंतों की सज़ा दी गई। जब उस सत्याग्रही ने हर बेंत पर "वन्दे मातरम्" कहा तो उसे बेहोश होने तक निर्दयता से पीटा गया। इन अत्याचारों का यह परिणाम हुआ कि सत्याग्रह की समाप्ति तक लगभग २३ आर्य समाजियों का स्वर्गवास हो गया। अन्त में इन शहीदों के रक्त ने रंग दिखाया और हैदराबाद की हुकूमत को झुकना पड़ा। यहां यह बात भी उल्लेखनीय है कि आर्य सत्याग्रह को राजनतिक दृष्टि से इतना महत्व प्राप्त हुआ कि इग्लैंण्ड की लोक सभा में भी इसके बारे में प्रश्न उठे और भारत की ब्रिटिश सरकार को भी इसके शीघ्र समाप्त किए जाने की आवश्यकता अनुभव होने लगी।

हैदराबाद की हुकूमत की ओर से सुधार-घोषणा होने के उपरान्त उस पर विचार करने के लिए सत्याग्रह को अस्थायी रूप से रोक दिया गया और नागपुर में २४ तथा २५ जुलाई १९३९ को सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, देहली की कार्यकारिणी में सुधारों पर गम्भीरता से विचार किया गया। सुधार में कुछ बातें संदिग्ध थीं अत: उनके सम्बन्ध में हैदराबाद की हुकूमत से स्पष्टीकरण प्राप्त करने का निर्णय हुआ। हैदराबाद की हुकूमत ने पहले तो ऐसा स्पष्टीकरण देने से इनकार कर दिया किन्तु जब सार्वदेशिक सभा स्पष्टीकरण पर अड़ गई तो हुकूमत ने सभा को अपना एक प्रतिनिधि भेजने के लिए कहा। इस पर सभा ने श्री लाला देशबन्धु गुप्त को निज़ाम की हुकूमत से वार्तालाप के लिए भेजा। इस वार्तालाप के फलस्वरूप आर्य समाज की सभी मांगों को स्वीकार किया गया तथा हुकूमत ने आवश्यक स्पष्टीकरण कर दिया। इस पर ७ अगस्त १९३९ को सत्याग्रह को बन्द करने की घोषणा की गई। सत्याग्रह के बन्द करने की जिस समय घोषणा की गई उस समय हैदराबाद की सीमाओं पर कुल ३५०० सत्याग्रही प्रतीक्षा कर रहे थे। सत्याग्रह के शिविर राज्य के चारों ओर स्थापित किये गए थे। जिनमें विजयवाड़ा, शोलापुर, बार्शी, अहमदनगर, मनमाड़, पुसद और चांदा के शिविर उल्लेखनीय हैं।

सत्याग्रह-काल में सत्याग्रहियों ने जिस धैर्य, शान्ति तथा अहिंसा वृत्ति को धारण किया था और विशेषत: ऐसे अवसरों पर जब कि राज्य की पुलिस तथा धर्मान्ध मुसल्मानों की ओर से उत्तेजित करने वाला दुर्व्यवहार किया जाता था, सत्याग्रहियों ने जिस संयम का परिचय दिया वह आर्य समाज की उच्च नैतिकता का परिचायक है। इसी नैतिक श्रेष्ठता का ही परिणाम है कि आर्य समाज का वह सत्याग्रह अत्यंत सफल और अहिंसात्मक सत्याग्रह के इतिहास का उल्लेखनीय उदाहरण बन गया। अन्यथा भारत के बड़े बड़े कर्णधार आर्य समाज के इस सत्याग्रह का परिणाम साम्प्रदायिक संघर्ष अथवा कटुता के रूप में परिणत होने का अनुमान कर रहे थे।

हैदराबाद की हुकूमत और आर्य समाज में समझौता हो चुका था कि निज़ामाबाद में एक अत्यंत उत्तेजनात्मक दुर्घटना हुई। वहां के एक आर्य समाजी कार्यकर्ता श्री राधाकृष्ण को २० अगस्त १९३९ के दिन पुलिस थाने के सम्मुख ही एक अरब ने छुरा घोंप कर मार दिया। इस दुर्घटना के द्वारा आर्य समाजियों में उत्तेजना पैदा करने तथा आर्य सत्याग्रह की सफलता को अप्रभावी बनाने का एक षड्यन्त्र रचा गया था किन्तु उपद्रवियों को अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त नहीं हुई और आर्यों ने बड़े धैर्य और संयम द्वारा इस दुर्घटना को सहन किया।

१९४० ई० में आर्य प्रतिनिधि सभा अपना रचनात्मक कार्यक्रम प्रारम्भ करना चाहती थी और सत्याग्रह के समझौते के कारण सामान्य रूप से समाधान अनुभव किया जा रहा था कि आर्य समाज को अपने धार्मिक तथा सामाजिक रचनात्मक कार्यों में कोई रुकावट उत्पन्न नहीं होगी किन्तु यह आशा पूर्ण न हो सकी। दुर्भाग्यवश द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ हो चुका था। देशकी राजनैतिक परिस्थिति में भयंकर आंधी उठ रही थी। ब्रिटिश सरकार और उनके संकेतों पर देशी संस्थानों की शासन व्यवस्था युद्धजन्य विकट परिस्थिति की आड़ में मन माना करने पर उतर आई थी अत: १९४० के उपरान्त आने वाले आठ नौ वर्षों में आर्य समाज के प्रचार में बाधाएं और प्रतिबन्ध पूर्ववत् बने रहे। शासन सुधार और आर्य समाज समाज को दिए गए आश्वासन काग़ज़ की शोभा ही बन कर रह गए। अन्तिम घड़ियों में भड़कने वाले दीपक की भान्ति हैदराबाद की हुकूमत ने अपने अत्याचारों की पराकाष्ठा की ओर तीव्र गति से बढ़ने लगी।

इन विषम परिस्थितियों में भी आर्य प्रतिनिधि सभा हैदराबाद ने सार्वदेशिक सभा देहली के आर्थिक सहयोग से २० जुलाई १९४० को अपने सर्वमान्य दिवंगत नेता श्रीयुत केशवराव की स्मृति में एक विद्यालय केशव मेमोरियल आर्य हाईस्कूल के नाम से स्थापना की, जिसका उद्‌घाटन श्री गोपालराव ब्रोरगांवकर ऐडवोकेट ने किया। इस विद्यालय के भवन की आधार शिला माननीय घनश्यामसिंह गुप्त ने २० सितम्बर १९४० में नारायण गुड़ा में की, जहां पर इस समय विद्यालय की २ लाख रुपए की लागत का भव्य भवन खड़ा है। सभा ने विद्यालय में हिन्दी को माध्यम बनाने का पूरा प्रयत्न किया किन्तु हुकूमत किसी रूप में भी इसको मान्यता देने के लिए तैयार नहीं थी। अतः १९४८ तक यह विचार कार्य रूप में परिणत न हो सका, केवल प्राथमिक श्रेणियों में माध्यम हिन्दी ही रही।

हिन्दू प्रजा को आतंकित करने और किसी भी प्रकार की जागृति की रोक थाम करने के लिए लूट और अग्निकाण्ड का योजनाबद्ध कार्यक्रम मुसल्मानों की ओर से किया जाने लगा। बीदर जो ज़िले का स्थान है और उस समय एक कारोबारी केन्द्र भी था, सब से पहले इस अग्निकाण्ड का शिकार बना। वहां के गंज को लूटा गया और बाद में उसमें आग लगा दी गई। जो दूकानें जलीं वे सब हिन्दुओं की थीं। यदि किसी मुसल्मान की दूकान में हिन्दू व्यापारी का माल था तो यथाशक्ति उसको लूटा गया और शेष सामान को दूकान से बाहर लाकर जला दिया गया। लाखों रुपयों की हानि हुई। इस दुर्घटना का दायित्व मुस्लिम अख़बारों और हुकूमत ने आर्यों पर डालने का यत्न किया किन्तु इसका कोई प्रसंग ही नहीं था अत: आर्य समाज इस दोषारोपण से बच गया। इसके कुछ ही समय बाद गुलबर्गा ज़िले के गुरमटकल नामक स्थान पर बीदर की पुनरावृत्ति की गई। दोनों स्थानों पर अपराधियों को तो छोड़ दिया गया और उल्टे ऐसे हिन्दुओं पर ही अभियोग चलाया गया जिनकी अग्निकाण्ड में लाखों रुपयों की हानि हुई थी।

हैदराबाद में जनगणना के अवसर पर सभा ने यह अनुभव किया कि सरकारी गणक द्वेष और धार्मिक पक्षपात करते रहते हैं अतः श्री दत्तात्रय प्रसाद को इस प्रकार की गड़बड़ तथा अव्यवस्था को रोकने का कार्य सौंपा गया किन्तु इसमें सफलता न हो सकी। इस पर सभा ने सरकारी गणकों की अव्यवस्था के विरुद्ध अपना विरोध प्रदर्शित करते हुए स्टेट में आर्य समाजियों की गणना का पृथक् प्रबन्ध किया। यह कार्य भी श्री दत्तात्रय प्रसाद के हाथों में ही सौंपा गया। फलस्वरूप हुकूमत को भी बड़ी सर्तकता से काम लेना पड़ा और १९४१ की जनगणना में राज्य में आर्य समाजियों की संख्या लगभग ४० हजार तक पहुंच गई। राज्य भर म आर्य समाजों की कुल संख्या २४१ थी।

१९४१ में श्री विनायकराव पूर्ववत् अध्यक्ष और मुझे मंत्री चुना गया । १९३६ से १९४१ तक श्री. बंशीलाल वकील ही ने इस पद को संभाला हुआ था। १९३९ में किये हुए समझौते की और दुर्लक्ष करके हुकूमत ने पूर्ववत् प्रतिबन्धों और बाधाओं को तीव्र कर दिया था। दामरगिद्दा ज़िला गुलबर्गे में "ओ३म्" के झण्डे पर पाबन्दी लगा दी गई। उमरी जिला नांदेड़ में पठानों ने गंगाराम, गणपतराव, दत्तात्रय राव नामक तीन व्यक्तियों को केवल इसलिए हत्या की क्योंकि तीनों आर्य समाज के बड़े उत्साही कार्यकर्ता थे। ४ जून १९४१ को अलन्द नामक स्थान के आर्य समाज मंदिर को समाप्त कर दिया गया। उसी वर्ष ३ सितम्बर को मार्डी ज़िला बीदर के १४ आर्य समाजियों पर इस आधार पर कि वे प्रचार का कार्य करते हैं अभियोग चलाया गया। अहमदपुर तथा चाकूर की आर्यसमाजी पाठ-शालाओं को बन्द कर दिया गया। साकोल के आर्य समाज को नोटिस दिया गया कि बिना आज्ञा हवन-कुण्ड की तैयारी सरकारी आज्ञा का उल्लंघन समझा जाएगा। तात्पर्य यह कि ज़िलों, तालुकों, ग्रामों में स्थान स्थान पर हैदराबाद की पुलिस ने आर्य समाजियों के धार्मिक कार्यों और सामाजिक समारोहों पर प्रतिबन्ध लगाने शुरू किए। इस प्रकार हैदराबाद की हुकूमत के अत्याचार का द्वितीय-काल पार हो गया।

तृतीय-काल

यह बात बड़ी खेद पूर्ण है कि हुकूमत ने बिना कारण ही आर्य समाज को अपने विरुद्ध एक दल बनाया और मजलिस इत्तेहादुलमुसल्मीन परो क्षरूप में हुकूमत से मिल गई। राज्य में मजलिस के प्रधान नवाब बहादुर यार जंग को द्वेषपूर्ण तथा उत्तेजक भाषणों की पूरी स्वतंत्रता दे दी गई। हुकूमत के पक्ष-पात पूर्ण व्यवहार से प्रोत्साहन पाकर ज़िलों में मुस्लिम गुण्डों ने आर्य समाजियों पर खुल्लम खुल्ला आक्र-मण करना आरम्भ किया। हुकूमत ने कभी भी अत्याचारियों पर हाथ नहीं डाला। उसने केवल आर्य समाज को तंग करना प्रारम्भ किया। राज्य से बाहर के आर्य समाजी पत्रों का प्रवेश बन्द कर दिया गया था, आर्य प्रतिनिधि सभा के पत्र को राज्य में छपने की अनुमति न मिलने के कारण उसे शोलापुर से मुद्रित तथा प्रकाशित किया जाता रहा किन्तु उसे भी हुकूमत ने बन्द कर दिया। इसके विपरीत मुस्लिम पत्र निरन्तर आर्य समाज पर और उसके धार्मिक विश्वासों पर अशिष्ट आक्रमण करते रहते थे। हुकूमत के इस दुर्व्यवहार के पीछे आर्यसमाज को समाप्त करने का एक मात्र उद्देश्य था किन्तु हुकूमत की इस कठोरता के कारण आर्य समाज में दृढ़ता और प्रतिकार की शक्ति बढ़ती गई। वैदिक धर्म का प्रचार निरन्तर बढ़ता गया, ज़िलों में आर्य समाजों का कार्य फैलता गया और आर्य समाज के उत्सव, पर्व तथा अन्य समारोह धूमधाम से मनाए जाते रहे।

१९४२ से १९४८ तक का समय अत्यन्त संघर्षमय रहा। इस काल में हुकूमत का अत्याचार अपनी सीमा को पहुंच गया और आर्य समाज को प्रत्येक अग्नि परीक्षा से होकर उस अन्तिम द्वन्द्व के लिए तैयार होना पड़ा जो हैदराबाद में जनतंत्रता तथा स्वाधीनता की प्राप्ति के लिए हुआ था। १९४२ में श्री विनायकराव की अध्यक्षता में बड़े ही उत्साह के साथ उदगीर में प्रथम आर्य सम्मेलन मनाया गया। इस सम्मेलन को मनाने का यत्न १९३४–३५ से चल रहा था जब कि श्रीयुत श्यामलाल सभा के मंत्री थे। १९४२ में ७-८ वर्षों का प्रयत्न फल लाया। सम्मेलन का स्वागत मंत्री पदेन मैं ही था। सम्मेलन १२ से १३ फ़रवरी १९४२ तक होता रहा, जिसमें २६ प्रस्ताव स्वीकृत हुए। उनमें से कुछ प्रस्तावों

के द्वारा आर्य समाज की मांगों को दुहराते हुए हुकूमत पर इस बात का दबाव डाला गया था कि उसने सत्याग्रह के समय जो समझौता किया था उसकी ओर से उपेक्षा की है और आर्यों पर राज्य में पुनः अत्याचार प्रारम्भ हो गया है, यदि इन अत्याचारों और प्रतिबन्धों को समाप्त करके आर्य समाज की मांगों को पूरा नहीं किया गया तो उसके फलस्वरूप उत्पन्न होने वाली विकट परिस्थिति का सम्पूर्ण दायित्व हुकूमत पर होगा। किन्तु हुकूमत ने अपने स्वभावानुसार इनकी भी उपेक्षा की।

होली के अवसर पर अवराद शाहजहानी ज़िला बिदर के कुछ धर्मान्ध मुसल्मानों ने दंगा आरम्भ किया। बाजार में गोलियां चलाईं और जब दूकानें बन्द हो गईं तो मिट्टीका तेल डाल डालकर दूकानों में आग लगा दी गई। एक हिन्दू की हत्या कर दी गई। जलने वाली सभी दूकानें हिन्दुओं की थीं। इससे हिन्दुओं की बहुत बड़ी आर्थिक हानि हुई और बहुत से हिन्दू घायल हुए। औराद के इन पीड़ितों की सहायता के लिए महात्मा गांधी ने १,५०० रुपये सभा के पास भेजे तथा स्वयं सभा ने २,०००) रुपए व्यय किए। वहां के आर्य समाज के प्रमुख कार्यकर्ता श्री देशबन्धु तथा उनके साथी गिरफ़्तार किए गए और उन्हें लम्बी लम्बी सज़ाएँ मिलीं। इसी वर्ष चिंचोळी और गुंजोटी के आर्य समाजों के उत्सवों की आज्ञा नहीं दी गई।

१० दिसम्बर १९४२ को गुलबर्गा में मुसल्मानों ने हिन्दुओं की दूकानों और गोदामों को लूट लिया जिससे उन्हें काफ़ी आर्थिक क्षति उठानी पड़ी। नागर कर्नूल और हिंगोली पर हिन्दुओं पर घातक आक्रमण हुए किन्तु पुलिस ने उल्टे आर्य समाजियों पर ही अभियोग चलाए। इसी प्रकार जोगीपेठ, तेरखेड़ा में भी आर्य समाजियों को बहुत सताया गया। ३ मार्च १९४२ को हुमनाबाद में होली के उपलक्ष में जुलूस निकाला जिसमें आर्य समाज के उपदेशक श्री शिवचन्द्र तथा उनके चार साथियों को मुसल्मानों ने गोलियों का निशाना बनाकर मार दिया। हुकूमत की ओर से इन हत्याओं, लूटमार तथा अग्निकांड को रोकने की कोई कोशिश नहीं की गई।

१९४३ ई. में हैदराबाद स्टेट का दूसरा आर्य सम्मेलन श्री गणपत काशीनाथ शास्त्री की अध्यक्षता में निज़ामाबाद में मनाया गया। इसमें भी अनेक महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव स्वीकार किए गए जिनमें से एक प्रस्ताव के द्वारा त्रिवर्षीय कार्यक्रम तैयार किया गया, जिसके अनुसार राज्य में एक सौ पाठशालाएँ और २५ हज़ार स्वयंसेवकों की तैयारी की योजना बनाई गई। एक प्रस्ताव पर दिए गए श्री दत्तात्रय प्रसाद के एक भाषण को बहाना बनाकर पुलिस ने उन पर एक अभियोग चलाया। इसी प्रकार मुझ पर भी आर्य समाज गुलबर्गा में दिए गए एक भाषण के कारण एक केस चला जिसमें मुझे एक वर्ष का सश्रम कारावास का दण्ड मिला। इसी वर्ष गुरुकुल घटकेश्वर में उपदेशकों के लिए एक स्वाध्याय मण्डल भी चलाया गया। राज्य भर में २६ उत्सव और २९ स्थानों पर वेद सप्ताह मनाया गया।

१९४४ ई. में श्री राय सूरजचन्द की अध्यक्षता में नारायणपेठ में तृतीय आर्य सम्मेलन मनाया गया। इस अवसर पर अध्यक्ष के जुलूस की आज्ञा नहीं दी गई। अनेक प्रस्तावों द्वारा आर्य समाज के साथ न्याय, करने के लिए हुकूमत पर बल डाला गया। इस सम्मेलन के अन्तर्गत महिला सम्मेलन, आर्यकुमार सम्मेलन, उपदेशक सम्मेलन तथा मंत्री सम्मेलन भी हुए।

इसी वर्ष सिन्ध की मुस्लिम लीगी मंत्री-मण्डल ने अपने द्वेष तथा संकोच वृत्ति का परिचय देते हुए "सत्यार्थ प्रकाश" पर प्रतिबन्ध लगा दिया। इसके कारण भारत के सभी आर्य समाजी क्षेत्रों में रोष तथा

खलबली पैदा हो गई। स्थान स्थान पर सभाएँ हुई जिनमें प्रतिबन्ध के प्रति विरोध प्रकट किया गया, हैदराबाद में भी आर्य प्रतिनिधि सभा ने भी इस आन्दोलन की सफलता के लिए पूर्ण योग दिया।

दशहरे के अवसर पर इसी वर्ष निज़ामाबाद में एक साम्प्रदायिक दंगा हो गया। सभा ने हुकूमत से मांग की कि इस दंगे की निष्पक्ष जांच करवा कर अपराधियों को दण्ड दे किन्तु उसने चुप्पी साधी। १९४४ई. में सभा के कार्यकर्ताओं की संख्या ३००हो गई और पाठशालाओं तथा विद्यार्थियों, वसति-गृहों की संख्या भी पर्याप्त बढ़ गई थीं। सभा ने जनता की मांग को लक्ष्य में रखकर "सत्यार्थ प्रकाश" का द्वितीय संस्करण प्रकाशित किया।

१९४५ ई. में नलगोंडा में एक उपदेशक विद्यालय की स्थापना की गई इसमें वैदिक धर्म के प्रचारकों को तैयार किया जाता था। विद्यालय को आर्थिक दृष्टि से पुष्ट करने के लिए श्री भद्रदेव तथा मैंने घूम-घूम कर सात हज़ार रुपया एकत्रित कर लिया। इस वर्ष २२ आर्य समाजों ने वेद सप्ताह मनाया और उत्सव भी बहुत स्थानों पर किए गए।

निज़ाम की हुकूमत की साम्प्रदायिक नीति और पुलिस के अत्याचारों को आर्य समाज ने जिस ढंग से प्रकट किया था उसके कारण निज़ाम की पुलिस ने आर्य समाजियों से बदला लेने का दृढ़ निश्चय कर रखा था। अतः उसको अवसर मिल गया। २२ से २४ अप्रैल १९४५ को हैदराबाद स्टेट का चतुर्थ आर्य सम्मेलन गुलबर्गा में राजा नारायणलाल पित्ती की अध्यक्षता में हुआ। इस अवसर पर पुलिस ने एक अत्यन्त भीषण दंगा पैदा कर दिया। पुलिस ने सम्मेलन को असफल बनाने के लिए नाना प्रकार के उपद्रव खड़े किया। इन उपद्रवों से तंग आकर सम्मेलन के कार्यकर्ता पण्डाल से बाहर जब पुलिस के उच्चाधिकारियों से वार्तालाप कर रहे थे कि अधिकारियों की उपस्थिति में पुलिस ने श्री विनायकराव, श्री गणपत शास्त्री तथा मुझ पर और सभा के एक कर्मचारी श्री हीरालाल पर डंडों से आक्रमण कर दिया। श्री विनायकराव, श्री गणपतशास्त्री और हीरालाल बुरी तरह घायल हो गए और मेरी टांग ही तोड़ दी गई। सिर पर भी बुरी तरह घाव आए। इसके साथ ही सम्पूर्ण नगर में दंगा फैल गया। सारी रात शहर में अशान्ति फैली रही। दूसरे दिन पण्डाल से स्टेशन को जाने वाले सभी आर्य सभाजियों को शहर में पुलिस की उपस्थिति में पीटा गया। इस भीषण दुर्घटना को आर्य समाज ने बड़ी शान्ति के साथ सहन किया। गुलबर्गा की इस दुर्घटना और आर्यों पर किए पुलिस के अत्याचारों के विरुद्ध चारों ओर से विरोध प्रदर्शित किया गया और हुकूमत की काफ़ी वदनामी हुई तो उसने अपने कलंक को धोने के लिए जो कुछ किया वह, इतना ही कि एक सब इंस्पेक्टर और चार कान्स्टेबलों को पदच्युत कर दिया।

मेरी दशा ऐसी हो गई कि बिछौने से उठना और चल फिर सकना भी कठिन हो गया। अतः सभा के मंत्री श्री कृष्णदत्त को बनाया गया। सभा ने हुकूमत के इन अन्यायों से हताश नहीं हुई उसने पूरी शक्ति से अपने कार्य को जारी रखा। १९३९ में किए गए समझौते के अनुसार आर्य समाज के उन विद्वानों के प्रवेश का प्रयत्न प्रारम्भ किया, जिन पर हुकूमत ने प्रतिबन्ध लगा दिया था। सभा के निरन्तर प्रयत्नों के बाद १९४६ ई. में श्री शिवचन्द्र, श्री चन्द्रभानु, श्री क्षितीशचन्द्र वेदालंकार आदि के प्रवेश पर से हुकूमत ने प्रतिबन्ध उठा लिया।

पूर्वी बंगाल में साम्प्रदायिक दंगा प्रारम्भ हो चुका था। जिसमें वहां के हिन्दुओं की पर्याप्त जन-धन सम्बन्धी हानि हुई। बहुतों को बल पूर्वक मुसलमान बनाया गया। इसके कारण सम्पूर्ण देश में रोष तथा सन्ताप फैल गया। चारों ओर से वहां के पीड़ितों की सहायता करने का प्रयत्न चला। सभा की ओर से २५ हजार रुपए पूर्वी बंगाल की सहायता में एकत्रित किया गया और श्री गंगाराम तथा श्री बंशीलाल व्यास को नोआखाली में सेवा कार्य के लिए भेजा गया।

१९४६ में मैं अभी अस्पताल में ही था कि हुकूमत ने मुझ पर भाषण बन्दी का हुक्म लगा दिया तथा शहर छोड़कर कहीं न जाने का भी बन्धन थोप दिया। गुलबर्गे के अत्याचार और नाना प्रकार के प्रतिबन्धों से हुकूमत को यह विश्वास हो गया था कि आर्य समाज की कमर टूट गई है किन्तु उसका यह अनुमान मिथ्या था। १९४६ में वरंगल में पांचवा आर्य सम्मेलन पुनः श्री विनायकराव की अध्यक्षता में ही मनाया गया। इस सम्मेलन में आर्य समाज ने जिस उत्साह और उमंग का परिचय दिया उससे हुकूमत को उसके जीवन तथा शक्ति का परिचय मिल गया। सम्मेलन में अनेक महत्वपूर्ण प्रस्ताव स्वीकृति हुए। सम्मेलन के स्वागत मंत्री पदेन श्री कृष्णदत्त थे। सभा ने मुझ पर लगाए प्रतिबन्धों के विरुद्ध कार्यवाही की, फलस्वरूप मुझ पर से १९४६ में प्रतिबन्ध हटा लिया गया। हैदराबाद की जतना ने इस पर हार्दिक सन्तोष प्रकट करते हुए बड़े उत्साह के साथ मेरा स्वागत किया तथा एक बड़ी धन राशि भेंट की।

सत्याग्रह के बाद से सभा के लिए एक साप्ताहिक पत्र की आवश्यकता अनुभव की जा रही थी। भाग्य-वश वर्ष हैदराबाद के प्रधानमंत्री पद पर सर मिर्ज़ा इस्माइल नियुक्त हो कर आए। उन्होंने राज्य में साम्प्रदायिक सद्भावना उत्पन्न करने का यत्न किया। उसी के फलस्वरूप हुकूमत की नीति में परिवर्तन आया और सभा को "आर्य भानु" नामक एक हिन्दी सप्ताहिक पत्र को हैदराबाद से प्रकाशित करने की आज्ञा मिली। यह राज्य में मुद्रित होने वाला सर्व प्रथम हिन्दी पत्र है। इसके सम्पादक कार्य का भार श्री विनायक राव तथा श्री कृष्णदत्त पर डाला गया बाद में श्री ऋभुदेव शर्मा तथा श्री विनय कुमार ने सह सम्पादक के रूप में कार्य किया। इसी वर्ष एक और उल्लेखनीय बात यह हुई कि साम्प्रदायिक दंगों के कारण जितने भी आर्यहिन्दू लम्बी लम्बी सजाएँ भुगत रहे थे उन्हें मुक्त कर दिया गया। इसके कारण स्थिति के सुधरने की कुछ आशा बन रही थी कि मुसलमानों की ओर से सर मिर्ज़ा इस्माइल का घोर विरोध प्रारम्भ हुआ और उन्हें अपने पद से त्याग-पत्र देकर लौट जाना पड़ा।

१९४७ का वर्ष आरम्भ हुआ तो निज़ाम की हुकूमत ने एक निरंकुश फ़ासिस्ती सत्ता की भांति बहुसंख्यकों पर अत्याचार का चक्र चलाना प्रारम्भ किया। इस समय तक आर्य समाज न केवल एक शक्तिशाली संस्था अपितु उसने अपन कार्यों और प्रभाव के कारण तथा अपने त्याग और बलिदानों के बलबूते पर अपने लिए एक उच्च स्थान प्राप्त कर लिया था। हुकूमत के अत्याचारों ने उसके सुधार आन्दोलन को एक क्रांतिकारी आन्दोलन में बदल दिया था। आर्य समाज ने आपत्तियों में भी अपने रचनात्मक कार्यों के द्वारा तथा समय समय पर होने वाले हुकूमत के साम्प्रदायिक पक्षपात का खुल्लम खुल्ला विरोध करके हिन्दू जनता में जागृति तथा नैतिक बल पैदा कर दिया था। आर्य समाज ने अपने आचरण से जनता पर यह प्रदर्शित कर दिया था कि वह संगठित और अनुशासित होकर निज़ाम जैसी निरंकुश तथा अभिमानी शक्ति से अपने अधिकारों एवं स्वत्वों को प्राप्त कर सकते हैं। आर्य समाज ने अपने सत्याग्रह में निज़ाम

को नैतिक रूप से परास्त कर दिया था और उसे अपनी मांगों को स्वीकार करने पर बाधित किया था। इस प्रकार आर्य समाज ने राज्य की समस्त राष्ट्रीय और स्वातंत्र्य प्रिय संगठनों के लिए जिनमें हैदराबाद स्टेट कांग्रेस विशेषरूप से उल्लेखनीय है, अन्तिम संघर्ष के लिए क्षेत्र तैयार कर दिया।

भारत विभाजन के उपरान्त जब अंग्रेज सत्ता हस्तांतरित करके देश से चले गए तो निज़ाम की साम्प्रदायिकता को भड़कने का पूर्ण अवसर प्राप्त हुआ। हैदराबाद भारत का एक अविच्छिन्न अंग था, अतः उसका पृथक् या स्वतंत्र रहने का कोई अर्थ नहीं था किन्तु जब १५ अगस्त १९४७ को जब वर्षों की दासता के पश्चात् भारत स्वतंत्र हुआ तो सम्पूर्ण देश में आशाओं और अभिलाषाओं का एक प्रकाश झलक पड़ा किन्तु हैदराबाद राज्य कुछ समय तक अन्धकार और हैदराबादी जनता पर उदासी छा गई क्योंकि इस प्रदेश को भारत से सर्वथा पृथक् रखने और फ़ासिस्ती सिद्धान्तों पर इसको एक स्वतंत्र राजनैतिक इकाई, के रूप में सार्व भौम-सत्ता प्राप्त राज्य का स्वरूप देने की योजना बनने लगी। इसके साथ ही हिज़ इक्ज़ालटेड हाइनेस नवाब मीर उस्मानअलीखांन आसफ़जाह सप्तम ने 'हिज़मैजिस्टी' बनने कीमहत्वाकांक्षामें मजलिस इत्तेहादुल मुसल्मीन से गठजोड़ किया और १५ अगस्त १९४७ ई. को हैदराबाद की स्वाधीनता की घोषणा कर दी। मजलिस इत्तेहादुल मुसल्मीन दीर्घकाल से हैदराबाद को एक इस्लामी राज्य और निज़ाम को अपनी स्वतंत्र राजनैतिक सत्ता का प्रतीक समझती आई थी। उसे अब स्वर्ण अवसर प्राप्त हुआ और उसने अपनी शक्ति को बढ़ाने तथा अपने आपको अर्द्ध सैनिक रूप में परिवर्तित करने का प्रयत्न प्रारम्भ किया। निज़ाम ने प्राचीन हैदराबाद के मानचित्र के अनुसार बरार, उत्तरी सरकार तथा आन्ध्र के ज़िलों पर भी अपना अधिकार जतलाना आरम्भ किया। गोवा को पुर्तगाल से खरीदने का प्रयास होने लगा। संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता के स्वप्न देखे जाने लगे और अंग्रेज़ों की खुशामद करके ब्रिटिश कामनवेल्थ ऑफ़ नेशन्स में सम्मिलित होने की योजना बनने लगी।

जनता निज़ाम सरकार की इस नीति के सर्वथा विपरीत थी। इस नीति को राज्य तथा राज्यवासियों के लिए घातक समझा जाने लगा। अतः जनता में "स्वतंत्र हैदराबाद" के नारों से अशान्ति उत्पन्न हो गई। बहुसंख्यक प्रजा के मत को कुचल कर निज़ाम सरकार ने अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए हाथ पांव मारने शुरू किए, वहां मजलिस इत्तेहादुल मुसल्मीन ने तीन चार लाख रज़ाकारों (स्वयंसेवकों) की भरती करके तथा उन्हें कुछ सैनिक शिक्षा देकर चारों ओर लूट मार और आतंक फैला दिया। इनके हौसले इतने बढ़ गए कि ये श्री कासिम रज़वी के नेतृत्व में भारत सरकार से सैनिक टक्कर लेने के स्वप्न देखने लग गए। इन्हें राज्य का पूरा सहयोग प्राप्त था। हुकूमत ने भी राज्यभर में सेना और पुलिस का जाल बिछा दिया। राज्य की ओर से पुलिस, सेना और रज़ाकारों को इस बात की छुट्टी दे दी गई थी कि हैदराबाद की स्वाधीनता का जो कोई विरोध करेगा उसको गोली से उड़ा दिया जाए।

१९४७ ई. का वर्ष आर्य समाज तथा अन्य सभी राष्ट्रीयता प्रिय संगठनों के लिए अत्यंत कठिन समय था क्योंकि निज़ाम सरकार राज्य की समस्त स्वाधीनता तथा लोकतंत्र प्रिय शक्तियों को पददलित करने का भीषण चक्र चला रही थी। यह जानते हुए कि सेना, पुलिस और रज़ाकारों की ओर से हत्याएं तथा लूटमार की जा रही हैं। आर्य समाज ने "स्वाधीन हैदराबाद" नामक हैदराबाद की हुकूमत आन्दोलन का डट कर विरोध किया और उसके विरुद्ध युद्ध करने में अपनी पूर्ण शक्ति लगा दी। आर्य समाज ने अत्यन्त

स्पष्ट शब्दों में अपने इस विश्वास को प्रकट कर दिया कि "हैदराबाद भारत का एक अंग बनकर सही अर्थों में स्वतंत्र और स्मृद्ध बन सकता है"। आर्य समाज की इस घोषणा के साथ ही निज़ाम की पुलिस सेना और रज़ाकारों की शक्ति और ध्यान आर्य समाज की ओर फिर गया।

हैदराबाद स्टेट कांग्रेस ने राज्य की एक प्रतिनिधि राजनैतिक संस्था के रूप में जनता को अन्तिम संघर्ष के लिए तैयार करना प्रारम्भ कर दिया। इस संघर्ष में निज़ाम की हुकूमत के विरूद्ध मोर्चा लेन के कांग्रेसी आन्दोलन में आर्य समाज ने महत्वपूर्ण भाग लिया और ३० जुलाई १९४७ को मेरे अतिरिक्त श्री दत्तात्रय प्रसाद, श्री गंगाराम, श्री वामनराव को पुलिस ने गिरफ़्तार करके जेल भेज दिया। मेरी गिरफ़्तारी के विरोध में सहस्त्रों विद्यार्थियों ने सुलतान बाज़ार में एक वृहद् जुलूस निकाला। विद्यार्थियों में हुकूमत के विरुद्ध इतना रोष और क्षोभ था कि जुलूस को तितर बितर करने के लिए पुलिस द्वारा किए गए लाठी चार्ज का भी कुछ परिणाम नहीं हुआ और विद्यार्थी निरन्तर नारे लगाते ही रहे। अन्ततः कांग्रेस के तत्कालीन अध्यक्ष श्री स्वामी रामानन्द को आकर उन्हें शान्त करने की चेष्टा करनी पड़ी।

७ जून १९४७ में रायकोड़ ज़िला बीदर में पुलिस और रज़ाकारों ने मिलकर हिन्दुओं पर फायरिंग कर दी। परिणाम स्वरूप १४ हिन्दुओं की हत्या हुई और घायलों की संख्या इससे अधिक है। इसके अतिरिक्त १५४ दुकानें और मकानों को जलाकर भस्म कर दिया गया। जब इस हत्या और लूट का समाचार राज्य में फैल गया तो जनता में अत्यंत क्रोध तथा क्षोभ पैदा हो गया। आर्यसमाज ने रायकोड़ वालों को आवश्यक सहायता पहुंचाई।

सेना और पुलिस के साथ इन रज़ाकारों ने यत्र-तत्र सर्वत्र लूट मार और रक्तपात फैलाना आरम्भ किया। बीसियों ग्रामों को उजाड़ा गया, खेतियां भस्म की गईं, स्त्रियों के शरीर से आभूषण उतरवा लए और उनके सतित्व तक पर भी हाथ डाला गया तथा दुकानों और घरों में आग लगा दी गई। जब गिरफ़्तारियों का सिलसिला चला तो विशेषरूप से आर्य समाजियों को गिरफ़्तार किया गया। हैदराबाद नगर तथा ज़िलों में सर्वत्र आर्य समाज के लगभग सभी कार्यकर्ता तथा अधिकारियों को गिरफ़्तार कर लिया गया। आर्यसमाज के मंदिरों पर आक्रमण हुए और "ओ३म् ध्वज" को अपमानित किया गया। रज़ाकारों के इन अत्याचारों से आर्य समाज आंतकित नहीं हुआ अपितु उसमें और अधिक दृढ़ता, वीरता तथा तत्परता पैदा हो गई और उसने इस बात का दृढ संकल्प कर लिया था कि निज़ाम की फ़ासिस्ती शक्ति निर्मूल करके ही चैन लिया जाएगा।

इस परिस्थिति में आर्य समाज ने हैदराबाद स्टेट कांग्रेस और अन्य राष्ट्रीय संगठनों से जो हैदराबाद राज्य को भारतीय संघ में सम्मिलित कराने के लिए दृढ़ प्रतिज्ञ थे एक प्रस्ताव द्वारा सहयोग देने का निश्चय किया था। सभा ने सभी आर्य समाजियों को यह अनुमति दे दी थी कि वह जिस राजनैतिक संस्था को पसन्द करें उसमें सम्मिलित होकर हैदराबाद को निज़ाम के बन्धन से मुक्त कराने के आन्दोलन में पूर्ण योग दें। आर्य समाज के इस निश्चय और सहयोग से हैदराबाद स्टेट कांग्रेस को जो सहायता मिली उसको कांग्रेस के नेताओं ने एक से अधिक बार सार्वजनिक रूप में प्रदर्शित किया है।

हैदराबाद स्टेट कांग्रेस का उत्साहपूर्ण आन्दोलन आगे बढ़ता गया किन्तु जब अनेक नेता जेलों में बन्द कर दिए गए और शेष कार्यकर्ताओं को राज्य से बाहर जाकर अपने आन्दोलन का संचालन और वहां

की जनता का नैतिक सहयोग प्राप्त करना पड़ा तो राज्य में इस कार्य को आगे बढ़ाने का दायित्व आर्य समाज पर आ पड़ा। आर्य समाज ने निज़ाम के विरुद्ध प्रत्येक मोर्चे पर लड़ने तथा जनता के उत्साह को ऊंचा उठाने का यत्न किया।

विद्यार्थी और जनता में उत्साह निरन्तर बढ़ता गया। 'हैदराबाद दिवस' तथा 'भारतीय ध्वज दिवस' पर विद्यार्थियों ने अपनी संगठन शक्ति तथा सजीवता का जैसा परिचय दिया उससे सरकारी क्षेत्रों में खल-बली मच गई। निज़ाम की हुकूमत के विरुद्ध इस प्रकार के सभी प्रदर्शनों को संगठित करने तथा उनके संचालन में आर्य समाजियों ने पर्याप्त उत्साह बतलाया।

३ सितम्बर को परकाल में 'ध्वज-दिवस' मनाया गया तो पुलिस ने जनता के रक्त से होली खेली। परकाल में १५०० लोग जुलूस के रूप में जय घोषों के साथ सभा स्थल की ओर जा रहे थे। मार्ग में पुलिस ने अन्धा-धुन्ध फायरिंग की। फल स्वरूप १५० आर्य हिन्दुओं की हत्या हुई और लगभग २५० गिरफ़्तार कर लिए गए।

ऐसी भीषण परिस्थितियों में किसी संस्था के लिए सभा या उत्सव करना कठिन था किन्तु आर्य समाज ने समय की भीषणता का ध्यान किए बिना जालने में छठवें आर्य सम्मेलन को आयोजित किया जिसके अध्यक्ष श्री राजा गोविन्दलाल पित्ती थे। इस सम्मेलन में हैदराबाद की तत्कालीन परिस्थिति की भयंकरता की ओर निज़ाम की हुकूमत का ध्यान आकर्षित करते हुए यह चुनौती दी थी कि यदि जनता की इच्छाओं को कुचला जाएगा तो विकट परिस्थिति उपस्थित होगी अतः निज़ाम सरकार को चाहिए कि वह भारत-संघ में सम्मिलित होकर शीघ्र उत्तरदायी शासन की घोषणा कर दें। सम्मेलन ने जनता को हुकूमत के साथ असहयोग का आदेश दिया।

१९४८ का वर्ष अत्यधिक कठिन था क्योंकि उसी वर्ष दो विचार धाराओं में संघर्ष हो रहा था। इस संघर्ष के परिणाम का समय समीप आ रहा था। निज़ाम की सेना पुलिस और रज़ाकारों के अत्याचारों के प्रतिक्रिया स्वरूप आर्य समाज ने भी अपना आन्दोलन तीव्र कर दिया। हैदराबाद स्टेट कांग्रेस को ग़ैर क़ानूनी घोषित किया गया। हुकूमत ने प्रजातंत्रवादी शक्तियों को दुर्बल करने के लिए कम्युनिस्ट पार्टी पर से प्रतिबन्ध हटा लिया और उनसे गठजोड़ पैदा किया। यह भी एक विचित्र बात है कि जो दल अन्य संस्थाओं को प्रतिगामी कहता था वह स्वयं निज़ाम जैसी फ़ासिस्त शक्ति के साथ मिल गया और जनता से विद्रोह करना प्रारम्भ किया। निज़ाम सरकार, मजलिस इत्तेहादुल मुसल्मीन और कम्युनिस्ट पार्टी के पारस्परिक सहयोग के उपरान्त भी जनता की शक्ति बढ़ती गई और राज्य के अन्दर और बाहर अनेक मोर्चों पर निज़ाम सरकार को परास्त करने की योजना पर कार्य होता रहा।

हैदराबाद की जेलों में राजनैतिक बन्दियों के साथ दुर्व्यवहार किया गया जिसके प्रतिक्रिया स्वरूप वरंगल, नांदेड, औरंगाबाद और जनगांव आदि में राजनैतिक क़ैदियों ने भूख हड़ताल कर दी।

भारत सरकार को निज़ाम और उनकी हुकूमत के सभी कार्यों की पूरी पूरी सूचना थी। उसने निज़ाम-सरकार को वार्तालाप और समझौते के अनेक अवसर दिए ताकि विवादास्पद प्रश्न शान्तिपूर्वक हल हो जाए। जब इससे भी काम नहीं निकला तो आर्थिक बन्धन डाले गए, किन्तु निज़ाम सरकार और

रज़ाकारों के अत्याचार बढ़ते ही गए। सेना पुलिस और रज़ाकारों से आंतकित होकर सहस्रों हिन्दुओं को अपना घरबार छोड़कर राज्य से बाहर जाना पड़ा। आर्य समाज ने शोलापुर पंढरपुर, बार्शी, बीजापुर उमरखेड़, बुलडाना, अमरावती, विजयवाडा और पूना में इन सत्तर पचहत्तर हज़ार हिन्दुओं के रहने तथा भोजनादि का प्रबन्ध अपने हाथों में लेकर स्थान स्थान पर कैम्प खोल दिए। ये कैम्प पहले आर्य समाजियों द्वारा संगठित सेवा समितियों द्वारा चलते थे किन्तु बाद में हैदराबाद स्टेट कांग्रेस और आर्य समाज के मिले जुले प्रबन्ध में चलाए जाने लगे।

हैदराबाद विपत्तिग्रस्त हिन्दुओं के रहने आदि का प्रबन्ध शोलापुर में सर्व श्री मनोहरलाल, कृष्ण दत्त, बंशीलाल व्यास, राजपाल ने अपने हाथों में लिया। बीजापुर में श्री श्यामसुन्दर, पंढरपुर में श्री डी. आर. दास, श्री दिम्बरराव लाठकर करते रहे। इनके अतिरक्त श्री गोपालदेव कल्याणी, श्री प्रशान्त कुमार, तथा श्री कर्मवीर आदि भी इन आपदग्रस्तों की सेवा में सहयोग देते रहे। भारतीय क्षेत्र से घेरे हुए हैदराबाद के बीसियों ग्रामों को स्वतंत्र कर ने में आर्य समाजी भी बराबर के भागीदार रहे। उस्मानाबाद की सीमा पर श्री शेषराव वाघमारे वकील निलंगा, श्री रामचन्द्र लातूर, श्री गोविन्द नाईक निलंगा कार्य करते रहे। बरार की ओर हदगांव तालुका की सीमा पर आर्य समाज उमरी के लगभग सभी कार्यकर्ता निज़ाम की सेना, पुलिस और रज़ाकारों का मुक़ाबला कर रहे थे। निज़ाम की निरंकुशता को समाप्त करने के लिए क्रान्तिकारी कार्यों में भी आर्य समाजी युवक सब से आगे रहे। सर्व श्री नारायणराव पवार, गण्डय्या, जगदीश इन तीन आर्य समाजी युवकों ने जान की बाज़ी लगा कर निज़ाम की मोटर पर बम फेंकने का कार्य-क्रम बनाया जिसके परिणाम स्वरूप नारायणराव और गण्डय्या को बीस बीस वर्षों के कठिन कारावास का दण्ड दिया गया था। सर्व श्री विनय कुमार, सत्यनारायण सिंह तथा मदन मोहन ने श्री विनायक राव के सम्पर्क में रह कर उन्हें पर्याप्त मात्रा में रज़ाकारों की गुप्त सामग्री देते रहे।

श्री विनायक राव निज़ाम सरकार की हर बात का बड़ी दृढ़ता के-साथ मुकाबला करते आए थे। रियासत के वकीलों नें आपकी अध्यक्षता में न्यायालयों का बहिष्कार किया, पुलिस और रज़ाकारों के अत्याचारों की रिपोर्ट तैयार की और जब उन्होंने लायक़अली के झूठे प्रचार का अपने स्पष्ठ तथा घटनाओं से परिपूर्ण वक्तव्य द्वारा भण्ड़ा फोड़ दिया तो उन्हें गिरफ़्तार करके जेल में बन्द कर दिया गया।

आर्य समाजियों ने एक और मोर्चे पर अपनी जान पर खेल कर काम किया। भारत सरकार के हैदराबाद स्थित प्रतिनिधि श्री के. एम. मुंशी को निज़ाम सरकार के गुप्त निर्णयों, सैनिक हलचलों, सिड़नी काटन द्वारा लाए जाने वाले शस्त्रों आदि की सूचना दी जाती रही। इस महत्वपूर्ण कार्य का उत्तरदायित्व श्री वन्देमातरम् रामचन्द्रराव उनके भाई वीरभद्रराव तथा श्री करणसिंह और उनके दल को प्राप्त है।

सीमा पर आर्य समाजी कई मास तक आन्दोलन में भाग लेते रहे और उसके लिए पर्याप्त आर्थिक साधनों की आवश्यकता होती थी जिसकी पूर्ति सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा देहली तथा महात्मा आनन्द स्वामी महाराज (तत्कालीन म. खुशहालचन्दजी) ने की। महात्मा जी जब तक आन्दोलन चलता रहा मासिक दो हज़ार की सहायता दिलवाते रहे।

जब भारत सरकार हैदराबाद सरकार से पूर्णतः निराश हो गई और किसी भी शान्ति पूर्ण उपाय को पाना असम्भव हो गया तो अंतिम उपाय शेष रह गया। निज़ाम ने मजलिस इत्तेहादुल मुसल्मीन की आड़ में अपने निजी हित के लिए मुसल्मानों को मूर्ख बनाने का यत्न किया। किन्तु अन्ततः जब इस तथ्य का अनुभव हुआ कि हैदराबाद की हुकूमत अपनी प्रत्येक सम्भवनीय शक्ति और बल के साथ भी भारत संघ के मुक़ाबले में टिक नहीं सकती तो उन्होंने रज़ाकारों की नज़र बचाकर अपने विशेष दूत नवाब ज़ैनयार-जंग को नई देहली भेजा और अपने एक गुप्त-पत्र में निज़ाम नें भारत सरकार से गिड़-गिड़ाकर प्रार्थना की कि उनके राज्य को मजलिस इत्तेहादुल मुसल्मीन के रज़ाकारों से नजात दिलाई जाए। हैदराबाद में भारत की पुलिस कार्यवाही का मार्ग साफ़ हो चुका था, अतः भारत सरकार की सेनाएं १३ सितम्बर १९४८ को हैदराबाद राज्य में प्रविष्ट हो गईं।

निज़ाम ने राज्य के सेनापति को यह गुप्त आदेश दे दिया था कि वे हर स्थान पर राज्य की सेना को पीछे हटा लें। अतः इसी आदेश को कार्यान्वित किया गया और १७ सितम्बर १९४८ को भारत संघ की सेनाएं हैदराबाद नगर में घुस गईं और सम्पूर्ण राज्य पर उनका अधिकार हो गया। मार्ग में जिन रज़ाकारों ने भारतीय सेना का मार्ग रोकने का यत्न किया मारे गए। इस प्रकार नवाब मीर उस्मान अली खां आसफ़जाह सप्तम की हुकुमत का सदा के लिए अन्त हो गया।

हैदराबाद में भारत सरकार की सेनाओं की सफलता वस्तुतः जन शक्ति और आर्य समाज के आन्दोलन की सफलता है। हैदराबाद राज्य में निज़ाम के ढाई सौ वर्ष की निरंकुशता के अन्त के उपरान्त जनता की स्वतंत्रता और प्रजातन्त्र का युग आरम्भ हुआ और जनता अपने दिलों में नया उत्साह और अपने हाथों में नई शक्ति का अनुभव करने लगी।

मजलिस इत्तेहादुल मुसल्मीन और उसके रज़ाकारों को उनकी उन्मत्त राजनीति तथा दुराचरण का फल प्राप्त हो चुका था किन्तु यह विचित्र बात है कि इस सम्पूर्ण उपद्रव तथा अशान्ति के प्रेरक निज़ाम सरलता से बचकर निकल गए और यह जनता का दुर्भाग्य है कि वे आज तक भी राजप्रमुख बने हुए राज्य की जनता के सिरों पर उसकी इच्छा के सर्वथा प्रतिकूल जमे हुए हैं।

चतुर्थ–काल

हैदराबाद में निज़ाम के फ़ासिस्ती राज्य के अन्त पर स्वाधीनता तथा लोकतंत्र का जो नवीन युग प्रारम्भ हुआ वह शान्ति तथा समाधान का युग सिद्ध हुआ। आर्य समाज को अपने रचनात्मक कार्य का अवसर प्राप्त हुआ। सन् १९४८ के अन्तिम भाग म नवीन रचनात्मक युग के उत्तरदायित्व की दृष्टि से अपने आपको सुदृढ़ तथा शक्तिशाली बनाने के लिए सभा ने एक कार्यकर्ता सम्मेलन आमन्त्रित किया। इस सम्मेलन में एक ओर तो आर्य समाज के भविष्य पर विचार किया गया और दूसरी ओर आर्य समाजी कार्यकर्ताओं को इस बात का आदेश दिया गया कि वे राज्य भर में शान्ति स्थापना तथा उत्पात उपद्रव को समाप्त करने में यथा शक्ति सहयोग दें। आर्य समाजियों ने इस आदेश को बड़ी तत्परता से पालन किया।

गत कालों में जब कि इस्लामी प्रचार शक्तिशाली बना हुआ था मजलिस इत्तेहादुल मुसल्मीन के तत्कालीन प्रधान नवाब बहादुर यार जंग ने निज़ाम सरकार से तीन लाख रुपयों की सहायता प्राप्त करके नलगुण्डा में सहस्त्रों हरिजनों को मुसल्मान बनाने की योजना को प्रारम्भ किया था किन्तु कुछ ही समय

के बाद मैंने अपने कुछ साथियों के साथ नलगुण्डा के ग्रामों का भ्रमण करके लगभग सभी नौ मुस्लिम हरिजनों को पुनः हिन्दुओं में सम्मिलित कर लिया था।

१९४९ में शुद्धि के इस आन्दोलन को पुनः आगे बढ़ाया गया। इस उद्देश्य के लिए मेरे सिवा महात्मा खुशहालचन्द (वर्तमान् म. आनन्द स्वामी महाराज) श्री गंगाराम, श्री मनोहरलाल, श्री बाबूराव उस्मानाबाद तथा श्री बंशीलाल व्यास ने अनेक ग्रामों का भ्रमण कर सवा छः हज़ार, ईसाइयों को शुद्ध किया। इस सिलसिले में वेदप्रचार को भी सम्मिलित करके १५०० ग्रामों का दीर्घ प्रवास किया गया और २०० आर्य समाजों में प्रचार का कार्य पूरी शक्ति के साथ किया गया।

सन् १९४९ ई. में आर्य प्रतिनिधि सभा का सातवां अधिवेशन पहली बार शान्ति और स्वाधीनता के वातावरण में लातूर में मनाया गया। इस सम्मेलन के अध्यक्ष महात्मा खुशहालचन्द और स्वागत-मंत्री श्री गंगाराम थे। इस सम्मेलन में आर्य समाज ने पहली बार बिना किसी रोक टोक के विभिन्न प्रश्नों पर गम्भीरता से विचार किया। सम्मेलन में भारत के अन्य प्रदेशों से भी आर्य भाइयों ने भाग लिया था। उल्लेखनीय बात यह है कि हैदराबाद स्टेट कॉंग्रेस के नेता स्वामी रामानन्द तीर्थ, तत्कालीन प्रादेशिक कॉंग्रेस के अध्यक्ष श्री बी. रामकिशन राव, श्री काशीनाथ राव वैद्य और श्री जनार्दन राव देसाई के नाम उल्लेखनीय हैं। इन राजनैतिक नेताओं ने आर्य समाज से अपनी गहरी दिलचस्पी का प्रदर्शन किया। इसमें आर्य समाज के भावी कार्यक्रम को तैयार किया गया।

इसी वर्ष केशव स्मारक विद्यालय की शिक्षा का माध्यम हिन्दी बनाया गया। नांदेड़ और देगलूर में एक एक विद्यार्थी वसतिगृह खोला गया। केन्द्रीय आर्य वीर दल की भी स्थापना की गई तथा आर्य कुमार परिषद् के कार्य को भी चलाया गया।

१९५० ई. में आर्य शिक्षा समिति की स्थापना हुई जिसका उद्देश्य था कि स्टेट की सभी आर्य समाजी शिक्षा संस्थाओं को व्यवस्थित और सुदृढ़ बनाया जाए तथा उनकी संख्या बढ़ाई जाए। गत ६० वर्षों में आर्य समाज ने यथा सम्भव लड़के और लड़कियों के लिए शिक्षा संस्थाएं चलाईं। आर्य समाज की पुरानी शिक्षा संस्थाओं में गुरुकुल घटकेश्वर, गुरुकुल बेगमपेट, कन्या पाठशाला देवी आश्रम बेगमपेठ, कन्या पाठशाला देवीदीन बाग़, सुलतान बाजार, सावित्री कन्या पाठशाला किशनगंज हैदराबाद, श्यामलाल स्मारक विद्यालय उदगीर, दयानन्द विद्यालय हैदराबाद, माणिक विद्यालय हिंगोली, नूतन विद्यालय उमरी, नरेन्द्र विद्यालय अपसिंगा, रामचन्द्र पाठशाला कोत्तागुड़ा के नाम उल्लेखनीय हैं। सन् १९४० ई. तक आर्य समाजी शिक्षा संस्थाओं की संख्या स्टेट भर में २०० से ऊपर थी। जिनमें आगे चलकर वृद्धि ही हुई।

श्री विनायकराव विद्यालंकार जून १९५० ई. में हैदराबाद सरकार के एक मंत्री नियुक्त हुए थे अतः वह सभा के प्रधान पद से मुक्त हो गए। आर्य समाज के लिए यह बात बड़े गौरव की थी और है कि उसके एक नेता को सरकारी हैसियत से जनता की सेवा करने का सुअवसर प्राप्त हुआ। आर्य समाजों की ओर से उनके अभिनन्दनार्थ बुलाए गए समारोह में आपने घोषणा की कि भविष्य में भी वे पूरे उत्साह के साथ आर्य समाज के लिए कार्य करते रहेंगे। श्री विनायकराव के पश्चात् सभा की अध्यक्षता का भार मुझ पर आ पड़ा। १९५१ में जब पहली बार हैदराबाद नगर समिति का लोकतंत्रात्मक ढंग पर चुनाव हुआ तो अनेक आर्य समाजी कॉंग्रेस के टिकट पर सदस्य चुने गए।

आर्य प्रतिनिधि सभा का अपना रचनात्मक कार्यक्रम था। उसनें शिक्षा का प्रचार, बौद्धिक विकास चरित्र निर्माण, हरिजनों तथा दलितों का सुधार और ग्रामोद्धार में उल्लेखनीय कार्य किया है। सभा की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी। अतः इन कार्यक्रमों की पूर्ति के निमित्त ६० हज़ार रुपए एकत्रित करने के लिए एक उपसमिति का निर्माण किया गया।

सभा ने इस वर्ष समाजों में अनेक रात्रि पाठशालाओं को चलाने की प्रेरणा दी जिसमें लड़कों तथा वयस्कों को हिन्दी माध्यम से आवश्यक शिक्षा दी जाती थी जिसमें धार्मिक विचारों का पर्याप्त अंश होता था। वेद प्रचार का कार्य भी पूर्ववत् जारी रहा और प्रचारकों ने घूम-घूम कर जिलों और ग्रामों में वैदिक धर्म का प्रचार किया।

राज्य में आर्य समाज ने पर्याप्त हिन्दी की सेवा भी की है। प्रारम्भ से ही इसके प्रचार का माध्यम हिन्दी रहा। आर्य समाजों के साथ छोटी छोटी पाठशालाएं चलती रहीं जिनमें लड़के, लड़कियां तथा प्रोढ़ों को पढ़ाया जाता था। इन शिक्षण संस्थाओं में हिन्दी शिक्षा को प्रमुखता प्राप्त थी। अत्यंत पुरानी पाठशालाओं में देवीदीन बाग़ की कन्याशाला, हल्लीखेड़ में १९२० ई. में श्री बंशीलाल और श्यामलाल द्वारा चलाई गई हिन्दी पाठशाला, आर्य समाज धारूर द्वारा संचालित गुरुकुल, श्री मोहनलाल बलदवा ारा संचालित पाठशाला और कन्या गुरुकुल वदिकाश्रम बेगमपेट के नाम उल्लेखनीय हैं। यद्यपि इनमें से कुछ संस्थाएं इस समय बन्द हैं तथापि इन शिक्षा संस्थाओं ने हिन्दी के प्रचार में पर्याप्त योग दिया है। इसी प्रकार से आर्य समाज ने अपने लेखी साहित्य द्वारा भी प्रचार किया। इस साहित्य में पुस्तकें, पत्र और ट्रैक्ट हैं। ये सभी अधिकांश में हिन्दी भाषा में होते थे। राज्य में सब से पूर्व हिन्दी पत्र को चलाने का श्रेय भी आर्य समाज को प्राप्त है। आर्य समाज के हिन्दी प्रचार के इस कार्य का लाभ उस समय प्रकट हुआ जब राज्य में हिन्दी प्रचार सभा तथा ऐसी अन्य संस्थाओं ने अपना कार्य आरम्भ किया और उन्हें बना बनाया क्षेत्र मिल गया। हिन्दी प्रचार सभा की परीक्षाओं से बहुत पूर्व विभिन्न स्थानों पर सैकड़ों लोग आर्य कुमार परिषद् की परीक्षाओं में बैठते थे। उसके पश्चात् आर्य प्रतिनिधि सभा की अपनी धार्मिक तथा साहित्यिक परीक्षाएं भी चलाईं गईं जिनमें भाग लेने वाले परीक्षार्थियों की संख्या भी हज़ारों तक पहुंच गई थी।

१९५१ और ५२ में भारत में जो प्रथम चुनाव हुआ उसमें कॉंग्रेस के टिकिट पर तथा स्वतंत्र रूप से अनेक आर्य समाजी विधान सभा के लिए निर्वाचित हुए। श्री विनायकराव लातूर क्षेत्र से तथा मैं हैदराबाद नगर से चुना गया। हमारे अतिरिक्त निर्वाचित होने वाले आर्य समाजियों के नामों की सूची इस प्रकार है :— सर्व श्री शेषराव वाघमारे, माधवराव घोंसीकर, शंकरदेव वेदालंकार, कोण्डलरेड्डी, निर्वति रेड्डी, द्वारकाप्रसाद, तुलसीराम कामले, कल्याण राव, अम्बादासराव तथा केशवराव परकाल आदि। विधान सभा के इन सदस्यों में से श्री विनायकराव विद्यालंकार तथा श्री शंकरदेव वेदालंकार को हैदराबाद के मंत्रि-मण्डल में क्रमशः वित्तमंत्री तथा उप मंत्री समाज सुधार की हैसियत से सम्मिलित कर लिया गया है।

आर्य प्रतिनिधि सभा ने ग्रामीण जनता से अपना सीधा सम्पर्क स्थापित करने और ग्राम सुधार के कार्यों को संचालित करने की ओर विशेष ध्यान दिया। प्लेग, हैज़े, अकाल आदि अवसरों पर आर्य समाज ने जनता की बड़ी तन्मयता के साथ सेवा की। रोगियों में मुफ्त औषधि बांटना, उनकी शुश्रूषा करना, अकाल

पीड़ित क्षेत्रों में मुफ्त अनाज वितरित करना, गर्मियों में जल की कमी वाले स्थानों पर हरिजनों को पानी की सुविधा पहुंचाना तथा निर्धनों और पीड़ितों को अन्य प्रकार के अत्याचारों से बचाना ये आर्य समाज की सेवा के कुछ एक रूप हैं जिनका प्रचार न तो पत्रों में है और न ही बड़े बड़े विवरणों में इनका उल्लेख है। इतना अवश्य है कि इस सेवा कार्य के द्वारा आर्य समाज ने हैदराबाद की सामान्य जनता का दिल अपनी ओर ऐसा आकर्षित कर लिया है कि आज भी आर्य समाज का प्रभाव और अधिकार जनता पर छाया हुआ है। हरिजनोद्धार का भी एक कार्यक्रम बनाया गया जिससे वे शैक्षणिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से प्रगति कर सकें, निर्धन तथा हरिजनों को कृषि योग्य भूमि को सरकार से दिलाने में भी आर्य समाज ने पर्याप्त परिश्रम किया है। घरेलू उद्योगों और खेती की उन्नति के कार्यों पर भी सभा ने पर्याप्त विचार करके उसको कार्यान्वित करने का यत्न किया है।

भारत में गो-वध को बन्द करने के लिए कानून बनाने की केन्द्रीय सरकार से मांग की गई थी। तदनुसार आर्य प्रतिनिधि सभा ने हैदराबाद की हुकूमत से भी इस बात की मांग की कि क़ानून बनाकर गोवध को यहां भी निषिद्ध कर दे। आर्य समाज की यह मांग सांस्कृतिक दृष्टि से बढ़ कर आर्थिक तथा कृषि-दृष्टिकोण पर आधारित थी।

भारत सरकार ने उस्मानियां विश्वविद्यालय को एक हिन्दी विश्वविद्यालय में परिवर्तित करने और उसे केन्द्र की व्यवस्था में लेने की घोषणा की। सभा ने इसका स्वागत किया और इस बात पर बल दिया कि राष्ट्र भाषा के रूप में यथावश्यकता कालेजों विश्वविद्यालयों तथा सरकारी विभागों में शीघ्र ही प्रचलन होना चाहिए।

सभा ने एक प्रस्ताव द्वारा सभी आर्य समाजियों को यह आदेश दिया कि वह आर्य समाज के नियमों का कठोरता के साथ पालन करें। साथ ही आर्य समाज के अधिकार पद को प्राप्त करने के लिए आर्य समाज के सिद्धान्तों पर आचरण करना अनिवार्य किया गया। आर्य समाजियों को जन्म मूलक जाति की श्रृंखला को तोड़कर विवाह करने को भी प्रोत्साहित किया गया। हैदराबाद में आर्य समाज ने इस दिशा में पर्याप्त कार्य किया है। आर्य समाज के कार्य कर्ताओं में अधिकांश ने जन्म मूलक जाति के बन्धन को तोड़कर विवाह सम्बन्ध स्थापित करके जात-पात के वर्तमान् कृत्रिम भेद भाव को निर्मूल करने में उल्लेखनीय सेवा की है। इस कारण से तथा आर्य समाज के राष्ट्रीय दृष्टिकोण के प्रभाव से प्रायः आर्य समाजी संकुचित साम्प्रदायिक तथा प्रान्तीय विचारों से ऊपर उठे हुए हैं।

१९५३ में सभा का प्रधान पुनः मुझे ही बनाया गया और श्री बंशीलाल व्यास मंत्री चुने गए। इससे पूर्व श्री मनोहरलाल ने सभा के मंत्री-पद को दो वर्षों तक सम्भाला था।

गोवध निषेध के कार्य को अधिक व्यवस्थित तथा सुदृढ़ बनाने के लिए एक उपसमिति का निर्माण हुआ। हैदराबाद तथा सिकन्दराबाद नगरों में पृथक् जुलूस निकाले गए। जिलों में भी ऐसे ही जुलूसों की आयोजना की गई। इन जुलूसों में सहस्रों लोगों ने भाग लिया। गो-वध निषेध सम्बन्धी साहित्य को जनता तक पहुंचाया गया।

आर्य समाजी क्षेत्र में आई हुई निष्क्रियता को दूर करने के लिए श्री बंशीलाल व्यास को लेकर मैंने राज्य का एक तूफ़ानी दौरा किया। फल स्वरूप आर्य समाजियों में नई शक्ति तथा नया उत्साह पैदा हो गया। इस भ्रमण में आर्य समाजियों में चरित्र निर्माण की भावना को तीव्रतर किया गया।

ईसाई प्रचारकों ने निम्न कोटि के साधनों को काम में लाकर हिन्दुओं, विशेषत: हरिजनों को ईसाई बनाने का आन्दोलन आरम्भ किया। इसके विरुद्ध एक शान्तिपूर्ण कार्यक्रम आर्य समाज ने कार्यान्वित किया। फल स्वरूप १९५३ ई० में एक हज़ार ईसाईयों को शुद्ध किया गया। इस कार्य में सभा के उपदेशक श्री रुद्रदेव का प्रयत्न और परिश्रम उल्लेखनीय है।

१९५४ में भी सभा का प्रधान पद मेरे ही अधिकार में रहा। गोवध-निषेध और ईसाई प्रचार की रोक थाम का आन्दोलन पूरी शक्ति के साथ आगे बढ़ा। इसके सिवा परिगणित जाति, दलित जाति, वन्यजाति के सम्मेलनों के आयोजन में आर्य समाज का पूरा पूरा सहयोग प्राप्त होता रहा।

८ मई १९५४ को हैदराबाद में अष्टम सार्वदेशिक आर्य महासम्मेलन बड़ी धूम धाम से मनाया गया। इसमें भारत के सभी प्रान्तों से सहस्त्रों आर्य समाजी सम्मिलित हुए। सम्मेलन के सभापति श्री घनश्यामसिंह गुप्त और स्वागताध्यक्ष श्री गंगाराम थे। सम्मेलन के साथ आर्य समाज सुलतान बाज़ार की हीरक जयन्ती भी मनाई गई। आर्य प्रतिनिधि सभा तथा उसकी शाखाओं ने बड़ी तन्मयता के साथ महा सम्मलेन को सफल बनाया। सम्मेलन में अनेक महत्वपूर्ण प्रस्ताव स्वीकृत हुए और इस बात पर पर्याप्त बल दिया गया कि भारत में गोवध बन्द होना चाहिए अन्यथा आर्य समाज को अपनी पूरी शक्ति के साथ एक भारत व्यापी आन्दोलन को खड़ा करने पर विवश होना पड़ेगा। सम्मेलन में इस बात पर भी ज़ोर दिया गया कि राजनैतिक उद्देश्य को लक्ष्य में रखकर विदेशी ईसाई प्रचारकों ने देश में जो विनाशक धार्मिक तथा सांस्कृतिक आन्दोलन चलाया है उसको बन्द कर दिया जाए।

आर्य प्रतिनिधि सभा हैदराबाद के सामने समाज सुधार तथा धार्मिक पुनरुद्धार का एक विस्तृत रचनात्मक कार्यक्रम है। इसके अतिरिक्त उसके सामने राष्ट्रीय हित की दृष्टि से भी गोवध-निषेध तथा ईसाई धर्म के बढ़ते हुए प्रचार को रोकने का कार्य है। शिक्षा के प्रचार का काम तो प्रारम्भ से ही आर्य समाज ने अपने हाथ में लिया है।

नरेन्द्र, एम. एल. ए.
आर्यसमाज सुलतान बाज़ार,
हैदराबाद-दक्षिण

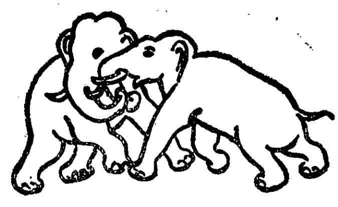

न्याय

आर्य समाज और हिन्दी

हिन्दी का जन्म कब और कैसे हुआ इस प्रश्न पर विचार करना यहां अभीष्ट नहीं है पर इतना निःसन्देह है कि हिन्दी भारत की प्रधान भाषा रही है। उसे अधिकांश देशवासी बोलते थे और बोलते हैं अर्थात् भारत में हिन्दी का जितना प्रचार है उतना अन्य किसी भाषा का नहीं। इसी लिए वह "राष्ट्र भाषा" रूप में निश्चित की गई है।

महर्षि दयानन्द काठियावाड़ में पैदा हुए थे उनकी मातृभाषा गुजराती थी। वे हिन्दी की उपयोगिता और महत्ता भली प्रकार जानते थे इसी लिए अपनी भाषा गुजराती छोड़कर उन्होंने हिन्दी का आश्रय लिया और इसी भाषा का उन्होंने अपने विचारों के प्रचार का साधन या माध्यम बनाया। स्वामी दयानन्द सरस्वती हिन्दी को "आर्य भाषा" कहते थे। उन्होंने आर्य भाषा का प्रयोग स्वयं ही नहीं किया प्रत्युत अपने द्वारा संस्थापित आर्य समाज के प्रत्येक सदस्य को भी आदेश दिया कि वह इस भाषा को स्वयं पढ़कर उसके अधिकाधिक प्रचार तथा प्रसार में सहायक हों।

स्वामी जी ने अपना मुख्य ग्रंथ "सत्यार्थ प्रकाश" हिन्दी में लिखा। और भी सब ग्रंथ हिन्दी में ही लिखे। यहां तक कि वेद का भाष्य भी आपने हिन्दी में कर संसार के सामने एक अपूर्व उदाहरण रखा। जहां तक हमें ज्ञात है स्वामी जी से पूर्व हिन्दी में वेद-भाष्य किसी ने नहीं किया। स्वामी जी पहले तो देववाणी संस्कृत में भाषण देते थे फिर हिन्दी का यथेष्ट ज्ञान हो जाने पर, उसी में व्याख्यान देने लगे। यह उस समय की बात है, जब हिन्दी की उन्नति और उसका विकास, रोकने के लिए विरोधी शक्तियां सिर तोड़ प्रयत्न करती रहती थीं। हिन्दी में लिखना-पढ़ना "गंवारूपन" समझा जाता था। इस प्रकार भारतवर्ष की पढ़ी लिखी तथा सर्व साधारण जनता के मध्य उस विरोधी युग में, हिन्दी प्रसार करने वालों में दो ही मुख्य महानुभाव थे—महर्षि दयानन्द और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र। श्रीयुत श्रद्धाराम ने भी पंजाब में इस दिशा में बड़ा काम किया। ये भी उन्हीं दिनों हिन्दी सेवा में संलग्न थे। इन्होंने अपना मुख्य-ग्रंथ "सत्यामृत-प्रवाह" हिन्दी में ही लिखा। और भी कई ग्रंथ इसी भाषा में लिखे। श्रीयुत श्रद्धाराम सनातनी थे। उन्होंने कविताएँ भी लिखीं थीं। "श्रद्धा" उनका उपनाम था। महर्षि दयानन्द से उनका शास्त्रार्थ भी हुआ था' "ओम् जय जगदीश हरे"—आरती आर्य समाजों में गाई जाती है, वह श्रीयुत श्रद्धाराम की ही रची हुई है।

कहने का अभिप्राय यह है कि उन दिनों विरोधी शक्ति के मुक़ाबले में, हिन्दी का प्रसार-प्रचार करने में, जिन लोगों ने भगीरथ पुरुषार्थ और प्रयत्न किया उनमें आर्य समाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द सरस्वती का बहुत ऊंचा स्थान है फिर, आर्य समाज तो इस दिशा में सर्वोपरि सिद्ध हुआ। फ़ारसी और उर्दू के गढ़ पंजाब में हिन्दी का इतना अधिक प्रचार हो जाना, आर्य समाज के सदुद्योगों का ही सुपरिणाम ह। पंजाब में ज्यों ज्यों आर्य समाजों तथा आर्यसमाजियों की संख्या बढ़ती गई त्यों त्यों हिन्दी का प्रचार भी अधिकाधिक होता गया। पंजाब का सुप्रसिद्ध दयानन्द अँग्लो वैदिक कालेज तथा तत्सम्बन्धी अन्य सभा संस्थाए भी हिन्दी प्रचार में बहुत अग्रसर हुईं।

आर्य समाज के विद्वानों द्वारा हिन्दी में अनेक मौलिक ग्रंथ लिखे गए। अन्य भाषाओं से भी कितने ही ग्रंथों के हिन्दी रूपान्तर हुए। श्री क्षेमकरणदास त्रिवेदी, श्री तुलसीराम स्वामी, श्री आर्यमुनि, श्री शिवशंकर काव्यतीर्थ, श्री राजाराम शास्त्री, श्री आत्माराम अमृतसरी, स्वा० दर्शनानन्द, श्री स्वामी श्रद्धानन्द इत्यादि आर्य विद्वानों और आर्य नेताओं ने हिन्दी में वैदिक साहित्य सम्बन्धी अनेक ग्रंथ लिखे। श्री जयदेव विद्यालंकार ने चारों वेदों के भाष्य आर्य भाषा में किये। ऐसा करने का सबसे पहले श्रेय आर्य समाज को ही है। आधुनिक हिन्दी युग में भी श्री गंगाप्रसाद उपाध्याय, श्री गंगाप्रसाद (रिटायर्ड जज), श्री भगवद्दत्त रिसर्चस्कालर, श्री ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, श्री घासीराम एम. ए., श्री चमूपति एम. ए, श्री डाक्टर मंगलदेव शास्त्री, श्री डा० बाबूराम सक्सेना, स्वामी ब्रह्म मुनि, आचार्य प्रियव्रत, श्री डा० वासुदेव शरण अग्रवाल, श्री पद्मसिंह शर्मा, श्री आचार्य नरदेव शास्त्री, श्री रघुनन्दन शर्मा, श्री भीमसेन शर्मा, श्री विश्वबन्धु शास्त्री, श्री विश्वेश्वर इत्यादि अनेक आर्य विद्वानों ने हिन्दी में अनेक महत्वपूर्ण ग्रंथ लिखे हैं। डा० मुन्शीराम शास्त्री और डा० सूर्यदेव शर्मा, कुं० चांदकरण शारदा, बा० पूर्णचन्द्र एड्वोकेट, रामदत्त शुक्ल आदि ने भी अपनी रचनाओं द्वारा हिन्दी भण्डार की श्री वृद्धि की है। ऊपर जिन रघुनन्दन शर्मा का नामोल्लेख है, उनकी रची "वैदिक सम्पत्ति" नामक पुस्तक तो हिन्दी साहित्य

की विभूति है। श्रीयुत गंगाप्रसाद उपाध्याय के ग्रंथ बड़े आदर की दृष्टि से देखे जाते हैं। श्री गंगाप्रसाद (रिटायर्ड चीफ़ जज) का "धर्म का आदिस्रोत" नामक ग्रंथ बड़ा खोजपूर्ण है। इस प्रकार आर्य साहित्य सब दृष्टियों से स्तुत्य है। ऊपर बहुत थोड़े विद्वानों के नाम दिए गए हैं, इस समय ये ही नाम मेरी स्मृति में थे। इनके अतिरिक्त जो और विद्वान हैं, वे भी बड़ी प्रतिष्ठा पूर्वक इसी श्रेणी में सम्मिलित हो सकते हैं।

गद्य ही नहीं पद्य साहित्य में भी आर्य विद्वानों ने हिन्दी की बड़ी सेवाएं की हैं। स्व. श्री नाथूराम शंकर शर्मा उन महा कवियों में से थे जिन्होंने अपनी प्रतिभा-प्रभा द्वारा हिन्दी जगत् को अद्‌भुत आलोक प्रदान किया और जो अपने युग में सर्व श्रेष्ठ हिन्दी कवि समझे गए। श्री कर्णकवि, श्री मदालजी, श्री प्रकाशजी, श्री डा. सूर्यदेव शर्मा, श्री डा. मुन्शीराम शर्मा, श्री कुसुमाकर, श्री चन्द्र जी, डा. विभु, श्री चातक, श्री रत्न आदि आर्य कवियों ने अपनी रचनाओं द्वारा हिन्दी को बहुत कुछ दिया है। श्री गंगाप्रसाद उपाध्याय के सुपुत्र श्री डाक्टर सत्यप्रकाश, डी. एस. सी. ने हिन्दी में वैज्ञानिक ग्रंथ रचे हैं। सुप्रसिद्ध श्री नारायण प्रसाद "बेताब" जिन्होंने अपने हिन्दी नाटकों द्वारा नाटक जगत् में क्रांन्ति कर दी थी, आर्य विद्वान थे। उनके एक नाटक का गीत "अजब हैरान हूं भगवन् तुम्हें कैसे रिझाऊं मैं' आज भी आर्य समाजों में बड़े आदर से गाया जाता है। आधुनिक युग के सुप्रसिद्ध नाटककार श्री सुदर्शन भी आर्य समाज के ही एक रत्न हैं। श्री महाराणी शंकर की सेवाएं भी नहीं भुलाई जा सकतीं।

पत्रकार जगत् के भीष्म-सम्पादकाचार्य श्री रुद्रदत्त शर्मा आर्य समाज के प्रसिद्ध विद्वान् थे। वे पत्रकार और साहित्यकार होने के अतिरिक्त "शास्त्रार्थ-महारथी" भी थे। इन्होंने पत्रकार-कला को जीवन दान दिया। जब देश में हिन्दी पत्रकारिता का जन्म ही हुआ था, तब रुद्रदत्त उसकी सेवा-सहायता में संलग्न थे। उस समय इन्होंने कलकत्ता, बम्बई आदि के प्रायः सब ही प्रसिद्ध प्रसिद्ध पत्रों का सम्पादन कर उन्हें सहायता दी थी। चने चाब-चाब कर या भूखों रहकर ये हिन्दी पत्रकारिता को प्राण प्रदान करते रहे। अन्त में "आर्यमित्र" के सम्पादक रहे और आगरे में ही आपका भौतिक शरीर पंचत्व को प्राप्त हुआ। इस दिशा में आचार्य श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति का नाम कैसे भुलाया जा सकता है? सबसे पहले देहली में इन्होंने ही "विजय" नामक दैनिक पत्र प्रकाशित किया और फिर "दैनिक अर्जुन" तथा दैनिक "वीर अर्जुन"। श्री सत्यदेव विद्यालंकार के सम्पादकत्व में देश का सुप्रसिद्ध "दैनिक हिन्दुस्तान" प्रकाशित हुआ। श्री रामगोपाल विद्यालंकार ने "दैनिक नव भारत टाइम्स" का सम्पादन बड़ी योग्यता से किया। प्रसिद्ध पत्रकार श्री लक्ष्मीधर वाजपयी भी आर्य समाजी थे। इनके अतिरिक्त अन्य अनेक आर्य पत्रकार बड़ी तन्मयता और योग्यता से हिन्दी पत्रकार-कला की सेवा कर रहे हैं तथा कर गए हैं। प्रसिद्ध पत्रकार श्री सत्यकाम विद्यालंकार भी आर्य समाज के ही रत्न हैं।

इनके अतिरिक्त ऐसे अनेक विद्वान् लेखक हैं जिन्होंने सर्व प्रथम आर्य पत्रों से ही अपनी लेखन कला प्रारम्भ की और अब हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक हैं। उपन्यास सम्राट् श्री प्रेमचन्द को हिन्दी में लिखने के लिए प्रोत्साहन देने वाले आर्य विद्वान् श्री पद्मसिंह शर्मा थे। श्री राहुल सांकृत्यायन जब आर्य समाजी थे तब आपकी विचारधारा का प्रकाशन आर्य समाजी पत्रों द्वारा ही सब से पहले हुआ। सुप्रसिद्ध पत्रकार श्री बनारसीदास चतुर्वेदी ने "आर्यमित्र" में ही सब से पहले लिखा।

हिन्दी के आलोचकों में स्व. साहित्याचार्य श्री पद्मसिंह शर्मा की गणना बड़ी प्रतिष्ठा से की जाएगी। इन्होंने अपनी तुलनात्मक आलोचना पद्धति द्वारा हिन्दी में एक नया युग उपस्थित कर दिया। वस्तुतः वे सही अर्थ में "समालोचक-शिरोमणि" थे। उन्होंने "भारतोदय" नामक पत्र का सम्पादन बड़ी योग्यता से किया। उनकी लिखी "बिहारी सतसई" की आलोचना हिन्दी की एक अमर रचना है। महा कवि शंकर और समालोचक-शिरोमणि पद्मसिंह शर्मा ऐसे आर्य विद्वान् थे, जिनका परिचय देश के तत्कालीन सभी विद्वान साहित्यकारों से था। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, शर्मा जी के साथ ज्वालापुर महा विद्यालय में निवास करने की कृपा करते थे। इसी प्रकार शंकर जी के साथ भी प्रायः सब कवियों और साहित्यकारों का अभिन्न भाव था।

आर्य समाज के सुप्रसिद्ध नेता अमर शहीद स्वामी श्रद्धानन्द महाराज उर्दू के प्रसिद्ध लेखक थे। उनके द्वारा सम्पादित "सद्धर्म प्रचारक" उर्दू में ही निकलता था। सहस्रों ग्राहक थे। परन्तु जब उन्होंने हिन्दी प्रचार की दिशा में क्रियात्मक पग उठाया तो सबसे पहले "सद्धर्म प्रचारक" का हिन्दी में रूपान्तरित किया। ऐसा करने से पत्र को बड़ी आर्थिक हानि उठानी पड़ी। परन्तु इसकी महात्मा मुन्शीराम पीछे स्वामी श्रद्धानन्द ने कुछ भी परवाह नहीं की।

एक बात और उल्लेखनीय है। पंजाब में जो आर्य पत्र उर्दू में निकलते थे उनकी भाषा प्रायः हिन्दी ही होती थी। केवल लिपि फ़ारसी अपनाई उर्दू थी। इससे भी हिन्दी भाषा का बहुत प्रचार हुआ।

हिन्दी में उत्तम ग्रंथों पर श्री मंगलाप्रसाद पारितोषिक दिया जाता है। सबसे पहला 'मंगलाप्रसाद पारितोषिक' आचार्य श्री पद्मसिंह शर्मा–आर्य विद्वान् को मिला फिर श्री गंगाप्रसाद उपाध्याय को तथा अन्य अनेक आर्य ग्रंथकारों को भी यह पुरस्कार प्रदान किया गया। आर्य समाजियों की संख्या के अनुपात से यह पुरस्कार आर्य विद्वानों को कहीं अधिक संख्या में मिले। "देव पुरस्कार" जो प्रारम्भ में केवल सर्व श्रेष्ठ कविता-ग्रंथ को प्रदान किया जाता था सन् १९४८ में इन पंक्तियों के लेखक को प्राप्त हुआ। "श्री मंगलाप्रसाद पारितोषिक" का द्रव्य परिमाण १२०० रु. और "देव-पुरस्कार" का २००० रु. दो सहस्र है।

गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना के समय अब से पचास वर्ष पूर्व उसके संस्थापक महात्मा मुन्शीराम ने घोषणा की कि गुरुकुल की शिक्षा का माध्यम हिन्दी भाषा होगी। और इसी पद्धति पर निरन्तर शिक्षा भी दी गई। जो कार्य अन्य विद्यालयों और विश्व विद्यालयों में अभी तक सम्भव नहीं हो सका। उसे कांगड़ी गुरुकुल तथा वृन्दावन गुरुकुल अपने जन्मकाल से कर रहे हैं। क्या यह हिन्दी प्रचार की दिशा में ठोस कदम नहीं है ?

आर्य समाज ने अपने प्रचार के लिए संगीत का भी प्रश्रय लिया। भजन गाए जाने लगे। इन भजनों से भी सर्व साधारण में हिन्दी का खूब प्रचार हुआ। देश-भक्ति, समाज-सुधार और आत्मोन्नति की भावनाएं जागीं सर्वत्र एक नई जागृति दिखाई देने लगी। आधुनिक भारत के निर्माण में आर्य समाज की गति विधियों की उपेक्षा करना बड़ी भारी कृतघ्नता होगी। जब देशोन्नति सम्बन्धी कोई संस्था कार्य-क्षेत्र में अवतीर्ण न हुई थी, तब आर्य समाज ने ही उस प्रतिकूल ,परिस्थिति में यह कठिन कार्य अपने ऊपर लिया था। अभिप्राय यह कि आर्य समाज की लेखनी और वाणी तथा उसके शिक्षणालय निरन्तर हिन्दी

की ठोस सेवा करते रहे हैं। आर्य समाजों तथा उनकी शिरोमणि संस्था-प्रादेशिक आर्य प्रतिनिधि सभाएँ, सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा तथा अन्य आर्य संस्थाओं के कार्यालयों में सारा पत्र-व्यवहार और सारा काम अब से साठ-सत्तर वर्ष पूर्व से ही हिन्दी भाषा और देवनागरी लिपि में हो रहा है। जब कि स्वराज्य सरकार का ध्यान इस ओर अब गया है।

भारत ही नहीं भारत से बाहर उपनिवेशों में भी, जहां-जहां आर्य समाज स्थापित हैं, हिन्दी का कार्य बड़ी सफलता से हो रहा है। फ़िजी आदि उपनिवेशों में आर्य समाज का अच्छा प्रभाव है। वहां आर्य शिक्षणालय और आर्य समाज स्थापित हैं। डी. ए. वी. कालेजों की भी स्थापना हो चुकी है। आर्य प्रतिनिधि सभाएँ हैं। और भी जनोपयोगी अन्य आर्य संस्थाएं वहां काम कर रही हैं। सब का कार्य हिन्दी में ही होता है। वहां से हिन्दी के कई समाचार पत्र भी प्रकाशित होते हैं। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए 'तो निस्सन्देह आर्य समाज द्वारा हिन्दी प्रचार का सबसे अधिक काम हुआ ह। उस समय जब हिन्दी अंग्रेजी पढ़े-लिखों में सम्मान की दृष्टि से न देखी जाती थी और विरोधी उसे फ़ाड़ खाने को दौड़ते थे।

इस समय सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि समाजों की ओर से हिन्दी का एक विशाल प्रकाशन भवन स्थापित हो। विद्वानों और विशेषज्ञों से उपयोगी पुस्तकें लिखवाकर प्रकाशित कराई जाएं। सस्ते तथा सुन्दर संस्करण हों। आर्य समाज में विद्वान लेखकों, कवियों, पत्रकारों की कमी नहीं, उनको संगठन करने वाली कोई संस्था होनी चाहिए। यदि बड़े परिमाण पर एक बृहत् प्रकाशन-गृह स्थापित किया जाए तो आर्य विद्वानों द्वारा और भी अधिक हिन्दी प्रचार होगा और निश्चय वे इस दौड़ में किसी से पीछे नहीं रहेंगे।

हरिशंकर शर्मा, कविरत्न
लोहामण्डी, आगरा

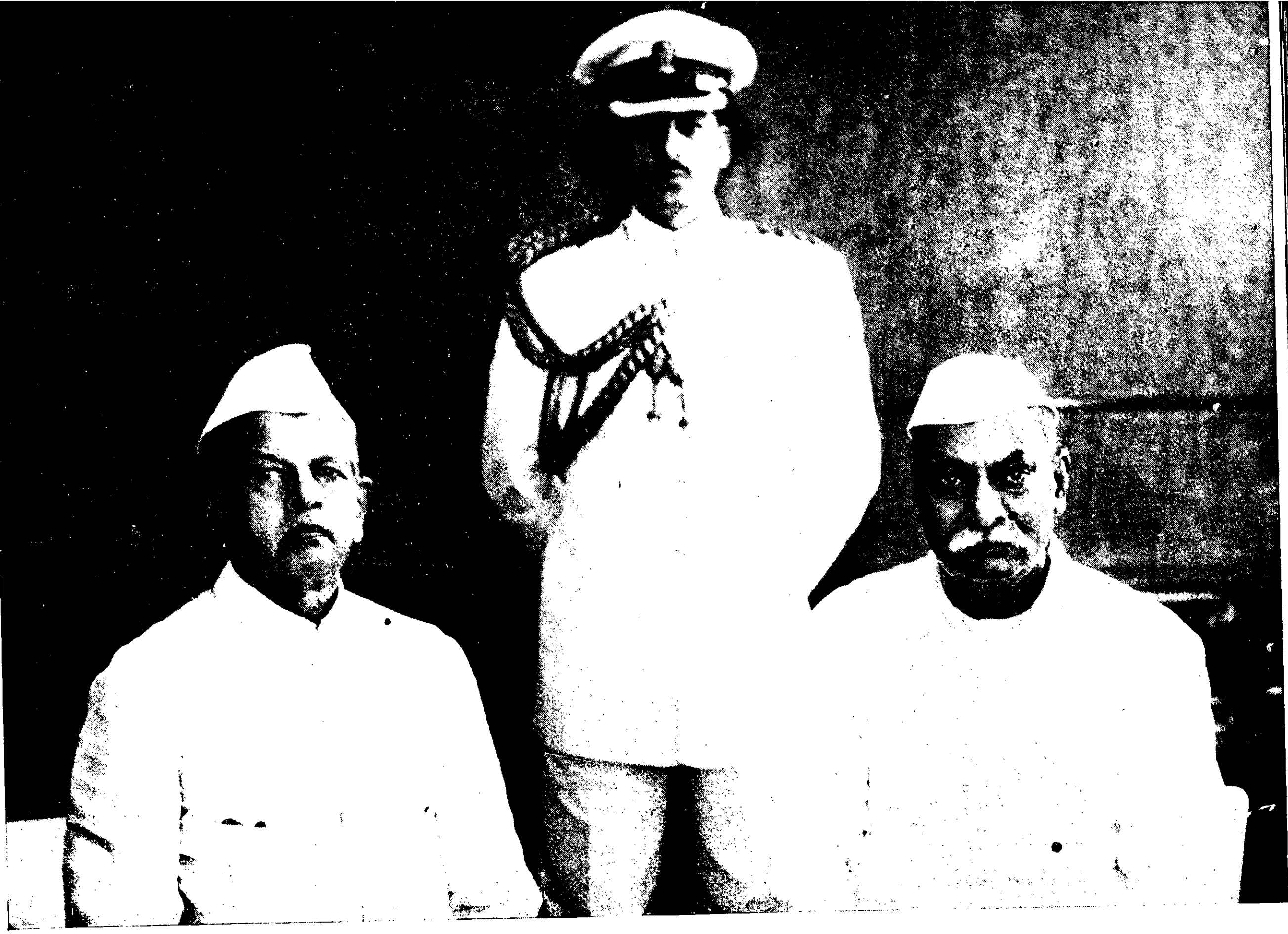

श्रीयुत विनायक राव राष्ट्रपति श्री राजेन्द्र प्रसाद के साथ

हैदराबाद जनशिक्षा-परिषद्

तारीख २१–८–१९२८ ई. को एक प्राइवेट सभा श्रीयुत केशवराव कोरटकर सेवा निवृत्त न्यायाधीश की अध्यक्षता में की गई। उसमें निर्णय हुआ कि "हैदराबाद जनशिक्षा-परिषद्" का निर्माण किया जाए जिसके द्वारा लोकमत को संगठित करके जनता का शिक्षा सम्बन्धी दृष्टिकोण सरकार के सामने रखा जा सके। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि उन दिनों सरकार से आज्ञा प्राप्त किए बिना कोई सार्वजनिक सभा नहीं की जा सकती थी। स्कूल और पुस्तकालय भी बिना सरकारी अनुमति प्राप्त किए नहीं खोल सकते थे। परिषद् को स्थापित करने के अन्य कारणों के साथ एक तात्कालिक कारण यह भी था कि संसार के सामने शिक्षा के सम्बन्ध में लोकमत व्यक्त करने का किसी प्रकार अवसर मिलना सम्भव ही नहीं था। इस परिषद् के सामने भी अनेक कठिनाइयां थीं। अन्ततः श्री हृदयनाथ कुंजरू, सदस्य सर्वेन्ट्स आफ़ इंडिया सोसाइटी की अध्यक्षता में २५-२६ अक्तूबर १९२९ ई. को परिषद् की प्रथम बैठक हुई। श्री हनुमन्त राव इसके प्रधान मंत्री तथा श्री राजा धनराज गीर स्वागत समिति के अध्यक्ष थे।

राज्य के शिक्षा क्षेत्र में यह एक नया अध्याय था। लोग राज्य की शिक्षा और भाषा विषयक नीति पर विचार करने लग गए। परिषद् में पारित प्रस्तावों पर साधारण दृष्टि डालने से ज्ञात होता है

कि उनका दृष्टिकोण व्यापक था। शिक्षा समिति की स्थापना साम्प्रदायिक धार्मिक शिक्षा का विरोध, पाठ्य पुस्तकों में सामुदायिक धार्मिक दृष्टिकोण से पाठ्य वस्तु चयन, पाठशालाओं और पुस्तकालयों के खोलने की और चलाने की स्वतंत्रता में बाधक नियमों की परिसमाप्ति, उस्मानिया विश्वविद्यालय के विधान को भारत के अन्य विश्वविद्यालयों के सदृश उदार बनाने की मांग, राज्य के आन्ध्र, मराठवाड़ा तथा कर्नाटक के क्षेत्रों में बसनेवाली जनता की शिक्षा को बढ़ाने और उन्नत करने की आवश्यकता बिना किसी धर्मगत और जातिगत भेद भाव के छात्रों की योग्यता के आधार पर छात्रवृत्तियों का वितरण आदि आदि प्रस्ताव थे, जो कि जनता के लिए शिक्षा को अधिक उन्नत, उदार और प्रशस्त करने के ध्येय से अनुप्राणित और प्रस्तुत किए गए थे।

छात्रवृत्ति सम्बन्धी प्रस्ताव को श्री विनायक राव ने बड़े प्रभावपूर्ण ढंग से इस परिषद् के सम्मुख प्रस्तुत किया। उस समय भी उनका भाषण अपनी ही विशिष्ट शैली का हास्य और विनोद से परिपूर्ण था। एक अन्य प्रस्ताव में यह भी मांग की गई थी कि पाठ्यक्रम में हिन्दी को भी समुचित स्थान दिया जाए।

परिषद् का द्वितीय अधिवेशन अनेक बाधाओं के बीच श्री डॉ. राम प्रसाद त्रिपाठी की अध्यक्षता में ५ अगस्त १९३० ई. को हैदराबाद में सम्पन्न हुआ। शासन का एक ओर यह आग्रह था कि परिषद् का अध्यक्ष इस राज्य का निवासी हो, दूसरी ओर परिषद् से ज़मानत की मांग भी की जा रही थी कि ऐसी स्थिति में ज़िले के प्रतिनिधि अनेक कारणों से परिषद् करने के लिए सहमत न थे। अन्ततः स्वर्गीय धर्मवीर श्री वामन रामचन्द्र नाईक स्वागत समिति के अध्यक्ष बने और श्री काशीनाथ राव वैद्य मंत्री। इस अधिवेशन में अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा, शिक्षा में हिन्दी को स्थान, स्कूलों तथा पुस्तकालयों को खोलने और चलाने की पूर्ण स्वतंत्रता और "रायल कमिशन" नियुक्त करने आदि की मांग प्रस्तावों द्वारा की गई। इस अधिवेशन के सम्मुख श्री विनायक राव विद्यालंकार ने छात्रवृत्ति सम्बन्धी प्रस्ताव को पुनः प्रस्तुत किया था।

दोनों ही समयों पर परिषद् बड़ी सफल रही। ज़िलों की जनता ने इसमें पर्याप्त भाग लिया। सभी जाति तथा सम्प्रदाय के लोग इसमें सम्मिलित हुए। परिषद् के अतिरिक्त समय समय पर इस विषय पर विविध प्रश्नों के लिए सरकार के समक्ष प्रतिनिधित्व किया गया। लड़कियों के लिए उर्दू अनिवार्य न रहे, प्राथमिक शिक्षा को विद्यार्थियों की मातृभाषा में दी जाने के सिद्धान्त का समुचित पालन हों, स्कूलों पुस्तकालयों और नई कक्षाओं के खोलने और चलाने पर से प्रतिबन्ध दूर किये जाएँ। माध्यमिक शिक्षा में मातृभाषा को माध्यम बनाया जाए, जब तक मातृभाषा माध्यम न बने तब तक माध्यम अंग्रेजी ही रखी जाए इत्यादि विषयों के लिए सरकार को निरंतर सुझाया जाता रहा। परिषद् के तीसरे अधिवेशन को ज़िले के किसी स्थान पर करने का भरसक प्रयत्न किया गया, पर यह सम्भव न हो सका। अन्त में यह अधिवेशन हैदराबाद नगर में १९३७ ई. में किया गया। इस परिषद् के अध्यक्ष श्री काशीनाथराव वैद्य और स्वागत समिति के अध्यक्ष स्व. श्री राय गणपतलाल तथा मंत्री इन पंक्तियों का लेखक। इस परिषद् में भी अनेक प्रस्ताव प्रस्तुत किये गए जिनमें उस्मानिया विश्वविद्यालय, अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा, स्कूलों, पुस्तकालयों और अखाड़ों के प्रारंभ करने तथा चलाने की स्वतंत्रता, आयुर्वेदिक कालेज का प्रारम्भ, इंजीनियरिंग, मेडिकल

तथा अन्य टेकनिकल कालेजों में अंग्रेजी में शिक्षा तथा छात्रवृत्ति की निधि का समुचित उपयोग सम्बन्धी प्रस्ताव विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं।

श्री विनायक राव सदा शिक्षा सम्बन्धी विषयों में विशेष दिलचस्पी लेते रहे। स्थायी समिति तथा विषय निर्धारिणी की कार्यवाही में उनका बड़ा योग रहता था। हिन्दी भाषा के लिए आपको विशेष ध्यान रहता, तात्कालीन सरकार हिन्दी को उर्दू की प्रतिस्पर्धिनी मान कर बढ़ने नहीं देना चाहती थी। उर्दू उन दिनों सरकारी भाषा थी और उसे धीरे-धीरे पूरी शिक्षा के माध्यम के रूप में थोपा जा रहा था। स्कूलों के खुलने पर प्रतिबन्ध लग जाने के कारण बहुत से निजी स्कूल बन्द हो गए थे और शिक्षा के क्षेत्र में निजी प्रयत्नों को कोई प्रोत्साहन नहीं था। इस प्रकार की शिक्षा पद्धति से उत्पन्न होने वाली समस्याओं की ओर समय-समय पर सरकार का ध्यान आकृष्ट किया जाता था। १९३७ ई. से १९४१ तक इस प्रकार की शिकायतें दूर करवा लेने के प्रयत्न निरंतर होते रहे।

१९४२ ई. में परभणी वासियों ने परिषद् का चौथा अधिवेशन अपने यहां आमंत्रित किया। स्व. श्री गोविन्द राव नानल स्वागत समिति के अध्यक्ष थे। यह परिषद् श्री विनायक राव विद्यालंकार की अध्यक्षता में सम्पन्न हुई। इस समय तक कई नई समस्याएं उत्पन्न हो चुकी थीं। इस सम्बन्ध में शिक्षितों में बेकारी माध्यमिक शिक्षा में मातृभाषा का माध्यम, निजी कालेजों का निर्माण, कालेजों में सीमित प्रवेश, वंदेमातरम् का आन्दोलन, जिसके कारण विद्यार्थियों ने उस्मानिया विश्वविद्यालय को छोड़ कर पड़ोस के मध्य प्रदेश, मद्रास और बम्बई की शिक्षण संस्थाओं में प्रवेश पाने की चेष्टा आरम्भ कर दी थी आदि प्रश्न विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

मध्य प्रदेश का शुक्ल मंत्रि-मंडल इसमें बड़ा सहायक रहा। लगभग ५०० विद्यार्थियों को मध्य प्रदेश की संस्थाओं में ले लिया गया इनके लिए विशेष व्यवस्था बड़ी तत्परता से की गई। इसकी सफलता का अधिकांश श्रेय नागपुर विश्वविद्यालय के उपकुलपति श्री केदार को है।

प्राथमिक शिक्षा के दृष्टिकोण से ९० प्रतिशत कक्षाओं में उर्दू का माध्यम जारी था, मगर सरकार इसे इनकार करती थी। अतः परिषद् ने राज्य के शिक्षा संचालक को चुनौती दी कि वह उस वस्तुस्थिति को जानने के लिए एक संयुक्त जांच समिति नियुक्त करें जिसमें सरकार और परिषद् के सम्मिलित प्रतिनिधि हों। शिक्षा संचालक ने इसे स्वीकार भी कर लिया किन्तु किन्हीं कारणों से इसे क्रियात्मक रूप में परिणत नहीं किया गया।

प्राथमिक शिक्षा मातृभाषा में देने के लिए योग्य और समुचित शिक्षकों का अभाव है। सरकार यह कहती थी परन्तु इस ओर कुछ ध्यान नहीं दिया जाता था। इसके विपरीत उर्दू माध्यम में पढ़ाने वाले अध्यापकों की संख्या बराबर बढ़ती जा रही थी। पुलिस कार्यवाही से पूर्व हजारों ऐसे अध्यापक लिए गए थे जो बच्चों को उनकी मातृभाषा में शिक्षा देने के दृष्टिकोण से एक दम अयोग्य थे। पुलिस कार्यवाही के बाद उन्हें इसका भी अवसर दिया गया कि वे मातृभाषा में शिक्षा देने के लिए आवश्यक योग्यता प्राप्त करें। इनका कड़ा विरोध किया गया यद्यपि जनता में से कुछ वर्गों ने ऐसे अध्यापकों के लिए बड़ी सहानुभूति दिखलाई। इसका परिणाम कुछ विशेष नहीं निकला।

सन् १९४२ ई. में सरकार यह मानने को तैयार हुई कि निजी स्कूलों में लोअर सेकेन्डरी तक मातृभाषा के माध्यम से शिक्षा प्रदान की जाए। इस वर्ष श्री विनायक राव विद्यालंकार के सभापतित्व में बड़े उत्साह से चौथी परिषद् सम्पन्न हुई। श्री विनायक राव ने अपने अध्यक्षीय भाषण में जनता की शिकायतों को दूर करने पर ज़ोर दिया और इस अधिवेशन में भी अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा, स्कूलों, पुस्तकालयों और अखाड़ों को खोलने की स्वतंत्रता आदि के प्रस्ताव पारित किये गए। यह भली प्रकार स्पष्ट किया गया कि उर्दू से सभी वर्गों के हित सम्पन्न न हो सकेंगे। श्री विनायक राव ने इस परिषद् के अध्यक्ष के रूप में १९४२ से १९४६ तक परिषद् का मार्ग दर्शन किया। इस अवधि में अनेक परिवर्तन हुए श्री दत्तात्रय प्रसाद ने हैदराबाद के सार्वजनिक कार्यकर्ताओं और दानियों की सहायता से राज्य की सीमा पर बासिम में एक प्राइवेट कालेज की स्थापना की। तात्कालीन हैदराबाद सरकार ने उनके इस कार्य में भी बड़ी अड़चनें डाली। मातृभाषा में शिक्षा के सम्बन्ध में सभाएँ करने और इस प्रकार के दिवस मनाने के प्रयत्न किए गए परन्तु सरकार ने इनके लिए अनुमति न दी। १९४२ से १९४६ तक का काल परिषद् के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण रहा। इसमें उसकी ओर से हज़ारों स्मृति-पत्र सरकार के पास भेजे गए जिनमें आन्ध्र मराठवाड़ा और कर्नाटक की ओर से यह मांग की गई थी कि मैट्रिक तक की शिक्षा मातृभाषा में हो। मातृभाषा के माध्यम होने तक अंग्रेज़ी माध्यम को कम से कम प्राइवेट स्कूलों में जारी रहने दिया जाए। ज़ोरदार आन्दोलन और सामुदायिक प्रयत्नों के फलस्वरूप प्राइवेट स्कूलों में उर्दू को ही जारी रहने दिया गया।

परिषद् के प्रथम अधिवेशन के बाद १९२८ में यह आवश्यक समझा गया कि तीनों भाषाई प्रदेशों में आवश्यक जागृति पैदा की जाए। इसके लिए श्री बी. रामकृष्ण राव तथा मैं ने मराठवाड़ा का दौरा किया और नांदेड़, परभणी तथा औरंगाबाद गए। सी. आई. डी. हमारे पीछे पीछे रहती थी। स्व. श्रीनिवास राव शर्मा बार-एट-ला ने कर्नाटक का दौरा किया। इस प्रकार आन्ध्र, मराठवाड़ा और कर्नाटक के प्रादेशिक संगठनों के सहयोग से तीनों प्रान्तों में शैक्षणिक आन्दोलन को गतिशील बनाया गया। इस कार्य में आर्य प्रतिनिधि सभा और उसकी सम्बन्धित आर्य समाज की संस्थाओं का बड़ा सहयोग प्राप्त हुआ। इस सम्बन्ध में श्री नरेन्द्र के प्रयत्न विशेष रूप से अत्यन्त सराहनीय हैं।

विविध कारणों से पांचवां अधिवेशन जिलों में कहीं भी नहीं किया जा सका। अतः इसे नगर में ही सम्पन्न करने की व्यवस्था करनी पड़ी। नवम्बर २७—२८—२९, १९४४ ई. को इन पंक्तियों के लेखक की अध्यक्षता में यह सम्मेलन हुआ और श्री बी. रामकृष्ण राव स्वागत समिति के अध्यक्ष निर्वाचित हुए। श्री राजा धनराज गीर इस अधिवेशन में पुरानी शिकायतों के सम्बन्ध में जो दूर नहीं की गईं थी प्रस्ताव प्रस्तुत किया जो पारित किये गए। इस समय राजनैतिक परिस्थिति में गर्मी आ रही थी। सार्वजनिक कार्यकर्ता अब राजनैतिक समस्याओं की ओर ध्यान देने लग गए थे।

शनैःशनैः शिक्षा परिषद् के उद्देश्यों की प्राप्ति सुलभ होती गई। प्राइवेट स्कूलों में मातृभाषा को माध्यम स्वीकार कर लिया गया। अभी प्रशासकीय विद्यालयों में मातृभाषा को माध्यम के रूप में स्थान दिलाना शेष था। इसे जनता के लोकप्रिय शासन ने क्रियान्वित किया। इसी प्रकार विद्यालय, पुस्तकालय, व्यायाम शाला आदि संस्थाओं को खोलने और चलाने पर से भी प्रतिबन्ध समाप्त कर दिए गए। प्राइवेट शिक्षा संस्थाओं को निरन्तर प्रोत्साहन प्रदान किया गया। साम्प्रदायिक धार्मिक शिक्षा

समाप्त की गई। विश्वविद्यालय से उर्दू माध्यम को हटाकर, अंग्रेजी को माध्यम तब तक के लिए बना दिया, जब तक कि अखिल भारतीय स्तर पर से भाषा की समस्या का हल न हो जाए।

मुझे किंचित् भी संदेह नहीं कि भविष्य में आने वाले इतिहासकार स्व. धर्मवीर वामन नाईक तथा स्व. केशवराव की शिक्षा सम्बन्धी बहुमूल्य सेवाओं का उल्लेख अत्यन्त गौरवपूर्ण शब्दों में करेंगें।

हमारे लिए यह अति हर्ष और सौभाग्य की बात है कि, जिन श्री विनायक राव ने जन-स्वातंत्र्य के लिए विभिन्न प्रकार से निरन्तर संघर्ष किया, वे आज हमारे बीच राज्य शासन में मंत्री के रूप में हैं।

लक्ष्मणराव गानू, एम. ए. एलएल. बी.
हैदराबाद-दक्षिण

त्याग

भाग्यनगर का सत्याग्रह

इस युग में भाग्यनगर का सत्याग्रह एक अभूतपूर्व सत्याग्रह था—ऐसा देशव्यापी सत्याग्रह हुआ कि जिसकी तुलना में कोई सत्याग्रह ठहर नहीं सकता। जिस सत्याग्रह में आर्यसमाज ने अपना सर्वस्व लगाया और हिन्दुओं ने भी मुक्तहस्त से सहायता की इस सत्याग्रह में देश के कोने कोने से सत्याग्रही गए थे और लगभग बीस सहस्र सत्याग्रही गए थे। मैं सत्याग्रह में तो नहीं गया था किन्तु जब मैंने देखा कि मेरी जन्म-भूमि में समस्त भारतवर्ष के सत्याग्रही अतिथि रूप में पहुंच रहे हैं तब मैं उनकी बाहरी सेवा के लिए अवश्य पहुंचा था और अनेक जेलों में जाकर सत्याग्रहियों की खबर लेता रहा। उसमानाबाद, गुलबर्गा, हैदराबाद, औरंगाबाद, मेदक, नलगुण्डा, वरंगल, आदि आदि जेलों में गया था—

मैं सत्याग्रह में जाना तो चाहता था किन्तु मैं द्विविधा में पड़ गया था। इधर मैं आर्यजगत् का विशिष्ट व्यक्ति माना जाता था और उधर गिनती थी मेरी काँग्रेस के प्रमुख व्यक्तियों में। हमारे प्रदेश काँग्रेस कमेटी की यह नीति रही कि कांग्रेसवाले सत्याग्रह में भाग लेसकते हैं पर ऊपरी तबक़े के काँग्रेसी न जाएं क्यों कि

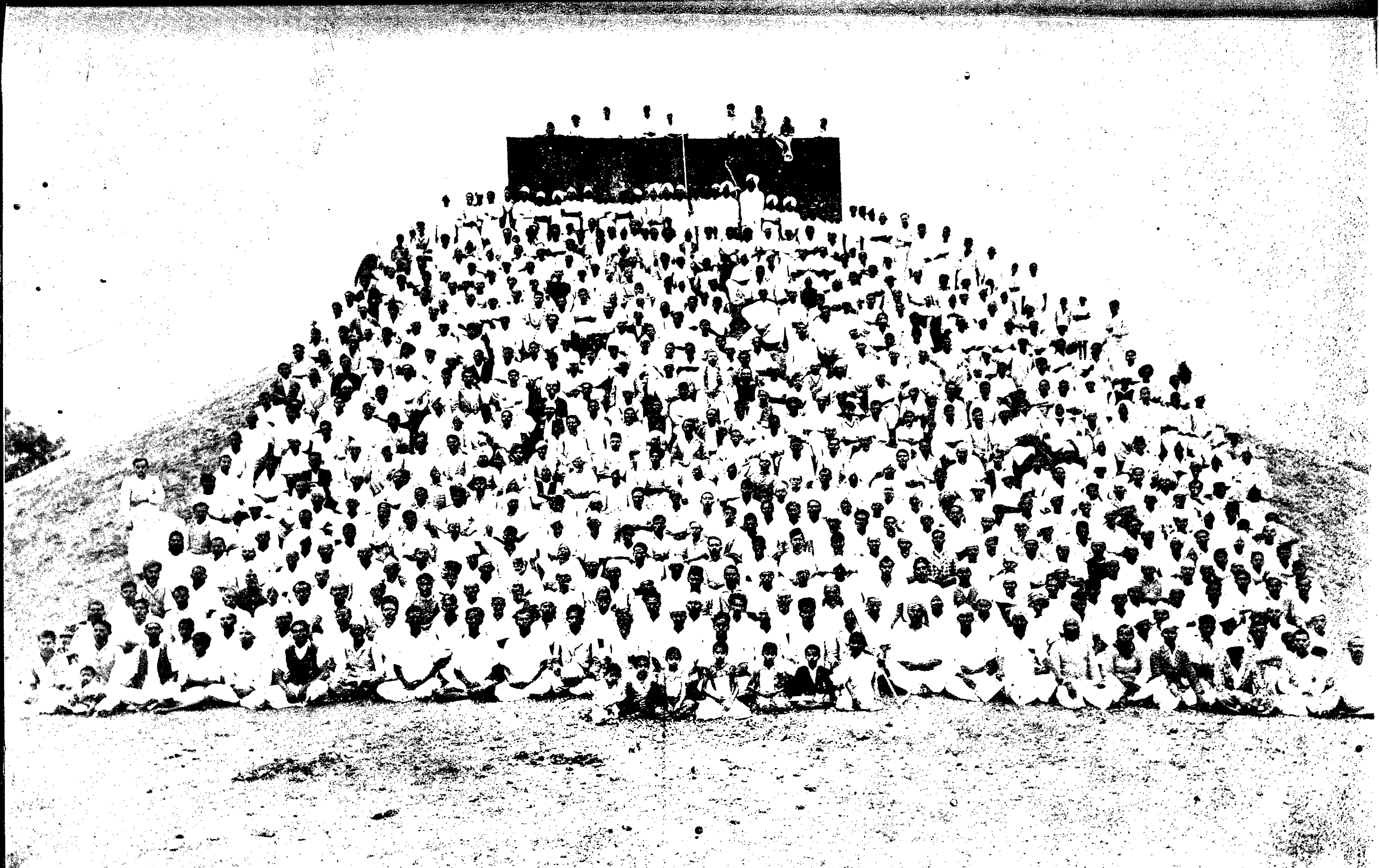

श्रीयुत विनायक राव आर्य सत्याग्रह के आठवें सर्वाधिकारी के रूप में सत्याग्रहियों के साथ

पीछे रहकर इन्हीं को स्थिति संभालनी पड़ेगी क्योंकि इस सत्याग्रह के कारण उत्तरप्रदेश के हिन्दू-मुसल्मानों का तनाव बढ़ रहा था। दूसरी ओर आर्य लोग मेरे सिर होरहे थे कि मैं अपने देश के सत्याग्रह में जाऊँ।

इस द्विविधा में मैंने महात्मा गान्धी जी से पूछा कि मेरा क्या कर्तव्य है। उन्होंने लिखा कि "अभी आप पीछे ही रहिए"। इस पत्र को मैंने समाचार पत्रों में छपवा दिया। मुझपर आर्यों का रोष बढ़ गया जो पीछे जाकर शान्त हो गया। आर्यों का रोष इस लिए हुआ कि यह तो आर्यसमाज की बात थी, आर्य सत्याग्रह की बात थी, इसमें महात्मा जी से अनुज्ञा लेने की क्या आवश्यकता थी। कई विशिष्ट आर्यों ने ताना भी दिया था कि जब आप कांग्रेस के अनेक सत्याग्रहों में गए थे तब क्या आर्यसमाज से पूछकर गए थे। त्रिपुरी (जबलपुर) काँग्रेस में हैदराबाद के बहुत प्रतिनिधि तथा दर्शक मिले थे, उन्होंने भी कहा कि मैं यदि सत्याग्रह में जाता तो हैदराबाद राज्य में अधिक उत्साह उठता और सहस्रों सत्याग्रही सत्याग्रह में पहुंच जाते, अब तो बाहर से ही अधिक सत्याग्रही आरहे हैं। मैं भी क्या करता, हाथ से तीर छू गया था। केवल लोगों के दबाव से अथवा केवल लोगों को प्रसन्न करने के लिए मैं सत्याग्रह में नहीं जाना चाहता था-हाँ! सत्याग्रह के प्रमुख संचालक लोग मेरा नाम सत्याग्रह के किसी प्रमुख स्थान में लिख देते तो मैं चला ही जाता, चाहे कांग्रेसी लोग कुछ भी क्यों न कहते। जो व्यक्ति कांग्रेस-संचालित सत्याग्रहों में प्रमुख रूप में, अधिनायक रूप में, कई बार भाग ले चुका हो, वह क्या हैदराबाद के सत्याग्रह से हिचकिचाता? ऐसी कोई बात नहीं थी हाँ होनहार ऐसी ही थी। मैं पीछे ही रहकर काम करता रहा और रुपए पैसे जुटाने, पीछे से सत्याग्रहियों के भेजने में, और स्वयं हैदराबाद पहुंचकर सत्याग्रहियों की खबर लेने में ही मुझे बहुत आनन्द मिला। यह बात आर्यजगत् में विदित ही है कि मैंने महाविद्यालय के प्रमुख की हैसीयत से सत्याग्रही ब्रह्मचारियों के तीन जत्थे हैदराबाद भेजे। एक जत्था तो गया, श्री आनन्द स्वामी (श्री खुशहालचन्द आनंद) के अधिनायकत्व में। दूसरा जत्था गया, श्री स्वामी विवेकानन्द जी के अधिनायकत्व में तीसरा जत्था गया श्री स्वामी आनन्दप्रकाश तीर्थ के अधिनायकत्व में इस के अतिरिक्त मैंने महाविद्यालय के सभी भूत पूर्व ब्रह्मचारियों को आदेश दे दिया था कि वे जहां भी हों वहीं जत्थों के साथ सत्याग्रह में जाएं। इस प्रकार महाविद्यालय के ८० ब्रह्मचारी सत्याग्रह में पहुंचे थे।

एक दिन गुलबर्गा जेल से स्वामी विवेकानन्द का तार आया कि गुलबर्गा के कलेक्टर श्री रिज़वी मिलना चाहते हैं आप तत्काल आइए और मिलिए। भुसावल के वैद्य श्री नारायण प्रसाद का पत्र आया कि उनके लड़के का पता नहीं लग रहा है, किस जेल में है, पता लगाइये। महाविद्यालय से जब मैंने सत्याग्रही जत्थे भेजे थे तब मैंने ब्रह्मचारियों के माता-पिताओं से नहीं पूछा था। इसलिए बड़ी हल-चल मच गई थी। बहुत से ऐसे कड़वे माता-पिता निकले जिन्होंने मुझे कहा कि हमारे बिना पूछे हमारे ब्रह्मचारियों को सत्याग्रह में क्यों भेजा? कई वीर माताओं ने लिखा कि बहुत अच्छा किया। यदि हमारा ब्रह्मचारी माफ़ी मांग कर आए तो उसका हम मुख भी नहीं देखेंगे। उसके टुकड़े टुकड़े करके वहीं कहीं नदी में फेंक दीजिए। इन सब परिस्थितियों को देखकर मैंने निश्चय किया कि स्वयं जाकर जेलों में दशा देखूं। ज्वालापूर से गुलबर्गा तक मार्ग में मैंने जो उत्साह के अवर्णनीय दृश्य देखे, उसके वर्णन करने के लिए मेरे पास शब्द नहीं हैं। लोग आश्चर्य से पूछते रहे थे कि शास्त्री जी आप बाहर कैसे? मैं मुस्कराकर यहीं उत्तर देता रहा कि विधाता का विधान ही ऐसा है। सबसे पहले शोलापुर कैम्प में पहुँचा व्यवस्था देखी और स्व. स्वामी स्वतन्त्रानन्द से पूर्ण विवरण प्राप्त किया—फिर गुलबर्गा पहुँचा।

रातभर किसी आर्य के यहां ठहरकर प्रातः काल ही जेल में पहुँचा। सुपरिण्टेण्डेण्ट से मिला और उनकी अनुज्ञा से प्रत्येक बारीग (बैरेक) में जाकर सत्याग्रहियों से बातचीत की। जेल में जब मेरे आने की ख़बर फैल गई तब सत्याग्रही सब दौड़ दौड़कर आने लगे। उन्होंने सब काम बन्द किया। मैंने उन्हें समझाया कि ऐसा न करें, नहीं तो अन्य जेलों में मुझे सत्याग्रहियों से मिलने में दिक्क़त होगी। सब शान्त हो गए और प्रत्येक बारीग में जाकर मैं लोगों से मिला। उनकी शिकायतें सुनीं —उनके सन्देश लिख लिए और बाहर आकर जिस जिस ने जो सन्देश दिए थे उनके सम्बन्धियों के पास पहुँचा दिए अथवा लिख दिए। सब से पीछे स्वा. विवेकानन्द से देर तक बातचीत की। इतने में कलेक्टर रिज़वी का बुलावा आया। मैं गया, बंगले पर आवभगत हुई। रिज़वी ने मेरे ठहरने आदि का पूरा प्रबन्ध और अच्छा प्रबन्ध कर रखा था। मैंने स्पष्ट कह दिया कि मैं उनका अतिथि नहीं बनूंगा क्यों कि परिस्थिति ऐसी है कि ऐसा करने से लोगों में नाना प्रकार के सन्देह उठेंगे और उनका समाधान करना कठिन हो जाएगा। क्योंकि मेरे पहिले एक शंकराचार्य वहां हो कर गए थे और वे हैदराबाद में भी रहे थे। सरकार ने उनसे लिखवा दिया था कि क़ैदियों को कोई कष्ट नहीं है। श्री रिज़वी को किसी ने समझा दिया था कि शास्त्री जी को बुलाकर मिलो उनका बड़ा प्रभाव है। पता नहीं यह किसने समझाया था। पीछे रिज़वी को बड़ा आश्चर्य हुआ जब उन्होंने मुझ से जाना कि मैं हैदराबाद का ही रहने वाला हूं। उन्होंने मुझसे कहा भी कि 'हैदराबाद के मुल्की होकर आप हैदराबाद वालों की मदद नहीं कर रहे हो'—मैंने कहा कि 'मदद करने तो आया ही हूँ पर सत्याग्रहियों की पीठ पर हूं'।

श्री रिज़वी से दो घण्टे तक बात चीत हुई—मैंने उनको आर्यसमाज की क्या क्या शिकायतें हैं अच्छी तरह समझा दिया। आप बोले :

रिज़वी—लोगों में बड़ा भ्रम फैलाया गया है। लोग अन्धाधुन्ध आरहे हैं- ऐसे ऐसे आ रहे हैं कि जिनकी भाषा भी हम नहीं समझ सकते हैं—आर्यसमाज के बड़े बड़े लोग आते सौ-पाचास की संख्या में तो हम उनसे बातचीत करते और समझ लेते कि क्या बात है। देश के चारों कोनों से रेला सा चला आ रहा है।

मैं—आप लोग आर्यों को अपने धर्म-कर्मों का पालन भी नहीं करने देते-प्रचार में बाधा डालते जाते हैं इत्यादि।

रिज़वी—बात का बतंगड़ बना दिया है। आप लोगों को समझाइए कि जितनी बातें—जिस रूपमें—फैलाई गई हैं वे सब सत्य नहीं हैं।

मैं—मैं स्वयं अपनी आंखों से सब स्थिति को देखने के लिए आया हूँ, अब सब जगह जाऊंगा, देखूंगा, फिर अपने विचार लिखूँगा।

गुलबर्गा से मैं हैदराबाद पहुँचा, वहां केन्द्रीय जेलमें बहुतों से मिला—समाचार पत्रों के संवाददाताओं को अपने वक्तव्य दिए। उत्तर भारत के प्रमुख पत्रों को विस्तृत विवरण भेजे—सिकन्दराबाद के "डेक्कन क्रानिकल" ने मेरी बड़ी भारी मदद की। इन विवरणों से बड़ी खलबली मची—सत्याग्रहियों में हिन्दुओं की संख्या भी बड़ी भारी थी। श्री नरेन्द्र जी कहीं जंगल में नजरबन्द थे। हैदराबाद में श्री विनायक राव के व्याख्यानों की झड़ी लग रही थी—श्री विनायकराव, शान्त, गम्भीर, वक्ता हैं इसलिए वहां की पुलिस हैरान थी कि विनायक राव सब कुछ कह जाते हैं किन्तु पकड़ में नहीं आते। विनायक राव सबसे पिछले

अधिनायक थे और अहमदनगर की सीमा पार करके सत्याग्रही रूपमें हैदराबाद राज्य में आना चाहते थे—तैयारी हो चुकी थी तबतक सत्याग्रह बन्द हो गया था। औरंगाबाद में तो विचित्र दशा थी। महाशय कृष्ण ७०० सत्याग्रहियों के साथ मनमाड़ से स्पेशल गाड़ी द्वारा औरंगाबाद पहुँच गए थे। एकदम इतने सत्याग्रहियों के पहुँचने से जेल की सब व्यवस्था उलट-पलट हो गई थी। उसमानाबाद में भी बहुत भीड़ थी किन्तु वहां के विशिष्ट सत्याग्रही औरंगाबाद भेज दिये गए थे। शोलापुर में आर्यसत्याग्रहियों के साथ उत्तेजित मुसल्मानों की मुटभेड़ हो जाने के कारण सत्याग्रह कैम्प मनमाड़ चला गया था। वहीं से महाशय कृष्ण औरंगाबाद पहुँचे थे—उस समय मैं मनमाड़ में था।

सत्याग्रह क्यों चला, कैसे चला—और अन्तमें निज़ामशाही को कैसे झुकना पड़ा इत्यादि बातें इतिहास की बातें हो गई हैं। नलगुंडा जेल में मैं श्री धुरेन्द्र शास्त्री से भी मिला था। कहां कहां गया, क्या क्या हुआ, सब विवरण लिखने बैठूं तो एक पुस्तक ही लिखनी पड़ेगी—इस लिए वाचकवृन्द इस अल्प-स्वल्प विवरण से सन्तोष कर लेवें—

इस सत्याग्रह का फल यह हुआ कि आर्यसत्याग्रह की अपूर्व विजय हुई और राज्य में आर्यसमाज का मार्ग प्रशस्त हो गया। आर्यसमाज का कार्य अब अव्याहत रूप में हो रहा है। २५०-३०० समाज हैं—उनकी एक शक्ति शालिनी आर्य प्रतिनिधि सभा है। किस को खयाल था कि कभी दक्षिण में आर्य समाज का इतना ज़ोर का प्रचार तथा प्रसार होगा।

हम जब छोटे थे, उसमानाबाद में बाल्यावस्था में वहां के स्कूल में पढ़ते थे तब प्रथम प्रथम पिताजी से आर्य समाज का नाम सुना था—

समस्त हैदराबाद राज्य में तीन ही प्रसिद्ध आर्य थे। एक श्री विनायकराव के पिता श्री केशवराव, हमारे पिता श्री रावसाहब श्रीनिवास राव तथा उस्मानाबाद के उस समय के मनसबदार ठा. गोविंदसिंह गहलोत (पातूर-जि. अकोला, बरार निवासी)। हैदराबाद समाज की स्थापना श्री केशवराव के सत्प्रयत्नों का फल था। धारूर समाज की स्थापना हमारे पिता जी के प्रयत्नों का फल था। ज्ञात हुआ है कि अब भी यह धारूर समाज जीवित है—इस तरह हैदराबाद राज्य में आर्यसमाज का जो बीज वपन हुआ था—अथवा बीजारोपण हुआ था, वह अब पत्र-पुष्प फल-समन्वित महावृक्ष रूप में परिणत हुआ है। मैंने सन् १८९४ (अठारहसौ चौरानवे) में पूना छोड़ा था, अब ६० वर्ष होते हैं—तब से अबतक मैं ६-७ बार ही अपने देश (भाग्यनगर) जा सका।

जब गुरुकुल कांगड़ी प्रारम्भिक दशा में था, वहां केवल चार ही श्रेणियां थीं। तब मुझे कुछ काल पढ़ाने का अवसर मिला—विनायक तब चतुर्थ श्रेणी में थे। जब मैं दूसरी बार १९०६ में निरुक्ताध्यापक होकर कलकत्ते से कांगड़ी-गुरुकुल पहुँचा तब विनायक संभवतः सप्तम अथवा अष्टम श्रेणी में थे। १९०८ में मैं महाविद्यालय ज्वालापुर में काम करने लगा था तब एक बार आचार्य रामदेव गुरुकुल के अनेक ब्रह्मचारियों के साथ मिलने आए थे उनमें विनायकराव भी थे। फिर कुछ वर्ष पूर्व जब वे गुरुकुल कांगड़ी के उत्सव में आए थे तब ज्वालापुर में मुझ से मिलने आए थे। इस प्रकार मैंने विनायक को देखा, फिर विनायक राव विद्यालंकार को देखा, फिर हैदराबाद कांग्रेस के अवसर पर विनायकराव कोरटकर, मन्त्री

विधान सभा, हैदराबाद के रूप में देखा। जब कभी मैं हैदराबाद गया मैं इनसे अवश्य मिलता रहा—शान्त, गम्भीर, निरभिमान विनायक राव को देखकर, मिलकर मुझे प्रसन्नता ही मिलती रही।

"न कारणात्स्वाद् विभिदे कुमार:
प्रवर्तितो दीप इव प्रदीपात्"—
(रघुवंश)

जैसे प्रज्वलित दीपक से जलाया हुआ दीपक भी प्रज्वलित हो कर प्रकाश देता है इसी प्रकार श्रीयुत केशवराव के सुपुत्र विनायक राव भी जनता को प्रकाश दे रहे हैं—जनता जनार्दन की सेवा कर रहे हैं भक्तिभाव से श्रद्धा से, सेवाभाव से—इस बात को देख कर किसका चित्त आल्हादित न होता होगा।

इनमें एक विचित्र गुण है कि कभी सहसा कोई कार्य नहीं कर बैठेंगे "सहसा विदधीत न क्रियाम्" (किरात) के साक्षात् उदाहरण हैं। "सोचो-सोचो, और सोचो, देखो-देखो और देखो" इस प्रकार की उनकी धीमी प्रवृत्ति से लोग इनसे ऊब उठते हैं और समझने लगते हैं कि ये कुछ करना नहीं चाहते, ये आगे बढ़ना नहीं चाहते इत्यादि पर जब ये एक बार जग उठते हैं तो इनकी आकस्मिकी प्रवृत्ति से लोग चकित हो उठते हैं। मैं इनके स्वभाव का ठीक ठीक विश्लेषण कर रहा हूं कि नहीं मुझे ज्ञात नहीं। छात्रावस्था में भी इनकी यह दशा थी। इतने चुलबुले नहीं थे, इनकी चुप्पी से यह प्रतीत होता था कि ये आगे चल कर भी धीमे ही रहेंगे—पर यह अनुमान मिथ्या ही रहा और स्वभाव भी जागते जागते जाग उठा। संस्कार भी जागते जागते जाग गए। उस छोटे से विनायक को अब इतना बड़ा देख कर इनके गुरुगण विशेष प्रकार से अपना गौरव ही अनुभव कर रहे होंगे—श्री विनायक राव चिरायु हों, शतायु हों और इनके द्वारा अधिक से अधिक जनता जनार्दन की सेवा होती रहे इसी अभिलाषा के साथ इस लेख को समाप्त करता हूं।

नरदेव शास्त्री, वेदतीर्थ एम. एल. ए.
कुलपति, महाविद्यालय ज्वालापुर,
हरिद्वार

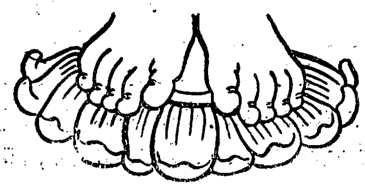

आर्यसमाज की आवश्यकता

आर्यसमाज ने हिन्दू धर्म और हिन्दू जाति की रक्षा का जो काम किया है उसका मूल्याङ्कन करना सहज नहीं है उसने उत्तर भारत विशेषकर पंजाब के हिन्दुओं को विधर्मी होने से बचा लिया। यह कौन नहीं जानता कि स्वनामधन्य लाला लाजपतराय के पिता लाला राधाकिशन नमाज़ पढ़ते थे और लाजपतराय उसी ओर जा रहे थे। ऐसे ही समय आर्यसमाज ने उन्हें रोका ही नहीं, उन्हें हिन्दूधर्म के उत्थान में लगा दिया। लाल साईंदास, लाला हंसराज, लाला लाजपतराय और स्वामी श्रद्धानन्द ने हिन्दू जाति की जो सेवा की है, उसका वर्णन करना मेरी लेखनी की शक्ति से बाहर है। उत्तर भारत में स्थान स्थान पर डी. ए. वी. कालेजों और स्कूलों की स्थापना हिन्दू जाति को आर्यसमाज की ही देन है।

आज कल यह प्रश्न आर्यसमाज के लोग भी करते देखे जाते हैं कि अब आर्यसमाज की आवश्यकता है या नहीं ? देश की स्थिति का विचार करके ही इस प्रश्न का उत्तर दिया जा सकता है। हिन्दू महासभा और ऐसी ही अन्य संस्थाओं की स्थापना से ऊपर ऊपर देखने से तो कहा जा सकता है कि अब आर्यसमाज की आवश्यकता नहीं है क्योंकि आर्यसमाज का बहुतसा कार्य ये संस्थाएं कर रही हैं, इस लिए आर्यसमाज

उद्रिक्त् है। परन्तु और भी बहुतसा कार्य है जो उक्त संस्थाएं नहीं करतीं और न कर सकतीं हैं। हिन्दू जाति की रक्षा के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि वह स्वावलम्बी बनाई जाए। उसका प्रत्येक मनुष्य अन्य हिन्दू को चाहे यह समाज की व्यवस्था के कारण अस्पृश्य ही न समझा जाता हो, अपना भाई समझे। इसके सुख दुःख का भागी बने। अभी यह होता है कि हमारे मन में यह भाव ही नहीं पैदा होता कि भंगी भी हमारा भाई है। देश में अस्पृश्यता निवारण के जो आंदोलन चलते हैं, उनमें तथोक्त् अस्पृश्यों के साथ भोजन करना या उन्हें मंदिरों में लेजाना है। मेरे मतसे इन बातों से समाज के एकता उत्पन्न होने के बदले भेद उत्पन्न होता है। मैं समझता हूं कि असभ्यता का मुख्य कारण तथोक्त् अस्पृश्यों की रहन सहन और दरिद्रता है। जिनकी रहन सहन अच्छी है और जो अन्य लोगों की भांति रहते हैं, उन्हें कौन अस्पृश्य समझता है? क्या डा. अम्बेडकर वा श्री जगजीवन राम को छूने में किसी को आपत्ति है।

इस लिए हमारा विशेषकर आर्यसमाज का कार्यक्रम होना चाहिए अस्पृश्यों की आर्थिक स्थिति उन्नत करना। उनकी आपस की जो दीवारें हैं, उन्हें तोड़ना। जबतक एक जाति का अस्पृश्य दूसरी जाति के अस्पृश्य से खान पान वा बिरादराना व्यवहार नहीं करेगा, तबतक हम अस्पृश्यों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध भी स्थापित कर लेंगे, और हम भले अस्पृश्य हो जाएँगे, अस्पृश्यों का कोई लाभ न होगा। कारण यह है कि जिन के साथ हम सम्बन्ध करेंगे, वे यह कभी न समझेंगे कि हम उनका उद्धार कर रहे हैं। उनके ध्यान में यही आएगा कि हम बिरादरी से निकाल दिए गए हैं, इस लिए ऐसा आचरण कर रहे हैं।

एक उदाहरण लीजिए। बंगाल, बिहार आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री शंकर नाथ थे। ये हाई कोर्ट के सबसे पहले भारतीय जज श्री शम्भुनाथ के वंश में थे। पूर्व बंगाल में एक अस्पृश्य जाति है नमः शूद्र। श्री शंकर नाथ अपने साथियों से उसे 'जलचल' करने गए थे,। अर्थात् लोग उनके हाथ का पानी पीने लगें यह उद्योग था। पर वहां यह समझा गया कि वे बिरादरी से खारिज हैं। इसलिए लोगोंपर उनके इस अच्छे काम का भी कोई प्रभाव न पड़ा।

जो हिन्दू अन्य अन्य लोगों के चक्कर में पड़कर मुसल्मान या ईसाई हो जाते हैं, उन्हें फिर जाति में ले लेने का जो शुद्धि आन्दोलन आर्यसमाज का है, वह अच्छा है। परन्तु इस से भी अच्छा यह है कि हम किसी हिन्दू को मुसल्मान या ईसाई होने ही न दें। मुसल्मानी या ईसाई मजहब में हिन्दू धर्म से उदात्त विचार नहीं है, इस लिए हम समझते हैं कि उन मजहबों की श्रेष्ठता के कारण कोई उनमें नहीं जाता। कोई स्त्री के लिए, कोई शिक्षा के लिए, कोई दवादारू के लिए और कोई रोटियों के लिए जाता है। इनमें कोई ऐसी चीज नहीं है, जो हिन्दू धर्म में वा आर्यसमाज में उसे न मिल सकती हो। पर इन्हें सुलभ कराने का उपाय होना चाहिए।

आर्यसमाज सक्रिय संस्था है। वह यदि एक ऐसी देशोद्धारिणीं संस्था को जन्म दे जो असभ्य और असमर्थ लोगों को सामर्थ्यवान् बनाने का बीड़ा उठावे, तो वह देश का बड़ा कल्याण करेगी। आर्यसमाज के पास स्कूल और कालेज हैं, उनमें वह असमर्थ विद्यार्थियों के लिए कुछ स्थान सुरक्षित कर दें तो शिक्षा का प्रश्न बहुत कुछ हल हो सकता है। पूने में जैसा अनाथ विद्यार्थी गृह है, वैसा ही हर शहर में हो और वहां सब जातियों—अछूतों के भी लड़कों को स्थान मिले तो शिक्षा की समस्या हल हो सकती है।

रामकृष्ण मिशन से सहयोग करके प्रत्येक नगर में ग़रीबों की चिकित्सा की व्यवस्था की जा सकती है। जैसा अजमेर में अनाथालय है, वैसे ही अनाथालय सर्वत्र होने चाहिए। एक महिलाश्रम और एक विधवाश्रम का भी प्रयोजन है। साम्प्रदायिक रंग यदि इन संस्थाओं को न दिया जाए, तो हिन्दू जाति के सभी लोगों की सहायता और सहयोग इन कामों में मिल सकता है।

यदि इतना काम आर्यसमाज कर सके, तो फिर शुद्धि की या तो आवश्यकता ही न रहे या शुद्धि का काम बहुत कम हो जाए। प्रबन्ध आर्यसमाज के नए और मंजे हुए नेताओं और कार्यकर्ताओं के हाथ में रहे, परन्तु इस हिन्दू सेवामण्डल का संगठन और संचालन विराट् हिन्दू जाति के प्रतिनिधियों के सहयोग और परामर्श से किया जाए। चाहे तो आप भी पञ्चवर्षीय योजना इस विषय की बना सकते हैं। यदि आर्यसमाज ने यह काम कर लिया, तो फिर विद्यार्थियों के आक्रमण का भय जाता रहेगा।

आशा है आर्यसमाज के कर्णधार इस प्रस्ताव पर विचार ही न करेंगे, इसे सफल भी बनाएँगे।

अम्बिका प्रसाद वाजपेयी, एम्. एल. सी.
लखनऊ (उत्तर प्रदेश)

हैदराबाद और सन् १८५७-५८ का स्वतंत्रता संग्राम

सामान्यतः यह कहा जाता है कि सन् ५७ के विप्लव में दक्षिण भारत प्रायः शान्त ही रहा। किन्तु हैदराबाद के रिकार्ड कार्यालय में संरक्षित सामग्री के आधार पर हम कह सकते हैं कि हैदराबाद इस विद्रोह से अप्रभावित न रह सका। हैदराबाद के तत्कालीन दीवान सालारजंग ने राज्य को उत्तर भारत के प्रभाव से बचाए रखने का यथा शक्य प्रयत्न किया। फिर भी हैदराबाद,उस काल में एक दम निष्क्रिय और ख़ामोश न रह सका। यहां भी स्थान स्थान पर सैन्य-विद्रोह और षड्यन्त्र हुए यद्यपि ये विद्रोह उत्तर भारत के विप्लव के समान व्यापक और भयंकर नहीं थे। लेकिन इनसे सन् १८५७-५८ में हैदराबाद निवासियों की अंग्रेज़ विरोधी उग्र भावनाओं का आभास तो मिल ही जाता है। इन्हीं दिनों निज़ाम नासिरुद्दौला की मृत्यु हो गई और उसका पुत्र आसुफ़ुदौला गद्दी पर बैठा। मई सन् १८५७ ई. में मेरठ में विद्रोह का विस्फ़ोट हुआ। इस समय प्राप्त होनेवाले बहुत से ऐतिहासिक तथ्यों से यह प्रकट है कि इस महान् विद्रोह में दक्षिण के कई प्रमुख व्यक्तियों का भी उत्तर के विद्रोही नेताओं के साथ पहले से ही सम्पर्क रहा था।

निज़ाम के राजस्व मंत्री राजा रायरायन का सचिव सोनाजी पन्त भी ऐसे ही व्यक्तियों में से था। अपनी मृत्यु से कुछ दिन पूर्व फ़रवरी सन् ५७ में उसने दक्षिण की परिस्थितियों के बारे में नाना साहब पेशवा को एक पत्र लिखा था। इसको ले जाने का काम उसने रंगराव नामक एक पटवारी को सौंपा। रंगराव पत्र को नाना साहब के पास बिठूर (कानपुर के समीप का एक ग्राम जहां पेशवाई छीनने के बाद नाना साहब रहते थे) ले गया। नाना साहब ने उसकी दक्षिण के कई प्रमुख व्यक्तियों के नाम पत्र दिए। पत्रों में उन लोगों से अनुरोध किया गया था कि वे अपने अपने प्रदेशों में अंग्रेज़ों के विरुद्ध विप्लव का नेतृत्व करें। लौटते समय मार्ग में डाकुओं ने रंगराव का सारा सामान लूट लिया। उसके पास केवल दो ही पत्र शेष रह गए। उनमें से एक सोनाजी पन्त के नाम था और दूसरा एक अन्य प्रमुख व्यक्ति के नाम। इन पत्रों में नाना साहब ने लिखा था कि उत्तर भारत की प्रत्येक छावनी में हिन्दू मुसलमान अंग्रेज़ों के विरुद्ध उठ खड़े हुए हैं और उनको समाप्त कर रहे हैं। दक्षिण प्रान्त अभी इस आन्दोलन में शामिल नही हुए। हमने इस कार्य के लिए सोनाजी पन्त और रंगराव को नियुक्त किया है। आपको ईश्वर और धर्म की आज्ञा है कि उठ खड़े होइये, जाग जाइये ! और अंग्रेज़ों को भारत से समाप्त कर दीजिए ! दुर्भाग्य से रंगराव के वापस आने से पूर्व ही सोनाजी पन्त का देहान्त हो चुका था। अतः रंगराव ने कौलस के राजपूत जागीरदार दीपसिंह के घर को अपनी कार्यवाहियों का केन्द्र बनाया। कौलस नान्देड़ ज़िले के देगलूर ताल्लुका में एक जागीर है। दोनों ने योजना बनाई कि ५००० अश्वारोहियों और १०,००० पदातियों की एक सेना तैयार की जाए और अंग्रेज़ी शासन को नष्ट भ्रष्ट करते हुए नागपुर पहुंचा जाए। रंगराव ने एक पत्र हैदराबाद के मराठा सरदार राव रम्भा निम्बालकर के नाजायज़ पुत्र सफ़दरूद्दौला को भी लिखा। उत्तर में सफ़दर ने अपने को नाना साहब का सेवक बताते हुए यथा शक्ति सहायता करने का वचन दिया। परन्तु अर्थाभाव के कारण यह षड्यन्त्र असफल रहा। रंगराव यहां से वहां लोगों को अंग्रेज़ों के विरुद्ध भडकाते हुए फिरता रहा। उसने हुमनाबाद (बीदर जिला) के प्रसिद्ध सन्त माणिक प्रभु (१८५७ से ६५) से अपने उद्देश्य की सफलता के लिए प्रभु से प्रार्थना करने की प्रार्थना की। कुछ समय बाद ही रंगराव अपने सहायकों राजा दीपसिंह सफ़दर आदि के साथ पकड़ा गया। अन्य अपराधियों से पृथक्, रेज़ीडेन्ट के सामने रंगराव पर अभियोग चलाया गया। उसे प्राणदण्ड मिला किन्तु गवर्नर जनरल ने प्राण दण्ड की सज़ा को काला पानी में बदल दिया। सन् १८६० में अण्डमान की जेल में रंगराव की मृत्यु हो गई। अन्य विप्लवकारियों पर हैदराबाद के न्यायालय में अभियोग चले और उन्हें कठोर दण्ड दिये गए। सफ़दर को आजन्म कारावास दिया गया साथ ही उसे अपनी समस्त चल-अचल सम्पत्ति से बंचित कर दिया गया। राजा दीपसिंह से भी उसकी सारी जायदाद छीन ली गई। तथा तीन वर्ष की कठोर सज़ा भी उसे मिली। विद्रोहियों में शेखमदार, रघुनाथराव, जयराम पाटिल आदि को बड़ी कड़ी सजाएं दी गई। पर ग़दर की समाप्ति यहां नहीं हो गई और जब उसका क्षेत्र भी इतना सीमिढ नहीं रह गया था।

जून सन् ५७ के पहले सप्ताह में निज़ाम की अनियमित घुड़सवार सेना के पहले दस्ते में विद्रोह के क्षण प्रकट होने लगे। १२ जून को एक अधीनस्थ अधिकारी ने रेजीमेन्ट के उच्चाधिकारी कप्तान एबट को सूचना दी कि रेजीमेन्ट विद्रोही बन गई है। सैनिकों ने घोषणा करदी है कि वे दक्षिण में लड़ने के लिए भरती हुए हैं इस सीमा के बाहर वे कदापि नहीं जाएँगे। हिन्दू-मुस्लिम दोनों ने शपथ ली है कि वे अपने राजा के विरुद्ध नहीं लड़ेंगें। कप्तान एबट ने इसकी सूचना हैदराबाद स्थित रेज़ीडेन्ट को दे दी। विद्रोह

के उग्र रुप की आशंका करते हुए १६ जून को उसने रेज़ीडेन्ट को पुनः लिखा। उत्तरमें रेज़ीडेन्ट ने लिखा कि वह विद्रोहियों के साथ कोई समझौता नहीं करेगा। उसने कैप्टन एबट को आदेश दिया कि गोरी पलटन के औरंगाबाद पहुंचते ही चुन चुन कर बलवाइयों को सूली पर चढ़ा दिया जाए।

२४ जून को जनरल वुडबर्न अपने तोपखाने और घुड़सवारों के साथ औरंगाबाद पहुंचा। पहुंचते ही उसने विद्रोहियों को हथियार रख देने की आज्ञा दी। एक टुकड़ी को छोड़ सारे सैनिकों ने अस्त्र रख दिए। इस टुकड़ी को जनरल ने ६ मिनट का समय निरस्त्र होने के लिए दिया और फिर तोपें दागनी शुरू कर दी। बहुत से गोलों से मारे गए, १०-१२ को घुडसवारों ने काट दिया और बचे कुचों ने भाग कर प्राण बचाए और नगर में भयंकर बीभत्सता का दृश्य देखा।

किन्तु इस हत्याकाण्ड से विद्रोही सिपाहियों में फिर जोश आ गया। एक सैनिक ने एबट पर पिस्तौल चलाने का प्रयत्न किया परन्तु वह पकड़ा गया। इसलिए अगली सुबह जनरल ने फिर आक्रमण किया। चुन चुन कर विद्रोहियों को क़ैद कर लिया गया और उन पर सैनिक न्यायालय में अभियोग चलाने की घोषणा की गई। दूसरे दिन नगर और आस पास के ग्रामों की अपार भीड़ के सामने क़ैदी (जिनमें हैदराबादी सेना का एक सूबेदार और ३-४ गोलन्दाज़ भी थे) अभियोग स्थल पर लाए गए। इसके बाद का भयंकर चित्र एक अंग्रेज़ अधिकारी ने ही इस प्रकार से खींचा है "हमने पहले ही धावे में ९४ क़ैदियों का ख़ात्मा कर दिया। चार को गोलियों से भून दिया, एक को सूली पर लटका दिया तथा एक को तोप के मुंह से बांधकर उड़ा दिया। सचमुच में वह अत्यन्त बीभत्स दृश्य था। उसका सिर २० गज़ दूर जाकर पड़ा। दोनों बाहें तोप के दोनों ओर ८०-९० गज़ फेंक दी गई"।

फांसी पर झूलने वाले एक शहीद ने कहा था कि "जीवन की मृत्यु में परिणति के साथ मेरे सारे पाप भी धुल गए हैं। अतः जितनी जल्दी मैं स्वर्ग जाऊं उतना ही अच्छा है।" अन्य क़ैदियों में से कुछ को तोपों से उड़ा दिया गया, कुछ को घुड़सवारों ने काट दिया तथा कुछ को फांसी पर लटका दिया गया। क़रीब ३०-४० निर्वासित कर दिये गए, १०० को नौकरी से बरख़ास्त कर दिया गया और ५०-६० को बेतों की सज़ा दी गई। इस तरह अमानुषिक क्रूरता और पाशविक औरंगाबाद नृशंसता के साथ का सैन्य विप्लव कुचल दिया गया।

फिर भी कुछ विप्लवकारी बच निकले और हैदराबाद जा पहुंचे। इनमें एक जमादार छीदा खां इन विद्रोही षड्यन्त्रकारियों में मुख्य था। उसकी गिरफ़्तारी पर ३०००) के इनाम की घोषणा की गई थी। इन भाग कर निकलने वाले विद्रोहियों को सालारजंग ने क़ैद कर अंग्रेज़ रेज़ीडेन्ट को सौंप दिया।

इस बात ने हैदराबाद नगर में हल चल मचा दी। सैनिक विप्लव और उत्तर भारतीय विद्रोह की गरमागरम अफ़वाहें तो पहले से ही फैल रही थी। जुलाई सन् १८५७ में मक्का मस्जिद में भीड़ बहुत उत्तेजित हो गई। सालारजंग ने शान्ति भंग होने के भय से मुख्य नगर और उपनगरों में परस्पर सम्बन्ध स्थापित करने वाले साधनों पर कड़ा प्रतिबन्ध लगा दिया।

१८ जुलाई की शाम को मौलवी अलाउद्दीन और तुर्रेबाज़ खां के नेतृत्व में ५०० रोहिलों ने बहुत बड़ी भीड़ के साथ रेज़ीडेन्सी पर आक्रमण कर दिया। रेज़ीडेन्सी के दरवाज़े तत्काल बन्द कर दिये गए। इस पर रोहिलों ने पश्चिमी दीवार के सामने के दो बड़े मकानों की ऊपर वाली मंज़िलों से रेज़ीडन्सी पर

गोलियां बरसानी शुरू कीं किन्तु कप्तान होब्स के जवाबी गोलीबार ने आक्रमणकारियों के प्रयासों को विफल बना दिया। आक्रमणकारी वापस लौट गए। इसके बाद नगर में आतंक का राज्य हो गया। मद्रासी घुड़सवार पलटन नें ३२ आदमी गोलियों से भून दिए। जिन मकानों में बैठ कर रोहिलों ने गोलियां चलाई थीं वे जलाकर खाक कर दिये गए। अलाउद्दीन और तुर्रेबाज खां गिरफ्तार कर लिए गए। बच निकलने की कोशिश में तुर्रेबाज़ खां मारा गया। अलाउद्दीन को अण्डमान भेज दिया गया जहां १८८६ में उसकी मृत्यु हो गई।

हैदराबाद में अंग्रेज़ विरोधी भावनाएं सर्वत्र ज़ोर पकड़ रही थीं। निज़ाम के कई निजी अधिकारी इसे अंग्रेज़ों के विरुद्ध उभाड़ने का प्रयत्न कर रहे थे। अज़मतजंग, मिर्ज़ाचांद, बोज खां और मौलवी इब्राहीम आदि प्रमुख लोगों को रेज़ीडेन्ट के आग्रह के कारण से हैदराबाद से निष्कासित कर दिया गया।

किन्तु १८५७-५८ के समस्त वर्ष में हैदराबाद की जनता बड़ी उत्सुकता से उत्तर भारत की ओर देखती रही। मध्य प्रदेश में गोरिल्ला युद्ध करने वाले और विद्रोह के उत्कट सेनानी मराठा सेनापति तात्या-टोपे ने जब नर्मदा पार की तो नगर में अजीब सी उत्तेजना फैल गई। स्थान स्थान पर इस आशय के पोस्टर दिखने लगे कि शस्त्रधारियों अली मुहम्मद खां की फ़ौज में भरती हो जाओ। इन्हीं दिनों राज्य में विद्रोहियों के मराठा गुप्तचर भी अत्यन्त सक्रिय हो गए थे। कप्तान मुरे ने एक ब्राहम्ण को पकड़ा जिसके पास से से नाना साहब द्वारा शोरापुर के राजा को लिखे गए कुछ आज्ञा पत्र मिले। इसी प्रकार अन्य बहुत से गुप्तचर उस समय अंग्रेज़ों के विरुद्ध प्रचार कर रहे थे। राज्य के दक्षिणी भाग रायचूर और गुलबर्गा में शोरापुर के राजा व्यंकट अप्पा नाइक, कोपबल के भीमराव देसाई और दक्षिणी प्रान्तों के मराठा सरदारों ने मिल कर अंग्रेज़ों को निकाल भगाने की एक सम्मिलित योजना बनाई। योजना के अनुसार उन सबका विचार जुलाई में बलवा करने का था जिससे कि बरसात के कारण अंग्रेज़ी फ़ौजें उनके विरुद्ध कोई कार्यवाही न कर सकें। फ़रवरी में ही शोरापुर में उपद्रव हो गया और यह योजना कार्य रूप में परिणत न की जा सकी। फिर भी शोरापुर के राजा ने अपना विचार अपरिवर्तित ही रखा। उसकी सहायता के लिए पूना, सतारा, कोल्हापुर आदि मराठा राज्यों से गुप्तचर शोरापुर पहुंच गए। हैदराबाद के विद्रोही रोहिले भी राजा से आ मिले। अंग्रज़ों ने भी कप्तान आर्थर विण्डहम को इसलिए भेजा कि वह राजा को समझा बुझाकर शान्त रखने का प्रयत्न करें। ७ जुलाई की रात को राजा की बीदरी सेना ने विण्डहम की सेना पर आक्रमण कर दिया। राजा के ३० सैनिक इस झड़प में मारे गए। दूसरे दिन करनूल से कप्तान ह्यूगो की गोरी पलटन भी आ गई राजा की सेना मुक़ाबिले के लिए क़िले से बाहर निकली लेकिन उसे वापस भागना पड़ा। अगले दिन राजा व्यंकट अप्पा हैदराबाद की ओर भागा। यहां सालारजंग ने उसे क़ैद कर अंग्रेज़ों को सोंप दिया। सैनिक न्यायालय ने उसे प्राण दण्ड की सज़ा दी। बाद में इस सज़ा को कालापानी में बदल दिया गया। गवर्नर जनरल ने इसको भी घटा कर चार वर्ष कर दिया। जब राजा को मद्रास जेल भेजा जा रहा था तब उसने हैदराबाद के समीप ही आत्महत्या कर ली।

रायचूर ज़िले के भीमराव देसाई ने कोपबल के क़िले पर अधिकार कर लिया। १ जून १८५८ को मेजर ह्यूगो ने उस पर आक्रमण किया। २०० सैनिकों सहित भीमराव मारा गया। १५० सैनिक क़ैद कर लिए गए इनमें से अधिकांश या तो गोली से उड़ा दिए गए या फ़ांसी पर लटका दिए गए।

औरंगाबाद ज़िले में क़रीब दो हज़ार भीलों ने बीजापुर के देशपाण्डे और संबाजी नाईक के नेतृत्व में विद्रोह कर दिया। उन्होंने इधर-उधर के क्षेत्रों में शासन के विरूद्ध उत्पात मचाना शुरू कर दिया। १८५९ में कप्तान पैड़लक ने उन पर हमला किया। युद्ध में ४० भील मारे गए, गोविन्दराव देशपाण्डे पकड़े गए और बाद में जेल में ही उनकी मृत्यु हुई।

तात्या टोपे के सैकड़ों रोहिले सैनिक दक्षिण की ओर आए। उन्होंने जगह जगह बलवे शुरू कर दिए तथा स्थान स्थान पर शासन यंत्र अस्त व्यस्त हो गया। उनका कहना था कि वे नाना साहब पेशवा के सेवक हैं और अंग्रेज़ों के दोस्त निज़ाम के इलाके को तबाह करने आए हैं। १८५९ में वे जहां तहां बिखर गए सैकड़ों को परभनी ज़िले में जावला के मुसलमान जागीरदार ने आश्रय दिया।

नीचे एक पत्र का भावार्थ दिया जाता है जो कि १६ जनवरी १८५९ को हिंगोली से लिखा गया था इसमें ब्रिगेडियर हिल लिखता है कि "आज का दिन बहुत परेशानी में बीता। १७ घण्टे लगातार घोड़ों पर सवार रहना पड़ा। रोहिलों ने हमारी एक गढ़ी पर कब्जा कर लिया। कप्तान मेकनन बुरी तरह घायल हो गया, गोली कप्तान होजसन के कंधे को पार कर गई। गोली लगने से कप्तान स्वीट की एक जाँघ बेकार हो गई। कप्तान क्लैगस्ट को अन्दरूनी चोट तथा कप्तान कैम्पबेल को अपना सब कुछ छोड़ छाड़ कर जान लेकर भागना पड़ा"।

रोहिलों की लूटपाट बहुत दिनों तक चलती रही। स्थान स्थान पर उन्होंने अंग्रेज़ों का मुकाबला किया। उनका मुख्य कार्य क्षेत्र धाराशिव (वर्तमान उसमानाबाद) ज़िला था। आदिलाबाद में आदिवासी गोंड़ों ने रामजी गोंड़ के नेतृत्व में रोहिलों का साथ दिया। उटनूर की लड़ाई ने गोंड़ पराजित हुए। रामजी पकड़ा गया और निर्मल में उसे फ़ाँसी दे दी गई। जिस वृक्ष पर रामजी को फ़ाँसी दी गई थी उसे आज भी वहां के निवासी "रामजी का वृक्ष" कहते हैं।

विद्रोहियों का एक प्रबल केन्द्र तथाकथित सतारा के राजा के वंशजों का था। अंग्रेज़ों ने सन् १८४८ में सतारा पर अधिकार कर लिया था। इसलिए सतारा के राजा के बाला साहब सेनापति बुवाजी राजे आदि सम्बन्धियों ने बीड़, बीदर, औरंगाबाद आदि ज़िलों में फैलकर विद्रोह किया। उनका उद्देश्य सेना एकत्र कर सतारा को फिर हस्तगत करना था। १८५९ ई. में बाला साहब सेनापति के संकेत से एक षड्यंत्र रचा गया लेकिन षड्यंत्र फूट गया और षड्यंत्रकारी पकड़ कर जेल में ठूंस दिए गए। सन् १८७७ में राम राव उर्फ़ जंगबहादुर नामक व्यक्ति आष्टि के क़िले पर सतारा का केसरिया ध्वज फहराने का प्रयत्न करते समय गिरफ़्तार कर लिया गया। उस पर यह अभियोग लगाकर कि उसने बीदर ज़िले में अंग्रेज़ों के विरुद्ध बहुत बड़े पैमाने पर विप्लव करने की चेष्टा की है और उसे एण्डमान भेज दिया गया।

सन् १८६२ में नाना साहब के भतीजे राव साहब के दक्षिण आते ही हैदराबाद के वातावरण में फिर गरमी आ गई। राव साहब तात्याटोपे का सहायक था। तात्या टोपे को १८५९ के प्रारम्भ में ही अंग्रेज़ों ने पकड़ कर सूली पर चढ़ा दिया था। राव साहब १८६२ के मार्च मास में वह हैदराबाद आया और नगर में उसने प्रमुख व्यक्तियों से सम्पर्क बढ़ाना प्रारम्भ किया। बेगमबाज़ार के गोसाई महाजन और निज़ाम की सेना के कई उच्चाधिकारियों से उसके सम्बन्ध बहुत घनिष्ट हो गए। राव साहब को गिरफ़्तार किए जाने

के प्रयत्न किये गए लेकिन वह बचकर निकल भागा। जैसा कि प्रसिद्ध है बाद में आगरा के समीप पकड़े जाने पर गोरों ने उसे गोली से उड़ा दिया। अन्य व्यक्तियों को जिन पर सन्देह किया गया कि वे राव साहब के साथी हैं बहुत कड़ी सजाएँ दी गई। निज़ाम की सेना के एक अधिकारी अमृतलाल के भाई तुलजाराम को १० वर्ष का कठोर दण्ड मिला तथा उसे बीदर भेज दिया गया। बेगमबाज़ार के गोसाई महाजनों को क्रमशः (७०,०००) और (१०,०००) का भारी आर्थिक दण्ड देना पड़ा। निर्मल के मक्तेदार परिवार में आज तक ऐसा प्रचलित है कि राव साहब को आश्रय देने के कारण उनको अपने ४० गांवों में से ३९ से हाथ धोना पड़ा।

१५ मार्च १८५९ को जब रेज़ीडेन्ट कर्नल डेविडसन निज़ाम के महल में उनसे मिलने के लिए आया हुआ था एक आदमी ने ब्लण्डर-बम चलाकर उसकी तथा सालारजंग की हत्या करने का प्रयत्न किया किन्तु एक रक्षक ने अपनी बन्दूक बीच में कर उसके प्रयास को विफल कर दिया। इस पर आक्रमणकारी ने तलवार से वार किया लेकिन उससे पूर्व ही रक्षकों की बहुत सी तलवारों ने उसके शरीर के टुकड़े टुकड़े कर दिए। आक्रमणकारी का नाम जहांगीर ख़ां था। वह निज़ाम के विश्वास प्राप्त मिर्ज़ाचाँद का मित्र था। मिर्ज़ा चांद को उसके अंग्रेज़ विरोधी विचारों के कारण हैदराबाद से निकाल दिया गया था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सन् १८५७ के स्वतंत्रता युद्ध में हैदराबाद शान्त नहीं था। औरंगाबाद का सैन्य-विद्रोह, रेज़ीडेन्सी पर आक्रमण, शोरापुर का युद्ध, भीमराव देसाई का कोपबल के क़िले पर अधिकार, देशपाण्डे के नेतृत्व में भीलों का बलवा, गोंडों और रोहिलों का अंग्रेज़ों के विरुद्ध सम्मिलित युद्ध, सतारा के वंशजों का बीड़ आदि ज़िलों में विप्लव कराने का प्रयत्न, रोहिलों का विद्रोह तथा रेज़ीडेन्ट की हत्या का प्रयत्न ये सब घटनाएं सन् ५७ के स्वतंत्रता संग्राम में अंग्रेज़ों को भारत से भगाने के लिए किये गए हैदराबाद के प्रयत्नों की साक्षी हैं।

सेतुमाधव राव पगडी आई. ए. एस.
शिक्षा-सचिव, हैदराबाद-राज्य

संदर्भ

विदेशों में आर्य समाज

जहां तक आर्य समाज के विदेश प्रचार का सम्बन्ध है, हमें यह स्वीकार करना होगा कि हमारे प्रचार का केन्द्रबिन्दु भारतीय प्रवासियों तक ही सीमित रहा है। युरोपियनों वा अमेरिकनों आदियों में हमारा प्रचार नाम मात्र के लिए हुआ है। आवश्यकता इस बात की है कि हमारा प्रचार प्रवासी भाइयों में होने के साथ साथ यूरोप और अमेरिका आदि में भी होना चाहिए। महर्षि दयानन्द के जीवन लक्ष्य और आर्य समाज के उद्देश्य की पूर्ति सारे संसार में वैदिक धर्म के प्रचार और आर्य संस्कृति के विस्तार से ही होगी।

विदेशों और उपनिवेशों में स्थायी रूप से ३०-३५ लाख की संख्या में बसे हुए प्रवासी भारतीयों को आर्य समाज के आचार और आश्रय की अत्यन्त आवश्यकता है और रही है। भारत में आर्य समाज ही एक ऐसी संस्था है जो उनकी धार्मिक आकांक्षाओं की तृप्ति, सामाजिक त्रुटियों की पूर्ति और राष्ट्रीय भावनाओं की अभिवृद्धि कर सकती है। आर्य समाज ने प्रवासी भाइयों की जो सेवा की है उसकी सभी प्रशंसा करते हैं। प्रवासी भाइयों में नवजीवन और नवचेतन उत्पन्न करने का अधिकांश श्रेय आर्य

समाज को है। स्व. दीनबन्धु श्री सी. एफ. एण्ड्रूज ने महर्षि दयानन्द की पुण्य स्मृति पर श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए लिखा था "उपनिवेशों में प्रवासी भारतीयों के लिए आर्य समाज जो कुछ कर रहा है, उससे मेरे हृदय पर गहरा प्रभाव पड़ा है। आर्य समाज ही एक ऐसी संस्था है, जो मातृ भूमि भारत के प्रति प्रवासियों के हृदय में अनुराग पैदा करती है, राष्ट्र भाषा हिन्दी का विशेष रूप से प्रचार करती है और पुरातन आर्य संस्कृति की जिस पर प्रत्येक भारतीय का जन्मसिद्ध अधिकार है, हित की रक्षा पर विशेष ध्यान रखती है। दक्षिण अफ्रीका और रोडेसिया, केनिया और युगाण्डा, जंजीबार और टेंगेनिका, फ़िजी और मौरीशस, मलाया और सिंगापुर इत्यादि सभी उपनिवेशों में आर्य समाज द्वारा वैदिक धर्म और आर्य सभ्यता का प्रचार और रक्षण हुआ है। कई वर्षों से मैंने समाचार पत्रों में लेख लिख कर जनता को आर्य समाज के कार्यों से परिचित कराने का प्रयास किया है। इन लेखों का हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में अनुवाद कराके भी मैंने प्रकाशित कराया है जिससे अंग्रेज़ी जानने वालों के अतिरिक्त अन्य भाषा भाषियों को भी आर्यसमाज की सेवाओं की जानकारी प्राप्त हो। आर्य समाज में जीवन शक्ति और उत्साह है। अतः मुझे विश्वास है कि उसका भविष्य उज्ज्वल एवं आशाप्रद है। भारत की जो संस्थाएं प्रवासी भारतीयों की सेवा कर सकती हैं उनमें आर्य समाज से बढ़कर क्रियाशील उत्साही और शक्तिशाली दूसरी कोई नहीं है।"

पूर्वावस्था

विदेशों और उपनिवेशों में प्रवासी भारतीयों के कल्याण और उत्थान के लिए आर्य समाज ने जो कुछ किया है उसका महत्व समझने के लिए पूर्वावस्था पर एक दृष्टि डाल लेना आवश्यक है। आधुनिक युग में जब संसार से ग़ुलामी की प्रथा उठ गई हब्शियों को दासता के बंधन से मुक्ति मिली तब उपनिवेशों के गोरे किसानों को मज़दूरों का अभाव खटकने लगा। उन्हें सस्ते और मेहनती मज़दूरों की आवश्यकता पड़ी। इसलिए ग़ुलामी का पुनर्जन्म शर्तबन्दी कूली प्रथा (Indentured Labour System) के रूप में भारत वर्ष में हुआ और यहां से संसार को सभ्यता सिखाने वालों की सन्तान औपनिवेशिक गोरों की ग़ुलामी करने के लिए भारत की विदेशी सरकार द्वारा भूमंडल के भिन्न भिन्न भागों में भेजे जाने लगे। सन् १८३४ में इस अर्ध ग़ुलामी प्रथा का जन्म हुआ। लगभग १०० वर्ष तक यह अबाध रूप से प्रचलित रही और प्रथम महायुद्ध के समय घोर आन्दोलन के फलस्वरूप इसका अन्त हुआ। इस प्रकार १८३४ से १९१८ तक नैटाल, मौरिशस, फ़िजी, ट्रीनीडाड, डमरेरा आदि उपनिवेशों में जो भारतीय शर्तबन्दी का पट्टा लिखकर गए उनमें लगभग ३० लाख वहीं स्थायी रूप से बस गए।

इस कुली प्रथा का शिकार होने वालों में अधिकांश संख्या गावों के भोले भाले हिन्दुओं की थी जो आर्थिक वा समाजिक परिपीड़न से विवश होकर वा बहकाए जाकर उपनिवेशों में स्वर्ग की कल्पना कर बैठते थे। परन्तु कुली डिपो में और जहाजों पर जब उनके साथ पशुओं जैसा व्यवहार होता था, जब उन्हें धार्मिक विश्वासों और रीति रिवाजों को तिलांजलि देनी पड़ती थी, जब हिन्दू, मुसल्मान, ईसाई के भेदभाव से पृथक् रह कर उन्हें सब के साथ खाने, पीने रहने और सहवास करने के लिए विवश होकर, धर्मकर्म, आचार विचार, जातपांत और छुआछूत को मिटाना पड़ता था तब उन्हें अपनी भूल पर पछतापा होता था। परन्तु उस समय पछताने से कुछ न होता था।

उपनिवेशों में पहुंचने पर उनका यह विश्वास दृढ़ हो जाता था कि टापुओं में धर्म का पालन और रक्षण संभव है। जिन वस्तुओं को हिन्दू छूना भी पाप समझते थे वे सहज ही उनके पेट में हज़म होने लगी। मुर्ग़ का मांस और मदिराकी प्याली सबसे बड़ी नियामत समझी जाने लगी। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की संख्या बहुत कम थी। सरकारी विधान के अनुसार १०० पुरुष पीछे ४० स्त्रियां भरती करके उपनिवेशों में भेजी जाती थीं। अतएव स्त्रियों के लिए लड़ाई झगड़े होते थे, सिर फूटते थे, सज़ाएं मिलती थीं, हत्याएं होती थीं और फांसियां लगती थीं। कूली शास्त्र के अनुसार हिन्दुओं का धर्म-विहित विवाह नाजायज़ था। पुरोहित थे प्रोटेक्टर साहब और उनका दफ़्तर था, विवाह मंडप; यहीं पर विवाहों की रजिस्ट्री हुआ करती थी। इसके बिना पत्नी पर पति का कोई अधिकार नहीं होता था।

हिन्दू अपने त्यौहारों को भी भूल बैठे। होली, दिवाली, रामनवमी, और कृष्णाष्टमी आदि पर्व विस्मृति के समुद्र में डूब गए। कौन कब आता है और कब जाता है इसकी न किसी को ज़रूरत थी और न परवाह। हिन्दुओं के लिए सब से बड़ा त्यौहार मुहर्रम बन गया। हिन्दुओं के घर ताज़िए बनते, उनकी स्त्रियां मर्सिया गातीं और हसन-हुसेन साहब पर शीरनी, पंजे और मलीदे आदि चढ़ातीं; यही हिन्दुओं का प्रमुख त्यौहार माना जाता और इसी अवसर पर कोठियों में कूलियों को भी छुट्टी मिलती थी। सबसे अधिक मज़ा तो यह कि ताज़िए के दाएं बाएं या आगे पीछे का बखेड़ा उठा कर हिन्दू लोग आपस में लड़ पड़ते थे और प्रति वर्ष अनेक हिन्दुओं के सिर फूटते, टांगें टूटतीं और मौत भी हो जाती।

हिन्दुओं में मृतक दाह के स्थान पर मुर्दे ज़मीन में गाड़ने और क़ब्रों पर फूल पत्तियां चढ़ाने की प्रथा भी प्रचलित हो गई। धीरे धीरे हिन्दुत्व का लोप होता ही गया। यद्यपि ब्राह्मणों की भरती वर्जित थी, तो भी कुछ नामधारी ब्राह्मण पापी पेट की आग बुझाने के लिए नाम और बात बदल कर उपनिवेशों में पहुंच गए थे। वे हिन्दुओं को अपने पुराने पथ की ओर प्रेरित करने में असमर्थ सिद्ध हुए। फिर भी उन्होंने हनुमान चालीसा, रामलीला, अर्जुन गीता, सूर्यपुराण और सत्यनारायण की कथा के प्रताप से यत्र तत्र हिन्दुत्व का चिन्ह बनाए रखा।

प्रवासी हिन्दुओं के लिए सबसे भयंकर बात यह हुई कि उनकी आत्मा का धर्म अब लोप होता गया और धार्मिकता के नष्ट हो जाने से उनके नतिक आचार विचार की मिट्टी पलीत हो गई। परिणाम यह हुआ की हिन्दुओं के इस दुरवस्था से ईसाई और मुसलमानों ने खूब लाभ उठाया। हिन्दू युवक धड़ाधड़ ईसाई और मुसलमान बनते जाते थे।

श्री स्वामी विवेकानंद का उदाहरण देकर यह बात कही जाती है कि जिस प्रकार उन्होंने अमेरिकन जनता को आध्यात्मिकता की सुधा पिलाकर उस देश में वेदान्त का सिक्का जमाया उसी प्रकार आर्यसमाज को भी यूरोप और अमेरिका में वैदिक धर्म की पताका फहरा देनी चाहिए। किन्तु हमारे भाइयों को कदाचित् यह ज्ञात नहीं है कि जिस समय स्वामी विवेकानंद अमेरिका के न्यूयार्क, चिकागो, बोस्टन आदि नगरों में मुठ्ठी भर अमेरिकन नर नारियों को वेदान्ती बनाकर मठों की स्थापना कर रहे थे, ठीक उसी समय अमेरिका की दक्षिणीय भाग में डमरारा, ट्रीनीडाड, जमैका, ग्रनेड़ा आदि उपनिवेशों में हज़ारों प्रवासी हिन्दू स्वधर्म को छोड़कर धड़ाधड़ ईसाई हो रहे थे। आज उन उपनिवेशों में कोई विरला ही शिक्षित व्यक्ति हिन्दू धर्म का अनुयायी रह गया था, अन्यथा सभी पढ़े लिखे युवक ईसाईमत

की शरण में चले गए थे। उन अभागे हिन्दुओं पर न स्वामी विवेकानन्द की दृष्टि पड़ी और न कोई उनके किसी भी शिष्य की।

ऐसा प्रतीत होने लगा कि निकट भविष्य में शर्तबन्दी में गए हिन्दुओं के वंशजों में हिन्दुत्व का चिन्ह ही मिट जाएगा। ठीक उसी समय उपनिवेशों में आर्यसमाज की ओर से वैदिक धर्म का सन्देश पहुंच गया और हिन्दुत्व के अस्तित्व की रक्षा हो गई।

मौरीशस में प्रचार कार्य

यह द्वीप हिन्द महासागर में स्थित है। भारत में मौरीशस दो नामों से प्रसिद्ध है। एक तो 'मौरिस' और दूसरा 'मिर्च का मुल्क'। इसकी जनसंख्या में ७० प्रतिशत भारतवासी हैं। भारतवासी सबसे पहले कुली प्रथा के अधीन इसी द्वीप में भेजे गए थे। कुल आबादी लगभग ४ लाख है। रोमन कथोलिक पादरियों ने बहुसंख्या में हिन्दुओं को ईसाई बनाया हुआ है। सन् १९४५ में ईसाई बने हिन्दुओं की संख्या १२,००० तक पहुंच गई थी, जो भारतीय मौरीशस में जन्मे हैं वे 'इंडो-मोरिशियन्स' कहलाते हैं। ९० प्रतिशत इंडोमोरिशियन्स 'किरोल' भाषा जो एक बिगड़ी हुई फ्रेंच जबान है बोलते हैं। यही उनकी प्रिय भाषा बन गई है। हिन्दी इनके लिए विदेशी भाषा बन रही थी। वहां के जमे हुए हिन्दू मौरीशस को अपना देश और भारत को विदेश मानने लगे थे। उनमें जो थोड़े बहुत पढ़ लिख गए थे वे प्रायः कहा करते "ये विदेशी हिन्दुस्तानी यहां आकर हमारे देश मौरीशस को भारी हानि पहुंचाते हैं, व्यापार आदि के द्वारा यहां का धन खींचकर भारत ले जाते हैं। सन् १९०३ में श्री रामफल शर्मा आर्यसमाज का प्रचार करने भारत से मौरीशस गए।

१९०७ में बैरिस्टर मणिलाल मौरीशस पहुंचे। १९०८ में उनका 'हिन्दुस्तानी' अखबार प्रकाशित हुआ। जनता में जागृति फैली। बैरिस्टर साहब के मकान के एक कमरे में आर्य समाजियों की बैठक होती और भावी कार्यक्रम पर विचार किया जाता। बैरिस्टर महोदय की प्रेरणा और प्रोत्साहन से १७ अप्रैल १९१७ ई० को मौरीशस की राजधानी पोर्टलुइस में आर्य समाज की स्थापना हो गई। पहले श्री मणिलाल के कार्यालय में आर्य समाज का अधिवेशन होता था तत्पश्चात श्री मणिलाल के मकान पर। श्री मणिलाल जब भारत वापस गए तो उन्होंने 'हिन्दुस्तानी प्रेस' आर्य समाज को प्रदान कर दिया।

१९१२ में स्व. स्वामी मंगलानन्द पुरी मौरीशस गए। उस समय श्री लक्ष्मण पंडा भी आर्य समाज के प्रचार कार्य में उत्साह से संलग्न थे। इसके बाद श्रीयुत डा. चिरंजीवि भारद्वाज अपनी धर्मपत्नी श्रीमती सुमङ्गली देवी के साथ वहां पहुंच गए। डाक्टर साहब जैसे प्रकाण्ड पंडित के प्रताप से मौरीशस मे आर्य समाज का सिक्का जम गया। पुरी जी भारत लौट आए और डाक्टर साहब ने आर्य समाज का नेतृत्व ग्रहण किया।

डाक्टर भारद्वाज की वाणी और लेखनी से मौरीशस द्वीप में सर्वत्र वैदिक धर्म का सन्देश पहुंच गया। श्री माधवलाल हरिवंश और श्री वी शिवसरन पोर्टलुइस में लेखबद्ध प्रचार कर रहे थे। वाकुआ में श्री रामेश्वर पतालू, श्री भोला मास्टर श्री मोती मास्टर, प्रगति समाज की शरण में आगए थे। संस्कृत

के विद्वान् होन के कारण डाक्टर भारद्वाज का वहां के नामधारी ब्राह्मणों पर भी गहरा प्रभाव पड़ा था। श्रीमती सुमङ्गली देवी के भाषणों ने वहां की जनता में अनुपम जागृति पैदा की थी।

सन् १९१३ में डाक्टर महोदय ने मौरीशस में आर्य परोपकारिणी सभा की स्थापना की। उसके लिए चन्दा करके एक छोटा सा मकान भी खरीद दिया। उसी वर्ष डाक्टर महोदय की उपस्थिति में ही स्व. स्वामी स्वतंत्रानन्द महाराज प्रथम बार मौरीशस गए। स्वामी जी को आर्य समाज की बागडोर थमाकर डाक्टर साहब मौरीशस से विदा हो गए थे।

सन् १९१६ में श्री काशीनाथ भारत से विद्या प्राप्त कर मौरिशस लौटे। उन्होंने भी अनेक स्थानों पर आर्य समाजों की स्थापना की। कुछ उत्साही कार्यकर्ताओं ने पोर्ट लुइस में दयानन्द धर्मशाला तथा आर्य वैदिक विद्यालय स्थापित किया।

१९२५ में महता जैमिनी के उद्योग से दयानन्द जन्म शताब्दी बड़ी धूमधाम से मनाई गई। सन् १९२६ में स्वामी विज्ञानन्द मौरीशस द्वीप में गए।

सन् १९४८ ई० में स्व. स्वामी स्वतंत्रानन्द महाराज पुनः मौरीशस गए। उन्होंने जहां सफल प्रचार किया, समाजों तथा सामाजिक कार्य का निरीक्षण किया वहां आर्यों के पारस्परिक मनमुटाव को दूर करके आर्य समाज की शक्ति को केन्द्रीभूत तथा दृढ़ करने का स्तुत्य प्रयत्न भी किया।

मौरीशस में आर्य समाज के प्रताप से एक नया युग आरंभ हो गया है। 'आर्य सभा' नामक प्रतिनिधि सभा उत्तम कार्य कर रही है जो सार्वदेशिक सभा से नियमित रूप से सम्बद्ध है। गत वर्ष श्री आनंदभिक्षु महाराज ने मौरीशस में प्रशंसनीय कार्य किया। मौरीशस के कई छात्र दयानंद उपदेशक विद्यालय यमुनानगर में श्री आनंद भिक्षु व्यय भार से शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं व्यय भार ये छात्र अपने देश में लौट कर प्रचार कार्य को अपने हाथ में संभाल लेंगे। श्री आनंद स्वामी महाराज जो पूर्वीय अफ़्रीका के प्रचार परिभ्रमण पर गए हुए हैं दिसम्बर ५५ में वहां जाने वाले हैं। आशा है उनके वहां जाने पर आर्य समाज के कार्य को बल मिलेगा। उनके पश्चात् सार्वदेशिक सभा के भूतपूर्व प्रधान स्वामी ध्रुवानन्द महाराज का 'आर्य सभा' के विशेष निमंत्रण पर समाज की स्थिति के निरीक्षण तथा प्रचार के लिए मौरीशस जाने का पुरोगम बन रहा है।

दक्षिण आफरीका

दक्षिण अफ़्रीका में चार प्रदेश हैं नैटाल, ट्रान्सवाल, केप और औरंज फ़्रीस्टेट। एक करोड़ की आबादी में २ लाख से अधिक हिन्दुस्तानी हैं जिनमें डेढ़ लाख हिन्दू हैं। सन् १८६० में पहले पहल भारतीयों का आगमन नैटाल में हुआ। शर्त बन्द कुलियों की हैसियत से। हिन्दुओं में मद्रासियों की संख्या सबसे अधिक है। उनके बाद बिहार और उत्तर प्रदेश के निवासी हैं। गुजराती भी एक अच्छी संख्या में हैं। कुछ पंजाबी भी हैं। और थोड़े अन्य प्रान्तों के निवासी भी हैं। गुजराती लोग स्वतंत्र व्यापारी की हैसियत से वहां गए। हिन्दुओं में पौराणिकता और अज्ञान बहुत व्याप्त है।

सन् १९०५ में भाई परमानन्द प्रचारार्थ वहां गए। भाई जी उस समय लाहौर के डी.ए.वी. कॉलेज के प्रोफ़ेसर थे। यद्यपि भाई जी केवल ४ सप्ताह दक्षिण अफ़्रीका में ठहर सके। तत्पश्चात् उनको विशेष अध्ययन के लिए विलायत चला जाना पड़ा तथापि हिन्दुओं में नवजीवन का संचार हुआ।

सन् १९०८ ई० में स्वामी शंकरानन्द लंदन से नैटाल गए। उन्होंने वहां ४ वर्ष तक सफल प्रचार कार्य किया। उन्होंने लगभग ५०० व्याख्यान दिए, ७०० यज्ञोपवीत और २५० हवन कराए। नैटाल की राजधानी पीटर मेरिट्सबर्ग में वैदिक आश्रम बना। स्वामी जी की अध्यक्षता में दक्षिण अफ़्रीका हिन्दू परिषद् हुई। जिसमें देश भर के २५० प्रतिनिधियों ने भाग लिया था।

सन् १९१३ में स्वामी मंगलानंद पुरी भी ट्रांसवाल पहुंच गए। उन्होंने दक्षिण अफ़्रीका में लगभग ६ महीने प्रचार किया। स्वामी शंकरानन्द के वहां से विदा होने के ५ महीने पहले ही श्री भवानी दयाल–जो बाद में स्वामी भवानी दयाल सन्यासी कहलाए—दक्षिण अफ़्रीका पहुंच गए और उन्होंने आर्यसमाज के नेतृत्व का भार संभाला। उन्होंने एक ओर वैदिक धर्म का प्रचार आरंभ किया और दूसरी ओर हिन्दी भाषा का भी। मुख्य–मुख्य नगरों में हिन्दी प्रचारिणी सभाएँ और हिन्दी पाठशालाएँ खुलवाई। डर्बन शहर के निकट क्लेर स्टेट में आर्य आश्रम बनवाया जिसमें पुस्तकालय और पाठशाला की व्यवस्था की गई। दक्षिण अफ़्रीका में हिन्दी साहित्य सम्मेलन की बुनियाद डाली। श्री आर. जी. भल्ला नामक एक पंजाबी सज्जन ने 'धर्मवीर' नामक साप्ताहिक पत्र आप ही के सम्पादन में निकाला।

सन् १९२१ में गुरुकुल कांगड़ी के स्नातक श्री ईश्वरदत्त विद्यालंकार ने अपने सहकारी लाला साईदास (पश्चात् श्री सत्यव्रत) के साथ दक्षिण अफ़्रीका में पर्यटन और प्रचार किया। नैटाल के प्रायः सभी शहरों और ग्रामों में उनके व्याख्यान हुए। वहां से वे अमेरिका चले गए। उसी समय ठा. प्रवीणसिंह नैटाल गए और अपने भजनों द्वारा वैदिक धर्म का प्रचार करते रहे।

१९२५ में श्रीयत स्वामी भवानीदयाल के सभापतित्व में डरबन में महर्षि दयानन्द शताब्दी महोत्सव मनाया गया। इसी अवसर पर नैटाल प्रादेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा की स्थापना हुई जिसके सर्वप्रथम प्रधान स्वामी भवानीदयाल निर्वाचित हुए। प्रतिनिधि सभा के उपदेशकों को नैटाल के जेलखाने में जाकर हिन्दू क़ैदियों में वैदिक धर्म प्रचार करने की सरकारी आज्ञा मिल गई। १९२१ में श्री भवानीदयाल ने सन्यास ग्रहण कर लिया और इसके पश्चात् उन्होंने सार्वदेशिक सभा की ओर से दो वर्ष तक दक्षिण अफ़्रीका में प्रचार कार्य किया।

१९२९ में डॉ. भगतराम सहगल अपनी पत्नी व बच्चों के साथ पूर्व अफ़्रीका में प्रचार करके दक्षिण अफ़्रीका गए। उन्होने नैटाल में यथा शक्ति प्रचार किया और आर्यसमाजों की स्थापना की।

१९३३ में डी. ए. वी. कालेज होशियारपूर के प्रोफ़ेसर राजाराम दक्षिण अफ़्रीका प्रचारार्थ गए उनकी सादगी और साधुता का जनता पर अच्छा प्रभाव पड़ा उनके व्याख्यान आर्यसमाज की प्रगति में बड़े सहायक हुए।

१९३४ में श्री आनन्द प्रिय बड़ौदे के आर्य कन्या महाविद्यालय की छात्राओं के साथ दक्षिण अफ़्रीका गए। लड़कियों के व्यायाम प्रदर्शनों से उक्त संस्था को लाखों रुपए दान के रूप में मिले और आर्यसमाज के यश में वृद्धि हुई।

सन् १९३७ में श्री यशपाल वहां गए और १९३८ में श्री ऋषिराम बी. ए.।

१९५० में सार्वदेशिक सभा के तत्कालीन मंत्री श्री गंगाप्रसाद उपाध्याय आर्य प्रतिनिधि सभा नेटाल के निमंत्रण पर दक्षिण अफ्रीका गए। वहां वे लगभग ६ मास रहे। उनके प्रचार का बड़ा उत्तम और स्थायी प्रभाव पड़ा।

फ़िजी

प्रशांत महा सागर में आस्ट्रेलिया से पूर्व और न्यूज़ीलेंड से उत्तर दिशा में फ़िजी द्वीप समूह है जो लगभग २५० भागों में विभक्त है। लगभग ८० द्वीपों में मानव बस्ती है, शेष उजाड़ पड़ा है। सन् १८१९ में शर्तबन्दी भारतीय मज़दूरों का फ़िजी में प्रवेश हुआ और १९१६ तक यह सिलसिला जारी रहा। १९३२ तक भारतीयों की संख्या लगभग ८०००० तक पहुंच गई और जिनमें ८० प्रतिशत हिंदू थे।

आर्य समाज के प्रचार से पूर्व यहां भी ईसाईयत का बोल बाला था। हिंदू नवयुवक अनेक कारणों से इस मत का आश्रय लेने लगे थे।

१९१३ में स्वामी मनोहरा नन्द बिहार से फ़िजी पहुंचे। स्वामी जी के प्रचार से वहां बड़ी जागृति हुई। स्वामी जी ने लादूका नामक स्थान पर एक गुरुकुल की स्थापना की। स्थान स्थान पर आर्यसमाज खुले निस्सन्देह स्वामी जी की सेवाएं मूल्यवान् रही किन्तु अंत में स्वामी जी मानवीय निर्बलता के शिकार हो गए थे। उन्होंने एक प्रवासी कन्या के साथ विवाह करके अपने तथा आर्यसमाज के यश को बड़ी ठेस पहुंचाई। स्वामी जी के कारण आर्यसमाज बदनाम हुआ। स्वामी जी की टीका टिप्पणि की गई और वे ईसाई बन गए।

१९१९ में गुरुकुल वृन्दावन के श्री गोपेन्द्र आर्यसमाज के प्रचारार्थ फ़िजी गए। जो वहां अब तक आर्यसमाज की उत्तम सेवा कर रहे हैं। उनकी सेवाओं से वहां आर्यसमाज का गौरव बढ़ा और स्थिति दृढ़ हुई है। उन्होंने वहां जाकर मृतप्राय गुरुकुल को संभाला और उनके प्रयत्न एवं प्रेरणा से फ़िजी के अनेक विद्यार्थी भारत आए और जालंधर से कन्या महाविद्यालय, देहरादून के डी. ए. वी. कॉलेज कॉलेज एवं गुरुकुल वृन्दावन प्रभृति संस्थाओं में उन्होंने शिक्षा प्राप्त की और प्राप्त कर रहे हैं। श्री गोपेन्द्र के उद्योग से श्री. श्रीकृष्ण शर्मा, आर्य मिशनरी, स्व. अमीचन्द विद्यालंकार, ठाकूर कुन्दन सिंह, ठाकूर सिंह आदि प्रचारकोंने भारत से वहां जाकर प्रवासी हिन्दुओं के सुधार और उद्धार के कार्य में पर्याप्त परिश्रम किया। श्री महता जैमिनी जी के (अब स्वामी ज्ञानानंद)ने भी अपने उपदेशों से फ़िजी के प्रवासी भारतीयों को लाभ पहुंचाया। इस समय फ़िजी द्वीप के प्रायः सभी नगरों में आर्यसमाज स्थापित है। १९१६ में प्रतिनिधि सभा की नींव पड़ गई थी जो इस समय सार्वदेशिक के साथ नियमित रूप से सम्बद्ध है। १९०४ में वहां पूर्व समाज क़ायम हुआ था। किन्तु १९१३ से पूर्व उसका क्षेत्र 'सामनूला' नामक स्थान तक ही सीमित रहा। १९१३ में जब आर्यसमाज का काम बढ़ा तो सरकार की कोपदृष्टि उसपर पड़ी। पुलिस ने समाज के काग़ज़ पत्रों को ज़ब्त कर राज-द्रोह का मसाला ढूंढने में बड़ी माथा पच्ची की परन्तु उसे निराश होना पड़ा। सन् १९१२ में आर्यसमाज ने ही हिन्दू पर्वों का फ़िजी में पुनरुद्धार किया। इस समय वहां लड़के लड़कियों से आर्यसमाज की ओर से अच्छे स्कूल व कॉलिज चल रहे हैं। वहां कुछ समय तक 'वैदिक सन्देश' नामक एक आर्य पत्र भी प्रकाशित होता रहा जो बाद में बंद हो गया। इस समय आर्यसमाज की स्थिति और प्रगति सन्तोषप्रद है।

ब्रिटिश गायना

दक्षिणी अमेरिका के निकट यह उपनिवेश है। डेमारा ,इसक्वरवो एवं वेर वाईस टापू ब्रिटिश गायना के नाम से प्रसिद्ध है।

सन् १८६५ में दास प्रथा का अन्त हो जाने के बाद ही वहां शर्तबन्द भारतीय मजदूरों का जाना प्रारंभ हुआ और इस समय वहां प्रवासी भारतीयों की संख्या लगभग दो लाख तक पहुंच चुकी है।

सर्वप्रथम स्व. भाई परमानंद ने ही ब्रिटिश गायना के प्रवासी भारतीयों को आर्यसमाज का सन्देश सुनाया था। उस समय उन्हीं के शब्दों में "पढ़े लिखे लोग सबके सब ईसाई हो गए थे"। जब से वहां आर्यसमाज का प्रचार शुरू हुआ, प्रवासी हिन्दुओं में नवजीवन का प्रादुर्भाव हो आया है। श्रीयुत अयोध्या प्रसाद और महता जैमिनी ने वहां पहुंच कर गिरे हुए हिन्दुओं को उठाने और आगे बढ़ाने में सराहनीय प्रयत्न किया। श्री नारायणदत्त सिद्धान्त भूषण १९३९ में डच गायना की सभा की नियुक्ति पर डच गायना गए थे। वहां से वे इस टापू में भी प्रचारार्थ गए। ब्रिटिश गायना के कई आर्य भाई वैदिक धर्म और वैदिक साहित्य के प्रचार में जी जान से लगे हुए हैं। इस वर्ष (१९५५) के आरम्भ में गुरुकुल कांगड़ी के आचार्य श्रीयुत प्रियव्रत के सुपुत्र ब्र. श्रुतिकान्त वेदालंकार अमेरिकन आर्य लीग के प्रिन्सिपल बनकर गए हैं। वहां वे प्रचार का कार्य भी बड़ी तन्मयता से करते हैं।

ट्रीनीडाड

ब्रिटिश गायना के पास ही ट्रीनीडाड नामक उपनिवेश है। ट्रीनीडाड और टोवागो में प्रवासी भारतीयों की संख्या लगभग दो लाख है। इस देश में भारतीय मजदूरों का सर्वप्रथम प्रवेश १९४५ में हुआ था। यहां भी ब्रिटिश गायना की तरह अधिकांश हिन्दू नवयुवक और नवयुवतियाँ अपने धर्म और संस्कृति से न केवल अनभिज्ञ ही रहे अपितु इनसे घृणा कर के ईसाई मत में दीक्षित हो गए थे।

१९२८ में महता जैमिनीजी ट्रीनीडाड में गए और वैदिक धर्म का प्रचार किया। उनके व्याख्यानों का वहां अच्छा प्रभाव पड़ा। उनके बाद श्री गिरजादयाल यथाशक्ति इधर उधर प्रचार करते रहे।

१९३४ में आर्यसमाज के प्रसिद्ध विद्वान् श्री अयोध्या प्रसाद जी संयोगवश वहां जा पहुंचे। वे वास्तव में अमेरिका की सार्वभौम सर्व धर्म परिषद् में सम्मिलित होने के लिए गए थे, किन्तु वहां उनके पासपोर्ट की अवधि समाप्त हो गई और वहां अधिक समय ठहरने की सरकारी अनुमति न मिल सकी। फलतः उन्हें ट्रीनीडाड का आश्रय लेना पड़ा। उन्होंने अपने अनर्थक प्रचार से वहां के लोगों की काया पलट दी। लगभग दो हजार मनुष्य आर्यसमाज में प्रविष्ट हुए। धगुआनास, प्रिन्सेज टाउन, सेन्ट जोसफ़ आदि नगरों में आर्यसमाज की स्थापना हुई। धगुआनास प्रचार का केन्द्र बनाया गया। यहां समाज मन्दिर भी बना। आर्यों ने आर्यसमाज मन्दिर के लिए निर्माण में दिल खोलकर धन और योग दिया। लगभग ३०० ईसाई और मुसल्मानों की शुद्धि हुई। प्रिन्सेज टाउन के एक धनाढ्य और विद्वान् सज्जन ने ईसाई मत को त्याग कर वैदिक धर्म ग्रहण किया और अपने व्यय से उस नगर में आर्य

मन्दिर बनवाने और चलाने का शुभ संकल्प भी किया। प्रसिद्ध मुसलमान श्री वाजिद अली की शुद्धि से ट्रीनीडाड में हलचल मच गई। उनके परिवारवालों तथा अन्य मुसल्मानों ने हर प्रकार से रोकने का यत्न किया किन्तु सफलता न मिली। वे शुद्ध होकर 'सत्यपाल' बने और आर्यसमाज के काम में जुट गए।

कार्य का विस्तार हो जाने पर श्री अयोध्या प्रसाद की प्रेरणा से नगर ट्रीनीडाड में दो उपदेशक और भेजे गए। उनके जाने से आर्यसमाज का बल और प्रभाव बढ़ा और ऐसा लगने लगा मानो ट्रीनी-डाड, ब्रिटिश गायना और डच गायना में आर्यसमाज की नींव पक्की हो गई। उन दोनों के सार्वदेशिक सभा द्वारा अकस्मात वापस बुला लिए जाने से प्रगति मंद पड़ गई। श्री अयोध्या प्रसाद उन दोनों के आने से पूर्व ही भारत आ गए थे।

डच गायना

सन् १८७३ में भारतीय मजदूर पहले पहल डच गायना गए और १९१२ तक यह सिलसिला जारी रहा। यहां की आबादी लगभग १॥ लाख है।

१९२६ में सुरीनाम के कुछ हिंदुओं ने महर्षि दयानन्द कृत 'सत्यार्थ प्रकाश' इत्यादि ग्रन्थ मंगवाकर पढ़ने शुरू किए, इससे उनकी आखें खुलने लगीं और समाज सुधार की इच्छा बढ़ती गई।

सुरीनाम के हिन्दुओं में जिस समय आर्य समाज की काफ़ी चर्चा हो रही थी उसी समय १९२९ में डमरारा से मेहता जैमिनी जी वहां पहुंचे किन्तु वे वहां ठहर न सके, केवल एक सप्ताह में कुछ व्याख्यान देकर ब्रिटिश गायना लौट गए। जब ट्रीनीडाड से श्री अयोध्या प्रसाद वहां गए तो आर्य समाज की धूम मच गई। डच गायना की राजधानी पारामारिवो में नियमपूर्वक समाज की स्थापना हुई। मन्दिर के लिए जमीन क्रय की गई और उसकी रजिस्ट्री सार्वदेशिक सभा देहली के नाम से हुई। श्रीमती माता महादेवी पर वे अयोध्या प्रसाद जी के व्याख्यानों का बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा कि उन्होंने अकेले ही १८-२० हज़ार रुपए खर्च करके आर्य मन्दिर बनवा दिया। उनके बाद श्री सत्याचरण शास्त्री एम. ए. ने वहां पहुंच कर यथेष्ट प्रचार किया। वहां हिन्दी भाषा का अच्छा प्रचार है। मद्रासी भाई भी हिन्दी समझते और बोल लेते हैं। आर्य समाज की सफलता देख कर पौराणिकों की बेचैनी बढ़ी। इतने दिन तक उन्होंने प्रवासी भाइयों की सुधि न ली और अनेकों हिन्दुओं को ईसाई और मुसलमान बन जाने दिया। आर्य समाज को बुरा भला कहा जाने लगा। परन्तु उनका प्रयास उसी प्रकार व्यर्थ रहा जिस प्रकार गंगा की धारा को रेत से रोकने का प्रयास व्यर्थ जाता है।

१९३८ में श्री नारायणदत्त सिद्धान्त भूषण आर्य प्रतिनिधि सभा डच गायना के प्रवेश में सुरीनाम प्रचारार्थ गए। वे सपत्नीक गए थे। उन्होंने अपनी शक्ति और योग्यता के अनुसार प्रचार कार्य किया। आर्य प्रतिनिधि सभा डच गायना सार्वदेशिक सभा के साथ सम्बद्ध है।

पूर्वीय अफ्रीका

पूर्व अफ्रीका में केनिया नामक एक उपनिवेश है। बम्बई से समुद्री जहाज से केवल ८ दिन में मोम्बासा पहुंच जाते हैं जो केनिया का मुख्य बन्दरगाह है। इस देश से भारतीयों का बहुत पुराना

सम्बन्ध है। ईस्वी सन् से पूर्वकाल में वहां भारतीयों के उतरने और व्यापार करने का इतिहास मिलता है। सन् १४९८ में जब वास्कोडिगामा भारत की खोज में मोम्बासा के बन्दरगाह पर पहुंचा था तो वहां भारतीयों के अगणित जहाज़ और विस्तृत व्यापार देखकर दंग रह गया था। वास्तव में एक भारतीय नाविक ने ही मार्ग दिखाकर वास्कोडिगामा के जहाज़ को कालीकट तक पहुंचाया था।

सन् १८८५ ई. में जब इम्पीरियल ईस्ट अफ़्रीका कम्पनी से ब्रिटिश सरकार ने केनिया का शासन सूत्र ग्रहण किया तो केटेंनया, युगाण्डा रेल बनाने का काम शुरू किया गया। देशी मज़दूरों से काम निकालने का यत्न किया गया किन्तु अभीष्ट की सिद्धि न हो सकी। अन्त में भारत सरकार को मज़दूर देने का आदेश मिला और पंजाब के मज़दूरों ने ही नाना प्रकार के कष्ट झेल कर इस काम को पूरा किया।

पूर्वीय अफ़्रीका के उपनिवेशों में नेटाल, मोरिशस, फ़िजी, ट्रीनीडाड, डमरारा, सुरीनाम आदि की तरह केवल मज़दूर ही नहीं गए किन्तु उनके साथ ही कारीगर, व्यापारी और शिक्षित भारतीय भी स्वतंत्र रूप से वहां पहुंच गए। जहां नेटाल, मौरिशस आदि में मद्रास, बिहार, युक्त प्रान्त (उत्तर प्रदेश) और मध्य प्रदेश से मज़दूर भरती करके भेजे गए वहां पूर्वीय अफ़्रीका के प्रदेशों में विशेषतः पंजाब और गुजरात प्रान्त के भारतीयों का प्रवेश हुआ।

हिन्दी भाषियों और मद्रासियों ने उपनिवेशों में पहुंच कर अपने देश से सम्बन्ध विच्छेद कर लिया किन्तु गुजरातियों और पंजाबियों का अपनी मातृभूमि से नाता बना रहा। गुजराती धनोपार्जन के अभिप्राय से ही विदेशों में गए हैं वहां स्थायी रूप से बसने के लिए नहीं। किन्तु मद्रासी और हिन्दी भाषियों की वर्तमान पीढ़ी अपने बाप दादा के गांव के नाम भी भूल चुकी हैं। इस लिए ट्रीनीडाड, डमरारा, जनेका, ग्रानाड, फ़िजी, सुरीनाम, नेटाल, मोरिशस इत्यादि उपनिवेशों में हिन्दू धर्म और भारतीय संस्कृति के लोप होने की विशेष आशंका है परन्तु पूर्वीय अफ़्रीका के केनिया, यूगांडा, जंजीबार, टंगेनिका, मोजिम्बिक आदि प्रदेशों में हिन्दुत्व के लिए ऐसा कोई खतरा नहीं है।

केनिया

केनिया में शिक्षित हिन्दुओं के लिए अच्छा क्षेत्र था। उनको नौकरी चाकरी प्राप्त करने में कोई कठिनाई नहीं होती थी। वहां के सरकारी और खानगी दफ़्तरों में हिन्दू युवकों की एक अच्छी संख्या थी इन शिक्षित हिन्दू युवकों के साथ आर्यसमाज का सन्देश भी वहां पहुंचा। सब से पहले केनिया की राजधानी नैरोबी नगर में सन् १९०३ की तीसरी अगस्त को आर्य समाज की स्थापना हुई। इस समाज की उत्तरोत्तर उन्नति होती गई जो पंजाबियों के अदम्य उत्साह और गुजरातियों के धर्मानुराग का प्रत्यक्ष प्रमाण है। यहां आर्य समाज का ऐसा सुन्दर शोभाप्रद और भव्य मन्दिर है जिसके जोड़े का मन्दिर अफ़्रीका महाद्वीप तो क्या विदेशों में अन्यत्र कहीं भी नहीं है। इस मन्दिर के निर्माण में लाखों रुपए लगे हैं। आर्य समाज ने अलग मकान बनवा कर उसमें कन्या पाठशाला की स्थापना की है जो स्त्री शिक्षा की दृष्टि से नैरोबी में सर्वोत्तम संस्था है। इसके संचालन में बारह हज़ार रुपया वार्षिक व्यय होता है। डेढ़ सो से अधिक कन्याएं शिक्षा ग्रहण करती हैं। दशम श्रेणी तक पढ़ाने की व्यवस्था है। हिन्दी गुजराती और अंग्रेज़ी के सिवा सिलाई संगीत, पाकशास्त्र और धार्मिक शिक्षा भी दी जाती है। समाज के अधीन एक दुमंज़िली अतिथिशाला भी है जिसमें १३ कमरे हैं।

आर्य समाज के अन्तर्गत स्त्री समाज भी है जिसका नियमपूर्वक अधिवेशन होता है। समाज के पुस्तकालय में दो हज़ार से अधिक ग्रन्थ हैं और वाचनालय में औपनिवेशिक अखबारों के अतिरिक्त भारत से भी दैनिक साप्ताहिक और मासिक पत्र मंगाए जाते हैं। आर्य युवक सभा आर्य वीर दल, आर्य बैंड, रात्रि पाठशाला आदि संस्थाएं आर्य समाज के अन्तर्गत अत्यन्त लोकोपयोगी काम कर रही हैं। पूर्वीय अफ़्रीका की आर्य प्रतिनिधि सभा का मुख्य कार्यालय भी इसी समाज में है।

भारत से वहां अनेक उपदेशक जा चुके हैं और प्रायः जाते ही रहते हैं जिनमें स्वर्गीय स्वामी स्वतन्त्रतानन्द, श्री पूर्णानन्द, श्री महाराणी शंकर, श्री बालकृष्ण शर्मा, श्री मणिशंकर, श्री सत्यपाल सिद्धांतालंकार, श्री चमूपति एम. ए., श्री बुद्ध देव विद्यालंकार, श्री सत्यव्रत सिद्धांतालंकार, ठाकुर प्रवीण सिंह, डाक्टर भगत राम, श्री रविदत्त, श्री माथुर शर्मा, श्री हरिशंकर विद्यार्थी, श्री गंगाप्रसाद उपाध्याय, श्री आनन्द स्वामी तथा स्वामी आनंद मिश्र आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

केनिया में नैरोबी के बाद किसुमू के आर्य समाज का दूसरा दर्जा है। मोम्बासा बन्दरगाह से वहां सीधी रेलगाड़ी गई है। सन् १९१० में श्री मथुरादास और श्री पूर्णानन्द के उद्योग से इस समाज की स्थापना हुई थी। किसुमू आर्य समाज का मन्दिर लगभग पच्चीस हज़ार रुपए की लागत का है। समाज ने लगभग चालीस हज़ार रुपए लगा कर आर्य कन्या पाठशाला के लिए मकान बनवाया है जिस में अध्यापिकाओं के रहने के लिए भी व्यवस्था है। समाज ने श्रद्धानन्द आर्य पथिकाश्रम भी निर्माण कराया है जिसकी लागत लगभग सत्ताइस हज़ार रुपए है। इस समाज के अन्तर्गत स्त्री समाज और वाचनालय भी है।

केनिया में तीसरा उल्लेखनीय मोम्बासा का आर्य समाज है। मोम्बासा केनिया कालोनी का मुख्य बन्दरगाह है। आज से पाव सदी पहले मोम्बासा में आर्य समाज की स्थापना हुई थी। हाल ही में भव्य आर्य मन्दिर भी बन गया है। केनिया में प्रवेश और प्रचार करने वाले आर्योपदेशकों का मोम्बसा आर्य समाज ही सर्वप्रथम आगत स्वागत करने का श्रेय प्राप्त करता है। केनिया में नकुरू आदि स्थान ऐसे हैं जहां आर्य समाज तो नहीं है किन्तु आर्य भाई अवश्य रहते हैं और भारतीय उपदेशकों से प्रचार कराते रहते हैं।

युगाण्डा

केनिया से सटा हुआ युगाण्डा प्रदेश है यहां लगभग पन्द्रह हज़ार भारतीयों की आबादी है। इन में कुछ व्यापार करते हैं और कुछ नौकरी। केनिया की भांति यहां भी गुजराती और पंजाबियों का बसेरा है।

युगाण्डा प्रदेश में कम्पाला, नामक एक नगर है जो व्यापार के विचार से बड़ा महत्वपूर्ण है। यहां सन् १९०८ में ही श्री पूर्णानन्द ने आर्य समाज की स्थापना की थी किन्तु सच्चे कार्यकर्ताओं के अभाव से उसका प्रभाव विलीन हो गया था। सन् १९१२ में समाज का पुनरुद्धार हुआ और नियम पूर्वक काम चलने लगा। विश्वव्यापी प्रथम महा युद्ध में समाज फिर शिथिल हो गया और सन् १९२० के बाद समाज में नवजीवन आया। सन् १९२९ में कम्पाला में आर्य समाज मन्दिर का निर्माण हुआ। श्री सुन्दरसिंह कालसी ने मन्दिर के लिए भूमि दान में दी और उसी भूमि में पैंतीस हज़ार रुपए लगा कर

आर्य मन्दिर बनाया गया। इस कार्य में युगाण्डा के प्रसिद्ध व्यापारी सेठ नानजी कालिदास मेहता ने सब से अधिक आर्थिक सहायता दी थी। समाज में एक वाचनालय भी है उनमें से ज़िले को यथेष्ट लाभ पहुंचता है।

युगाण्डा में दूसरा आर्य समाज जिजा में है। तीसरा आर्य समाज मवेल में है। इसकी स्थापना सन् १९२८ में हुई थी, समाज के आधीन एक आर्य पाठशाला भी है। युगाण्डा प्रदेश में आर्य समाज का प्रचार और विस्तार का अधिकांश श्रेय सेठ नानजी कालिदास मेहता को है वे करोड़ों का कारोबार करते हैं। अपनी जन्मभूमि पोरबन्दर में वे अपने खर्च से एक आर्य कन्या गुरुकुल भी चला रहे हैं। प्रवासी हिन्दुओं में वैदिक धर्म प्रचारार्थ नानजी भाई ने काफ़ी खर्च किया है।

आर्य समाज के प्रसिद्ध प्रचारक श्री पूर्णानन्द, स्वामी स्वतन्त्रानन्द, आचार्य राम देव, श्री ईश्वर दत्त विद्यालंकार, श्री बालकृष्ण शर्मा, श्री मणिशंकर, डाक्टर भगवत राम, महता जैमिनीजी, श्री हरिशंकर विद्यार्थी, ठाकुर प्रवीणसिंह, श्री सत्यपाल सिद्धान्तालंकार आदि ने युगाण्डा के प्रवासी भाइयों में वैदिक धर्म का यथा समय प्रचार कर आर्यत्व का गौरव बढ़ाया है।

जंजीबार

मोम्बासा से बारह घंटे में स्टीमर जंजीबार पहुंच जाता है। यह एक छोटा सा द्वीप है जो लोग की खेती और कारवार के कारण भारत में बहुत प्रसिद्ध है। यद्यपि यह द्वीप सुलतान का है तो भी शासन सूत्र ब्रिटिश रेज़ीडेंट के हाथ में है। जंजीबार छोटा द्वीप होते हुए भी व्यापार का भारी केन्द्र है। सन् १९३१ में वहां भारतीयों की संख्या १५२४६ थी। यह एक ऐसा शहर है जो भारत का ही एक खंड प्रतीत होता है। इसकी बनावट और सजावट भी भारत के पुराने शहरों की अनवर्ती है। जंजीबार में प्रवेश करने पर नवीन आगन्तुक को यही भासित होगा कि वह अफ़्रीका के नहीं प्रत्युत भारत के ही किसी कोने में विराजमान है।

यहां आर्य समाज की स्थापना सन् १९०७ में हुई थी। तत्कालीन आर्य बन्धुओं ने इसकी स्थापना में पर्याप्त परिश्रम किया था जिन में श्री भानजी दयाल, श्री रावजी नानजी, श्री गोकुलदास, श्रीहंसराज प्रभृति की सेवाएं स्तुत्य हैं। इसके बाद श्री केशवलाल हरी लाल हिम्मतपुरा, सेठ केशवजी, आनन्दजी, श्री करसन पाला गढ़वी आदि आर्य भाइयों ने इस समाज की प्रगति में विशेष सहायता पहुंचाई। इस समय जंजीबार में आर्य समाज एक लोकप्रिय संस्था है।

जिस जगह पर ग़ुलामों का बाज़ार लगता था हब्शी दासों की खरीद और बिक्री होती थी, अवज्ञा करने पर उनका वध किया जाता था ठीक उसी ज़मीन पर आर्य समाज मन्दिर बना है। वेद की ऋचाएं पढ़ी जाती हैं यज्ञ होते हैं, मानसिक ग़ुलामी के विरुद्ध क्रान्ति की लपटें निकलती हैं और स्वतन्त्रता की भावना का प्रचार होता है। जो भूमि किसी समय परवश ग़ुलामों के आंसू और खून से सींची जाती थी वही भूमि आज आज़ादी का पैग़ाम सुना रही है। कैसा अद्भुत संयोग है। इस ज़मीन पर जंजीबार के सुलतान की उदारता से ही आर्य मन्दिर का निर्माण हो सका है।

जंजीबार का आर्य मन्दिर दुमंजिला है। प्रचारकों और अभ्यागतों के ठहरने के लिए अतिथि-शाला भी है। समाज का वाचनालय भी लोकोपयोगी सिद्ध हो रहा है। किन्तु समाज का सब से

महत्वपूर्ण कार्य है आर्य कन्या पाठशाला का संचालन। इसमें बिना किसी भेदभाव के सभी सम्प्रदाय की लडकियां प्रवेश हो सकती हैं और यहां की शिक्षा प्रणाली से लाभ उठा सकती हैं। यद्यपि खोजा लोगों की अपनी अलग कन्या पाठशाला है तो भी अनेक खोजा लडकियां इस आर्य कन्या पाठशाला में पढ़ती हैं। खोजा मुसल्मानों का एक ऐसा सम्प्रदाय है जो आग़ा खां को अपना पैगम्बर मानता है। जंजीबार में इसकी बहुत बड़ी आबादी है और प्राय: सभी खोजे व्यापार करते हैं। आर्य समाज के प्रति इनमें विशेष विद्वेष नहीं पाया जाता। यहां से 'जंजीबार वायस' और 'समाचार' नामक दो भारतीय अखबार अंग्रेज़ी और गुजराती में निकलते हैं और इनमें समय समय पर आर्य समाज की प्रवृत्तिकी खबरें छपा करती हैं।

भारत से जितने उपदेशक केनिया और युगाण्डा में प्रचारार्थ गए उनके उपदेशों में जंजीबार निवासी वंचित नहीं रहने पाए। यहां के आर्य समाज ने आचार्य रामदेव, श्री ईश्वरदत्त विद्यालंकार, महता जैमिनी जी, श्री सत्यापाल सिद्धान्तालंकार, डाक्टर भगतराम, ठाकुर प्रवीण सिंह, श्री आनन्द प्रिय, श्री महाराणी शंकर, श्री हरिशंकर विद्यालंकार, श्री मणिशंकर, श्री गंगा प्रसाद उपाध्याय आदि आर्य प्रचारकों को समय समय पर आमन्त्रित कर जनता को उनके व्याख्यानों से लाभान्वित किया है।

टंगेनिका

जंजीबार के समीप ही टंगेनिका नामक प्रदेश है। पूर्वकाल में यह जर्मनी का उपनिवेश था किन्तु महायुद्ध के बाद राष्ट्र संघ ने इसका शासन सूत्र ब्रिटिश सरकार को सौंप दिया। इस प्रदेश की राजधानी सब से बड़ा शहर और बन्दरगाह का नाम दारस्सलाम है। टंगेनिका प्रदेश के उत्तर में केनिया और युगाण्डा हैं। पश्चिम की ओर बेलजियम, कांगो, रोडेसिया और न्यासालैंड है, पूर्व में हिन्दू महासागर और दक्षिण दिशा में पुर्तगीज़ पूर्व अफ्रिका है इसका क्षेत्र फल ३६५००० वर्ग मील है और सन् १९३१ में टंगेनिका में २३४२२ भारतीयों की आबादी थी।

सन् १९१९ में दारस्सलाम नगर में आर्य समाज का विधि पूर्वक प्रतिष्ठान हुआ। स्वर्गस्थ श्री करसनदास द्वारकादास ने इस समाज की स्थापना और उत्तरोत्तर उन्नति में विशेष रूप से योग दिया था। यहां का समाज मन्दिर भव्य और आकर्षक है उसके निर्माण में तीस हज़ार रुपए के लगभग खर्च हुए हैं। मन्दिर दुमंजिला है। समाज की ओर से संचालित देवकुंवर आर्य कन्या पाठशाला प्रवासी आर्यों के लिए गौरव स्तम्भ है।

टंगेनिका प्रदेश में दारस्सलाम के अतिरिक्त टबोरा और म्वांजा शहर में भी आर्य समाज है। इनका नियमित अधिवेशन होता है और इनके द्वारा भारतीय जनता में वैदिक धर्म का निरन्तर प्रचार होता रहता है। इस प्रदेश में अनेक विद्वानों ने वैदिक धर्म का प्रचार किया है जिनमें स्वामी स्वतन्त्रानन्द, आचार्य राम देव, श्री ईश्वरदत्त विद्यालंकार, श्री सत्यपाल, श्रीमती शन्नो देवी, मेहता जैमिनी श्री आनन्दप्रिय, डाक्टर भगतराम, ठाकुर प्रवीण सिंह आदि मुख्य हैं।

टंगेनिका में आर्य समाज की गौरव वृद्धि करने में सेठ मथुरा दास कालिदास मेहता का विशेष भाग है। इनकी सरलता, उदारता और दानशीलता से समाज को बहुत कुछ लाभ हुआ है। आप ही के कर कमलों से आर्य समाज मन्दिर की बुनियाद पड़ी थी। आपके सिवाय श्री गोविन्द जी पुरुषोत्तम

श्री शालिग्राम, श्री ऊधव भाई, कानजी जयराम, नानूराम शर्मा आदि के सत्याहस, सदुद्योग और सेवा से दारस्सलाम में वैदिक धर्म की पताका शान से फहरा रही है।

पोर्तुगीज़ पूर्व अफ़्रीका—

टंगेनिका की दक्षिण सरहद पर पोर्तुगीज़ पूर्व अफ़्रीका है। इस प्रदेश का क्षेत्रफल २९७७३५ वर्ग मील है। जन संख्या ४००६०११ है जिनमें ३९६०२६१ तो केवल मूल निवासी हब्शी हैं और शेष ४५७५० विदेशी लोग हैं। भारतीयों की संख्या ८३०४ है जिनमें ४४८४ पोर्तुगीज़ भारतीय और ३८२० ब्रिटिश भारतीय हैं। पोर्तुगीज़, भारतीयों में कुछ नौकरी करते हैं और कुछ मकान आदि बनाने का स्वतन्त्र धंधा। ब्रिटिश भारतीयों में कुछ थोक और फुटकर माल के व्यापारी हैं कुछ शाकभाजी तथा फलफूल की फेरी करते हैं और कुछ ऐसे भी हैं जो नौकरी से निर्वाह करते हैं।

लगभग पौन सदी पहले भारतीयों ने इस प्रदेश में पहले पहल प्रवेश किया था। उन्होंने केवल शहरों और गांवों में ही डेरा नहीं जमाया प्रत्युत ऐसे बीहड़ वनों में भी अपने कारोबार का जाल फैलाया, जहां और किसी में जाने की हिम्मत नहीं थी। वे वहां स्थायी रूप से बसने के विचार से नहीं गए थे किन्तु धन कमाकर स्वदेश लौट आना ही उनका एक मात्र लक्ष्य था। इसलिए स्त्री बच्चों को साथ ले जाना उनको उचित नहीं जंचा। नैतिक दृष्टि से इसका बड़ा बुरा परिणाम हुआ। अनेक प्रवासी भाइयों ने हब्शी औरतों से नाजायज़ संबन्ध कर लिया। बड़े बड़े सेठ साहूकार इस पाप पंक में फंस गए, यहां तक कि जो महज़ नौकरी करने की गरज़ से आते थे भारत से दो चार साल के लिए शर्त बन्दी लिखा कर उनके गले भी हब्शी औरत मढ़ दी जाती थी। इससे सेठ को बहुत फ़ायदा होता था। एक तो नौकर को कामवासना की तृप्ति के लिए इधर उधर बदमाशी के फ़िराक में घूमने की ज़रूरत नहीं पड़ती थी और दूसरे थोड़े दाम में सदा के लिए एक दासी मिल जाती थी जो घर में झाड़ू लगाती, बर्तन मांजती, कपड़े फींचती और दुकान में भी काम करती। इस प्रकार दिन भर सेठ की सेवा करती और रात में उसके नौकर की काम वासना की तृप्ति भी। इन्होंने अपने वर्णसंकर बच्चों को ईसाई और मुसल्मानों को सौंपा। यह रिवाज़ चल पड़ा कि जहां हिन्दू के घर में वर्णसंकर बच्चा पैदा हुआ, फ़ौरन उसका नाम मुसल्मानी नाम पर धर दिया गया और कुछ बड़े होने पर बलात् उसको मसजिद अथवा गिरजे में पहुंचा दिया गया। आज वे वर्णसंकर अपने मुसल्मानी नाम के साथ हिन्दू पिता के नाम जोड़ कर हिन्दुओं की अदूरदर्शिता संकीर्णता, और हृदय हीनता का खुले आम डंका पीट रहे हैं। पोर्तुगीज़ पूर्व अफ़्रीका में सात आठ हज़ार ऐसे वर्णसंकर मिलेंगे।

यद्यपि इस प्रदेश के एक ओर दक्षिणीय अफ़्रीका में और दूसरी और ब्रिटिश पूर्वीय अफ़्रीका में उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ से ही वैदिक धर्म का प्रचार हो रहा था किन्तु दुर्भाग्यवश उसके प्रभाव से यह प्रदेश सर्वथा वंचित रहा। यहां के कुछ प्रगतिशाली व्यक्तियों को यह स्थिति खटक रही थी। निदान सन् १९३२ में पोर्तुगीज़ पूर्व अफ़्रीका की राजधानी लोरेन्सो मार्क्विस में भारत समाज की स्थापना हुई और सरकारी नियमानुसार रजिस्ट्री भी हो गई। भारत समाज ने आर्य समाज के सिद्धान्त, नियम और उद्देश्य को अपनाया। सन् १९३३ में भारत समाज ने अपने प्रथम वार्षिकोत्सव पर लगभग एक दर्जन बच्चों को शुद्ध कर भविष्य के लिए मार्ग खोल दिया।

सन् १९३७ में वेद मन्दिर का शिलान्यास हुआ। इस वेद मन्दिर के निर्माण में पचास हजार रुपए खर्च हुए हैं। यह मन्दिर अत्यन्त सुन्दर है मन्दिर के अन्तर्गत भारतीय पाठशाला है जिसमें बालकों को हिन्दी, गुजराती और पोर्तुगीज़ भाषा की शिक्षा दी जाती है। वेद मन्दिर में पुस्तकालय और वाचनालय भी है। स्वयं सेवक दल और व्यायाम शाला भी इसके विशेष अंग हैं।

भारत समाज की स्थापना के बाद दक्षिण अफ़्रीका जाने वाले प्राय: सभी आर्य प्रचारकों के उपदेश से यहां की जनता लाभान्वित होती रही है। भारत समाज में अब तक अनेक वर्णसंकर बच्चों की शुद्धि हो चुकी है जिनमें से एक लड़की पोरबन्दर के कन्या गुरुकुल में है और एक बालक सोनगढ़ के गुरुकुल में शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं। नियम पूर्वक हवन और साप्ताहिक सत्संग होता है। वेद मन्दिर में अतिथिशाला भी है।

पोर्तुगीज़ पूर्व अफ़्रीका में तीन मुख्य शहर हैं लोरेन्सो मार्क्विस, मोम्बिका और बैरा। इनमें से लोरेन्सो मार्क्विस के वेद मन्दिर और भारत समाज का वर्णन हो चुका। मोजिम्बिका एक छोटे से द्वीप में बसा हुआ बहुत छोटा शहर है। वहां कुछ काठियावाड़ी व्यापारियों के सिवा सार्वजनिक कार्यकर्ताओं का सर्वथा अभाव है। हां बैरा में जो रोडेसिया आने जाने का मुख्य बन्दरगाह है कुछ उत्साही प्रवासी भाइयों के उद्योग से आर्य समाज क़ायम हुआ और कुछ कार्य भी हुआ। परन्तु बाद को वह शिथिल होगया।

पोर्तुगीज़ पूर्व अफ़्रीका में भारत समाज ही एक ऐसी संस्था है जो वैदिक धर्म का सन्देश वाहक है। आर्य संस्कृति का अग्रदूत है नवयुग का प्रतीक है और हिन्दुओं के भविष्य का एकमात्र भरोसा है।

बर्मा

कुछ वर्ष पूर्व ब्रह्मदेश हमारी मातृभूमि का राजनीतिक दृष्टिकोण से एक अंग माना जाता था किन्तु ब्रिटिश सरकार ने अपने भविष्य के विचार से उसको भारत से पृथक् करना ही श्रेयस्कर समझा, अतएव ब्रिटिश पार्लियामेंट के एक क़ानून द्वारा बर्मा एक स्वतन्त्र देश बन गया। द्वितीय महायुद्ध से पहले बर्मा में भारतीयों की बहुत बड़ी संख्या थी। बर्मा को यदि भारत से कोई अलग करता है तो वह है केवल बंगाल का उपसागर। बर्मा के मूल निवासी बौद्ध धर्मावलम्बी हैं। साहित्य और प्रचारक के अभाव से उनमें वैदिक धर्म का प्रचार तो नहीं हो सका किन्तु जो भारतीय वहां जा बसे थे उन्होंने अपने आत्मिक कल्याण और अपनी भावी पीढ़ी के उत्थान के लिए आर्य समाज की स्थापना अत्यावश्यक समझी।

अतएव बर्मा के रंगून, पेगो, मांडले मीनवा, शीवो, हुपन, मचीना, थियाजी, मीमो लाशू निमटुंकल्ल और यम्बू नामक तेरह शहरों और कस्बों में आर्य समाज स्थापित हुए। इन समाजों के संगठन और एकत्रीकरण के अभिप्राय से आर्य प्रतिनिधि सभा भी क़ायम की गई। आर्य समाज का नियम बर्मी भाषा में अनूदित हुआ और श्री चुन्नीलाल ने 'सत्यार्थप्रकाश' को ब्रह्मी भाषा में उल्था करने का कार्यारंभ किया। रंगून में दो आर्य समाज मन्दिर थे और एक दयानन्द वैदिक स्कूल।

मांडले में भी शानदार आर्य समाज था। इस समाज ने जनता की स्तुत्य सेवाएं की थी। रंगून से इसका कार्यक्षेत्र कुछ कम विस्तृत नहीं था। मांडले आर्य समाज के अधीन एक आर्य अनाथालय था। इसके सिवा हाई स्कूल, रात्रि पाठशाला और कन्या विद्यालय का संचालन भी समाज द्वारा हो रहा था।

जापान के आक्रमण और अधिकार के बाद बर्मा से भारतीयों का अस्तित्व ही लुप्त हो गया था। वहां से कोई पांच लाख से अधिक भारतीय स्वदेश भाग आए थे उनका सर्वस्व नष्ट हो गया था और उनके साथ ही आर्य समाज का भी नाम निशान मिट गया था।

सार्वदेशिक सभा ने आर्य समाज की सम्पत्ति के जीर्णोद्धार और पुनः प्राप्ति के लिए यत्न किया। सेना विभाग से पर्याप्त पत्र व्यवहार हुआ जिसके फल स्वरूप कई आर्य समाजों और संस्थाओं की सम्पत्ति उन लोगों के कब्ज़े से मुक्त कराई गई जिन्होंने उस पर अवैध अधिकार कर लिया था। परमात्मा की कृपा से ब्रह्मदेश में आर्य समाज का कार्य पुनः आरम्भ हो गया है। सार्वदेशिक सभा के भूतपूर्व मन्त्री श्रीयुत गंगाप्रसाद उपाध्याय तथा सभा के उपदेशक श्रीयुत मदन मोहन विद्यासागर १९५२-५३ में प्रचार कार्य कर आए हैं जिसका समाज की शक्ति के विस्तार और केन्द्रीयकरण की दृष्टि से अच्छा प्रभाव पड़ा है।

श्याम (थाईलैंड)

ब्रह्मदेश की सीमा पर श्याम देश है जो आज कल थाईलैंड के नाम से भी प्रख्यात है। इसका भारत से धार्मिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध बहुत पुराना है। महाभारत के पश्चात् भारतीयों के वहां जाने का इतिहास मिलता है। श्यामी आख्यायिकाओं तथा भारतीय पुराणों में भी इस सम्बन्ध का वर्णन है।

श्याम में लगभग पांच हज़ार भारतीय बसते हैं उनमें कुछ तो व्यापार करते हैं और कुछ दरबानी या मज़दूरी। व्यापारियों में कुछ दुकानदार हैं और कुछ फेरी करने वाले। बिहार, युक्त प्रदेश और पंजाब के हिन्दू और गुजरात के कुछ मुसल्मान श्याम में दृष्टिगोचर होते हैं। मज़दूरों में अधिकांश मद्रासी और कुछ गोरखे हैं। बैंकॉक इस की राजधानी है। बैंकॉक में २३ मई १९२० को आर्य समाज की स्थापना हुई।

इसकी पहली बैठक बैंकॉक नगर के सिपिया रोड़ पर स्थित श्री सीताराम के घर पर हुई और उसका पहला वार्षिकोत्सव सन् १९२१ में होली के अवसर पर हुआ था। समाज मन्दिर का अभाव खटक रहा था। सन् १९२२ में इस अभाव की पूर्ति के लिए अपील की गई। जनता ने इस महत्वपूर्ण कार्य में पूर्ण योग दिया। सालभर में आर्य मन्दिर बन कर तैयार भी हो गया और सन् १९२३ में समाज का तृतीय वार्षिकोत्सव इसी नव्य भव्य मन्दिर में मनाया गया।

बैंकॉक की आम जनता में आर्य समाज का काफ़ी प्रभाव है। युक्त प्रान्त और बिहार के पढ़े लिखे लोग अधिकतर आर्य समाज के सदस्य हैं और उनके शरीर पर खद्दर के कपड़े दृष्टिगोचर होंगे। जब राजा महेन्द्र प्रताप श्याम गए थे और ब्रिटिश राजदूत की प्रेरणा से उनको देश छोड़ने का आदेश हुआ और वह भी ४८ घंटे के अन्दर तब आर्य समाज के कार्यकर्ताओं ने ही अनेक आपदाओं को झेलते हुए भी राजा जी का शानदार स्वागत किया और उनको प्रेम पूर्वक विदाई दी।

मलाया

मलाया देश की राजधानी और मुख्य बन्दरगाह है सिंगापुर। कुछ वर्ष पूर्व दरयाई दलदल और सघन बन से यह स्थान आच्छादित था किन्तु अब उसका रूप ही बदल गया है। यहां १४ साल तक तीन हज़ार मज़दूरों ने लगातार मेहनत करके जहाज़ी अड्डा तैयार किया है जिसके बनने में साढ़े छब्बीस करोड़ रुपए खर्च हुए हैं जिसमें ३३ लाख घनगज़ की खुदाई हुई और ८० लाख घनगज़ मिट्टी से दलदल भरे गए हैं। इसके बाद सिंगापुर में रेल पार्क मकान और बड़े बड़े कारखाने बने और यह शहर प्रसिद्ध हो गया।

सन् १९२७ में यहां डाक्टर भगतराम सहगल के सदुद्योग से आर्य समाज की स्थापना हुई। किराए के मकान में समाज का साप्ताहिक अधिवेशन होता रहा। एक मकान आर्य मन्दिर के लिए खरीदा गया था।

मलाया में भारतीयों की संख्या सन् १९३१ में लगभग ६ लाख थी किन्तु इन में अधिकांश मद्रासी मजदूर ही हैं। सिंगापुर आर्य समाज में विशेषतः युक्त प्रान्त और बिहार के लोग सम्मिलित रहे हैं।

मलाया में सिंगापुर के सिवा इपो और तंजुमुतान में भी आर्य समाज है। कोलालाम्बपुर के निकट ही इपो है। समाज मन्दिर स्टेशन के पास ही है। समाज के अधीन एक हिंदी स्कूल भी है। इस समाज में मद्रासी भाइयों की अच्छी संख्या है। तंजुमुतान के आर्य समाज द्वारा भी जनता लाभान्वित हो रही है। मलाया भर में केवल तीन ही आर्य समाज है सिंगापुर, इपो और तंजुमुतान में।

सुमात्रा और जावा

गत महायुद्ध से पूर्व जावा और सुमात्रा हालैंड की डच सरकार के अधिकार में था। अतएव इसका नाम ही डच ईस्ट इंडीज़ पड़ गया है। सन् १९३० में यहां भारतीयों की कुल संख्या २७६३८ थी जिनमें १९७०१ पुरुष और ७९३७ स्त्रियां थीं। भारतीयों में अधिकांश व्यापारी हैं और कुछ चाय एवं कहवा के खेतों में मजदूरी करते हैं। किसी समय जावा और सुमात्रा पूर्व एशिया में बौद्ध धर्म और आर्य संस्कृति का केन्द्र था। वहां का प्राचीन साहित्य और मन्दिर आज भी उस युग की याद दिला रहे हैं। किन्तु पीछे से वहां के निवासी मुसल्मान हो गए।

मेदन शहर में ही अधिकांश भारतीय बसते हैं अतएव इस नगर में आर्य समाज भी स्थापित है। राय साहब हकीम भक्तराम के उद्योग से वहां प्रचार कार्य होता रहता है। भारत से अनेक उपदेशक जावा और सुमात्रा का सैर-सपाटा और वहां प्रचार कर आए हैं किन्तु उनका प्रचार भारतीयों में ही सीमित रहा है।

ईराक

महायुद्ध के बाद से ईराक ब्रिटिश सरकार के प्रभाव के अन्तर्गत एक स्वतन्त्र मुस्लिम राज्य बन गया है। इस प्रदेश में तीन मुख्य शहर हैं जिनका नाम बग़दाद, बसरा और मोसल हैं। सन् १८५६ में अवध पर अंग्रेज़ों के अधिकार होने के बाद राज घराने तथा अनेक अमीर उमरावों के परिवार ईराक में जा बसे। यद्यपि इन हिन्दुस्तानी मुसल्मानों को अब पहचानना कठिन है क्यों कि उन्होंने ईराकियों के रस्मोरिवाज़ और रहन सहन अपना लिए हैं फिर भी वे अपनी भारतीय राष्ट्रीयता को बनाए हुए हैं और अपनी मातृभूमि से उनका सम्बन्ध टूटा नहीं है। सन् १९१४ की लड़ाई के समय वहां सभी वर्ग के भारतीय फ़ौजी काम से गए और लड़ाई के बाद बहुत से वहां स्थायी रूप से बस भी गए।

सन् १९३२ में ईराक में २५९६ भारतीय थे जिनमें ६० प्रतिशतक तो वहां के स्थायी निवासी बन गए हैं। सन् १९१९ में कुछ उत्साही आर्य पुरुषों के उद्योग से आर्य समाज की स्थापना बग़दाद नगर म हुई जिसकी सन् १९२२ में रजिस्ट्री भी हो गई। इस समय बग़दाद में दो आर्य समाज हैं। सन् १९३० में बग़दाद का आर्य समाज देहली की सार्वदेशिक सभा में सम्मिलित हो गया। आर्य समाज में सभी आवश्यक पर्व मनाए जाते हैं जिसमें महिलाएं भी भाग लेती हैं।

ईराक में अनेक उपदेशक जा चुके हैं। उनके उपदेशों से समाज की शक्ति बढ़ी है। समाज के अधीन एक पुस्तकालय भी है जिसमें वैदिक साहित्य का अच्छा संग्रह है। स्वर्गीय स्वामी मंगलानन्द ने पुराने

ईराक में कुछ दिनों तक वैदिक धर्म प्रचार किया था और वहीं के आर्य भाइयों की आर्थिक सहायता से अपना अफ्रीका यात्रा नामक ग्रन्थ छपवाया था।

लन्दन प्रचार

लन्दन में स्वर्गीय टेक चन्द्र आर्य समाज का कार्य निजी रूप में करते रहते थे। उनकी मृत्यु के पश्चात् इस कार्य की भी इतिश्री हो गई थी। १९५३ में ब्र० उषर्बुध और उसके पश्चात ब्र० धीरेन्द्र शील शास्त्री अध्ययन तथा संस्कृत ग्रन्थों के अनुसंधान के लिए वहां पहुंचे। इन दोनों के सत्प्रयत्न के फलस्वरूप अंग्रेज लोग आर्य समाज के नाम से तथा सिद्धान्तों से परिचित हुए हैं। अब दिन पर दिन यह कार्य बढ़ता जा रहा है। गत वर्ष वहां नियमित आर्य समाज की स्थापना हो गई है जिसके लगभग १५ अंग्रेज नर-नारी सदस्य भी हैं।

उपसंहार

विदेशों में जहां जहां आर्य समाज की स्थापना हो चुकी है और उनके द्वारा संगठित और सुचारु रूप से प्रचार कार्य हो रहा है उन देशों का क्रमेण वर्णन संक्षेप में हो चुका है किन्तु संसार में और भी अनेक ऐसे देश हैं जहां आर्योपदेशकों ने पहुंच कर प्रचार तो किया किन्तु परिस्थिति की प्रतिकूलता के कारण आर्य समाज की स्थापना नहीं हो सकी और यदि कहीं समाज बना भी तो उस नक्षत्र की भांति मिट गया जो एक बार गगन में चमक कर तत्क्षण अस्त हो जाता है।

हम सिलोन (लंका) से ही इस प्रकरण को आरम्भ करते हैं। सन् १९२९ में श्री स्वामी शंकरानन्द वहां गए थे। आपने कोलम्बो के सिवा मुनीश्वरम् केण्डी, नवारेलिया, सीता एलिया, ट्रन्कोमाली, अनुराधपुर, जाकाना आदि स्थानों में पर्यटन और प्रचार किया किन्तु वहां आर्य समाज या कोई ऐसी संस्था स्थापित नहीं हो सकी जो स्वामी जी के लौटने के बाद वैदिक धर्म प्रचार के काम को जारी रख सकती।

अमेरिका में स्वर्गीय केशवदेव शास्त्री ने जिस लगन और उत्साह से प्रचार किया था उससे आर्य जनता अपरिचित नहीं है। उन्होंने न्यूयार्क, वाशिंगटन, बोस्टन आदि नगरों में वैदिक धर्म पर अनेक व्याख्यान दिए थे किन्तु स्वामी विवेकानन्द के वेदान्त मठ की भांति शास्त्री जी वहां आर्य समाज को स्थायी बनाने में समर्थ और सफल नहीं हो सके।

आर्य समाज ने विदेशों में प्रवासी भाइयों के अन्दर धर्म प्रचार, समाज सुधार और शिक्षा विस्तार का जो आश्चर्य जनक कार्य किया है उसके सामने सभी का श्रद्धा से सिर झुक जाता है किन्तु यह ध्यान से ओझल नहीं करना चाहिए कि आर्य समाज का कार्य प्रवासी भारतीयों तक ही सीमित रहा है उससे आगे एक डग भी नहीं बढ़ सका है। विदेशों के मूल निवासियों में आर्य समाज का बिलकुल प्रचार नहीं हो सका है। मोरीशस, फ़िजी, नैटाल, टंगेनिका, युगाण्डा, जंजीबार, ट्रिनीडाड, सुरीनाम, डमरेरा, मोम्बिका आदि उपनिवेशों में सैकड़ों आर्य समाज स्थापित हो चुके हैं और दिन पर दिन उसका क्षेत्र और प्रभाव बढ़ता जाता है किन्तु इनमें एक भी ऐसा समाज नहीं है जिसका वहां के मूल निवासियों से सम्बन्ध हो।

रघुनाथ प्रसाद पाठक
सार्वदेशक आर्य प्रतिनिधि सभा, देहली

इंडियन नॅशनल कांग्रेस

सिकन्दराबाद की एक सभा का विवरण १८८८ ई.

अपने अनुसंधान कार्य में मुझे नॅशनल कॉंग्रेस के सम्बन्ध में अनेक तथ्यों का पता चला है। राष्ट्रीय आन्दोलन में सिकन्दराबाद ने किस प्रकार का भाग लिया था और जो अब तक प्रकाश में नहीं आ सका, मैं पाठकों की सेवा में प्रस्तुत कर रहा हूं।

सन् १८८८ ई. में छोटी छोटी समितियां बनायी गईं और एक सभा के आयोजन की सूचना के लिए विज्ञापन और पत्रिकाएं निकाली गईं। स्थानीय समाचार पत्रों में भी प्रचार हुआ। उनमें से एक समाचार पत्र का समाचार निम्न प्रकार है :—

"नॅशनल कॉंग्रेस"

जनता को यह सूचित करने के लिए हमसे अनुरोध किया गया है कि इसी मास की २१ तारीख को आगामी रविवार के दिन सायं ५ बजे उक्त संस्था के तत्वावधान में सिकन्दराबाद सदर अमीन कचहरी (चावड़ी) के सामने एक सभा का आयोजन किया गया है। समितियों की ओर से अंग्रेज़ी, उर्दू और तेलुगु में

सूचनाएं प्रसारित की जाएंगी। हर मोस्ट ग्रेशस मेजेस्टी महारानी सम्राज्ञी की समस्त राजभक्त, प्रजा को इस अवसर पर आमंत्रित किया जाता है। *

गत सूचनानुसार * सदर अमीन कचहरी सिकन्दराबाद के सामने उक्त आन्दोलन के सिलसिले में कल सायंकाल को एक सभा आयोजित हुई थी। इस कार्य के लिए एक शामियाना लगाया गया था किन्तु श्रोताओं की अधिक संख्या बाहर ही बैठी थी। सभा में भाग लेने वालों की संख्या २००० से ऊपर थी तथा सम्पूर्ण कार्यवाही शान्ति से पूर्णता को पहुंची। यह सभा निश्चित रूप से पूर्ण प्रतिनिधि थी। उपस्थित रहने वालों में से उल्लेखनीय नाम हैं—सर्व श्री सी. रामचन्द्र पिल्ले वकील, ऐदलजी सोहराबजी चिनाय, हाजी सज्जनलाल, डोंडिगल्ला कृष्णम्मा, बेज्रोन्जी एडरजी वकील, चिर कोण्डा रामचन्द्रय्या, गंगाबिशन मिर्जादूर्डी, चन्द्रकोण्डा रंगय्या, गोपार्थी लक्ष्मय्या, वेणुगोपाल पिल्ले, वेड्डाल वीरण्णा, इस्माइल साहब मीरवन्जी मियां, हुसन खां साहब, हकीम सजन साहब, जगन्नाथ जी (बंसीलाल-एंड कं. बैंकर्स) हाजी शेख आदम, हाजी मूसा, मुत्याल रामण्णा, हाजी ख्वाजा मियां तथा डॉ. नबी खां इत्यादि।

श्री ऐदलजी सोहराबजी चिनाय के प्रस्ताव तथा श्री रामचन्द्र पिल्ले के अनुमोदन के पश्चात् श्री बी. कृष्ण आयंगार, सॉलिसीटर मद्रास हाई कोर्ट तथा सदस्य, रेजीडेंसी लोकल फ़ण्ड बोर्ड सभापति निर्वाचित हुए।

श्री कृष्ण आयंगार ने सभापतित्व का आसन ग्रहण करते हुए कहा कि।

उन्हें इस बात से अपार आनन्द हुआ कि इतनी बड़ी संख्या में लोग एकत्रित हुए और उन्होंने सभापतित्व के लिए उनका चुनाव किया। इस अवसर के लिए वे तैयार नहीं थे और न उन्होंने उस दिन की सभा की भांति बड़ी बड़ी सभाओं में भाषण दिया है। ऐसे अवसर पर उन्हें अपने कर्तव्य पालन में बड़ी कठिनाई अनुभव हो रही है। उन्होंने आगे यह कहा कि उस सभा का उद्देश्य यह था कि 'इण्डियन नैशनल कॉंग्रेस' के नाम से चलने वाले आन्दोलन से अपनी सहानुभूति प्रकट करना है, जिसके बारे में भारत में सर्वत्र उससे बड़ी सभाओं में चर्चा हो चुकी है। श्रोताओं को यह बतलाने की वे आवश्यकता नहीं समझते

*हैदराबाद रिकार्ड, दिनांक १९ अक्तूबर, १८८८ ई.

टिप्पणी :—हैदराबाद नगर में भी जनता इसी उद्देश्य से एक सभा का आयोजन कर रही थी। एक समाचार पत्र लिखता है—

> "हमें यह ज्ञात हुआ है कि कॉंग्रेस के उद्देश्य तथा लक्ष्य पर चर्चा करने के लिए चादरघाट में एक सभा के आयोजन का विचार किया जा रहा है।"

भारतीय भाषा का एक स्थानीय पत्र लिखता है कि रेजीडेंट से एक सभा को आमंत्रित करने की आज्ञा मांगी जाएगी। एक बार जब कि बम्बई हाई कोर्ट ने हिज़ हायनेस निज़ाम सरकार के इंस्पेक्टर जनरल पुलिस से लोकल गवर्नमेंट का अर्थ पूछा गया था तो उत्तर में उन्होंने, कहा था-रेजीडेंसी। अतः हमें मालूम होना चाहिए कि इस राज्य में किसी सार्वजनिक सभा की आज्ञा रेजीडेंट से प्राप्त करना आवश्यक है। (हैदराबाद रिकार्ड, २६ सितम्बर १८८८ ई.)।

*हैदराबाद रिकार्ड, दिनांक १९ अक्तूबर १८८८ ई.

कि 'नॅशनल कांग्रेस' का ध्येय वाक्य भारत की महाराणी सम्राज्ञी के प्रतिनिष्ठा तथा उस का संकेता-वाक्य उन्नति ही हमारा मूलमंत्र है।

उन्होंने आगे चलकर पूछा कि महाराणी सम्राज्ञी के राजभक्तों की इस सभा को जो राष्ट्रीय आन्दोलन को संपुष्ट करने के लिए की जा रही है क्या कोई राजद्रोही कह सकता ह ? नहीं।

सभा के कार्य का प्रारम्भ ही जब देर से हुआ है तो मैं अधिक बोलकर आपका समय लेना नहीं चाहता। मैं अन्य वक्ताओं से प्रार्थना करता हूं कि वे अपना भाषण प्रारम्भ करें।

तदनन्तर श्री मुत्याली रामन्ना ने तेलुगु में अपना भाषण दिया। उनके पश्चात् श्री हरिकृष्ण शास्त्री ने अपना तेलुगु में लिखित भाषण पढ़कर सुनाया। तृतीय भाषण सय्यद मियां साहब का उर्दू भाषा में हुआ। तत्पश्चात श्री रामचन्द्र पिल्ले ने कांग्रेस आन्दोलन के जन्म तथा प्रगति का इतिहास बतलाते हुए कहा कि कतिपय शिक्षितों ने कांग्रेस सदस्यों पर यह दोषारोपण किया था कि वे जनतन्त्री दृष्टिकोण के हैं। तथा हुकूमत का विरोध करना चाहते हैं। ये अभियोक्ता भूल रहे हैं कि हिन्दू-मुसल्मानों के धर्म-ग्रंथों में शासक को ईश्वर का प्रतिनिधि माना गया है अतः विरोधियों का कांग्रेस के सदस्यों पर यह दोषा-रोपण शरारत मात्र है। ब्रिटिश शासन की अपार कृपा से पश्चिमी शिक्षा द्वारा लाभान्वित होकर अपनी सीमाओं में रहते हुए हमने हुकूमत से केवल यह प्रार्थना की है कि हमें वे अधिकार तथा सुविधाएँ दी जाएं जिसका हुकूमत ने आश्वासन दिया था। हम इसको स्वीकार करना या न करना हमने हुकूमत पर छोड़ दिया है। महाराणी सम्राज्ञी जो अपनी प्रजा के लिए मातृ-स्नेह रखती है, हमारी पुकार को प्रसन्नता से सुनेगी और हमारी आवश्यकताओं को उसी प्रकार पूर्ण करेंगी जिस प्रकार एक माँ भख के कारण रोते हुए अपने बालक को दूध पिलाती है। सिकन्दराबाद के एक समाचार पत्र में* प्रकाशित हुए सय्यद हुसेन बिलग्रामी के पत्र का उल्लेख करते हुए श्री रामचन्द्र पिल्ले ने कहा कि उक्त महाशय के इस कथन से कि चूंकि हिन्दुओं ने देश की रक्षा तथा विदेशी आक्रमणों को रोकने में सरकार को सहायता देने के लिए अपने आपको स्वयं-सेवकों की सूचि में शरीक किया है, इसीसे वे राजनिष्ठ नहीं है, वे सहमत नहीं हो सकते। इसके पश्चात् उन्होंने बतलाया कि किस प्रकार 'दक्कन टाइम्स' ने अपना मोर्चा बदला है। एक समय था जब कि वह कांग्रेस आन्दोलन के अनुकूल था और अब वह इसकी निन्दा करते हुए यहां तक कह रहा है कि यह एक विरोधी-सभा है तथा उसने यह भी भविष्य वाणी की थी कि यह सभा असफल होगी। तदुपरान्त उन्होंने हिज़ हाइनेस हुकूमत की ओर से सर सैयद अहमद खां के पक्ष लेने तथा उनके नेतृत्व में चलने वाली संस्था को उसके द्वारा दिये गए चेक* का उल्लेख किया। उस कृपा तथा सहायता से निज़ाम की हुकूमत की उदारता प्रकट होती है। किन्तु इस पथ को भूलने के कारण को अधिक खोजने की आवश्यकता नहीं है। यदि हम यह देखें कि हिज़ हाइनेस की हुकूमत को किसने बनाया है। उन्होंने श्रोताओं को बताया कि इतिहास इस बात की साक्षी है कि सभी सुधारों का विरोध ही होता आया है। यदि कांग्रेस के उद्देश्य तथा लक्ष्य का खण्डन करते हुए गम्भीरता से देखें तो पता चलेगा कि सर सैयद अहमद खां की

* 'दी दक्कन टाइम्स'

*'हैदराबाद रिकार्ड' सोमवार, २२ अक्तूबर १८८८, (४००० रुपयों का एक चेक सर सैयद अहमद खां को दिया गया) जरीदा दिनांक १ अक्तूबर तथा हैदराबाद रिकार्ड दिनांक ३ अक्तूबर १८८८ ई.

संस्था जो करेगी उसको कांग्रेस के कारण बल और सहायता ही मिलेगी और अन्त में उसी से प्रगति होगी। श्री रामचन्द्र पिल्ले के पश्चात् श्री हरिकृष्ण शास्त्री ने तेलुगु में भाषण दिया। श्री बेज़ोन्जी एड्रजी वकील ने इसके पश्चात् अत्यन्त प्रभावात्मक तथा समयानुकूल भाषण दिया। कांग्रेस के इस आरोप का कि यह कोई प्रतिनिधि संस्था नहीं है। उत्तर देते हुए उन्होंने बतलाया कि मद्रास के गत कांग्रेस अधिवेशन में कितने विभिन्न व्यवसायियों के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए थे। कलकत्ता और मद्रास अधिवेशनों के प्रतिनिधियों का स्वागत लार्ड डफ़रिन और कौनेमरा ने किया था। इस घटना से सिद्ध होता है कि ब्रिटिश शासन के प्रतिनिधियों ने इस आन्दोलन को सुशासन का विरोधी नहीं समझा। कांग्रेस द्वारा की गई मांगों को सभी प्रभावशाली क्षेत्रों में सौम्य कहा गया और भारत तथा इंग्लैण्ड के सभी प्रकार के राजनीतिज्ञों ने संतोषप्रद बतलाया है। ब्रिटिश शासन की कृपा दृष्टि इन मांगों को स्वीकार करेगी और यदि इसमें विलम्ब हुआ तो उसको इसकी आवश्यकता अनुभव करते हुए उन्हें स्वीकार करने पर बाधित होना पड़ेगा। वह उन्हें टाल नहीं सकती।

श्री रामचन्द्र पिल्ले से अनुरोध करने पर उन्होंने उर्दू में सभा की सम्पूर्ण कार्यवाही की व्यवस्था की। सभा को अपने प्रस्तावों को प्रस्तुत करने कहा। जो निम्न हैं :-

१. श्री ऐदलजी चिनाय द्वारा प्रस्तावित तथा श्री हाजी ख्वाजा मियां द्वारा अनुमोदित बिना विरोध के यह स्वीकृत हुआ कि यह सभा इंडियन नैशनल कांग्रेस के साथ अपनी सहानुभूति प्रकट करती है।

२. श्री हाजी सजन लाल द्वारा प्रस्तावित तथा श्री कृष्ण अयंगार द्वारा अनुमोदित बिना विरोध के यह स्वीकृत हुआ कि कांग्रेस के खर्च को चलाने के लिए सभी समानरूप से एक रुपया चन्दा दें।

३. श्री कामेश्वर राव द्वारा प्रस्तावित तथा श्री अय्या स्वामी आचार्य द्वारा अनुमोदित बिना विरोध के स्वीकृत हुआ कि निम्न सज्जनों को प्रतिनिधि बनाकर इलाहाबाद भेजा जाए :- सर्व श्री हाजी सजन लाल, मुहम्मद अकरून, शेख़ आदम, रामानुज मुदलियार, रामचन्द्र पिल्ले, गंगा बिशन और बेज़ोन्जी एडरजी।

श्री वेदान्त देसिगाचार्य ने हर मैजेस्टी की छाया में प्राप्त होने वाले सुखों का वर्णन करते हुए संस्कृत भाषा में एक कविता पढ़ी।

सभापति ने अपना भाषण दिया, जिसमें हर मैजेस्टी सम्राज्ञी के लिए "थ्री चेयर्स" का प्रस्ताव किया जिसको बड़े उत्साह के साथ पूरा किया गया।

श्री रामचन्द्र पिल्ले ने अन्त में सभापति को धन्यवाद दिया और अन्त में राष्ट्र गान के साथ सभा का कार्य समाप्त हुआ।*

सिकन्दराबाद के इतिहास में वह दिन चिरस्मरणीय रहेगा।

के. सजन लाल एम. ए.
हैदराबाद-दक्षिण

---

*हैदराबाद रिकार्ड दिनांक २२ अक्तूबर १८८८ ई.

टिप्पणी : श्री एर्डली नार्टन "इंडियन नेशनल कांग्रेस" विषय पर महबूब कालेज सिकन्दराबाद में दिनांक २३ सितम्बर १८८९ को भाषण दिया था। श्री गुलाम दस्तगीर इस सभा के सभापति थे। (गुलाम दस्तगीर खां का जीवन चरित्र पृ. १२९ तथा हैदराबाद रिकाड़, दिनांक २३ सितम्बर १८८९)।

आर्य समाज के शहीद

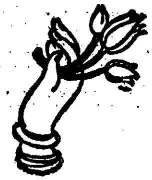

संसार के गौरवपूर्ण राष्ट्रों का इतिहास उन व्यक्तियों के चरित्रों से सदा अनुप्राणित रहा है, जिन्होंने उच्च एवं पवित्र आदर्शों की पूर्ति के लिए महान् से महान् त्याग किया और समय आने पर इसके निमित्त अपने जीवन का उत्सर्ग भी कर दिया और ऐसी परम्परा का निर्माण कर गए जो भावी पीढ़ियों का मार्ग दर्शन करती रहेगी, प्रत्येक उस व्यक्ति को जो सामान्य रूप में मरा हो अथवा किसी दुर्घटना का शिकार हुआ हो, "शहीद" की उपाधि नहीं मिलती। यह गौरव केवल उन सौभाग्यशालियों को प्राप्त होता है जो उच्च एवं पवित्र ध्येय की पूर्ति में अपना अन्तिम रक्त बिन्दु तक अर्पण कर देते हैं। ऐसी ही आत्मा शहीदों के नाम से स्मरण की जाती है।

शहीदों का मिशन

शहीदों को मृत्यु कभी स्पर्श नहीं करती अपितु वे स्वयं मर कर अमर हो जाते हैं। इतिहास से स्पष्ट हो जाता है कि ऐसी महान् आत्माओं का रक्त कदापि व्यर्थ नहीं गया अपितु समय आने पर एक

आर्य समाज के शहीद

दत्तात्रय जी (उमरी), **राधाकृष्ण जी** (निजामाबाद), **श्यामलाल जी** (हैदराबाद), **विष्णुभगवान् जी** (ताण्डूर), **शिवचन्द्र जी** (हुमनाबाद
तथा **वेदप्रकाश जी** (गुंजोटी)

ऐसे प्रखर और प्रचण्ड रूप में प्रवाहित हुआ जिसमें हिंसा अत्याचार और पाशविकता की भावना स्वतः निमग्न हो गई। यह व्यक्ति धर्म-प्रचार, सदुपदेश, प्रजावाद की प्रस्थापना, शांति और प्रेम एवं सत्य को साधरण व्यक्तियों तक पहुँचाने के लिए अपने जीवन-लक्ष्य की कठिनाइयों को पार कर आगे बढ़ते ही रहे। इन्होंने सदा पराक्रांतों का साथ दिया और मानवता के उच्च आदर्शों के रक्षक हुए। और इन हेतुओं से निज तन-मन-धन की बलि देकर स्पष्ट कर दिया कि इन का सेवा कार्य में कितना उत्साह था तथा बलिवेदी से कितना ऊँचा प्रेम था।

भारत में कई शतियों से जो निरक्षरता एवं भ्रष्टाचार परम्परागत शासनारूढ़ था, उसका सर्वनाश कर देने और एक नवयुग का आरम्भ करने के लिए एक महान् पथ-प्रदर्शक, विद्वान् ऋषि की आवश्यकता थी जो पुन: एक बार वैदिक धर्म के जीवन-दायक सन्देश को भारत एवं पृथ्वी के कोने-कोने तक पहुँचा दे; रूढ़िवाद और अन्ध विश्वास रूपी घन अन्धकार में जीवन की सत्यता का प्रकाश फैला दे, बुराइयों का समूल नाश कर श्रेष्ठत्व की सुन्दरता को विस्तृत कर दे; पतझड़ प्रताड़ित भारत रूपी उद्यान को अपने रक्त से सींचे और अपने पश्चात् ऐसा हार्दिक सन्देश छोड़ जाए जो सदा मानवता का मार्ग दर्शन करता रहे।

दयानन्द सरस्वती, शहीद महान्

महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने पवित्र लक्ष्य-पूर्ति के हेतु जिन कष्टों को सहन किया, जिन आपत्तियों का सामना किया और अपनों तथा दूसरों ने अपनी कृतघ्नता से उनके हृदय को व्यथित किया उसका विस्तृत वर्णन यहां उपस्थित करना अभिप्रेत नहीं है; क्योंकि इन बातों को लगभग सभी जानते हैं। महर्षि के पवित्र जीवन का वह पक्ष सदा ही जगमगाता रहेगा। वैदिक धर्म के प्रचार, मानवता की सेवा तथा प्रत्येक ही की शुभ-कामना में ही उन्होंने अपना अमूल्य जीवन भी बलिदान कर दिया। महर्षि स्वामी दयानन्द के शहीद हो जाने से एक ऐसी ज्योति प्रज्वलित हुई जो न केवल बलिदान के विशाल मन्दिर की शोभा बनी हुई है अपितु इस से भारतवर्ष ही नहीं समस्त जगत् सदा प्रेरणा प्राप्त करता रहेगा।

आर्य समाजियों में एक नई शक्ति

महर्षि दयानन्द ने जिन श्रेष्ठतम उद्देश्यों के लिए महान् त्याग और बलिदान का उदाहरण प्रस्तुत किया उन्होने वैदिक धर्म के अनुयायियों और आर्यसमाज के कार्यकर्त्ताओं में एक नवीन उत्साह और नई स्फूर्ति का संचार कर दिया। आर्यसमाजी भारत में स्वामी जी के मिशन को प्रत्येक दिशा में फैलाने के लिए पूर्ण निष्ठा के साथ काम करने लगे और जब समय आया तो अपने धर्म-गुरु के पदचिन्हों का अनुसरण करते हुए अपने जीवन तक का उत्सर्ग करने में भी संकोच न किया।

हैदराबाद में आर्य समाज

हैदराबाद में आर्य समाज ने अपनी ज्योति सन् १८९२ में प्रदीप्त की ताकि पथभ्रष्ट भटकते न फिरें, और इस अभिनव प्रकाश से पूर्ण लाभ उठाते हुए वैदिक धर्म के सीधे और असली मार्ग पर आ जाएँ। आर्य-समाज हैदराबाद में सन् १९२० तक धीरे-धीरे कार्य करता रहा, किन्तु जब इसे टेढ़े-मेढ़े रास्तों का ज्ञान हो गया और जब इस की आवाज में आकर्षण पैदा हो गया तो जनता भी इसे प्रश्रय देने लगी और इस प्रकार इसका विस्तार होने लगा।

निज़ाम सरकार की नादिरशाही

निज़ाम की नादिरशाही सरकार आर्यसमाज की प्रगति को देखकर मन ही मन जल उठी कि कहीं इस रियासत के हिन्दू शक्ति सम्पन्न एवं जागृत होकर इसका विरोध न कर दें। इस के अतिरिक्त इस का यह भी विचार था कि एक इस्लामी रियासत में केवल मुसल्मानों ही को अपने धर्म प्रचार का अधिकार है और हिन्दुओं को अधीन रखना उनका काम है, निज़ाम सरकार ने अपनी साम्प्रदायिकता की नीति के अनुसार आर्यसमाज के मार्ग में पग-पग पर कांटे बिछाने आरम्भ किए और पुलिस की ओर से बात बात पर प्रतिबन्ध और रुकावट होने लगा। आर्यसमाज सदा ही राजनीति से दूर रहा है, पर निज़ाम सरकार इसके उत्साह, कार्य क्षमता और इस के कार्यकर्त्ताओं में त्याग भाव देखकर घबराने लगी और उसने हिंसा और अत्याचार का सहरा ले लिया। रियासत में अरब, पठान, रोहिले और रज़ाकार, आर्यसमाजी कार्यकत्ताओं के शत्रु हो गए, किंतु वैदिक धर्म के इन सच्चे सपूतों और स्वामी दयानन्द के इन सच्चे भक्तों के परिश्रम करने में किसी प्रकार का अन्तर न आया। वे पूर्ण निर्भयता के साथ अपने कर्तव्यों की पूर्ति में जुटे रहे।

आर्यसमाजी लाठियों, संगीनों आदि से दबे नहीं

एक धर्म वीर आर्य की ज्योति शांत कर देने की चेष्टा की गई तो इससे और अनेक ज्योति देदीप्यमान हो गई। एक के सीने पर गोली दाग़ी गई तो दूसरा आर्य वीर शहीद होने के लिए अग्रसर हुआ। निज़ाम पुलिस की लाठियों और संगीनों और अरबों के शस्त्रों और पठानों के चाकू और खंजर तथा रज़ाकारों की रायफ़लों से आर्यसमाजी भयातंकित न हो सके। आर्यसमाज के शहीदों का रक्त जो सत्य और धर्म रक्षा में बहता रहा अन्त में एक प्रखर बाढ़ का रूप धारण कर लिया और सितम्बर १९४८ में निज़ाम सरकार और रज़ाकारों के हिंसात्मक प्रवृत्तियां का सदा के लिए अन्त हो गया।

आर्यसमाजी शहीदों का रक्त

आर्यसमाज के शहीद मरने के बाद अमर हो गए और इन हुतात्माओं के रक्त से हैदराबाद में वैदिक धर्म का जो चमन सींचा गया, वह अब एक विस्तृत उद्यान बन गया है और रियासत में वैदिक धर्म का नव सन्देश दे रहा है।

यहां में कुछ आर्यसमाजी शहीदों का परिचय संक्षिप्त में देता हूं। वे इस भौतिक संसार में तो उपस्थित नहीं है पर वे सब के हृदयों में स्मरण रहेंगे और ऐसा प्रतीत होता है कि हम इन्हें कभी भुला नहीं सकेंगे।

१. वेद प्रकाश जी

इनका पहला नाम दासप्पा था। वे संवत् १८२७ में गुंजोटी में पैदा हुए। इनकी माता का नाम रेवतीबाई और पिता का रामप्पा था। ग़रीब मां-बाप को इसकी क्या सूचना थी कि उनका बेटा बड़ा होकर हुतात्मा बनेगा और वैदिक धर्म के मार्ग में शहीद होकर अमर हो जाएगा। दासप्पा ने मराठी माध्यम द्वारा आठवीं श्रेणी तक शिक्षा ग्रहण की। जैसे-जैसे ये बढ़ते गये वैसे-वैसे उनकी अभिरुचि धर्म की ओर झुकती गई। वे आर्यसमाज के सत्संगों में बराबर सम्मिलित होते थे। वैदिक धर्म के आकर्षण ने इन्हें महर्षि दयानन्द का पक्का भक्त बना दिया। आर्यसमाजी बनने के बाद यह वेद प्रकाश कहलाने

लगे। इन को आर्यसमाज में असाधारण प्रेम एवं निष्ठा के ही कारण गुंजोटी में आर्यसमाज की नींव डाली गई। स्थानीय ईर्ष्यालु यवन इन्हें देख कर जलने लगे। वेद प्रकाश जी का शरीर और सुडौल और सुगठित था और वे लाठी, तलवार चलाने की विद्या में पर्याप्त दक्ष थे। इनकी यह दक्षता कई भयंकर संकटों के समय इनकी सहायक सिद्ध हुई। कई बार विरोधी दल ने इन पर आक्रमण किए और ये अपने आपको सुरक्षित रखने में सफल हुए।

गुंजोटी का छोटे खां नामक एक पठान स्त्रियों को घूर-घूर कर देखता था। एक दिन वेद प्रकाश ने इसे ऐसा करने से रोका और सावधान किया कि भविष्य में इस प्रकार कुदृष्टि मातृ समाज पर न डालें। यह बात गुण्डों को हृदयग्राही न थी और सब इनके शत्रु हो गए। वेद प्रकाश ने गुंजोटी में हिन्दुओं के लिए पान की एक दुकान खोल दी और चांद खां (पान का एक व्यापारी) इनका शत्रु हो गया और भीतर इनके विरुद्ध षड्यंत्र रचने लगा।

एक दिन यवनों ने स्थानीय आर्यसमाज के मन्त्री के मकान पर अकस्मात् धावा बोल दिया। इसकी सूचना वेद प्रकाश को मिली, वे इन आक्रमणकारियों को रोकने के लिए निशःस्त्र ही चले गए। मन्त्री के मकान के समीप दो तीन मुसलमानों ने इन्हें पकड़ लिया और आठ नौ व्यक्तियों ने इन्हें नीचे गिरा कर हत्या कर डाली। विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि उस दिन पुलिस ने वहां के प्रतिष्ठित हिन्दुओं को बुलाकर थाना में बिठा लिया था। आक्रमणकर्त्ताओं और हत्यारों को पहचान लिया गया और न्यायालय में गवाह भी उपस्थित किये, पर फिर भी हत्यारों को निर्दोष घोषित कर दिया गया। वेद प्रकाश का रक्त हैदराबाद में पहला रक्त था जो बड़ी निर्दयता के साथ बहाया गया और इसके बाद वीर आर्यों के बलिदानों का एक क्रम-सा चल पड़ा।

२. धर्म प्रकाश जी

इन का जन्म-नाम नागप्पा था। इनका जन्म कल्याणी में संवत् १८३९ में हुआ। इनके पिताजी का नाम सायन्ना था। इनका पदार्पण जब आर्यसमाज में हुआ तब से धर्म प्रकाश कहलाने लगे। कल्याणी में एक मुस्लिम नवाब की जागीर थी। वहाँ मुसलमानों का अत्याचार नग्न-रूप में नाच रहा था। मुसलमानों के अत्याचारों को देख कर धर्म प्रकाश इस रोकथाम की तैयारी में लग गए। हिन्दुओं को शस्त्र-विद्या सिखाने लगे। कल्याणी के मुसलमान वहाँ की जनता के शारीरिक अभ्यास (Physical Training) से रुष्ट हो गए और उन्होंने इन की हत्या करने पर कमर कस लिया। कल्याणी के इस धर्मवीर पर कई बार आक्रमण किए गए पर इन्हें अपने अपवित्र मन-कामनाओं में सफलता न मिली।

कल्याणी में खाकसार इन के लिए समय की ताक में थे। २७ जून १९३७ ई. की रात को धर्म प्रकाश आर्यसमाज कल्याणी के सत्संग से अपने घर वापस जा रहे थे कि खाकसारों ने इन्हें एक गली में घेर कर बरछों और भालों की सहायता से मार डाला। धर्म प्रकाश की हत्या से आर्य समाज में शोक और दुःख छा गया। इस हत्याकाण्ड के हत्यारे भी न्यायलय से निर्दोष घोषित कर के छोड़ दिये गए।

३. महादेव जी

महादेव अकोलांगा के रहनेवाले थे। साकोल आर्यसमाज के सत्संगों में जब इन्हें कई बार सम्मिलित होने का अवसर मिला तब वैदिक धर्म का जादू इन पर चढ़ गया। इनके मन और मस्तिष्क पर

इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि आर्यसमाजी बन जाने के बाद वैदिक धर्म के प्रचार की धुन लग गई। तरुणोत्साह इन्हें इस मार्ग पर आगे बढ़ाता ही रहा। महादेव के मुखाकृति पर तेज था, भाषण देते समय इनके मुख से जो वाक्य निकलते, उन्हें लोग बड़ी तन्मयता और रुचि से सुनते और एक तरुण आर्य युवक को प्रचार के काम में इस प्रकार तल्लीन देख कर लोगों को भी इच्छा होती थी कि वे भी इसी प्रकार बनें। महादेव के प्रचार का काम जब प्रगति करने लगा तब मुसल्मान इनके अकारण ही शत्रु हो गए। कई बार इन पर इस दृष्टि से आक्रमण हुए कि वे सदा के लिए मौन हो जाएँ पर वे बचते ही रहे।

एक दिन की घटना है कि महादेव अपने प्रिय धर्म प्रचारार्थ कहीं जा रहे थे कि रास्ते में किसी अज्ञात व्यक्ति ने पीछे से आकर छुरा घोंप दिया और १४ जुलाई १९३८ के दिन यह आर्य युवक २५ वर्ष की आयु में सदा के इस लिए संसार से बिदा हो गया।

४. श्यामलाल जी

धर्मवीर श्यामलाल जी १९०३ ई. में भालकी में पैदा हुए। इनके पिता का नाम भोलाप्रसाद और माता का छोटाबाई था। आपका सम्बन्ध ब्राह्मण कुल से था। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा मराठी में हुई। ये अपने माता-पिता के अनुसार मूर्तिपूजक थे और कट्टर धार्मिक थे। इनके एक मामा आर्यसमाजी थे, जिनके प्रभाव से श्यामलाल के ज्येष्ठ भ्राता श्री बंसीलाल वैदिक धर्म अनुयायी और स्वामी दयानन्द के अन्तःकरण से भक्त बन गए। आगे चल कर ये आर्य समाज के सर्वप्रिय नेता भी कहलाने लगे। आरंभ में तो श्यामलाल जी आर्यसमाज से दूर-दूर रहते थे परन्तु बाद में यह इस धर्म से इतने प्रभावित हुए कि इन्होंने आजीवन वैदिक धर्म के प्रचार में अपने आपको लगा दिया। गुलबर्गा में आपके ही प्रयासों से आर्य समाज की स्थापना हुई। वे स्वयं इस समाज के मन्त्री बन कर कार्य संचालन करते रहे। १९२५ ई. में वकील बने और उदगीर में वकालत करने लगे। निजी जीविकोपयोगी कार्य करते हुए प्रचार कार्य भी करते थे। १९२३ ई. में इन्हें चर्म-रोग लग गया और इतना बढ़ा कि पूरा शरीर फूल गया। रोग निवारणार्थ आप लाहौर गए। अभी आप लाहौर में ही थे कि १९२६ ई. में स्वामी श्रद्धानन्द शहीद हो गए। स्वामी जी के इस बलिदान का प्रभाव इन पर अत्यधिक पड़ा। लाहौर से वापस आकर उदगीर में आर्य समाज की स्थापना की और प्रतिज्ञा की कि आजीवन वैदिक धर्म का प्रचार करेंगे। उदगीर के तत्कालीन मुसल्मान तहसीलदार ने स्थानीय मुसल्मानों को प्रेरित कर इनके मकान पर आक्रमण करवा दिया, परन्तु यह आक्रमण विफल रहा। आर्यसमाज उदगीर की स्थापना के बाद आपके अंथक प्रयासों से विजय-दशमी के अवसर पर प्रथम बार जुलूस निकाला गया। होली के जुलूस के अवसर पर आप पर आक्रमण किया गया पर आप बच गए। श्यामलाल जी ने अछूतों के लिए एक पाठशाला, एक व्यायाम-शाला तथा एक निःशुल्क चिकित्सालय भी स्थापित किया।

१९२८ ई. में उदगीर आर्यसमाज का वार्षिकोत्सव हुआ और इसी के बाद पुलिस आपका पीछा करने लगी। इसी वर्ष धारा १०४ के आधीन आप पर झूठा मुकदमा चलाया गया और आपसे दो हज़ार की ज़मानत और मुचलका लिया गया। श्यामलाल जी उदगीर से बाहर निकल कर भालकी, कल्याणी, औराद-शाहजहानी, लातूर तथा औसा आदि स्थानों पर प्रचार करने लगे। कई बार मुसल्मानों ने आप पर

आक्रमण किया, और कई ऐसे अवसर आए जब कि हिन्दुओं ने आपको अपने पास आश्रय देना अस्वीकार किया। आपने कई रातें मार्ग पर चलते बिताईं और दिन में फिर प्रचार कार्य किया। १९३५ ई. में माणिकनगर की यात्रा के अवसर पर मुसल्मानों ने आप पर छुरा घोंप देने का प्रयत्न किया पर एक नवयुवक बीच में आया, स्वयं ज़ख्मी हुआ और इन्हें बचा लिया। १९३८ ई. में इन पर पुलिस ने एक झूठा मुक़दमा चलाया और न्यायालय ने इन्हें दीर्घकालिक दण्ड दिया। अभी आप कारावास में दण्ड भोग ही रहे थे कि आपका देहान्त हो गया।

श्यामलाल जी का नाम हैदराबाद आर्य समाज के इतिहास में स्वर्ण अक्षरों में लिखा रहेगा क्योंकि ये अपने अंथक प्रयत्नों, संघर्षों और श्रद्धा से आर्यसमाज को शक्तिशाली और विस्तृत करने की चिन्ता अन्तिम श्वास तक करते रहे।

५. व्यंकटराव जी

व्यंकटराव कन्धार, ज़िला नांदेड़, के रहनेवाले थे। इन्होंने स्टेट कांग्रेस द्वारा संचालित सत्याग्रह में भाग लिया और दण्ड भोगते रहे। कारावास के अधिकारियों द्वारा मार-पीट के कारण १८ अप्रैल १९३८ ई. में आप परलोक सिधार गए।

६. विष्णु भगवान जी

विष्णु भगवान् ताण्डूर (गुलबर्गा) के रहनेवाले थे। इन्होंने गुलबर्गा में ही सत्याग्रह किया और वहीं इन्हें कारावास का दण्ड दिया गया। आपको गुलबर्गा से औरंगाबाद और फिर हैदराबाद जेल में रखा गया और यहां दूसरे सत्याग्रहियों के साथ इन्हें इतना पीटा गया कि ये सहन न कर सके और २•मई १९३९ ई. में आपनें ३० वर्ष की आयु में उनका शरीरान्त हो गया।

७. माधव राव सदाशिव राव जी

आप लातूर के रहने वाले थे। आपकी आयु ३० वर्ष होगी जब कि आर्य सत्याग्रह में भाग लिया और गुलबर्गा जेल में बन्द कर दिये गए। २६ मई १९३९ ई. के दिन कड़कती धूप में नंगे पैर जेल में कठिन परिश्रम करने से रोगग्रस्त हो गए। चिकित्सा का कोई प्रबन्ध नहीं किया गया और आप इस प्रकार निज़ाम सरकार की क्रूरता के कारण उनकी मृत्यू होगई। माधव राव सदाशिव रावके देहान्त की सूचना पाकर असंख्य नर-नारी इनके अन्तिम दर्शन करने गए पर पुलिस ने रोक दिया और जेल ही में इनका शव अग्नि की भेंट कर दिया गया।

८. पाण्डुरंग जी

इस नवयुवक आर्य को जो उसमानाबाद का रहनेवाला था सत्याग्रह करने के कारण कारावास का दंड दिया गया था। गुलबर्गा जेल में इन पर इन्फ़्लुएंज़ा का आक्रमण हुआ पर चिकित्सा का कोई प्रबन्ध न किया गया। हालत चिन्ताजनक होती गई। २५ मई १९३९ के दिन इन्हें नागरिक औषधालय (Civil Hospital) में भेजा गया और वहीं २७ मई. को इनका देहान्त हो गया। असंख्य नर-नारी इनके अन्तिम दर्शन को आए पर पुलिस ने इन्हें वापस जाने पर विवश कर दिया और पुलिस द्वारा ही इनका अन्तिम संस्कार किया गया।

९. राधाकृष्ण जी

ये निज़ामाबाद में रहनेवाले थे उनके पूर्वज राजस्थान से आए थे। १९०३ ई. में आपका जन्म हुआ था। आपके पिता का नाम जीतमल था। १९३४ में आप आर्यसमाजी बने और तभी से इसके प्रचार की धुन लग गई। इन्होंने ही निज़ामाबाद में आर्यसमाज की स्थापना की थी। इसी कारण आप पुलिस की वक्रदृष्टि में खटकने लगे। मुहर्रम के दिनों में आप पर मुकद्दमा चलाया गया और इनसे एक साल के लिए दो हज़ार रुपए का मुचलका लेकर इनको छोड़ा गया। आर्य सत्याग्रह के समय आप बड़े उत्साह के साथ चंदा एकत्रित करने में जुटे थे। २ सितम्बर १९३९ ई. के दिन एक अरब ने उन्हें छुरा घोंपकर मार डाला और यह बात सर्व विदित हो गई कि इनके हत्या षड्यंत्र में पुलिस का हाथ था।

१०. लक्ष्मणराव जी

आपने धार्मिक अधिकारों की प्राप्ति के लिए सत्याग्रह किया। जेल के नृशंसात्मक कठोर व्यवहार को सहन न कर सकने के कारण ३ अगस्त १९३९ ई. को हैदराबाद जेल में, आपका देहान्त हो गया।

११. शिवचन्द्र जी

आपका जन्म ३ मार्च १९१६ ई. में हुआ था। जन्म स्थान दुबलगुण्डी है। पिताजी का नाम अन्नपक्षप्पा था। १९३५ ई. में मैट्रिक परीक्षा में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए। सरकार की ओर से इन्हें छात्रवृत्ति भी मिली पर ये हुमनाबाद की एक पाठशाला में अध्यापक बन गए। पाठशाला के अवकाश के समय में आर्यसमाज के साहित्य का अध्ययन करते थे और अन्ततोगत्वा आर्यसमाजी बन गए। आर्यसमाज के लिए इन्होंने बड़े उत्साह और श्रद्धा से काम किया। शोलापुर से आप सत्याग्रहियों को हैदराबाद लाते थे और सत्याग्रह के समाचार हैदराबाद से बाहर भेजते थे। ३ मार्च १९४२ ई. के दिन होली के जुलूस के अवसर पर मुसल्मानों ने आक्रमण कर दिया, फलस्वरूप आप शहीद हो गए। आपके साथ आपके साथी लक्ष्मणराव जी, रावजी अंगडे और नरसिंहराव जी गोलियों का निशाना बन गए।

१२. राधाकृष्ण जी

रामकृष्ण का जन्म लावसी ग्राम में एक ब्राह्मण कुल में हुआ था और यह शहीद होने से केवल दो सप्ताह पूर्व ही आर्यसमाजी बने थे। एक दिन पठानों ने घोषणा की थी कि " उस दिन वे मन्दिर को तोड़ेंगे, जिसे धर्म पर विश्वास हो वे आकर उन मन्दिरों को उनके हाथों से बचा लें।" सब हिन्दू घबराकर अपने मकानों में बैठ गए, किन्तु जब राम ने यह घोषणा सुनी तो वे क्रोधाग्नि से जल उठे। पुजारियों ने कभी इसे मन्दिर में प्रवेश होने नहीं दिया था और फिर आर्य समाजी होने के कारण इसे मंदिर और इन मन्दिर की मूर्तियों से क्या रुचि ? परन्तु पठानों के इस घोषणा को इसने सम्पूर्ण हिन्दू जाति के लिए एक चैलेंज समझा और जाति की मान रक्षा के हेतु मन्दिर द्वार पर अपना डेरा डाला। यहां इस पर गोलियों की वर्षा हुई ; वह घायल हुआ, घायल होने पर भी पठानों को मार भगाया और हिन्दू जाति की लाज रख ली। स्वयं शहीद होकर इन्होंने मंदिर की रक्षा की और जिस जाति में वे पैदा हुए थे, उसकी प्रतिष्ठा रख ली।

१३. भीमराव जी

आप हिपला (उदगीर) के रहनेवाले थे। इनके मित्र माणिकराव की बहन को मुसल्मानों ने मुसल्मान बना लिया था। भीमराव ने उसे शुद्ध कर लिया था। इस कारण मुसल्मानों ने क्रोधित होकर इनके घर को आग लगा दी और इन्हें मार कर इनके हाथ पांव काट डाले और इन्हें आग में जला दिया।

१४. माणिकराव जी

यह भी हिपला (उदगीर) के रहने वाले थे। इनकी बहन को मुसलमान बना लिया गया था। जब उसे शुद्ध कर लिया गया तो मुसल्मानों ने माणिकराव को गोलियों का निशाना बना दिया।

१५. सत्यनारायण जी

आप अम्बोलगा (बीदर) के रहने वाले थे आर्यसमाज का काम बड़े उत्साह के साथ करते थे, इसी लिए मुसल्मान उनके शत्रु हो गए। मुहर्रम के दिनों में वे बाजार से जा रहे थे कि एक मुसल्मान ने तलवार से आक्रमण कर दिया। वे तुरन्त ही चिकित्सालय पहुँचाए गए, पर वहां जाते ही उनकी मृत्यु हो गई।

१६. महादेव जी

यह तिवाड़ के रहने वाले थे। गुलबर्गा में ही सत्याग्रह करने के कारण जेल में डाल दिए गए थे। जेलवालों के अत्याचार से १९३९ ई. में ही चल बसे।

१७. अर्जुनसिंह जी

आप आर्य समाज के एक नर-रत्न थे। आप तालुका कन्नड़ (औरंगाबाद) में पैदा हुए थे। बचपन ही वे हैदराबाद में रहने लगे थे। अपने उत्साह और निष्ठा के कारण आप हैदराबाद दयानन्द मुक्तिदल के सेनापति बनाए गए थे। संवत् १९९८ में जंगली विठोबा की यात्रा में कुशल प्रबन्ध करने के बाद घर को वापिस लौट रहे थे कि मार्ग में कुछ सशस्त्र मुसल्मानों ने आक्रमण कर दिया, तुरन्त ही उस्मानिया दवाखाना भेजे गए पर दूसरे ही दिन परलोक सिधारे।

१८. गोविन्दराव जी

आप निलंगा, जिला बीदर, के रहनेवाले थे। सत्याग्रह कर के जेल गए, पर वहां के अत्याचारों को सहन न कर सकने के कारण देहावसान कर गए।

१९. गोविन्दराव जी, लक्ष्मणराव जी

इन दोनों ने सत्याग्रह में अपनी जान की बाजी लगा दी।

आर्यसमाजी शहीदों का यह बहुत ही संक्षिप्त परिचय है। जिसका सहज ही में अनुमान लगाया जा सकता है कि हैदराबाद में वे निजाम सरकार और मुसल्मानों के अत्याचारों का किस प्रकार निशाना बने और वैदिक पताका को ऊँचा रखने के लिए किस प्रकार इन्होंने अपना अन्तिम रक्तबिन्दु तक बहा दिया।

बंसीलाल व्यास 'वानप्रस्थी'
हैदराबाद–दक्षिण

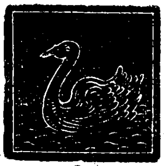

न्याय

एशिया के नवजागरण में भारत का स्थान

संसार के इतिहास में एशिया का स्थान बहुत महत्व का रहा है। मानव सभ्यता का उदय सबसे पूर्व एशिया में ही हुआ था। सिंध और गंगा, मुंमेटिस और टिग्रिम, हुवांगहो और यांगत्से, कियांग नदियों की घाटियां मानव सभ्यता का सबसे प्राचीन केन्द्र थीं। संसार के सभी प्रमुख धर्मों का अभ्युदय एशिया में ही हुआ। ऋषियों ने एशिया के ही एक देश में वेद मन्त्रों का गान किया, और बुद्ध, ईसा व मुहम्मद एशिया में ही उत्पन्न हुए। ज्ञान विज्ञान के क्षेत्र में भी एशिया संसार का अग्रणी रह चुका है। दिग्दर्शक यन्त्र, छापा खाना, कागज और बारूद के आविष्कार एशिया में ही हुए थे। गणित, ज्योतिष आदि विज्ञानों के कितने ही तथा भारत से अरब में और अरब से यूरोप में गए। राजनीतिक दृष्टि से भी उसी समय एशिया संसार का नेतृत्व कर चुका है। यदि यूरोप से सिकन्दर ने एशिया पर आक्रमण किया था तो प्रसिद्ध मंगोल नेता चंगेजखां और बातूखां भी वाल पर्वत माला को पार कर यूरोपियन रूस और पूर्वीय यूरोप के अनेक देशों को अपने आधिपत्य में लाने में समर्थ हुए थे। मंगोल और तुर्क आक्रांताओं ने यूरोप में वियना तक आक्रमण किए थे। अरब लोग तो सम्पूर्ण स्पेन को अपनी अधीनता में लाकर फ्रांस के

दक्षिण में पिरेनीज़ की पर्वतमाला तक अपनी शक्ति का विश्वास रखने में समर्थ हुए थे। यदि पिछली सदियों के इतिहास को आंखों से ओझल कर दिया जाए तो यह समझ सकने में ज़रा भी कठिनाई नहीं होगी कि धर्म, सभ्यता, संस्कृति, विज्ञान और राजनीति के क्षेत्रों में एशिया का महत्व इतिहास में यूरोप से कहीं अधिक रहा है।

पन्द्रहवीं शती के अंतिम भाग में यूरोप के आधुनिक उत्कर्ष का सूत्रपात हुआ। जब पश्चिमी एशिया में अरब लोगों के प्रभुत्व का अन्त होकर वहां तुर्क लोगों की शक्ति क़ायम हुई तो यूरोप के व्यापारियों और मल्लाहों ने एशिया के देशों के साथ सम्पर्क रखने के लिए नए मार्गों की खोज प्रारम्भ की। इसी प्रयत्न के कारण इन्हें अमेरिका महाद्वीप का पता लगा और अफ़्रीका का चक्कर काटकर भारत जाने के नये मार्ग का भी इन्हें ज्ञान हुआ। १६ वीं और सत्रहवीं सदियों में यूरोप के लोग समुद्र के मार्ग से एशियन देशों के साथ व्यापार के लिए बड़ी संख्या आने जाने लगी। पर इन सदियों में एशिया में राजनैतिक शक्ति दुर्बल नहीं थी। भारत के मुग़ल सम्राट् और चीन के मिंगवंशी सम्राट् राजशक्ति की दृष्टि से यूरोप के किसी भी राजा या सम्राट् के मुकाबले में हीन नहीं थे। दिल्ली और पेकिंग के राजदरबार, वैभव, कला समृद्धि और सैन्य शक्ति की दृष्टि से पेरिस, वीयाना, मैड्रिड के राज दरबारों के मुकाबले में कहीं बढ़े चढ़े हुए थे। अठरहवीं सदी में औरंगज़ब के शासन काल में भारत नें मुग़ल बादशाहत की शक्ति निर्बल होनी शुरू हुई और चीन तुर्की आदि के सम्राट् भी कुछ कमज़ोर पड़ने लगे। इसी समय पश्चिमी यूरोप में व्यवसायिक क्रान्ति का सूत्रपात हुआ। नए वैज्ञानिक आविष्कारों का कल कारखानों का उपयोग होने लगा और यूरोप में नई व्यवसायिक उन्नति प्रारम्भ हुई। संसार के इतिहास में अठारहवीं सदी का बहुत महत्व है। इस काल में पश्चिमी यूरोप के देशों में नव जागरण हो रहा था। सामन्त पद्धति का अन्त होकर शक्तिशाली राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना हो चुकी थी। और व्यवसायिक क्रान्ति के कारण नए कल कारखानों का तेज़ी के साथ विकास हो रहा था। इसके विपरीत एशिया के देशों में राज शक्ति क्षीण होने लगी थी। सम्राटों के विरुद्ध सर्वत्र विद्रोह प्रारम्भ हो रहे थे। और नए ज्ञान विज्ञान का कहीं चिन्ह भी नहीं था।

यूरोप के देशों ने इस स्थिति से पूरा पूरा लाभ उठाया। धीरे धीरे उन्होंने एशिया के बहुसंख्यक देशों पर अपना प्रभुत्व प्राप्त कर लिया। उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग तक भारत अंग्रेज़ों की अधीनता में आ गया और उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में पाश्चात्य देशों ने पूर्वी और दक्षिणी पूर्वी एशिया में अपनी शक्ति का विस्तार प्रारम्भ किया। बीसवीं सदी के शुरू तक यह दशा आ गई थी कि जापान के अतिरिक्त अन्य सब देश किसी न किसी रूप म पाश्चात्य देशों के प्रभुत्व में आ गए थे। एक तरफ़ जहां भारत बर्मा, लंका फ़िलीपीन, मलाया, इंडोनेशिया और इंडोचाइना आदि विविध एशियन देश किसी न किसी पाश्चात्य देश के आधीन थ। वहां चीन तिब्बत ईरान अरब आदि देशों पर पाश्चात्य देशों का आर्थिक व अन्य प्रकार का प्रभुत्व स्थापित हो गया था। बीसवीं सदी के प्रारम्भिक भाग में पाश्चात्य साम्राज्यवाद जितना सफल था उसे देखकर कुछ विचारक यह भी प्रतिवादित करने लग गए थे कि यूरोप और अमेरिका के गोरांग लोग प्राकृतिक दृष्टि से ही सर्वोत्कृष्ट है। और भगवान् ने ही यह कार्य उनके सुपुर्द किया है कि वे एशिया और अफ़्रीका के लोगों पर शासन करें और उन्हें सभ्यता का मार्ग प्रदर्शित करें।

पर एशिया पर पाश्चात्य देशों का यह प्रभुत्व देर तक स्थिर नहीं रह सका । बीसवीं सदी के मध्य भाग तक भारत, लंका, बर्मा, अरब, इंडोनेशिया आदि विविध देश पाश्चात्य साम्राज्यवाद के शिकंजे से मुक्त हो गए। यद्यपि चीन पाश्चात्य देशों के आर्थिक साम्राज्यवाद का बुरी तरह से शिकार था, वह न केवल पूर्ण रूप से स्वतंत्र हो गया अपितु संसार की सर्व प्रधान राजनैतिक शक्तियों में गिना जाने लगा। एशियन देशों की पराधीनता का काल बहुत देर तक नहीं रहा। भारत सवा सदी के लगभग अंग्रेजों की अधीनता में रहा और अन्य एशियन देशों की पराधीनता का काल आधी सदी से लेकर एक सदी तक रहा। मानव जाति का इतिहास हजारों साल पुराना है। यदि संसार के इतिहास की दृष्टि से एशिया के उपकर्म और पराधीनता के कालों को रखा जाए तो वह बहुत ही छोटा व अगण्य प्रतीत होगा। इससे कहीं समय तक उत्तरी और पूर्वी यूरोप के देश एशियन विजताओं की अधीनता में रह चुके हैं।

बीसवीं सदी एशिया के इतिहास में बड़े महत्व का काल है। यूरोप के आधुनिक उन्नति का मुख्य श्रेय नव जागरण की उन प्रवृत्तियों को है। जिनका सूत्रपात पंद्रहवीं सदी में हुआ था। उस समय में यूरोप में उनके ऐसे विचारक उत्पन्न हुए थे जिन्होंने बुद्धि स्वातंत्र्य पर जोर दिया था। इन विचारकों का कहना था कि मनुष्यों को सत्य असत्य का निर्णय करने के लिए मुक्ति तर्क और परीक्षण की विधि को अपनाना चाहिए। अन्ध विश्वासों के विरुद्ध इन विचारकों ने प्रबल रूप से आन्दोलन किया था। इनके कारण यूरोप के लोगों में बुद्धि स्वातंत्र्य की जो प्रवृत्ति शुरू हुई उसी ने धार्मिक क्षेत्र में प्रोटेस्टैण्ट आन्दोलन को जन्म दिया। नए वैज्ञानिक आविष्कारों के लिए प्रेरणा भी। व्यवसायिक क्रान्ति का श्री गणेश किया। और राजाओं के स्वेच्छाचारी व निरंकुश शासनों का अंत कर लोकतंत्र शासनों का प्रारम्भ किया। इन सब बातों के लिए यूरोप में तीन सदियों का समय लगा था पर एशिया के इतिहास में नव युग और नव जागरण की इन प्रवृत्तियों के विकसित होने में तीन सदियों की आवश्यकता नहीं हुई। भारत के इतिहास पर ही दृष्टिपात कीजिए। १९ वीं सदी में भारत का नव जागरण प्रारम्भ हुआ। स्वामी दयानन्द, श्री राजा राममोहन राय आदि के नेतृत्व में इन देशों में ज्ञान पुनः प्रकाश हुआ। लोग पुरानी रूढ़ियों और अंध विश्वासों का परित्याग कर तर्क वा युक्ति द्वारा सत्य असत्य का निर्णय करने के लिए प्रवृत्त हुए और धर्म के क्षेत्र में नए सुधार आन्दोलनों का प्रारम्भ हुआ। धर्म और समाज सुधार के साथ जनता में नवीन शिक्षा के लिए भी रुचि उत्पन्न हुई और लोगों ने नए ज्ञान विज्ञान को सीख कर कल कारखानों का विकास करना भी शुरू किया। जनता को अपनी राजनीतिक दुर्दशा का भी ज्ञान हुआ और वह स्वराज्य के लिए आन्दोलन करने लगी। बीसवीं सदी में नवजागरण के इन सब आन्दोलनों में बहुत जोर पकड़ा और अंग्रेजों के लिए भारत को अपनी आधीनता में रख सकना सम्भव नहीं रहा। जो प्रक्रिया भारत में हुई वही थोड़े बहुत भेद के साथ चीन, बर्मा, इंडोनेशिया आदि अन्य एशियन देशों में भी हुई।

अब प्रायः सम्पूर्ण एशिया स्वतंत्र हो चुका है। अब वह समय दूर नहीं है जब कि एशिया संसार के इतिहास में फिर महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लेगा और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में रूस का प्रमुख स्थान होगा। हमारी इस धारणा के मुख्य कारण निम्नलिखित हैं:—

१. पृथ्वी के सब महाद्वीपों में एशिया सबसे अधिक विशाल है। उसका क्षेत्रफल एक करोड़ सड़सठ लाख वर्ग मील है। जब कि सम्पूर्ण पृथ्वी के स्थल भाग का क्षेत्रफल पांच करोड़ मील

से अधिक नहीं है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि पृथ्वी के स्थल भाग का एक तिहाई से भी अधिक क्षेत्र एशिया के अन्तर्गत है। पृथ्वी की कुल जन संख्या इस समय दो अरब पन्द्रह करोड़ पचास लाख है जिसमें से एक अरब अठारह करोड़ दस लाख मनुष्य एशिया में निवास करते हैं। जन संख्या की दृष्टि से एशिया के निवासी ५० प्रतिशत से भी अधिक हैं। राजनीतिक दृष्टि से किसी भी देश की उन्नति उसके क्षेत्रफल और जन संख्या पर भी निर्भर करती हैं। राज्य में भूमि और जनता ही सर्व प्रधान होता है। क्योंकि एशिया क्षेत्रफल और जन संख्या दोनों दृष्टियों से ही अन्य महाद्वीपों के मुक़ाबले में अधिक बड़ा है। अत: अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में उसके महत्व में वृद्धि होना सर्वथा स्वाभाविक है।

२. एशिया के विविध देश एक अत्यन्त प्राचीन व उन्नत संस्कृत के उत्तराधिकारी हैं। भारत की सभ्यता और संस्कृति को ही लीजिए। प्राचीन संसार की अनेक सभ्यताएं इस समय नष्ट हो चुकी हैं। मिश्र, बबीलोनियां, असीरिया आदि की प्राचीन सभ्यताओं का अब केवल नाम ही शेष है। मिश्र के वर्तमान निवासियों का संस्कृति की दृष्टि से उन प्राचीन लोगों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं जिन्होंने कि नील नदी की घाटी में गगनचुम्बी विशाल पिरामिडों का निर्माण किया था और जिन्होंने अपने पित्रों की भूमि बनाकर उन्हें अमर जीवन प्रदान करने का प्रयत्न किया था। यही बात बबीलोनियां, ग्रीस आदि की प्राचीन सभ्यताओं के सम्बन्ध में कही जा सकती है। आज प्राचीन ग्रीस और रोमन धर्म का अनुयायी कोई नहीं है। जो विचारधारा प्राचीन रोमन लोगों को देवी देवताओं और प्राकृतिक शक्तियों की पूजा के लिए प्रेरित करती थी वह आज के रोम (इटालियन) लोगों के लिए कोई अर्थ नहीं रखती। पर भारत की प्राचीन सभ्यता और संस्कृति हज़ारों साल बीत जाने पर आज भी क़ायम है। भारत का धर्म अब भी वैदिक है। इस देश के पुरोहित और ब्राह्मण आज भी वेद मंत्रो द्वारा यज्ञ कुण्ड में आहुति देकर देवताओं को तृप्त करते हैं। उपनिषदो और गीता के ज्ञान की जो धारा प्रवाहित की थी वह आज भी इस देश में अबाधित रूप से बह रही है। बुद्ध और महावीर जैसे महात्माओं ने अहिंसा और प्राणी मात्र के प्रति मैत्री भावना का जो उपदेश किया था वह आज तक भी इस देश में जीवित और जागृत, यहां की स्त्रियों का आदर्श इस बीसवीं सदी में भी सीता सावित्री और पार्वती है। ठीक यही बात चीन और अन्य अनेक एशियाई देशों के सम्बन्ध में कही जा सकती है। चीन के निवासियों ने भगवान् बुद्ध के स्टांगिक आर्य मार्ग को अवश्य अपनाया पर अपने देश के प्राचीन महात्माओं की शिक्षाओं व परम्पराओं का परित्याग नहीं कर दिया। संस्कृति का निर्माण हज़ारों वर्षों के अनुभवों और परम्पराओं द्वारा होता है। वह मनुष्य जाति के आदर्शों में एकरूपता व स्थिरता क़ायम रखती है। वह मनुष्यों के सम्मुख एक ऊंचा आदर्श उपस्थित करती है। एशिया के प्रमुख देशों में बहुत उच्च सांस्कृतिक भावना विद्यमान है। जिसका प्रतिपादन कृष्ण ने यह कह कर किया था कि "न मुझे राज्य चाहिए न मोक्ष मुझे तो केवल यह चाहिए कि मैं दुख से पीड़ित प्राणियों के कष्टों को दूर कर सकूं" और जिसका प्रतिपादन करते हुए बुद्ध ने अपने शिष्यों को उपदेश दिया था कि "तुम बहुजनों के सुख और हित के लिए सब दिशाओं में परिभ्रमण करो।" संसार को आज इसी उच्च भावना की आवश्यकता है। इसी को अपनाने से मनुष्य समाज युद्धों के निरंतर भय से छुटकारा प्राप्त कर सकता है। पाश्चात्य देश विज्ञान के क्षेत्र में चाहे कितनी ही उन्नति कर चुके हों पर मानवता के क्षेत्र में उन्होंने अधिक उन्नति नहीं की। इसी कारण वे संसार को युद्ध और विनाश के

भय से मुक्त कराने में असमर्थ रहे। पर जब जागृत व उन्नति एशिया अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अपना समुचित स्थान प्राप्त कर लेगा, वह अपने प्राचीन सांस्कृतिक आदर्शों को क्रियां में परिणत करके संसार में सुख और शान्ति के लिए प्रयत्न कर सकेगा यह बात सर्वथा निश्चित है।

३. इस समय संसार के प्रमुख देश दो गुटों में विभक्त हैं। इन गुटों का आधार समाजिक व्यवस्था और विचारधारा की भिन्नता पर कम्युनिस्ट गुट का नेता रूस है। और लोकतंत्रवादी गुट का संयुक्त राज्य अमेरिका। ज्ञान विज्ञान के क्षेत्र में यह दोनों देश ही बहुत उन्नत हैं। पर इन दोनों की ही जनसंख्या अधिक नहीं है। क्षेत्रफल के मुक़ाबिले में इनकी आबादी बहुत कम है। नए संहारक अस्त्र शस्त्रों के आविष्कार के कारण यद्यपि आज कल के गुटों में से सैनिकों की संख्या का बहुत महत्व नहीं रह गया है। पर युद्ध में विजय प्राप्त करने से पहले व्यवसायिक उन्नति और आर्थिक उत्पादन की अधिकता बहुत महत्व पूर्ण तत्व हैं। जब तक किसी देश की अपनी संख्या पर्याप्त न हो न वह सैनिक प्रचुर मात्रा में प्राप्त कर सकता है न पर्याप्त आर्थिक उत्पादन करने में समर्थ हो सकता है। इस दशा में यह सर्वथा स्वाभाविक है कि अमेरिका और रूस दोनों ही एशिया के उन देशों की सहायता और सहयोग प्राप्त करने के लिए उत्सुक हों जिनमें आबादी बहुत अधिक है। इस प्रसंग में यह ध्यान में रखना चाहिए कि सम्पूर्ण पृथ्वी पर मनुष्यों की आबादी ४७ व्यक्ति प्रति मील के हिसाब से है। एशिया म प्रति मील ७१ मनुष्यों का निवास है। और एशिया के अंतर्गत भारत में २३२ व्यक्ति प्रति मील और चीन में ३०८ व्यक्ति प्रति मील का हिसाब बैठता है। इससे यह भली भाँति स्पष्ट हो जाता है कि जनसंख्या की दृष्टि से चीन और भारत का महत्व कितना अधिक है। पाकिस्तान, ईरान, अरब आदि अन्य एशियन देशों की आबादी भारत और चीन के मुक़ाबले में बहुत कम है। दक्षिण पूर्वी एशिया के देशों में प्रति मिल ९० व्यक्तियों का निवास है और दक्षिणी पश्चिमी एशिया के देशों में २२ व्यक्ति प्रति मील में निवास करते हैं। यही कारण है कि रूस और अमेरिका दोनों की दृष्टि में भारत और चीन का महत्व बहुत अधिक है। इसी लिए अमेरिका अब तक भी चीन की कम्युनिस्ट सरकार को क़ानूनी सरकार के रूप में स्वीकृत करने के लिए उद्यत नहीं है और फ़ारमूसा की कोओमितांग सरकार को फिर से चीन का शासन दिलाने के लिए उत्सुक है। यदि भविष्य में कभी रूस और अमेरिका के परस्पर विरोधी गुटों में युद्ध होगा तो दोनों ही गुट एशिया के इन प्रदेशों की सहायता और सहयोग को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील होंगे और इसके क़ारण इन व अन्य एशियन देशों का अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे महत्व बहुत बढ़ जाएगा। केवल युद्ध के समय में ही नहीं अपितु शान्ति के काल में भी इन देशों की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति निरंतर बढ़ती जाएगी क्योंकि जिसे शीत युद्ध कहते हैं उसके लिए इन देशों के सहयोग का बहुत उपयोग है।

एशिया के देशों में दो सर्व प्रधान हैं। चीन और भारत। क्षेत्रफल की दृष्टि से यह देश प्राय: बराबर हैं। बशर्ते कि तिब्बत और सिनकियांग को चीन में शामिल न किया जाए। पर जन संख्या में चीन भारत से बहुत बड़ा है। इस समय चीन (तिब्बत और सिनक्यांग को निकाल कर) की जनसंख्या ५३ करोड़ है और भारत की ३५ करोड़ के लगभग। सम्पूर्ण एशिया की कुल जन संख्या एक अरब अठारह करोड़ दस लाख है। जिसमें से अठ्ठासी करोड़ के लगभग मनुष्य चीन और भारत में ही निवास

करते हैं। इस दशा में यह स्वाभाविक है कि एशिया का नेतृत्व इन दोनों देशों के हाथों में ही रहे। यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में चीन और भारत एक दूसरे के घनिष्ठ मित्र हैं। पर उनकी शासन व्यवस्था, आर्थिक नीति और समाज संगठन सम्बन्धी आदर्शों में बहुत भेद है। चीन कम्युनिस्ट व्यवस्था का अनुयायी है। और भारत लोकतंत्रवादी नीति का अनुसरण कर समाजवादी नमूने की व्यवस्था को क़ायम करना चाहता है। कम्युनिस्ट और लोकतंत्रवाद एक दूसरे के विरोधी माने जाते हैं। पर चीन और भारत की मैत्री में विचारधारा की भिन्नता के कारण कोई बाधा उपस्थित नहीं हुई है। इसका कारण यह है कि यह दोनों देश इस समय शान्ति की नीति का अनुसरण करना अपने और संसार के लिए हितकर समझते हैं। इसलिए उन्होंने परस्पर मिलकर उस नीति का प्रतिपादन किया है जिसे "पंचशिला" के नाम से कहा जाता है। पंचशिला के सिद्धान्तों का सार यही है कि सब देशों की राष्ट्रीय स्वाधीनता को अक्षुण्य रखा जाए। कोई किसी पर आक्रमण न करे और किसी देश की आन्तरिक व्यवस्था और समाज संगठन में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न किया जाए। पंचशिला के सिद्धान्त का अनुसरण कर चीन और भारत संसार में शान्ति स्थापित रखने के कार्य में एक दूसरे का सहयोग कर रहे हैं। इन दोनों देशों को शान्ति की समान रूप से आवश्यकता है क्योंकि पाश्चात्य साम्राज्यवाद के शिकार रहने के कारण यह दोनों ही उन्नति के क्षेत्र में पाश्चात्य देशों के मुक़ाबले में पिछड़ गए हैं और यह भलीभांति अनुभव करते हैं कि शान्ति क़ायम रहे बिना हमारे लिए उन्नति के मार्ग पर आगे बढ़ सकना सम्भव नहीं होगा।

यह तो स्पष्ट ही है कि इस समय एशिया के प्रायः सभी देश बड़ी तेज़ी के साथ उन्नति कर रहे हैं। जिस नए ज्ञान को प्राप्त करने के लिए कोई विद्वान या वैज्ञानिक अपना सारा जीवन लगा देता है। आगे आने वाली सन्ततियां उसे थोड़े से यत्न से ही ग्रहण कर लेती हैं। यही बात राज्यों और देशों के सम्बन्ध में भी सत्य है। बारूद का अविष्कार सबसे पूर्व चीन मे मंगोल लोगों ने किया। पर कुछ ही समय में इसे एशिया और यूरोप के सब देशों नें अपना लिया। १९ वीं और २० वीं सदियों में जिस नए ज्ञान विज्ञान का पाश्चात्य देशों में विकास हुआ उसे अब एशिया के देश बड़ी शीघ्रता के साथ अपना लेने में तत्पर हैं। पर एशिया की यह उन्नति चीन और भारत के नेतृत्व में हो रही है। आर्थिक व सांस्कृतिक उन्नति के लिए राष्ट्रीय स्वाधीनता बहुत उपयोगी होती ह इसके अभाव में कोई देश यथेष्ट उन्नति नहीं कर सकता। भारत सबसे पहले पाश्चात्य साम्राज्यवाद का शिकार हुआ था। वही सबसे पूर्व उसमें मुक्त हुआ। १९४७ ईस्वी में भारत पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त कर चुका था। उसके साथ ही पाकिस्तान, लंका और बर्मा को भी स्वतन्त्रता प्राप्त हुई। पर स्वयं स्वाधीनता प्राप्त करके भारत संतुष्ट नहीं हो गया। उसने इस तथ्य को भलीभांति अनुभव किया कि जब तक साम्राज्यवाद का पूर्ण-रूप से अन्त नहीं हो जाएगा और अन्य देश भी स्वतन्त्र नहीं हो जाएगे, उसकी अपनी स्वाधीतनता भी सुरक्षित नहीं रह सकेगी। इसी कारण उसने इन्डोनीशिया की स्वाधीनता के लिए बहुत यत्न किया। १९४९ ई. के शुरू में भारत के प्रधान मंत्री श्री जवाहरलाल नेहरू ने नई दिल्ली में एशियन देशों की एक कान्फ्रेन्स बुलाई, जिसमें इंडोनीशिया की स्वाधीनता का समर्थन किया गया। एशिया के आधुनिक इतिहास म इस कान्फ्रेन्स का बहुत महत्व है। इन्डोनीशिया जो हालैण्ड के साम्राज्यवाद से मुक्त हो सका

उसमें भारत का कर्तृत्व बहुत महत्वपूर्ण था। १९४९ ई. के बाद भारत की विदेशी राजनीति का यह आधारभूत तत्व रहा है कि एशिया के सब देश पूर्णतया स्वाधीन हो जाए। भारत, बर्मा, लंका और इंडोनीशिया की स्वाधीनता के बाद इंडोचायना, कोरिया और मलाया ऐसे एशियन देश थे जो अभी साम्राज्यवाद के चंगुल से छुटकारा नहीं पा सके थे। कोरिया में गृह युद्ध जारी था। उत्तरी कोरिया स्वतन्त्र कम्युनिस्ट सरकार क़ायम की और दक्षिण कोरिया की लोकतन्त्रवादी सरकार अमेरिका के प्रभाव में थी। कोरिया में गृह युद्ध की समाप्ति के लिए भारत ने बहुत उपयोगी कार्य किया। इंडोचायना के अन्तर्गत वियतनाम के राज्य की स्वतन्त्रता और उसके गृहकलह को अन्त कराने में भी भारत ने अपने प्रभाव का प्रयोग किया। वियतनाम भी दो भागों में विभक्त हो गया था जिसके उत्तरी प्रदेशों मे डा. हो ची मिन्ह ने कम्युनिस्ट सरकार की स्थापना कर ली थी। इस समय जो वियतनाम में शान्ति स्थापित है, और इंडोचायना के विविध राज्य फ्रेंच साम्राज्यवाद से बहुत कुछ छुटकारा प्राप्त कर चुके हैं उसका श्रेय प्रधानतया भारत को ही दिया जा सकता है।

साम्राज्यवाद का अन्त करने के लिए भारत ने जो एक अन्य अत्यन्त महत्वपूर्ण कदम उठाया, वह बांडुंग सम्मेलन के रूप में था। इस सम्मेलन में २९ छोटे बड़े राज्यों के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। जिनमें अनेक प्रतिनिधि अफ़्रीकन राज्यों के भी थे। इस सम्मेलन का मुख्य उद्देश्य एशिया और अफ़्रीका के उन देशों की स्वाधीनता के लिए आवाज़ उठाना था, जो अब तक भी साम्राज्यवाद के शिकार हैं। एशिया में अब तक भी कुछ ऐसे प्रदेश बाक़ी हैं, जो यूरोपियन देशों की आधीनता से मुक्त नहीं हुए है। पश्चिमी इरियन, डच न्यूगिनी : इनमें मुख्य हैं। अफ़्रीका में अलजीरिया, मोरक्को और टयूनीशिया आदि कितने ही देश अभी तक भी फ्रांस आदि यूरोपियन देशों के आधीन हैं। साथ ही उनके अफ़्रीकन राज्यों में वहां के असली निवासियों को राज्य शासन में कोई भी अधिकार प्राप्त नहीं है। बांडुंग सम्मेलन में इन सब बातों के विरुद्ध आवाज़ उठाई गई, और भारत ने उसमें विशाल कर्तृत्व प्रदर्शित किया।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि एशिया और अफ़्रीका से साम्राज्यवाद का अन्त कर देने के महत्वपूर्ण कार्य में भारत बहुत दिलचस्पी ले रहा है। साथ ही भारत का ध्यान इस बात की ओर भी है कि एशिया पाश्चात्य साम्राज्यवाद के झगड़ों में व्यर्थ में न फंस जाए। इसी कारण वह शक्तिशाली राज्यों की गुटबंदी का विरोध करता है।

इस समय एशिया की राजनीति की स्थिति यह है कि उसमे दो राज्य बहुत महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं, भारत और चीन। पूर्वी एशिया का नेतृत्व चीन के हाथों में है। तिब्बत, सिंकयांग आदि अनेक देश चीन के अन्तर्गत है। और उसी के नेतृत्व में अपनी उन्नति में तत्पर है। उत्तरी कोरिया, वियतनाम आदि अनेक देश चीन की सहायता से अपनी स्वतन्त्र सत्ता कायम रखने में समर्थ है। और चीन को ही अपना संरक्षक और सहायक मानतें हैं। पूर्वी और दक्षिण पूर्वी एशिया में चीन का प्रभाव निरंतर बढ़ रहा है। इसे चीन का नए ढंग का साम्राज्यवाद तो नहीं कहा जा सकता, पर इसमें सन्देह नहीं कि इन क्षेत्रों की कम्युनिस्ट सरकारें अपनी सत्ता व उन्नति के लिए बहुत अंश तक चीन की सहायता पर निर्भर हैं।

जो स्थिति पूर्वी और दक्षिण पूर्वी एशिया में चीन की है, वही दक्षिणी एशिया में भारत की है। बर्मा, नेपाल, लंका, इंडोनीशिया आदि अनेक देश भारत के प्रभाव में न होते हुए भी उसे अपना नेता स्वीकार करते हैं। भारत इन सबके मुकाबले में शक्तिशाली है। और साथ ही ज्ञान विज्ञान के क्षेत्र में अधिक उन्नत भी है। इसी लिए जहां ये देश अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में भारत को अपना अगुआ मान लेते हैं, वहां साथ ही उनके विद्यार्थी उच्च वैज्ञानिक शिक्षा प्राप्त करने के लिए भी भारत में आते हैं। इन देशों की संस्कृति कला, भाषा, धर्म आदि पर भारत का बहुत प्रभाव है। सांस्कृतिक दृष्टि से इनमें एकता की सत्ता से इनकार नहीं किया जा सकता। वर्तमान प्रवृत्ति यह है कि इन देशों की यह सांस्कृतिक संबंध बहुत बढ़े। यह निश्चित है कि निकट भविष्य में ये देश भारत की संस्कृति व विचारधारा से और अधिक प्रभावि हों। केवल सांस्कृतिक क्षेत्र में ही नहीं, अपितु आर्थिक क्षेत्र में भी इन के सहयोग में वृद्धि का होना आवश्यम्भावी है। भारत समाजवादी नमूने की व्यवस्था को क़ायम करना अपना ध्येय निश्चित कर चुका है, पर इसके लिए वह लोकतन्त्र और शान्तिमय उपायों का अनुसरण कर रहा है। वह इस बात को स्वीकार करता है कि समाजवादी व्यवस्था के अपनाए बिना देश की आर्थिक समस्याओं को हल नहीं किया जा सकता। पर साथ ही वह यह भी अनुभव करता है कि समाजवादी व्यवस्था को क़ायम करने के लिए न हिंसात्मक उपायों की कोई आवश्यकता है और न लोकतन्त्रवाद का परित्याग करने की। भारत के समाजवाद और कम्युनिज्म में यही मुख्य भेद है। यदि अपने भारत ध्येय तक पहुंचने में समर्थ हुआ। और शान्तिमय उपायों से समाजवादी व्यवस्था स्थापित करने में उसे सफलता मिली, तो संसार के इतिहास में यह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण बात होगी। दक्षिणी एशिया के अन्य देश अवश्य ही उसके कार्य का अनुसरण करेंगे, और वह बहुत व्यापक क्षेत्र उनका नेतृत्व करने में सफल हो सकेगा।

वर्तमान समय में एशिया का नव जागरण बहुत तेजी के साथ हो रहा ह। स्वाधीनता प्राप्त करके एशिया के विविध देश अपनी उन्नति के लिए तत्पर ह। पर इस उन्नति के लिए किस मार्ग का अनुसरण किया जाए, इस प्रश्न पर उनमें विविध विचारधाराओं में प्रबल संघर्ष हो रहा है। प्रायः सभी देशों में किस कम्युनिस्ट पार्टियों की सत्ता है, और साथ ही ऐसे लोगों की भी कमी नहीं है जो लोकतन्त्रवाद की आड़ में पूंजीवाद को क़ायम रखने के लिए प्रयत्नशील हैं। भारत ने एक नया मार्ग अपनाया है। जो पूंजीवाद का प्रबल विरोधी होते हुए भी लोकतन्त्रवाद का पक्षपाती है। यह मार्ग भारत की सांस्कृति परम्परा के अनुरूप है। अन्य एशियन देशों की सांस्कृतिक परम्परा भी इसी मार्ग के अनुकूल है। यदि भारत जैसा विशाल और शक्तिशाली देश इस मार्ग पर चल कर अपनी आर्थिक समस्याओं को सुलझाने में समर्थ हुआ, तो इसमें कोई भी संदेह नहीं कि अन्य एशियन देश भी उसका अनुसरण करेंगे। और इस प्रकार भारत एक नई विचारधारा को संसार के सम्मुख उपस्थित करने म समर्थ होगा। फ्रान्स की राज्यक्रान्ति ने राष्ट्रीय स्वतन्त्रता और लोकतन्त्रवाद की प्रवृत्तियों को संसार के सम्मुख उपस्थित किया था। रूस की राज्यक्रान्ति द्वारा आर्थिक क्षेत्र में लोकतन्त्रवाद की प्रवृत्तियों का प्रादुर्भाव हुआ था, फ्रांस और रूस की क्रान्तियां केवल उनके अपने देशां तक ही सीमित नहीं रहीं। धीरे धीरे उन्होंने संसार के बड़े भाग को व्याप्त कर लिया। भारत में भी एक नई क्रान्ति हो रही है, यद्यपि यह क्रान्ति अहिंसात्मक और शान्तिमय है। वह समय दूर नहीं है जब यह क्रान्ति भी संसार के इतिहास की

एक महत्वपूर्ण शक्ति बन जाएगी। और पहले एशिया और अफ़्रीका की और बाद में संसार के अन्य देशों को व्याप्त कर लेगी। तब भारत सच्चे अर्थों में एशिया के नवजागरण का नेतृत्व कर सकेगा। भारत के प्राचीन इतिहास को दृष्टि में रख कर कवि ने जो उद्गार प्रगट किए थे, वे आधुनिक इतिहास के लिए भी सत्य सिद्ध होंगे। ये उद्गार निम्न लिखित हैं:

प्रथम प्रभात उदय तव गगने
प्रथम साम रव तव तपोवने।
प्रथन प्रभासित तव वनभवने
ज्ञान धर्म कत काव्य काहिनी।

सत्यकेतु विद्यालंकार, एम. ए., पी. यच. डी.
मसूरी

कला, साहित्य और संस्कृति

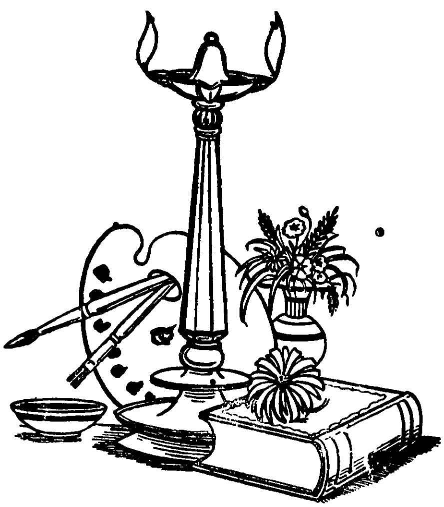

इळा सरस्वती मही

तिस्रो देवीर्मयोभुवः

—वेद

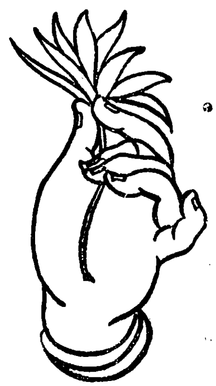

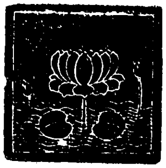

शान्ति

हैदराबाद राज्य की कला निधि

स्व. सरदार वल्लभ भाई पटेल ने किसी प्रसंग में कहा था कि हैदराबाद राज्य भारत का हृदय है। यह एक भौगोलिक सचाई ही नहीं है बल्कि भारत के सांस्कृतिक क्षेत्र में भी हैदराबाद को एक केन्द्रीय और महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। भारतीय इतिहास के प्रत्येक युग के अवशेष इस राज्य में फैले हुए हैं। दक्षिणापथ की सभ्यता की अनेक धाराओं का यह संगम स्थान रहा है। आन्ध्रों, वाकाटकों, चालुक्यों, राष्ट्रकूटों, यादवों ने इस प्रदेश में स्थान स्थान पर अपनी संस्कृति के भग्नावशेष छोड़े हैं। उत्तर भारत की सभ्यता का भी यहां काफ़ी प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। बहमनी, कुतुबशाही, बरीदी, मुग़ल और आसफ़जाही बादशाहों ने अपनी तहज़ीब और तमद्दुन का यहां बड़ा असर छोड़ा है। महाराष्ट्र के दार्शनिकों और संतों का भी यह प्रदेश कार्यक्षेत्र रहा है। आन्ध्रों के बारे में आत्रेय ब्राह्मण और बाद में मेगस्थनीज़ के 'इंडिका' में इनका वर्णन मिलता है, किन्तु लिखित इतिहास से अधिक इस युग की सभ्यता और संस्कृति का इतिहास कला के उस भंडार में मिलता है जो सुंदर प्राकृतिक दृश्यों के बीच गुफ़ाओं में, मंदिरों में और विविध कला स्थलों में प्रदर्शित हुआ है।

ऐतिहासिक काल से पूर्व की संस्कृति का दिग्दर्शन भी इस राज्य में प्रचुर मात्रा में मिलता है। उस युग के अवशेष पुरानी क़बरों और कोंडापूर और मस्की के खुदाई में प्राप्त हुए हैं। यहां पर पाए गए उस युग के मिट्टी के बर्तन, कांच के चूड़ियों के टुकड़े, मणियां, पत्थर के कुल्हाड़े और अन्य अस्त्र ऐतिहासिक अनुसंधान करनेवालों के लिए बड़ा महत्त्व रखते हैं। कोंडापूर, मस्की और गोदावरी तथा कृष्णा के किनारों पर कई स्थानों पर प्राप्त इन वस्तुओं तथा उत्तर में मोहंजोदाड़ो आदि स्थानों में प्राप्त वस्तुओं में जो निकट समानता दिखाई देती है, उससे यह प्रकट होता है कि आज से लगभग तीन हज़ार वर्ष पहले भी भारतीय सभ्यता उत्तर से दक्षिण तक एक सूत्र में बंध चुकी थी।

कोंडापूर, हैदराबाद नगर से बीदर जानेवाली सड़क पर ३५ वें मील पर है। यहां पर जो खुदाई का काम हुआ है उससे प्राप्त कुछ वस्तुओं को वहां प्रदर्शन के लिए रखा गया है। यहां की बहुत सी वस्तुओं को हैदराबाद म्यूज़ियम लाकर सुरक्षित कर दिया गया है। मस्की, हैदराबाद नगर से २५० मील दूर रायचूर जिले में है। यहां कई वर्ष पूर्व हैदराबाद राज्य द्वारा खुदाई का काम हुआ है। इसके बाद १९५३-५४ में भारतीय केन्द्रीय पुरातत्त्व विभाग द्वारा यहां फिर वैज्ञानिक रूप से खुदाई का काम हुआ और यहां पर प्राप्त वस्तुओं का अनुसंधानात्मक अध्ययन किया गया। यहां की प्राप्त बहुत सी वस्तुएं भी हैदराबाद म्यूज़ियम में सुरक्षित हैं। कला प्रेमियों और और ऐतिहासिक अनुसंधान करनेवालों के लिए कोंडापूर, मस्की और वरंगल जिले में ज्ञानमपेठ, रायचूर जिले में बेकल, कोत्तागुड्डम के कोयले की खानों से तीन मील पर, कारकोंडा और करीमनगर ज़िले में प्राप्त ऐतिहासिक काल से पूर्व की क़बरें, बड़ा महत्त्व रखती हैं। जो व्यक्ति इन स्थानों पर नहीं जा सकते हैं, वह इन कलापूर्ण और पूर्व ऐतिहासिक वस्तुओं को हैदराबाद नगर के पुरातत्त्व-संग्रहालय में देख सकते हैं। मस्की के खुदाइयों के पास ही सम्राट् अशोक का एक शिलालेख भी प्राप्त हुआ है। इस शिलालेख की यह विशेषता है कि इसमें "अशोक" नाम आता है जो सम्राट् अशोक के दूसरे लेखों में कम प्राप्त है।

मनुष्य प्रत्येक युग में और हर देश में अपनी रचनात्मक प्रवृत्ति से कला, सौन्दर्य-प्रेम और उत्पादक शक्ति से अपने समय की सभ्यता को प्रभावित करता रहा है। मनुष्य की इस सृजनात्मक प्रतिभा का उसके आसपास के वातावरण पर जो अंकुश पड़ता है एक प्रकार से उसी का नाम संस्कृति है। किसी भी देश का सांस्कृतिक इतिहास उस देश की कला और अन्य रचनात्मक प्रवृत्तियों और उत्पादक शक्तियों के विकास, संघर्ष और सफलता का इतिहास है। संस्कृति के स्रोत, साहित्य, संगीत, चित्रकला, शिल्पकला, स्थापत्य-कला और अन्य कलात्मक कृतियों और उद्योगों के रूप में स्फुटित होते हैं। हैदराबाद राज्य के कला स्थल अपनी गुफ़ाओं, मन्दिरों,मूर्तियों,दिवारों पर अंकित चित्रों, ताम्रलेखों, मसजिदों, मक़बरों, हस्तलिखित ग्रन्थों और चित्रकला के सुन्दर नमूनों द्वारा भारतकी गत तीन हज़ार वर्षकी संस्कृतिके अनेक अंगोंपर प्रकाश डालते हैं। कोंडापूर और मस्की की खुदाई में हडपा-मोहंजोदाडो और उससे भी पूर्व बेबीलोन और मिश्र की सभ्यता का कुछ न कुछ संपर्क संभावित मालूम होता है, तो अजन्ता के गुफ़ाओं की चित्रकला रोम के गिरजाओं में चित्रित माइकिल-एंजेलो की ओजपूर्ण कृतियों से मिलती जुलती नज़र आती हैं। यद्यपि अजन्ता की गुफ़ाओं के चित्र माइकिल एंजेलो के चित्रों से कई शताब्दियों पहले के हैं, और एक दूसरे से कई हज़ार मील दूरी पर स्थित हैं। कला की कृतियों की यह अद्भुत टक्कर और उनका मेल यही प्रदर्शित करता है कि कला देश

और काल के बंधनों से मुक्त है और प्रत्येक देश की प्रत्येक युग की कला में सम्बन्ध स्थापित है क्योंकि कला की प्रत्येक वस्तु मनुष्य के सौन्दर्य प्रेम से प्रभावित होती है और कलाकार प्रत्येक युग और प्रत्येक देश में अपने हृदय की गम्भीरतम भावनाओं को और मनुष्य जाति के समान मूल्यों और प्रकृति के सनातन सत्यों को मिट्टी, पत्थर, ताडपत्र या कागज पर अंकित करता रहा है । मानवीय सत्यों और मूल्यों में समानता है तो कला की इन कृतियों में भी एकता का दृष्टिगोचर होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है । आज भी विजयनगर राज्य के भग्नावशेष देखनेवाले के हृदय में एक प्रकार के वही भाव उत्पन्न करते हैं जो पम्पाई के भग्नावशेष । यद्यपि इन दोनों के स्थान और समय में सैकड़ों वर्षों और हज़ारों मीलों का अन्तर है । मस्की में प्राप्त मिट्टी की प्राचीन भग्न मूर्तियों में ग्रीक शिल्प-कला का प्रभाव नज़र आता है तो यह भी कला की इस एकता का ही प्रतीक है ।

हैदराबाद राज्य की अजन्ता और एलोरा की गुफ़ाएं तो जगद्‌विख्यात हैं ही । इनके अलावा औरंगाबाद नगर के पास और इसी ज़िले में स्थित पीतलखोरा की गुफ़ाएँ भी स्थापत्य कला और मूर्ति निर्माण कला के अद्‌भुत नमूने प्रस्तुत करती हैं । बौद्ध काल के महायान और हीनयान दोनों युग के अवशेष सुन्दर और ओजस्वी रूप में इन गुफ़ाओं में मिलते हैं । ईसा से दो शताब्दी पूर्व से लेकर १५वीं शताब्दी तक का काल इन गुफ़ाओं में अंकित है । अजन्ता की गुफ़ाएं, औरंगाबाद से ६० मील दूरी पर प्रकृति के सुन्दरतम दृश्य से आच्छादित एक अर्धगोलाकार पहाड़ी में काटी गई हैं । गुफ़ाओं के सामने और गोद में वाघोर नदी का जल प्रपात और जल प्रवाह एक अत्यंत सुन्दर दृश्य प्रस्तुत करता है । एलोरा की गुफ़ाएं, औरंगाबाद नगर से १५ मील दूर पहाड़ियों की दूर तक फैली हुई एक श्रेणी में काटी गई है जिनके सामने एक विशाल सुरम्य दृश्य फैला हुवा है । औरंगाबाद की गुफ़ाएं, औरंगाबाद नगर के पास में ही हैं । और पीतलखोरा की गुफ़ाएं यहां से कोई ४० मील पर । पत्थरों में काटी गई दो दो तीन तीन मंजिल बड़े मंदिरों और विशाल भवनों से टक्कर लेती हुई ये गुफ़ाएं, मनुष्य के असीम धैर्य और अद्‌भुत पराक्रम को प्रदर्शित करती हैं । साथ ही साथ इनमें मूर्ति कला के और चित्रकला के जो सुन्दर नमूने हैं, वह कला की भावुकता, कोमलता और सौन्दर्य के आश्चर्यजनक प्रतीक हैं । बौद्ध काल के साथ साथ एलोरा में हिन्दू और जैन गुफ़ाएं मिलती हैं, जिनसे यह विदित होता है कि कला के क्षेत्र में भारत में कोई धार्मिक वैर भाव नहीं था ।

चोल, चालुक्य और राष्ट्रकूटों आदि के युग की स्थापत्य कला और मूर्तिकला के अवशेष तुंगभद्रा नदी के उत्तर किनारे पर बसे हुए आलमपूर नगर के मंदिरों में, वरंगल नगर के एक हज़ार स्तम्भ नाम के मंदिर में वरंगल से ३० मील दूर रामप्पा के मंदिर में, वरंगल के किले के भग्नावशेषों में, नलगुण्डे के मंदिर में और अन्य कई स्थानों पर प्रचुर मात्रा में मिलते हैं । यह मंदिर अपने अपने काल की कला का लगभग ऐसा ही सुन्दर नमूना प्रदर्शित करते हैं, जिस प्रकार मैसूर राज्य में बेलूर और हळबीड, होयसाला काल की कला को प्रस्तुत करते हैं ।

हैदराबाद नगर से बीस मील दूर पर पटनचरू जैन काल का एक विख्यात स्थान है, जहां जैन कला के बड़े अच्छे नमूने प्राप्त हुए हैं । यहां पर जैन तीर्थंकर पार्श्वनाथ की चौदह फुट ऊंची एक बड़ी मनोहर मूर्ति मिली है जो हैदराबाद म्यूज़ियम में रखी हुई है । हैदराबाद राज्य में और भी कई महत्त्वपूर्ण जैन काल

के स्थान मिलते हैं जिनमें विशेष उल्लेखनीय मलखेड़ और कोप्पल, रायचूर ज़िले में, और माहूर आदिलाबाद ज़िले में हैं। यहां पत्थर और पीतल की बहुत सी जैन मूर्तियां मिली हैं। हैदराबाद नगर से चालीस मील दूर कुलपाक में बड़ा विख्यात जैन मंदिर है, जहां बम्बई और गुजरात से श्वेताम्बर जैन यात्री दर्शन के लिए आते हैं। इसी प्रकार उसमानाबाद से बीड़ जानेवाली सड़क पर कुन्तलगिरी की पहाड़ी पर विख्यात जैन मंदिर है जहां दिगम्बर जैन मुनि और यात्री बड़ी संख्या में आते हैं।

नलगुण्डे ज़िले में कृष्णा नदी पर जहां नागार्जुन सागर के नाम से एक बड़ा बांध बनाया जा रहा है, वहां हीनयान पंथ के प्रवर्तक और महान् बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन के समय के अवशेष मिलते हैं। कृष्णा नदी के दक्षिण में नागार्जुन कोण्डा, बौद्धकाल की स्थापत्य और मूर्तिकला के लिए विश्वविख्यात हैं, किन्तु बहुत कम व्यक्ति यह जानते हैं कि कृष्णा के उत्तर किनारे पर हैदराबाद राज्य की सीमा में यालेश्वरम् स्थान पर भी बौद्ध काल की कला के बड़े महत्वपूर्ण भग्नावशेष हैं और अगर यहां वैज्ञानिक रूप से खुदाई की जाए तो कला और इतिहास के विद्यार्थियों के लिए बड़ी महत्त्वपूर्ण सामग्री मिलने की सम्भावना है।

हैदराबाद राज्य में कई महत्त्वपूर्ण क़िले भी पाए जाते हैं, जिनमें देवगिरि (दौलताबाद), यादगिरि वरंगल, मुद्गल (रायचूर ज़िला), बीदर, परंडा (उसमानाबाद), नलदुर्ग, कल्याणी (बीदर ज़िला) और गोलकुण्डा बड़ा ऐतिहासिक महत्व रखते हैं।

हैदराबाद राज्य में मुस्लिम काल के स्मारक बड़ी संख्या में मिलते हैं। गुलबर्गा, बीदर, खुल्दाबाद (औरंगाबाद ज़िला), और गोलकोण्डा के मक़बरे, बीदर का महमूद गावां का मदरसा, औरंगाबाद का बीबी का मक़बरा और पनचक्की, हैदराबाद की मक्का मसजिद और चारमीनार मुस्लिम काल की भवन निर्माण और स्थापत्य कला के दर्शनीय स्मारक हैं।

आधुनिक काल में भी हैदराबाद नगर में भवन निर्माण की कला को बड़ा प्रोत्साहन मिला है। हाई कोर्ट, उस्मानिया हास्पिटल, फ़लकनुमा पैलेस, उस्मानिया यूनिवर्सिटी आर्टस् कालेज, टाउन हाल, जुबिली हाल, हैदराबाद म्यूज़ियम और अजन्ता पवेलियन आदि सरकारी इमारतें और कई खानगी मकान स्थापत्य कला के अच्छे नमूने हैं और इनमें कई प्रकार की स्थापत्य कला का मिश्रण सुन्दर रूप में मिलता है।

नांदेड़ का गुरुद्वारा जो सिक्खों के दसवें गुरु, गुरु गोविंदसिंह का स्मारक है, सिक्खों के लिए तीर्थ यात्रा का महत्व रखता है। इतिहास और कला के दृष्टिकोण से भी यह स्थान महत्त्वपूर्ण है।

हैदराबाद के पुरातत्व संग्रहालय में स्थापत्य कला, मूर्तिकला, चित्रकला, प्राचीन हथियारों, चीनी मिट्टी के बर्तन, हस्तलिखित ग्रंथ, दक्खिनी कलम के चित्रों और प्राचीन सिक्कों का बड़ा अच्छा संग्रह है। मस्की में प्राप्त स्फटिक की बनाई हुई मणि के बराबर बुद्ध की एक मूर्ति इस संग्रहालय में है, जो अपने अन्दर एक अवर्णनीय सुन्दरता छिपाए हुए है, जो केवल खुर्दबीन से देखने से प्रकट होती है। वरंगल से प्राप्त पीतल की लगभग पांच इंच की दीप लक्ष्मी की मूर्ति शातवाहन युग की कला की एक सुन्दरतम वस्तु है। काकतीय युग की तेरहवीं शताब्दी की बनी हुई काले पत्थर की सरस्वती की एक मूर्ति सौन्दर्य का प्रभावशाली प्रतीक है। हस्तलिखित ग्रंथों में याकूत के हाथ की लिखी गई कुरान की एक प्रति इस संग्रहालय की एक मूल्यवान् वस्तु है। प्राचीन सिक्कों में देवगिरि के यादवों और विजयनगर के राजाओं के सोने के सिक्के चांदी के छेदवाले सिक्के, और शातवाहन तथा अन्य राजाओं के तांबा, जस्त और अन्य धातुओं के सिक्कों

रामप्पा मन्दिर (वरंगल)

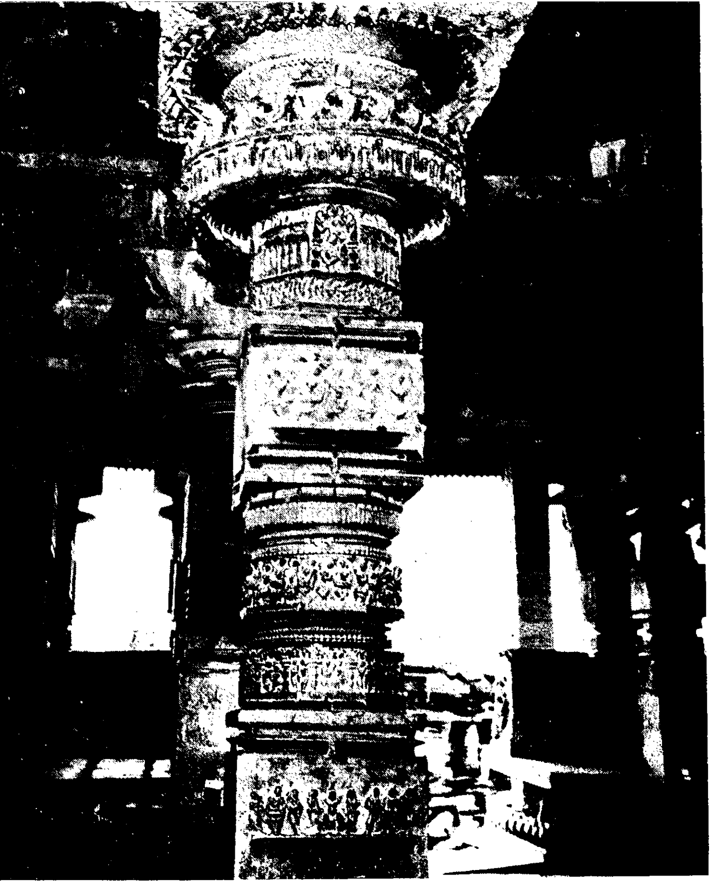

कलापूर्ण स्तम्भ
रामप्पा मन्दिर, वरंगल

पूर्ण चित्र नागदत्त
पालमपेठ मन्दिर

का प्रदर्शन हुआ है। मुस्लिम काल के सिक्कों में तुग़लक, मुग़ल और आसफ़जाही बादशाहों के सोने के सिक्के और बहमनी तथा दूसरे मुसलमान बादशाहों के चांदी और तांबे के सिक्के मौजूद हैं। हथियारों के संग्रह में जहांगीर की तलवार, टीपू सुलतान की बन्दूक आदि मूल्यवान् वस्तुएं हैं। दक्खनी तसवीरों में भागमती की तसवीर विशेष ऐतिहासिक आकर्षण रखती है। क्योंकि कुली कुतुबशाह की इस प्रेयसी के नाम से भाग्यनगर शहर बसा और भागमती के उपनाम हैदर महल के आधार पर ही इसका नाम हैदराबाद प्रचलित हुआ।

हाल में स्वर्गीय नवाब सालार जंग के अद्भुत संग्रह को उन्हीं की देवड़ी में सालार जंग म्यूज़ियम के नाम से प्रदर्शित किया गया है। यह म्यूज़ियम विश्व के महान् संग्रहालयों में से एक है, जहां पश्चिमी और पूर्वी, यूरोपियन, ईरानी, भारतीय, चीनी और जापानी, आदि कला के अद्भुत नमूने संग्रह किए गए हैं। यूरोपियन आधुनिक मूर्ति कला की एक बड़ी सुन्दर कृति एक बुरकापोश महिला की मूर्ति, जैन तीर्थंकारों की दो पाषाण की मूर्तियां और नटराज तथा शिवपार्वती की पीतल की दो मूर्तियां इस संग्रहालय की शिल्प-कला की मूल्यवान् वस्तुएं हैं। इस संग्रहालय में चित्रित, हस्तलिखित ग्रंथों की बड़ी संख्या है जिनमें ईरानी कलम की चित्रकला के नमूने पाए जाते हैं। यहां कुरान की एक हस्तलिखित प्रति है जिस पर तीन मुग़ल बादशाहों, जहांगीर, शाहजहां, और औरंगज़ेब के दस्तख़त हैं। इस संग्रहालय में जेड का सामान दर्शनीय है। नूरजहां का जवाहरात से जड़ा हुआ खंजर, जहांगीर की कटार, औरंगज़ेब का खंजर और जेड और मीनाकारी के कई हथियार, बड़ी नायाब चीजें हैं। उमर ख़य्याम की कविताओं के आधार पर चित्रित ईरानी कला के चित्रों का एक सेट बड़ा ही सुन्दर और मूल्यवान् है।

हैदराबाद राज्य कई प्रकार की कलापूर्ण दस्तकारियों के लिए विख्यात है। कला के इन नमूनों को काटेज इंडस्ट्रीज़ इम्पोरियम और निर्मल इंडस्ट्रीज़ आदि स्थानों पर देखा जा सकता है।

आधुनिक चित्रकला के क्षेत्र में भी हैदराबाद राज्य में इन दिनों बड़ी उन्नति हुई है। हैदराबाद म्यूज़ियम में आधुनिक चित्रकला का एक विभाग है और गवर्नमेंट कालेज आफ़ फाइन आर्टस् में भी आधु-निक चित्रकारी के नमूने देखे जा सकते हैं। हैदराबाद म्यूज़ियम में चुग़ताई की तसवीरों का बड़ा मूल्यवान् संग्रह है।

हैदराबाद राज्य में कला की जो अद्भुत संपत्ति है, वह पूरे देश और राष्ट्र की सम्पत्ति है। इसको आगामी पीढ़ियों के लिए सुरक्षित रखने का भार केन्द्रीय सरकार, राज्य सरकार और सब कला प्रेमियों और सांस्कृतिक क्षेत्र में काम करनेवाले व्यक्तियों पर है।

लक्ष्मीनारायण गुप्त, आई. ए. एस.,
सचिव, लोककर्म विभाग,
हैदराबाद-राज्य

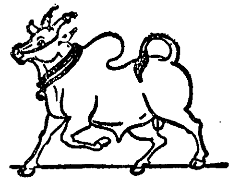

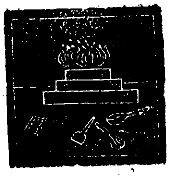
यज्ञ

भारत की आधुनिक चित्रकला

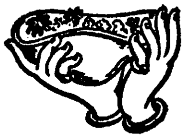

आधुनिक युग का वह काल जो भारत की स्वाधीनता के अनन्तर आरंभ होता है, भारतीय कला के लिए ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। इसके पूर्व कि हम कला के विभिन्न क्षेत्रों का पृथक्-पृथक् दृष्टिकोणों से अध्ययन करें, एक सामूहिक दृष्टि डाल लेना अधिक औचित्य पूर्ण होगा।

गत परम्परा की चित्रकला का आभास हमें हिमाचल के अंचल में विकसित त्रिगरथा अथवा तीन घाटियों की कला से होता है। इनके अन्तर्गत पल्लवित और हिमालय की सुहानी तराइयों और स्वच्छन्द मैदानों में राजपूत वंशों द्वारा निर्मित चित्रकला बड़ी प्रिय हुई। कांगड़ा, बासौली, सुकेत, मण्डी और अन्य स्थानों में विकसित चित्रकला के लुप्तप्राय होने का कारण यही प्रतीत होता है कि लोग उन्हें समुचित संरक्षण नहीं दे सके। सन् १९०५ ई. के भूचाल में भी धर्मशाला के नष्ट भ्रष्ट हो जाने से यहां की चित्रकला को भी क्षतिग्रस्त होना पड़ा।

समन्वयात्मक चित्रकला ने सुन्दरता का प्रतिपादन किया और भारत के अनेक स्थानों की कला पश्चिम के विचारों से अभिभूत रही। पटना और लखनऊ, दक्षिण में तञ्जोर और मैसूर में इसका सृजन जारी रहा। परन्तु इस कला में पहाड़ी चित्रों की सी रागात्मकता कहीं नहीं मिलती।

१८५४ ई. में विदेशी संस्कृति की दृढ़ पृष्ठभूमि पर कलकत्ता के कला विद्यालय की स्थापना हुई। इस विद्यालय का अस्तित्व एक मात्र ब्रिटेन की प्रेरणाओं पर आधारित था। यह बात हमारे देश के लिए बड़ी लज्जास्पद है कि इस काल में ब्रिटेन की शुद्ध श्रेणिक कला तो उतनी ग्राह्य नहीं बन सकीं जितनी निम्न स्तर की।

अनेक व्यवधानों के मध्य रवि वर्मा नामक एक उत्कृष्ट प्रतिभाशाली और ध्येयनिष्ठ व्यक्ति हमारे समक्ष आया। उन्होंने सीमित क्षेत्र में भी कुछ करके दिखाया। उन्होंने अपने द्वारा निर्मित वस्तुओं में एक मात्र विक्रय का ही दृष्टिकोण नहीं रखा अपितु उनमें यथेष्ट रागात्मकता का भी समावेश किया। उन्होंने पुराणों की कथाओं को आधार बनाकर अनेक चित्रों का अंकन सादगी भरे रंगों और सरल शैली में किया। यह कहा जा सकता है कि उनका वास्तविक कार्य श्रेणिक न होकर, कला के प्रचार प्रसार का अधिक था।

भारत में ब्रिटिश साम्राज्य के काल में कला को दो अंग्रेजों द्वारा विशेष प्रोत्साहन मिला, यह बता हमारी संस्कृतिगत चेतना के लिए एक प्रकार का आव्हान है। ये दो अंग्रेज थे—लार्ड कर्जन और ई. बी हावेल। कर्जन तो भारत की स्थापत्य कला को देख कर विस्मित ही रह गया था। हावल ने जो कलकत्ता स्थित कला विद्यालय का प्रिन्सिपल भी था, वे भारत के उदीयमान कलाकारों में पश्चिम की कला को अनुसरण करने की प्रवृत्ति को तीव्रता से अनुभव किया और उसने इस बात पर बल दिया कि भारतीय अपनी परम्परागत कला पद्धतियों को ही ग्रहण करें। लगभग उसी समय डॉ. आनन्द कुमार स्वामी ने दार्शनिक पृष्ठ-भूमि की आवृति के रूप में अपनी कला का प्रदर्शन विदेशों की अन्तर्राष्ट्रीय जनता के समक्ष किया। पुनरावृत्तिपरक दृष्टिकोण का जो प्रभाव हमारी सामाजिक भावनाओं पर है, उसका अविस्मरणीय ऐतिहासिक महत्व है।

डॉ. अवनीन्द्रनाथ ठाकुर के नेतृत्व में कुछ नवीन कलाकारों ने अपने को राजपूत, मुग़ल और अजन्ता की चित्र शैलियों को व्यापक रूप में पुनर्जीवन देने में लगा दिया। इस प्रकार उन्होंने हावैल की कल्पनाओं और विचारों को मूर्त्तरूप दिया।

कला में इस नव जागरण से बाह्य आडम्बर और चमक दमक का प्रभाव बहुत अंशों में लुप्त हो गया। अब कला साहित्यिक और काव्यमयी भावनाओं की ओर अभिमुख हुई। शैली की दृष्टि से भी भारतीय कलाकार यूरोपीय तैलीय रंगों के चित्रण को छोड़कर जलीय रंगों के चित्रण पर उतर आए। यह परिवर्तन पश्चिम के प्रति था, समस्त विदेशी दृष्टिकोणों के प्रति नहीं था। दूसरी ओर चीनी और जापानी कला का अध्ययन भारत में अभिरुचि और गहनता के साथ किया गया। चीन की रेखा-पद्धति पर चित्र निर्माण शैली का प्रचलन हुआ और जापान ने रंगों का माध्यम, विविधता तथा अद्भुत सामंजस्य हमें दिया।

इतिहास के साथ साथ हमारी विचार दृष्टि भी परिवर्तित हुई। कला के इतिहासकार इस बात को चिरस्मरणीय रखेंगे कि इस परिवर्तन ने कला के क्षेत्र में एक नए जीवन और औचित्यपूर्ण जागृति का समावेश किया। वस्तुतः यह परिवर्तन वही पुरातन सूत्र था जिसने देश की कला परम्पराओं का फिर से उन्नयन किया और उन्हें संतुलन दिया तथा देश के कला-विद्यालयों को सुयोग्य अध्यापक भी सुलभ किए।

डॉ. अवनीन्द्रनाथ ठाकुर भारत के चित्रकारों में अग्रगण्य थे। उन्होंनें दिल्ली और पटना में प्रचलित शैलियों को प्रेरणाएँ प्रदान कीं और निर्जीव कला में जीवन का संचार किया। पश्चिमी चित्र कला चीनी और जापानी शैलियों का गहन अध्ययन करने के अनन्तर भी अपनी परम्परागत मौलिकता को उन्होंने न केवल बनाए रखा, उसका परिमार्जन और उन्नयन भी किया। हो सकता है कि डॉ. अवनीन्द्रनाथ ठाकुर द्वारा फिर से स्थापित भारत की पुरातन और मध्यकालीन कला सामयिकता पूर्ण न हो। किन्तु उन्होंने आधारभूत दृष्टि से एक ऐसी अभिनव कला शली को भी जन्म दिया, जो आज सर्वत्र व्यापक रूप में प्रिय हो रही है। यहां तक कहा जा सकता है कि अनेक पश्चिमी और जापानी कला पद्धतियां भी इसी कला-शैली से अनुप्रेरित प्रतीत होती ह।

डॉ. अवनीन्द्रनाथ का महत्व कला के बहुमुखी उन्नयन तक ही नहीं है, उन्होंने भारत और विश्व को उच्च कोटि की प्रतिभा के कलाकारों की श्रृंखला भी उपलब्ध की। डॉ. नन्दलाल बोस उनके प्रिय और निकटतम शिष्य हैं। वे आजकल शांतिनिकेतन में कला की सेवा में दत्त चित्त है। असित कुमार हलदर ने लखनऊ के कला विद्यालय की सेवाएं प्रिन्सिपल के रूप में की। समरेन्द्रनाथ गुप्त ने लाहौर के कला विद्यालय और वेंकटय्या ने मसूर में कला की सेवा की। इनके अतिरिक्त शैलेन्द्रनाथ, शारदा-उकील, प्रमोद कुमार चट्टोपाध्याय, देवीप्रसाद राय चौधरी, पुलिन बिहारी दत्त, मुकुन्द्रचन्द्र डे, रमेशनाथ चक्रवर्ती आदि कलाकारों ने भारत के भिन्न भिन्न स्थानों में कला के कार्य को आन्दोलित किया है।

बंगाल ने यदि कला में परम्पराओं को जन्म दिया है, तो बम्बई ने जो कि सदा अन्तर्राष्ट्रीय भावनाओं का संधिस्थल रहा है, कला में शली और व्यवहार दृष्टि का प्रतिपादन किया है। बम्बई के कला विद्यालय के एक आचार्य का कथन है कि कला केवल आत्मावलंबी नहीं हो सकती, जब तक कि उसे जनता का आधार उपलब्ध न हो। यह दृष्टिकोण कला की एक मुख्य समस्या को हमारे समक्ष प्रस्तुत करता है। बम्बई पद्धति के छात्रों ने विभिन्न शैलियों म चित्र बनाने के अच्छे प्रयास किये हैं। उनकी मौलिकता बहुत अंशों म किसी घटना विशेष पर भी आधारित होती ह। किन्तु बम्बई पद्धति के कलाकारों नें जलीय, तैलीय और विभिन्न प्रकार के माध्यमों और शैलियों को अपनाया और उनमें अनेक प्रकार के चित्रों का निर्माण किया है। बम्बई के कलाक्षेत्रों ने कुछ यह भी अनुभव किया कि पश्चिमी कला-शैली भी उपयोगी सिद्ध हो सकती है।

इसी समय भारतीय चित्र कला में एक अन्य नवीन क्रांति का समावेश दृष्टिगोचर होता है। इसके द्वारा परंपरा पर अनावश्यक बल और अलक्ष्य प्रकृतिवाद दोनों की वर्जना की गई। श्री गगनेन्द्रनाथ ठाकुर, यामिनी राय, अमृता शेरगिल प्रभृति इस नवीन परम्परा के मुख्य सूत्रधारों मे से थे। कवीन्द्र रवीन्द्र की बहुत सी कलाकृत्तियां सौन्दर्य की मर्मस्पर्शी भावना और विश्व की निगूढ़ता से ओत-प्रोत है, उनका चित्रण अन्तर्रात्मा को आलोड़ित कर डालता है। उनके भतीजे गगनेन्द्रनाथ ठाकुर ने कला को समाज की यथार्थवादिता की ओर मोड़ा। इस प्रकार हम पाते हैं कि बंगाल के पुनावृत्तिकारों नें अतीत की उत्कृष्ट परम्पराओं को निभाया है और एक नवीन दृष्टिकोण लेकर उन्हें आगे भी बढ़ाया। भारत की परम्पराओं में एक विशिष्ट लोककला का अपना महत्व रहा है। इसी लोक कला का उन्नयन श्री यामिनी राय ने शली की आधुनिकता को माध्यम बनाकर किया। अमृता शेरगिल की माँ हंगेरियन और पिता

भारतीय थे। उनकी शिक्षा-दीक्षा पेरिस में हुई थी। उनकी कला में पूर्व और पश्चिम की भावनाओं और शैलियों का अद्भुत सामंजस्य परिलक्षित होता है।

आधुनिक चित्र कला के क्षेत्र में विभिन्न शैलियों और भावाभि व्यक्तियों के कारण कुछ जटिलत भी दृष्टिगत होती है। फिर भी आजकी कला चिरन्तर प्रगति की द्योतक है। भारत की आधुनिक कला अन्तर्राष्ट्रीय गौरव और राष्ट्रीय सद्भावनाओं का एक अच्छा प्रतीक भी है। उसमें परम्परा और ऐतिहासिक विकास भी समुचित रूप में हुआ है। आधुनिक कलाकार भी आज परम्परागत कथाओं में विशेष अभिरुचि लेते प्रतित होते हैं।

भारतीय कला मे भौतिक भावनाओं नें भी विशेष स्थान बना लिया है। और अनेक भारतीय कलाकारों ने इस और भी उल्लेखनीय काय किया है। ईसाई धर्म गाथाओं पर आधारित कितने ही चित्र हमें देखने में आते हैं। इस क्षेत्र की कला के प्रत्येक चरण में अन्तर्राष्ट्रीयता प्रतिध्वनित होती है दूसरी ओर अनेक ईसाई धर्मावलम्बी कलाकारों ने भी भारतीय गाथाओं पर सुन्दर सुन्दर चित्र बनाए हैं।

आज भारतीय कलाकारों के समक्ष सब से ज्वलंत प्रश्न यही है कि भारतीय कला पर विदेशी प्रभाव को स्वीकार किया जाए अथवा नहीं। यह उल्लेखनीय, और रोचक बात है कि कुछ इसी प्रकार का विवाद अमेरिका में भी हुआ था, जब कि अमेरिका और यूरोप की संस्कृति सभ्यता और भावनाओं में गहरी अभिन्नता है।

इस प्रश्न का समाधान भारतीय परम्परा और इसमें सन्निहित भावनाओं की पृष्ठभूमि में अधिक है। भारतीय मान्यताएं अन्तर्मुखी होने के साथ ही अपनी अभिव्यक्ति में विशिष्ट असाधारणता को भी समेटे हुए हैं। सम्भवतः आज के लोग उन भावाभिव्यक्ति को निरूपण सम्यक् दृष्टि से न कर पाएँ। भारत की कला परम्पराओं में न केवल इसी की अपितु एशिया की मनोभावनाओं की अभिव्यक्ति होती है। भारत ने अपने अतीत में ज्ञान और संस्कृति का जो संदेश लंका, चीन, जापान, हिन्देशिया, आदि एशियाई देशों को दिया, उसका गहरा प्रभाव अभी भी वहां की स्थापत्य आदि कलाओं में स्पष्टतः देखा जा सकता है।

जो हो, हमें अपनी भावनाओं और सृजनात्मक प्रवृत्तियों में एकरूपता अवश्य लानी चाहिए।

विश्वनाथ मुखर्जी
प्रिंसिपल, गवर्नमेंट कालेज ऑफ़ फ़ाइन आर्ट्स,
हैदराबाद-दक्षिण

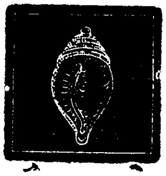

हैदराबाद में पुरातत्व शास्त्र

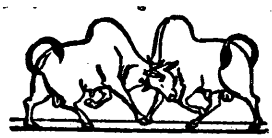

पुरातत्व शास्त्र की अनेक शाखाएं हैं। इन शाखाओं में एक आधारभूत शाखा है जिससे हमें इस बात का ज्ञान होता है कि सभ्यता का प्रारम्भ किस प्रकार हुआ। यह एक ऐसा विषय है जो कि अनिवार्यतः अनाज के पौधों और उनकी खेती से सम्बन्ध रखता है। एकोलोजी या अनाज का प्रारंभ विशेषतः गेहूं, चावल और जवार की उत्पत्ति का वह शास्त्र जिससे हमें मनुष्य के प्रारम्भिक घर और प्रारम्भिक सभ्यता का—चाहे वह आर्य हो या आर्यों के पूर्व की हो—पता लगता है। भोजन की स्थिरतापूर्वक प्राप्ति सभ्यता के विकास का एक आवश्यक अंग है। इन अनाज के दानों के बिना मानवीय उन्नति की पूर्णरूप से संभावना नहीं हो सकती थी। कौम० विविलोव और अन्य रूसी वैज्ञानिकों के विचारों के अनुसार गेहूं सबसे पूर्व अफ़गानिस्तान से आया। ऐसा प्रतीत होता है कि चावल सबसे पूर्व दक्षिण भारत की प्राचीन नदियों, गोदावरी, कृष्णा और उनकी उपनदियों के किनारों पर उत्पन्न हुआ। पुरातत्व-शास्त्री अभी तक इस बात का पता नहीं लगा सके हैं कि जवारी सबसे पूर्व कहां उत्पन्न हुई।

पुरानी मट्टी से ऐसे पौधों या वनस्पतियों को प्रमाणों के साथ प्राप्त करना जो कि प्रारम्भिक मानव के समय विद्यमान थीं एक उन मुख्य समस्याओं में से है जिन्हें कि हैदराबाद में एक पुरातत्व शास्त्री को हल करना है। इसके लिए बहुत सी मट्टियों को लेकर उनका विश्लेषण करना, पौधों और वनस्पतियों के बीजों को प्राप्त करना और पहचानना, अन्न के उत्पादन के मुख्य तत्वों और इसलिए विश्व के इतिहास के होलोसीन और प्लाइस्टौसीन युगों में पराग के विश्लेषण के द्वारा दूर और विदेशी जलवायु की अवस्थाओं का परिज्ञान परम आवश्यक है। इसकी परम आवश्यकता का इस बात से अन्दाजा लगाया जा सकता है कि यूरोप में जहां कि पाषाण युग की संस्कृतियों की प्रचुरता है, पुरातत्व की खुदाइयों में पराग का विश्लेषण एक अनिवार्य रूप से किया जानेवाला प्रतिदिन का कार्य है। हैदराबाद में यदि अन्वेषण किया जाएगा तो यहां ऐसे पत्थर के उपकरणों सम्बन्धी स्थलों का पता लग सकेगा जिनकी तुलना कर्नूल की गुफ़ाओं से की जा सकेगी।

किसी भी प्रशिक्षित पुरातत्व शास्त्री के लिए पराग की विश्लेषण की विधि कुछ कठिन नहीं है और इसका संक्षेप से विवरण इस प्रकार है। पराग को स्वल्प मात्रा में लीजिए और इस पर सोडियम या पोटाशियम हाइड्रोक्साइड या कोई पृथक् करनेवाली वस्तु डालिए। इससे दूसरे तत्व पृथक् हो जाएँगे और एकमात्र पराग रह जाएगा जो कि बहुत अधिक प्रतिरोधक होता है। केन्द्र से प्रवाहित खनिज धातुमय तत्व के भारी कणों को हलके पराग से पृथक् करने में प्रायः उपयोगी सिद्ध हुए हैं। इसके पश्चात् पराग को अणुवीक्षण यंत्र के नीचे रखा जाता है और कणों की प्रत्येक किस्म या प्रकार को गिना जाता है और प्रतिशत पुनरावर्तन का हिसाब लगाया जाता है।

पराग के विश्लेषण की सहायता से वृक्षों की बनावट या जंगल की वनस्पतियों में परिवर्तन का अच्छी तरह पता लगाया जा सकता है। इसलिए प्रत्येक प्रकार के नमूनों के पूरे हिस्सों का थोड़े थोड़े अरसे के पश्चात् अनुसन्धान करना अत्यन्त आवश्यक है।

इंग्लैण्ड, यूरोप और अमरीका में अनेकों मानचित्रों में इस प्रकार के अनुसंधान के परिणामों को प्रकाशित किया गया है। इस विषय में हमें अभी अपने कार्य को आरम्भ करना है।

मट्टी और कंकरों के जो अभी रासायनिक और भौतिक विश्लेषण किये गए हैं उनसे पुरातत्व-शास्त्रियों को जलवायु की उन साधारण अवस्थाओं का परिज्ञान होता है जिनमें कि पुरानी मट्टी विद्यमान थी। ये साधारण अवस्थाएँ इस प्रकार की थीं जो कि उस समय के मानव के समकालीन थीं। यूरोप में डा. एफ. ई. ज्यूनेर ने इस प्रकार की विश्लेषणात्मक टेकनिक को विकसित किया है और इस प्रकार की सामग्री को एकत्रित किया और परखा है जिसमें कि प्राचीनतम समय से लेकर अपेक्षाकृत आधुनिकतम समय तक की मनुष्य की अवस्थाओं और काल का पता चलता है। डा. ज्यूनेर यांत्रिक विश्लेषण के द्वारा रेत, चिकनी मट्टी, ईंटों की मट्टी और अन्य प्रकार की मट्टी के सार और वज़न का निर्धारण करते हैं। सामग्री के कुछ अंश को पानी में डाल दिया जाता है, इसमें जो मोटे और भारी कण उनसे जल्दी नीचे बैठ जाते हैं जो कि पतले और हलके में होते हैं। बरफ़ में हवा के द्वारा डाल दिए गए मट्टी के कणों और इसी प्रकार नदी की रेत के कणों के तुलनात्मक परीक्षणों से यह ज्ञात होता ह कि ९०, ९७ प्रतिशत वायु के कण उडाए हुए मट्टी के कण ०.०७,०.०१ एम. एम और इससे भी अधिक बारीक होते हैं, जब कि पानी में पड़े

हुए ६६ प्रतिशत मट्टी के कण उतने ही बारीक होते हैं । इसी प्रकार की समान विधियों के द्वारा यह बात निर्धारित की जा सकती है कि प्राप्य मट्टी पर बाद की अवस्थाओं का प्रभाव पड़ा ह । जब भिन्न भिन्न क्षत्रों की मट्टी के कणों का तुलनात्मक सूक्ष्म अध्ययन किया जाता ह तब हम मट्टी पर काल क्रम के प्रभाव का पता लग जाता ह । दो क्षेत्रों में इसी प्रकार के भिन्न भिन्न समयों पर जो परिवर्तन होते रहते हैं उनसे दोनों की कुछ समकालीनता का परिज्ञान हो जाता है ।

यांत्रिक विश्लेषण के समान कंकरों का विश्लेषण भी है । यह तो साधारण रूप से ज्ञात ही है कि मनुष्य की कहानी की प्रारम्भिक अवस्थाएं प्रारंभिक प्राचीन या वर्षा संबंधी जलवायु के प्रबल प्रमाणों से अन्तर्निहित या आबद्ध हैं जिन्हें कि कई प्रकार से भिन्नाकृति में किया जा सकता है । इन जलवायु संबंधी भेदों या उपभेदों की सूची रेतीले टीलों या नदियों के बाद के तले से प्राप्त होती है । एक ही नदी के भिन्न भिन्न रेतीले टीलों के कंकरों के नमूनों के विश्लेषण से अनेक महत्वपूर्ण बातों का परिज्ञान होता है । कई प्रकार की छाननियों में इन कंकरों को छाना जाता है और परिमाण के अनुसार कणों को स्तरित कर दिया जाता है । कंकरों के प्रत्येक स्तर को उन शिलाओं और खनिज तत्वों के भेदों के अनुसार चुन लिया जाता है । साधारणतया परिणाम को प्रतिशत के अंकों में प्रस्तुत किया जाता है । इन अंगों में से इन बातों पर प्रकाश पड़ता है :—

१. ढ़ालू क्षेत्र में परिवर्तन और उस परिवर्तन से संबंधित समय ।

२. घटनाओं के क्रम के संबंध में ज्वालामुखी के फटने की घटनाओं की तारीख ।

३. हिमीकरण से संबंधित समय-जिसने नदी को आक्रान्त या स्पर्श किया । इसका पता उन पत्थरों से लगता है जो कि विदेशी शिलाओं के होते हैं ।

४. कुछ नदियों में कंकर भिन्न प्रकार के होते हैं । इसके कंकरों में एक प्रकार की वक्रता होती है जिससे कि भिन्न कंकरों में के तत्वों की पारस्परिक पुनरावर्तन का पता चलता है । जबकि कंकर इकट्ठे हो जाते हैं उस समय जलवायु का वक्रता के आकार पर प्रभाव पड़ता है । जो कि पत्थर फैलस्पर के समान कठोर और कुछ प्रतिरोधक होते हैं वे छोटे ग्रेड में रह जाते हैं जब कि गीली जलवायु में ये नष्ट हो जाते हैं ।

यदि हम गोदावरी, कृष्णा और उनकी सहनदियों के रेतीले टीलों का अध्ययन करें तो हम जलवायु के परिणाम का विस्तृत रूप से पता लगा सकते हैं । इसके साथ ही हमें (अनुकूल परिस्थितियों में) उनसे निकटरूप से संबंधित पृथ्वी में गड़े हुए मानवीय उपकरणों का भी परिज्ञान हो सकता है । इसकी मट्टी के विश्लेषण से तुलना की जा सकती है । इससे हमें जहां सामूहिक रूप में अवस्थाओं का परिज्ञान हो सकता है वहां पर्याप्त सामग्री को एकत्रित कर एक विशेष क्षेत्र की मानवीय सभ्यता और संस्कृति का ज्ञान की प्राप्त किया जा सकता है ।

पुरातत्व-शास्त्र की एक शाखा को साधारणतया भू-काल शास्त्र (Geochronology) कहा जाता है । भिन्न भिन्न परिणामों के अध्ययन से हम संबंधित काल का निर्धारण कर सकते हैं । सत्य तो यह है कि जब तक इस दिशा में गम्भीरतापूवक कार्य न किया जाए तब तक हैदराबाद में पुरातत्व-शास्त्र का ठीक तरह अध्ययन नहीं किया जा सकता ।

अन्त में मैं यह कहना चाहता हूं कि यूरोप में इस सम्बन्ध में जो परिणाम निकाले जाते हैं, भारत वर्ष में बिना किसी छानबीन के उन्हें सर्वांश में स्वीकार कर लिया जाता है और इस प्रकार प्रागैतिहासिक समय के विषय में अवैज्ञानिक और शिथिल बातें स्वीकार कर ली जाती हैं। यह सत्य है कि भारतवर्ष और यूरोप में महान् नदियों और भौगोलिक क्षेत्रों और एक दूसरे से मिलते हुए उद्योगों में इस प्रकार की एक समान बातें पाई जाती हैं जिनके आधार पर यूरोपियन पुरातत्व शास्त्री उसी प्रकार के काल क्रम का निर्धारण कर देते हैं। परन्तु दोनों में कई महान् भेद हैं। भारतवर्ष में हिम की सामग्री नहीं है जो कि उप-ध्रुवगत स्थित यूरोप में है। हमारे पास वर्षा से प्राप्त सामग्री प्रचुर मात्रा में है। इसकी अफ्रीका के वर्षा सामग्री के साथ और यूरोप के हिमकरण और अन्तर्हिम के साथ विश्लेषणात्मक तुलना की जानी चाहिए। अन्ततः मनुष्य जाति का मूल इस उप-महाद्वीप में लगभग एक लाख से ऊपर वर्षों तक फैला हुआ है और जब तक हम इसका यथोचित वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन न करें तब तक प्रागैतिहासिक काल का अनुसंधान यथार्थ नहीं कहा जा सकता।

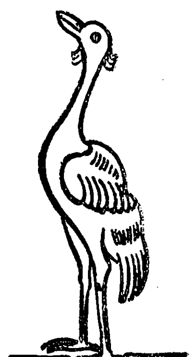

डा० श्रीनिवासाचार्य
डाइरेक्टर, पुरातत्त्व-विभाग,
हैदराबाद-राज्य

शौर्य

हैदराबाद के आधुनिक कलाकार

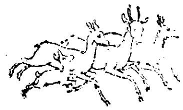

हैदराबाद के आधुनिक कला-प्रवृत्तियों और कलाकारों के प्रादुर्भाव के विषय में जानने से पूर्व कतिपय उन व्यक्तियों से परिचित होना भी आवश्यक है जिन्होंने आधुनिक कला की गतिविधियों को यह महत्व-पूर्ण प्रेरणा प्रदान की हैं। उनमें स्व. सर अकबर हैदरी का नाम अविस्मरणीय है। आपके द्वारा स्थानीय प्रशासकीय कला महाविद्यालय (Government College of Fine Arts) की संस्थापना हुई थी। इस महाविद्यालय की स्थापना में स्व. खान बहादुर सैयद अहमद का उल्लेख-नीय योग रहा है।

स्वर्गीय सालार जंग कला के बड़े प्रेमी थे और उन्होंने अनेकानेक कलाकारों को विविध प्रकार से प्रोत्साहित किया था। उनके यहां विभिन्न कला कृतियों का नयनाभिराम संग्रह था। श्री विनायक राव विद्यालंकार ने हैदराबाद के एक प्रतिभाशाली कलाकार, श्री विद्या भूषण को, उनके प्रारम्भिक दिनों में प्रोत्साहन दिया। उन्हें केशव स्मारक विद्यालय में कला अध्यापक के रूप में नियुक्त कर उनकी सहायता की।

टोकरी बुननेवाली
चित्रकार : श्रीमती फ़्रेनी बहमनशा

प्रसाधन
चित्रकार : उस्मान सिद्दीक़ी

चिर जीवन
चित्रकार : विद्या भूषण

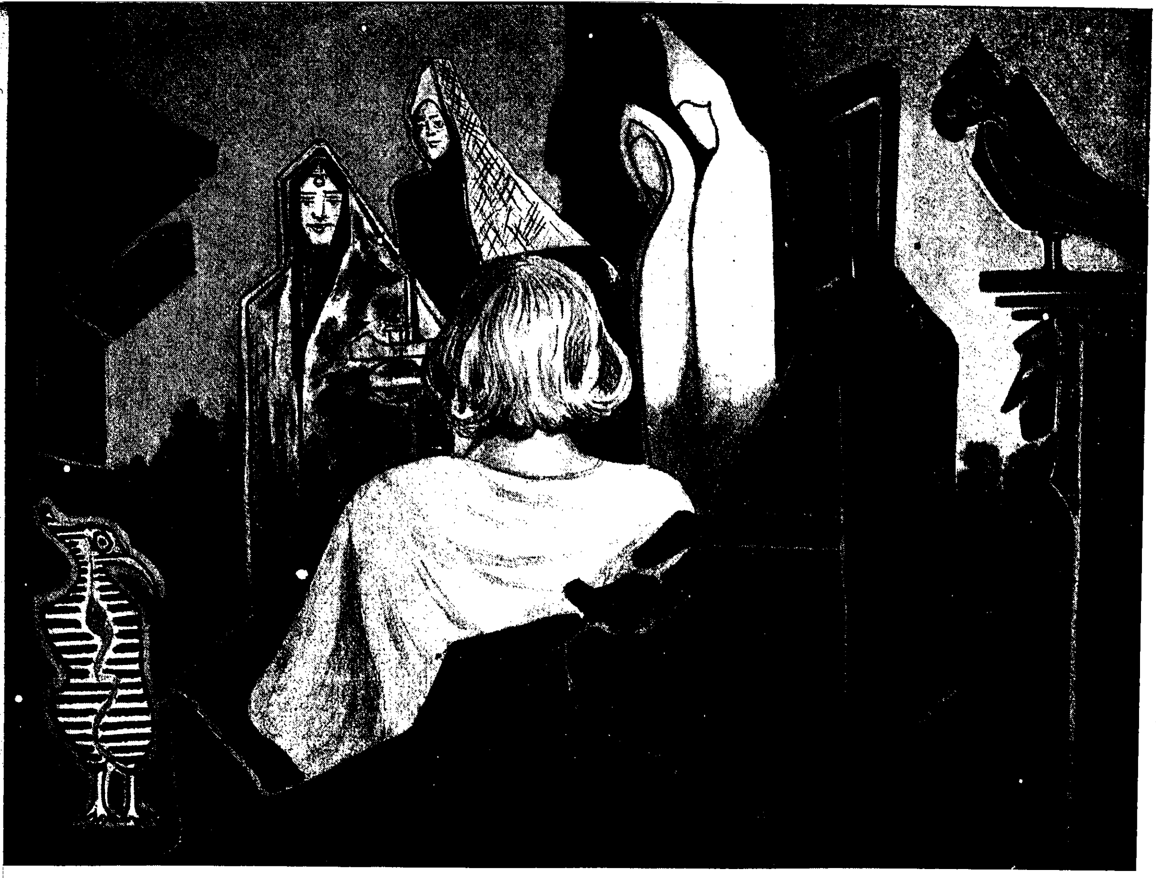

गुरुदेव की स्वप्न सृष्टि
चित्रकार : एस. एन्. आलन्दकर

"गुरुदेव इन माय व्हिज़न" पुस्तक से

हैदराबाद के एक अन्य कलाकार श्री के. शेषगिरि राव को नवाब मेहदी नवाज़ जंग बहादुर से विशेष सहानुभूति प्राप्त हुई है। उन्हें नवाब साहब की ओर से कला के उच्च अध्ययन के लिए समुचित सहायताएं उपलब्ध हुई हैं।

हैदराबाद की कला चेतना को जागृत करने में श्री लक्ष्मीनारायण गुप्त ने महान् योग दिया है। स्थानीय कलाकारों द्वारा निर्मित चित्रों को श्री गुप्त जी से न केवल समुचित प्रश्रय ही प्राप्त होता है वे राज्य की समग्र कला-गतिविधियों को यथाशक्य प्रेरणा और बल भी प्रदान करते हैं। राज्य में कला की आधुनिक गतिविधियों के उन्नयन में कतिपय अन्य लोगों का भी अपना अपना योग रहा है वे सभी हमारे लिए अविस्मरणीय हैं।

हैदराबाद के आधुनिक कलाकारों में खान बहादुर सैयद अहमद का विशेष स्थान है।

बौद्ध धर्म के धीरे धीरे समय की गति में विलुप्त होने के साथ अजन्ता की गुफ़ाएं भी भुला दी गई। कई सौ वर्ष तक ये पवित्र स्मृतियां बिलकुल ही विस्मृत रहीं और १९ वीं शताब्दी में संसार ने जिन्हें फिर से जाना और अपनाया। तब से संसार के प्रत्येक क्षेत्र के कलाकारों, इतिहासकारों तथा पुरातत्व विशेषज्ञों के लिए अजंता तीर्थ स्थान है।

कलाकार समाज की बहुत प्रकार से सेवा कर सकता है। इस और स्वर्गीय सैयद अहमद बहुत ही आदर से याद किए जाते रहेंगे।

खान बहादुर सैयद अहमद १८८९ में औरंगाबाद में पैदा हुए थे। बचपन से ही आपका कला की और रुझान था और इसी रुचि को देख कर आपकी कला में उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए बम्बई के सर जे.जे. स्कूल आफ़ आर्ट्स में भेज दिया गया। उन दिनों हैदराबाद राज्य में स्थानीय विद्यार्थियों को उच्च शिक्षा ग्रहण करने का कोई प्रबन्ध नहीं था और जो कलाकार उच्च अध्ययन करना चाहते थे उन्हें बम्बई या और अन्य स्थानों में जाना पड़ता था। खान बहादुर सैयद अहमद को १९११ में इलाहाबाद की भारतीय कलाप्रदर्शिनी में सराहनीय सफलता मिली।

लगभग सौ वर्ष पूर्ण जिन कतिपय यूरोप निवासियों द्वारा अजंता में चित्रित चित्रों की नक़ल की गई उनमें मेजर रावेंटगिल (१८४४-६३) और श्री जान ग्रिफ़थ्स का नाम उल्लेखनीय है। ये प्रतिकृतियां इंग्लैण्ड में साउथ किंग्स्टन म्यूज़ियम और विक्टोरिया एँड एलवर्ट म्यूज़ियम के भारतीय कक्ष में संगृहीत हैं।

दूसरी बार श्रीमती हरिंगम द्वारा १९०६ और १९११ में नन्दलाल बोस, असितकुमार हलदर, के. वेंकटप्पा, सुरेन्द्रनाथ गांगुली तथा सैयद अहमद प्रभृति भारतीय कला विशारदों को लेकर कोशिश की गई। इन कलाकारों ने गुफ़ाओं से काफ़ी चित्र उतारे।

सैयद अहमद की उतारी हुई कृतियां अब भी ब्रिटिश तथा जापानी संग्रहालयों में सुरक्षित रूप में संगृहीत हैं। उन्होंने अजंता से लगभग ५०० से अधिक चित्र उतारे थे। इस महान् कार्य के सम्पन्न होने के बाद सैयद अहमद की सेवाओं के उपलक्ष में उन्हें हैदराबाद के एक औद्योगिक विद्यालय में ड्राइंग अध्यापक नियुक्त किया गया; किन्तु बहुत शीघ्र ही अपनी योग्यता के कारण [वे १९१६ मे अजंता

की गुफ़ाओं के क्यूरेटर के पद पर आसीन कर दिए गए। इस पद पर उन्होंने २४ वर्ष बड़ी योग्यता के साथ काम किया।

हैदराबाद के उन विद्यार्थियों की कठिनाइयों के विचार से जो कला की उच्च शिक्षा प्राप्त करना चाहते थे सरकार ने हैदराबाद राज्य में ही कला का एक विद्यालय खोलने का निश्चय किया जहां पूरी तौर पर कला के प्रत्येक पक्ष में उच्चतम शिक्षा प्राप्त हो सके।

सैयद अहमद उस स्कूल के सर्व प्रथम आचार्य नियुक्त किए गए। हैदराबाद के अतिरिक्त दक्षिण के अन्य तीन चार स्थानों में कला विद्यालयों की स्थापना स्वर्गीय सर अकबर हैदरी द्वारा की गई।

श्री सैयद अहमद की सृजनात्मक प्रवृत्ति तथा प्रयासों के परिणाम स्वरूप अजंता की कला सारे संसार में प्रसिद्ध हो गई। सन् १९३० में भारत की सरकार ने उनके कार्यों का मूल्यांकन करते हुए उन्हें "खान बहादुर" की उपाधि से सुशोभित किया। आज भी सैयद अहमद की अजंता की कला कृतियां हैदराबाद के "अजंता कक्ष" (Ajanta Pavilion) में देखी जा सकती हैं।

कला की प्रगति के लिए जिन्होंने अपनी अमूल्य सेवाएं अर्पित की उनमें देउसकर—परिवार का विशिष्ट स्थान है।

श्री आर. डबल्यू. देउसकर (जिनकी आयु अब अस्सी वर्ष की है) को अपनी कला-शिक्षा समाप्त करलेने के पश्चात् ही हैदराबाद के तत्कालीन नवाबों और विशेषकर स्वर्गीय नवाब सालार जंग के सम्पर्क में आने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। श्री देउसकर ने अपने जीवन के लगभग दस पंद्रह वर्ष यूरोपियन देशों में व्यतीत किए थे। स्वार्गीय सालार जंग ने उन्हें वहां पुरातन एवं आधुनिक कलात्मक वस्तुओं का चित्रण करने और उनके अध्ययन के लिए भेजा था। उनकी इस प्रकार की अधिकांश कृतियां आजकल सालार-जंग म्यूज़ियम में संगृहीत हैं। उनके सुपुत्र शिवकुमार देउसकर का जन्म उनकी यूरोप यात्रा के समय में ही पेरिस में हुआ था।

शिव कुमार देउसकर ने अपनी कला की प्रारम्भिक शिक्षा फ्रांस, स्पेन तथा इटली आदि के कला विशारदों से ग्रहण की और भारत आने के पश्चात् उन्हें शान्तिनिकेतन के कला भवन में भारतीय कला की परम्परा एवं उसके मर्म को सामझाने के लिए भेज दिया गया। वहां आपने नन्दलाल बोस के सानिध्य में अपना कार्य पूरा किया।

आपकी कला में पाश्चात्य शैली के प्रतीकों के साथ भारतीय कला की परम्परा तथा उसकी ऊंची अभिव्यक्ति स्पष्टतया दीखती है। शिव कुमार की विशेषता उनके द्वारा अंकित चित्रों में देखी जा सकती है। उनकी कृतियां राजा धनराजगिर जी के प्रासाद में देखने को मिलेंगी जब कि उनकी बनाई हुई पोर्ट्रेट भारत में अनेक व्यक्तियों के पास संगृहीत हैं। शिव कुमार तत्कालीन प्रिंसिपल स्व. सैयद अहमद द्वारा सेन्ट्रल स्कूल आफ़ आर्ट्स और क्राफ्टस के चित्रकारी विभाग में अध्यापक नियुक्त किए गए। बाद में उनकी प्रतिभा और क्षमता ने उन्हें उसी स्कूल के प्रिन्सिपल के पद पर आसीन किया। कलाकार के अतिरिक्त शिवकुमार की कल्पना तथा अनुभूति प्रवणता भी में बहुत ही उल्लेखनीय है और उन्होंने राज्य में कला-शिक्षा के लिए जो अमूल्य सेवाएँ की हैं, वह चिरस्मरणीय रहेंगी। सेन्ट्रल स्कूल देश का अन्य प्रगतिशील कला स्कूलों की समता में फिर से विकास किया गया।

श्री शिव कुमार का युवावस्था में ही अचानक निधन वास्तव में भारतीय कला के क्षेत्र के लिए एक बड़ी क्षति है।

श्री मसूद अहमद एक कलाकार हैं जिन्होंने राज्य में कला-शिक्षा के क्षेत्र में सराहनीय सेवाएं की हैं। बम्बई के सर जे.जे. स्कूल आफ आर्ट्स में पूर्णतया शिक्षा लेने के पश्चात् श्री मसूद अहमद को इंग्लैण्ड उच्च अध्ययन के लिए भेज दिया गया। आपके पिता खान बहादुर सैयद अहमद ने उनको इस कार्य में सुविधा देने में कोई कसर उठा न रखी। लन्दन के रायल कालेज आफ आर्ट्स में शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् उन्हें उसी कालेज की समिति की सदस्यता प्रदान की गई। मसूद अहमद अपने तैल चित्रों के द्वारा देश के प्रायः सभी कला-समीक्षकों तथा कला-प्रेमियों में प्रिय हैं। और आप लगभग गत १५ वर्षों से अजंता गुफ़ाओं के क्यूरेटर के पद पर और बाद में सेन्ट्रल स्कूल आफ़ आर्ट्स के वाइस प्रिंसिपल के पद पर सेवा करते आ रहे हैं।

पिछले दस वर्षों से एक और कलाकार हैदराबाद को अपनी महत्वपूर्ण कृतियां दे रहे हैं—वह हैं पी.टी. रेड्डी। आपने बम्बई के सर जे.जे. स्कूल आफ़ आर्ट्स से शिक्षा प्राप्त की है और आप को कल्पना तथा रंगों का सामंजस्य तथा कला की प्रतिभा तथा उसका सहज अंकन मानों प्रकृति से उपहार में ही मिला हो। आपकी कृतियां हैदराबाद और सभी स्थानों पर प्रशंसा प्राप्त कर चुकी हैं।

विद्या भूषण एक अन्य उदीयमान कलाकार हैं। इनसे चित्रकला जगत् को बड़ी आशाएं हैं। सर जे.जे. स्कूल आफ़ आर्ट्स बम्बई में अध्ययन करने के पश्चात् विद्या भूषण कला की सेवा के लिए हैदराबाद आ गए। भूषण की कृतियों में विभिन्न शैलियां तथा संकेत दीखते हैं। उनकी कला में वास्तविकता की स्पष्ट छाप परिलक्षित होती है। भूषण के बनाए (आदम कद) राष्ट्रीय नेताओं के पोर्ट्रेट हैदराबाद राज्य तथा देश के अन्य सज्जनों के पास संगृहीत हैं। भूषण की (Murals) म्यूरल्स की कृतियां नई दिल्ली के निज़ाम पैलेस में रुचि एवं आकर्षण की केन्द्र हैं। इस समय वे स्थानीय कला विद्यालय में हैं और चित्रकला विभाग में काम कर रहे हैं।

अभी हाल ही में उन्हें यूगोस्लाव सरकार द्वारा छात्रवृत्ति मिली थी और वे कला में उच्च अध्ययन के लिए यूरोप गए थे। उनकी इस यात्रा तथा उनके अध्ययन ने उनकी कला में एक नया और आधुनिक प्रभाव उत्पन्न किया है। आपने अपनी पूर्व यथार्थवादिता को पीछे छोड़ दिया है और अब बिलकुल भिन्न और अभिनव शैली का प्रयोग कर रहे हैं।

सैयद बिन मुहम्मद एक और युवक कलाकार हैदराबाद में हैं और वे स्थानीय कला विद्यालय की ही देन हैं। आपने सैयद अहमद तथा शिव कुमार देउसकर की संरक्षता में कला शिक्षा प्राप्त की है। आपकी कला की काफ़ी प्रशंसा हो चुकी है और आप भी कई शैलियां और संकेतों में चित्र बनाते हैं। आपने कुछ बहुत सुन्दर चीज़ें बनाई हैं और आपकी कला में विशेषता है—अविराम प्रयोग—वादिता (Restless experimentalism) सैयद बिन मुहम्मद एक प्रगतिशील कलाकार हैं और आजकल स्थानीय कालेज आफ़ फाइन आर्ट्स के चित्रकला विभाग में काम कर रहे हैं। कला की लोकप्रियता के लिए उन्होंने काफ़ी सेवा की है। आपने "आर्ट व्यू" नाम की एक संस्था को भी जन्म

दिया है जहां कभी कभी कलाकारों तथा कला समीक्षकों के भाषण होते हैं। वह नए अंकुरों का कला के क्षेत्र में पथ प्रदर्शन भी करते हैं।

के. शेषगिरि राव की कला प्रवृत्ति को सबसे पहले नवाब मेहदी नवाज जंग बहादुर ने प्रोत्साहित किया था और उन्होंने आपको हैदराबाद के कालेज आफ़ फ़ाइन आर्ट्स में अध्ययनार्थ प्रविष्ट कराया और बाद में शान्ति निकेतन के कला भवन में भी भेजा। कला भवन में युवक शेषगिरि राव भारतीय परम्परागत कला की असीमता में डूब गए। युवक शेषगिरि राव को प्रयोगवादियों में भी रखा जा सकता है। वास्तव में लौकिक तथा नित्य प्रति की वास्तविक भावनाओं को परम्परागत शैली में चित्रित करने के साथ साथ चीनी स्याही में तथा जापानी पद्धति में सामान्य कागज पर उत्कृष्ट चित्र उतार देने में भी वे बड़े ही दक्ष हैं। शेषगिरि राव भी हैदराबाद के कालेज आफ़ फ़ाइन आर्ट्स में काम कर रहे हैं।

हैदराबाद में आजकल और भी नए कलाकार हैं जो विभिन्न शैलियों में चित्र निर्माण करने में दत्त-चित्र हैं। उनमें से कुछ तो स्थानीय कला-विद्यालय की ही देन हैं और कुछ ने बम्बई के सर जे.जे. स्कूल आफ़ आर्ट्स से शिक्षा ली है। ये कलाकार भी प्रयोगवादी हैं। इस सम्बन्ध में भी मधुसूदन राव, श्रीमती फ़्रेनी बहमन शाह, व्ही. पी. गोडसे, बद्रीनारायण, के. राज, दोरास्वामी आदि का नाम भी लिया जा सकता है।

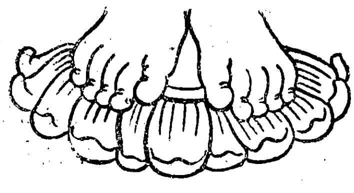

निहार
हैदराबाद-दक्षिण

श्री विश्वनाथ मुखर्जी : चित्रकला

हैदराबाद राज्य में कला की गतिविधियों को समुन्नत करन में श्री विश्वनाथ मुखर्जी का बड़ा हाथ है। उनमें कला की सृजनात्मक प्रतिमा और विभिन्न गतिविधियों की संयोजित करने की क्षमता का सामंजस्य है। वे डा० अवनीन्द्रनाथ ठाकुर, डा० नन्दलाल बोस, यामिनी राय, प्रभृति विश्वविश्रुत भारतीय कलाचार्यों के अनुयायी होने के साथ स्वयं भारत के नवीन विशिष्ट कलाकारों में से एक हैं। उनकी आज की सफलता की पृष्ठभूमि में जहां जन्मजात कला-संस्कारों का योग है, वहां उनकी श्रमशीलता, संयोजना तथा प्रतिभा का योग भी अत्यधिक महत्वपूर्ण है।

श्री मुखर्जी का जन्म सन् १९२१ में काशी में हुआ। स्वयं उनके अग्रज श्री शिवप्रसाद मुखर्जी एक प्रतिभाशाली कलाकार थे। श्री मुखर्जी ने अपनी प्रारम्भिक शिक्षा इनही के सान्निध्य में प्राप्त की। उनकी प्रतिभा बाल्यकाल से ही कला-सृजन में बड़ी प्रखर रही है और केवल चौदह वर्षकी वय में ही उनके द्वारा निर्मित अनेक चित्रों को जापान में प्रदर्शित किया गया। वहां के कला क्षेत्रों ने उसी समय उनके चित्रों की बड़ी सराहना की थी। वे सत्रह वर्ष की आयु में कला की शिक्षा के लिए भाग कर बनारस से

लखनऊ पहुंचे। उस समय उनके पास केवल ग्यारह रुपए थे पर उनमें कलाकार बनने की अदम्य भावना थी। वे लखनऊ के गवर्नमेंट स्कूल आफ़ आर्टस् एण्ड क्राफ़्टस् में प्रविष्ट हुए और वहां उन्होंने सात वर्ष तक पूर्ण अविरत भाव से शिक्षा प्राप्त की।

अध्ययन की समाप्ति के बाद वे कला के विभिन्न प्रयोगों और सृजन कार्यों में दत्तचित्त हो गए। उनके द्वारा निर्मित विभिन्न चित्रों को अब तक भारतीय प्रशासन के तत्वावधान में आल इंडिया फ़ाइन आर्टस् एण्ड क्राफ़्टस् सोसाइटी द्वारा आयोजित अनेकानेक विदेशी कला-प्रदर्शिनियों में भी प्रदर्शित किया गया है। इस क्रम में श्री मुखर्जी के चित्रों का प्रदर्शन मास्को, लेनिनग्रेड (रूस) बौन, कौलोन, (प० जर्मनी) वारसा (पोलेंड), लन्दन, पेरिस, कैरो, इस्तम्बूल, अंकारा, बगदाद, काबुल, पेकिंग, शंघाई, कैण्टन, टोकियो, शंघाई मेलबोर्न, सिडनी, मलाया, नौरोबी आदि आदि स्थानों में किया जा चुका है। अन्तर्राष्ट्रीय कला-क्षेत्रों में भी श्री मुखर्जी की कला को पर्याप्त ख्याति प्राप्त हो चुकी है।

उनके द्वारा निर्मित "यौवन और आयु" नामक चित्र अपने भावांकन में उत्कृष्ट और विशिष्ट है। इस चित्र का प्रदर्शन सन् १९४९ ई० में भारतीय प्रशासन द्वारा रायल अकादमी लन्दन में आयोजित एक कला-प्रदर्शिनी में भी किया जा चुका है। सन् १९४९ ई० में ही यूनेस्को द्वारा पेरिस में एक चित्र प्रदर्शिनी का आयोजन किया गया। इस प्रदर्शिनी में मानवीय अधिकारों के क्रमिक विकास के सम्बन्ध में समस्त विश्व की चित्र आदि वस्तुओं का वृहत् प्रदर्शन किया गया था। भारत के शिक्षा मंत्रालय की ओर से इस प्रदर्शिनी के निमित्त भारतीय इतिहास और पुराणों की पृष्ठ भूमि पर चित्र बनाने के लिए श्री मुखर्जी को नियुक्त किया गया। इस अवसर पर श्री मुखर्जी द्वारा निर्मित चार चित्र पेरिस की इस प्रदर्शिनी में प्रदर्शित किए गए थे।

इसके अतिरिक्त सन् १९५१ ई. में दिल्ली स्थित आल इंडिया फ़ाइन आर्टस् एण्ड क्राफ़्ट्स सोसाइटी द्वारा आयोजित एक अन्तरएशियाई कला-प्रदर्शिनी में श्री मुखर्जी के दो तीन चित्र प्रदर्शित किए गए इसी वर्ष दिल्ली के नेशल स्टेडियम के तत्वावधान में प्रथम एशियाई खेल कूद प्रतियोगिता के एक वृहत् आयोजन में आयोजित कला प्रदर्शिनी में श्री मुखर्जी द्वारा अंकित "जय बजरंग" नामक चित्र प्रदर्शित किया गया। आजकल यह चित्र हैदराबाद राज्य के मुख्य मंत्री श्री बी. रामकृष्ण राव के निजी संग्रहालय में है। इस चित्र में शक्ति और व्यायाम सम्बन्धी सुस्पष्ट भावनाओं को भारतीय परम्परा की पृष्ठभूमि में अंकित किया गया है, किन्तु अंकन के उपकरणों का माध्यम पाश्चात्य है। श्री मुखर्जी के कला संस्कार यद्यपि समग्रतः भारतीय कला परम्पराओं से अनुप्राणित हैं तो भी उनके द्वारा भारतीय पृष्ठभूमि के चित्रों पर पाश्चात्य शैली-प्रयोगों का यत्र-तत्र अंकन और नवीन नवीन माध्यमों और उपकरणों का प्रयोग पौर्वात्य और पाश्चात्य कला-सृजन में एक अद्भुत संतुलन का दृश्य उपस्थित करता है।

मद्रास से प्रकाशित Contemporary Indian painting "कंटेम्परेरी इंडियन पेंटिंग" नामक पुस्तक में श्री मुखर्जी और उनके कतिपय चित्रों के सम्बन्ध में जो विवरण दिया गया है उससे उनके कला-सृजन और व्यक्तित्व पर संक्षिप्त किन्तु पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। उनकी कला पर दिल्ली से परिचयात्मक और समीक्षात्मक रूप में एक बहुत पुस्तक का प्रकाशन हुआ है। इसी पुस्तक से श्री मुखर्जी के व्यक्तित्व और उनकी कला की पृष्ठभूमि को समुचितता से समझने में बड़ी सहायता मिलती है।

पुजारिन
चित्रकार : विश्वनाथ मुखर्जी

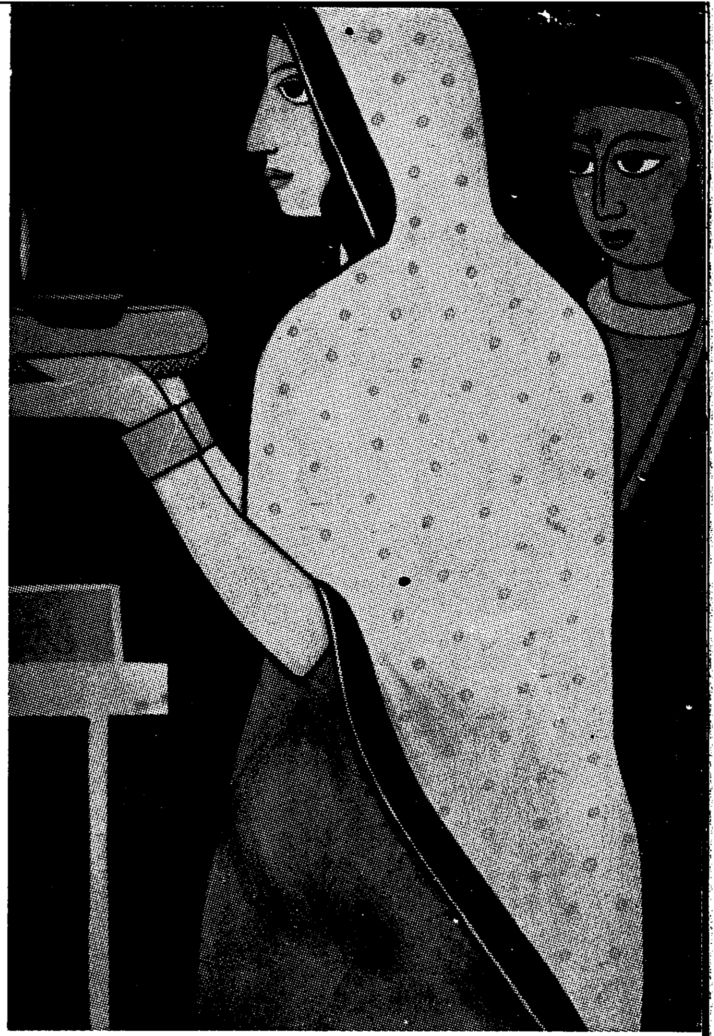

तरुणी
चित्रकार : विश्वनाथ मुखर्जी

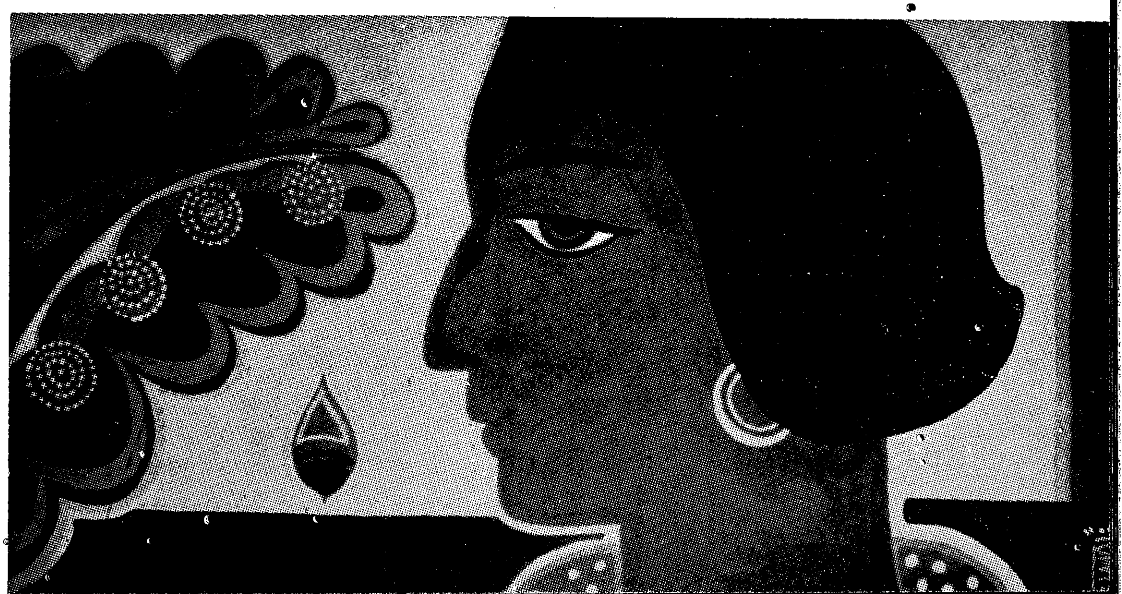

माँ और बच्चा
चित्रकार : विश्वनाथ मुखर्जी

एकान्त
चित्रकार : वीरेन डे

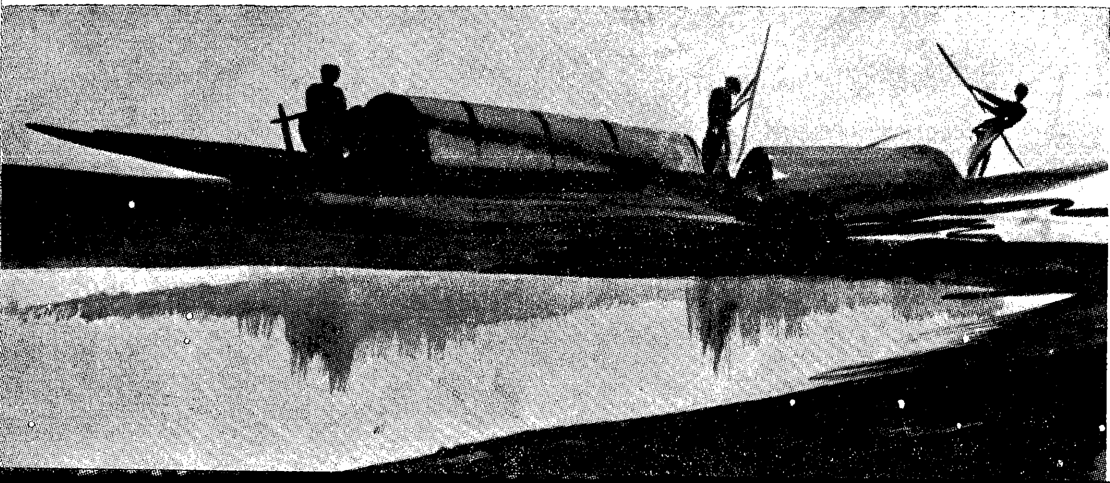

श्री मुखर्जी ने इस ओर अनेकानेक उत्कृष्ट और चिरस्मरणीय चित्रों का अंकन किया तो दूसरी ओर वे अनेकानेक चित्र प्रदर्शिनियों का आयोजनों में आरम्भ से ही भाग लेते आ रहे हैं। दिन्ल्ली में स्वनिर्मित चित्रों की प्रथम प्रदर्शिनी का आयोजन उन्होंने सन् १९४७ ई. में किया था। उन्होंने इसी वर्ष स्वनिर्मित चित्रों की प्रदर्शिनी का एक अन्य आयोजन किया। सन् १९५० और १९५१ ई. में श्री मुखर्जीने स्वनिर्मित चित्रों की प्रदर्शिनी के दो अन्य आयोजन किए। ये सब आयोजन दिल्ली में ही किए गए। दिल्ली के स्थानीय और विदेशी कला-क्षेत्रों ने श्री मुखर्जी के चित्रों की सराहना की। विगत पंद्रह वर्षों से आयोजित होने वाली अखिल भारतीय कला की समस्त प्रदर्शिनियों में श्री मुखर्जी के चित्रों का विशिष्ट स्थान रहा है और इन प्रदर्शिनियों के माध्यम से श्री मुखर्जी को स्वर्ण पदक आदि लगभग तीस पुरस्कार प्राप्त हो चुके हैं।

किन्तु किसी भी कलाकार की अन्तस्तुष्टि कितनी भी आर्थिक उपलब्धियों या स्थूल पुरस्कार आदि से कदापि नहीं हो सकती। वस्तुतः कलाकार के जीवन में अर्थ की दृष्टि बहुत साधारण है अर्थ उसके व्यक्तित्व में अनुप्राणित नहीं हो सकता। कला की शाश्वत भावना तो अपने प्रवाह में अजस्र और अविरत ही है।

डा. अवनीन्द्र नाथ ठाकुर, डा. नन्दलाल बसु, यामिनी राय, असित कुमार हलदर प्रभृति कला गुरुओं के प्रतिपूर्ण आस्था रखते हुए श्री मुखर्जी का कला-सृजन समग्रतः इनके विचारों से अनुप्रेरित भी होता है। एक प्रसिद्ध जापानी कलाकार ओकाकुरा ने भी उन्हें प्रभावित किया है। अन्य विदेशी कलाकारों में अराईसांग, विकासो शीजा, गोजा, वनगाऊ, मोनेफ्रेंक ब्रेगविन, आगस्टसजोन आदि कलाकारों का अध्ययन उन्होंने बड़ी अभिभक्ति और सूक्ष्मता से किया है और वे इन कलाकारों से प्रभावित भी हुए हैं किन्तु यह प्रभाव उन पर अवांछनीय रूप में नहीं हुआ है। कलाकार के रूप में वे सम्पूर्णतः भारतीय—संस्कृति से अनुप्राणित हैं। कुछ अर्थों में श्री मुखर्जी भी आधुनिकतावादी हैं पर कुछ विशिष्ट अंशों तक ही। उन्हें पश्चिम की मूल कला-प्रवृत्तियों से कोई विरोध नहीं है पर वे स्वयं के लिए उनके औचित्य को एक भारतीय कलाकार के नाते स्वीकार नहीं करते। श्री मुखर्जी की मान्यता है कि कला-पक्ष आत्म चेतना और व्यक्तित्व से अधिकाधिक अनुप्रेरित होना चाहिए। अनुकरण मात्र कदापि नहीं। मूलतः कला के शुद्ध तत्व तो आत्म चेतना में ही निहित होते हैं और यही तत्व कला को सहजता, शाश्वता और सौंदर्य प्रदान करते हैं। भारतीय कला में राष्ट्र की अन्तश्चेतना मुखर हो—यह एक सीधी सी और सर्वथा स्तुत्य बात है। इस प्रयास में रुचि को पूर्णतः परिष्कृत ही रखा जाए न कि किसी पुरातनता में असामयिक और हास्यास्पद स्थिति बना ली जाए। श्री मुखर्जी की यह भी मान्यता है कि नवीनता को अधिकाधिक अपनाया जाए किन्तु कला के उपकरणों, विशिष्ट माध्यमों और कतिपय शैलियों में ही। कला का मूल पक्ष शुद्ध भारतीय हो, भारतीय कला शैलियों को नवीन-नवीन माध्यमों और प्रयोगों के योग से सज्जित और परिमार्जित किया जाए। भारतीय कला और कलाकार के लिए उनकी यह मान्यता निःसंदेह औरिचत्य और उपयोगिता रखती है।

श्री मुखर्जी की विचार-दृष्टि में कला एक ऐसी साधना है, जिसे कलाकार को अपने बहुत से लौकिक सुखों को भी समर्पित कर देना होताह। चित्रकार के लिए भावनाशील और उत्कट साहसी होना

आवश्यक है। उनके विचार में कला का उन्नयन नवोदित प्रतिभाओं —विशेष कर तरुणों से अधिक सम्भव है। कला की अभिप्रेरणाओं को उत्पन्न करने के लिए सार्वजनिक कला-प्रदर्शिनियों के निरन्तर आयोजन बड़े महत्वपूर्ण हैं। ऐसे आयोजन से छात्रों और बालकों पर बड़ा मनोनुकूल प्रभाव पड़ता है। भारत-शासन की ओर से चीन, जापान आदि सुन्दर पूर्वीय एशियाई देशों में भेजे गए सांस्कृतिक दल में भी श्री मुखर्जी एक चित्र कला प्रदर्शिनी वहां ले गए। स्थान-स्थान पर उन्होंने विभिन्न कला-कक्षों, प्रदर्शनों आदि के अत्यन्त सफल और प्रभावकारी आयोजन किए।

श्री मुखर्जी की कला मुख्यत: आत्म चेतना की कला है। किन्तु उसमें किंचित् भी आत्म परक भावना नहीं आने पाई है। उन्होंने अपनी कला में लोक तत्वों को यथा साध्य प्रश्रय दिया है और वे व्यक्तिगत रूप में कला के लोकपक्ष के प्रति गहरी आस्था रखते हैं। श्री मुखर्जी एक साथ ही विविध कला शैलियों का समुचित प्रतिनिधित्व करते हैं। और उन्होंने भारतीय कला में पश्चिम की आधुनिक शैलियों और उपकरणों को बड़ी निर्दोषिता से प्रतिबिम्बित किया है। उनके द्वारा निर्मित कितने ही अच्छे संग्रह देश और विदेश के संभ्रान्त महानुभावों के कला कक्ष में सुशोभित हैं। भारतीय पद्धति के तैलीय रंगों में उनके द्वारा अंकित "मां-बच्चा", सीता की अग्नि परीक्षा", यौवन और आयु", 'विस्मृत', 'गृह की ओर", 'बंगाल का अकाल', आदि और टेम्पेरा (Tempera) माध्यम में निर्मित चित्रों में "प्रतीक्षा", "भारतीय ग्राम", "श्रमिक", "दुग्ध दोहन" और एग टेम्पेरा (Egg Tempera) के चित्रों में "जय बजरंग", 'प्रत्यावर्तन', आदि चित्र विशेष उल्लेखनीय हैं। हैदराबाद के शास्त्रीय म्यूज़ियम में उनके द्वारा निर्मित चित्रों में "भारतीय ग्राम" "कृष्ण जी" "पुजारिन" आदि चित्र संगृहीत हैं। उनके भारतीय पद्धति के अन्य चित्रों में "बसन्त", "शिवाजी" दिवसावसान", आदि चित्र भी बड़े कलापूर्ण और चित्ताकर्षक हैं। उनके पश्चिमी पद्धति के जलीय रंगों के चित्रों में "बनारसी दूकान" "रात्रि की हाट", "अलाव", (शीत ऋतु में आग जलाकर लोग उसके इर्द गिर्द बैठकर तापते हैं।) आदि चित्र विशेष सराहनीय हैं। इस पद्धति के तैलीय रंगों में उन्होंनें "बनारसी घाट" तथा अन्य अनेक चित्रों का भी अच्छा अंकन किया है। चीनी स्याही में निर्मित उनके चित्रों में उमर खय्याम के काव्य चित्र कुछ प्रवृत्ति-चित्र और जयपुर की चित्रावली का पृथक् महत्व है।

इधर श्री मुखर्जी सन् १९५३ ई. से हैदराबाद स्थित गवर्नमेंट कालेज आफ़ फ़ाइन आर्टस् के प्रिंसिपल हैं। हैदराबाद आगमन के उपरान्त अन्य बहुत से कार्यों में व्यस्त होते हुए भी उन्होंने विभिन्न कला शैलियों में लगभग ७०-८० उत्कृष्ट चित्रों का अंकन किया है।

श्री मुखर्जी की कला और व्यक्तित्व पुरातन और नूतन, भारतीय और विदेशी, आदर्श और यथार्थ के मध्य एक विचित्र संयोग, संघर्ष तथा श्रृंखला है। वे एक उच्च स्तर के कलाकार हैं पर उनकी कला जीवन के पक्ष से अभिप्रेरित है और उसकी पृष्ठभूमि आत्म चेतना जन्य संस्कृति पर आधारित है।

ज्ञानेन्द्र कुमार भटनागर एम. ए.
हैदराबाद-दक्षिण

अजन्ता के चित्र

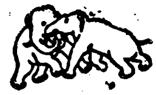

एक चौथाई शताब्दी हुई है जबकि सिन्ध में कुछ खुदाइयां की गई थीं। इनके बारे में विशेषज्ञों के भिन्न भिन्न मत हैं कि वह शुद्ध भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति से संबन्धित है या उनमें पश्चिमी एशियाई देशों की सभ्यताओं एवं संस्कृतियों का भी समावेश है। यह समस्या तब तक हल नहीं हो सकती जब तक कि उन खुदाइयों में से प्राप्त वस्तुओं एवं अवशेषों का सही पता लग न जाए। सिन्ध की सभ्यता ढ़ाई हज़ार वर्ष ईसा पूर्व की मानी गई है। इस युग के पश्चात् भारतीय सभ्यता के संबन्ध में इतिहासकारों के सिवाय वेदों और शास्त्रों के और कोई विश्वासनीय सूत्र नहीं मिलता। कुछ शास्त्रियों ने " पार्शा " की कुछ पुस्तकों में आए कुछ वाक्यों पर इनकी ऐतिहासिक स्थिरता स्थापित की है। छठी और पांचवीं सदी ई. पूर्व बौद्ध के जीवन काल का युग था। इस छोटे से लेख में बौद्ध धर्म पर प्रकाश न डालकर अजन्ता की समग्र चित्रावलि की चर्चा की जाएगी और चूं कि उन चित्रों का बौद्ध धर्म से गहरा संबन्ध है इस लिए यह कह देना अधिक उचित है कि मानव के आवागमन की समस्या उस सत्य की खोज करने वाले महा मानव के लिए काफ़ी उलझन बनी हुई थी और बौद्ध धर्म का निर्वाण का सिद्धान्त इसी पर

आधारित हुआ। यदि बौद्ध मत की शिक्षाओं को सही मान लिया जाए तो शाक्य मुनि के जीवन काल में ही बिहार से वर्तमान गोरखपुर तक के सभी बड़े बड़े मुनियों और सिद्धों, राजा, महाराजाओं और सभी वर्गों के लोगों ने इस धर्म को स्वीकार कर लिया था। महाराज अशोक ईसा पूर्व तीसरी सदी में बौद्ध धर्म के अनुयायी हो गए। इस सम्राट् ने बौद्ध धर्म की शिक्षाओं को विश्वव्यापी बनाने की बहुत कोशिश की और भारत के विभिन्न प्रान्तों में ही नहीं बल्कि विदशों में भी बौद्ध धर्म के प्रचारार्थ भिक्षुओं को भेजा। अशोक के धार्मिक राजआज्ञाओं को वास्तव में धर्म के नाम से कहा जाता था। भारत के दूर-दूर के शहरों यहां तक कि दक्षिणी भारत में भी ये धर्म लेख मिलते हैं। ये धर्म लेख उत्तरी और मध्य भारत में स्तम्भों पर खुदे हुए हैं जिनकी शैली और बल-बूटों पर पश्चिमी एशियाई कारीगरी का प्रभाव दीखता है। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं क्यों कि पंजाब के उत्तर पश्चिम और उसके साथी प्रदेशों में छठी ई. पूर्व ईरानी राज्य स्थापित हो गया था और इसके पश्चात् भी इस प्रदेश में ईरानी नस्ल और पश्चिमी एशियाई देशों के लोग आबाद थे जिनमें बहुत से ऊँचे दर्जे के शिल्पी थे और जब तीसरी सदी ईसा पूर्व या बाद में बौद्ध धर्म का बोलबाला हुआ, इन विदेशी बसने वालों ने बौद्ध धर्म की मानवता और विस्तृत विचारों से प्रभावित हो कर इसे स्वीकार कर लिया। सारनाथ के स्तंभ की आकृति और शेरों की मूर्तियां, असिया की शिल्प कला के नमूने से अधिकतर मिलती हैं।

नक्क़ाशी के नमूने जो तीसरी सदी ई. पूर्व था उसके बाद के लगभग सदियों के हों उत्तरीय भारत में अब तक नहीं प्राप्त हुए हैं और न पश्चिमी एशियाई दशों में इनकी अस्तित्व प्रमाणित हो सका है। अलबत्ता मिश्र में पहाड़ को तराश कर मक़बरों को बनाने की प्रथा काफ़ी समय से थी और इन मक़बरों में नक्क़ाशी के नमूने भी दीवारों पर हैं। दक्खन और पश्चिमी समुद्र तट के प्रदेशों में जो भव्य समाधियां और मठ हैं वे पहाड़ तराश कर ही बनाए गए हैं। इनकी निर्माण कला के लिहाज़ से इनको मिश्र से प्रभावित कहा जा सकता है लेकिन जब नकशों और सजावट को देखा जाता है तो इनकी मिस्री समाधियों और मठों से कोई समानता नहीं दीखती। नक्क़ाशी में ज़मीन आसमान का अन्तर है। मिस्री नक्क़ाशी रेखाओं पर आधारित है। इन रेखाओं के अलावा शरीरों की मोटाई या लम्बाई को दिखाने का प्रयत्न नहीं किया गया है। अजन्ता की तसवीरों में इसका विशेष ध्यान रखा गया है। पुराने से पुराने नमूनों में भी लम्बाई-चौड़ाई के साथ भारीपन भी दिखाया गया है। अजन्ता की तसवीरों के प्रारंभिक नमूने हमें गुफ़ा नंबर १० की दीवारों पर दिखाई पड़ता है। यह गुफ़ा पूजा करने का एक स्थान ह और इसकी निर्माण शैली बहाजा, कारला, वेडसा और कन्दाना के मठों से बेहद मिलती-झुलती है। ये मठ दूसरी सदी ईसा पूर्व के बने हुए माने जाते हैं।

मैं अब संक्षिप्त रूप में उन तसवीरों की चर्चा करता हूं जो गुफ़ा नंबर १० की बाईं दीवार पर है। इस दीवार एक ब्राह्मी लेख भी खुदा है। तसवीरें वक़्त, मौसम और इन्सानी लापरवाही से काफ़ी मिट गई ह फिर भी बहुत-से चिन्ह और बेल-बूटे शेष हैं। शुरू में किसी राजा के जुलूस के सिपाही दीखते हैं ये सब हथियार बन्द हैं और आधी अस्तीनों के कोट या कुर्ते पहने हुए हैं। नीचे का भाग नष्ट हो गया है। हथियारों में बर्छे-कमान और तीर-फर्से स्पष्ट दीखते हैं। इन सिपाहियों के बाल लम्बे हैं। जिनको पतले पटकों या फ़ीतों से लपेट कर कुण्डलों की तरह सर पर जमा दिया गया है। बालों को इस प्रकार लपेटना हिन्दुस्तान के पुराने निवासियों की विशेषता थी। क्यों कि वह भरहुत और सांची

के स्तूपों और पश्चिमी हिन्द के पहाड़ में अंकित पूजा के स्थानों में जो ईसा पूर्व के युग के हैं। सब में बालों का ढंग यही है। कुछ एक के सिरों पर सांप का एक फण या सात फण दिखाए गए हैं। जिसका शायद मक़सद यह था कि ये लोग नाग वंश के थे या ये किसी ज़माने में नाग की पूजा करते थे और वह रिवाज इनकी सजावट में बौद्ध धर्म को स्वीकार करने के बाद भी बाक़ी रहा। इन लोगों के नाक-नक्शे आर्यों जैसे नहीं है। अजन्ता की गुफ़ा नम्बर नौ और दस में ईसा पूर्व के चित्र हैं, उनका अंकन औरंगाबाद और महाराष्ट्र के जन जीवन के समीप है। चेहरा लग-भग गोल है, आंखें छोटी, लेकिन चमकती हुई, नाक छोटी लेकिन चपटी नहीं है, ओंठ रसभरे न पतले न मोटे। ठोढ़ी जैसी कि गोल चहरे पर होनी चाहिए।

इन चित्रों से मालूम होता है कि बौद्ध धर्म में उस समय आदिवासी लोगों की संख्या भी पर्याप्त थी। इस दृश्य के बाद एक अन्य दृश्य है, जिसमें राजा अपने प्रासाद की स्त्रियों के साथ पीपल के वृक्ष के सम्मुख खड़ा है। इस वृक्ष पर बहुत सी ध्वजाएं फहरा रही हैं। वृक्ष वही है, जिस पर कि नीचे तथागत को बोध प्राप्त हुआ था, इस वृक्ष के दूसरी ओर धर्मपारायण गायिकाएं हैं, इनमें कुछ के हाथों में वाद्य-सामग्री है, कुछ नाच रही हैं, कुछ तालियां बजा रही हैं। इनमें कुछ का नृत्य आधुनिक लगता हैं। राज प्रासाद की महिलाओं, संगीत बजाने वालियों और नर्तकियों के वस्त्रों में कोई भेद नहीं है। शरीर का ऊपरी भाग नग्न है और नीचे का भाग वस्त्रों से ढका हुआ है और शरीरों पर आभूषणों की अधिकता है। बनावट से आभूषण सोन के प्रतीत होते हैं। दक्षिण में इस युग में सोने की अधिकता थी। आभूषणों में मोती भी दिखाई देते हैं। कपड़ों में स्त्रियों के शिरों पर ओढ़नियां भी हैं। स्त्रियों के हाथों में चपटी चूड़ियों के जोड़े हैं, जो हाथी दांत या शंख की होंगी जैसे कि अभी भी दक्षिण की आदिवासी स्त्रियों में इनका व्यवहार है। ऐसी चूड़ियां मस्की और पाटन की खुदाई में भी मिली हैं। इन चित्रों में एक और विशेषता है कि गायिकाएँ बेंत के सुन्दर मूढ़ों पर बैठी हुई हैं। जिनसे प्रतीत होता है कि उनकी श्रेणी बौद्ध भिक्षुकों से किसी प्रकार कम नहीं है। कला के अनुसार इस चित्र की विशेषता यह है कि उस काल में शरीर का मोटा, पतला और भारीपन दिखाने की अच्छी कला थी। और उन्हें यह भी ज्ञान था कि किस भाव को किस प्रकार और किस रंग में दिखाया जाएँ। ये तसवीरें चूंकि मिट गई हैं इस लिए यह मालूम करना किसी सीमा तक कठिन हो गया है कि चित्रकार ने किस विशेष भावना को प्रदर्शित करने का प्रयास किया होगा। रंगों में गेरू, हरा, पहाड़ी, मिट्टी, काजल का कालापन और चूने की सफ़ेदी नज़र आती है। होठों और और आंख के कोरों पर एक प्रकार का चटकदार लाल रंग है जो संभवता किस और रंग से मिलाकर बनाया गया होगा। लाजवर्दी रंग जो अजन्ता की बाद की तसवीरों में दिखाई पड़ता है इनमें नहीं है। तसवीरें में दूर तक वृक्ष हैं लेकिन पार्श्व के दृश्य की सुन्दरता का विचार जितना कि बाद की तसवीरों में नज़र आता है उस समय तक शायद पैदा न हुआ था। प्रकाश और अन्धेरे को दिखाने का भी अच्छा प्रबन्ध नहीं था जो बाद के चित्रों में है। फिर भी ये तसवीरें कला की दृष्टि से श्रेष्ठ हैं और दक्खन और पश्चिमी घाटों की गुफ़ाओं की संगतराशी की कुशलता को देख कर यह विचार आता है कि कला दो हज़ार वर्ष के निरन्तर प्रयासों के पश्चात् निखर पाई होगी। इन विचारों के आधारों पर दक्खन के कला का युग सिन्ध की संस्कृति और सभ्यता के युग तक पहुंच जाती है, लेकिन समानता साबित करने के लिए सबसे अधिक जैसा कि मैं ऊपर लिख चुका हूं कि सिन्ध की कारीगरी के युगके खोज की आवश्यकता है और उसके पश्चात् दक्खन के पुरातन चिन्हों की जिनमें सोने की पुरानी खानें भी शामिल हैं। "हट्टी" में ऐसे

चिन्ह हैं जिनसे प्रतीत होता है कि पुराने ज़माने में सोना छै सौ फ़ीट गहराई तक निकाला गया था। बिना मशीनों के इतनी गहराई तक जाकर काम करना और वायु या अन्य आवश्यक वस्तुओं के इतना नीचे पहुँचना सदियों के अनुभवों के बाद संभव हुआ होगा। यूनानी एवं रोमी इतिहासकारों की रचनाओं से भी सोने का पश्चिमी एशियाई देशों में जाना प्रमाणित होता है। यह भी कह देना ज़रूरी है कि सोना व्यापार और सभ्यता की प्रगति में हमेशा सहयोगी रहा है। दक्खन के पुरातत्वों से यह बात भी स्पष्ट है कि इसी से हज़ारों वर्ष पहले दक्खन और दक्षिणी हिन्द में एशियाई पश्चिमी देशों की विभिन्न जातियां आकर बसीं जिनमें सीथियाई भी आए हुए लोग सिन्ध की पश्चिमी किनारों पर बस गए। सीथियाई जिन्हें अरब में सहवस्तान लिखा है सबस्तान का अपभ्रंश है या नी "स्कृन की बसती" दक्खन इन जातियों का वतन बन गया था। संस्कृत साहित्य में इन्हीं को शाक्य कहा गया है। दक्खन के उत्तरीय भाग की आबादी में इसी नस्ल का खून मिला हुआ है और अजन्ता की तसवीरों में इसी का प्रभाव है।

बाहिरी बहस को छोड़ कर अब मैं पूजा के स्थान चिन्ह नम्बर १० की एक और तसवीर का ज़िक्र करता हूं ये इस मठ की दाहिनी ओर की दीवार पर खुदी हुई है। इसमें बुद्ध के हाथी की सूरत में जन्म लेने की कथा है। यह हाथी बड़ा है। इसके छै दांत हैं जिसके कारण इसे छै दन्ता भी कहा जाने लगा है। एक कथा भी है, हाथी की दो बीवियां थीं। एक पत्नी ईर्षा से जल घुल-कर मर गई और मरने से पहले यह प्रण किया कि यदि अगले जन्म में वह बनारस के राजा की रानी हुई तो अपने पति को सौत रखने का मज़ा चखाऊंगी। संयोगवश ऐसा ही हुआ। वह काशी के राजा की पत्नी बनी और एक दिन रूठ कर बैठ गई और जब तक राजा कि छै दांत वाले हाथी के दांत उखड़वाकर न मंगवा देगा तब तक वह खाना नहीं खाएगी--उसने प्रतिज्ञा कर ली और राजा के शिकारी ऐसा हाथी खोजने को चल दिए। कहानी लम्बी है। बहरे-हाल शिकारी जब छै दांत वाले हाथी के दांत तोड़कर लाया तो उसने खाना खाया और इस प्रकार उसने अपने पति से बदला लिया लेकिन उसे इस घटना से दुःख भी हुआ और वह मर भी गई। यह तसवीर रेखाओं के अनुसार तीसरी सदी की लगती है। यानी पहली तसवीर से केवल पांचसौ वर्ष बाद की है। इतने समय में कला ने बहुत उन्नति कर ली थी। चित्रकार ने हाथी के मनोवेगों और आदतों को भी दिखाने की कोशिश की है। और यह सब दृश्य ऐसे जीवित हैं कि आदमी के सामने चलते फिरते से नज़र आते हैं। इसके अतिरिक्त एक बड़े वृक्ष की छाया में छै दांत वाला हाथी अपनी रानियों के साथ चित्र कला का उत्कृष्ठ उदाहरण है। इन चित्रों के अतिरिक्त अन्तिम चित्र में तो चित्रकार काल्पनिक मनोविज्ञान से भी काम लिया है। छै दांत देखकर रानी बेहोश हो जाती है और राजा ने संभालने के लिए एक हाथ रानी की कमर के पीछे कर लिया है और एक दासी उसके तलुवे सहला रही है तो एक पंखा झेल रही है और एक औषधि लिए पास खड़ी है--यह चित्र भी बहुत सुन्दर है।

तीसरी सदी के अन्त में उत्तरी दक्खन में आन्ध्र वंश के राजाओं का पतन हुआ और इनका स्थान वकाटक वंश के राजाओं ने ले लिया जो पांचवीं सदी के पहले चतुर्थ चरण तक राज्य करते रहे। इन राजाओं की शादियों का संबन्ध उत्तर के गुप्त राजाओं से रहा और इस प्रकार गुप्त युग की ललित कला का प्रभाव दक्खन पर पड़ा। इस युग की सबसे सुन्दर तसवीरें चार बड़े मठों में हैं जो गुफ़ा नम्बर १ और २ गुफ़ा नम्बर १६ और १७ के नामसे प्रसिद्ध हैं। इन मठों की गुफ़ा नम्बर १ और २ कहना उचित नहीं

गुफ़ा सं. १९ (अजन्ता)

भिक्षुक बुद्ध
(अजन्ता)

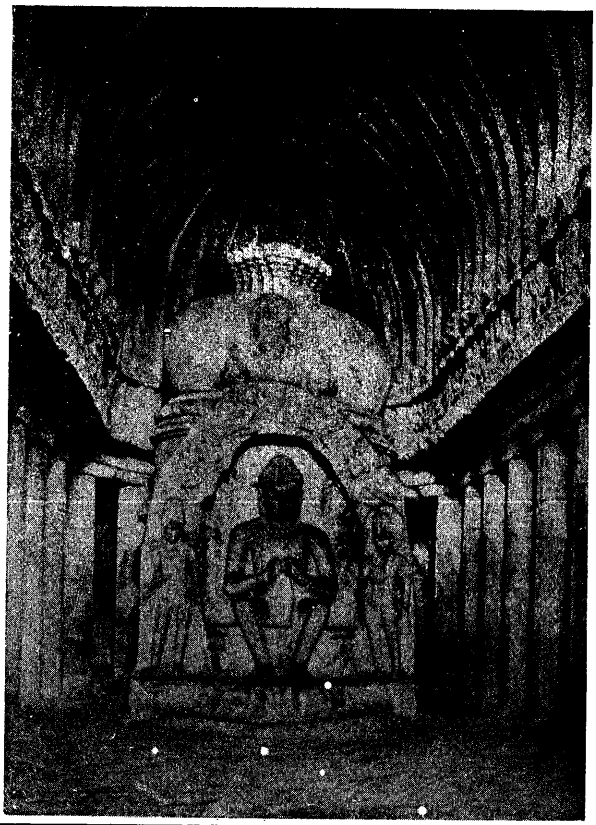

गुफ़ा सं० २७ (अजन्ता)

पर फिर भी क्रम से यही ठीक जंचता है। एक चित्र में तो वकाटक वंश की वंशावली अंकित है जिसके आधार पर विशेषज्ञों ने पांचवी इसे सदी का आखिरी चतुर्थ चरण माना है।

इन चित्रों में भी कथाएं चित्रित हैं। उदाहरणार्थ एक तसवीर है जो नन्द की पत्नी की है लेकिन साधारण लोग इसे "महेन्द्रम राज्यकुमारी" कहते हैं। नन्द वोधियार का भाई था और परिवर्तन के बाद बुद्ध कपिलवस्तु वापस आए तो उन्होंने नन्द से पूछा कि वे संसार को त्याग देने के लिए तैयार हैं या नहीं। नन्द ने इस ओर अपनी सहमति दिखाई लेकिन उसे अपना राज्यपाठ और उससे भी अधिक अपनी प्रेयसी को छोड़ने का बड़ा दुःख हुआ और घुल-घुल कर कांटे सा सूख गया। प्रेयसी को भी नन्द के इस त्याग का बड़ा दुःख हुआ। और दास जब नन्द का मुकुट ले कर उसके सामने आए जो नन्द ने छोड़ दिया था तो वह उसे देखकर बेहोश हो गए। यह कथा वास्तव में अलौकिक है पर फिर भी इसमें मानवीय भावनाओं का वह जादू भर दिया है जो आज तक जीवित है। रानी बेहोश पड़ी है। नीचे का शरीर तख्त के नीचे ढुलक आया है —दासियों में से एक रानी की कमर पकड़े खड़ी हुई है ताकि वह ज़मीन पर न गिर पड़े। इटली में स्त्रियों को लेटे हुए अच्छी तरह से दिखाया गया है। ऐसी तसवीरें वीनस में हैं। किन्तु उनमें सौन्दर्य को नंगा और अश्लील दिखाया गया है। अजन्ता के चित्र में नन्द की पत्नी को एक चुस्त चोली और कसा हुआ पायजामा जो घुटनों तक था, पहनाया है। इनसे सौन्दर्य स्पष्ट होते हुए भी ढका हुआ है। इनमें प्रकाश को दिखाने के लिए हलके रंगों का भी प्रयोग किया गया है और ये तसवीरें अद्वितीय हैं।

अजन्ता में ललित कला की विभिन्न प्रकारों में प्रस्तुत किया गया है। कहीं खड़ी हुई प्रतिमाएं नज़र को खींच लेती है तो कहीं बैठी हुई और कहीं लेटी हुई लेकिन इनको चित्र में विभिन्नताओं और ऐसी कल्पनाओं के साथ पेश किया गया है कि उनके गौरव और स्तर में वृद्धि ही होती है। बहुधा माँ की ममता और पत्नी का प्रेम दिखाया गया है। गुफ़ा नंबर १६-१७ में बुद्ध के गृहत्याग के २५ वर्ष बाद की बनी हुई तसवीर है। बुद्ध अपना राज्य छोड़कर वैरागी बन गए हैं और स्वयं अपने ही घर पर भीख मांगने आते हैं। बौद्ध का आत्मिक एवं अलौकिक बड़प्पन दिखाने के लिए साधारण आदम कद से ऊंची आकृति बनाई गई है जो गेरुवा वस्त्र धारण किए हुए हैं। एक हाथ में कमण्डलु है। और श्रीमुख पर सन्तोष की कान्ति है। और जो प्रेम अनुराग उन्हें खींच लाया है उसका कोई प्रभाव दीखता नहीं है। सामने एक खूबसूरत स्त्री अपने बच्चे को लिए खड़ी है। बच्चा और माँ दोनों बौद्ध को देख रहे हैं। माँ में प्रेम है और बच्चेमें आश्चर्य और अनुराग। स्त्री यशोधरा भगवान् तथागत की पत्नी है और बच्चा उनका पुत्र राहुल। कथा के अनुसार उस चित्र में पत्नी यशोधरा अपने पति से कह रही है—"—जब राहुल पैदा हुआ था तब तुमने राज-पाट और दुनियां को छोड़ा था। आज तुम्हारे राज्य की कीर्ति पहले से हज़ार दर्जा ज्यादा है।" इस चित्र में यशोधरा के खड़े होनेका ढंग और सुन्दर वस्त्र और केशों की वेणी की सजावट और आभूषणों का सजाना चित्र कार की कल्पना का सजीव नमूना है। मिस्टर बैनियन और हैविल दोनों की राय है कि "धार्मिक उच्चता और मानवीय प्रेम को जिस प्रभावात्मक ढंग से इस चित्र में प्रस्तुत किया गया है वैसा दुनिया की किसी और तसवीर में नहीं।" अजन्ता की पांचवीं सदी के चित्रों के नमूनों के संबन्ध में इन दो प्रसिद्ध चित्रकारों की सम्मतियां कुछ कम साधारण नहीं हैं। यह तसवीर साधारणतया माँ और बालक के नाम से प्रसिद्ध है।

बौद्ध धर्म की शिक्षा में चूंकि समस्त विश्व में समानता स्थापित करने की कोशिश की गई है इस लिए स्वयं भगवान् तथागत अपने पहले जन्मों में विभिन्न सूरतों में दिखाए गए हैं। कभी हिरण के रूप में तो कभी हंस के रूप में, कभी नाग के रूप में। लेकिन सब में सहानुभूति और सेवा की ओर बड़ा संकेत दिखाया गया है। मठ व चिन्ह नंबर १७ में इस प्रकार की बहुत प्रकार की कहानियां चित्रित हैं। राजकीय शानो-शौकत को अध्यात्मिक और अलौकिक प्रकाश के सामने धूमिल और हीन प्रमाणित करनेके लिए महाजन राज कुमार और स्वयं भगवान् के संसार त्याग की कथा चित्रित की गई है। ये पांचवी सदी के सर्वोत्तम चित्र माने जाते हैं। इसमें चित्रकार ने बौद्ध के यौवन काल को दिखाया है। ऊंचा कद, चौड़ा सीना, भरा बदन, कुन्दन जैसा दमकता हुआ रंग एक पवित्र जीवन को बताते हैं। शानदार मुकुट, मूर्तियों की कंठी और हार और जड़ाऊ दस्तबन्द राजसी ठाट को स्पष्ट करता है। अजन्ता की तसवीरों में राजों और राजकुमारों के ऊपरी शरीर को नंगा रखा गया है जबकि उनके नौकर पूरी आस्तीन के अंगरखा पहने नज़र आते हैं। धोती रेशमी पट्टेदार है। जो शायद पाटन के किसी कारखाने में बनी हुई होगी। रेशमी फूलदार कपड़ों के विभिन्न नमूने हमें अजन्ता की तसवीरों में ही खूब मिलते हैं जो दक्खन की कपड़ा उद्योग की प्रगति का प्रतीक हैं।

में बुद्ध की तसवीरों का ज़िक्र कर रहा था। इनमें ऊपरी सुन्दरता और राजसी ठाट के अतिरिक्त आत्मिक शक्ति एवं प्रेम है। इनमें उनके सन्तोषजनक श्रीमुख पर झलकती है। पास ही उनकी पत्नी यशोधरा उदास खड़ी है। यशोधरा का सौन्दर्य एक माँ का सा है। क्यों कि राहुल पैदा हो चुका था। रंग काला है। बौद्ध धर्ममें काले गोरे रंग में भेद नहीं था। सब एक ईश्वर की ही देन थी और शारीरिक सौन्दर्य और स्वास्थ्य उस पर आधारित थे। इस चित्र में कुछ का नाक नक्शा आर्यों जैसा है। चौथी और पांचवी सदी की अजन्ता की तसवीरों में आर्य लोग भी दीखते हैं। कुछ तो ऐसे हैं कि उन्हें आज भी काशी और प्रयाग के पण्डे और उड़ीसा व दक्षिणी भारत के ब्राह्मणों से मिलाया जा सकता है। इन तसवीरों में ईरानी और सीथियाई नस्ल के लोग भी दीखते हैं। इस चित्र में यशोधरा के पीछे एक सहेली ईरानी लगती है जो पाजामा पहने हुए ह। इस तसवीर में शाही शान दिखाने के लिए नौकर भी हैं लेकिन इन से अधिक सुन्दर इसका पार्श्व दृश्य है जहां मोर, बन्दर, शेर, और बनवासी इन्सान भी एक प्रसन्नता में दिखाए गए हैं। इस खुशी से यह बात दिखाई गई है कि भगवान् का त्याग आनन्द और कल्याण के लिए है इसलिए यह प्रसन्नता का दृश्य है। चितेरे ने इस चित्र में अपनी श्रेष्ठ कल्पना प्रस्तुत की है। प्रत्येक वस्तु में उसका अपना रंग मिलता है।

छठी सदी में वकाटक वंश का प्रभाव उत्तरीय दक्खन से जाता रहा और इनके स्थान पर चालुक्य वंश के राजाओं नें संभाली जिनका सिहासन बादामीं था और अब बीजापुर में है। चालुक्य राजाओं के काल में ब्राह्मणों का प्रभुत्व बढ़ा और इन्होंने बौद्ध मत के ढंग पर ही मन्दिर बनवाए और वैसी ही तसवीरें दीवारों पर बनवाई और खुदवाई गई जो एलोरा के चित्रों से मिलती हैं।

मालूम होता है छठी सदी के अन्त में कलाकारों को ऐसी विषमताओं का सामना करना पड़ा कि वह अपनी कला के प्रति उदासीन हो गए। यह कला लंका, अफ़गानिस्तान आदि से मिलती है। आठवीं शताब्दी में बौद्ध मत और शिल्पी कला दोनों भारत से चले गए। और तेरहवीं और चौदहवीं सदी में गुजराती शैली की तसवीरें हमें पुस्तकों में मिलती हैं जो अजन्ता शैली से बिलकुल भिन्न हैं।

अजन्ता की तसवीरों से हमको भारत की जनता और सामाजिक एवं धार्मिक जीवन का अन्दाज़ा लगता है । कल्पना और भावना की सुन्दर कलाकृतियों में हमें अजन्ता से बढ़कर कहीं नहीं मिल सकतीं । जैसा कि सांढों की लड़ाई, मेंढों की लड़ाई, सांप का तमाशा, फूलों के गुच्छे और बेलें—और घण्टों के नमूने और रहन सहन के तरीक़े व कपड़े वग़ैरह ।

सभी चित्रों में समकालीन सामाजिक जीवन का पता लगता है । हो सकता है कि यूनान तथा पश्चिमी एशिया के कलाकार भी अजन्ता कीतरह उसी प्रगति के शिखर पर पहुंचे हों पर अजन्ता की मौलिकता और श्रेष्ठता पर कोई नहीं पहुंचता और यह कहने में कोई हर्ज नहीं कि इस कला का दक्खन मे जन्म हुआ ।

युगों के चक्र और धार्मिक विषमताओं के कारण अजन्ता की तसवीरें काफ़ी समय तक संसार से छिपी और दबी पड़ी रहीं और तसवीरों को काफ़ी क्षति पहुंची । मगर यदि हैदराबाद शासन का व्यापक एवं कला प्रेमी दृष्टिकोण न होता तो राष्ट्र की इस गौरवशील कलाकृतियों के दर्शन शायद अभी कुछ दिन और न होते ।

डा. गुलाम यज़दानी
भूतपूर्व डाइरेक्टर, पुरातत्व विभाग,
हैदराबाद-दक्षिण

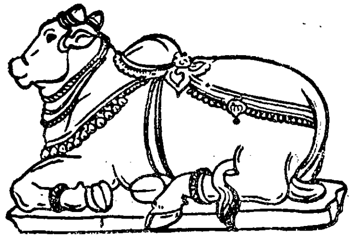

हैदराबाद की चित्र कला : आदि युग

प्रागैतिहासिक चित्र

रायचूर ज़िले में गंगावती तालुके बेंकल ग्राम के पास की एक पहाड़ी पर खींचे हुए इकरंगे मनुष्य और पशुओं के चित्र दक्षिण की चित्र कला के प्राचीनतम उदाहरण हैं। इनमें से एक चित्र आखेट का एक दृश्य प्रस्तुत करता है, जिसमें आखटक घोड़ों पर बैठे हुए हैं और उनमें से एक आखेटक एक ऐसे शस्त्र से सज्जित किया गया है जो देखने में धातु से निर्मित लगता है। यह निश्चित है कि ये प्रागैतिहासिक उदाहरण सिद्ध करते हैं कि दक्षिण में चित्र कला का आरंभ यदि और अधिक पुराना न भी हो तो भी लौह युग तक तो जाता ही है।

अजन्ता की प्राचीनतम चित्र कला

भित्ति चित्रों का दूसरा युग हमें अजन्ता की नवीं और दसवीं गुफ़ाओं के चित्रों में मिलता है। यह चित्र "ललित कला" के सच्चे नमूने कहे जा सकते हैं और वहीं के एक भित्ति लेख तथा एक उत्कीर्ण लेख के आधार पर उनका समय ईसा के पूर्व की दूसरी शताब्दी में स्थिर किया गया है। प्रथम शिला लेख

बोधि वृक्ष का दर्शन करते हुए एक राजा को चित्रित करन वाले भित्ति चित्र पर है। ऐसा लगता है कि यह भित्ति चित्र बहुत बड़ा था। पर अब उसके अवशिष्ट एक छोट से अंश में, जो काल के साथ-साथ संघर्ष करता हुआ अब तक बचा हुआ है। राजा और बोधि वृक्ष प्रायः यथोचित रीति से सुरक्षित हैं। राजा के वाम पार्श्व में उसका कुटुंब और परिजन वर्ग है तथा दक्षिण पार्श्व में पन्द्रह संगीतज्ञों और नर्तकों का एक बड़ा समूह है। इस भित्ति में मानव जीवन अपने सब आध्यात्मिक और भौतिक पक्षों में प्रस्तुत किया गया है और इसमें चित्रित रूप केवल " आध्यात्मिक अनुभूतियों को ही व्यक्त नहीं करते अपितु जगत् के सुन्दर रूपों के प्रति एक आनन्दपूर्ण दृष्टिकोण भी " प्रस्तुत करते हैं।

उत्पत्ति काल

सावधानी से परीक्षा करने पर यह भित्ति चित्र धारणा और निर्माण की दृष्टि से भित्ति चित्र कला के पर्याप्त विकसित उदाहरण सिद्ध होते हैं। विकास की उस भूमि पर कई शताब्दियों के अनवरत प्रयत्न और क्रियात्मक साधना के पश्चात् ही कला पहुंच सकी होगी। हम यह तर्क भी नहीं प्रस्तुत कर सकते कि यह केवल आकस्मिक घटना है। मूर्ति कला और भित्ति चित्र कला की एकदेशीय प्रक्रियात्मक विभिन्नताओं को छोड़कर यदि हम उनके समान धर्मों पर ही विचार करें तो हमें यह स्पष्टतः अनुभव होगा कि ये भित्ति चित्र पश्चिम भारत के कोण्डाने, कार्ले और दूसरे गुफ़ा मन्दिरों की ईसवी पूर्व द्वितीय शताब्दी की मूर्तियों से निकटतम सादृश्य रखते हैं और फलतः निःसन्देह ही यह दोनों कलाएँ समसामयिक हैं। अतः यह निष्कर्ष अपरिहार्य है कि अजन्ता की नवीं और दसवीं गुफ़ाओं के ईसवी पूर्व द्वितीय शताब्दी के लेख चित्र के उदाहरणों से कई शताब्दियों पूर्व ही लेख चित्र कला का आरंभ एक ललित कला के रूप में हो गया रहा होगा।

उत्पत्ति स्थान

ये भित्ति चित्र केवल इसी देश की कला को प्रस्तुत करते हैं और ऐसा कोई लक्षण उनमें दिखाई नहीं पड़ता, जिससे यह सिद्ध किया जा सके कि यह इस क्षेत्र में लाई गई विदेशी कला के भी नमूने हैं। इन भित्ति चित्रों में चित्रित पुरुष और स्त्रियां भारत के आदिवासी प्रतीत होते हैं। इनके लम्बे लम्बे बाल, फ़ीतों से इस तरह सिर पर बंधे हुए हैं कि वे इनके सिर के मुकुट पर लगी हुई सर्प के फणों की कलगियों की तरह प्रतीत होते हैं। यह रूप बड़े आश्चर्यमय ढंग से, हमें आज के दक्षिण के स्थानीय निवासियों की याद दिलाते हैं। इससे इस बात का स्पष्ट संकेत मिल जाता है कि इन चित्रों में निरूपित लोग दक्षिण भारत के उन दिनों के स्थानीय निवासी ही थे तथा उनके वस्त्र और आभूषण समसामयिक जीवन की ही अनुकृति थे।

इस प्रसंग में यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि ईसवी सन् से कुछ शताब्दियों के पूर्व से ही दक्षिण भारत व्यापार तथा सभ्यता और संस्कृति के एक बड़े केन्द्र की तरह प्रसिद्ध था। बर्तन बनाने की कुशलता तथा आभूषण निर्माण की कला, सब प्रकार और शैलियों की स्थापत्य और भास्कर्य कला इत्यादि में, इतने प्राचीन काल में भी, दक्षिण भारत अपनी विशेष योग्यता की सिद्धि का अकाट्य प्रमाण दे रहा है। अतः यह प्रायः निश्चित सा ही प्रतीत होता है कि भारत में भित्तिचित्रों के भी उद्गम और विकास का स्थल दक्षिण में ही है।

प्राचीन चित्र कला की विशेषताएँ

पीले और लाल रंग के लिए इन चित्रों में गैरिक रंगों का प्रयोग हुआ है। योजना के अनुसार अ-पेक्षित प्रभाव उत्पन्न करने के लिए हीरा, मिट्टी, काजल तथा चूने की सफ़े ी का उनके शुद्ध या किसी अन्य रंग के मिश्रण के साथ प्रयोग हुआ है। अधर और नेत्रकोण के लिए एक प्रकार की हलके सिन्दूरी रंग का प्रयोग हुआ है। और यह बिलकुल ही स्पष्ट है कि यह रंग लाल गेरू से तैयार किया गया था। अंकन बिलकुल पुष्ट और सन्तुलित हुआ है तथा उसमें विमात्रय का पूर्ण परिपालन दृष्टिगोचर होता ह। किसी विशिष्ट विवरण को उभारने तथा शरीर की गोलाई प्रदर्शित करने के लिए हलके या गहरे रंग-धावनों का प्रयोग इन चित्रों में नहीं हुआ है। इसकी विपरीत स्थिति हमें संख्या १ और २ की गुफ़ाओं की बाद के युगों की भित्ति चित्र लिप्तियों में दिखलाई पड़ती है। प्राचीन चित्रों में समूहीकरण में संतुलित विवेचन तथा अंकित रूपों के भीतर सजीवता तथा गति की भावना दोनों विद्यमान हैं :

तिथि क्रम

भारतीय चित्र लिपि के इन प्राचीनतम उदाहरणों से प्रारम्भ करके अजन्ता की संख्या १ और २ की गुफ़ाओं तथा बाग़ गुफ़ा की उच्चतम विकसित अवस्थाओं तक के विकास की विविध अवस्थाओं के क्रमों को खोज कर उनका विवरण प्रस्तुत करना कठिन है। अजन्ता की दसवीं गुफ़ा के दक्षिण भाग की दीवार पर षड्दन्त-जातक इत्यादि से सम्बन्ध कुछ लेप चित्र हैं। उन लेप चित्रों पर कुछ शिला लेख रंग से लिखे गए हैं। पुरा लिपि विद्या सिद्धान्तों के आधार पर इन शिलालेखों की लिपि का रूप ईसवी सन् की तीसरी शताद्वी का प्रतीत होता है। अतः इन भित्ति-चित्रों की तिथि ईसा की तीसरी शताब्दि की मानी गई है। नवीं गुफ़ा के "ग्वालों के दृश्य" को तथा एक या दो और प्राचीनतर भित्ति–चित्रों को केवल शैली के आधार पर कुछ विद्वानों ने तीसरी शताद्वी से भी अधिक प्राचीन काल के सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। लेकिन जब हम यह स्वीकार करते हैं कि नवीं गुफ़ा का केवल शाम जातक तथा एक या दो और भित्ति चित्र जो दसवीं और नवीं गुफ़ा में है, पहली, दूसरी, सोलहवीं और सत्रहवीं गुफ़ाओं के भित्ति चित्रों से कुछ पहले, ईसा की चौथी शताद्वी में रखे जा सकते हैं तब हमारी अधिक निश्चित आधार पर अवल हैं। उनकी तिथि स्थिर करने के लिए इन अन्तिम चार गुफ़ाओं रंग शिला लेख तथा उत्कीर्ण शिला लेख ही एकमात्र निश्चित और विश्वस्त साक्षी का काम करते हैं और इनके आधार पर ये चार गुफ़ाएँ ईसा की पांचवीं शताद्वी की मानी जा सकती हैं।

केवल पद्धति और शैली के आधार पर ही निर्णय करने से पहली और सोलहवीं गुफ़ाओं के भित्ति-चित्र "प्रायः समसामयिक प्रतीत होते हैं ; सत्रहवीं गुफ़ा उनके तुरन्त बाद की तथा दूसरी गुफ़ा इस समूह की सबसे अन्तिम प्रतीत होती हैं।"

भित्ति चित्रण के विषय

भित्ति-चित्रों के लिए चुने हुए विषय कुछ महत्व का क्रम भी प्रदर्शित करते हैं। सोलहवीं गुफ़ा में बुद्ध के जन्म तथा बाल्यकाल की कथाएँ उनके सन्यासी जीवन के उपाख्यानों के साथ लेख चित्रित की गई है। परन्तु पहली गुफ़ा में उनके सन्यास की कथाएँ ही अधिक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर सकीं हैं। सत्रहवीं गुफ़ा में मुख्यतः जातक हैं—वे कथाएँ जो बुद्ध के पूर्व जन्म के अवतारों से सम्बन्ध रखती हैं। जिनमें

वे एक उदार राजकुमार या एक हाथी, बन्दर, हिरण, हंस, मछली या सर्प की तरह अवतीर्ण हो कर पशुता के भीतर भी उदारता लेकर यहीं आए थे। दूसरी गुफ़ा के भीतर राजकुमार सिद्धार्थ के रूप में रहने वाले बुद्ध की कुछ कथाएँ हैं तथा कुछ जातक कथाएँ भी हैं। उदाहरण की तरह ऋषि तुल्य मन्त्री विदुर पंडित तथा संभ्रान्त ऋषि क्षान्तिवाद इत्यादि की जातक कथाएँ प्रस्तुत की जा सकती हैं।

अजन्ता कला की भावाभिव्यक्ति

यों तो अजन्ता की कला में सर्वत्र उत्कृष्टता देखी जा सकती है, किन्तु उसमें शारीरिक सौन्दर्य के अंकन की कला सर्वोपरि है। अजन्ता की कला के द्वारा मानवीय प्रवृत्तियों का सूक्ष्म प्रस्फुटन भी हुआ है। उदाहरण के लिए संख्या १ की गुफ़ा के राजकुमार सिद्धार्थ नामक चित्र को ले लीजिए। इस चित्र में बोधिसत्व पद्मपाणि का अंकन हुआ है और इसी अंकन की शैली अजन्ता कला की सामान्य शैली है। इस चित्र में राजकुमार सिद्धार्थ को केवल आसामान्य गम्भीर मुद्रा में ही अंकित नहीं किया गया है, अपितु भावों की अभिव्यञ्जना और कलात्मकता में ऐसा सौष्ठव आ गया है कि अनायास ही यूनानी देव दूत का स्मरण हो जाता है। विशेषतः शारीरिक सौष्ठव दर्शनीय है–विस्तृत वक्ष, पुष्ट कन्धे, सुदीर्घ बाहु, सुन्दर नाक और गर्वोन्नित मस्तक। ऐसे चित्र आत्मिक प्रेरणा देते हैं और चित्रों में अंकित उज्ज्वल तथा प्रदीप्त नेत्र की चित्रणता विश्व की महान् कलाकृतियों में अपनी समानता नहीं रखता। अर्धमीलित भावपूर्ण नेत्र बाह्य संसार को मन्द-मन्द ज्योतित करने से और दृढ़ ओंठ आत्मिक शांति का गम्भीर संकेत करते हैं। सारांश में शरीर-शरीर के अंश-अंश से गहने आध्यात्म की इतनी सौष्ठव पूर्ण और समुचित अभिव्यक्ति हुई है कि दर्शक मनुष्य हठात् ही प्रभावित हो उठता है। ऐसा ही हम वस्त्रों के अंकन के विषय में भी कह सकते हैं। वस्त्र और आभूषणों का अंकन भी निराडम्बर होता हुआ भी असामान्य कला का परिचय देता है।

अजन्ता कला में नारी

अजन्ता-कला का योग विश्व की कला के लिए सर्वाधिक उल्लेखनीय रहा है। अजन्ता-कला में अंकित नारी प्रतीकों की आत्मिक सुन्दरता विशेषतः अविस्मरणीय है। नारी को सहस्त्रों रूपों और मुद्राओं में अंकित किया गया है। किन्तु नारी–भले ही वह राजकन्या या भिक्षुणी हो, एक रानी हो या नर्तकी—सब आत्म प्रेरणा में कार्यरत दीखती हैं। उनका अंग-अंग सोद्देश्य और आकर्षणीय है। उनके नेत्रों में तरलता और मधुरता है, किन्तु उसके साथ ही विश्वास भाव भी है। इन नारी चित्रों के केश और उनकी सज्जा आदि वस्तुओं को इस सूक्ष्मता और सहजता से अंकित किया गया है कि यह केवल उत्कृष्ट कल्पना का ही दृश्य उपस्थित नहीं करता अपितु चित्रकार की प्रतिभा और क्षमता के लिए भी बार-बार सोंचने को विवश कर डालता है।

इसके अतिरिक्त अजन्ता के चित्रों में मानवीय जीवन के बहुमुखी दृश्यों का अंकन भी बड़ी व्यापकता और हृदयग्राहिता से किया गया है। सामान्य वस्तुओं पर भी शैलीपूर्ण अंकन विशेषतः दर्शनीय है। द्वार, खिड़कियां आदि सामान्य से सामान्य वस्तुओं का सौन्दर्य पूर्ण और सजीव चित्रण हमें आह्लाद और विस्मय के भावों से भर डालता है।

पीथल खोरा

इसके अजन्ता ईसा की छटवीं शताब्दि के पश्चात् अंकित चित्रकला उल्लेखनीय है। पीथल खोरा की उत्कृष्ट कृतियों के नमूने में तो अजन्ता के चित्रों में भी कोई चित्र नहीं मिलता। पीथल खोरा का स्थान कन्नड़ तालुका (औरंगाबाद ज़िला) से लगभग १० मील दूर अवस्थित है और वहां अंकित भित्ति चित्रों ने अजन्ता कला की परम्परा को विस्तृत और सुदीर्घ किया है। इन चित्रों की कथा बुद्ध बोधिसत्व और उनके साथियों का सन्देश हमें बड़ी सुरुचि प्रियता से देती हैं। हमें यहां सर्वत्र अजन्ता कला का प्रभाव अपरिहार्य रूप में दृष्टिगोचर होता है। चित्रों में बौद्ध धर्म संबन्धी गतिविधियों, अथवा दृश्यों व भिक्षुओं नागों और अप्सराओं को भी बहुलता से देखा जा सकता है।

इलोरा

इलोरा के भित्ति-चित्रों को समय के प्रवाहों में महान् क्षति उठानी पड़ी है। इलोरा के भित्ति-चित्रों में भी अजन्ता कला के सदृश्य "मूक बादलों" को बड़ी सहजता और सप्राणता से अंकित किया गया है। इलोरा दक्षिण-शैली का पूर्ण उदाहरण है। इलोरा चित्रों के काल निर्धारण के विषय में विद्वानों में अभी भी विवादास्पद स्थिति है। कुछ अधिक पुष्ट प्रमाणों से इलोरा चित्रों का काल ईसा की आठवीं-नवीं शताब्दी प्रतीत होता है। संख्या १६ की ब्राह्मण गुफ़ा का कैलाश मन्दिर, (इस भाग को लोकेश्वर भी कहते हैं और यह भाग आठवीं शताब्दी में निर्मित प्रतीत होता है) इन्द्र सभा, जिसे नवी शताब्दी में निर्मित जैन मन्दिर भी कहा जाता है। लगभग इसी समय का गणेश लेनी के भग्न मन्दिर की एक शृंखला सी एक छोटी सी वेल गंगा नामक नदी के तट पर फैली हुई है। यह मन्दिर एक पहाड़ी पर अवस्थित है। डा० स्टैल्ला क्रेमरिच का इस संबन्ध में कथन है "इन मन्दिरों म प्रच्छन्न और प्रत्यक्ष रहस्य आवृत्त है। चित्रों में शैली का सुन्दर वैविध्य देखा जा सकता है, कहीं कहीं मेघों का जो अंकन इन चित्रों में मिलता है, उसमें शैलीगत दृश्य बहुत मनोरम हो उठे हैं। चित्रों की भाव भूमि में राग और माधुर्य साकार हो उठते हैं। वस्तुतः यह चित्र माया-मोह की निस्सारता पर अधिकाधिक अवलम्बित है। इन चित्रों में विभिन्न प्रकारों से जीवन को निर्लिप्तता का अमर सन्देश दिया गया है।"

मध्य युगीन चित्र

इलोरा के अनन्तर की चित्रकला हमें दक्षिण के मन्दिरों की विभिन्न मूर्तियों और भिन्न भित्ति-चित्रों में प्राप्त होती है। ११ वीं शताब्दि से चौदहवीं शताब्दी के आरंभ तक निर्मित चित्रों में कागज़ों पर भी मिलते हैं। नलगुण्डा ज़िले का नरसिम्मा देव का मन्दिर ११९५ ईसवी में निर्मित हुआ, यह तिथि उसमें उत्कीर्ण एक शिला लेख के आधार पर निश्चित की जा सकी है। सत्रहवीं शताब्दी के लगभग और उसके अनन्तर हमें कोई भी उल्लेखनीय अथवा भित्ति-चित्र उपलब्ध नहीं होते, इसका कारण यही हो सकता है कि यह काल भारी राजनीतिक उथल-पुथल से भरा रहा है। इस काल में हिन्दुओं को अनेकानेक संघर्षों से निरन्तर जूझना पड़ा है। परिणामतः किसी हिन्दू मन्दिर का निर्माण संभव नहीं हो सका। काकतीय शासकों के कतिपय अभिलेखों से विदित होता है कि उनके द्वारा बहुत से प्रयास भित्ति-चित्रों के निर्माण के लिए हुए थे। मध्य युगीन भित्ति-चित्र इलोरा के चित्रों के सदृश्य कोई बहुत उत्कृष्ट कला के उदाहरण प्रतीत नहीं होते।

विजय नगर

रायचूर ज़िले के आनेगोन्दी की चित्रकला, जो उक्कैप्पा मठ के कक्ष में देखी जा सकती है १५ वीं शताब्दी की अनुमानित की गई हैं। विजय नगर के विशाल खम्भों, दालानों, आदि पर उत्कीर्ण कला में आश्चर्यान्वित कर देती है। यहां के चित्रों में भी मानवीय शरीर के अवयवों का अंकन बड़ी भव्यता से देखने में आता है। मुख, नेत्र, नाक आदि का चित्रण बड़ा सूक्ष्म हुआ है। चित्रों की निर्माण पद्धति पर बहुत अंशों में अजन्ता कला का प्रभाव भी दिखलाई पड़ता है।

दक्षिण में अंकित भित्ति चित्रों के गहन अध्ययन पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि इन सब चित्रों का प्रभाव बाद में पल्लवित और विकसित मुग़ल शैली पर भी कुछ न कुछ पड़ा है। फिर भी मुग़ल शैली के चित्र दक्षिण की चित्रकला में एक नवीन विषय वस्तु और पद्धति का समावेश करते हैं। दक्षिण की चित्रकारिता की प्रवहमान परम्परा भारतीय चित्र कला के इतिहास में रागात्मक महत्व रखती है। कतिपय निजी संग्रहों, प्रकाशनों और अन्य सामग्री के सूक्ष्म निरूपण पर यह असंदिग्धतः कहा जा सकता है कि एक समय दक्षिण में कला अपने वास्तविक उत्कर्ष पर थी।

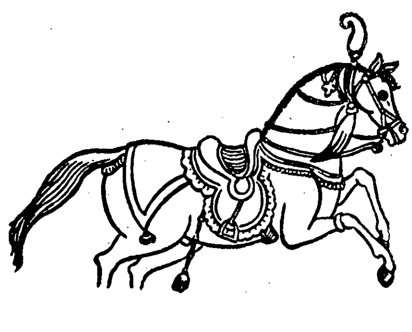

—हैदराबाद पुरातत्व विभाग के सौजन्यसे

चित्र कला : मध्य काल

पन्द्रहवीं शताब्दी के प्रथम अर्धभाग में अहमद शाह वली बहमनी द्वारा निर्मित बीदर का गुम्बद मिलता है। इसका संतुलित ज्यामिति पर सुरुचिप्रियतापूर्ण निर्माण इस काल की कृतियों में विशेष उल्लेखनीय है। इस पर विभिन्न रंगों और असली सोने के कार्य ने आज तक हमें अविस्मरणीय पूर्ण आकर्षण प्रदान किया है। इसकी चित्र कला सामान्य जीवन की कला नहीं है। कहना चाहिए कि यह कला जीवन पक्ष की न होकर अलौकिकता के अत्युच्च स्तर पर है।

बीदर की कुछ अन्य कृतियां कुछ अपने आकर्षणपूर्ण रंगों और कुछ सौन्दर्यपूर्ण गठन के कारण उल्लेख्य हैं। एक स्थान पर दो सिंह दिखाए गए हैं, उनमें प्रत्येक के पीछे सूर्य को उदय होता हुआ दिखलाया गया है। बीदर की बहुत सी कला सामग्रियों को देखने से इस निष्कर्ष पर पहुंचा जा सकता है कि उसपर ईरानी प्रभाव सर्वत्र पड़ा है।

बहमनी साम्राज्य के पतन के बाद दक्षिण पांच छोटे-छोटे राज्यों में बँट गया। हम देखते हैं कि इस परिस्थिति में भी कला की ओर लोगों की उत्साहपूर्ण रुचि रही।

बीजापुर के आदिल शाह ने कुछ कलाकारों को अपने यहां इस बात के लिए नौकर रखा कि वे चित्र-लिपियों को विविध रंगों में सजाएँगे तथा राज प्रासाद में चित्रांकन करेंगे। गोलकुण्डा के क़ुतुब शाह और अन्य शासकों ने भी कलाकारों को अच्छा प्रश्रय दिया, ताकि कलाकार कला-संग्रहों, (चित्रशालाओं) और किताबों के लिए रंगीन चित्र तैयार कर सकें।

इस काल की कला का एक उत्कृष्ट नमूना अबदुल्ला क़ुतुब शाह के चित्र में देखा जा सकता है यह चित्र स्व० सर अकबर हैदरी के निजी संग्रहालय से उपलब्ध किया जा सका है। इस चित्र में अबदुल्ला क़ुतुब शाह के एक विशाल जुलूस को बड़ी सजीवता से अंकित किया गया है। इस कालकी कला-शैली में निर्मित अनेक वस्तुओं को हैदराबाद के सालार जंग म्यूज़ियम, सईदिया और आसफ़िया पुस्तकालयों तथा अन्य निजी संग्रहों में देख सकते हैं।

क़ुतुब शाह के कुछ समय बाद तक ही मुग़लों का शासन दक्षिण पर रहा। आसफ़जाही शासन में कला को अच्छा प्रोत्साहन और प्रश्रय प्राप्त हुआ। इस काल में निर्मित अनेक कलाकृतियाँ हैदराबाद और उसके बाहर पाई जाती हैं। इस काल में कला में एक नवीन प्रयोग और दृष्टिविधान के स्पष्टतया दर्शन होते हैं। इस काल के प्रसिद्ध कलाकार वेंकटाचलम ने अत्युच्च स्तर पर अनेक चित्रों को बनाया। वेंकटाचलम की कला इतनी उत्कृष्ट थी की उसके आश्रयदाताओं न उसे एक बड़ी जागीर पुरस्कार रूप में प्रदान की थी; उस जागीर की आय १२,००० वार्षिक थी ; इस से कलाकार ने अपने जीवन काल में अच्छा सुख उपभोग किया। इसी प्रकार अन्य ज्ञात-अज्ञात कलाकारों के बहुत से स्फुट काय हम यत्र-तत्र उपलब्ध होते हैं। सालार जंग म्यूज़ियम में संगृहीत काष्ठ से निर्मित दो नमूनों में निज़ाम अली खाँ के जुलूस का भव्य दृश्य अंकित किया गया है।

हैदराबाद के म्यूज़ियम में अभी हाल ही में ही आसफ़जाही काल की चित्रलिपियां संगृहीत की गई हैं। दक्षिण के इस युग के कलाकारों में फ़क़ीर मुहम्मद नामक एक अन्य कलाकार का भी नाम अवि-स्मरणीय है। इस काल के चित्रों का निर्माण दक्षिण की शैली में अवश्य हुआ, मगर उनपर उत्तर भारतीय प्रभाव भी कम नहीं ह।

अनुकृतिपूर्ण चित्रकला की कतिपय प्रवृत्तियाँ राज्य के विभिन्न स्थानों में उपलब्ध होती हैं। प्राचीन कलाशैली की परम्परा को बन्नैय्या और महमूद अली नामक चित्रकार अभी सजीव किए हुए हैं।

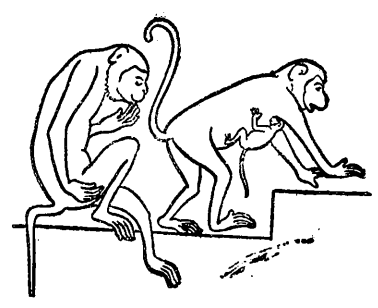

ख्वाजा मुहम्मद अहमद
हैदराबाद-दक्षिण

न्याय

कवि और कविता

मैं हैदराबाद के प्राकृतिक सौन्दर्य और वैसी ही सुन्दर यहाँ की संस्कृति के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रगट करना चाहता हूं, जो कविता के प्रति, मेरे प्रेम और सौन्दर्यशास्त्र के प्रति, मेरे लगाव के मुख्य कारण रहे हैं। प्राकृतिक सौन्दर्य, उत्सवों और प्रेम-भावना, भावुकता एवं विद्वत्ता से पूर्ण वह संस्कृति मेरे मस्तिष्क को एक कवि का मस्तिष्क बनाने में अत्यन्त सहायक रही है। जब मैं पीछे अपने बचपन की ओर देखता हूं और उन सुनहले दिनों की याद करता हूं—जब जातियों और धर्मों के बीच पारस्परिक सहिष्णुता थी, जब सुख-समृद्धि के दिन थे और, लोभ, चोर-बाजारी तथा चरमराते हुए आर्थिक ढाँचे से लोग अभी अपरिचित थे तो मैं अनुभव करता हूं कि उस समय भी सौन्दर्य के मूल्यों के प्रति मेरी कल्पना सजग थी। उस छोटी उम्र में भी इन्द्रधनुषों और चट्टानों, रहस्यमय जंगलों और आकाश को देख कर मेरे हृदय में धड़कन पैदा होती थी। मुझे वे जादू की कहानियाँ भी स्मरण आती हैं जो कि हमें एक मुसल्मान महिला सुनाया करती थी। यह महिला सप्ताह या पखवाड़े भी हमारे यहाँ रह जाया करती थी और हम उसे 'पीरानी खाला' कहा करते थे। वे कहानियाँ

जो हमेशा संध्या में दीपक जलाने के बाद हम सुनते थे मेरे काल्पनिक अनुभव की अमूल्य निधि थीं। आठ वर्ष की उम्र में मैंने पद्य लिखना आरम्भ कर दिया था। मैं अपने हृदय में गीतों का उल्लास या लय लेकर पैदा हुआ था जैसे कि सभी बच्चे पैदा होते हैं या होने चाहिएँ। परन्तु अधिकांश बच्चों के विपरीत मुझे भाग्य से ऐसे माता-पिता मिले जिन्होंने मेरे तुकबन्दी के प्रयत्नों को चाहे वे कैसे ही बचकाने या मूर्खतापूर्ण क्यों न रहे हों, बहुमूल्य और प्रोत्साहन देने के योग्य समझा।

लय का जन्म सृष्टि के साथ ही हुआ। मानवीय सृष्टि के आरम्भ से पहले भी ब्रह्माण्ड पानी की तरंगों और गोलकों के नृत्य से गर्भित था। सृष्टि पर मनुष्य के आगमन के पश्चात् एक नया लय और उसकी अभिव्यक्ति का एक नया प्रकार दिखाई दिया। एक दृष्टि से और केवल उस दृष्टि से ही वह नया था क्योंकि मनुष्य, के अन्तर का लय सृष्टि के विशालतर लय में सम्मिलित है तथा किसी रहस्यपूर्ण तरीके से उससे सम्बन्धित है। जड़ प्रकृति के विपरीत जो कि आकस्मिक घटनाओं से पूर्ण है, मनुष्य के अन्तर की समस्वरता, समय और मानव-मस्तिष्क के विकास की प्रक्रिया में ढलकर विशिष्ट और नियमानुकूल बन गई है। अपने व्यापक अर्थ में लय की परिभाषा "संग्रथित क्रम से स्वर की तीव्रता और काल व्यवधान द्वारा ध्वनियों की शृंखला से निर्भित आकृतियाँ" हो सकती हैं। प्रारम्भिक अवस्था में वह अनुकरणात्मक भी हो सकती है। अन्य पशुओं के समान ही मनुष्य में भी लय की भावना पाई जाती थी; यह कहना भी अत्युक्ति न होगा कि लय का सम्बन्ध हृदय की धड़कनों से है। इस दृष्टि से प्रकृति के चेतन स्वरूपों में समस्वरता का जैविक तथ्य के रूप में आरम्भ हुआ।

शताब्दियों की शिक्षा से मस्तिष्क के कुशल होने से क्रमशः मनोमय स्वरैक्य का अविर्भाव हुआ। ऐतिहासिक दृष्टि से लय का सम्बन्ध बहुत प्राचीन काल से मनुष्य द्वारा प्रयोग में लाए जानेवाले औज़ारों से जोड़ा जा सकता है जिससे कि मनुष्य और अन्य पशुओ के बीच एक विभाजक रेखा खींची जा सकती है किसी परिश्रम का कार्य करते हुए यथा—भारी पत्थरों को उठाते हुए या धान के बोरे उठाते समय किसने मानवीय आवाज़ को सरस लय में प्रकट होते नहीं सुना है? वैज्ञानिक विश्लेषण से ज्ञात होता है कि प्रत्येक शारीरिक परिश्रम की अधिकता पर मनुष्य क्षण भर सुस्ताने के लिए भीतर साँस खींचता है जो उपजिव्हा के बन्द होने पर भीतर रहती है, परिश्रम के बाद जैसे ही वह सुस्ताता है रुकी हुई हवा के प्रवाह से उपजिव्हा खुल पड़ती है और वह हवा ध्वनि की शिराओं को प्रकम्पित करती है जिससे कि कार्य की गति के साथ निरन्तर लययुक्त ध्वनि निकलती रहती है। यहाँ मैं आपका ध्यान अपनी एक कविता 'जहाज़ का मज़दूर' (Dock Worker) की ओर आकृष्ट करना चाहता हूं।

प्रत्येक देश में जहां इस पृथ्वी पर मनुष्य खेतों में काम करते हैं या चक्की चलाते हैं; मनुष्य जो भारी गाड़ियां या नावें खींचते हैं; नाविक जो नदी या समुद्र के गतिमान् पानी को हटाने के लिए भारी डांडें चलाते हैं वे सब गीतों की रचना करते हैं और उनके गीत उनके श्रम के भार को हलका करते है। आधुनिक मशीनों के काम में लाए जाने से, जो स्वयं अपने विशेष ढंग से लययुक्त होती ही हैं—उनकी झनझनाहट खड़खड़ाहट और धमाके से भी विशेष लय उत्पन्न होती है—परन्तु उसके पश्चात् मानवीय श्रम के साथ होनेवाले गीत समाप्त हो गए और कहीं खो गए हैं। इन गीतों में लय के साथ श्रम को हलका करने की शक्ति होने के कारण सामान्य लोगों में उनकी रहस्यमय शक्ति के प्रति विश्वास जागृत होने लगा। अतः बहुत प्राचीन

समय से लययुक्त ध्वनियों के जादुई तत्व के प्रति लोगों का विश्वास रहा है। यह विश्वास केवल सामान्य लोगों तक ही सीमित नहीं रहा वरन् उच्च श्रेणी के लोगों यथा पुजारी और पंडितों ने भी, जैसा कि हम सभी जानते हैं, सुन्दर शब्दाकृतियों के विशिष्ट ध्वनि-संयोजनों की संरचना की जो मनुष्यों पर मनोवैज्ञानिक प्रभाव डालने के लिए पर्याप्त थे और उन्हें मन्त्र या जादुई गीत कहा गया। इन मन्त्रों के रचयिता उच्च कुलोत्पन्न कवि-ऋषि होते थे : ऐसे व्यक्ति जिनके लिए एक शब्द का अर्थ प्रकपम्न और ध्वनि से युक्त सम्पूर्ण विश्व था और जिससे सही रूप में समझने पर सृष्टि के मूल में छिपे हुए अदृश्य रहस्य को समझा जा सकता था। अतः इसमें कोई आश्चर्य नहीं की महान् कविता जादू-सा प्रभाव डालने वाली होती है और सभी महान् कविताएँ श्रोता या पाठक में कुछ ऐसी बात जगाती हैं जो कि स्वयं शब्दों की शक्ति और प्रक्रिया से परे होती हैं। एक महाकवि के हाथों में शब्द वे संकेत होते हैं जो कि मस्तिष्क को शाश्वत सौन्दर्य के मार्ग पर गतिशील करते हैं। जब वे ऐसा नहीं कर पाते तो मेरी दृष्टि में वह साहित्य महान् और शाश्वत बनने में असफल होता है।

बच्चों के लिए बाल-तुकें जादुई प्रभाव डालनेवाली होती हैं और वे उसके छोटे-से कल्पनाशील मन को परी-लोक में विचरण करने के लिए प्रेरित करती हैं। उस आयु से पूर्व ही जब वह इन बाल-तुकों को सीखता या घोखने लगता है वह लय के जादू का अनुभव करता है। अपने दादा के घुटने पर बैठे हुए उसके हिलने के साथ वह स्वय स्वेच्छापूवक हिलन लगता है और ऐसा करते हुए वह कल्पना करता है कि मानो वह वास्तव में घोड़े पर बैठे हुए हैं जो कि उसे अभी सप्त समुद्रों, सप्त झरनों और सप्त रंगीन इन्द्र-धनुष के पार ले जाने को है। संसार में ऐसा कौन-सा बच्चा है जो टिन के डिब्बे को पुरानी लकड़ी से पीटने के लिए नहीं उत्सुक होता? अवश्य तथाकथित बड़े लोग अपनी अधिकारपूर्ण आवाज़ से बच्चे को शोरगुल न करने के लिए आज्ञा देते हैं परन्तु वे इस बात का अनुभव नहीं करते कि यह केवल मात्र शोर नहीं है वरन् ऐसा शोर है जिसका बालक के मस्तिष्क में निरन्तर समस्वरता प्राप्त करने के लिए स्वाभाविक उ`क होता है; जिसे वह अपनी पूर्ण शक्ति से बिना किसी विकृति के प्रकट करने का प्रयत्न करता है। हममें से कौन ऐसा है जिसने अपने बचपन से किशोर होने तक रेल यात्रा करते समय रेल के पहियों की आवाज़ से अपने मस्तिष्क के लय को सम्बन्धित नहीं किया। अस्तु, लय सभी के जीवन का केन्द्र बिन्दु है जिसे पुनः इस तर्क से सिद्ध किया जा सकता है कि एक के बाद दूसरी सांस लेने में एक निश्चित समय लगता है और जब इस अन्तराल की एकरूपता नष्ट हो जाती है तो मनुष्य अस्वस्थ हो जाता है।

छापेखानों के आविष्कार के पहले मनुष्य को अपनी स्मृति पर अधिक भरोसा करना पड़ता था। प्राचीन कवियों की रचनाओं के हज़ारों प्रतियों के संस्करण प्रकाशित नहीं होते थे जिन्हें कि एकान्त में बैठ कर पाठक पढ़ते हों; कवियों को अपनी केवल स्मृति पर और उन श्रोताओं की स्मृति पर जो कविताओं को सुन कर एक वंश के बाद दूसरे वंश के लोगों को कविताएं पहुँचाते थे भरोसा करना पड़ता था। कवि लिखने नहीं बैठता था। जब उसके हृदय में भावोद्रेक होता वह जनता के सामने आकर रंगमंच पर खड़ा हो जाता या बैठ जाता और काव्यगायन करने लगता। वह सच्चे अर्थ में जनता का कवि था और जनता उसे श्रद्धा की दृष्टि से देखती थी; इसलिए नहीं क्योंकि यह कोई अलौकिक बात थी वरन् अपने आसपास के लोगों के भावों और विचारों को अधिक बल के साथ प्रकट करन की उसमें शक्ति थी।

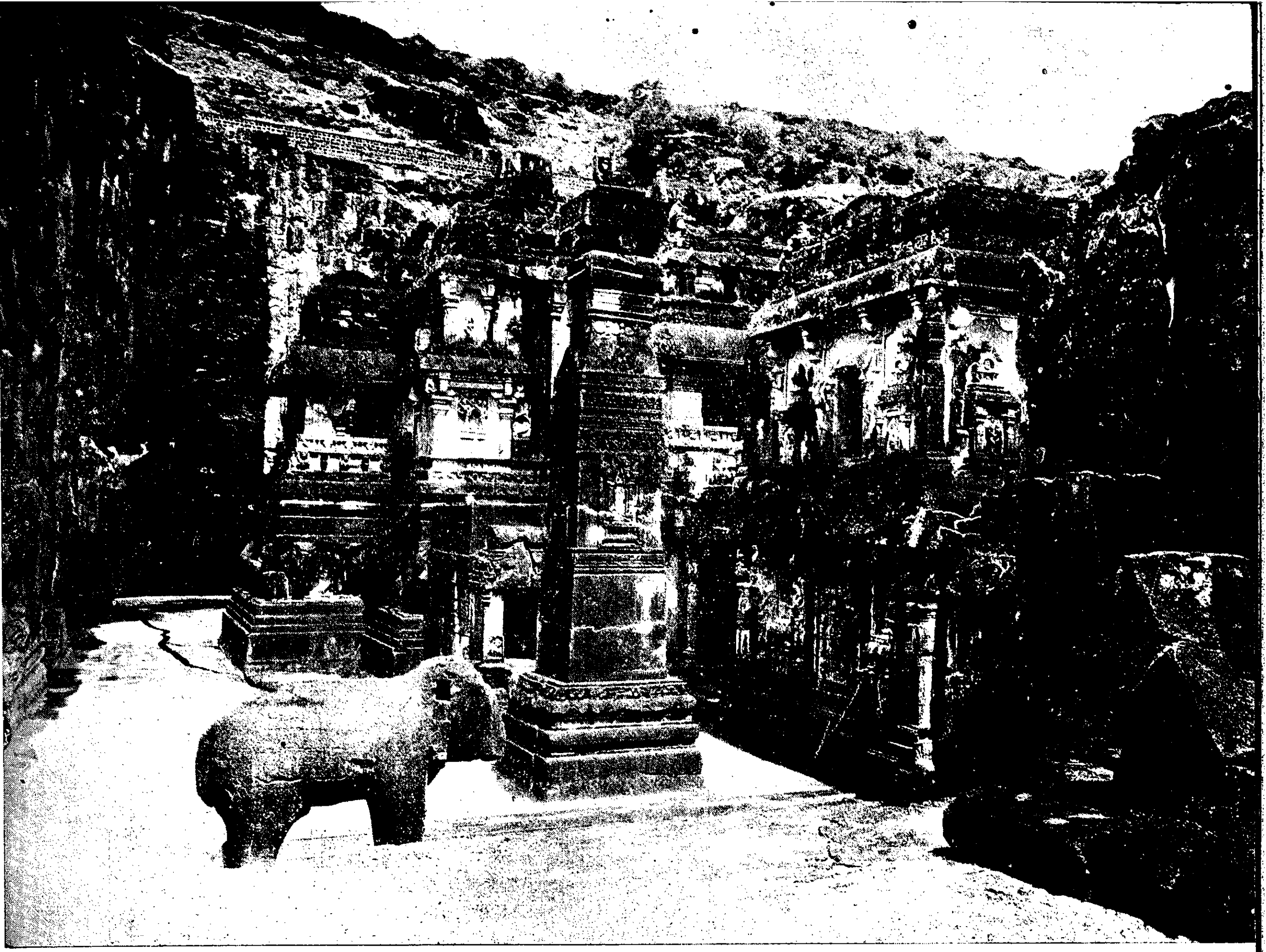

कैलाश (एलोरा)

नटराज (तञ्जोर)

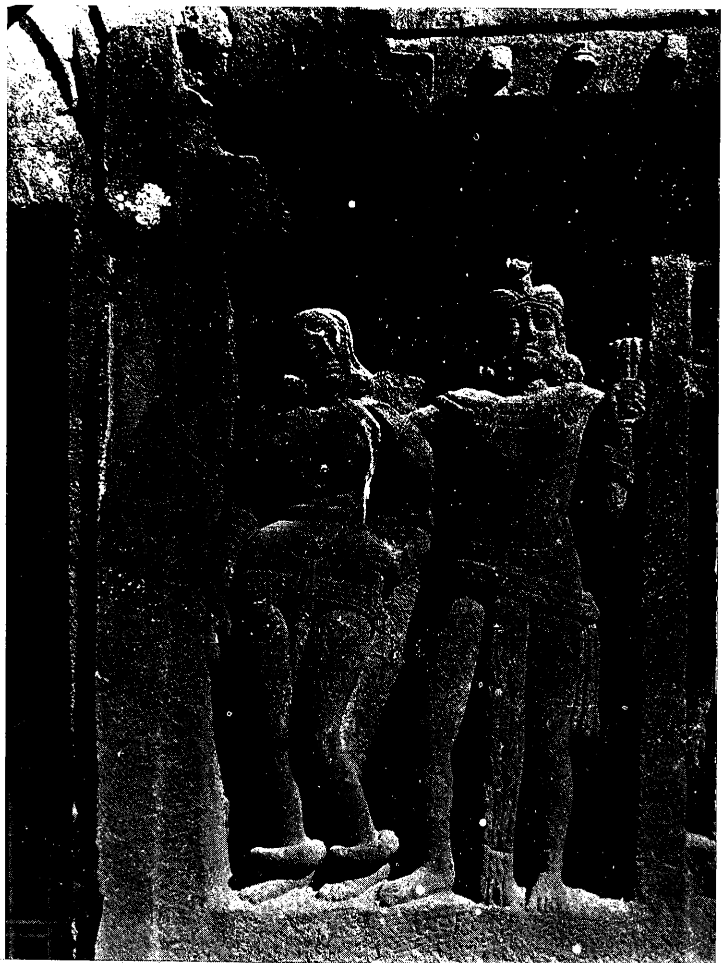

दाता चैत्य के सामने
१०० ईस्वी पूर्व (कारली नगर)

कुछ भी हो, किसी भी देश की जनता काव्यानुभूति और यहां तक कि काव्य भाषा के भी अधिक निकट होती है जिसकी व्यक्ति प्रधान समाज में शब्दों के व्यक्तिगत निर्माता से अपेक्षा नहीं की जा सकती।

होमर जन-कवि था। उसने अपने काव्य-गायक का वर्णन लिखा है तथा काव्य-गायन का जो प्रभाव स्वयं उस पर और उसके श्रोताओं पर पड़ता था उसकी भी उसने चर्चा की है : "जब मैं कोई करुण कथा कहता हूँ तो मेरी आंखों में आंसू भर आते हैं, भयंकर या आश्चर्यपूर्ण घटना का वर्णन करत हुए मेरे रोंगटे खड़े हो जाते हैं और हृदय धड़कने लगता है एवं जब कभी रंगमंच से मैं अपने दर्शकों की ओर देखता हूं तो वे मुझे रोते हुए दिखाई देते हैं और उनकी आंखों से भयंकरता झांकती दिखाई देती है ; जिन शब्दों को वे सुनते हैं ऐसा प्रतीत होता है जैसे उनमें वे खो गए हैं"। रडलोव ने जनकवि खिरगिज़ के सम्बन्ध में जो लिखा उससे उपरोक्त वर्णन की आश्चर्यजनक साम्यता है ; ऐसा ही वर्णन कज़ाक के प्रसिद्ध कवि जम्बुल का मिलता है। जम्बुल का जन्म १८४८ में हुआ था और एक शताब्दी तक वह जीवित रहा। उसने साम्राज्यों को उठते और गिरते हुए देखा और जब कज़ाकिस्तान गणराज्य बना उस समय उसने अपनी लोक-प्रेरणा को नवीन परिस्थितियों के अनुकूल अभिव्यक्त किया और उसने स्वतन्त्रता के महान् गीत और कविताएँ गाईं जिनकी शैली और दृष्टिकोण में उसकी जातीय शक्ति और सच्चाई प्रकट हुई।

प्रत्येक देश की जनता अगणित सम्भावनाओं की स्रोत होती है ; परन्तु पूंजीवादी देशों में ये सम्भावनाएँ बहुत कम प्रकट होती हैं। प्रतिभाशाली व्यक्ति वास्तव में जिन्हें हम जानते है उनसे संख्या में अधिक होते हैं और अनेक तो अनुचित श्रम और शोषण के भार से दब कर नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार का अनुचित श्रम और शोषण पूंजीवादी व्यवस्था का अनिवार्य तथ्य ह क्योंकि पूंजीवाद व्यक्तियों को वर्गों में विभाजित करता है और एक ऐसे समाजिक ढांचे को निर्मित करता है जिसमें केवल कुछ ही लोगों को अवसर मिल सकता है जो इस संरचना को निर्मित करने में सहायक हों। आज उन देशों में जहां वास्तविक जनतन्त्र है कलाकारों की बाढ़-सी दिखाई देती है : स्रष्टाओं की जो साहित्य और जीवन को गति देते हैं, जो रंग, प्रस्तर अनुभव और शब्दों से निर्माण करते हैं। कला-निर्माण के क्षेत्रों में कलाकार सदैव अपने देश की सबसे महान् और सबसे महत्वपूर्ण सन्तान थे और रहेंगे। वे अन्य लोगों की अपेक्षा अपने देश के उत्कट प्रेमो, और अधिक उत्साही होते हैं। एक कलाकार, निर्माता या कवि निस्सन्देह किसी भी अन्य व्यक्ति से इस बात को अधिक सच्चाई के साथ जानता है कि संस्कृति और कला बिना राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक स्वतन्त्रता के जीवित नहीं रह सकती और जहां कला और संस्कृति नहीं है वहां जीवन भी नहीं है। बिना तीव्रभेदी दृष्टि के लोगों का जीवन अंधकारमय हो जाता है और इस मूल्यवान् दृष्टि और स्थायी सम्पत्ति को कवि परम्परा और पुरातनता से प्राप्त करता है। कलाकार इस तथ्य के प्रति सचेत होता है कि स्वतन्त्रता के बिना कला और संस्कृति जीवित नहीं रह सकती अतः स्वभावतया वह देश के दुर्भाग्य की अवस्था म उनकी स्वतन्त्रता के लिए संघर्षशील होता है। उस समय कवि की लेखनी तलवार के रूप में बदल जाती है ; संकट काल में वह अपनी सम्पूर्ण शक्ति अन्याय, असमानता और ग़ुलामी के विरुद्ध लगा देता है फिर चाहे यह दशा विदेशी शासन या स्वयं अपने देश के लोगों के शासन के कारण उपस्थित हुई हो और उसके देश की जनता की आवाज़ को कुचला जा रहा हो। ईश्वर के गुण गानेवाला कवि जनता का नेता बन जाता है और कविता और युद्ध के बीच कोई अन्तर नहीं रहता। इस प्रकार के ऐतिहासिक कालों में अपना नमक अदा करनेवाले कवियों ने अत्यन्त उद्बोधक गीत और राजनैतिक और क्रान्तिकारी आन्दोलनों

को प्रेरित करनेवाली कविताएँ लिखी है, वे गीत और कविताएँ जिनका प्रत्येक शब्द आग है, जिसकी ध्वनि और अर्थ में विजय सन्निहित है। स्वयं हमारे देश के महाकवि रवीन्द्रनाथ ने विशेष कर बंगाल के और सामान्यतया भारत के स्वतन्त्रता आन्दोलन से प्रेरित होकर क्रान्तिकारी कविताएँ लिखी हैं। उदाहरण के लिए बंगाल के विभाजन के समय के उनके गीतों को (बीसवीं सदी के साहित्य के इतिहास में) अत्यंत शक्ति-शाली और हृदय-उद्बोधक गीतों की सूची में रखना होगा। जंगखोर जापानी कवि योन नोगुची और कुमारी राथबोन को उन्होंने जो शक्तिशाली और प्रेरणादायक पत्र लिखे वे भी उनके उत्कट देश-प्रेम के अमिट उदाहरण हैं, और जलियांवाला बाग़ के हत्याकाण्ड के तत्काल पश्चात् उन्होंने अंग्रेज़ी सल्तनत को जो महान् ऐतिहासिक पत्र लिखा वह एक प्रामाणिक कवि की आत्मा का ज्वलन्त प्रतीक है। महान् कवि और अपेक्षाकृत सामान्य कवि भी, देश के संकट-काल में कभी शान्त नहीं बैठते। शेली की प्रसिद्ध क़विता 'इंग्लैण्ड के लोग' (Men of England) उसके देशवासियों के जीवन का इतिहास बनाने वाली सिद्ध हुई :

"इंग्लैण्ड के लोगो, तुम किनके लिए हल जोतते हो
क्या उन सामन्तों के लिए जिन्होंने तुम्हें नीचे गिराया है ?
किनके लिए इतने श्रम और सावधानी से ये वस्त्र बुन रहे हो ?
क्या इसलिए कि आततायी भड़कीले वस्त्र पहनें ?
किसको खिलाते पहनाते और किसके लिए बचाते हो
पालने से क़ब्र के लम्बे जीवन भर
उन कृतघ्न बड़े मक्खों के लिए जो तुम्हारे
पसीने को बहाते हैं—नहीं, पीते हैं उष्ण रक्त ?
किसके लिए ओ इंग्लैण्ड की मधु-मक्खियो,
शस्त्र, ज़ंजीरें और कोड़े का उत्पादन
क्या इसलिए कि मर्म भेदक ये मधु-मक्खे
तुम्हारे श्रम से दबाव डाल कर पैदा की हुई
वस्तुओं से सुख और विलास करें
बोओ, पर किसी आततायी को फ़सल मत काटने दो
धन कमाओ, पर सावधान ! कोई लुटेरा उसे न ले जाए
कपड़े बुनो पर किसी आलसी के पहनने के लिए नहीं
शस्त्रास्त्र बनाओ पर स्वयं अपनी रक्षा के लिए"

और वह उन्हें स्मरण दिलाता है : "तुम हो बहुत से और वे थोड़े हैं।" बायरन ने यूनान के लिए स्वतन्त्रता की आवाज़ उठाई और आधुनिक समय में भी हम बहुत से ऐसे साहित्यकारों के नाम जानते हैं जिन्होंने केवल अपने देश में होने वाले अत्याचारों के विरुद्ध ही आवाज़ नहीं उठाई वरन् अन्य देशों में भी जहां कहीं अत्याचार दिखाई दिया वहां स्वतन्त्रता आन्दोलन को सहायता दी। कलाकार के लिए संकीर्ण भौगोलिक सीमाओं का कोई अर्थ नहीं होता : उसके लिए सारा आकाश एक है और उस आकाश के नीचे समस्त मानवता भी एक है। मानवता की स्वतन्त्रता के लिए जहां कहीं भी संघर्ष आवश्यक हो, उसमें

भाग लेने की आवश्यकता है क्योंकि संसार के किसी भी भाग का दासत्व सम्पूर्ण संसार को प्रभावित करता है।

टी. एस. इलियट ने किपलिंग पर अपने लेख में कहा है कि देश-प्रेम कविता के लिए उपयुक्त विषय नहीं है और कुछ अंशों में उसका कथन सत्य भी हो सकता है। संकीर्ण दृष्टि से देश-प्रेम दूसरे देशों के घृणा और अपने ही देश से प्रेम के रूप में भी प्रकट हो सकता है और उस देश-प्रेम की कभी प्रशंसा नहीं की जा सकती। महान् कवियों की लेखनी से देश-प्रम भी कविता का वैसा ही सुन्दर विषय हो सकता है जैसा कि सूर्यास्त, तारों और नारी का सौन्दर्य। परन्तु अपेक्षाकृत कम महत्त्व के कवियों के हाथ में देश-प्रेभ एकांगी, संकुचित, अनावश्यक तूल का विषय हो जाता है। पुनः इस प्रकार का देश-प्रेम जीवन और मानवता को व्यापक दृष्टि से देखने में बाधक होता है और वह व्यक्ति को अपने स्वार्थ में एकांगी बना देता है तथा शेष जगत् से अलग कर देता है। दूसरे शब्दों में वह व्यक्ति को 'कुएँ का मेंढक' बना देता है और प्रायः वह उसे कृत्रिम फ़ैशन की तरह भी अपनाता है जिसमें भावों का संतुलन और वास्तविकता का अंश नहीं रहता। तथापि यह सत्य है कि जब किसी देश पर विदेशी आक्रमण हो या वह देश अपनी ग़ुलामी की ज़ंजीरों को तोड़ने के लिए विकल हो उस समय ऐसे देश का कवि अपने भावातिरेक में अपने देश की महानता का स्मरण दिलाता है। यह आत्म-रक्षा का एक तरीका है--भौतिक और मानसिक दोनों दृष्टि से। कवि के लिए देश माता और पिता का प्रतीक बन जाता है। कवियों ने प्रत्येक देश में ऐसे ऐतिहासिक क्षणों में पितृभूमि की भक्ति में गीत लिखे हैं; भारतवासियों ने मातृभूमि के गीत लिखे हैं क्योंकि भारतीय परम्परा में माता की पूजा प्रधान रही है। परन्तु राजनीतिक संघर्ष के समय ही इस प्रकार के देश-प्रेम के साहित्य की रचना होती है और थोड़े समय के लिए वह लोकप्रिय रहता है --उसकी लोकप्रियता का कारण समय की मांग को पूरा करना है। परन्तु सत्य यह ह कि देश-भक्ति के ये गीत और कविताएँ साहित्य के इतिहास में बीती हुई कथा हो जाते हैं।—मील के वे पत्थर जो किसी राष्ट्र के राजनीतिक इतिहास में संघर्ष के कालों को प्रकट करते हैं। भारत में स्वतन्त्रता आन्दोलन के समय देश भर में हमने निरन्तर देश प्रेम के सुंदर गीत गाए और सुने हैं। बंगाली लेखकों ने इस प्रकार के असंख्य गीत रचे—यहां तक कि कभी कभी उनका देश-प्रेम केवल मात्र बंगाल की प्रशंसा करने में समाप्त हो जाता है और वे सम्पूर्ण भारत के एक रूप को भी भुला बैठते हैं। इसका भी कारण यही है कि बंग-भंग के पश्चात् क्रान्तिकारी आन्दोलन बंगाल तक ही सीमित रहा था। 'वन्दे मातरम्' और 'जन-गण-मन' गीत नदियों और पर्वतों से मण्डित भारत के अनन्त सौन्दर्य का वर्णन करते हैं और स्वतन्त्रता संग्राम म आगे बढ़न के लिए प्रेरित करते हैं—उन्हें पूर्णतया प्रशंसा-गीत (Hymns) कहा जा सकता है। दक्षिण भारत में भारती ने शक्तिशाली क्रान्तिकारी गीत लिखे ऐसे गीत जिनमें घृणा को उभारा गया था और जो अंग्रेज़ों के विरुद्ध हमारे संघर्ष के समय दक्षिण में लोकप्रिय हुए।

"वी डू नॉट वांट दी व्हाइट मैन्स बर्डन"--गोरे लोगों का राज्य-भार हमारे लिए असह्य है--आज भी इतिहास बनानेवाले गीत के रूप में स्मरण किया जाता है। किन्तु, जहां ये गीत एक ऐतिहासिक लक्ष्य की पूर्ति में अत्यन्त सहायक सिद्ध होते हैं वहां गम्भीरतापूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि वे अमर साहित्य की रचनाएँ हैं। एक महाकवि का काव्यसौन्दर्य से पूर्ण यह गीत—"सारे जहां से अच्छा हिन्दोस्तां हमारा"---फिर भी संकीर्ण प्रतीत होता है, विशेष कर आज की परिस्थितियों में जब कि हम

जानते हैं स्वयं हमारे देश से बाहर बहुत से ऐसे देश हैं जो राजनीति, कला और संस्कृति की दृष्टि से दिन दूनी और रात चौगुनी उन्नति कर रहे हैं। पुनः रूपर्ट ब्रुक के प्रसिद्ध सॉनेट के रूप में हमें देश-प्रेम का अत्यन्त संकीर्ण रूप मिलता है :

"जब मैं मर जाऊं तो मेरे बारे में केवल यही सोचो
कि दूर किसी विदेश के एक मदान में कोई एक कोना है
जो सदैव के लिए इंग्लैण्ड बन गया है——"

यह दुःखद ,निन्दापूर्ण और संकीर्ण यथार्थ दृष्टिकोण ह क्योंकि अन्ततः संसार के सभी देश अन्योन्याश्रित हैं और उनमें न केवल व्यापार में वरन् सांस्कृतिक मूल्य के रूप में भी सूक्ष्म आदान–प्रदान जारी रहता है। आयरलैण्ड के कवियों के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि राजनैतिक कारणों से उनकी देश भक्ति की कविता आवरण में ढकी हुई है और आयरलैंड के सम्बन्ध में लिखने वाले कवियों ने अत्यन्त काव्यात्मक शब्दों में सूक्ष्म रूप में लिखा है। 'काउन्टेस केथलीन' (Countess Cathlene) देशभक्ति पूर्ण राजनैतिक नाटक है परन्तु उसमें सीधे वक्तव्यों का प्रयोग नहीं हुआ है, उसमें भावुक कवि की आत्मा अपने देशवासियों के लिए काव्यप्रतिभा से मुद्रित शब्दों और मुहावरों को अभिव्यक्त करती है और कवि कभी स्वप्नदर्शी की ऊँचाई से नीचे नहीं आता। इस प्रकार की रचनाएँ इलियट की इस परिभाषा को देशभक्ति कविता के लिए उपयुक्त विषय नहीं है ग़लत सिद्ध करती हैं।

कवि जितना ही महान् होगा उतना ही वह अपने देश की जनता के निकट होगा ; जनता जो श्रम करती है, उसे खिलाती और पहनाती है और शान्ति के काल में उसे अवसर और आराम का समय देने का विश्वास दिलाती है जिससे कि वह स्वतन्त्रता पूर्वक कला-साधना कर सके। यदि किसान खेत में परिश्रम न करे तो कवि को प्रतिदिन खाने के लिए रोटी नहीं मिल सकती चाहे उसका खाना कितना ही कम हो। यदि कारखाने में मशीन पर मजदूर काम न करें तो कवि के लिए अपने आराम की उन वस्तुओं को प्राप्त करना भी सम्भव नहीं होगा जिन्हें वह आज उनके मौन परिश्रम के फलस्वरूप प्राप्त करता है और जिससे उसे अपनी प्रतिभा को प्रकट करने का अवसर मिलता हैं। एक दृष्टि से कलाकार और श्रमिक दोनों भाई होत हैं, शारीरिक श्रम और मानसिक सृजन में वास्तविक अन्तर नहीं होता ; जनता की सामूहिक सृजनात्मक क्रियाएँ जिन पर किसी के हस्ताक्षर नहीं होते और एक व्यक्तिगत साहित्यिक या कलात्मक प्रतिभा जिसके नाम का उसकी क्रिया के साथ विज्ञापन होता है दोनों में अन्तर नहीं होता। वास्तव में अन्तिम विश्लेषण में श्रम ही सम्पूर्ण मानव संस्कृति का स्रोत पाया जाएगा।

मानव-इतिहास के आरम्भ से हमें पता चलता है कि पृथ्वी पर महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक मूल्य को स्थायी करनेवाले महत्वहीन समान्य जन थे। महान् व्यक्तियों का बाद में –वास्तव में बहुत बाद में प्रादुर्भाव हुआ। वे उन सामान्य लोगों की सृष्टि कहे जा सकते हैं जो कि उनके जनक थे। निश्चय ही स्वभावतः मनुष्य एक कवि, कलाकार या स्रष्टा है। अतः कला किसी विशेष वर्ग या व्यक्तियों के समूह जिसे बुद्धि जीवी कहा जाता है उन्हीं का अधिकार नहीं है और न हो सकती है। सौन्दर्य -प्रेम मानव-स्वभाव में निहित है। शायद ही किसी मनुष्य की आंखों का जोड़ा हो जो रंगों से आकर्षित न हुआ हो चाहे वह कपड़ों पर चढ़ा हुआ रंग हो अथवा जैसा कि यीट्स ने कहा है " कसीदा निकाले हुए स्वर्गिक वस्त्र" हों।

यह सत्य है कि कुछ लोगों के लोभवश बहुसंख्यक लोगों के जीवन में जो दुःख और कष्टों का प्रवेश होता है उसका प्रतिकार जनता में आबद्धमूल सौन्दर्य की प्यास के कारण होता है और उसी सेदेश की आत्मा, बर्त्तन, कपड़े, खिलौने, रंगचित्रण, शिल्प और कविता आदि साधनों से जीवित रहती है। तथा कथित क्षुद्र लोगों की आत्मा फिर भी सौन्दर्य के माध्यम से अपने को अभिव्यक्त करती है जो कि बिना किसी अवरोध के जीवित रहती है। सभ्यता का अर्थ यही है कि हम मानवीय विचार, जीवन और व्यवहार में सौन्दर्य की आवश्यकता को अधिकाधिक बढाएँ। आज हम अपने को हारे हुए और थके-से अनुभव करते हैं उसका मुख्य कारण यही है कि हमने प्रगति और संस्कृति के स्वांग का एक ऊपरी ढांचा (Super Structure) बना लिया है, जो हमें लक्ष्य से भ्रष्ट करता है। सौन्दर्य के साथ विश्वासघात करके हमने अपने ही प्रति विश्वासघात किया है, अपने जीवन की जड़ के प्रति विश्वासघात किया है जो कि अभी भी प्रत्येक देश की जनता के जीवन का अंग है और वहां की ज़मीन में गहरी पैठी हुई है ; तथाकथित संस्कृति का वृक्ष थोड़ी-सी वेगपूर्ण हवा के आने पर सिहर उठता है और प्रतीत होता है जैसे अभी पृथ्वी पर गिर जाएगा। छोटे कहलानेवाले मनुष्य साहित्य में जोवित रहे हैं इसके लिए प्रमाण-स्वरूप यही कहना पर्याप्त होगा कि पौराणिक कथा, परियों की कहानियां गीत और कहावतों का न हमारे साहित्य से और न दैनिक जीवन से ही बहिष्कार किया जा सकता है; वे हमारी वंशानुगत सम्पत्ति हैं।

सुसंस्कृत कवि जनता से अपना सम्बन्ध तोड़ कर ऐसी भाषा में लिखने लगते हैं, जो बहुत विशिष्ट होती है और उनके शब्दों में वह सहज उद्रेक नहीं मिलता जो सामान्य जनता की भाषा में पाया जाता है। उनकी कल्पना भी बौनी रह जाती है और उनकी मूर्ति-कल्पनाएँ असार होती हैं। जीवन और सौन्दर्य के प्रति कृत्रिम मान्यताएँ एक स्थल से दूसरे स्थल पर पहुँचती हैं और परिवर्तित वातावरण में आत्मा के भोले शैशव को सुरक्षित रखना सम्भव नहीं होता जो उस प्रिज़्म की तरह होता है जिसमें से सफेद किरण निकलकर सात रंगों में प्रकट होती है। जनता की भाषा और कल्पना का यही चमत्कारिक गुण है। यहां मुझे एक मुहावरा स्मरण आता है जिससे मैंने दक्षिण कन्नड़ में एक किसान के घर में शादी के अवसर पर सुना था। वह केवल दो शब्दों का मुहावरा था, बहुत साधारण शब्द परन्तु उनके समन्वय में विवाह का सारा रहस्य भरा था : वधू की लज्जा और वर के प्रेम का रहस्य : 'दोम्पा नाचिगे' जिसका अनुवाद करने पर मौलिक स्वाभाविकता और संकेत का आनन्द नहीं आता : 'विवाह मण्डप शरमा रहा है।' विवाह के बारे में यह एक मुहावरा ही बहुत कुछ कह देता है जो हम सभ्य कवियों की लम्बी कविताओं में भी सम्भव नहीं है।

मेरे आध्यात्मिक गुरु श्री रमण महर्षि ने कहा था कि जितने मनुष्य हैं उतने ही संसार हैं : किसी भी व्यक्ति की दो आँखें संसार को कभी एक ही रूप में नहीं देखतीं, न दो मस्तिष्क एक ही रूप में कभी प्रतिक्रिया करते हैं। विलियम ब्लेक के अनुसार : "एक मूर्ख उसी पेड़ को नहीं देखता जिसे कि बुद्धिमान् मनुष्य देखता है।" विलियम वर्डस्वर्थ के पीटरबेल के लिए :

" नदी तट का प्रिमरोज़
उसके लिए एक पीला प्रिमरोज़ था
इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं"

कोई भी व्यक्ति जब वह हाड़-मांस की आँखों से देखता है तो अपने सामने से दूर नहीं देख पाता यदि हम पदार्थ (Matter) के मूल में जाना चाहें तो वास्तव में उसकी निरपेक्षता समानान्तर चलने वाली आन्तरिक प्रक्रिया से संयोजित होती है और स्वयं अन्तर्मन भी व्यक्ति के अनुभव के सार पर आधारित होता है जिसे वह वंशानुगति से शिक्षा या वातावरण से अथवा इन सब के सम्मिलन से प्राप्त करता है। अनुभव कवि के जीवन का सार है, यह वह रंग है जो मस्तिष्क के प्रिज़्म को पार करके निकालता है; रंग जो विचार के रूप में प्रतिच्छायित होता है। विश्व के सौन्दर्य का यथार्थ अस्तित्व है जिसका समानुपात सदैव मस्तिष्क द्वारा प्रकम्पनों को बाह्य अभिव्यक्ति देने की शक्ति और हृदय द्वारा भावों को अभिव्यंजित करने एंव भावनाओं की व्याख्या करने के रूप में तोला जाना चाहिए। शुद्ध निर्वैयक्तिक कवि---यदि ऐसे प्राणी का वास्तव में अस्तित्व हो तो जो कुछ वह देखता है उसे विस्तृत रूप से संग्रह करता है और उसकी तुलना एक कैमरा की आँख से की जा सकती है इस अन्तर के साथ कि जहाँ कैमरा रेखाओं और बाह्य आकृति को बिना व्याख्या किए अंकित करता है वहाँ कवि स्वयं अपने मन के अनुकूल व्याख्या के साथ प्रकाशित करता है। ब्लेक के अनुसार निर्वैयक्तिक कवि आँखों से देखता है जब कि गहरा स्वप्नदर्शी रहस्यवादी महान् कवि आँखों के आर-पार देखता है। आँखों के आर-पार देखना क्ष-किरण प्रक्रिया की तरह है जो "ठोस और मिश्रित पदार्थ" को भेद कर देखती है चाहे वह शरीर या धरती हो और सब कुछ टटोल कर आवश्यक तत्व को प्राप्त करती है; यह आन्तरिक दृष्टि पेड़ की बाह्य आकृति के पीछे जैसे 'पेड़त्व' का सम्पूर्ण इतिहास देख लेती है, अँधेरे में सोई हुई पृथ्वी की नवीनता को जन्म देनेवाले गुप्त प्रेरणा को जगाती है और बदलती हुई ऋतुओं, उदय और अस्त होते सूरज, चाँद और तारों के लय से संयोजित करती हुई इसके हरे-भरे उत्पादन की प्रक्रिया को देखती है। दूसरे शब्दों में जैसा कि वर्ड-स्वर्थ ने कहा यह अन्तरदृष्टि है और उसके प्रयोग ने पश्चिम के सामने एक सम्पूर्ण नए विश्व का द्वार खोल दिया और जीवन के प्रति एक नया दृष्टिकोण प्रदान किया। यह अन्तर्दृष्टि हम लोगों के लिए कोई नवीन वस्तु नहीं है जिनकी परम्परा ही सौन्दर्य के पीछे अनन्त सौन्दर्य, हमारे अस्तित्व का ताना बाना बुननेवाले छोटे-छोटे असंख्य सत्यों के पीछे अमर सत्य देखने की रही है। इसी दृष्टि से हमारे पूर्वजों ने देखा था और आज भी एक वास्तविक भारतीय कवि जीवन और प्रकृति के प्रश्नों पर चिन्तन किए बिना नहीं रह सकता। बाह्य उपमाएँ थोड़े से संकेत करके समाप्त हो जाती हैं, वे स्वयं अपने अतिरिक्त और किसी अन्य वस्तु की ओर संकेत नहीं करतीं और कहीं दूर की बात नहीं बतातीं परन्तु आँखों के आर-पार देखनेवाले कवि एक सीमाहीन सांकेतिकता का संसार उपस्थित करते हैं, असंख्य तारों से भरा एक स्वर्ग। शब्दों की एक पूर्ण सत्ता है, वे केवल ध्वनि-मात्र नहीं हैं; प्रत्येक शब्द कभी उसका प्रयोग होता है नवीन साँस लेता हुआ प्रतीत है। शब्दों के व्यवहार से एक मनोवैज्ञानिक प्रभाव उत्पन्न होता है कविता की प्रत्येक पंक्ति एक विशिष्ट संरचना है जो कि एक फ़कीर के कपड़ों की किनारी पर या परियों के कपड़ों की किनारी पर कसीदे के रूप में शोभित हो सकती है। कवि एक महान् कसीदाकार है, उसी पर सम्पूर्ण वैभव, शब्दों का विभिन्न रूप में सामञ्जस्य जो कि सीमाबद्ध या असीम सौन्दर्य की ओर संकेत करता है, निर्भर रहता है और बहुत कुछ उन संरचनाओं के निर्माता, शब्दों का उपयोग करने वाले के स्वर्गिक असंतोष पर भी आधारित होता है। जब रॉबर्ट हेरिक कहते हैं: "उसके वस्त्र पानी की तरह बह चले' तो केवल शारीरिक शिराओं में सुरसुराहट उत्पन्न होने की ध्वनि आती है तथा मानवी

प्रेम और उत्तेजना की अनुभूति जागृत होती है जिनका कविता में स्थान अवश्य है परन्तु उनका सर्वोच्च स्थान नहीं है। गीत के रूप में वह हमारे सामने पानी की ऊपरी सतह को हिला कर रह जाती है परन्तु वह हमारे महान् समुद्र का दृश्य उपस्थित नहीं करती। इस पंक्ति में ध्वनि का वह वेग नहीं है जैसा कि मैकबेथ की सुप्रसिद्ध पंक्ति में है, मानों स्वयं समुद्र का गम्भीर घोष है ;:

"विशालतर समुद्रों का भैरव रूप"

जिससे कि तत्काल साधारण और महान् कवि का अन्तर स्पष्ट हो जाता है। साहित्य में हमें ऐसी सैकड़ों पंक्तियाँ मिलेंगी जो कि अतीन्द्रिय के स्वप्न के छोर को छूती हैं, यथा शेली की पंक्तियाँ :

"जीवन बहुरंगी काँच के ढक्कन की तरह है जो अनंतता के धवल प्रकाश को मलिन करता है।"

ये पंक्तियाँ सामान्य दृष्टि से परे हमारे हृदय में नया अनुभव जागृत करती हैं, हम तुरन्त उस स्थिति पर पहुंच जाते हैं जहाँ ईश्वर को रंगहीन पाते हैं और अपने सामान्य जीवन के सम्बन्ध में, अनुभव करते हैं जैसे यह उसके सम्मुख छोटे छोटे रंगीन काँच के आकार बनाने का उपक्रम है। मनुष्य का हृदय दूरस्थ को पाने के लिए व्याकुल रहता है। टागौर कहते हैं : 'आमि सुदूरेर पियासी'—दूरस्थ की प्यास से मेरा हृदय व्याकुल है। शेली के शब्दों में वह 'नक्षत्र के लिए पतंगे की चाह—भूख' है जो कि हमारे सामान्य दुःख से बहुत दूर की वस्तु है। किसने इस भयंकर पीड़ा का अनुभव नहीं किया है—अपने से परे 'कुछ' की दर्द भरी चाह नहीं की है ? वॉल्टर डिला मरे ने इसे 'विवश नश्वरता की लालसा' नाम से सम्बोधित किया है और उनके अनुसार वही कविता लिखने के लिए प्रेरणा देती है। वह व्यक्ति चाहे बालक हो या बड़ी आयु का मनुष्य। मनुष्य के हृदय की यह इच्छा अकथनीय है, विशेषकर कल्पनाशील व्यक्ति के हृदय में यह जागृत होती है। यह इस क्षणिक संसार में किसी रूप में अच्छा बनने की अभिलाषा है ; वॉल्टन विटमैन ने जिसके सम्बन्ध में कहा : "अज्ञात इच्छा, यही मेरा भाग्य !" यहाँ मैं अपनी एक कविता को प्रस्तुत करने की अनुमति चाहता हूं जिसमें यह इच्छा केवल तीन छोटे छोटे पदों में अभिव्यक्त हुई है ;

"प्रिय ! मैं शापित
मुझे अमिट पिपासा का अभिशाप मिला है
जिस क्षण प्यास बुझाने का उपक्रम करता हूँ
यह और भी दुर्दान्त हो उठती है

इन पैरों में आग की लपटें हैं
जो क्षण क्षण प्रज्वलित होती हैं
और उच्च से उच्चतर उठते हुए
कभी थकतीं नहीं

मुझे जलन से प्यार है
मैं उच्च गिरि-शृंगों का साथी हूँ
गति में ही शान्ति है
ओह ! असह्य है रुक जाना"

"गति में ही शान्ति है, ओह ! असह्य है रुक जाना" और कवि की कल्पना सदैव कुछ खोजती है—उच्च से उच्चतर ऊँचाइयों पर ; क्योंकि कवि अनन्त के पथ का यात्री है जो एक स्थान से दूसरे स्थान पर मानवीय रूपों और प्रकृति के दृश्यों को देखता हुआ प्रत्येक पद पर 'नेति', 'नेति' यह नहीं है, यह नहीं है पुकारता जाता है.............क्योंकि जिस पूर्णता की चाह में वह भटकता है स्वयं पथ की तरह उसकी पहुँच से वह दूर और दूरतर होती जाती है। उसकी प्रत्येक कविता उस डगर पर मील के पत्थर की तरह पीछे छूटती जाती है और राह के काँटों की परवाह न करते हुए वह अबाध गति से बढ़ता जाता है। वास्तव में उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके पैरों के वही घाव मानवता के इतिहास में गुलाब के फूल बन कर महक उठते हैं। उसके पास उपमाओं का अक्षय भण्डार होता है, मूर्ति और मूर्ति-कल्पनाओं का अन्त कहीं दिखाई देता। कवि जिस विषय का वर्णन करता है उसे अपने कल्पना लोक में अपनी विशिष्ट मानसिक स्थिति का रंग प्रदान कर देता है। उदाहरण के लिए प्रतिदिन के जीवन की प्रकृति की दो सामान्य वस्तुओं को लिया जाए—यदि उन पर अलौकिकता की छाप न लगाई जाए तो वे अत्यन्त सामान्य हैं क्योंकि वे अनन्त काल से वैसे ही आती-जाती दिखाई देती हैं ; मेरा संकेत सूरज और चाँद की ओर है। सूरज हमेशा के लिए सूरज ही रहता है परन्तु मनुष्य के दृष्टि-भेद और विभिन्न प्रतिक्रियाओं से सहस्रों रूप धारण करता है। एक बालक के लिए कदाचित् वह साबुन का बड़ा बुलबुला है जिसे आकाश के पीछे छुपे हुए किसी बालक ने फेंका है। लकवेसे पीडित व्यक्ति को जिसे अत्यन्त कष्ट हो रहा हो, सूरज कदाचित् खून से भरे हुए घाव की तरह दिखाई देगा। उपवन और कुंजों के प्रेमी को वह पके हुए लाल फल का प्रतीक जान पड़ेगा जो कि आकाश में उगे हुए किसी पेड़ की डाल से लटक रहा है। मकान बनानेवाले उद्यमशील कारीगर को लाल ईंट की तरह दिखाई देगा और प्रतिदिन न उगनेवाला सूर्य एक नई ईंट रखी हुई प्रतीत होता और इस प्रकार एक नई इमारत खड़ी होती हुई प्रतीत होगी। जब हम चाँद के सम्बन्ध में सोंचते हैं तो एक पागल प्रेमी को वह अपनी प्रेयसी का मुख ही प्रतीत होगा। भारतीय कवि और पाश्चात्य कवि भी चाँद को प्रेयसी के मुख से और प्रेयसी के मुख की चाँद से समानता बतलाते हुए कभी नहीं अघाते। चांद को देख कर बालक के मन में आकाश में उड़ते हुए बुलबुले का विचार आता होगा। मेरी बहन सरोजिनी ने एक बार चाँद को 'स्वर्ग की भौंह पर झूलता हुआ शीर्षफूल' कहा था। जेल के एक क़ैदी को जो प्रतिदिन जेल की रोटियाँ देखता रहता है चाँद केवल एक रोटी की तरह नज़र क आता है जिसे परमात्मा परिश्रम पूर्वक पन्द्रह दिन में बनाता है और अगले पन्द्रह दिन में धीरे धीरे कौर तोड़ कर खाता है। यहाँ मैं अपने व्यक्तिगत अनुभव को स्मरण किए बिना नहीं रह सकता जिसका मुझे कलकत्ते में रहते हुए उस समय अनुभव हुआ। जब उस नगर पर जापानियों के बम गिरे थे। चाँद का उदय हुआ तो उससे देख कर मेरा मन घृणा से भर गया। मुझे वह एक बड़े आकार का बम प्रतीत हुआ जो अभी अभी जन-समुदय पर, आदमियों, स्त्रियों और बच्चों पर गिरनेवाला है। वह एक ध्वंसकारी अस्त्र के रूप में परिणत हो गया। उन दिनों मैंने एक कविता लिखी जिसकी पंक्तियाँ निम्न प्रकार हैं :

"बहुत देर तक अन्तर और वाह्य में
संघर्ष-सा होता रहा—ना-समझ—दोनों
एक दूसरे पर आरोप करते रहे कुछ देर

वाह्य ने अन्तर से कहा : तुम सब मिल
करे क्या हो? केवल वायवी न-कुछ
कोरी बकवास ; जब कि मैं प्रत्येक युग में
ठोस, स्वयं, प्रतिवाद रहित ज्वलंत तथ्य हूँ
प्रत्येक मोड़ और प्रत्येक परिचित स्थान पर
मृत्यु और स्वर्ग-लोक का परिचित व्यक्तित्व
तुम मेरी सत्ता चाहे स्वीकार करो न करो
मूर्ख ! मैं यह तथ्य
भली प्रकार जानता हूँ कि वह मैं
ही हूँ जो जगत् में सत्य के रूप में
रहता हूँ ;

वैज्ञानिक के लिए एक सत्य वस्तु
क्रोध में प्रबल होते लाल औ ' और लाल
अन्तर ने वाह्य को ललकारा :
क्या तुमने दुनिया को यह कहते नहीं सुना
कि मै स्वयं प्रकाश्य हूँ और तुम हो अंधकार
मूर्ख ! मेरे बिना तुम अपनी प्रकृति रूप और आकार
भी प्राप्त नहीं कर सकते

क्योंकि मैं ही वह सत्ता हूँ जो कि सुन्दर रूप
प्रदान करती है और मेरी ही मनःस्थितियों
पर तुम्हारे वस्त्र-परिधान बदलते हैं
मेरे बिना न तुम लजा सकते हो न हिल सकते हो
मैं तुम्हारा पति हूँ : स्वयं अपने प्रकाश को
मैं शीघ्र तुम्हारे चेहरे की कान्ति में बदल देता हूँ
और भर लेता हूँ तुम्हें अनन्त आलिंगन में ;
तुम मेरी सत्ता स्वीकार करो या नहीं
मैं तुम्हारी लड़खड़ाती बुद्धि से परे हूँ
मेरा अस्तित्व शाश्वत मूल्यों से जड़ा हुआ
अपनी ही प्रकृति के प्रेम में लिपटा है—
अपने ही गौरव से विचुम्बित
चाहे तुम यह न जानते हो परन्तु प्रतिक्षण मैं
कवि का सुन्दर ताना-बाना बुननेवाला जुलाहा हूँ

जब अन्तर और बाह्य में
इस प्रकार झड़प चल रही थी

स्थिर पहाड़ी की चोटी पर
पीला चाँद उग आया, जैसे
पहाड़ी के शिखर पर एक धब्बा हो।
बाह्य ने कहा :

वहाँ समुद्र के ऊपर कैसा सुन्दर
पीला चाँद उग आया है
जिससे आकर्षित होकर लहरें ऊँची उठ रही हैं
चट्टानों पर गिरती हुई लहरों की ध्वनि
जैसे आर्केस्ट्रा का संगीत उठ रहा है

उसी क्षण एक तीव्रभेदी स्वर सुनाई दिया—
क्रूर, नृशंस जिसने चाँद से मण्डित नभ को
खण्ड खण्ड कर दिया
अन्तर ने कहा :

समुद्र की भटकती हुई लहरें
भयंकर आवाज़ को सुन कर सहम गई हैं
यह चाँद गहरे घाव की तरह प्रतीत होता है
जैसे ईश्वर के असहाय गले में किसी ने
छुरा भोंक दिया हो
उस गन्दे धब्बे से खून चू रहा है
मैं समझता हूँ चाँद अब फिर कभी नहीं उगेगा
आज रात न जाने क्या अनर्थ होनेवाला है,
न जाने मृत्यु का व्यापारी
कोई वायुयान यहाँ क्या गज़ब ढा देगा
अब मौन छायाएँ नहीं दिखाई देतीं?
दु:खी धरती की साँस रुक गई है
भौहों पर चिन्ता की रेखाएँ खिंची हैं
वक़्त जैसे मौत का काला फूल है!
अन्तर और बाह्य दोनों अपने झगड़े को
भूल कर शीघ्रता से तेज़ पाँव रखते
निकटतम सुरक्षा के स्थान की ओर भागे"

शैली ने चाँद का वर्णन एक रुग्ण नारी के रूप में किया है जो सीढ़ियों पर चढ़ रही है। टामस हार्डी इसके विपरीत उसे अनन्त-पथ का यात्री समझते हैं और मृत्युलोक के ऊपर विचरण करते समय उसने जो कुछ देखा है उसके सम्बन्ध में पूछते हैं :

"चाँद जब तुम इस राह से जाते हो
बताओ इन सब के बारे में क्या सोचते हो ?
......हाँ, मैं इनके बारे में सोचता हूँ, प्रायः
सोचा करता हूँ—ये सब छायाएँ हैं
जिनको परमात्मा शीघ्र ढाँप देना चाहता है
जैसे जैसे मैं अपनी राह पर बढ़ता हूँ.........."

वर्तमान समय में जब पागलपन ही बुद्धिमत्ता का प्रमाण बनता जा रहा है और कुछ उन्मत्त लोग दुनिया को एटम बम के द्वारा सर्वनाश के मुंह में ढकेलने को आतुर दिखाई देते हैं तो कोई आश्चर्य नहीं कोई आनेवाला कवि चाँद को शताब्दियों की पृथ्वी की घटनाओं के इतिहासकार और भविष्यद्वक्ता के रूप में देखे।

ऐसे ही समय कवि अपनी क़लम पकड़ता है ; और शान्ति का नारा लगाता है। क्योंकि वह शान्ति से उतना ही प्रेम करता है जितना युद्ध से घृणा। शान्ति और सुरक्षा के बिना जीवन या संस्कृति का विकास सम्भव नहीं है और शान्ति के बिना कवि की कौन कहे अन्य कोई व्यक्ति भी कैसे अवकाश पा सकता है। कवि के लिए, स्रष्टा के लिए अवकाश आराम का समय नहीं वरन् एक आवश्यकता है। उसका अवकाश समय नष्ट करना नहीं है। अवकाश सृजन का समय है :

"वह जीवन क्या जो चिन्ताओं में ही बीत जाए
क्षण भर रुकने और देखने का अवसर न मिल पाए"

डेविस ने कहा था। हाँ, ठहरने और देखने के लिए अवसर ; दूसरे शब्दों में समय की शाश्वतता और व्यापकता में झाँकने के लिए अवसर ; काल के सम्बन्ध में ब्लेक की निम्न पंक्तियाँ प्रसिद्ध हैं ;

"धूल के एक कण में समस्त विश्व
जंगल के एक फूल में अनन्त स्वर्ग
हाथ की हथेली में शाश्वतता को थामे
एक क्षण में समाया हुआ शाश्वत काल"

प्रत्येक सच्चे कवि की यह पुकार होनी चाहिए। फ़्री मैन पुकारता है :

"............एक छोटा-सा महान् क्षण
जब मैं अकेला, अपने में लीन हो सकूँ !"

और कवि के लिए अपने में लीन होने का अर्थ अपने 'अपनत्व' को सभी वस्तुओं में लीन करना होता है। ऐसी रहस्यमय वस्तुओं में—गिलहरियाँ—और बादल, नाले, चट्टानें और, घास; कवि को स्वयं अपने आप को अपने प्रति अभिव्यक्ति करने के लिए अवकाश की आवश्यकता होती है। अवकाश चिन्तन के लिए अत्यन्त आवश्यक होता है जिससे कि सभी बातें अपने उचित स्थान पर समादृत होकर एक महान् रचना (Masterpiece) की उपादान बनती हैं।

कविता में नवीन क्षेत्र में हमारा पुनर्जन्म होता है; और प्रत्येक बार जब हम कोई महान् कविता पढ़ते हैं तो हमारे ऊपर जो धूल जमी होती है, थकान, बुराई और पतन की धूल उसका कुछ अंश दूर हो जाता है। बालक परी-लोक में विचरण करता है क्योंकि उसके अन्तर में कवि का निवास होता है; और कवि इसीलिए कवि होता है क्योंकि उसमें शैशव का अंश विद्यमान रहता है; शैशव जो जीवन और सृष्टि के आश्चर्यों की ओर चौड़ी खुली आँखों से आश्चर्यचकित होकर देखा करता है। उसके पैरों की अँगुलियों के अग्रभाग सदैव किसी नए अनुभव के किनारों को छूने के लिए अग्रसर रहते हैं जो यह प्रकट करता है कि ज्ञान की खोज में उसकी दृष्टि एक अनुभवहीन की-सी रहती है। अनुभवहीनता की यह भावना ही किसी व्यक्ति को कवि बनाती है। किसी वस्तु के छुपे हुए रहस्य को पहचानना ही कवि का कर्म है—उस आश्चर्य को पहचानना जो कि किनारे के प्रत्येक पत्थर, गली के प्रत्येक घुमाव और जंगल के प्रत्येक मोड़ पर किसी अन्वेषक का ध्यान आकर्षित करने की आकांक्षा लिए प्रतीक्षा में खड़ा रहता है। कवि सौन्दर्य के साथ आँख-मिचौली खेलता है उसी प्रकार जैसे सौन्दर्य उसके साथ लुकाछुपी करता है। अनजान होने की यह भावना जो सदैव नया अनुभव प्राप्त करने के लिए प्रेरित किया करती है कवि की कल्पना को जागृत करने में सहायक होती है जिसके आधार पर वह अज्ञात सौन्दर्य का निर्माण करता है।

कविता की परिभाषा करना उसी प्रकार कठिन है जैसे सत्य की और इस पर भी कोई व्यक्ति पूछ बैठता है कविता क्या है? और वह उसका उत्तर सुनाने के लिए ठहरता तक नहीं। जब हम कविता की बात करते हैं तो हमारा तात्पर्य पद्य से होता है परन्तु पद्य कविता से उसी प्रकार भिन्न है जैसे एक नक़ली क़ाग़ज का फूल वास्तविक फूल से। फिर भी एक प्रकार का ऐसा पद्य होता है जो वास्तविक कविता के समान होता है यद्यपि तब भी कविता नहीं होता। एक ऐसा गद्य भी होता है जिसको कविता कहना ही अधिक उपयुक्त होता है—और बहुत-सी ऐसी कविताएँ होती हैं जो केवल गद्य ही कहलाने के योग्य हैं। यद्यपि बहुत-सी ऐसी भी रहती हैं जो अच्छा गद्य भी नहीं कही जा सकतीं। जो कवि इस प्रकार की कविताएँ लिखते हैं वे सच्चे कवियों की अपेक्षा भावुक होते हैं। एक नवयुवक के सम्बन्ध में कहा जाता है कि उसे विश्वास था कि वह एक जन्मजात कवि है। किसी को ऐसा सोचने से रोका नहीं जा सकता—क्या आप रोक सकते हैं? उसने रीम के रीम काग़ज़ लिख डाले और अपनी लिखित कविताओं को वह अमर-काव्य समझता था। उसने अपनी पाण्डुलिपियों को प्रकाशकों के पास भेजना आरम्भ किया। सभी प्रकाशकों ने प्रशंसा करते हुए उसकी पाण्डुलिपि को लौटा दिया। उस नवयुवक को बहुत क्रोध आया और एक प्रकाशक के घर में घुस कर वह ज़ोर से चिल्लाया: "महोदय, क्या आप नहीं जानते कि मैं जन्मजात कवि हूं।" प्रकाशक ने शान्ति से उत्तर दिया: "महाशय, अपने दोष को अपने माता-पिता के सिर पर थोपने का प्रयत्न मत करो।" कवि बनता नहीं पैदा होता है—यह कथन किसी सीमा तक सत्य है परन्तु जिस युग और वातावरण में वह रहता है वे भी उसके निर्माण में सहायक होते हैं। कुछ कवि ऐसे होते हैं जो अच्छा लययुक्त पद्य न लिख पाने के कारण अपनी असमर्थता को छुपाने का एक बहाना बना लेते हैं और अपने को प्रगतिशील मुक्त-छन्द लिखनेवाला कवि घोषित करते हैं। मुक्त-छन्द में केवल ऐसे कवि ही सफल रचना कर सकते हैं जिनका लय और तुक पर पूर्ण अधिकार हो। इसीलिए मिल्टन 'सम तुकान्त की टन् टन् ध्वनि' को कर्ण कटु कहने का अधिकारी था। परन्तु कविता को एकदम बुरी बताना पागलपन है। जब एक महाकवि तुकान्त कविता लिखता है तो तुक स्वयमेव अपनी आकृतियाँ धारण करते हैं और कवि

को इसके लिए कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता। कवि के अवचेतन में पहले ही तुकों का सम्बन्ध और पदों का विवाह संस्कार हो चुका होता है। कवि इस बात को केवल सब के सामने प्रकट करता है। अधिकांश में मुक्त-छन्द के नाम से कविता के जिस रूप का प्रचार है वह केवल साहित्यिक पराजय का उदाहरण है। अवश्य एजरा पाउण्ड, इलियट, ऑडेन और स्पेन्डर जैसे प्रसिद्ध साहित्यकार भी हैं जो अपनी रचनाओं में बौद्धिक ताना-बाना बुनते हैं—यद्यपि उनमें महान् दृष्टि का प्रायः अभाव रहता है फिर भी उनका लेखन महत्वपूर्ण होता है। वाल्ट ह्विटमैन के चुने हुए पदों और अनुच्छेदों को पढ़ने से वह मुक्त-छन्द का बहुत सफल लेखक प्रतीत होता है परन्तु यदि उसके पूरे साहित्य को देखा जाए तो वह श्रमपूर्वक लिखा हुआ वृहद् विवरण है जिसे उसने स्वयं अपनी आँखों से देख कर आश्चर्यजनक नवीन रूप प्रदान किया है। तथापि कुछ ऐसे क्षण दिखाई देते हैं जब धरती से निकले हुए लावा की चमकती हुई चिनगारियों की तरह उसकी पंक्तियाँ सत्य को प्रकट करती हैं और उन्हीं के कारण साहित्य के इतिहास में ह्विटमैन का नाम महान् प्रतिभाओं के बीच लिया जाता है। लययुक्त तुकान्त अमर कविताएँ केवल नवीन दृष्टि (Vision) से सम्पन्न प्रतिभावान् व्यक्ति ही लिख सकते हैं जो जीवन के लय को जानते हैं, ध्वनि और रंग के मस्तिष्क पर पड़ने वाले प्रभाव से परिचित होते हैं। इसके अतिरिक्त मुक्त-छन्द की अपेक्षा तुकान्त पद्य स्मरण रखना बहुत आसान होता है और महान् पद्य या अमर कविता की कसौटी यह है कि वह जनता की स्मृति में कितने समय तक रहती है। जो लोग तुकान्त कविता की हँसी उड़ाते हैं वे या तो कपटी हैं या विवाहोत्सव में भोज में आए हुए ऐसे अतिथि हैं जिन्होंने दूल्हे का मुंह अभी नहीं देखा। मैं पहले ही कह चुका हूं सफल मुक्त-छन्द की रचना केवल तुक और लय पर अधिकार रखने वाला कवि ही कर सकता है। शेक्सपियर जिसने अद्भुत सानेट लिखे—मुक्त-छन्द का महान् कवि था। मुक्तछन्द में एक आन्तरिक लय होती है जो एक भिन्न प्रकार के रंग और भिन्न प्रकार के स्वर-मेल का ही नाम है। स्वयं मिल्टन ने अपनी सुन्दर रचना 'कौमस' (Comus) और उससे सुन्दरतर सॉनेट 'अपने अंधेपन पर' (On his Blindness) लिखा और यह दोनों ही कविताएँ तुकान्त हैं परन्तु इनमें झनझनाहट मात्र नहीं है। शब्दों की झनझनाहट उसी प्रकार थोथी होती है जैसे कि सच्चे तुक या लय गर्भित। 'तीस दिन होते हैं, सितम्बर, अप्रैल, जून और नवम्बर' (Thirty days hath September, April, June & November) में निश्चय ही स्विनबर्न के भी तुकान्त पद्य इस पंक्ति से भिन्न हैं यह स्वीकार करना पड़ेगा यद्यपि उसके तुकों में शब्दों की झन-झनाहट मात्र होने का डर रहता है। फिर भी क्योंकि वह एक सच्चा कवि है अतः उसका पद्य 'तीस दिन होते हैं सितम्बर..................' वाली शब्दों की झनझनाहट मात्र से मुक्त है।

"When the hound of spring are on winters traces.
The mother of months is meadow and plain.
Fills the shadows and windy places.
With lisp of leaves and ripple of rain."

"जब वसन्त के शिकारी कुत्ते शरद् के पदचिन्हों
की टोह में होते हैं
महीनों की माँ कुंजों और मैदानों में
छाया-पथों और हवादार जगहों में

पल्लवों की तुतली बोली और वर्षा की रिमझिम से
उन जगहों को भर देती है।"

हमारा देश कविता और नवीन दृष्टि की भूमि रहा है परन्तु इस समय कुछ विपरीत स्थिति दिखाई देती है। कवियों को लिखने का समय नहीं मिलता। वे अपनी आजीविका के पालन के लिए व्यस्त रहते हैं और उन्हें कविता लिखने के लिए अवसर ही नहीं मिलता। यदि वह लिखता भी है तो उसमें निराशा और दर्द से भरी हुई आह-सी सुनाई पड़ती है। यहाँ तक कि जब वह प्रेम के गीत गाता है, तब भी उसकी वाणी पतनोन्मुखी होती है। आज कविता में ही जीवन-प्रदायक रक्त की कमी नहीं दिखाई देती वरन् हमारा रंगचित्रण कला, संगीत और नृत्य-कला में भी निराशा का स्वर सुनाई देता है। अनुकरण की प्रवृत्ति अधिकाधिक दिखाई देती है और यह इस बात की द्योतक है कि जीवन के मूल्यों के प्रति आस्था रखकर हम दृढ़ता से उसका पालन करने में असमर्थ हैं। युग के राजनीतिक और आर्थिक परिवर्तन तथा अकाल, शोषण आदि दुर्घटनाओं के बीच कविता के लिए कोई स्थान नहीं रहता और यदि कवि लिखता भी है तो उसके स्वर में घृणा और विनोद की वाणी मुखर होती है। केवल वर्त्तमान परिस्थितियों के प्रति ही नहीं, वरन् स्वयं जीवन के प्रति उसकी शत्रुता की भावना प्रकट होती है। पतनोन्मुखी भावनाएँ जहाँ कहीं भी हों पराजय और आध्यात्मिक पतन की सूचक हैं फिर भी मैं एक आशावादी हूं और ईश्वर का धन्यवाद मानता हूं कि अभी हमारे बीच कुछ आशावादी लेखक शेष हैं; चाहे जीवन की परिस्थितियां कितनी ही निराशाजनक हों। मुझे यीट्स की इन पंक्तियों में विश्वास है:

"गाते रहो, कहीं किसी नए चन्द्रोदय के समय
हम यह जान सकेंगे कि सोने का अर्थ मृत्यु नहीं है
और हम सुनेंगे सारी पृथ्वी का स्वर बदल रहा है"

महान् गीत लौट कर आएँगे, उन्हें आना होगा; चीन में वे लौट कर आ रहे हैं, चीन जो पुरानी और नई संस्कृति का उत्तराधिकारी है। भारत भी उस प्रभाव से नहीं बच सकेगा जो मानवता को अपने अपनत्व को पहचानने के लिए जगा रहा है।

जनता के ओठों पर गीत लौट कर आएँगे, जनता जिसके रूप में किसी राष्ट्र का अस्तित्व रहता है, और जिसके रूप में कोई देश जीवित रहता है।

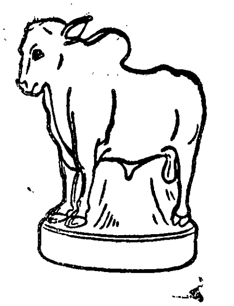

हरीन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय
नई दिल्ली

संस्कृत के नाटकों में ट्रेजेडी (करुण-रस)

जिन विद्वानों ने पाश्चात्य और संस्कृत के नाटकों का तुलनात्मक अध्ययन किया है उनकी यह धारणा है कि संस्कृत नाटककारों को "ट्रेजेडी" या शोकान्त का ज्ञान नहीं था। उनके अनुसन्धान के अनुसार "संस्कृत नाटकों का क्षेत्र अत्यन्त संकुचित था और वे प्रायः राजा-महाराजाओं और उच्च स्थिति के लोगों के मनोरंजन के लिए लिखे जाते थे। संस्कृत के नाटकों का विकास ऐसी परिस्थितियों और आधार पर हुआ जो कि संकीर्ण, कृत्रिम और परम्परागत था।" कुछ इसी प्रकार के प्रमाणों और युक्तियों के आधार पर यह प्रतिपादित किया जाता है कि संस्कृत नाटक अधिकतर एक ही ढंग के लिखे जाते थे, उनमें न तो विविधता होती थी, न नवीनता और मौलिकता। मृत्यु को स्टेज पर दिखलाने की मनाही थी, इस कारण भारतवर्ष में नाटक उस पूर्णता और अनेकरूपता को प्राप्त नहीं कर सके जैसा कि नाटकों ने अन्य देशों में प्राप्त की है।

संस्कृत के नाटकों के विषय में बहुत सी भ्रान्त धारणाएँ इसलिए उत्पन्न हो गई हैं क्योंकि इस विषय का अध्ययन और अनुशीलन जिस ढंग पर किया जाना चाहिए—उस ढंग पर नहीं किया जा सका है। क्योंकि

संस्कृत के नाटक अब स्टेज पर नहीं खेले जाते-इसलिए संस्कृत के नाटकों की टेकनीक और विशेषता को यथार्थ रूप से अवगत करना अत्यन्त कठिन है। पाश्चात्य विचारक ट्रेजेडी या शोकान्त में मृत्यु के तत्व को आवश्यक समझते हैं और क्योंकि यह समझा जाता है कि संस्कृत के नाटकों में मृत्यु का निषेध किया गया है इसलिए यह समझा जाता है कि संस्कृत के नाटकारों को इस बात का ज्ञान नहीं था कि ट्रेजेडी किसको कहा जाता है।

यह समझना ठीक नहीं है कि संस्कृत नाटकों में ट्रेजेडी या शोकान्त नाटक नहीं है। विश्व में कला का विकास एक ही ढंग पर नहीं हो सकता-इसलिए संस्कृत में जो ट्रेजेडी है उसका रूप पाश्चात्य ढंग की ट्रेजेडी से सर्वथा भिन्न है परन्तु यह कहना बिलकुल ग़लत है कि संस्कृत के नाटकों में ट्रेजेडी का सर्वथा अभाव है।

हम समझते हैं कि जो नाटक "करुण-रस-प्रधान" हैं वे ट्रेजेडी हैं। अरिस्टोटल के विचारों के अनुसार ट्रेजेडी का आधार करुणा और भय है। करुण-रस किन तत्वों से बना हुआ है इसकी व्याख्या भरत मुनि ने "नाटचशास्त्र" में निम्न प्रकार की है –

"निर्वेदश्चैव चिन्ता च दैन्यग्लान्यस्रमेव च
जडता मरणञ्चैव व्याधिश्च करुणे रसे"

करुण रस में निर्वेद, चिन्ता, दीनता, ग्लानि, रोना, जड़ता, व्याधि और मरण होते हैं। संस्कृत के अलंकार ग्रन्थों में शोक को 'करुण रस' का स्थायिभाव कहा गया है। करुण रस का देवता यम है।

"करुणो यमदैवत :"

यम मृत्यु का देवता है इसलिए करुण रस का मृत्यु से सम्बन्ध है। करुण रस को कपोत वर्ण का कहा गया है।

"धीरैः कपोतवर्णोऽयम्"

करुण-रस की उत्पत्ति किस प्रकार हुई? इस सम्बन्ध में भरत मुनि ने अपने "नाटचशास्त्र" में लिखा है।

"अथ करुणो नाम शोकस्थायिप्रभवः। स च शापक्लेशविनिपातेष्टजन-
विप्रयोगविभवनाशवधबन्धविद्रवोपघातव्यसनसंयोगादिभिर्विभावैः समुपजायते।"

करुण की उत्पत्ति शोक से होती है। और यह शाप, कष्ट, इष्ट जन का वियोग, वैभव का नाश इष्टजन के बध, क़ैद, हत्या या आपत्ति आदि विभावों से उत्पन्न होता है।

भरत मुनि "नाटयशास्त्र" में आगे लिखते हैं :

"इष्टवधदर्शनाद्वा, विप्रियवचनस्य संश्रवाद्वापि,
एभिर्भावविशेषैः करुणरसो नाम संभवति"

करुण रस किसी इष्ट व्यक्ति के वध को देखने से या कोई कष्टप्रद समाचार सुनने से और इसी प्रकार के भावों से उत्पन्न होता है।

शारदातनय ने अपनी पुस्तक "भवप्रकाशनम्" में 'करुण रस, का लक्षण इस प्रकार किया है

"करु: क्लेश इति ख्यात:, क्लेशं न सहते यत: ।
तस्य धी: करुणा सा स्यात् तद्रस: करुणो भवेत् ।।"

करु का अर्थ है क्लेश —ऐसा क्लेश जिसे किसी प्रकार सहन किया नहीं जा सकता। इसका अनुभव करुणा होती है और इस के द्वारा जो रस उत्पन्न होता है वह करुण रस होता है ।

ओर आगे :

"शोकात्मा करुण :
अभीष्टविरहाच्छापात्क्लेशाच्च विनिपातनात् ।
वधादिष्टस्य पुत्रादिनिधनादर्थहानित: ।।
राज्यदेशपरिभ्रंशादन्यान्यव्यसनोदयात् ।
दैवोपघाताद् दारिद्र्याद् व्याध्यादिभ्य : प्रजायते ।।"

शोक करुण की आत्मा है ।

और यह इष्ट व्यक्ति के विरह से, शाप, मुसीबत, प्रियजन के वध, पुत्र आदि के निधन, अर्थ-हानि, राज्य छीन लिया जाना, कष्ट, दुर्भाग्य, हत्या, दरिद्रता और व्याधि आदि से उत्पन्न होता है ।

रामचन्द्र सूरि ने अपने "नाटच-दर्पण" में करुण रस की व्याख्या निम्न प्रकार की है :—

"मृत्यु-बन्ध-धन भ्रंश-शापव्यसनसंभव :
करुण :"

मृत्यु, कैद, धनहानि, शाप और कष्ट आदि से करुण रस उत्पन्न होता है ।

धनञ्जय ने 'दशरूप' में ओर विश्वनाथ ने "साहित्यदर्पण' में करुण रस की उत्पत्ति का इस प्रकार संक्षिप्त रूप से निर्देश किया है :

"इष्टनाशादनिष्टाप्तौ शोकात्मा करुण :"
"इष्टनाशादनिष्टाप्तौ करुणाख्यो रसो भवेत्"

इष्ट के नाश और अनिष्ट की प्राप्ति से करुण रस उत्पन्न होता है जिसकी आत्मा शोक होती है ।

—इष्ट के नाश और अनिष्ट की प्राप्ति में करुण रस होता है ।

उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि मृत्यु और ऐसा कष्ट से जिसका किसी भी प्रकार निवारण नहीं हो सकता-करुणरस उत्पन्न होता है। मृत्यु और अनिवारणीय महान् कष्टों से शोक उत्पन्न होता है और शोक करुणरस की आत्मा होती है। शोक उसी समय उत्पन्न होता है जब कि मनुष्य अपनी किसी प्रिय वस्तु को गँवा बैठता है और फिर भी किसी प्रकार प्राप्त नहीं कर सकता। शोक, मृत्यु और नाश के बिना संभवित नहीं हो सकता। भरत मुनि "शोक" की व्याख्या "नाटचशास्त्र" में निम्न प्रकार करते हैं :

"शोको नाम इष्टजनवियोगविभवनाशवधबन्धनदु:खानुभवनादिभिर्विभावैस्समुपजायते ।'

शोक इष्ट जन के वियोग, धनहानि, वध, क़ैद और दु:ख की अनुभूति से उत्पन्न होता है ।

विश्वनाथ " साहित्यदर्पण " में 'शोक' का लक्षण निम्न प्रकार करते हैं :

" इष्टनाशादिभिश्चेतो वैक्लव्यं शोकशब्दभाक् "

इष्ट के वध और नाश आदि से चित्त को जो कष्ट होता है उसे शोक के नाम से कहा जाता है ।

धनंजय ने " दशरूप " में शोक शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है कि जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि बिना मृत्यु के शोक की उत्पत्ति नहीं हो सकती । वे लिखते हैं :

" मृते त्वेकत्र यत्रान्यः प्रलपेच्छोक एव सः "

एक के मरन पर जब दूसरा विलाप करता है तो इसे शोक कहा जाता है ।

'शोक' की उपर्युक्त व्याख्याओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि मृत्यु या किसी अनिवारणीय महान् कष्ट के बिना शोक की अनुभूति नहीं हो सकती ।

अब हम इस बात पर विचार करेंगे कि क्या संस्कृत के नाटकों में प्रत्येक अवस्था में मृत्यु का निषेध किया गया है । जब करुणा रस का शोक से सम्बन्ध है और शोक का मृत्यु से-तो यह कैसे संभव हो सकता है कि मृत्यु का निर्बंध कर दिया जाए । भरत-मुनि इस बात का प्रतिपादन करते हैं कि स्टेज पर मृत्यु का अभिनय किया जाना चाहिए । वे लिखते हैं :

" मरणं नाम व्याधिजमभिघातजञ्च । एतयोरिदानीमभिनयविशेषं वक्ष्यामि । तत्र व्याधिज विषण्ण गात्रमप्यायताङ्गविचेष्टितं निमीलितनयनं हिक्काश्वासोत्पतनमनवेक्षितपरिजनमव्यक्ताक्षर-कथनादिभिरनुभावरभिनयेत् ।

अभिघातजन्तु शस्त्राहिदंशविषपानश्वापदजगजतुरगरथयानपतनविनाशप्रभवम् । अभिघातजे तु नानाप्रकारा अभिनयविशेषाः । यथा शस्त्रक्षते तावत् सहसा भूमिपतनादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः "

मरण या तो बीमारी के द्वारा कराया जाना चाहिए और या फिर हत्या द्वारा । यदि बीमारी के द्वारा मृत्यु दिखलाई जाए तो वह शरीर परउदासी, आँखों का बंद होना, हिचकियाँ, लम्बा साँस–ऐसा बोलना जिससे आवाज़ स्पष्ट नहीं निकलती-आदि के द्वारा उसका अभिनय किया जाना चाहिए। हत्या के द्वारा मृत्यु या तो शस्त्र के द्वारा या साँप आदि के काटन से या हाथी आदि के पैर के नीचे कुचलने से दिखलाई जानी चाहिए। यदि तलवार आदि से हत्या करवाई जाए तो ज़मीन पर गिरजा आदि अनुभवों के द्वारा अभिनय किया जाना चाहिए।

यदि विष देकर मृत्यु करवाई जाए तो उसका अभिनय निम्न प्रकार किया जाना चाहिए :

"कार्श्यन्तु प्रथमे वेगे, द्वितीये वेपथुं तथा
दाहं तृतीये हिक्कां तु, चतुर्थे संप्रयोजयेत्
फेनन्तु पंचमें कुर्यात्, षष्ठे तु स्कंधभंजनम्,
जडतां सप्तमे कुर्यादष्टमे मरणं तथा।
श्वापदगजतुरगोद्भवपशुयानपतनजञ्चापि
शस्त्रक्षतवत्कुर्यादनपेक्षितगात्र संचारम् ।।

विष जब चढ़ने लगे तब उसके पहले वेग में कृशता, दूसरे में कँपकँपी, तीसरे में जलन, चतुर्थ में हिचकी पाँचवां में मुख से फेन निकलना, षष्ठ में कन्धों का टूटना, सातवें में जडता और आठवें में मृत्यु दिखलाई जानी चाहिए। यदि हाथी आदि के द्वारा कुचलने आदि से मृत्यु करवाई जाए तो उसका अभिनय उसी प्रकार किया जाना चाहिए जैसा कि तलवार आदि के द्वारा हत्या करने से किया जाता है।

इस प्रकरण के अन्त में भरत मुनि "नाट्यशास्त्र" में लिखते हैं :

"इत्येवं मरणं प्रोक्तं नानावस्थान्तरात्मकम्।
प्रयोक्तव्यं बुधैः सम्यक् यथाभावविचेष्टितैः।

इस प्रकार मरण का अभिनय नाना प्रकार का और नाना अवस्थाओं द्वारा होता है। इसका प्रयोग बुद्धिमानों के द्वारा भाव और चेष्टाओं के द्वारा यथार्थ रूप से किया जाना चाहिए।

'नाट्यशास्त्र' के २६ वें अध्याय में 'मरण' के प्रयोग को पुनः इस प्रकार प्रतिपादित किया गया है :

"........................ मरणाभिनयो बहुप्रकारस्तु।
विक्षिप्तहस्तपादैर्निवृत्तैः सर्वैस्तथा गात्रैः
व्याधिप्लुते तु मरणं विषण्णगात्रेण सम्प्रयोक्तव्यम्॥
हिक्काश्वासोपेतमनपेक्षितगात्रसंचारम्।
विषपीते पि च मरणं कार्यं विक्षिप्तकरचरणम्।
विषवेगसंप्रयुक्तं विस्फुरिताङ्गक्रियोपेतम्॥
प्रथमे वेगे कार्यं त्वभिनेयं वेपथुर्द्वितीये तु।
दाहस्तथा तृतीये हिक्कां कुर्याच्चतुर्थे तु।
फेनञ्च पञ्चमे वै ग्रीवाभङ्गं तथैव षष्ठे तु।
जडतां तु सप्तमे वै प्रोक्तं मरणं तथाष्टमे चैव॥
प्रविष्टतारके नेत्रे कपोलाधरमेव च।
अंसोदरभुजानां तु कृशता कार्श्यरूपणम्॥
हस्तयोः पादयोर्मूर्ध्नि युगपत् पृथगेव वा।
कम्पनेन यथायोगं वेपथुं सम्प्रयोजयेत्।
सर्वाङ्गवे नोद्वेजन कण्डूयनात्तथाङ्गानाम्।
विक्षिप्तहस्तगात्रैर्दाहश्चैवाभिनेतव्यः।
उद्वृत्तनिमेषत्वादुद्गारच्छर्दनैस्तथाक्षेपैः।
अव्यक्ताक्षरकथनैर्हिक्कामेवं त्वभिनयेत्तु।
उद्गारवमनयोगैः सृक्कालेहैर्विवर्तनाच्छिरसः।
सर्वेन्द्रियसम्मोहाज्जडतामेवं प्रयुञ्जीत॥
सम्मीलितनेत्रत्वाद् व्याधिविवृद्ध्या भुजंगदंशाद्वा।
एवं हि नाट्यधर्मे मरणानि बुधैः प्रयोज्यानि"

ऊपर की पंक्तियों में मृत्यु का अभिनय भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रदर्शित किया गया है। इन अभिनयों का पूर्ण विस्तार से वर्णन किया गया है। यह कहा गया है कि मरण का अभिनय बहुत प्रकार का है। यदि बीमारी के कारण मृत्यु का प्रदर्शन किया जाए तो हाथ पैर का पटकना और शरीर के रंग का मलिन हो जाना आदि प्रदर्शित किया जाना चाहिए। विष के द्वारा मृत्यु का यदि अभिनय किया जाए तो हिचकी, स्वास और हाथ-पैर का पटकना आदि प्रदर्शित किया जाना चाहिए। बिष का वेग इस तरह दिखाया जाए कि प्रथम में अङ्गों का विस्फुरित होना, दूसरे में कँपकँपी, तीसरे में जलन, चौथे में हिचकी, पांचवें में मुख में फेन, छठे में ग्रीवाभंग, सातवें में जड़ता और आठवें में मरण दिखाया जाना चाहिए। आंखों का अन्दर धंस जाना, शरीर की कृशता, हाथ पैर, और सिर आदि में कम्पन और हाथ-पैर के पटकने से और छटपटाने के द्वारा जलन का अभिनय करना चाहिए। अव्यक्ताक्षर-कथन से हिचकी का अभिनक्ष किया जाए। उलटी का प्रदर्शिन और जीभ के द्वारा बार-बार ओठों को चाटना, सिर में चक्कर आना आदि का और उसके पश्चात् समस्त इन्द्रियों की जड़ता का प्रयोग किया जाए। आंखों का बन्द हो जाना ,व्यादि का बढ़ जना अथवा साँप से कटवाने से नाटक में मृत्यु का प्रयोग स्टेज पर किया जाना चाहिए।

यह समझ नहीं आता कि मृत्यु का इतना विशद वर्णन करना और बार-बार मृत्यु के अभिनय के के प्रयोग के प्रदर्शन के पश्चात् यह कैसे प्रदिपादित किया गया है कि मृत्यु का प्रदर्शन अप्रत्यक्ष होना चाहिए और प्रवेशक आदि के द्वारा किया जाना चाहिए। अर्थात् प्रवेशक आदि के द्वारा मृत्यु की सूचना दे दी जानी चाहिए। इसके साथ ही यह निर्देश दिया गया है कि प्रसिद्ध व्यक्ति की वध प्रदर्शित नहीं करना चाहिए। भरत मुखि कहते हैं :

"युद्धं राज्यभ्रंशो मरणं नगररोधनं चैव।
अप्रत्यक्षकृतानि प्रवेशकै : संविधेयानि
अङ्कप्रवेशकैर्वा वा प्रकरणमाश्रित्य नाटकं वापि
न वधस्तस्य स्याद्यत्र तु नायकः ख्यातः"।

—युद्ध, राज्यभ्रंश, नगर का रोधन और मरण एक तो प्रत्यक्ष नहीं दिखाना चाहिए-दूसरा उनकी सूचना प्रवेशक के द्वारा दी जानी चाहिए। ख्यात नायक का वध प्रदर्शित नहीं किया जाना चाहिए। इसको भी प्रवेशक या किसी प्रकरण में कह दिया जाना चाहिए।

अब यदि मृत्यु का अभिनय वर्जित है तो भरत मुनि को मृत्यु का इतना विस्तार से वर्णन करने की क्या आवश्यकता थी? वे तो बार बार मरण के विषय में यह कहते हैं कि मरण का अभिनय किया जाना चाहिए। अगले नाटचशास्त्रियों ने मरण के प्रश्न पर विचार ही नहीं किया है। शारदातनय अपने "भाव-प्रकाशनम्" में लिखते हैं :

"मरणेऽभिनयो नास्तीत्येतात् काव्ये न बध्यते"

मरण का अभिनय नहीं किया जा सकता और इस कारण हमको नाटय में दिखाया नही जा सकता।

इसी प्रकार "नाटचलक्षणकोश" में कहा गया है :

मरणं प्राणच्छेदः। तस्यैवंविधज्य मरणस्य लक्षणमाचार्येण नोपवर्णितमलमस्योपन्यासेन"

मरण का अर्थ है प्राण-नाश। इस प्रकार के मरण का आचार्य ने वर्णन नहीं किया है इसीलिए इसकी व्याख्या नहीं की जा रही है।

यह आश्चर्य की बात है कि एक ओर भरत मुनि पुनः पुनः मरण के प्रयोग के विषय में कहते हैं :-"मरणं सम्प्रयोक्तव्यम्", "मरणं सम्प्रयुञ्जीत", "मरणं प्रयोक्तव्यम्", "मरणाभिनयो बहुप्रकारस्तु" आदि जिनमें स्पष्टतया कहा गया है कि मरण का अभिनय किया जाना चाहिए और दूसरी ओर लक्षण-ग्रन्थकारों ने 'मरण' का ही निषेध नहीं किया है अपितु उसके सम्बन्ध में विचार करने तक से इनकार कर दिया है। वे परस्पर-विरोधी बातें हैं। यह सम्भव है कि पहले मृत्यु का अभिनय किया जाता तो और फिर उसके दर्शकों पर उसकी प्रतिक्रिया को देख कर उसका निषेध कर दिया गया हो और प्रवेशक आदि के द्वारा उसकी सूचना-मात्र दे दी जाती हो। इसके पश्चात् मरण का सर्वथा निषेध कर दिया गया हो।

धनंजय ने "दशरूप" में यद्यपि स्पष्ट रूप से कहा है कि स्टेज पर मरण को प्रदर्शित नहीं किया जाना चाहिए तो भी ऐसा प्रतीत होता है कि वे मृत्यु का प्रदर्शन एकमात्र शृंगार रस में अर्थात् करुण विप्रलंभ में वाञ्छनीय नहीं समझते और करुण रस के नाटक में उसका प्रदर्शन को उचित समझते हैं। वे लिखते हैं :

"मरणं सुप्रसिद्धत्वादनर्थत्वाच्च नोच्यते"

हम मरणके विषय में इसलिए कुछ नहीं लिखते कि क्योंकि एक तो यह प्रसिद्ध है और दूसरा यह अनर्थ है—अर्थात् हमसे कुछ विशेष प्रयोजन सिद्ध नहीं होता—इस कारण हम मृत्यु का वर्णन नहीं करते।

परन्तु आगे शृंगार रात का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं :

"शृंगाराश्रयालम्बनत्वेन मरणे व्यवसायमात्रमुपनिबन्धनीयम्।
अन्यत्र तु कामचारः।"

हमारा तात्पर्य यह है कि यदि रस शृंगार हो तो मरण का केवल प्रयत्न ही प्रदर्शित किया जाना चाहिए–वास्तविक मृत्यु का कभी प्रदर्शन नहीं किया जाना चाहिए परन्तु जहाँ शृंगार रस न हो वहाँ वास्तविक मृत्यु को प्रदर्शित करने में नाटककार स्वतंत्र है यह उसकी इच्छा पर निर्भर है कि वह मृत्यु को प्रदर्शित करे या न करे। उपर्युक्त पंक्तियों की व्याख्या निम्न प्रकार की गई है :

"शृंगाराश्रयमुद्दिश्य मरणे व्यवसायमात्रं प्रदर्शनीयम्। अन्यत्र शृंगारादन्यत्र तु कामचारः स्वातंत्र्यम्। साक्षान्मरणोपनिबन्धने पि न दोषः।"

यदि शृंगार रस हो तो मरण में प्रयत्नमात्र का ही प्रदर्शन किया जाना चाहिए। श्रृंगार को छोड़ कर अन्यत्र स्वतंत्रता है और यदि साक्षात् मरण का प्रपादन किया जाए तो इसमें कोई दोष नहीं है।

"भाव-प्रकाशन" की निम्नांकित से ऐसा प्रतीत होता है कि 'मरण' के प्रर्शन के विरोधी कुछ विद्वान् थे। सब नहीं। शारदादनय कहते हैं :

"जाड्यं मरणमित्येते द्वे कैश्चिद् वर्जिते बुधैः"

यहाँ "कैश्चिद् बुधैः" शब्दों की ओर ध्यान दिया जाना चाहिए। अर्थात्—"कुछ विद्वानों ने जड़ता और मरण का अभिवर्जन किया है"। इसमें यह स्पष्टतया ज्ञात होता है कि सभी विद्वान् मरण के निषेध के पक्षपाती नहीं थे।

विश्वनाथ ने "साहित्य-दर्पण" में विप्रलम्भ-शृंगार का वर्णन करते हुए लिखा है :

"यूनोरेकरतस्मिन् गतवति लोकान्तरं पुनर्लभ्ये।
विमनायते यदैकस्तदा भवेत् करुणविप्रलम्भाख्य:।"

अर्थात् नायक और नायिका में से एक के मर जाने पर दूसरा जो दु:खी होता है उस अवस्था को "करुण विप्रलम्भ" कहा जाता है परन्तु यह उसी अवस्था में हो सकता है जब कि परलोकगत व्यक्ति के इसी जन्म में इस देह से फिर मिलने की आशा हो। बात यह है कि शृंगार रस का स्थायिभाव "रति" होता है और करुण का "शोक"। यदि शृंगार में वास्तविक मृत्यु को प्रदर्शित कर दिया जाए तो शृंगार रस नहीं रह सकता क्योंकि वहाँ शोक स्थायिभाव हो जाएगा-रति नहीं। इस कारण विप्रलम्भ शृंगार में मृत्यु का या तो व्यवसाय मात्र दिखाया जाना चाहिए और यदि मृत्यु प्रदर्शित की जाए तो वह ऐसी कि पुन: स्वल्प काल में मृत व्यक्ति जीवित हो उठे। उसकी जीवित हो उठने की अवस्था में ही विप्रलम्भ शृंगार रहेगा। अन्यथा करुण रस हो जाएगा, क्योंकि कुछ समय के लिए मृत्यु प्रदर्शित की जाती है इसलिए इस को "करुण विप्रलंभ शृंगार" कहते है।

श्री विश्वनाथ कहते हैं :

"पुनरलभ्ये शरीरान्तरेण वा लभ्ये तु करुणाख्य एव रस:। किंचात्राकाशसरस्वतीभाषानन्तरमेव शृंगार:; संगमप्रत्याशया रतेरुद्भवात्। प्रथमं तु करुण एव इत्यभियुक्ता मन्यन्ते। यच्चात्र" "संगमप्रत्याशानन्तरमपि भवतो विप्रलम्भशृंगारस्य प्रवासाख्यो भेद एव इति केचिदाहु:, तदन्ये "करुणरूप विशेषसंभवातद् भिन्नमेव मन्यन्ते।"

यदि इसी शरीर के इस नायक और नायिका का सम्मिलन न हो—और या दूसरे शरीर के द्वारा हो तो शृंगार रस नहीं रहेगा। ऐसी अवस्था में करुण रस हो जाएगा। जब नायक या नायिका की मृत्यु हो जाती है तब आकाशवाणी आदि के द्वारा जब तक उसके पुनर्जीवित होने की घोषणा नहीं कर दी जाती तब तक शृंगार रस नहीं होता और जब पुनर्जीवित होने की घोषणा कर दी जाती है तब संगम की प्रत्याशा के कारण रति रहती है। रस घोषणा के पूर्व रस करुण हो जाता है। कई लोग कहते हैं कि इस प्रकार की मृत्यु में क्योंकि प्राण कहीं जाकर लौट आता है इसलिए इसे प्रवासविप्रलम्भ क्यों न कहा जाए ? इसके उत्तर में अन्य विद्वान् कहते हैं कि क्योंकि इसमें पहले मरण हो जाता है इसलिए करुण विप्रलम्भ प्रवासविप्रलम्भ से सर्वथा भिन्न है।

श्री विश्वनाथ की करुण-विप्रलम्भ की इस व्याख्या में यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि करुण शब्द का मृत्यु के साथ सम्बन्ध है और दूसरा जहाँ तक श्रृंगार रस का सम्बन्ध ह वहाँ पहले तो मृत्यु को प्रदर्शित नहीं किया जाना चाहिए और यदि प्रदर्शित भी की जाए तो कुछ समय के लिए ही। कुछ समय के पश्चात् मृत शरीर पुनर्जीवित हो उठना चाहिए। यदि ऐसा नहीं होगा तो शृंगार रस का परिपाक न हो कर करुण रस का परिपाक होगा क्योंकि उसका स्थायिभाव रति न रह कर शोक हो जाएगा।

अब हम कुछ ऐसे नाटकों का उल्लेख करते हैं जिनमें मृत्यु को प्रदर्शित किया गया है। भास ने "प्रतिमा" नाटक के तीसरे अंक में दशरथ की मृत्यु को प्रदर्शित किया है। "उरुभंग" नाटक में दुर्योधन और "अभिषेक नाटक" में बालि की मृत्यु को प्रदर्शित किया गया है। "रत्नावली" नाटिका

में सगरिका निराश होकर आत्महत्या का करन प्रयत्न करती है परन्तु वह बचा ली जाती है। वह अपने गले में फांसी लगा लेती है और ज्यों ही मरने के लिए उसत होती है त्यों ही उसको बचा लिया जाता है। "मृच्छकटिक" नाटक में पुष्पकण्ड उदयान में शकार वसन्तसेना का गला घोंट देता है और जब वह यह समझता है कि वह मर गई है तब वह उसके शरीर को पत्तों से ढक कर चला जाता है। पीछे वसन्तसेना पुनर्जीवित हो जाती है।

ऐसा प्रतीत होता है कि स्टेज पर पीछे से मृत्यु को न प्रदर्शित करने के कई कारण हो सकते हैं जिनमें कि कलासम्बन्धी कारण मुख्य प्रतीत होते हैं। उन वस्तुओं की सूची को देखने से जिन्हें कि स्टेज पर प्रदर्शित करने की वर्जना की गई है यह स्पष्टतया प्रतीत होता है कि सुन्दरता को दृष्टि में रखकर ही पीछे से मृत्यु को दिखाने की वर्जना की गई है। परन्तु यदि मृत्यु को दिखाने की वर्जना की गई तो "प्रवेशक" आदि के द्वारा मृत्यु की सूचना देने का नियम बनाया गया। महान् और प्रसिद्ध व्यक्तियों के सम्बन्ध में उसे भी रोका गया—परन्तु इसका कारण नाटक के क्षेत्र को संकुचित करना नहीं था जैसा कि कल्पना की जाती है। इसके कारण भी कलात्मक ही मुख्यतया प्रतीत होते हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि संस्कृत के नाटकों में मृत्यु के बिना ही करुण रस के नाटकों को विकसित करने का प्रयत्न किया गया। मृत्यु ही तो एकमात्र ऐसी वस्तु नहीं है जिसके कारण ट्रेजेडी बन सके। जिस प्रकार एक मनुष्य जीवित रहता हुआ भी ऐसी अवस्था में रह सकता है कि उससे मृत्यु अच्छी हो—उसी प्रकार मृत्यु के विना भी ऐसी ट्रेजेडी बनाई जा सकती है जो मृत्यु से भी अधिक गम्भीर और दुःखान्त हो और जिसके सम्मुख मृत्यु का कुछ विशेष महत्व ही न रहे। ऐसे नाटकों को शैक्सपीयरी या पाश्चात्य ट्रेजेडी न कहा जा सके परन्तु यह ट्रेजेडी के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं हो सकती। हम इस बात को स्पष्ट कर चुके हैं कि करुण-रस के नाटक का अर्थ 'ट्रेजेडी' है, क्योंकि उसका स्थायिभाव शोक है। इस प्रकार के नाटकों का केन्द्र बिन्दु एक ऐसी दुर्भाग्यपूर्ण विपत्ति होता है जिसका कि किसी भी प्रकार निराकरण नहीं किया जा सकता। यद्यपि इस प्रकार की विपत्ति का पर्यवसान मृत्यु में नहीं होता परन्तु फिर भी यह भय और करुणा को जागृत करती है और इसमें उन समस्त तत्वों का समावेश होता है जिनका कि एक पाश्चात्य ट्रेजेडी में होता है। इस प्रकार की अवस्थाएँ भी महान् शोचनीय अवस्थाओं को उत्पन्न करती हैं यद्यपि उनमें मृत्यु का अंश नहीं होता। इस प्रकार की ट्रेजेडी में अति-प्राकृत तत्व का समावेश किया जाता है। इस अति-प्राकृत तत्व से किसी न किसी प्रकार अन्त में नायक और नायिका का सम्मिलन हो तो जाता है परन्तु उनके सम्मिलन के पश्चात् भी भय और करुणा की स्थिति पूर्ववत् ही बनी रहती है। जिन नाटकों में नायक और नायिका की पृथक्ता ऐसी करुणाजनक परिस्थितियों द्वारा उत्पन्न होती है कि उनका सम्मिलन न केवल असम्भव होता है परन्तु उस सम्मिलन में किसी प्रकार का महत्व ही नहीं रह जाता और जिसे एकमात्र अति-प्राकृत साधनों के द्वारा सम्भव बनाया जाता है वे ट्रेजेडी होते हैं क्योंकि उनका रस मुख्यतया शोक पर आधारित होता है, जो कि करुण की आत्मा है। हम "शकुन्तला" और "उत्तररामचरित" को ट्रेजेडी मानते हैं यद्यपि उनमें अति-प्राकृत दैवीय साधनों द्वारा नायक और नायिका का मिलन अन्त में करा दिया गया है।

इन दोनों नाटकों में नायकों ने नायिका के प्रति ऐसा अन्याय और क्रूरता प्रदर्शित की है जो कि सर्वथा अनपेक्षित और अमानुषीय है। दोनों की नायिकाएँ भोली-भाली और पवित्र हैं। उनके साथ

जो व्यवहार हुआ है उससे हृदय को सरल आघात पहुँचता है और उससे हृदय में एक कँपकँपी-सी उत्पन्न हो जाती है। सीता और शकुन्तला के साथ रामचन्द्र और दुष्यन्त ने जो व्यवहार किया है वह अकल्पित है और इसीलिए उनका मिलन दिव्य तत्वों के द्वारा ही सम्भव हो सका है। अन्यथा वह किसी भी प्रकार सम्भवित नहीं हो सकता था। इन दोनों नाटकों में सम्मिलन की मर्यादा ही टूट गई है और फिर उन दोनों के मिलने में किसी प्रकार के आनन्द या गौरव की सृष्टि नहीं हो सकी है। मिलने के पश्चात् भी हमारे दुःख की अनुभूति में किसी प्रकार की कमी नहीं होती। रामचन्द्र गर्भवती सीता को जंगल में निर्वासन कर देते हैं और दुष्यन्त गर्भवती शकुन्तला का निराकरण कर देते हैं और दोनों को ऐसी अवस्था में छोड़ दिया जाता है कि उनको कहीं से भी किसी प्रकार का आश्रय प्राप्त नहीं होता। सीता "उत्तररामचरित" में कहती है :

"साहमिदानीं मन्दभागिनी भगीरथ्यामात्मानं निक्षेप्स्यामि।"

मैं मन्दभागिनी अपने आप को गंगा में फेंक दूंगी। और शकुन्तला चारों ओर से निराश होकर कहती है :

"भगवति वसुधे देहि मे विवरम्।"

ज़मीन, मुझे तुम अपने अन्दर आत्मसात् कर लो।

यह स्पष्ट ही है कि दोनों नायिकाएँ अपनी इस शोचनीय स्थिति से मृत्यु को अच्छा समझती हैं। उनको जो कष्ट हुआ है वह मृत्यु से कहीं अधिक भयानक और करुणाजनक है। यदि दिव्य अंशों का समावेश नहीं होता तो इनका परिणाम मृत्यु के अतिरिक्त और क्या हो सकता था, क्योंकि उनका दुःख इतना महान् है कि उसको दूर करने का कोई उपाय ही नहीं है।

यदि कवि इन दोनों नाटकों में अति-प्राकृत या दिव्य अंश की अवतारणा न करते तो न तो सीता और रामचन्द्र का, और न शकुन्तला और दुष्यन्त का सम्मिलन हो सकता था। इस अलौकिक तत्व के मिल जाने पर भी लौकिक तत्व में में किसी प्रकार का कुछ भेद नहीं पड़ता। यह सुख जो अन्त में प्रतिपादित किया गया ह सर्वथा अकल्पित और अनपेक्षित-सा प्रतीत होता है। राम सीता का निर्वासन कर सकते थे और दुष्यन्त शकुन्तला को भूल सकते थे—ये दोनों घटनाएँ अत्यन्त शोचनीय और करुणापूर्ण हैं। ट्रेजेडी में एक प्रकार की अस्वाभाविकता होती है और इससे बड़ी अस्वाभाविक बात क्या हो सकती है? इस अस्वाभाविकता को रामचन्द्र के राजापन और दुष्यन्त के शाप के द्वारा स्वाभाविक बनाया गया है परन्तु इतने पर भी वे सम्भव और स्वाभाविक नहीं प्रतीत होते। किसी भी अवस्था म इसमें जो करुणा का तत्व है उसमें कमी नहीं आ सकती।

हमें इन दोनों नाटकों से इस बात का पता चलता है कि संस्कृत के नाटकों में ट्रेजेडी है और उन्हें अपनी ही पद्धति पर विकसित किया गया है। करुण रस के नाटक का तात्पर्य ही ट्रेजेडी है—इसलिए यह कहना ठीक नहीं है कि संस्कृत के नाटककारों को ट्रेजेडी का ज्ञान नहीं था।

बंशीधर विद्यालंकार
प्रिन्सिपल, नानकराम भगवानदास कालेज,
हैदराबाद-दक्षिण

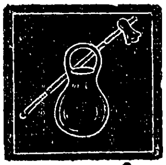

त्यागी

आधुनिक तेलुगु साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियां

तेलुगु जनता के जीवन में जो जागृति हुई उसी का प्रतिबिम्ब आधुनिक तेलुगु साहित्य है। १९ वीं सदी के चतुर्थ भाग में इसका प्रादुर्भाव माना जा सकता है। आधुनिक तेलुगु साहित्य आन्ध्र जीवन के डेढ़ सदी की कहानी है। लोकोक्ति है कि जीवन और साहित्य एक दूसरे से पृथक् नहीं हो सकते और यह लोकोक्ति तेलुगु साहित्य पर भी चरितार्थ होती है।

यह कहना अनुचित न होगा कि देश के संक्रान्ति काल का प्रभाव अन्य मुख्य भारतीय भाषाओं के साहित्यों पर भी पड़ा है। विगत में वैदिक धर्म और संस्कृत भाषा भारत राष्ट्र के अभिन्न अंग थे। आधुनिक काल में चेतना और मानवता वाद का आविर्भाव एक अपरिहार्य शक्ति के रूप में हुआ है।

ब्रिटिश शासन और अंग्रेजी भाषा पाश्चात्य जगत् से सम्बन्ध स्थापना का माध्यम थी। एक भाग नियन्त्रित था तथा दूसरा प्रोत्साहित था। हम प्रथम और नियन्त्रित माध्यम को लुप्त पाते हैं। प्रोत्साहित भाग अभी भी हमारा अतिथि है और हो सकता है कि हमारे परिवार का स्थायी घटक बन जाए। भारत में १८ वीं सदी के अर्ध भाग के राजनैतिक रंगमंच में, आन्ध्र प्रदेश के समुद्रतटीय नगर १७६६ में ब्रिटिश

शासन के अधीन हुए। तेलंगाना के नगर निज़ाम द्वारा शासित रहे। सर्व प्रथम ब्रिटिश आधुनिक भाग में तेलुगु भाषा में नवजागृति का प्रादुर्भाव होता है।

१९ वी सदी के प्रथम चरण में तेलुगु छापेखाने का प्रारम्भ हुआ। पवित्र इंजील के प्रसार के लिए और शासन-सुविधा के विचार से ब्रिटिश अफ़सरों ने तेलुगु की उन्नति में हाथ बँटाना आरम्भ किया। इस प्रकार इन्होंने परोक्ष सेवा की। विदेशियों के लिए आधुनिक ढ़ंग पर व्याकरण और शब्दकोश बनाए गए। सरल पुस्तकें छापी गई। जो एक आकस्मिक अध्ययन था पर यही कुछ स्वच्छन्द प्रवृत्ति के अंग्रेज़ों के जीवन का अंग बन गया। चार्ल्स फ़िलिप्स ने तेलुगु के दो प्रमाणित कोश प्रकाशित किए; एक व्याकरण लिखा; अनुवाद किए। कई प्राचीन तेलुगु-साहित्य की प्रतियाँ छपाने और उन्हें सम्पादित करने में योग दिया। पुरानी हस्तलिखित प्रतिलिपियों को एकत्र करके विद्वान् कर्नल कालिन मैकन्ज़ी ने अविस्मरणीय सेवा की और वे हमें आन्ध्र देश का इतिहास लिखने और गम्भीर अन्वेषण के लिए समुचित सामग्री प्राप्त करा गए।

प्रारम्भ में यह सब अद्‌भुत-सा लगा। यहां के निवासी या तो एकमात्र दर्शक बनते या साधारण कार्य में हाथ लगाते। किन्तु ब्राउन तथा अन्य विद्वानों के किए हुए कार्य को आगे बढ़ाने की भी शक्ति उनमें थी। अभी तक कविता ही साहित्य की मुख्य धारा समझी जाती थी। पदाधिकारी और विद्वान को प्रसन्न करने के लिए यह एक अत्यन्त उपयुक्त साधन था किन्तु आज आदर्श भिन्न हो गए हैं। अब अधिक से अधिक जनता का मन बहलाने और उसे शिक्षित करने का लक्ष्य सामने है। १९ वीं शताब्दी के मध्य में चिन्नया सूरी संस्कृत और तेलुगु के बड़े विद्वान् थे। कई पुस्तकों के अतिरिक्त उन्होंने एक 'नीति चंद्रिका' नामक छोटी-सी पुस्तक लिखी है जिसमें प्रमाणित और उत्कृष्ट लेखों का उत्तम संग्रह है। उन्होंने "बाल व्याकरण" नामक व्याकरण भी लिखा जो निर्दोष लेखन के लिए अपना महत्व स्थापित कर चुका है। उनके शिष्य सीताराम आचार्य ने 'सुबोध रत्नाकरमु' प्रमाणित तेलुगु शब्दकोश लिखकर उनके कार्य को आगे बढ़ाया जो इस दिशा में आगे के प्रयत्नों में एक अनुकरणीय रचना सिद्ध हुई।

आधुनिक आन्ध्र की नवचेतना के पिता कन्दकूरि वीरेशलिंगम राजमंड्री के एक ब्राह्मण परिवार में उत्पन्न हुए। आन्ध्र में उन्होंने अपने आपको राजा राममोहन राय का प्रतिरूप सिद्ध किया। वे एक महान् प्रतिभाशाली लेखक थे। पूर्वलिखित काव्य को पीछे छोड़कर उन्होंने अपना साहित्यिक जीवन आरम्भ करते हुए अनुभव किया कि उन्हें ज्ञान को सामान्य जन के द्वार तक पहुँचाना है। काव्य की ओर उदासीन रहते हुए उन्होंने गद्य को अपनाया। आन्ध्र देश ने उन्हें " गद्य-तिक्कन्ना " नाम से पुकारा। तेलुगु कवियों में तिक्कन्ना का नाम सर्वोपरि है। वीरेशलिंगम के पास जनप्रेरित कार्य था। वे एक बहुत बड़े समाज-सुधारक थे। उन्होंने विधवा विवाह को प्रचारित करने और जनप्रिय बनाने के लिए संघर्ष किए। तेलुगु देश में ब्रह्म समाज के लिए उन्होंने कार्य किया। वे वास्तव में समस्त आधुनिक तेलुगु-साहित्य की प्रवृत्तियों का सूत्रधार थे। वे प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने तेलुगु गद्य में निबन्ध लिखना आरम्भ किया। उन्होंने " राजशेखर चरित्रमु " नामक सर्वप्रथम तेलुगु उपन्यास लिखा। उन्होंने संस्कृत नाटकों को तेलुगु में अनुवाद करने की परम्परा निर्धारित की और स्वयं भी कई मौलिक नाटक लिखे। समाज की त्रुटियों को प्रदर्शित करने और जनता का मन बहलाव करने के लिए उन्होंने कई आक्षेपपूर्ण

और रसपूर्ण कृतियों की रचना की। आज के नारी जगत् पर भारतीय समाज द्वारा जो दुर्बलताएँ थोपी गई हैं उन पर उनकी कृति 'सत्यराज पूर्वदेश यात्रालु' एक सुन्दर और अनुकरणीय काव्य है। वीरेशलिंगम ने साहित्यिक आलोचना और अन्वेषण की भी नींव रखी। उनका महान् कार्य 'तेलुगु कवियों का इतिहास' स्मरणीय रचना है। तेलुगु में वैज्ञानिक साहित्य प्रस्तुत करने की उनकी प्रबल इच्छा थी और इस दिशा में उन्होंने शरीर-शास्त्र (Physiology) प्राणि-विज्ञान और खगोल-विद्या सम्बन्धी पुस्तकें प्रकाशित कीं। उन्होंने अपनी 'विवेक वर्धनी' और 'हास्य संजीवनी' पत्रिकाओं द्वारा तत्कालीन पत्रकारिता का मार्ग दर्शन किया। वीरेशलिंगम ने ही सबसे पहले अपना जीवन-वृत्तान्त लिखा। इस प्रकार वह आन्ध्र देश के वर्तमान युग के निर्माता के रूप में सदा अविस्मरणीय हैं।

वीरेशलिंगम के अनन्तर गद्य लिखना एक लोकाचार बन गया था। नाटक बहुत प्रिय हो गए और तेलुगु साहित्य में प्रथम बार उतनी बड़ी और भारी नाटकीय रचनाएँ देखने में आईं। बहुत-से संस्कृत नाटक विद्वानों द्वारा तेलुगु में अनुवादित किए गए। बेल्लारी के डा. कृष्णमाचार्य को आन्ध्र नाटक का पितामह कहा जाता है। उन्होंने तेलुगु नाटक में चरित्र चित्रण और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की प्रवृत्तियों का अच्छा समावेश किया। वे अपनी रचना 'विशद सारंगधर' से दुःखान्त नाटक के सूत्रधार माने गए। इसी काल में ऐतिहासिक और देश-भक्त के नाटक भी लिखे गए। बल्लारी के कोलाचलम् हरिनिवास राव, नेल्लूर के वेदमु व्यंकट शास्त्री, राजमंड्री के श्रीपाद कृष्णमूर्ति शास्त्री ने इस क्षेत्र में अपने आपको प्रतिष्ठित किया। उपहास मिश्रित पौराणिक विषय लक्ष्मी नरसिंह के नाटकों की पृष्ठभूमि है।

उपन्यास के क्षेत्र में नरसिंह ने बहुत अच्छा कार्य किया। रमेश चन्द्रदत्त की 'आगरा की दासी कन्या' के अनुवाद के अतिरिक्त उन्होंने अनेक सुन्दर सामाजिक और ऐतिहासिक नाटक लिखे। नरसिंह उच्चकोटि के उपन्यासकार थे और उन्होंने तेलुगु में प्रथम बार उपहास को साहित्यिक रूप दिया। भोजराज नारायण मूर्ति ने उनका अनुसरण किया। यह काल १९ वीं शताब्दी का अन्तिम चरण था। इस काल में कविता केवल पुरानी धारा में बहती रही। प्रबन्ध गद्य के नमूने को सम्मुख रखकर पुराने ढंग पर रचना करना और संस्कृत से अनुवाद करना ही अब तक का सामान्य क्रम बना हुआ था।

तेलुगु-साहित्य में २० वीं सदी का आविर्भाव दृढ़ क्रान्ति की भित्ति पर हुआ। तीन महान् साहित्यिक पुरुष इस क्षेत्र में उतरे और उन्होंने दृष्टिकोण में मूल परिवर्तन का प्रतिपादन किया। अंग्रेज़ी शिक्षा पद्धति के कई अवगुणों में एक यह भी था कि वह देशवासियों को परम्परागत साहित्य से पृथक् रखना चाहती थी। तिरुपति कवुलु में सरलता से कविता रचने की अपूर्व बुद्धि थी और उन्होंने काव्य, नाटक तथा गद्य के अनेक ग्रन्थों का भी प्रणयन किया।

विजयनगरम् के राजा आनन्द गजपति के सामन्त और मित्र गुरजाड़ा अप्पाराव का कार्य अत्यन्त महत्वपूर्ण है। अप्पाराव ने भी आधुनिक तेलुगु काव्य के निर्माण में बड़ा योग दिया है। कृष्णदेवराय के युग के पश्चात् कविता में विस्तृत प्राचीन विषयों को लेकर अत्यधिक पाण्डित्य प्रकट करना, रूढ़ियों को अपनाना और साहित्य में कृत्रिमता लाना ही अधिक श्रेयस्कर बात समझी जाती थी। जीवन में श्वास और गति लाने के लिए कविता अपनी शक्ति और जादू खो बैठी थी। अप्पाराव ने उसे ऐसे गत्यवरोध से बचाया और उसने उसमें पुनः चमत्कार उत्पन्न किया। सर्वप्रथम उसने प्राचीन विषयों का परित्याग

किया और कविता के लिए संवेदनाशील जीवन और सामान्य सामाजिक वातावरण को चुना। मानवीय संवेदनाओं को छूते हुए बड़े अकृत्रिम ढंग से अपने विषयों का प्रतिपादन किया। उन्होंने अंग्रेज़ी से गीति-काव्य की शैली ग्रहण की। पहले के छन्द पुराने पड़ गए, इसलिए अब अप्पाराव ने गेय और नव छन्दों को अपनाया। काव्य रचना में सामान्य भाषा के प्रयोग ने कविता में एक नई जान फूंक दी। इसने काव्य के परम्परागत क्षेत्र में नवक्रान्ति का आविर्भाव किया। अप्पाराव यहीं पर न ठहरे। उन्होंने अपने नाटक 'कन्या शुल्कम्' के द्वारा नाटक-साहित्य में भी महान् क्रान्ति उत्पन्न की। यह एक सुखान्त नाटक है जिसमें उन्होंने सब प्रकार की मूर्खता, अज्ञानता और चारित्रिक विकृतियों के साथ समकालीन जीवन को अंकित किया है।

तेलुगु-साहित्य के इस काल में तृतीय किन्तु प्रबल शक्ति के द्योतक स्वर्गवासी गिडुगु राममूर्ति पन्तुलु हैं। १९वीं सदी के मध्य में व्याकरणाचार्य चिन्तय्या सूरी ने प्रमाण निर्धारित किया, वह प्रायः गम्भीर गद्य के लिए माना जाता है। राममूर्ति पन्तुलु ने ज़ोरदार शब्दों में शास्त्रार्थ किया कि सभ्य जनता की जो बोलचाल की भाषा है, वही साहित्यिक भाषा का प्रमाणित रूप होना चाहिए। अपनी 'गद्य चिन्तामणि' और दूसरी कृतियों से राममूर्ति ने सिद्ध कर दिया कि कम-से-कम गद्य में बोलचाल की भाषा लिखने का विद्वानों को अच्छा अभ्यास है।

देश के आधुनिक जीवन पर एक दृष्टि डालने से पहले हम कुछ विहंगावलोकन १९ वीं शताब्दी के अन्तिम चतुर्थ भाग का करेंगे जिसमें भारतीयों के दृष्टिकोण में अगोचर परिवर्तन हुआ। श्री रामकृष्ण परमहंस, स्वामी दयानन्द सरस्वती और स्वामी विवेकानन्द के प्रभाव से जनता भारत के प्राचीन धर्म और सभ्यता का मूल्यांकन करने लगी। शताब्दियों की अवधि और मिथ्या आवरण के आडम्बर में दबे ज्ञान की ज्योति को उन्होंने देखा। राजनैतिक क्षेत्र में भारत को विदेशी शासन से मुक्त करने के लिए इंडियन नैशनल कांग्रेस का जन्म हुआ। इस संघर्ष को पूर्ण करने के लिए साठ वर्षों की आवश्यकता पड़ी। बीज डाल दिए गए थे, वृक्ष को समय पर फलीभूत होना था। २० वीं शताब्दी के प्रथम चरण में उद्भूत विचार और कर्म के क्षेत्र में दो युगल शक्तियों का आगमन हुआ। रूस और जापान के युद्ध ने इस विचार को हिला दिया कि पश्चिम पूर्व पर सदा अजय रहेगा। बंगाल विभाजन का संघर्ष घर ही का उदाहरण है। इसने अंग्रेज़ों से लड़ने के लिए भारतीयों के आत्म-विश्वास को प्रोत्साहित किया। इस सारे वातावरण का आन्ध्र देश पर भी अपरिहार्य रूप में प्रभाव पड़ा। आन्ध्र ने बंगाल के बौद्धिक नेतृत्व का अनुगमन किया। स्वभावगत संवेदनाओं को दोनों ग्रहण किया।

प्रथम महायुद्ध के पूर्व जीवन की कुछ प्रधान वृत्तियां थीं। इनकी समुचित अभिव्यक्ति के लिए आर. सुब्बाराव जैसे प्रतिभाशाली कवि हमें उपलब्ध हुए। ज्ञान, विज्ञान और यहां तक कि चरित्र के सम्बन्ध में भी गुरजाड़ा जहां पश्चिम की पूर्व पर प्रधानता बताता है, वहां सुब्बाराव ने आत्म-गौरव और प्राचीन भारत के यश के गुणों को उठाया। अपनी अभूतपूर्व कल्पना शक्ति से इतिहास में आन्ध्र लोगों की महान्ता दिखलाकर और उन्हें कर्म की ओर बढ़ने को प्रेरित कर उन्होंने अद्भुत चमत्कार-सा किया। अपने देशभक्ति के गानों के अतिरिक्त उन्होंने गीति-काव्य की रचना को खण्डकाव्य के लिए भी आदर्श निर्धारित किया। शुद्ध चित्त-वृत्ति के चित्र खींचे गए, प्रेम अपने सरल रूप में लिया गया, विषय

विद्यमान जीवन से लिए गए। दुःख और शोक की भावनाओं को बड़े सुन्दर ढंग से अंकित किया गया। प्रकृति का परम्परागत वर्णन और वर्डसवर्थ के मार्ग पर प्रकृति में दार्शनिकता ढूंढ़ने के कार्य को सुब्बाराव ने आधुनिक तेलुगु कविता में किया। कवि और उसके अनुसरण कर्ताओं पर पश्चिम की प्रवृत्तियों का रोमांटिक प्रभाव पड़ा है। डी. कृष्ण शास्त्री, टी. शिवशंकर शास्त्री जैसे और कई अन्य कवियों द्वारा सुब्बाराव के गीतिकाव्य का अनुसरण किया गया है। विश्वनाथ सत्यनारायण एक अन्य महान् कवि हुए हैं, जिन्होंने देशभक्ति पूर्ण काव्य पर बल दिया। भाव और अभिव्यक्ति को उच्चता प्रदान की।

इस बीच में गद्य और नाटक का विकास तीव्र गति में हो रहा था। पानुगंटि लक्ष्मीनरसिंह राव ने अपने विनोदात्मक निबन्ध 'साक्षी' से अच्छी ख्याति प्राप्त की। सी. आर. रेड्डी ने अपनी कृति 'कविता तत्त्व क्षीरमु' द्वारा उच्चकोटि की साहित्यिक समीक्षा-दृष्टि का परिचय दिया। इस दिशा में श्री बी. शिवराम शास्त्री, आर. अनन्त कृष्ण शर्मा, के. रामकृष्णय्या आदि ने एक अच्छी परम्परा स्थापित की। कई पत्रिकाओं ने जन्म लिया और काल की गोद में चली गईं। अमुद्रित ग्रन्थ 'चिन्तामणि', 'कृष्ण पत्रिका' और 'भारती' अच्छी पत्रिकाओं में गिनी जा सकती हैं, जिनके द्वारा उच्चकोटि के साहित्य का संकलन और सृजन होता है। इनमें प्रथम का तो अब केवल नाम ही शेष रहा है। गद्य में ऐतिहासिक निबन्धों का अपना विस्तृत क्षेत्र है। इस क्षेत्र में के. वी. लक्ष्मणराव ने महान् सेवा की है। उनकी कृतियां 'हिन्दुमहायुगमु' और 'मोहमदिया महा युगमु' ऐतिहासिक साहित्य में अग्रगण्य हैं। एम. सोमशेखर ने भी इस क्षेत्र में योग्यता से कार्य किया है। तेलुगु में विश्व ज्ञानकोश बनाने का कार्य लक्ष्मणराव ने आरम्भ किया था किन्तु वह अपना कार्य पूर्ण करने से पहले ही चल बसे। २० वीं शताब्दी के प्रथम बीस वर्षों में नाटक बहुत प्रिय हुआ। संस्कृति से अनुवाद के अतिरिक्त तिरुपति कवुलु ने महाभारत के आधार पर उत्कृष्ट नाटक लिख कर मार्ग दर्शन किया। पूर्ण विनोद और विवेकी दृष्टिकोण से पानुगंटि 'साक्षी' नाटक बहुत प्रसिद्ध हुआ। उसने नाटक में संगीत और काव्य को कम करने पर ज़ोर दिया। उसने दुःखान्त और सुखान्त दोनों प्रकार के नाटक लिखे। 'राधाकृष्ण', 'पादुका पट्टाभिषेकमु' उनकी सुन्दर रचनाओं में से हैं। उत्तम नाट्यशाला के होने का सौभाग्य तेलुगु को प्राप्त है। हमारे पास कई श्रेष्ठ अभिनेता हुए हैं। जिन्होंने इस ऐतिहासिक कला की शोभा को बढ़ाया। श्री टी. प्रकाशम्, हरिप्रसाद राव, बेल्लारी राघवाचार्य और संतानम नरसिंह राव का नाम उनमें उल्लेखनीय है।

यदि हम तेलुगु विद्वानों की पौराणिक कृतियों का स्मरण न करेंगे तो हम विद्या के साथ अन्याय करेंगे। पाश्चात्य शिक्षा के कारण इस ज्ञान को अछूता छोड़ दिया गया था। विद्वानों ने संस्कृत के पुराणों को अपनी भाषा में अनुवाद करते हुए परम्परा के मार्ग पर तेलुगु साहित्य को परिपुष्ट किया। इस कार्य को सम्पन्न करने वालों में उल्लेख्य आचार्य कृष्ण मूर्ति शास्त्री ने महाभारत का फिर से अनुवाद किया। बी. सुब्बाराव ने रामायण का अनुवाद किया। कड़पा के श्री शेषधारी शर्मा ने 'ब्रह्मानन्द पुराण' का अनुवाद किया। मल्लादि सूर्यनारायण शास्त्री न 'भविष्य पुराण' का अनुवाद किया। इसी प्रकार और भी कई अनुवाद हुए। इसके अतिरिक्त भारत की स्वतन्त्रता का युद्ध महात्मा गान्धी ने अपने कन्धों पर लिया। अपनी संवेदना-शील भावना और आदर्श के प्रति सच्चे आन्ध्र लोगों ने जन समूह को संगठित और सावधान किया, और इस काल की देशभक्ति के गीत प्रतिक्रिया के रूप में रचे गए। 'हम श्वेत

विद्यमान जीवन से लिए गए। दुःख और शोक की भावनाओं को बड़े सुन्दर ढंग से अंकित किया गया। प्रकृति का परम्परागत वर्णन और वर्डसवर्थ के मार्ग पर प्रकृति में दार्शनिकता ढूंढ़ने के कार्य को सुब्बाराव ने आधुनिक तेलुगु कविता में किया। कवि और उसके अनुसरण कर्ताओं पर पश्चिम की प्रवृत्तियों का रोमांटिक प्रभाव पड़ा है। डी. कृष्ण शास्त्री, टी. शिवशंकर शास्त्री जैसे और कई अन्य कवियों द्वारा सुब्बाराव के गीतिकाव्य का अनुसरण किया गया है। विश्वनाथ सत्यनारायण एक अन्य महान् कवि हुए हैं, जिन्होंने देशभक्ति पूर्ण काव्य पर बल दिया। भाव और अभिव्यक्ति को उच्चता प्रदान की।

इस बीच में गद्य और नाटक का विकास तीव्र गति में हो रहा था। पानुगंटि लक्ष्मीनरसिंह राव ने अपने विनोदात्मक निबन्ध 'साक्षी' से अच्छी ख्याति प्राप्त की। सी. आर. रेड्डी ने अपनी कृति 'कविता तत्त्व क्षीरमु' द्वारा उच्चकोटि की साहित्यिक समीक्षा-दृष्टि का परिचय दिया। इस दिशा में श्री बी. शिवराम शास्त्री, आर. अनन्त कृष्ण शर्मा, के. रामकृष्णय्या आदि ने एक अच्छी परम्परा स्थापित की। कई पत्रिकाओं ने जन्म लिया और काल की गोद में चली गईं। अमुद्रित ग्रन्थ 'चिन्तामणि', 'कृष्ण पत्रिका' और 'भारती' अच्छी पत्रिकाओं में गिनी जा सकती हैं, जिनके द्वारा उच्चकोटि के साहित्य का संकलन और सृजन होता है। इनमें प्रथम का तो अब केवल नाम ही शेष रहा है। गद्य में ऐतिहासिक निबन्धों का अपना विस्तृत क्षेत्र है। इस क्षेत्र में के. वी. लक्ष्मणराव ने महान् सेवा की है। उनकी कृतियां 'हिन्दुमहायुगमु' और 'मोहमदिया महा युगमु' ऐतिहासिक साहित्य में अग्रगण्य हैं। एम. सोम-शेखर ने भी इस क्षेत्र में योग्यता से कार्य किया है। तेलुगु में विश्व ज्ञानकोश बनाने का कार्य लक्ष्मणराव ने आरम्भ किया था किन्तु वह अपना कार्य पूर्ण करने से पहले ही चल बसे। २० वीं शताब्दी के प्रथम बीस वर्षों में नाटक बहुत प्रिय हुआ। संस्कृति से अनुवाद के अतिरिक्त तिरुपति कवुलु ने महाभारत के आधार पर उत्कृष्ट नाटक लिख कर मार्ग दर्शन किया। पूर्ण विनोद और विवेकी दृष्टिकोण से पानुगंटि 'साक्षी' नाटक बहुत प्रसिद्ध हुआ। उसने नाटक में संगीत और काव्य को कम करने पर ज़ोर दिया। उसने दुःखान्त और सुखान्त दोनों प्रकार के नाटक लिखे। 'राधाकृष्ण', 'पादुका पट्टाभिषेकमु' उनकी सुन्दर रचनाओं में से हैं। उत्तम नाट्यशाला के होने का सौभाग्य तेलुगु को प्राप्त है। हमारे पास कई श्रेष्ठ अभिनेता हुए हैं। जिन्होंने इस ऐतिहासिक कला की शोभा को बढ़ाया। श्री टी. प्रकाशम्, हरिप्रसाद राव, बेल्लारी राघवाचार्य और संतानम नरसिंह राव का नाम उनमें उल्लेखनीय है।

यदि हम तेलुगु विद्वानों की पौराणिक कृतियों का स्मरण न करेंगे तो हम विद्या के साथ अन्याय करेंगे। पाश्चात्य शिक्षा के कारण इस ज्ञान को अछूता छोड़ दिया गया था। विद्वानों ने संस्कृत के पुराणों को अपनी भाषा में अनुवाद करते हुए परम्परा के मार्ग पर तेलुगु साहित्य को परिपुष्ट किया। इस कार्य को सम्पन्न करने वालों में उल्लेख्य आचार्य कृष्ण मूर्ति शास्त्री ने महाभारत का फिर से अनुवाद किया। बी. सुब्बाराव ने रामायण का अनुवाद किया। कड़पा के श्री शेषधारी शर्मा ने 'ब्रह्मानन्द पुराण' का अनुवाद किया। मल्लादि सूयनारायण शास्त्री न 'भविष्य पुराण' का अनुवाद किया। इसी प्रकार और भी कई अनुवाद हुए। इसके अतिरिक्त भारत की स्वतन्त्रता का युद्ध महात्मा गान्धी ने अपने कन्धों पर लिया। अपनी संवेदना-शील भावना और आदर्श के प्रति सच्चे आन्ध्र लोगों ने जन समूह को संगठित और सावधान किया, और इस काल की देशभक्ति के गीत प्रतिक्रिया के रूप में रचे गए। 'हम श्वेत

चमड़ी का राज्य नहीं चाहते। हे भगवान् हम इस शासन को सहन नहीं कर सकते' यही विषय इन गीतों का आधार था। अल्लूरि सीतारामराजू का एक प्रसिद्ध गीतकाव्य (Ballad) है। जिसम क्षत्रिय नायक ब्रिटिश बन्दूकों के साथ धनुष और बाण से संघष करता है।

इस शताब्दी के बीसवें और तीसवें वर्ष में उपन्यास-साहित्य की भी अच्छी प्रगति रही, अनेक उपन्यास भी मनचाहे रोमांस गाथाओं में लिखे गए। व्यंकट-पार्वतीश्वर कवुलु का नाम इस क्षेत्र में अग्रिम पंक्ति में है। व्यंकट शास्त्री ने अच्छे सामाजिक उपन्यास भी लिखे। निःसंदेह ही स्वर्गीय ब्रापिराजु एक मानवतावादी और उत्कृष्ट कलाकार थे। वे एक उत्तम चित्रकार और सफ़ल कवि भी थे। उन्होंने कई ऐतिहासिक उपन्यासों का प्रणयन भी किया। इस क्षेत्र में श्री सत्यनारायण सबसे विलक्षण पुरुष थे। 'आनन्द प्रशस्ति', कविताओं और 'किन्नरसानि पाटलु' नामक जादू भरे गीत-काव्यों से प्रसिद्धि पाकर सत्यनारायण'की अपूर्व बुद्धि ने साहित्य के क्षेत्रों में भी प्रवेश किया। उन्होंने उपन्यासों का सृजन भी बड़ी विलक्षणता से किया। वे हमारे उन विचारकों में से हैं जो जीवन के लिए प्राचीन भारतीय सामाजिक वातावरण को आदर्श और पश्चिम की आधुनिक आडम्बरावृत्तियों को विड़म्बना मात्र समझते हैं। सत्यनारायण के पास हिमालय जैसी रचना शक्ति और प्रबल कल्पना शक्ति थीं। उनका सर्वोत्तम उपन्यास "वेय्यि पड़गलु" धर्म और संस्कृति का विश्व-कोश (Encyclopedia) है। सौभाग्य से वे अभी भी हमारे बीच विद्यमान हैं, और कविता, उपन्यास, नाटक आदि से तेलुगु साहित्य की अभिवृद्धि कर रहे हैं। "रामायण कल्पवृक्ष" नामक ग्रन्थ अत्यधिक विचार प्रेरक है। "पीछे देखो" सन्देश में उन्होंने कुछ भी छिपा कर नहीं रखा है।

द्वितीय युद्ध में और उसके पश्चात् उपन्यास साहित्य और प्रौढ़ हुआ। सामाजिक और ऐतिहासिक विषय अप्रचलित हो चले थे। मनोवैज्ञानिक उपन्यास, समस्या प्रधान उपन्यास और विरोधी मान्यताओं पर आधारित उपन्यास, यह सब प्रिय विषय थे। गोपीचन्द्र की "असफल मनुष्य के जीवन की कहानी" चिट्टी बाबू का "अन्त में जो रहता है केवल वह है," एम. राममोहन का "रथ चक्रवुलु" कुछ तत्कालीन प्रवृत्तियों का आभास देते हैं। पाठक को लेखक निम्न श्रेणी के संसार में ले जाता है और वह ऐसा चित्रण कर डालता है कि कभी कभी हमें बस कहना पड़ता है।

रीतिरिवाज और परम्परा के प्रति विद्रोह को भी बहुत दूर तक ले जाया गया था। इस प्रवृत्ति ने विश्वयुद्धों के मध्य में जन्म लिया। मधुकृष्ण ने अपने नाटक 'अशोकमु' और गड़ीपति व्यंकटाचलम ने अपने कई लेखों में भारतीय नारीत्व के अनेक प्राचीन आदर्शों को आह्वान किया है। सीता और सावित्री का बहुत विकृत रूप भी चित्रित किया गया। कुछ भी हो इससे समाज को बहुत आघात पहुँचा और यह प्रवृत्ति समाज-विमुख होने के कारण शीघ्र ही समाप्त हो गई। रामपुरतु देवलुपल्ली और कई अनेक कवियों की मानवतावादी, बौद्धिक और कोमलकान्त पदावली के विरुद्ध इस सदी के तीसवें वर्ष के आरम्भ में ही एक प्रबल विद्रोह खड़ा हो गया। इसकी पृष्ठभूमि दो युद्धों के मध्य और उसके पश्चात् की भारतीय समाज की शोचनीय स्थिति थी। महात्मा गान्धी जी के नेतृत्व में राजनीतिक संघर्ष अपनी तीव्रता के साथ चरम बिन्दु पर था। यह 'मरने या करने' का समय था। राष्ट्र उद्विग्न था और शासक अपना पाशविक दबाव डाल रहे थे। समाज चाहता था कि जीवन की यातनाओं से मुक्ति मिले।

कृषक और मज़दूर सामने आए। ललित कला प्रेमी मध्यश्रेणी को पीछे ढकेला गया। साम्यवादी विचारधारा ने ग़रीब के लिए साहित्य में एक नया पृष्ठ पलटा। यह आन्दोलन जो कि स्पष्टतया अखिल भारतीय है 'प्रगतिशील' साहित्य के नाम से प्रसिद्ध हुआ। तेलुगु में 'अभ्युदय कवित्वमु' विशेष कर इसलिए आलोचना का विषय बन गया क्योंकि वह वर्तमान की अपेक्षा भूत और भविष्य तथा स्वप्निल आदर्शवाद में ही सीमित रहा और उसने आज की समस्याएँ बिलकुल ही छोड़ दी। प्रगतिवादी लेखकों ने ऐसे साहित्य का बड़ा विरोध एवं तिरस्कार किया। प्रगतिशील कवि-समुदाय का आन्ध्र में श्री श्रीरंगम श्रीनिवासराव जी 'श्री श्री' के नाम से अधिक प्रसिद्ध हैं, ने ही प्रतिनिधित्व किया। अपने काव्यसंग्रह 'महाप्रस्थानम्' में उन्होंने दृष्टिकोण में भारी परिवर्तन के लिए अपील की है। उनका कहना है कि जनता की क्रान्ति के लिए व्यापी पुकार ही युद्ध की घोषणा प्रतीत होती है। उनकी कविता में बड़ी से बड़ी वस्तुओं से मामूली-सी दियासलाई की बत्ती, साबुन की टिक्कीया कुत्ते का पिल्ला भी बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका में आतें हैं। लेखकों की नई पीढ़ी 'श्री श्री' से काफ़ी प्रभावित हैं और वह उनका अनुकरण भी कर रही है। उनके कथनानुसार प्रगतिवादी सच्चे इन्सान हैं और उनका दृष्टिकोण अन्तर्राष्ट्रीय एवं व्यापक है। तेलंगाना 'पुलिस एक्शन' के पश्चात् जाग उठा है। इस क्षत्र के कवि दशरथी, कालोजी, पोटलपल्ली जनता की आशा के संदेशवाहक हैं। जनता की भूख और विवशता के प्रति वे सजग हैं। मानवीय प्रेम और सद्भावना के वे पक्षपाती हैं। इस प्रकार की ठोस निर्माणकारी कविता में तेलंगाना के श्री सी. नारायण रेड्डी विशेष रूप में अग्रणीय हैं।

आज का तेलुगु साहित्य अन्य उन्नत साहित्यों की श्रेणी में गर्व के साथ खड़ा रह सकता है। उसमें साहित्य की समस्त आधुनिक प्रवृत्तियों पर पर्याप्त प्रयोग और सृजन कार्य हुए हैं। उसमें उत्कृष्ट अनुवादों को भी प्रचुरता से देखा जा सकता है और तेलुगु-साहित्य के अनेक ग्रन्थों का अनुवाद भी भारतीय और विश्व की अन्य भाषाओं में उपलब्ध है। रूसी और अंग्रेज़ी के तो अनेक ग्रन्थों के अच्छे तेलुगु अनुवाद उपलब्ध हैं। मराठी और कन्नड़ के कई प्रसिद्ध उपन्यासों के अनुवाद हो चुके हैं। मराठी के प्रसिद्ध सन्त ज्ञानेश्वर का अनुवाद रानी ललिता देवी द्वारा हुआ है। उर्दू और फ़ारसी साहित्य का तो तेलुगु से अभिन्न सम्बन्ध है, और उनके मध्य खूब आदान प्रदान हुआ है। तेलुगु के कतिपय मासिक और पाक्षिक पत्र सृजनात्मक योग दे रहे हैं। इस विहंगावलोकन से यह स्पष्टतः विदित होगा कि तेलुगु साहित्य की आधुनिक गतिविधियां सृजनात्मक प्रवृत्तियों की ओर व्यापक रूप से अभिमुख हैं।

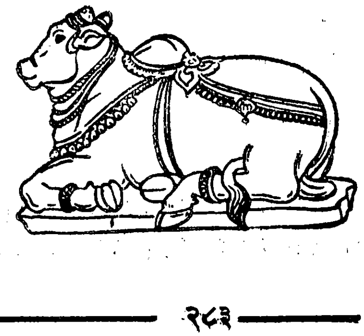

के. लक्ष्मीरंजनम्
अध्यक्ष, तेलुगु विभाग
उस्मानिया विश्वविद्यालय, है. द.

तेलुगु की आधुनिक काव्य धारा

अन्य भारतीय साहित्यों के समान, तेलुगु साहित्य का उत्थान काल ११ वीं शती के आरंभ से होता है।

नन्नय भट्ट तेलुगु के सर्व प्रथम महाकवि माने जाते हैं। इन्होंने 'आन्ध्र शब्द चिन्तामणि,' 'चामुण्डिका विलासमु' आदि ग्रन्थ लिखे किन्तु इनकी कीर्ति का शिलास्तम्भ तो संस्कृत महाभारत के प्रथम दो सर्गों का अनुवाद है। परिष्कृत एवं प्रवाहयुक्त शैली में इन्होंने अरण्यकाण्ड के आधे भाग तक अनुवाद किया। दीर्घ समासरचना, परिपुष्ट शैली, ध्वनि प्रधानता (अक्षर रम्यता) इनकी देन हैं। एक उदाहरण देखिए :—

"बहुवन पादपाब्धिकुल पर्वतपूर्ण सरस्सरस्वती
सहित महामही भर मजस्र सहस्र फणालि दाल्चि दु
स्सहतर मूर्तिकिन् जलधिशाइकि बायक शय्ययैन य
य्यहिपति दुष्कृतान्तकु डनन्तुडु माकु प्रसन्नु डय्येडुन् ॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि तेलुगु-साहित्य के प्रारंभ काल में ही शैली, भाषा इत्यादि सभी अंग पूर्णावस्था को पहुँचे हुए हैं जिन्हें देखकर यह कहना भ्रामक सा प्रतीत होता है कि तेलुगु साहित्य का उद्भव

एकदम ११वीं शती में हुआ। यह असंभव है कि किसी भाषा के प्रारंभ काल में ऐसी परिष्कृत भाषा हो और एक स्टैंडर्ड व्याकरण की भी रचना हो। अतः विद्वानों का कर्तव्य है कि नन्नय के पूर्व के लुप्त प्रायः साहित्य को प्रकाश में लाए।

इस युग में —(यह युग १००१ से १२०० तक माना जाता है)—पाल्कुरिकि सोमनाथुडु नामक महाकवि ने, तेलुगु के देशी छन्द द्विपदा में " बसव पुराण' की रचना की है।

पुराण, विपुल काव्य, प्रबन्ध, द्विपदा, शतक आदि कविता के विविध प्रकारों की रचनाए इसी युग में प्रस्तुत की गई।

द्वितीय युग (१२०१ से १३८० तक) में तिक्कन्ना नामक महाकवि ने महाभारत के शेष १५ सर्गों का अनुवाद बड़े ही सुन्दर ढंग से उपस्थित किया है। स्व० के० वी० लक्ष्मणराव ने तिक्कन्ना के महाभारत अनुवाद के बारे में लिखा है कि "संस्कृत-महा-भारत स्वर्ण-भण्डार है। आन्ध्र भारत, उस भण्डार में से पर्याप्ति स्वर्ण लेकर, कुशलता पूर्वक बनाया हुआ स्वर्ण कमल के समान है"। "विराट पर्व" और "उद्योग पर्व" में तिक्कन्ना के कविता की चरम सीमा है। जाति को संगठित कर, बाह्य आक्रमणों का सामना करने के लिए उत्तेजित करना, भेद भाव का अंत कर एकता स्थापित करना, काव्य में तेलुगु भाषा का स्वयं अस्तित्व निरूपित करना आदि इनकी विशेषताएँ हैं।

एर्राप्रगड्ड नामक कविने नन्नय द्वारा अधूरे रूप में छोड़े गए अरण्य पर्व की पूर्ति की है। इनकी रचना ने नन्नया और तिक्कन्ना के कविता प्रवाह को ऐसे सुन्दर रूप से मिला दिया कि कुछ अन्तर ही नहीं जान पड़ता। महा भारत के अनुवाद करने वाले इन तीन कवियों को कवित्रय कहते हैं।

अबतक की अधिकांश रचनाएँ मौलिक नहीं हैं किन्तु शैली के कारण ऐसा दिखाई पड़ती हैं कि कवि के स्वयम् कल्पनाजात ही हैं।

तीसरे युग में (१३८१ से १५०० तक) महा कवि श्रीनाथ और भक्तवर पोतन्ना विख्यात हैं। प्रबल प्रतिभायुक्त और विलासी कवि श्रीनाथ ने तेलुगु के एक देशी छन्द-सीस पद्यमु को इतना चमका दिया कि उनके नाम के साथ वह छन्द भी अनायास स्मरण में आ जाता है। इन्होंने अनेक पुस्तकें लिखी हैं। आन्ध्र देश के प्रत्येक राजा के दरबार में इनकी कीर्ति व्याप्त थी। ये "कर्णाटक क्षितिपाल मौक्तिक सभागारान्तरा कल्पित, स्वर्णस्नान जग प्रसिद्ध कवि" हैं। इनकी अन्तिम दशा बड़ी दुःखद व्यतीत हुई। इनके प्रसिद्ध पद्य, अपनी अन्तिम दशा के बारे में, निम्नलिखित है।

"कविराजु कण्ठम्बु गौगलि चेगदा
 पुरवीधि नेदुरेंड बोगडदण्डा।
सार्वभौ मुनि भुजास्तंभ मेक्केनु गदा
 नगरि वाकिट नुण्डु नल्ल गुण्डु।
वीरभद्रारेड्डी विद्वांसु मुंजेत
 वियमंदे गदा वेदुर गोडिया।
आन्ध्र नैषध कर्ता यन्घ्रि युग्मंबुना
 दगिलियूंडे गदा निगळयुगमु

कृष्णवेणम्मा गोनिपोए निन्त फलमु
बिलबिलाक्षुलु दि॰नपोये दिललु, बेसलु
बोड्डुपल्लेनु गोड्डेरी मोस पोति
नेडु चेल्लिन्तु इंकम्बु लेडु नूर्लु ?
कलियुगम्बुन निकनुण्ड कष्टमनुचु
दिवज कवि वरू गुण्डियल दिग्गुरनगा
नरुगु चुन्नडु श्रीनाथु डमर पुरिकि ॥

द्विपदा में लिखा गया "पल नाटि वीर चरितमु" इनका वीर रस पूर्ण काव्य है ।

इस कवि सार्वभौम श्रीनाथ के बहनोई थे श्री पोतन्ना, तेलुगु साहित्य के अमर कलाकार, जिनकी तुलना हिन्दी साहित्य में गो० तुलसीदास से की जा सकती है। श्रीमद् भागवत का तेलुगु में अनुवाद कर ये स्वयं अमर बन गए और तेलुगु भागवत को भी अमर बना दिया। मूल ग्रन्थ से अनुवाद छः गुना बड़ा है। शैली, वर्णनों की सजीवता, मनोभावों का मर्मस्पर्शी चित्रण आदि में इनका ग्रन्थ अनुपम है। इनकी रचना स्वान्तः सुखाय है। इन्होंने लिखा।

"पलिकेडिदि भागवतमट,
पलिकिंचेडि वाडु राम भद्रुन्डटने,
पलिकिन भवहरमगुनट,
पलिकेद वेरोंडु गाथा पलुगानेला ?

इन्होंने अपने काव्य को किसी राजा को समर्पित नहीं किया। उनका कहना है :—

बाल रसाल साल नव पल्लव कोमल काव्य कन्यकन्
कूलकिचि यप्पडुपु गूडु भुजिचुट कन्टे
सत्कुलु हालिकुलैन नेमि ? गहनान्तर सीम्ल कन्दमूल कौ
दालिकुलैन नेमी ? निजदारा सुतोदर पोषणार्थ मै।

उत्तर भारत में वल्लभ संप्रदाय के प्रचलन के अर्धशती पूर्व ही पोतन्ना ने भागवत का अनुवाद कर, भगवान की लीलाओं के गान का श्री गणेश किया।

तत्पश्चात् हम रायल युग में (१५०१ से १६५० तक) प्रवेश करते हैं। महाराज श्रीकृष्ण देवराय विद्यानगर के बड़े प्रतापी राजा एवं कवि थे। उन्होंने 'आमुक्त माल्यदा' नामक प्रबन्ध काव्य की रचना की है। स्वयं कवि होने की अपेक्षा कवि पोषक होने के नाते ये साहित्य में विशेष स्थान के अधिकारी हैं। इनके दरबार में 'अष्टदिग्गज' के नाम से आठ प्रसिद्ध कवि थे, जिनमें अल्लसानि पेद्दन्ना सर्व श्रेष्ठ माने जाते हैं। इनका लिखा हुआ 'मनु चरित्र' तेलुगु पंचकाव्यों * में उत्कृष्ट माना जाता है। यद्यपि काव्य के द्वितीय सर्ग में श्रृंगार की सीमा है। तथापि चरित्रचित्रण, प्रकृति का मनमोहक वर्णन शब्द चयन आदि में यह काव्य अपना सानी नहीं रखता। प्रवाह देखिए :—

*पंचकाव्य :—मनुचरित्र, वसुचरित्र, राघव पांडवीयमु, प्रभावती प्रद्युम्नमु, और कलापूर्णदयमु हैं।

४

अट जनिगांचे भूमिसुरु डम्बर चुम्बिशिरस्सरझरी
पटल मुहुर्लुठद भंगतरंग मृदंग निस्वन
स्फुट नटनानुकूल परिफुल्ल कलापकलापि जालमुन्
गटक चरत्करेणु करकंपित सालमु शीत शैलमुन्।

इन्हें आन्ध्र प्रबन्ध कविता के पितामह कहते हैं।

रामराज भूषण का लिखा हुआ वसु चरित्र, धूर्जटि कवि का लिखा हुआ 'काल हस्तोश्वरा शतकमु' नन्दितिम्मन्ना का 'पारिजाता पहरण' आदि प्रसिद्ध काव्य हैं। पिंगली सूरन्ना का लिखा 'कला पूर्णोदय' अपनी स्वतंत्र कल्पना के लिए विशेष स्थान रखता है।

इस युग की और एक विशेषता है कि मुसल्मान राजाओं ने तेलुगु काव्य रचना के लिए प्रोत्साहन दिया जिनमें विशेष प्रसिद्ध 'मुहम्मदशाह' (गोलकुण्डा) और 'मलिक भराम' हैं।

लक्षण ग्रंथ भी विशेष लिखे गए। नीति काव्य के लिए वेमन्ना पद्यमुलु हैं इन्हें कबीर के समान माना जा सकता है। दोनों उपदेशक और धर्मसुधारक मुख्य रूप से कवि गौण रूप से हैं। दोनों की रचनाओं में भावसाम्य इतना पाया जाता है कि पढ़ते-पढ़ते आश्चर्य सा होने लगता है। उदाहरण के लिए देखिए :—

"हिन्दू कहै मोहि राम पियारा, तुरुकन कहै रहिमाना,
आपुस महँ दोड लरि लरि मुए, मरम कादु न जाना"।। (कबीर)
"शैव वैष्णवादि षण्मतम्बुलकेल्ल देवुडोक्कडनुचु तेलियले रू
तमकु भेदमैन तत्वम्बु भेदमे, विश्वदाभिराम विनुर वेमा।" (वेमन्ना)
"केसन कहा बिगारिया, जो मूंडे सौ बार"। (कबीर)
"तलुलु बोडुलैना, तलपुलु बोडुलौना"। (वेमन्ना)

इसी युग में मोल्ल नामक कुम्हार युवती का लिखा 'मोल्ल रामायणमु' अपनी सरस शैली के लिए प्रसिद्ध है।

तत्पश्चात् तेलुगु काव्य का रंगमंच मुख्य रूप से तञ्जाऊर में केन्द्रित हुआ। तञ्जाऊरतीका 'सरस्वती महल' पुस्तकालय संसार प्रसिद्ध है। समुखमु वेन्कटकृष्णानायुडु, मुधुपलीन, चेमकूर वेंकटकवि आदि प्रसिद्ध कवि हैं। राज दरबार छिन्न भिन्न हो गए थे। कविता जमींदारों और धनिक लोगों के आश्रय में पलने लगी। इस युग में चमत्कार प्रद्धर्शन ही कवियों का मुख्य लक्ष्य रहा अतः उच्च तेलुगु (ठेठ तेलुगु) काव्य, द्वयर्थि और त्र्यर्थि काव्य अधिक लिखे गए। इस युग में श्रृंगार काव्यों की संख्या भी पर्याप्त रही है। इसी युग में तेलुगु पद कविता के प्रसिद्ध कवि क्षेत्रय्या और संगीत कळानिधि त्यागराजु का जन्म हुआ। क्षेत्रय्या के पद श्रृंगार की भावनाओं से ओतप्रोत हैं किन्तु उनमें भगवान के प्रेम तन्मय भक्त के हृदय के ही दर्शन होते हैं।* त्यागराजु की रचनाएं भक्ति पूर्ण, सरल और साधु हृदय के पवित्र उद्गार हैं

* ये पद अभिनय नाट्य के लिए बड़े ही उपयुक्त हैं।

जो संगीतज्ञों के कण्ठहार हैं। 'निधि चाल सुखमा, रामुनि सन्निधि चालत सुखमा' रामय्या मा तंड्रि, सीतम्मा मा यम्मा' शिवमंत्र मुनुकु राबीजमु, माधवमंत्रमुनुकु, मा बीजमु, 'भक्तिविना संगीत ज्ञानमु' आदि आपके प्रसिद्ध भक्ति पूर्ण पद् हैं। इन्हें तेलुगु में 'कृतुल' कहते हैं। कर्णाटक संगीत में त्यागय्या की कृतियों का महत्वपूर्ण स्थान हैं। तमिल प्रान्त में रहकर इन्होंने अपनी मातृभाषा में रचनाएँ की है। इनकी तुलना सूर दास से की जा सकती है।

आन्ध्र साहित्य के प्राचीन युग की काव्यधारा के तिक्कन्ना, पोतन्ना और त्यागय्या मूर्तित्रय हैं।

प्राचीन तेलुगु कविता प्रबन्ध प्रधान होती थी। कई वर्षों की सतत साधना के बाद ही कविगण उद्ग्रन्थों के निर्माण में सफल हो पाते थे। कविता राजाश्रित होती थी और दीर्घ समासयुक्त और संस्कृत पद बहुला भाषा का प्रयोग करना गौरव का विषय माना जाता था। किन्तु ऐसे युग में सामान्य जनता के लिए भी काव्य ग्रन्थों का प्रणयन हुआ। जैसे 'बसवपुराणमु' 'पलनाटि वीर चरितमु' आदि। रायलु युग तक आते आते तेलुगु कविता की चरमोन्नति हुई। उस युग को स्वर्णयुग माना जाता है। तदुपरान्त काव्य की गति मानों रुक सी गई। नवीनता एवं मौलिकता बिलकुल अदृश्य सी होगई। कवि-गण अपने पूर्ववर्ती कवियों की रचनाओं का अनुसरण करते थे। रचना चमत्कार, अलंकारों की प्रचुरता, आदि काव्य के कला पक्ष की ओर ही अधिक ध्यान दिया गया। आधुनिक युग में आकर एकदम क्रांति के दर्शन होते हैं।

अब हम आधुनिक युग में प्रवेश करेंगे। तेलुगु साहित्य में आधुनिक युग उन्नीसवीं शती के उत्त-रार्थ से आरंभ होता है। इसे हम, हिन्दी के समान, गद्यकाल नही कह सकते। कारण यह कि तेलुगु में चम्पू काव्यों का प्रणयन आरम्भ से ही दिखाई पड़ता है। नन्नया आदि कवियों की रचनाओं में ही धारायुक्त 'वचन' का प्रयोग मिलता है।

१८५७ के सैनिक विद्रोह के पश्चात् ब्रिटिश शासन भारत में दृढ़ता के साथ स्थापित हो चुका था। उसके अनन्तर अंग्रज़ी विद्या का प्रचार बढ़ा। जीवन-निर्वाह के लिए अंग्रेज़ी की शिक्षा अनिवार्य-सी हो गई। कुछ विद्या-प्रेमी, वहीं न रुक कर, इंग्लैण्ड आदि यूरोपीय देशों की यात्रा कर, वहां के विचारों व संप्रदायों को, अपन साथ, देश में लाए। उन विचारों से, तत्कालीन साहित्य पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। पाश्चात्य विचार धाराओं के ने देश के नवयुवकों को प्रभावित किया। समाज पर इस का प्रभाव लक्षित होता है। शेली, कीट्स, बाइरन, वर्डस्वर्थ आदि प्रसिद्ध अंग्रेज़ी कवियों की रचनाएँ चाव से पढ़ी जाने लगीं। आधुनिक युग का सबसे प्रभावोत्पादक साधन, समाचार पत्र है।

आधुनिक युग म भारत के सभी प्रान्तों में इसका प्रचलन हुआ। इनमें सामयिक सामाजिक प्रथाओं और साहित्यिक परंपराओं पर आलोचनाएँ और प्रत्यालोचनाएँ छपती थीं। राजनैतिक प्रचार के लिए भी ये उपयोगी अंग सिद्ध हुए।

आधुनिक युग के प्रारंभ में कांग्रेस का आन्दोलन शुरू हुआ। कांग्रेस द्वारा संचालित सत्याग्रह और असहयोग आन्दोलन सर्वप्रथम आन्ध्रप्रदेश में ही आरंभ हुए, साइमन कमीशन को सर्वप्रथम काला झण्डा दिखाने का सौभाग्य भी आन्ध्रों ही को है। बीसवी शती के आरम्भ से ही आन्ध्रों की अपने प्रत्येक राष्ट्र के

लिए मांग जारी रही इस राजनैतिक जागृति के कारण प्राचीन गौरव के गुणगान तथा आधुनिक परि-स्थितियों को लेकर राष्ट्रीय भावों से पूर्ण कविताएँ लिखी जाने लगीं ।

शान्तिनिकेतन में विश्वकवि रवींद्र की छत्रछाया में अध्ययन कर, वंगीयसाहित्य से प्रेरणा प्राप्त कर, कुछ नव युवक कविता-गान लिखने लगे ।

अंग्रेजी राज्य के स्थापित होते ही ईसाई पादरी अपने धर्म का प्रचार डट कर करने लगे । हिन्दू धर्म की प्रथाओं और उसके आचार-विचारों का मज़ाक उड़ाया जाने लगा । इस प्रकार अपने धर्म को आहत होते देखकर कुछ लोगों ने इसका प्रबल विरोध किया । स्वाभी दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द, राजा राममोहन राय आदि इस आन्दोलन के प्रमुख नेता हैं। स्वामी दयानन्द ने वैदिक सिद्धान्तों को लेकर आर्यसमाज की स्थापना की तो राजा राममोहन राय ने समन्वय की दृष्टि से ,इस युग की परिस्थितियों को देखते हुए ब्रह्मसमाज की स्थापना की । इस धार्मिक जागृति ने साहित्य को भी प्रभावित किया । इसी समय रूसो आदि पाश्चात्य विचारकों का प्रभाव भी इन पर पड़ा । तेलुगु साहित्य में इस सामाजिक एवं धार्मिक आन्दोलन से उत्तेजित होकर, व्यक्ति स्वातन्त्र्य, स्त्री स्वातंत्र्य अन्ध विश्वासों का विरोध आदि क्रान्तिकारी विचारों को लेकर अग्रसर होने वालों में श्री कन्दुकूरी वीरेशलिंगम पन्तुलु प्रमुख हैं ।

तेलुगु साहित्य के आधुनिक युग के प्रारम्भ काल में दो अंग्रेज महानुभावों की सेवाएँ चिरस्मरणीय हैं । सी. पी. ब्राउन महाशय आन्ध्र प्रान्त में ५० वर्ष तक कलेक्टर के पद पर रहे । इन्होंन अत्यधिक परिश्रम कर तेलुगु की अनेक अमुद्रित एवं जीर्ण प्रायः पुस्तकों का उद्धार किया । सर्वप्रथम तेलुगु भाषा का कोष बनाने का श्रेय इन्हें हैं । विदेशियों के लिए तेलुगु सिखान के लिये इन्होंने स्वयं एक व्याकरण बनाया । इनके सहायकों में श्री जूलिरि अप्पय्या, श्री गुरुमूर्ति शास्त्री आदि थे । इनके बाद, उस समय भारतवर्ष के सर्वेयर जनरल, करनल कालिन मकंजी का नाम आता है । गांव-गांव घूम कर प्राचीन पुस्तकों का उद्धार कर लुप्त इतिहास को प्रकाश में लाना एवं लुप्त नामा कवियों की रचनाओं को प्रकाशित करना इनका प्रिय विषय रहा है । इनके प्रधान सहयोगी श्री कावली वेंकट बोरैय्या थे ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक युग की सभी प्रवृत्तियों का सम्यक् प्रभाव तेलुगु साहित्य पर पड़ा । आधुनिक युग में साहित्य के सभी अंगों की पूर्ण उन्नति हुई । इस लेख में केवल कविता के विकास के इतिहास पर प्रकाश डाला जाएगा ।

आधुनिक युग के हम दो मोटे विभाग कर सकते हैं । प्रारंभिक युग (१८५० ता १९००) और नवीन युग (१९०० से अबतक)

श्री कन्दुकूरि वीरेशलिंगम पन्तुलु, श्री गुरजाडा अप्पाराव, श्री गिडुगु राममूर्ति जी प्रारंभिक युग के मूर्तित्रय के सम हैं ।

श्री वीरेशलिंगम् 'नवयुग निर्माता' के नाम से प्रख्यात हैं । वे मुख्य रूप से समाज–सुधारक हैं । अपने सुधारवादी विचारधारा को सामान्य जनता तक पहुंचाने के लिए उन्होंने क़लम का आश्रय लिया । स्त्रियों की दु:स्थिति देखकर उनका हृदय पिघल गया । बाल्य–विवाह और बहुविवाह को रोकने का प्रयत्न करते हुए विधवाओं एवं वेश्याओं का उद्धार करने के लिये उन्होंने अथक परिश्रम किया । उन्होंने स्त्रियों

के उद्धार के लिए "पतित युवती रक्षणशाला' नामक एक संस्था की स्थापना की। जनता को अपने विचारों से जागृत करने के लिये उन्होंने जन सामान्य की बोली का ही उपयोग किया। इस व्यावाहारिक बोली में उन्होंने तेलुगु का प्रथम उपन्यास, प्रथम नाटक, प्रथम प्रहसन, प्रथम लघु कथा की रचना की। इन्हें तेलुगु के नवीन-साहित्य के पिता कहा जाए तो कोई अत्युक्ति न होगी। हिन्दी-साहित्य में जो स्थान भारतेंदु को दिया जाता है, तेलुगु में उस स्थान के लिए आप पूर्ण अधिकारी हैं। इन्होंने गद्य के सभी अंगों पर लिखना आरम्भ किया। 'विवेकवर्धिनी', हास्य रस संजीवनी', 'सतीहितबोध' नामक पत्रिकाओं को चलाया जिनमें सामाजिक दुष्प्रथाओं पर कड़ा व्यंग्य कसा जाता था। अनेक अंग्रेजी, संस्कृत ग्रन्थों का अनुवाद किया। 'अभिज्ञान शाकुन्तल' का गद्य-पद्य में अनुवाद किया जो पर्याप्त प्रसिद्ध है। प्राचीन आन्ध्र साहित्य पर अनुसन्धान कर "आन्ध्र कवुल चरित्रमु" प्रकाशित किया है जो आज भी स्टैंडर्ड माना जाता है।

इनका समय १८४८ से १९१९ तक है।

पंतुलु जी से प्रभावित होकर साहित्य-क्षेत्र में पदार्पण करनेवालों में श्री गुरजाड़ा अप्पाराव मुख्य हैं। समाज -सुधार और राष्ट्रीय भावनाओं को, व्यावहारिक भाषा में, काव्य रूप देने वालों में आप का स्थान सर्वप्रथम है।

"देश मंटे मट्टि का दोयि,
देश मंटे मनुषुलोयि।"
"देशाभिमानं नाकु कद्दनि वट्टि गोप्पलु चेप्पकोयि
पूनि येदैन मेलु जनुलकु कूर्चि चूपवोयि।"
"मंचि अन्नदि माला अयिते
नेनु गूडा मलानवुतानोयि।"

आदि इनके प्रसिद्ध गेय पद हैं। इन पदों से देश का कोना कोना गूंजा करता था। इनके पद "मुत्यालसरस्लु' एवं 'नीलगिरिपाटलु' नामक पुस्तकों में संगृहीत हैं। 'कन्याशुल्क' नामक नाटक इनकी कीर्ति का प्रकाशस्तम्भ है जिसमें इन्होंने तत्कालीन समाज पर चुभता व्यंग्य किया है। उक्त नाटक का नायक 'गिरीशमु' आन्ध्रों में प्रसिद्ध पुरुष बन गया है। इनकी भाषा व्यावहारिक थी जिसमें प्रयास गन्ध नाममात्र को भी नहीं है। इन्हें नवयुग का 'महाकवि' कहते हैं।

इनका समय १८६१ से १९१५ तक है।

पंडितों के हाथों में पड़कर कृत्रिम बनी हुई भाषा को मुक्त कर, उसे जन सामान्य के सामने लाने का श्रेय श्री गिडुगु राममूर्ति पन्तुलु को है। व्यवहारिक भाषा की उपयोगिता एवं सरसता को निरूपित करने के लिये इन्होंने 'तेलुगु' पत्रिका का संचालन एवं संपादन किया।'बाल कवि शरण्यमु' 'गद्यचिन्तामणि' 'आन्ध्र पंडित भिषक्कुल भाषा भेषजमु' आदि इनकी रचनाएँ हैं। इनकी रचनाओं का इतना महत्व नहीं है, जितना कि व्यावहारिक भाषा के आन्दोलन का इनका ध्येय था। ग्रान्थिक-पंडिताऊ-भाषा का निराकरण कर जन सामान्य की भाषा को प्रोत्साहन देना इसके लिए इन्होंने अनेक सभाएँ कीं, अनेकों भाषण दिए।' 'वर्तमानान्ध्र भाषा प्रवर्तक समाज' की स्थापना की। *

*इन्होंने स्वरों के लिए कोष और व्याकरण का निर्माण किया है।

इनका समय १८६३ से १९४० तक है ।

'विज्ञान चन्द्रिका ग्रन्थमाला' नामक प्रकाशनों के संचालक श्री कोमराजु लक्ष्मणराव को यहां स्मरण किए बिना नहीं रहा जा सकता । हैदराबाद में प्रमुख पुस्तकालय–श्री कृष्णदेव राय आन्ध्र भाषा निलयमु, सुलतान बाजार––की स्थापना करने वालों में आपका प्रमुख स्थान है । "आन्ध्र विज्ञान सर्वस्वमु" (Encyclopaedia) का संपादन करते-करते काल कवलित हो गए । आप ग्रान्थिक भाषा के पक्षपाती थे ।

इनका समय १८७७ से १९२३ तक है ।

इस युग में "आन्ध्र पत्रिका' और 'भारती' के स्थापक विश्वदाता काशीनाथुनि नागेश्वर राव का विशिष्ट स्थान है । 'अमृतांजन' की आमदनी को इन्होंने इधर साहित्यिक और राजनीतिक क्षेत्र में व्यय कर दिया । 'आन्ध्र पत्रिका' के द्वारा राजनैतिक और सामाजिक समस्याओं और 'भारती' द्वारा साहित्यिक और शास्त्रीय समस्याओं को जनता के सामने उपस्थित किया । 'गीता' की इनकी व्याख्या पर्याप्त प्रसिद्ध है ।

'हरिकथा कालक्षेपमु' को नवीन पद्धतियों पर आरम्भ करने वाले श्री आदि भोट्टल नारायणदासु भी यहां स्मरणीय हैं ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रारम्भिक युग, सच्चे अर्थों में तैयारी का युग था, नवचेतना एवं नव जागृति का युग था, जिसकी क्रोड़ में पलकर नवीन युग परिपुष्ट होकर जनता के सामने आया ।

इस नवीन युग को तीन कालों में विभाजित कर सकते हैं । प्रथम उत्थानकाल १९०० से १९२० तक, द्वितीय उत्थान काल १९२० से १९४० तक और तृतीय उत्थान काल १९४० से अबतक प्रत्येक काल की विशेषताओं एवं उस युग के प्रमुख कवियों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जाएगा ।

बीसवीं शती के प्रथम भाग में, जैसे ऊपर बताया जा चुका है, एक नवीन चेतना की लहर सारे देश में फैल गई । समाज सुधार, राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय विचारों का प्रभाव, इन सबसे साहित्य संसार विचालित था । श्री वीरेशलिंगम्, श्री राममूर्ति और श्री अप्पाराव की बोलचाल भाषा की ओर जनता दिनोंदिन झुक रही थी । श्री वेंकटरत्नम् पन्तुलु और श्री नागेश्वररावजी की ग्रान्थिक भाषा को जोर कम होता जा रहा था । भाषा-शैली, काव्य-विषय आदि में बहुत परिवर्तन आ रहा था ।

काँग्रेस के आन्दोलन द्वारा देश की दुःस्थिति की ओर युवकों का ध्यान आकर्षित हुआ । वे चाहते थे कि देश की सामान्य जनता भी इस भावना का अनुभव करे । इस कार्य के लिए उन्होंने कलम की सहायता ली । गुरजाडा अप्पाराव के गीत प्रसिद्ध हैं । राष्ट्रीय भावनाएँ, प्राचीन गौरव का गुणगान आदि सामयिक कविताओं के मुख्य विषय थे ।

ऐसे समय में प्राचीन और अर्वाचीन पद्धतियों का समन्वय कर चलने वालों में श्री तिरुपति वेंकट कवुलु अग्रगण्य हैं । कविता को जन सामान्य के सम्मुख लाकर, जनता के हृदयों को काव्य माधुर्य से

विहल करनेवाले ये कवियुग्म हैं। इन्होंने नगर-नगर में शतावधान और अष्टावधान कर कविता को राज दरबारों और पंडित समाज के कारागार से मुक्त कर सामान्य जनता को प्रभावित किया।

इस युग्म में एक कवि का नाम श्री दिवाकला तिरुपति शास्त्री और दूसरे का नाम चेळपिल्ल वेंकटशास्त्री हैं। य दोनों श्री चल ब्रह्मय्या शास्त्री के शिष्य थे। गुरु दक्षिणा के रूप में इन्होंने प्रतिज्ञा की थी कि हम दोनों मिलकर ही कविता करेंगे, और तब से तिरुपति वेंकटकवुलु के नाम से कविता करने लगे। जब तिरुपति शास्त्री का देहान्त हुआ, वेंकटशास्त्री ने लिखना छोड़ दिया। वेंकट शास्त्री मद्रास सरकार द्वारा निर्वाचित सर्वप्रथम राजकवि थे। इनके समय में आन्ध्र देश का नगर नगर इनके अवधानों से गूँजा करता था। इन्होंने लिखा

एनुगु नेक्किनामु धरणींद्रुलु म्रोक्कग निक्किनामु स
न्मानमु लंदिनामु बहुमानमु लंग्रहिंचिनारमु मे
व्वनिनि लक्ष्यपेट्टक निवारण दिग्विजयं बोनर्चि प्र
ज्ञानिधु लंचु पेरुगोनि नारमु नीवलनन् सरस्वती !

कविता पर, जनता में अभिरुचि पैदा करनेवालों में आप सर्वप्रथम हैं।

इनका लिखा हुआ 'भारत उद्योग पर्वमुलु' नामक नाटक आन्ध्र-देश में पर्याप्त प्रसिद्ध है। मुक्तक पद्य तो इनके काफ़ी संख्या में प्रसिद्ध हैं। आधुनिक काल के अधिक संख्यक महाकवि इनके शिष्य और प्रशिष्य हैं।

श्री वालन्त्रपु वेंकटराव और श्री ओलेटि पार्वतीशमु नामक कवियुग्म 'वेंकट पार्वतीश कवुलु' के नाम से कविता क्षेत्र में आए। इन्होंने 'काव्य कुसुमावली, वाल्मीकी रामायणमु, वृन्दावन, एकान्तसेवा' आदि काव्य लिखे हैं। किन्तु इन्हें ''तिरुपति वेंकट कवुलु' के समान प्रसिध्दि नहीं मिली।

शताधिक ग्रन्थकर्ता, वर्तमान राजकवि, श्री श्रीपाद कृष्णमूर्ति शास्त्री पंडित कवि हैं। इनकी इनकी कविता का विषय चयन भी एक दम प्राचीन ढर का है। दीर्घ समासों से भरी हुई होने पर भी कविता में अनुपम प्रवाह है। इनके काव्य 'वेणीसंहार' और 'कलाभाषणी' हैं। 'कृष्णा भारतमु' इनका प्रसिद्ध काव्य है। इसका कर्णपर्व अनुपम है। श्री चेळ पिल्ल वेंकटशास्त्री के बाद 'राजकवि' के पद पर नियुक्त हुए हैं।

श्री घडियरामु वेंकट शेष शास्त्री का 'शिवभारतमु' भी एक प्रमुख काव्य है। शास्त्री जी ने 'मुरारी' नामक स्वतंत्र काव्य एवं 'पुष्पबाण विलासमु' का अनुवाद किया है।

'अभिनवतक्किन्ना' के नाम प्रसिद्ध श्री तुम्मल सीतारामूर्ति चोधरी राष्ट्रीय भावों के कवि हैं। इनकी कविता धारा में तेलुगु के मुहावरे और अति व्यावहारिक पदों की झडी-सी रहती है। 'राष्ट्रगानमु' आत्मार्पण', 'धर्म ज्योति' आदि इनके काव्य हैं।

श्री कोडालि सुब्बाराव के प्राचीन वभव पर लिख गए गीत करुण रस से पूर्ण एवं हृदय द्रावक हैं।

"शिललु द्रविंचि एड्चिनवि, जीर्णमुलैनवि तुंगभद्र लो
पल गुडिगोपुरमुलु,

सभास्थ लुलैनवि कोण्ड मुच्यु गुंपुलकु
चंरित्रलो मुनिगिपोइनदान्ध्र वसुन्धराधिपोज्जवल विजय प्रताप
रभसम्बोक स्वपन कथा वशेषमै।

'हँपीक्षेत्र' नामक यह गीत विजयनगर के खण्डहरों को देख, उसके प्राचीन वैभव एवं वर्तमान दु:स्थिति पर, दिल थामकर रोनेवाले कवि के हृयग़ोगार हैं।

महाकवि श्री विश्वनाथ सत्यनारायण पंडित कवि हैं। गद्य और पद्य में अनेक शैलियों के प्रणेता हैं। प्राचीन ओर अर्वाचीन, दोनों पद्धतियों पर इनकी कलम समान अधिकार से चलती है। प्राचीन आन्ध्र वैभव को लेकर इन्होंने अनेक कविताएँ लिखी हैं। 'आन्ध्र प्रशस्ती', 'आन्ध्रपौरुष' 'ऋतु संहार' आदि खण्डकाव्य और किन्नरसानिपाटलु एवं कोकिलम्मा पेंल्डि नामक गीति काव्य, वेई पडगलु, एकवीरा आदि उपन्यास इनकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। वेई पडगलु भारतीय संस्कृति का मानों कोष है। 'किन्नरसानिपाटलु' का आन्ध्र साहित्य में विशिष्ट स्थान है। इनकी विशषता आन्ध्र-जाति की प्रकृति, मानसिक भावों एवं तेलुगु भाषा की स्वाभाविकता का यथातथ्य चित्रण है। उनके पात्र इतने सच्चे लगते हैं कि हम तन्मय हो, उनके सुख-दुखों में अपने को समभागी मानलेते हैं।

'ईवु रसाकृतिवगुटनु
ई वैखरिगा प्रवहिंचिति
नेनु शिला हृदयुंडनु
पूनुदुने नीदु वैखरि

\+ \+

नीकै एडिचि एडिचि——
ना कायमु क्रोथ्य बारे
ना ई देहमिदेमो
राई वोले नगु चुन्न दि।

आप अच्छे आलोचक भी हैं। आजकल आप संपूर्ण रामायण लिख रहे हैं।

श्री 'गुरमु जाषुवा' भी सुप्रसिद्ध कवि हैं। ये प्राचीनता के पक्षपाती हैं। 'फिर दौसी', दुस्वप्न कथा' 'मुमताजमहल' आदि इनके प्रसिद्ध खडकाव्य हैं। आप ईसाई हैं फिर भी इनकी रचनाओं में हिन्दू संस्कृति की अमिट छाप है। इनकी रचनाओं में अछूतों और समाज के निम्न जाति के लोगों की वेदना को साकार रूप दिया गया है। 'गब्बिलमु' नामक काव्य, में जो मेघदूत के आधार पर लिखा गया, उन्होंने समाज के दलित प्राणियों की भावनाओं का मर्मस्पर्शी वर्णन किया है। इनका शब्द-चयन बड़ा सुन्दर है।

भगवान् के अस्तित्व के प्रति कहते हैं :

---

*श्री राजशेखर कवि का 'राणाप्रताप चरित्रमु' अपनी राष्ट्रीय भावनाओं के लिए पर्याप्त प्रसिद्ध है।

परुल दुर्गति गनि गुण्डे गरगि वगचु
सदय हृदयुल वीक्षणांचलमुनन्दु
बुट्टचुण्डुनु कन्नीटि बोट्टु वोले।
एडि भगवन्तुडनि संशयितुवेला ?

खण्डकाव्यों में नवीनता लानेवाले और कविता में नये प्रयोग करने वाले श्री राय प्रोलु सुब्बाराव हैं। आप शान्तिनिकेतन के विद्यार्थी थे। संस्कृत, तेलुगु और अंग्रेजी के विद्वान और भावुक कवि हैं। आपने अनेक खण्डकाव्य और गीत लिखे हैं जिनमें प्रसिद्ध "तृणकंकणमु", 'ललिता', 'स्नेहलता', 'जडाकुचुलु', 'आन्ध्रावली' आदि हैं। इनका सुप्रसिद्ध राष्ट्रीय गीत निम्नलिखित है।

'ए देश मेगिना एंदु गालिडिना
ए पीठ मेक्किना, एवरेदुरैना
पोगडरा नी तल्लिभूमि भारतिनि
निलुपरा नी जाति निंडु गौरवम्मु
लेदुरा इट्टवंटि भू देवि एंदु
लेरुरा मनवंटि धीरु लिकेंदु
ए पूर्वपुण्यमो ए योग बलमो
जनियिंचिनार वोस्वर्गलोकमुन
ए मंचि पूवुलने प्रेमिंचिनावो
निनुमोसे नी तल्लि कनकगर्भमुन

\+ \+ \+

तम तपस्सुलु ऋषुलु धारपोयंगा
चण्डवीर्यमु सूर्य चन्द्रु लर्पिप
रागदुग्धमु भक्तराजु लीयंगा
भावसूत्रमु कविबांधवुलल्ल
दिक्कुल केगदन्नु तेजंबु वेलुगा
जगमुल नूगिंचु मगतनंबगय
रालु पूवुलु सेयु रागालु साग
सौंदर्य मेग बोयु साहित्यमोप्प
वेलिगिन दी दिव्य विश्वंबुपुत्रा !

जीवन में सुख भी है दुख भी है। सृष्टि में रूप है, कुरूप है, हास्य है, रुदन है,। नयनों के सामने दिखने वाले सौंदर्य और हथेली में मिलने वाले स्वंग का उपभोग करना क्या उचित नहीं है ? यह किसे मालूम नहीं कि फूल की सुन्दरता मिट्टी में मिल जाएगी, प्रिया की वदन कान्ति मलिन पड़ जाएगी। यह सुख और सौंदर्य चाहे क्षणिक हो, उनका भोग क्यों न किया जाए ? जो अलख है, हमारे अनुभव से दूर है, उस परमात्मा के अस्तित्व या अनस्तित्व के प्रति वाद-प्रतिवाद करना व्यर्थ है। यदि दयालु

और धर्मात्मा कोई भगवान्, इस सृष्टि को संचालित कर रहा है, तो वही सब कुछ ठीक कर लेगा। सब सुखान्त होगा। यह उमर खैयाम का जीवन के प्रति दृष्टिकोण है। सुब्बाराव ने उमर खैयाम के चुन पदों का अनुवाद किया। उनके अनुवाद में भाषा, भाव, शैली सभी दृष्टिकोणों से मौलिकता दृष्टिगोचर होती है। इस अनुवाद में वस्तु या भाव की एकता है, जो मूल में नहीं है। अंग्रेज़ी फिट्जराल्ड के अनुवाद की भांति यह बड़ा सुन्दर बन पड़ा है।

पवित्र प्रेम का आधार लेकर चलनेवाले कवियों के लिए आप मार्गदर्शी हैं। 'भावकविता' के, जिसके बारे में आगे चलकर विवेचना की जाएगी, आप प्रारम्भिक माने जाते हैं।

प्रथम उत्थान काल के अन्य प्रसिद्ध कवियों में श्री राल्लपल्लि अनन्तकृष्ण शर्मा, श्री पिलका गणपति शास्त्री, श्री बोई भीमन्ना, श्री वड्डापि सुब्बाराव, श्री जनमचि शेषाद्रि शर्मा, कट्मचि रामलिंगारेड्डी वेदमु वेंकटराय शास्त्री आदि हैं।

द्वितीय उत्थान काल

इस युग तक आते-आते कविता प्रौढ़ अवस्था को प्राप्त हुई। वह समाज-सुधार, राष्ट्रीय भावनाएँ आदि स्थूल विषयों से ऊपर उठकर सूक्ष्म भावनाओं के क्षेत्र में विचरने लगी। जिस युग को हिन्दी-साहित्य में छायावादी युग कहते हैं, तेलुगु साहित्य में यह काल वैसा ही था। तेलुगु में इस प्रकार की कविता को 'भाव-कविता' कहते हैं। छायावाद के सभी लक्षण यहां देख जा सकते हैं। वही लाक्षणिक प्रयोग, भाषा की वक्रता, प्रकृति का आकर्षण, प्रकृति का मानवीकरण आदि। रीति और नियमों के बन्धनों से मुक्त हो कर कविता केवल भाव और लय प्रधान होने लगी।

इन कवियों पर मुख्यतय बंगाली और अंग्रेज़ी साहित्य का प्रभाव लक्षित होता है। कुछ युवक कवि शान्तिनिकेतन में रहकर, विश्व कवि से प्रेरणा प्राप्त कर यहां वही राग आलापन लगे। राजमहेंद्री में 'कूलड्रे' नामक एक अंग्रेज़ महोदय की छात्रच्छाया में अंग्रेज़ी रोमांटिक कवियों का अध्ययन कर, अनेक कवि अंग्रेज़ी रोमांटिज्म से प्रभावित हुए। इन प्रेरणाओं से तेलुगु में भाव-कविता रोमांटिक कविता का जन्म हुआ। शैली, कीट्स, बाइरन, वडसवर्थ आदि अंग्रेज़ी के प्रख्यात रोमांटिक कवियों की शैलियों से परिचित हो हो कर, वे अपनी कलम चलाने लगे।

भाव और लय प्रधान होने से इनकी कविताएँ गेय होती थीं और गीति काव्य के लक्षणों से पूर्ण। ये कविताएँ आत्मपरक (Subjective) होती थीं। कवि अपने व्यक्तिगत भावावेग को बड़ी सच्चाई से अभिव्यक्त करता है। वह स्पष्ट कहता है कि

"ना निवासम्मु तोलुता गन्धर्वलोक मधुर
सुकुमार सुधागान मंजुवाटि,
ए नोक वियोग गीतिकनु।"

इसीलिए इस प्रकार की कविताओं में कवि का अपना निराला व्यक्तित्व लक्षित होता है।

जिस प्रकार छायावादी कवि प्रकृति के बाह्य सौंदर्य का वर्णन करके ही तृप्त नहीं होते थे, अपितु उसमें आपने मानसिक आन्दोलन का प्रतिबिम्ब देखकर, उससे अपना दुखड़ा सुनाते या उसके मिस अपने

भावों को कलात्मक अभिव्यक्ति का रूप देते थे, वसे ही इस युग के कवि अलंकारों के आवरण में प्रकृति को न ढँक कर, उसमें हृदय-स्पन्दन की ध्वनि सुनने लग। प्रकृति में आत्मीयता का अनुभव करने लगे। प्रकृति का कण कण उन्हें नवीन भावनाएँ देने के लिए काफी था। प्रकृति उनकी नायिका बन गई। उसके सौंदर्य पर मुग्ध हो, कविगण विरह और वेदना के गीत गाने लगे। प्रकृति सुन्दरी के समक्ष में, अपना प्रणयनिवेदन ही काव्य वस्तु बन गई। केवल एक क्षण में उत्पन्न अपने भावावेग को लयबद्ध करने में ही प्रवृत्त हुए। अतः मुक्तक गीतों की भरमार सी दिखाई पड़ती ह।

इन कवियों का विषय चयन जैसे निराला था, वैसे ही उनकी शैली एवं व्यंजना प्रणाली भी नई थी। सारांश यह कि इस युग के कवियों ने भाषा, भाव, शैली आदि सभी में अपूर्व परिवर्तन उपस्थित किया।

प्राचीनतावादी, इसके विरुद्ध आन्दोलन करने लगे। इनके विरोध से ऊपर उठकर, रोमांटिक कविता को जनप्रिय बनाने का श्रेय श्री देवुलपल्लि कृष्णशास्त्री को है। इन युवक कवियों को एकत्र कर उन्हें प्रोत्साहन देने वाले हैं श्री ताल्लवझल शिवशंकर शास्त्री। इन्होंने 'साहिति समिति' नामक साहित्यिक संस्था का आयोजन किया। उसके तत्वावधान में 'साहिति' और सरवी नामक पत्रिकाएँ निकलती थीं जिनमें इन कवियों की भावकविताएँ छपती थीं।

सारे देश में रोमांटिक कविता का दौरदौरा था। भावात्मक होकर पवित्र-प्रेम की व्यंजना होने लगी, जो अध्यात्मिक तत्व की ओर अग्रसर हो रही थी।

इस युग के प्रारंभ में श्री गरिमेल्ला सत्यनारायण का "मा कोटि तेल्ल दोरतनमु' नामक राष्ट्रीय गीत बहुत प्रसिद्ध हुआ।

श्री शिवशंकर शास्त्री 'साहिति समिति 'के संस्थापक थे, जिन्होंने अनेक कवियों को प्रोत्साहन दिया। अतः इन्हें कवि स्रष्टा भी माना जा सकता है। इनके काव्यों में हृदयेश्वरी, पद्मावती आदि प्रसिद्ध हैं। इनकी भाषा सजीव एवं सरल है। रहस्यवाद की झलक इनकी रचनाओं में यत्र तत्र मिलती है।

देउलपल्ली कृष्ण शास्त्री इस युग के प्रख्यात भावुक कवि हैं; इन्हें आन्ध्र साहित्य का पंत माना जा सकता है। प्रेम की मधुरिमा प्रकृति से तादात्म्य एवं दुख की संवेदना इनके काव्य के मुख्य विषय हैं। इनकी कल्पना बड़ी ही सुन्दर होती है। इनके प्रसिद्ध खण्डकाव्य " कृष्णपक्षमु, महती, आकली, कन्नीरु, उर्वशी आदि हैं। सुकुमार भाव एवं सरल भाषा इनकी सम्पत्ति हैं। कविता में शब्दों के नए चमत्कार दिखाने में आप सिद्धहस्त हैं।

"नव्विपोदुरु गाक नाकेटि सिग्गु ?
ना इच्छये गाक ना केटिवेरपु ?"

में कवि अपने स्वच्छा गान में कहता है

"हृदय नाळमु तेगिये, ना हृदय धनमु
तोलिगिपोये, जीवित फलमु लुक्कि
नेलबडेनिक जीविंपनेल सखुडा"

अपने हृदय की आशाओं पर पानी फिर जाने से कवि रोदन करता है। कहता है कि :

'मीरु मनसारगा नेड्वनीरु नन्नु
नेन्नु विड्वुडु ! ओक्कसारि नन्नु विडिचि
नन्त नेकान्त यवनिका भ्यन्तरमुन
वेक्किवेक्कि रोदितुनु—विसुवुलेक
विरतिलेक दुर्भर शोक विषमगीतु
लेड्चि वैतु ; एलुंगेत्ति येडचिवैतु

कवि अपना परिचय देता है :—

"नन्नु गनि एरु जालि जेंदंग वलदु—
एव्वरनि एन्तुरो नन्नु ?—ए ननन्त
शोक भीकर तिमिर लो कैक पतिनि ।

कवि प्रकृति में मिल जाने की अपनी इच्छा प्रकट करता है :—

"आकुलो नाकुनै, पूवुलो बूवुनै,
कोम्मलो गोम्मन, नुनलेतरेम्म नै,
ई यडवि दागि पोना,
एट्लैन
निचटने यागिपोना ?
गलगलनिवीचु चिरुगालिलो गेरट मै
जल जल नि पारु सेलपाट लो देटनै,
ई यडवि दागिपोना
एट्लैन
निचटने यागिपोना ?
आदि

कृष्णशास्त्री के पश्चात् श्री नंडूरि सुब्बाराव का नाम आता है। ग्राम्य भाषा में लिख गए इनके 'एंकिपाटलु' पवित्र प्रणय काव्यों से भरे गीत हैं। इन गीतों में भाषा और भाव की होड़-सी लगी दिखाई पड़ती है। नित्य हमारी आंखों के सामने होने वाले विषयों को लेकर सामान्यतः प्रत्येक मानव के हृदयसागर में उठने वाली भाव लहरियों को ही इन्होंने रूप दिया। इन गीतों ने साहित्य में एक तूफ़ान खड़ा किया। नूतनशैली में पवित्र प्रेम, संयोग का आनन्द, वियोग की व्याकुलता, प्रतीक्षा की आकुलता आदि बड़े ही सुन्दर ढंग से व्यक्त हुए हैं। इन गीतों को कवि के मुख से सुनते हीं बन पड़ता है।

"आरिपेयवे दीपमू !
एलुगुलो नोमीद-निलुपलेने मनसू आरिपेयवे दीपमू !
जिम्मुमंट्टा तोट, सीकटै पोवाली,
सीकट्लो सूडालि, नीकल्ळ तळलु ॥—॥

"अद्दमेलंटादि अन्दालुतेलुप,
मुद्दुमाटलकेंकिदे मुन्दुनडक ! ॥—॥
कंटेदुर नाकाड कनिपापलो नीड
सूसुकोंटा नोसट सुक्केट्टु कुंटादि ॥ — ॥

कवि अन्त में कहता है कि—

एन्नानि सेप्पेदि एंकि मुच्चट्लु
एटि सेप्पेदि ना एंकि मुच्चट्लु ?

श्री दुव्वुरी रामिरेड्डी, इस युग के हालावादी कवियों में प्रमुख हैं। आपने उमरखय्याम की रचनाओं का अनुवाद 'पानशाला' नाम से किया है। 'कृषीवलुडु' इनका स्वतन्त्र काव्य है।

प्रसिद्ध कवियुग्म श्री पिंगली लक्ष्मीकान्तमु एवं काटूरी वेंकटश्वर राव हैं। दोनों श्री चेल्लकपिल्ल वेंकटशास्त्री के शिष्य हैं। इनका प्रसिद्ध काव्य 'सौन्दरनन्दमु' है। इसमें श्रृंगार के दोनों पक्ष एवं शान्त रस का सुन्दर परिपाक हुआ है। इनकी रचनाओं में शब्द-माधुरी और प्रवाह पढ़ने योग्य है।

श्री जन्ध्याल पापय्या शास्त्री बडे ही भावुक कवि हैं। 'करुणश्री' के उपनाम से कविता करते हैं। 'उदयश्री', 'करुणश्री', 'विजय श्री' आदि इनके खण्डकाव्य हैं। इनकी रचनाओं में भावों के साथ साथ शब्द अपने आप निर्झर की धारा के समान झरते रहते हैं। प्राचीन शैली में नवीन भावों को लेकर चलने वाली इनकी कविता बड़ी सरल होती है।

अदि रमणीय पुष्पवन – मावनमन्दोकमेड–मेडपै
नदियोक मारुमूल गदि–आगदि तल्पुलु तीसि मेल्लगा
पदुनइदेन्ड्ल ईडुगल बालिका–पोलिका राचपिल्ल–जं
कोदवेडि काळ्ळ तोड दिगुचुन्नदि क्रिन्दिकि मेट्लमीदुगन्।

कवि ने शब्द चित्र खींच दिया है। पद्य पढ़ते पढ़ते वह दृश्य आँखों के सामने चलचित्र की नाई घूम जाता है।

'पुष्प विलापमु' इनकी प्रसिद्ध कविता है। ईश्वर की पूजा के लिए कवि फूल लाने गया तो फूल अपनी कहानी कहते हैं।

'तल्लि योडिलोन तलिराकु तल्पमन्दु
आडुकोनु मम्मुलनु बुट्टलन्दु चिदिमि
अम्मुकोंदुवे ! मोक्षवित्तम्मु कोरकु
हृदयमे लेनि नी पूजलेन्दुकोयि ?
'जडमतुलमेमु, ज्ञानवन्तुडवीवु
बुद्धियुन्नदि, भाव समृद्धि गलदु
बंडबारे नटोई, नी गुण्डेकाय
शिवनिकै पूयदे नाल्गु चिन्निपूवुलु ?

'विजय श्री' इनकी नवीनतम कृति है जिसमें उद्योग पर्व की कथा को बड़ी ही सरस और सरल शैली में लिखा गया।

इस काल के अन्य प्रसिद्ध कवि श्री वेदुल सत्यनारायण, नोरि नरसिंह शास्त्री, नायनि सुब्बाराव, अडिवि बापिराजु आदि हैं।

तृतीय उत्थान काल

जिस प्रकार हिन्दी-साहित्य में छायावाद की प्रतिक्रिया में, तत्कालीन परिस्थितियों के कारण, प्रगतिवाद का अविर्भाव हुआ, वसे ही तेलुगु-साहित्य में भी हुआ। भाव-कविता की प्रतिक्रिया में यथार्थवादी कविता का अविर्भाव हुआ।

द्वितीय युद्ध के आरम्भ होने से पूर्व सारे देश में दरिद्रता का ताण्डव-नृत्य सा हो रहा था। बेकारी बढ़ रही थी। समाज के मध्यम वर्ग के प्राणियों में, आर्थिक विषमता के कारण, जागृति पैदा हुई। बंगाल में अकाल के भीषणरूप, आँखों के सामने ज्वाला की तरह जल रहे थे। सर्वत्र हाहाकार मच रहा था। स्वतन्त्रता की भावना के साथ, सत्याग्रह की आन्दोलन ज़ोर पकड़ रहा था। पूंजीपतियों का राज्य सा था। दमन और उत्पीड़न की चरमसीमा थी।

इन परिस्थितियों से घिरा हुआ, कवि का हृदय विकल हो गया। उसने देखा कि कल्पना से समाज का कुछ होने का नहीं। कल्पना संसार में विचरण करने का अब समय नहीं है। कल्पना के आकाश में कितना ही ऊँचे उड़ो किन्तु दाना तो ज़मीन पर है। अतः यथार्थवादी कवि कल्पना-आकाश से नीचे उतरकर आर्थिक विषयता में पिसने वाले समाज का चित्रण करने लगा।

साम्यवादी विचारधारा का भी, इस यथार्थवादी कविता पर विशेष प्रभाव पड़ा।

इस आधुनिक काव्यधारा को प्रोत्साहन देने के लिए 'नव्य साहित्य परिषद' की स्थापना हुई किन्तु वह १९३५-३६ में 'अभ्युदय रचहितल संघमु' में विलीन हो गया।

इस धारा के प्रसिद्ध कवि श्री श्रीरंगम श्रीनिवासराव हैं। यह 'श्री श्री' के नाम से प्रख्यात् हैं। यह कहते हैं

"छन्दो बन्दो वस्तु लन्नि
छट् फट् फट् मनि त्रेंचि
डामिट, एमिट्रा इदंटे
प्रे इट ईज़ पोयट्री अंदाम्

इस प्रकार की छन्दबन्ध रहित कविता के लिए वे चाहते हैं –

'सिंधूरम् रक्त चंदनम्, बन्धूकम्, संध्या रागम्
पुलि चंपिन लेडिनेत्तुरु, एगरेसिना एर्रनि जंडा,
रुद्रालिक नय ज्वालिक, कलकत्ता काळिनालुका,
कावालोयि नवकवनानिकि।

श्री नवीन जी की कविता विप्लव-गायन से इसका कितना भाव-साम्य है!

फिर यह नव कविता कैसी हो ? क्या करने वाली हो ? कवि कहता है —

"कदिलेदि कदिलिंचेदि
मारेदि, मार्पिंचेदि
पाडेदि पाडिंचेदि
पेनुनिदुरा व दिलिंचेदि
परिपूर्ण ब्रतुकिच्चेदि
कावालोय नव कवनानिकि"

इस प्रकार कवि केवल क्रान्ति से ही संतुष्ट नहीं है, वह एक नवीन सामाजिक एवं आर्थिक 'व्यवस्था' को स्थापित करना चाहता है ।

श्री श्री का प्रसिद्ध संग्रह 'महाप्रस्थानमु' है ।

अनिसेट्टि सुब्बारराव जी प्रगतिवादी होते हुए भी कलात्मक दृष्टि रखते हैं । 'अग्निवीणा' इन की कविताओं का संग्रह है ।

'आरुद्र' (भागवतुल शंकरशास्त्री) प्रलय का आह्वान करने वालों में प्रमुख हैं । आपका 'त्वमेवाहम्' नामक गीत संग्रह प्रकाशित हो चुका है ।

श्रीरंगम् नारायण बाबू अति यथार्थवादी कविता के प्रमुख कवि हैं । अतिनवीन पद्धतियों में उनकी कविता की धारा चलती है । 'कपालमोक्षमु' किटिकीलो दीपमु, 'रुधिर ज्योति' आदि इनकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं ।

श्री तेनेट्टि सूरि, श्री बेल्लंकोण्डा रामदासु, श्री पट्टाभि, श्री कुंदुर्ति आंजनेयुलु आदि इस धारा के प्रसिद्ध कवि हैं ।

किसी ने क्या ही अच्छा लिखा —

'देवुनान मुन्नु देशानकोकरुण्ड, निप्पुडूर नूर निंटनिंट
"लेवुरार्व् रेड्वुरेनमंड्र, तोम्मंड्र पदुवुरैरि कवुलु पद्मनाभा ।"

कहते हैं — "तोडगडानिकि व्याकरणपु रेडिमेड दुस्तुलु लेक
दिसमोल्लतो उरुकुतुन्नाइ लोकान पडि ।"

प्राचीन तावादी आलोचकों के प्रति कहते हैं :—

"चल्लनि पालु तागे पिल्लुल वंटि, रसिकशिखामणुल् नाल्क लो,
वेडिवेडि कवित्वम् चुरुकुदनम् सहिंचे शक्ति एदी ?

श्री जलसूत्रमु रुक्मिणी नाथ शास्त्री 'पेरडी' नामक व्यंग्य कविता लिखने में सिद्धहस्त हैं । 'अक्षितलु' नामक इनका पेरडीपद संग्रह काफ़ी प्रसिद्ध है ।

यहां पर हैदराबाद के कवियों को भी स्मरण करना आवश्यक है ।

यथार्थवादी कवियों में श्री दाशरथी प्रमुख हैं। ये सभी प्रकार की शैलियों में निपुणता के साथ लिख सकते हैं। इनकी कविता सच्चे अर्थों में व्यक्तिगत भावनाओं का सबल और स्वाभाविक प्रवाह है। 'अग्निधारा, 'सें रुद्रवीणा' बहुत प्रसिद्ध हैं। 'मस्तिष्कमुलो लेबारेटरी, इनका प्रसिद्ध गीत हैं।

कालोजी नारायण राव, पी.नारायण रेड्डी, उत्पल सत्यनारायणाचार्य, तेलंगाना के प्रसिद्ध कवि हैं।

'तपति' नामक काव्य में श्री उत्पल सत्यनारायण का एक पद्य देखिए, मानों चित्र लाकर सामने रख दिया गया हो।

'मापटि की नदी पुलिन
मार्गमुलेल्लनु सान्द्र चन्द्रिका
लेपन रंगभूमुलगु ले!
चिरुगज्जेल काल्लगट्टि ने
गोपिका नौदुना। पइटा
कोंगुलु गालिकि तेलवेसि ओ
ई परदेशी! नी एदुरने
मधरम्मुग नाट्य माडना।

इस प्रकार तेलुगु कविता की धारा का बहुमुखी विकास हम आधुनिक काल में पाते हैं। श्री जंध्याल पापय्या शास्त्री की एक पद्य है –

जडयल्लि जडकुच्चुलिडि 'रायप्रोलु' त
ल्लावझल 'किरीट लक्ष्मिनिप'
'पिगलि' 'काटूरि' मुंगुरुल सवरिंप
देवुलपल्लि श्री 'तिलकमुम्प
'विश्वनाथ' विनूत्न वोथुल किन्नेर मीट
'तुम्मल' राष्ट्र गानम्मो नर्प
'वेदुल' 'नायनि' विंजामरलु वय
'बसवराजु' 'कोडाली' पदमुलोत्त
'अडवि' 'नंडूरि' भरतनाट्यमुलु सलुप
'जाषुवा' 'एटुकूरि' हेच्चरिकलिडग
नव्य साहित्य सिंहासनमुन नीकु
आन्ध्र कविता कुमारी। दीर्घायुरस्तु।

इस पद्य में शास्त्री जी ने आधुनिक युग के अधिकांश प्रमुख कवियों के नाम लेकर 'आन्ध्र कविता-कुमारी' के उज्जवल भविष्य की ओर इशारा किया है।

इस प्रकार आधुनिक कविता, यद्यपि वंगीय एवं अंग्रेजी साहित्य से प्रेरणा प्राप्त कर प्रारंभ हुई है, तथापि वह अपनी विशेषताओं का उपार्जन कर, भिन्न-भिन्न मार्गों से प्रवाहित होती हुई आधुनिक भारतीय साहित्य में अपने विशिष्ट स्थान पर विराजनमान है। वह भावों में, वस्तु चयन में, शली में, अलंकारों में, छन्दों में, भाषा में, काव्य के सभी अंगों में नव्यता लेकर उज्जवल भविष्य की ओर अग्रसर हो रही है।

भीमसेन 'निर्मल', साहित्यरत्न, बी. ए.
हैदराबाद पब्लिक स्कूल
बेगमपेट

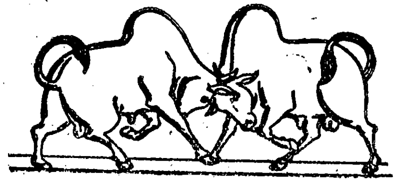

कर्तव्य

कन्नड के रत्नत्रय

यह कहना बहुत कठिन है कि कन्नड़ साहित्य का आरंभ कब से होता है। उपलब्ध ग्रन्थों के आधार पर नवीं शताब्दी से कन्नड़ साहित्य का प्रारंभ कहा जाता है। अब तक उपलब्ध ग्रन्थों में प्रथम ग्रंथ राष्ट्रकूट नरेश नृपतुंग अमोघवर्ष का 'कविराज मार्ग' है। कविराजमार्ग का काल ७१० ईसवी है। कविराज मार्ग एक लक्षण ग्रन्थ है। ग्रन्थों के अनुपलब्ध होने का अर्थ ग्रन्थों का अभाव नहीं है। नृपतुंग ने अपने ग्रन्थ में दुर्विनीत, विमलोदय, नागार्जुन, जयबन्धु आदि अपने पूर्व के गद्यकारों और श्री विजय, कवीश्वर, पंडित, चन्द्रलोकपाल, आदि कवियों का उल्लेख किया है। ४५० ईसवी में हलियड़ी नामक स्थान में एक प्राचीन शिलालेख मिला है। जो भी हो लिखित साहित्य का आरम्भ हम ४५० ईसवी से मान सकते हैं।

प्राचीन कन्नड़ साहित्य-वाहिनी पर प्रकाश-पात करने पर हमें तीन प्रमुख धाराएँ दृष्टिगोचर होती हैं। वे हैं (१) जैन साहित्य धारा (२) वीरशैव साहित्य धारा (३) वैष्णव साहित्य धारा। इन धाराओं का काल-विभाजन यों है—४५० से लेकर बारहवीं शताब्दी के मध्य भाग तक जैन धारा बहती है। बारहवीं शताब्दी से पन्द्रहवीं शताब्दी तक वीरशैव धारा प्रवाहित होती है। पन्द्रहवीं शताब्दी से लेकर उन्नसवीं

शताब्दी तक वैष्णव साहित्य धारा बहती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन कन्नड़ साहित्य में जैन, वीरशैव और वैष्णव धाराओं का त्रिवेणी संगम हुआ है।

परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि इन धाराओं के युगों में केवल एक धर्म के लोग ही साहित्य-निर्माण करते थे और दूसरे धर्म के लोग नहीं। जैन साहित्य धारा में जैनियोंके अलावा अन्य धर्मके लोगों ने भी साहित्य रचना की है परन्तु प्रधानतया जैनियों ने साहित्य निर्माण किया है, वैसे ही वीरशैव और वैष्णव धारा के युगों में भी अन्य धर्म के लोगों ने भी साहित्य रचना की है। कन्नड़ साहित्य का काल-विभाजन और एक प्रकार से भी किया जाता है। तत्कालीन काव्य रसों के आधार पर काल-विभाजन करना ही उत्तम है। उस दृष्टि से हम इस प्रकार काल-विभाजन कर सकते हैं: (१) छात्र युग अथवा वीरगाथा काल क्योंकि जैन साहित्य धारा के कवियों ने अधिकांश वीर रस प्रधान काव्यों की रचना की है। यह विजय काव्गों का युग है। इस समय 'विक्रमार्जुन विजय', 'साहस भीम विजय' आदि विजय काव्यों की रचना हुई। (२) मत प्रचारक युग वीरशैव साहित्य धारा के युग में कर्णाटक में बसवेश्वर का जन्म होता है। बसवेश्वर ने एक धार्मिक क्रांति उत्पन्न कर दी। उस समय बसवेश्वर के अनुयायियों ने वीर शैव मत प्रचार के लिए साहित्य निर्माण किया। इस काल को मत प्रचारक युग कहते हैं। वैष्णव साहित्य धारा के युग में कर्णाटक के वैष्णव संतों ने भक्ति का एक महत्वपूर्ण आन्दोलन चलाया। हम उस काल को भक्ति काल कह सकते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के बाद वर्तमान काल को· आधुनिक काल तथा ४५० से पूर्व काल को आदिकाल कह सकते हैं।

वीर गाथा काल अथवा जैन युग में कर्णाटक में गंग, राष्ट्रकूट, चोळ, पल्लव, आदि राज्यों के राजा लोग साम्राज्य लिप्सा से आपस में लड़ते थे। उस युग के साहित्य में हिन्दी साहित्य के वीरगाथा काल की भांति वीर रस प्रधान ग्रन्थों का निर्माण हुआ है। जैन कवियों ने ही अधिकतर इस युग में साहित्य रचना की है। उनका उद्देश्य एक ओर तत्कालीन राजाओं की प्रशंसा करना है तो दूसरी ओर अपना मत प्रचार तत्कालीन कवियों ने लौकिक काव्य के साथ साथ एक एक पुराण काव्य की भी रचना की है। जैन साहित्य धारा के कवियों में तीन बहुत प्रसिद्ध हैं: (१) पंप (२) पोन्न (३) रन्न। ये कन्नड़ के रत्नत्रय कहलाते हैं। इन्होंने एक एक लौकिक ग्रन्थ और पौराणिक ग्रन्थों का प्रणयन किया है।

यद्यपि कन्नड़ का प्रथम उपलब्ध ग्रन्थ 'कविराजमार्ग', है तथापि पंप की कृतियां ही सच्चे काव्य ग्रन्थ हैं। जिस प्रकार वाल्मीकि वैदिक वाङमय के बाद संस्कृत साहित्य के आदि कवि हैं उसी प्रकार 'कविराज मार्ग', के बाद इतिहास काव्य का प्रणयन कर पम्प कन्नड़ का आदि कवि बना।

कन्नड़ के आदि कवि पम्प और चन्दरबरदाई में अपूर्व साम्य दीख पड़ता है। पम्प कन्नड़ के आदि कवि कहलाते हैं तो चन्दरबरदाई हिन्दी के। पम्प का काल वीर रस प्रधान था तो चन्दरबरदाई का वीर-गाथा काल था। दोनों दरबारी कवि थे। पम्प चालुक्य नरेश अरिकेसरी का दरबारी कवि था तो चन्दरबरदाई पृथ्वीराज का। दोनों कवि और वीर थे। चन्दबरदाई की भांति पम्प भी अरिकेसरी का न केवल दरबारी कवि था वरन् अंतरंग मित्र भी था। पम्प ने दो महाकाव्यों का प्रणयन किया है। एक 'आदि पुराण' और दूसरा 'विक्रमार्जुन विजय' अथवा 'समस्त भारत'। 'पृथ्वीराज रासो' की भांति 'विक्रमार्जुन विजय' भी वीर रस प्रधान काव्य है। पम्प ने 'समस्त भारत' को 'कर्ण रसायन' कहा है।

यह तो ज्ञात ही है कि 'रासो' 'रसायन' शब्द से आया है। इस प्रकार यह देखकर हमें आश्चर्य होता है कि दोनों के काव्य के नामों में भी इतना साम्य है।

परन्तु अन्तर इतना ही है कि पम्प न केवल कन्नड़ का आदि कवि है वरन् अग्र कवि भी है। पम्प का स्थान अब भी कन्नड़ साहिन्य में अक्षुण्ण है। चन्दरबरदाई हिन्दी साहित्य का आदि कवि मात्र है परन्तु पम्प कन्नड़ का न केवल आदि कवि है वरन् कवि कुल गुरु है।

पम्प जाति का ब्राम्हण था परन्तु धर्म का जैन। पम्प के पितामाह के पिता माधव सोमयाजी बड़े-बडे यज्ञों को करके विख्यात हुआ था। इसकी महिमा पर पम्प गर्व करता है. परन्तु उसके साथ साथ उसे इसका खेद भी है कि माधव सोमयाजी ने यज्ञ धूप से अपनी कीर्ति को कलंकित किया है। पम्प के पिता अभिरामदेव ने ब्राह्मण जाति त्यागे बिना जैन धर्म को ग्रहण किया था। वैदिक सम्प्रदाय के साथ साथ जैन सम्प्रदाय भी पप्प के जीवन में आ मिला था। धर्मान्तिर होने पर भी पम्प के जीवन में धर्मान्धता नहीं आई। पम्प का हृदय दोनों संस्कृतियों के सार को लेकर उदार बना और इसका फल उसकी कविता को भी मिला।

पम्प का जन्म स्थान 'वेंगिपळु' था जो वेंगिमण्डल में था। पम्प चालुक्य नरेश अरिकेसरी द्वितीय के दरबार में था। यद्यपि पम्प का जन्म आन्ध्र भूमि में हुआ तथापि उसका मन कन्नड़ की कल्याण भूमि बनवासी (वैजयन्ती) में विचरता था। उसने बनवासी का वर्णन बहुत ही सुन्दर ढंग से किया है। उसके काव्य की भाषा भी पुलिगेरेय तिरुळ कन्नड़ पुलिगेरे की शुद्ध कन्नड़ है।

पम्प ने दो महाकाव्यों की रचना की है। एक पुराण काव्य दूसरा आगमिक काव्य। "विक्रमार्जुन विजय' में 'बेळगुवनिल्लि लौकिकम्मनल्लि जिनागमम्' इधर 'विक्रमार्जुन विजय' में लौकिक को, उधर 'आदि पुराण' में जिनागम को प्रकाशित करूंगा"।—ऐसा पम्प ने खुद कहा है। 'आदि पुराण' पम्प की प्रथम कृति है। 'आदि पुराण' का रचना काल भी उसी में बताया गया है! 'शकवर्षमेंटुनूरक्के कडयोळखत्तुमूरु संदुदु शालीवाहन शक ८९३' है। इसके अलावा पप्प ने 'आदि पुराण' की समाप्ति में तिथि वार, नक्षत्र भी दिए हैं। उसके अनुसार 'आदि-पुराण' का रचना काल ९४२ ईसवी है। तब पम्प की अवस्था उनचालीस बरस की थी। पम्प ने स्वयं अपनी कृति में कहा है कि उसने 'समस्त भारत' को छः महीने में पूरा किया और 'आदि पुराण' को तीन महीने में। अरिकेसरी ने उसे 'कवितागुणार्णव' की उपाधि दी थी। 'आदि पुराण' पम्प की विद्धता एवं विवेक की प्रतीक कृति है।

'आदि पुराण' में पम्प ने काव्य धर्म तथा धर्म को प्रकाशित करने का यत्न किया है। 'नेगद आदि-पुराण दोळ्-अरिबुदु काव्यधर्म में धर्ममुमं' प्रसिद्ध 'आदि-पुराण' में काव्य धर्म तथा धर्म को जान लेना। जिन सेनाचार्य जी का संस्कृत ग्रन्थ 'पूर्व पुराण' इसका आधार है। 'पूर्व पुराण' के प्रथम तीर्थंकर की विस्तृत कथा ही उसकी वस्तु है। कथावस्तु, कथन क्रम, भाव संपत्ति, धार्मिक दर्शन आदि में 'आदि पुराण' 'पूर्वपुराण' का ऋणी है। दोनों जैन पुराण हैं। दोनों में काव्य सत्व है परन्तु पूर्व पुराण में काव्य से अधिक पुराण है। 'आदि पुराण' में काव्य की अधिकता है। 'पूर्व पुराण' एक सरल पद्य काव्य है और 'आदि-पुराण' एक प्रौढ़ चम्पू ग्रन्थ है। पम्प संग्रहकार्य में सिद्धहस्त है। पूर्व पुराण का अति विस्तार 'आदि पुराण' में नहीं आया है। 'आदि पुराण' में अनेक भवावलियों की अग्नि में तप कर भोग निरसन करके

त्याग को अपना कर अन्तिम जन्म में वराग्य परिणति से तपस्वी बनकर मुक्ति और केवल ज्ञान को प्राप्त करने वाले आदि तीर्थंकर की कथा अद्भुत रम्य रूप में वर्णित है। इसकी दिव्यता तथा भव्यता पम्प की प्रतिभा सरसी में स्नान करके निखर उठी है। 'आदि पुराण' में काव्य धर्म और मत धर्मों का सुन्दर संगम हुआ है। पुरु परमेश्वर के अपनी पूर्व भवावलियों में भोग के तर, तम, सोपानों पर चढ़ कर प्रेमदर्शन में आगे बढ़नेवाले पुरुदेव का चित्र मंगल और मनोहर है। सबसे मनोहर दृश्य पुरु के वैराग्य ग्रहण करने का है जब वह अपने अन्तिम जन्म में सुख की चरम सीमा पर रहता है।

पुरुदेव जब अपने सामंत गण के साथ सभा में विराजमान हैं तब इन्द्र उन्हें नाटक से प्रसन्न करना चाहता है। दिव्य संगीत के बाद 'नीलाञ्जना' नामक अमर नर्तकी का लास्य शुरू होता है। उसका वर्णन अत्यन्त मनोहर है। देखिए :

"ताळद लयमं निरि, नी-
ळाळक, हारद पोदळद मुत्तु. . . एबिवु मुं-
मेळिसि कैकोंडळेंदोंदच्चरिये।. . . .
एनिसिद नीळांजने क-
बिन बिल्लि मसेद मदनन कण बर्दु कि-
त्तेनिसुत्ते-ओळ पोक्कळ भों
के ने निखिळ जनांतरंगमम् रंगभुमम्. ."

उसके अभिनय के नूतन सौन्दर्य में नाट्यागम ही नया हुआ। अपनी भौं के एक चलन मात्र से उसने बाजेवालों को लय सूचित किया। नीलाञ्जना ऐसी आई मानो मन्मथ का इक्षु कोदंड ही आया हो, अथवा मदनबाण ही उसके रूप में आया हो। वह नाट्यशाला में ही नहीं निखिल जनांतरंग में भी प्रवेश करती है। जिधर आंखें फिराती थी उधर ही चांदनी-सी छिटक जाती थी। सभा में उपस्थित देवताओं के साथ मानव भी निर्निमेष नयनों से उसके अंग सौष्ठव को देखते रहते हैं।

"अवयवदिंदममे देवां–
गवस्त्र दुळळुडेयन् आकेयांसरिसुव सू-
सुव हारलतेयन् अळवडि-
सुव भंगियें मदन राज्य विळासम !"

अपने अवयव में देवांग वस्त्रों से, उसकी देहलता से फहरानेवाली हारलता को वह इस प्रकार दिखाती थी मानो मदन राज्य का विलास ही हो।

ऐसी मोहिनी के नाट्य से पुरु परमेश्वर भी प्रसन्न हो गया। नीलाञ्जना का नाट्य मानो जीवन का सर्वस्व था। परन्तु उसके बीच में ही उसकी आयु समाप्त हो गई। वह विद्युल्लता की भांति रंग-स्थल से अदृश्य हो गई। इन्द्र ने जो इसको देख रहा था रस भंग न होने के लिए ऐसा ही दूसरे पात्र का अनुसंधान करके नाट्य को चलाया। वहां के उपस्थित देव मानवों में किसी को यह रहस्य मालूम नहीं हुआ परन्तु पुरुदेव को मालूम हो गया। देह की अनित्यता पर वह चकित हो गया। तत्क्षण ही गाढ़ वैराग्य ने उसके मन में प्रवेश किया।

"कोटि तेरदिंदमेसवी-
नाटकमं तोरि माण्दळिल्लळ्, बगेयोळ्
नाटुविनं अमरि संसृति
नाटक मुमेनगे नेरेये तोरिदळिदळीळ् ।
तनु रूप विभव यौवन
धन सौभाग्यायुरादिगळगे एणे कुडुनि-
यिन पोळेपु मुगिल नेळल इंद्र
द्रंन बिल बोब्बुळिकेयु बु पंबिद भोंग ! . . ."

पुरुदेव ने इस सुर नर्तकी के नृत्य में चित्र विचित्र सरस नाटक को देखने के साथ संस्कृति नाटक को देख कर—देहरूप आदि को चंचल समझा और सभी जन्मों में दुःख को ही छलकते हुए देखी। अनन्त सुख, अनन्त तृप्ति केवल मुक्ति से संभव है। मैंने अब तक कितने जन्म लिए, कितना भोग किया, इसका अन्त कहां!

"एनितानु मंबु निधिगळन्
अनेक नाकंगळल्लि कुडिदु पोय्ती-
ल्लेनगे नरभोगमेंबी
पनिपुल्लं नक्के तृष्णे पेळ् पोदपुदे !"

सभी क्षण भंगुर हैं, सब सौन्दर्य असार हैं, सभी आशा अपार है। ऐसा पुरु परमेश्वर ने अच्छी तरह जान लिया। 'इन तिरियलारे भवांभोदियाळ्' अब मैं भवांम्भोधि में विचर नहीं सकता ऐसा कहकर, भोग की ओर पीठ करके मुक्ति की ओर परिनिष्क्रमण किया। इस प्रकार नीलाञ्जना के रूप, यौवन और नृत्य का वर्णन करने में पम्प की कल्पना शक्ति चरम सीमा पहुँच चुकी है। काव्य और धर्म का सुन्दर संगम अद्भुत रूप से हुआ है। आदि पुराण अपनी भव्यता की दृष्टि से पम्प की अद्वितीय कृति है। 'पूर्व पुराण' की भांति इसमें पुरुदेव के पंचकल्याण आदि जैन धार्मिक प्रक्रियाओं के वर्णन में शुष्कता नहीं है। पम्प शास्त्र के अनुसार चलने पर भी उसमें शास्त्रातीत कला का चिरंतन रूप छिपा हुआ है। पूर्व पुराण में प्राचीन सुपुराणों के साम्प्रदायिक तत्व हैं तो 'आदि पुराण' में मार्ग काव्य की रस पूर्ति ह। 'आदि पुराण' जन्म जन्म की जीवन यात्रा का इतिहास है; मानव के आत्म-विकास से देव बनने की कथा है।

'विक्रमार्जुन विजय' अथवा समस्त भारत या 'पम्प भारत' पम्प की दूसरी महान् कृति है। 'आदि पुराण' में पम्प ने जिनागम को प्रकाशित किया है तो इसमें लौकिकता को प्रकाशित किया है। पम्प के लिखे अनुसार 'आदि पुराण' रचना तीन ही महीनों में हुई और एक वर्ष में 'विक्रमार्जुन विजय' तथा 'आदि पुराण' की रचना की। पम्प ने व्यास भारत को 'विक्रमार्जुन विजय' के रूपमें कन्नड़ में लिखा है और समस्त अथवा संक्षिप्त रूप में भारत की कथा को कहने का यत्न किया है। पम्प ने व्यास भारत को संक्षिप्त करते समय कुछ मूल में परिवर्तन भी किया है। कुछ घटनाओं को छोड़ा भी है। दक्षिण भारत के तत्कालीन 'महाभारत' की मातृकाओं, जैन भारत तथा महाभारत सम्बन्धी संस्कृत नाटकों के सार को लेकर अपनी प्रतिभा द्वारा कन्नड़ साहित्य के इस अनुपम रत्न की सृष्टि की है। अपने स्वामी अरिकेसरी की कथा का

निरूपण करना, उसकी स्तुति करना पम्प का उद्देश्य था। अतः उसने अरिकेसरी का अर्जुन से समीकरण किया है। अर्जुन और अरिकेसरी में अभेदता की स्थापना करके अरिकेसरी की उपाधियों को अर्जुन के साथ सम्बन्ध कर दिया है। अरिकेसरी में अभेदता की स्थापना करके अरिकेसरी की उपाधियों को अर्जुन के साथ सम्बन्ध कर दिया है। अरिकेसरी ही उसका वास्तविक नायक था। अरिकेसरी राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण का सामन्त चूड़ामणि है। अर्जुन भी सामन्त चूड़ामणि बना है। 'विक्रमार्जुन विजय' अरिकेसरी की ही विजय है। इस प्रकार भारत का ऐतिहासिक काव्य 'महाभारत' पम्प के हाथों में पड़ कर तत्कालीन कर्णाटक का इतिहास काव्य बन गया है। अर्जुन को पम्प भारत का नायक बनाने के कारण कुछ और परिवर्तन भी करने पडे हैं। व्यास भारत की भांति पम्प भारत की द्रौपदी पंचवल्लभा नहीं है, केवल अर्जुन की पत्नी है। काव्य के अन्त में अर्जुन का राजतिलक होता है न कि युधिष्ठिर का। व्यास महा भारत की भांति कृष्ण को भारत में प्रधानता नहीं दी गई है। इसे छोड कर कहीं भी यह ज्ञात नहीं होता है कि 'विक्रमार्जुन विजय' का कर्ता जैन है। पम्प का दुर्योधन प्राण रक्षा के लिए वैशंपायन सरसी में छिप नेवाला कायर नहीं है। वह स्वाभिमानी स्वजन-वत्सल है और अपनी बातों और अपने हठ को बनाए रखने के लिए अपने जीवन की अंतिम घड़ी तक लड़ता है। पम्प के काव्य में दुर्योधन अपनी आयु के अन्तिम दिन तक वीरतापूर्वक युद्ध करता है। पम्प भारत की हिड़िंबा यद्यपि वह राक्षसी है तथापि एक कोमल कामिनी है और सरल-प्रकृति नारी है। भीमसेन के साथ उसके वार्तालाप से हिडिंबा की सरलता एवं कोमलता दीख पड़ती है।

पम्प भारत संग्रह की दृष्टि से एक अनुपम कृति है। संग्रह कार्य में पम्प की केन्द्र-कथानक पर की दृष्टि, केन्द्रीकरण की कला, कथा-निरूपण, प्रमुख पात्रों की चरित्र-रचना तथा अनुपम ज्ञान आदि के कारण विक्रमार्जुन विजय' एक उज्ज्वल कृति है। संस्कृत साहित्य में भी 'महाभारत' का ऐसा उज्ज्वल रूपान्तर दुर्लभ है। पम्प भारत में संग्रह या सारांश नहीं है, संक्षेप में विक्षेप नहीं होने पाया है। वह सशक्त, सजीव चित्र हमारी चित्त भित्ति में खड़ा कर देता है। बड़े बड़े उपाख्यानों को भी एक पंक्ति में कहने की अद्भुतकला पम्प में है। शान्तनु और सत्यवती का प्रणय-चित्र देखिए। इसमें प्रवाह है और उसने एक ही पद्य म कैसी अद्भुत प्रतिभा का परिचय दिया है।

> "मृगयाब्यांजदि नोमे शंतनु,
> तोळलपर्तं पळंचलके त–
> न्मृग-शाबासिय कंपु तट्टि,
> मधुपं बोल सोलतु कंडोल्दु न-
> लमेंगे दिव्यं बिडिवंते वोल,
> पिडिदु नी बा पोपं एंदंगे मे
> ल्लेगे तत्कन्ये नाण्चि,
> बेडुवोडे नीवेम्मैयन बेडिरे—"

मृगया के व्याज से एक बार शान्तनु कहीं गया था। एक मृगशावाक्षी की सुगंध पर मधुप की भांति उसने मुग्ध होकर उससे कहा –"तुम चली जाओ " वह कन्या लज्जा के साथ बोली :

"प्रार्थना करना चाहते हैं तो आप मेरे पिताजी से प्रार्थना कीजिए ।" इस एक ही पद्य में उन्होंने पूर्ण चित्र प्रस्तुत कर दिया है, एक ही वाक्य में पुरुष का उतावलापन तथा स्त्री की लज्जा व्यक्त कर दी है ।

मुख्य कथानक के निरूपण में मानव के रागद्वेष, लोभ तथा असूया का परिणाम भ्रातृ कलह के दुरंत में किस प्रकार हुआ, पम्प ने अत्यन्त कुशलता से इसका वर्णन किया है । मूल को लेकर अपनी लौकिक दृष्टि और अपनी अलौकिक प्रतिभा के द्वारा उसने अपनी अपरिहार्य कला को प्रदर्शित किया है । द्यूत, प्रसंग, द्रौपदी मानभंग, भीम-प्रतिज्ञा आदि को अत्यादृश रूप में निरूपित किया है । पम्प के लिए भारत मानव संघर्ष की एक कथा है :

पाण्डवों के वनवास के लिए नगर-त्याग करके जाते समय पुरजन करुणासे जो बातें करते हैं वे अत्यन्त हृदयस्पर्शी एवं समयोचित हैं ।

"एदोरेयं यमनंदन
ने दोरयं भीमसेन ने दो`यं कं
जो दरन मैदुनं ता
मे दोरेयरमळगळवर्गमीयिरवलते"

कैसा राजा था यमनन्दन, कैसा राजा था भीमसेन, कैसा राजा था अर्जुन, कैसे थे नकुल सहदेव ऐसे लोगों की भी एसी दुर्गति हुई ? इस प्रकार पम्प महाकवि ने पुरजनों के सरल शोक का मर्मस्पर्शी वर्णन किया है । पाण्डवों का वनवास, कृष्ण सन्धान, भारत युद्ध का प्रारम्भ कर्ण का स्वाभिमान, दुर्योधन का पराक्रम और हठवादिता आदि को कबि न सजीव और सरस वाणी में चित्रित किया ह । इन्हें देखने पर ज्ञात होता है कि 'विक्रमार्जन विजय' व्यास भारत का प्रतिविम्ब नहीं है । उसने व्यास भारत के सुवर्ण को अपने सांचे में ढाल कर पम्प ने जो नूतन रूप प्रदान किया है । पम्प के पात्र व्यास मुनि के भारत काल के नहीं है । वे पम्प -प्रतिभा के प्रकाश में जीवित हो उठे हैं । मानवीय रागद्वेष आदि का उसने सुन्दर विश्लेषण किया है । अर्जुन, भीम, दुर्योधन कर्ण के चरित्र पम्प के हाथ म पड़ कर निखर उठे हैं ।

'चलदोळ् दुर्योधनम् नन्नियोळ ठूनतयं, गंडिनोळ भीमसेन प्रतिज्ञा पालन में, पराक्रम में दुर्योधन, सत्य में कर्ण, पुरुषों में भीमसेन है । एक पंक्ति में ही उसने उनके चरित्र का विश्लेषण कर दिया है । पम्प का कर्ण करुण रस से पूर्ण है । पम्प के मन को आदर्श, वीर कर्ण ने जितना आकर्षित किया है ,उतना दुर्योधन ने भी नहीं किया है । सत्य, त्यागवीर कर्ण ने यद्यपि सत्कुल में जन्म लिया तथापि हीन कुलज कहला कर उसने जो कष्ट सह लिए वे हृदय-विद्रावक हैं । विधि के हाथ में पड कर कर्ण का जीवन-कुसुम किस प्रकार मुरझा जाता है उसका उसने करुण-भीषण चित्र हमारे सामने उपस्थित किया है । दुर्योधन ने तो शोकरस की अमद मन्दाकिनी बहाई है । कर्ण की मृत्यु के बाद :

"उदधि तरंग ताटित धारातळमं निनगिन्तु, भिन्न को
ट्टुदने पसादमेंदु पोडवट्टु मनोमुदंदिदे कोंडु
बा. ळिवदुने बयक्के मुं निनगिदं किडिपदु- एले कर्ण केतुवा-
दुदु निनगे-आ वृकोदरन काय्पने पोत्तिसिदेन्न कालेगं !"

उदधि तरंग ताडित धरातल पर तुम जो कुछ देते हो उसे ही प्रसाद मान कर तुम्हें प्रणाम करता हूं और प्रसन्न से जीवनयापन करता हूं ऐसी मैंने इच्छा की थी। परन्तु वृकोदर की क्रोधाग्नि ने युद्ध को जन्म दिया। कर्ण को जब यह मालूम होता है कि वह पाण्डवों का अग्रज है तब उसके मन के संघर्ष को कवि ने क्या ही सुन्दर ढंग से चित्रित किया है :

"अरिदें सोदररेंदु पाण्डवरन-इन्नेतेन्नरं कौलवेन्,
अळिकरोळन्न पोरेदेट्टं नंबिद नृपगंतु आजियोळ् पण्पुवें !"

मानो कि पाण्डव मेरे सहोदर भाई हैं। अब कैसे अपनों को मारूँ। जब लोगों ने मुझ से नफ़रत की है तब मेरा पालन किया दुर्योधन ने। कैसे युद्ध में उससे विद्रोह करूँ ?

कैसी कठिन समस्या है ! एक ओर भाइयों की रक्षा और दूसरी ओर अपने प्रभु के लिए मरना भी है। इस धर्म संकट में कर्ण ने अप्रतिम शौर्य से लड़ कर रण रंग में अपने जीवन को होम करने का निश्चय किया।

जब भीष्म उसे कुलहीन कहता है तब कर्ण को सिर से पैर तक आग लग जाती है। वह कहता है

"कुलमने मुन्नं उग्गडिपरें गळ,
निम्म कुलगळांतु मा
मलेवरग् अट्टिटिंबुवे ?
कुलं कुलमल्तु ,चलं कुलं, गुणं
कुलं, अभिमानमोंद कुलं,
अण्मु कुलं बगवागळ् रंगळी
कलहदोळ् अण्ण,
निम्म कुलं आकुलमं निमगूंटु माडुगुं"

कुल को ही लेकर क्यों लडते हो ? कुल ही कुल है, क्षात्र ही कुल है, गुण ही कुल है, अभिमान ही एकमात्र कुल है, पौरुष ही सच्चा कुल है। चाहो तो भाइयों अब मैं उस कुल का परिचय युद्ध में दे सकता हूं।

कर्ण के चरित्र में करुणा है। उसे पम्प ने दिखाया है। पम्प का हृदय कर्ण की दयनीय स्थिति को देखकर आर्द्र हो उठता है। अतः काव्य नायक अर्जुन अरिकेसरी को भी एक क्षण दूर रखकर उसने एक चरम श्लोक लिखा है। यह उसका अद्वितीय श्लोक है। उसकी रचना करते समय कर्ण के शौर्य सत्य, स्वार्थ-त्याग का चित्र पम्प के चित्र-चक्षु के सामने खड़ा हुआ होगा—

"नेनेयदिरण्ण भारतदोळ्
इन् पेररारुमन-ओंदे चित्तदिं
नेनेवोडे कर्णनं नेनेय,
कर्णनोळ-आरदोरे ! कर्णनेरू
कर्णन कडु नन्नि, कर्णनळवु,
अंकद कर्णन भागमेंदु

कर्णन मातिनोळ् पुदिदु
कर्ण रसायन मलते भारतं"

भारत में और किसी का स्मरण न करो। अनन्य मन से यदि स्मरण करना है तो कर्ण का स्मरण करो। कर्ण की भाँति कौन है महाभारत में? कर्ण की सत्यशीलता, कर्ण का पराक्रम, कर्ण का त्याग, कर्ण के ही त्याग से भारत कर्ण रसायन बन गया है। इस प्रकार कर्ण की तेजोमय व आदर्श मूर्ति हमारे सामने आने लगती ह।

अपने काव्य की शैली के बारे में पम्प ने ही कहा है: "हित मित मृदुवचन, प्रसन्न गम्भीर वचन रचन चतुरं।" अपने काव्य के बारे म--'कोमलं--सूक्तिगर्भ--मृदुसंदर्भ विचार क्षमं उचित पदं श्रव्यं' कह कर अपने काव्य के गुणों को भी पम्प ने निरूपित किया है। पम्प की शैली में देसी और मार्गी का (Popular and classical trends) सुन्दर समन्वय हुआ है। पम्प की शैली की सबसे बडी विशेषता गागर में सागर भरने की है। उसमें रसध्वनि प्रवणता देसी (Popular trend) का औचित्य तथा नाद सूक्ष्मता आदि गुण दृग्गोचर होते हैं।

पम्प निर्विवाद रूप से महाकवि हैं। नागराज कवि ने ठीक ही कहा है 'पसरिप कन्नड़वकोड़ेय नोर्वने सत्कवि पम्प नावगं' विस्तृत कन्नड़ साहित्य का एकमात्र सार्वभौम पम्प ही है। बाद के कवियों ने पम्प की प्रशंसा मुक्त कण्ठ से की है। यहां तक कि कन्नड़ के सुप्रसिद्ध रामायणकार नागचन्द्र ने अपने को अभिनव पम्प के नाम से भूषित किया है। कन्नड़ के बहुत से कवियों ने किसी-न-किसी रूप में उसके काव्य का अनुकरण किया है। 'जिन समय दीपक' आदि नामों से भूषित हुआ है पम्प महाकवि। अरिकेसरी ने उसे 'कवितागुणार्णव' नामक विरुद दिया था। सभी ने भक्ति कुसुमाञ्जलि अर्पित की है पम्प को। कन्नड़ साहित्य के इस रत्नदीप से न जाने कितने लोगों ने अपने काव्य दीप को आलोकित किया है। पम्प अखण्ड कर्नाटक का कवि मात्र नहीं है वह हज़ार वर्ष के पहले के कन्नड़ का राष्ट्र पुरुष है, ऐसा सुप्रसिद्ध विद्वान् तिम्मप्पैय्या जी का कथन है। कन्नड़ के सुप्रसिद्ध आलोचक श्री ती. न. श्रीकण्ठ्या के अनुसार पम्प कन्नड़ का न केवल आदि कवि है वरन् अग्रकवि है। पम्प कन्नड़ का कविकुल गुरु कालिदास है।

रत्नत्रयों में द्वितीय कवि पौत्र है। पम्प का वेंगिविषय ही उसका जन्म स्थान है। वह ९५० ईसवी में राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण तृतीय के दराबार में था। पुंगनूर के नागमय्या के शूर पुत्र मल्लापार्य तथा पुन्नमार्य ने उससे शान्ति पुराण को कहलवाया मल्लापार्य की पुत्री अत्तिमब्बे ने उसकी हजार प्रतियां करवाई पोन्न के तीन ग्रन्थ हैं। (१) शान्ति पुराण (२) भुवनैक रामाभ्युदय (रामकथा) (३) जिनाक्षरमाला कवि चरितकार के अनुसार उसने संकृत में 'गतप्रत्यागत' नामक एक चौथे ग्रन्थ की रचना की है। राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण ने उसे 'उभयकवि चक्रवर्ती' उपाधि प्रदान की थी। इससे सिद्ध होता है कि वह संस्कृत में भी महापण्डित था। 'कवि चरितकार' रायबहादुर रा. नरसिंहाचार्य के अनुसार 'गतप्रत्यागत' ग्रन्थ भी उसने लिखा है। परन्तु उसके उपलब्ध ग्रन्थ दो ही हैं— 'शान्ति पुराण' 'जिनाक्षर माला'। पोन्न का धार्मिक ग्रन्थ 'शान्तिपुराण' है। लौकिक ग्रन्थ रामकथा अथवा 'भुवनैकरामाभ्युदय' ह। 'जिनाक्षरमाला' ३९ कन्द पद्यों की जिनस्तुति है।

भुवनक रामाभ्युदय में पोन्न ने पम्प की भांति राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण के तक्कोळ में चौल राजादित्य को हराने का विषय वर्णित है। पम्प के लौकिक 'महाभारत' की भांति यह भी लौकिक रामायण है।

'शान्ति पुराण' सोलहवां तीर्थंकर शान्तिनाथ की कथा को बतलानेवाला जैन पुराण है। यह बारह आश्वासों का चम्पू ग्रन्थ है। तीर्थंकर की ग्यारह भावावलियों की नौ आश्वासों वर्णित कर बाकी तीन आश्वासों में शान्तिनाथ की कथा का वर्णन किया गया है। अपने आदर्श को पोन्न ने इस प्रकार बताया है

"पददप्पुदेयं बगे।
बेदरदेयं कते किडदेयं भवावली तडमा।
गदेयुं सधितवयुगा,
बुद निनद तन्द्रनिन्द्रना जिन चन्द्रम।

अविचल चित्त से पददोष के बिना कथा को अक्षुण्ण रख भवावलि के वर्णन के साथ बुदनिनदनप इन्द्र जिनचन्द्र ने वर्णन किया है। पम्प की भव्यता इसमें नहीं है। इसमें कोई भी हृदयस्पर्शी सन्निवेश नहीं है। 'आदि पुराण' के सामने यह फीका पड़ जाता है।

पोन्न ने जैन शास्त्र और काव्य-शास्त्रों से अपने ग्रन्थ को प्रौढ़ बनाने का यत्न किया है। 'जैन पुराण में रहने वाले अष्ठणों की प्रधानता है उसमें। काव्य शास्त्र के अनुसार उसमें अष्टादशवर्णन तथा न रसों का उपयोग हुआ है। छन्दु शैली व अलंकारों से उसने अपने काव्यबन्ध को प्रौढ़ बनाने का यत्न किय है। अपने काव्य को 'पुराण चूडामणि' कह कर उसकी प्रशंसा की है।

" शान्तिदिनांतरपोळ् सले
शान्तिपुराणमं पुराणचूडामणियें
दिन्तु पेसरिड्डुममे मति
वंतं कवि चक्रवर्ति समेदीकृतिय

शान्तजिनातरों में (जैन धर्म में) शान्ति पुराण ही पुराण चूडामणि है। कवि चक्रवर्ती ने जो मतिमान् है इस कृति का प्रणयन किया।

उसने जैन पुराणों के साम्प्रदायिक लक्षणों का पूर्ण निष्ठा से पालन किया है परन्तु काव्य धर्म और मत धर्म पम्प के 'आदि पुराण' में जितना हुआ है उतना उसमें नही हुआ है।

'शान्ति पुराण' साम्प्रदायिक परम्परा के पीछे चलता है। कहीं-कहीं उसमें कल्पना, सरस भाव आदि दृग्गोचर होते हैं। वसंत वर्णनों में भ्रमरों का कैसा वर्णन किया गया है देखिए :

"मदन मसियोळ बरेदिट्ट तन्न तक्किन
पेसरक्करंगळेनिसिर्दवु।"—,

मानो मदन ने स्याही से अपना नाम लिखा हो।, उस नाम के अक्षर ही ये भौरें हैं। कालिदास के काव्य नाटकों का प्रभाव भी पोन्न पर पड़ा है। पोन्न मतधर्म तथा पण्डित काव्य धर्मों के समन्वय में सफल हुआ है। पम्प धर्म तथा उत्तम काव्य धर्म के समन्वय करने में विजयी हुआ है। पम्प के काव्य में

कासे की एक मूर्ति (वरंगल)

यक्ष (कोंडापुर)

सम्प्रदाय निष्ठा का नीरस निरूपण नहीं है उसमें काव्य का रस और जीवन का दर्शन है। पोन्न की कविता शक्ति वहां तक नहीं पहुंच सकीं।

रत्नत्रयों में तीसरा कवि रत्न रन्न है। उसने 'अजित नाथपुराण' में पम्प, पोन्ना और अपने को रत्न त्रय कहा है।

" कवि जनदोळ् रत्नत्रय
पवित्र मेने नेगळद पंपनं पोन्निगनुं
कंविरत्न नूमीभूवर
कविगळ् जिनसमय दीपकर पेररोळरे"

कवि जनों में तीन रत्न हैं। पम्प, पोन्न, रन्न ये तीनों कवि रत्न हैं। ये ही जिन समय दीपक हैं। अपने जीवन के बारे में पम्प से भी अधिक बातें उसने तबाई हैं। यह भी जैन कवि है। रत्न, का जन्म ९४९ ईसवीं में मुदुवोळलु आजकल के मुधोळ में हुआ। रन्न चूड़िहार कुल का है। अपने मां-बाप बच्चे, तथा अपनी दो पत्नियों के नाम तक उसने बताए हैं। रत्न का गुरू अजित सेनाचार्य हैं उसका पोषक चाबुंड राय था। चालुक्य नरेश तैलप ई० (९७३-९९६) ने इसे 'कविचक्रवर्ति' नामक बिरुद दिया। यह पहले सामंत तथा मण्डलेश्वरों में रह कर, बाद को सत्याश्रय अथवा इरीव बेडंग के पास रहा, जो चालुक्य चक्रवर्ति था।

इसके कविरत्न, अभिनव कवि चक्रवर्ति, कविकुंजरां कुश, कवि चक्रवर्ति उभय कवि आदि बिरुद थे। इसके अलावा——

" कविमुख चंद्रं कविच। क्रवर्ति कविराज शेखरं कविराजं
कवि जन चूडारत्नं। कवितिलकं कविचतुर्मुखं कविरत्नं"—,

आदि बिरुदावलियों का भी उल्लेख किया है।

रन्न के उपलब्ध ग्रन्थ दो हैं। 'गदायुद्ध' अथवा 'साहस भीम विजय' और 'अजितनाथ पुराण'। अजितनाथ पुराण' में उसने परशुराम चरित, चक्रेश्वर चरित, अजित तीर्थेश्वर चरित आदि तीन और कृतियों का उल्लेख किया है। 'अजितनाथ पुराण' उसकी आगमिक कृति है। इसमें द्वितीय तीर्थकर अजितनाथ तथा द्वितीय चक्रवर्ति सगर की कथा है। उसे दानचिंतामणि अत्तिमब्बे ने कहलाया है। इस पुराण की विशेषता यह है कि इसमें भवावली की झंझट नहीं है। अजितनाथ के पूर्व के एक जन्म की कथा है। मगर पम्प के आदि पुराण की भवलियों का भव्य चित्र इधर नहीं मिलता है। अजितनाथ का चरित्र साम्प्रदायिक रूप में पंच कल्याणों के विस्तृत वर्णन के रूप में आने के कारण रन्न जीवनस्पर्शी सन्निवेश एवं पात्रों के अभाव में प्रतिभा के सदुपयोग होने के अवकाश के अभाव के कारण, उसे परिणाम रमणीय नहीं बना सका।

इसे लिखने में रन्न ने अपने उत्साह एवं कल्पना का पूर्ण प्रयोग किया है। 'वैराग्य-वर्णन' में जिनशिशु के जन्माभिषेक, तत्समय के नाट्यगीत तथा परिनिष्क्रमण के वर्णन में तथा निसर्ग के अद्भुत वर्णनों में अपनी कल्पना को प्रवाहित किया है। समग्र काव्य में मानवता की दृष्टि से अजितनाथ के विरक्त बन कर,

अपने लोगों को तज कर, तपस्वी बन कर वन जाना हृदयस्पर्शी है। उसके जाने पर अयोध्या 'रसमिल्लद कृतियंताइतु' रसहीन कृति की भांति हुआ। उसके शोक से तड़पने वाली रानियों का वर्णन बहुत ही सुन्दर बन पडा है। सूर की गोपिकाओं के विरह-वर्णन की भांति हैं वह।

"एले परपुष्ट केळेले मधुव्रत केळ
नेनेयुति कूर्पुदु सैरि
सिर्पुदग्गलिसिद नलमे कण्मलेये
बेन्नने पोदपेमेम्म सामिया"

हे कोकिल, हे मधुप, सुनो! हमारा प्रेम उन्हीं का स्मरण कर रहा है।

रन्न ने 'अजितनाथ पुराण' में अपनी प्रतिभा एवं पाण्डित्य का प्रदर्शन किया है।

अपने 'अजितनाथ पुराण' को पोन्न की भांति रन्न ने भी 'पुराण तिलक' कहा है :

"एनितुंटागमवर्णन
मनितु मनोळकोंड्ड सकल भव्य जनंग
ळगनुराग मनोहरिसिद्रपु
देनिप पुराण पुराणतिलक मिदल्ते"

सकल भव्य जनों के अनुराग का पात्र यह पुराण 'पुराण तिलक' है। 'आदि पुराण' 'शांति पुराण" 'अजितनाथ पुराण' की पंक्ति में दूसरे पुराण नहीं आ सकते, ऐसा कहा है।

गदायुद्ध रन्न का कृतिरत्न है। यह रन्न का लौकिक काव्य है। इसमें व्यास भारत के गदा सौप्तिक पर्वों का कथानक वर्णित है। भास का 'ऊरु भंग' भट्टनारायण का 'वेणीसंहार' आदि से इसन प्रेरणा पाई है। गदायुद्ध की विशेषता उसकी नाटकीयता है। रन्न ने भास, भट्टनारायण व्यास का हू-बहू अनुकरण करने के बदले उनकी कृतियों के सार को लेकर अपनी प्रतिभा जल में सिंचित करके एक भव्य सुन्दर कृति को जन्म दिया है। उसकी नाटकीयता से उसमें चार चांद लग गए हैं।

जिस प्रकार पंप ने चालुक्य नरेश अरिकेसरी से अर्जुन की अभेदता स्थापित की है, उसी प्रकार रन्न ने भी सत्याश्रय का भीमसेन से समीकरण किया है। भीमसेन ही गदायुद्ध का नायक है। भीमसेन के व्याज से सत्याश्रय की प्रशंसा की है। पम्प की कृति 'विक्रमार्जुन विजय' है, तो रन्न की 'साहस भीम विजय' है। पंप ने अंत में अर्जुन को सिंहासन पर बिठाया है तो रन्न ने भीम को बिठाया है। भारत की कथा को इस प्रकार पम्प की भांति रन्न ने भी तत्कालीन कर्णाटक का ऐतिहासिक काव्य बनाया है। भीम और सत्याश्रय दोनों अभिन्न होकर कर्तव्य पालन करके कृतकृत्य बनते हैं। यद्यपि 'साहस भीम विजय' में गदासौप्तिक पर्वों की कथा है तथापि सिंहावलोकन के क्रम से महाभारत की सारी कथा का निरूपण किया गया है।

"ओळपोक्कु नोडे भारत
दोळगण कथेयेल्लमी गदायुद्धदोळं

तोळकोंडित्तेने सिंहा
'वळोकन क्रमदि नरिपिदं कविरत्नं"

अन्दर प्रवेश करके देखने पर महाभारत की सारी कथा इसमें है। कविरत्न रन्न ने उसे सिंहावलोकन क्रम से निरूपित किया है।

'गदायुद्ध' की बहुत बड़ी विशेषता उसकी नाटकीयता है। द्रोपदी की क्रोधपूर्ण बातों से तुनक कर भीमसेन कहता है:

"कुरुनंदनरं कोंदें
कुरुशाबानुजन नेत्तरं कुडिदें पू
रादेरडं तीर्चिदेनिर्दपु
वेरडवुमं तीर्चि तीर्चिदपेने पगेयं ?"

कुरुनंदनों को मारूँगा, कुरुशाबानुजना के रक्त का पान करुँगा, शत्रु का नाश करूँगा। वह ऐसी गर्जना करता है।

गाँधारी युद्ध न करके शिविर लौटने को कहती है तब दुर्योधन कहता है:

"सादिसुवें फलगुणनं,
सादिसुनें पवनजसुतन बसिरं हा !
कर्णा ! दुश्शासना ! तेगेवें
निर्दोषिगळिक्के, यमजनोळ्पुदु वाळें।"

पलगुण को हराऊँगा, पवन सुत को हराऊँगा, हे दुःशासन ! हे कर्ण ! वह ऐसे वीरावेश से उत्तेजित होकर कहता है। सारा गदायुद्ध ऐसे नाटकीय सन्निवशों से भरा पड़ा है। करुण वीर रसों का संयोग हुआ है इसमें। कर्ण की मृत्यु पर करुणा रस की अमंद मंदाकिनी बहाता है वह। उसका जीवन ही कर्ण के बिना शून्यवत बन जाता है। उसका शोक अधोलिखित पद्यों में चरम सीमा पर पहुँच गया है:

"अय्यो, संजय, संजय,
एनगिर्वरु मेरडुं तोळ
एनगिर्वरु मेरडुं कण्गळे न्नरे युवरा
जनुमंगराजनुं पो
रेने संजय मत्तमेनगे मानसवाळी ? "

हा ! संजय ! दुःशासन और कर्ण ! मेरी दो बाहु थे। मेरी दो आँखें थीं ! दुःशासन और अंगराज की मृत्यु के बाद मुझे जी कर क्या करना है!

"कळि ' दिनकरतनयं
कळिदं युवराजनप्प दुःशासननं
तुळिलाळगळ निर्वरु मं
कळिपि सयोधनन बाळबुदंनंबिदिरे ?

दिनकर-तनय को, युवराज दुःशासन को खोने के बाद दुर्योधन भी जी सकता है क्या ?

"एनगे मनामिदु शून्यं
मने शून्यं बीडु, शून्य मादुदुसकला
वनि शून्यमायु, दृश्या
सननिल्लदं कर्णानिल्लदानेंतियें ?

आज मेरा मन शून्य है, गृह शून्य है, देश शून्य है सारी धरती शून्य है। दुःशासन और कर्ण के बिना मैं कैसे जीऊँ ?

कन्नड़ के महाकवि कु. वें. पु. जी के अनुसार शक्ति समन्वित नाटकीयता के कारण रन्न वर कवि चिरकवि, और महाकवि बन गया है।

इस काव्य के मुख्य पात्र दुर्योधन, भीम तथा द्रौपदी हैं। दुर्योधन की ओर पाठकों की सहानुभूति को कवि ने खींचा है। दुर्योधन में उदात्त मानवोचित गुणों की उसने प्रशंसा की है। इस काव्य में पम्प भारत की भाँति मूल में रत्न कवि ने कुछ परिवर्तन भी किया है। दुर्योधन अपनी पराजय के कारण क्रोधित होकर द्रोण और अश्वत्थमा की निन्दा करता है। संजय पांडवों की कर्तव्यपरायणता की प्रशंसा करता है। दुर्योधन क्रुद्ध होकर भीमार्जुन तथा कृष्ण की निन्दा करता है। दुर्योधन के वृद्ध माता-पिता रणभूमि में आते हैं। संधि करने की प्रार्थना करते हैं। भीष्म की सलाह लेकर उसके अनुसार चलने को कहते हैं। माता-पिता की आज्ञा के अनुसार भीष्माचार्य के पास जाता है। रणभूमि में द्रोण दुःशासन, कर्ण यहाँ तक कि अभिमन्यु के शव को भी देखकर प्रलाप करता है, शोक करता है।

कन्नड़ के सुप्रसिद्ध आचार्य श्री बी. ए. श्री कंठैया जी ने 'साहस भीम विजयं' को नाटक के रूप में परिवर्तित किया है।

रन्न का दुर्योधन खल या धूर्त नहीं है। महानुभाव है। वह दुरंत नायक है हठवादिता उसका दुरंत दोष है (Tragic flow) फिर भी रन्न यह भूला नहीं कि दुर्योधन का नाश उसकी दुष्ट प्रवृत्तियों के कारण ही हुआ। उसने दुर्योधन से सहानुभूति दिखाई है परन्तु दुर्योधन के दुर्गुण भी प्रदर्शित किए हैं।

यद्यपि 'गदायुद्ध' पम्प भारत की भाँति आकार में बड़ा नहीं है तथापि महत्ता की दृष्टि से यह भी एक महान् कृति है। 'गदायुद्ध' की रचना में प्रेरणा पम्प भारत से रन्न को मिली है। रन्न ने अपने 'अजितनाथ पुराण' में पम्प की 'वाग्विभवोन्नति' तथा 'आदि पुराण' का गरिमा गान किया है। यद्यपि रन्न पम्प से प्रभावित है तथापि वह उद्दाम कवि है। कहीं भी उसने अपनी मौलिकता को खोया नहीं है।

पम्प की बराबरी करने की क्षमता सिर्फ रन्न में है परन्तु पम्प का समन्वय और सन्तुलन इसमें नहीं है रन्न में आवेश, और उत्साह अधिक है परन्तु पम्प की भाषा क्लिष्ट है। रन्न की भाषा सरल है। नाटकीयता में रन्न ने पम्प से भी लोहा लिया है।

इस प्रकार इन तीन रत्नत्रयों ने कन्नड़ साहित्य के क्षात्रयुग या वीरगाथा काल में पैदा होकर एक और वीर रस की वाहिनी बहाते हुए दूसरी और अपने धार्मिक पुराणों द्वारा शान्त रस को बहा कर धर्म प्रचार किया। इन्हीं रत्नत्रयरूपी रत्नदीपों के अमल आलोक से बाद के कवियों ने अपने पथ को आलोकित किया।

कृष्णमूर्ति
७५८, बी. बी. गार्डन्स,
मैसूर

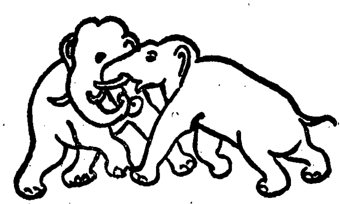

आधुनिक कन्नड़ साहित्य

आधुनिक कन्नड़ साहित्य का युग लगभग २० वीं शताब्दी के प्रथम चरण से आरंभ होता है। यों तो १९ वीं शताब्दी के अन्त में कुछ साहित्य निर्माण हुआ किन्तु वह प्राचीन साहित्य की श्रेणी में आता है। आंग्ल साम्राज्य की स्थापना तथा आंग्ल भाषा के अध्ययन से भारतीय आंग्ल भाषा तथा साहित्य से परिचित हुए। इसका प्रभाव देशी भाषाओं पर होना अनिवार्य था। इस प्रकार आधुनिक कन्नड़ साहित्य का प्रारंभ आंग्ल भाषा के भारतीय विद्वानों में हुआ। प्रो. बी. एम. श्री कंठैया, महाराजा कालेज, मैसूर में आंग्ल भाषा के प्राचार्य थे। इन्हीं का प्रयत्न था कि कन्नड़ भाषा में आंग्ल साहित्य की भाँति भिन्न भिन्न रूप का साहित्य का निर्माण हो। इस के पूर्व के साहित्य में विविधता नहीं थी। साहित्य को लौकिक नहीं माना जाता था किन्तु धार्मिक। इस कारण अनेक रूप में साहित्य विकसित नहीं हुआ। गद्य लेखन को गौण समझा जाता था। शास्त्रीय तथा धार्मिक ग्रन्थों को भी पद्य रूप में लिखा जाता था। पद्य के छन्द प्राचीन पद्धति के थे। श्री कंठैया ने आंग्ल साहित्य में प्रचलित "ब्लैंक वर्स" (Blank verse) को अपनाकर कन्नड़ पद्य में नवीन शैली (सरळरगळे) का आरंभ किया। इनके अनुसरण में मैसूर विश्व-

विद्यालय के विद्यार्थियों तथा उत्तर कर्नाटक के अनेक कवियों ने श्री बेन्द्रे के नेतृत्व में नवीन काव्य का निर्माण किया। केवल छन्दों के रूप में ही नहीं अपितु वस्तु में भी नवीनता आई। आंग्ल काव्य की भाँति कन्नड़ काव्य भी लौकिक बना और काव्य-जगत् बहुव्यापी हुआ। नाटक भी पद्य में लिखे जाने लगे। श्री कंठैया जी ने 'अश्वत्थामन' शीर्षक से एक शोकान्तिका की रचना की। यह कन्नड़ साहित्य में प्रथम शोकान्तिका है। उनके शिष्य श्रीमान् के. वी. पुट्टप्पा ने जिन्हें हाल में भारत साहित्य अकादमी से उनके महाकाव्य रामायण के लिए रु. ५०००) का पुरस्कार मिला, अनेक शोकान्तिकाएं लिखीं। श्री कंठैया ने "गोल्डन ट्रेज़री" के अनेक पद्यों को कन्नड़ में अनुवाद किया और, 'इंग्लिश गीतगळु' के शीर्षक से प्रकाशित किया।

सर्व श्री डी. वी. गुंडप्पा, के.वी. पुट्टप्पा, मास्ती वेंकटेश अयंगार, पंजे मंगेश्वर राव, गोविंद पाई तथा बेन्द्रे जी आधुनिक कन्नड़ काव्य के सृष्टा एवं साहित्याचार्य माने जाते हैं। प्रो. वी. के. गोकाक, श्री रंगनाथ मुगली, श्री वी. सीतारामैया, श्री पी. टी. नरसिंहाचार्य, श्री सालि रामचंद्रराव, श्री मधुरचन्न, श्री. सिद्दैया पुराणिक आदि अनेक साहित्यिकों ने कन्नड़ में पद्य रचना की। श्री जी. पी. राजरत्नम ने ग्रामीण भाषा में अत्यंत उत्कृष्ट काव्य का निर्माण किया। इस क्षेत्र में वे अपूर्व हैं। इनके पश्चात् अनेक आधुनिक कवियों ने कन्नड़ काव्य की रचना की। आधुनिक काव्य में हम आंग्ल साहित्य की छाया पाते हैं। वर्डस्वर्थ, कीट्स, शेली, मिल्टन व शेक्सपियर इन कवियों से आधुनिक कन्नड़ साहित्य के आदि कवियों ने प्रेरणा ली। आज कल के प्रगतिशील कवियों ने भी आंग्ल साहित्य की भाँति कन्नड़ में 'नव्यकाव्य' का आरंभ किया जिसमें टी. एस. इलियट की झलक नज़र आती है। 'नव्य काव्य' के परिकर्ताओं में प्रो. गोकाक, श्री रामचंद्र शर्मा, श्री गोपाळकृष्ण अडिग प्रमुख हैं। नव्य काव्य का अभी अभी प्रयोग हो रहा है यह नहीं कहा जा सकता कि किस को कन्नड़ साहित्य में क्या स्थान मिलेगा।

'आधुनिक कन्नड़ साहित्य में उपन्यास का भी आरंभ हुआ। २० वीं शताब्दी के आरंभ में श्री केरूर वासुदेवाचार्य ने 'इन्दिरा' शीर्षक से उपन्यास लिखा। मैसूर में, २० वीं शताब्दी के आरंभ में, श्री एम. एस पुट्टणा ने "माडिदुण्णो महाराजा" नामक उपन्यास लिखा। इसके पश्चात् श्री डी. वेंकटाचार्य ने बंग उपन्यासों का तथा श्री गळगनाथ ने मराठी उपन्यासों का कन्नड़ में अनुवाद किया। इन उपन्यासों से प्रेरणा लेकर सर्वश्री शिवराम कारंत, अ. न. कृष्णराव, पुट्टप्पा, गोकाक, मुगळी, आद्य रंगाचार्य, बेटगेरी कृष्णशर्मा, मिर्जी अण्णाराव, वी. एम. इनामदार, त. रा. सुब्बराव, बसवराज कट्टिमनी, ए. आर. कृष्णशास्त्री, निरंजन के.वी. अय्यर, देवडु नरसिंह शास्त्री, श्रीनिवास मूर्ति तथा मास्ती वेंकटेश अयंगार आदि ने कन्नड़ उपन्यास को समृद्ध किया। श्रीमती राजम्मा, श्रीमती त्रिवेणी, श्रीमती अनुपमा आदि बहनों ने भी कन्नड़ उपन्यास लिखे। अनेक नवयुवक लेखक तथा वनिताएं इस क्षेत्र में क्रियाशील हैं।

आधुनिक कन्नड़ साहित्य में गल्प को विशेष स्थान है। श्रीमान् मास्ती वेंकटेश अयंगार कन्नड़ गल्प के पितामह माने जाते हैं। इन्हीं से प्रेरणा लेकर आनंद ने कन्नड़ गल्प को विकसित किया। श्री के. गोपालकृष्णराव, श्री अ. न. कृष्णराव, श्रीमती बी. टी. गौरम्मा, श्री शिवराम कारंत, श्री स्वामी आदि लेखकों ने कन्नड़ में अनेक सुन्दर लघुकथाएं लिखीं।

प्रबंध को भी आधुनिक कन्नड़ साहित्य में स्थान मिला है। इनके परिष्कर्ताओं में सर्व श्री गोरूर रामस्वामी अयंगार, सिद्दवनहळी कृष्णशर्मा, ए. एन. मूर्तिराव, बेन्द्रे, राजरत्नम्, पुट्टप्पा, गदगकर,

जागीरदार आदि अनेक लेखक हैं। आंग्ल-साहित्य की भाँति कन्नड़ प्रबंध साहित्य विपुल नहीं है। आशा है इसका भविष्य उज्ज्वल होगा।

कन्नड़ नाटककारों में श्री कैलासन तथा श्री रंग उच्च श्रेणी के लेखक हैं। श्री कारन्त तथा अ. न. कृष्णराव भी ख्यातनाम नाटककार माने जाते हैं। श्री कैवार राजाराव तथा क्षीरसागर आदि लेखकों के नाटक भी सुप्रसिद्ध हैं। श्री एन. के. कुलकर्णी, उदयोन्मुख नाटककारों में से हैं। ऐतिहासिक नाटक भी कन्नड़ साहित्य में लिखे गए हैं। श्री संस के नाटक बहुत प्रसिद्ध है। श्री सी. के. वेंकट रामैया सिद्ध-हस्त नाटककार माने जाते हैं। उन्होंने सामाजिक तथा पौराणिक नाटकों की रचना की।

समालोचना साहित्य भी कन्नड़ में विपुल है। श्री कंठैया इस साहित्य के युगनिर्माता हैं। सर्व श्री डी. वी. गुंडप्पा, ए. आर. कृष्ण शास्त्री, टी. वेंकणैया ,वी. सीतारामैया, मास्ती, सी. के. वेंकट रामैया, बेंद्रे, श्रीनिवास मूर्ति , प्रो. गोकाक, मुगळी, टी. एन. श्री कंठैया, डी. एल. नरसिंचार्य, मालवाड, बसवनाळ, डी. के. भीमसेन राव आदि अनेक समालोचकों ने अपनी रचनाओं से इस विभाग को विपुल एवं विकसित किया।

शास्त्रीय साहित्य भी आधुनिक कन्नड़ में उपलब्ध हैं। श्री सर्व श्री गुंडप्पा, जी. हनुमन्तराय, लक्ष्मी वेंकट नारायण, वी. सीतारामैया एवं कृष्णराव, बी. वेंकट नारायणप्पा, डी. ए. सुब्बाराव, एम. वी. कृष्णराव आदि अनेक लेखकों ने मैसूर विश्वविद्यालय के नेतृत्व में अनेक शास्त्रीय ग्रन्थों की निर्मिति की। मिंचिनबळ्ळी, उषा साहित्य माला, उषा ग्रन्थ माला, आदि अनेक ग्रन्थमालाएं शास्त्रीय साहित्य के निर्माण में प्रयत्नशील हैं।

इस भांति आधुनिक कन्नड़ साहित्य विविध अंग उपांगों में शीघ्र गति से उन्नति कर रहा है।

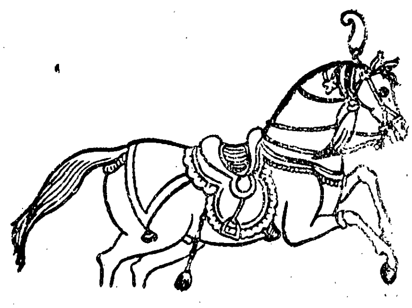

नरसिंहराव मानवी एम. ए., एल.एल. बी.,
उप-संचालक, सूचना तथा जन-संपर्क विभाग,
ैदराबाद-राज्य

ध्येय

आधुनिक मराठी साहित्य की प्रवृत्तियां

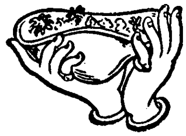

मराठी साहित्य को समझने से पहले मराठी मन को समझना चाहिए। यह सामाजिक मन जिन विशिष्ट ऐतिहासिक सामाजिक परिस्थितियों से बनता है उनकी भी पहचान जरूरी है। क्योंकि यह मान भी लें कि लेखक साधारण सामाजिक अभिरुचि से प्रेरित या निर्देशित नहीं होता तो भी अन्ततः वह एक सामाजिक प्राणी ही है। चाहे असाधारण क्यों न हो। मराठी लेखक सामाजिक चेतनायुक्त अधिक है, व्यक्तिवादी कम। मराठी स्वभाव के अनुसार वह बौद्धिक, तर्क कर्कश और जुझारू अधिक है; भावुक सहज,श्रद्धालु और समझौता प्रिय कम। गडकरी ने चालीस वर्ष पूर्व महाराष्ट्र वन्दना में उसे,"पत्थरों का और फूलों का कठोर और कोमल देश" कहा था। यह विरोधाभास मराठी साहित्य में भी स्पष्ट है एक और जहां मराठी साहित्य में दृढ़ अनुसन्धान और परिश्रमयुक्त अध्यवसाय की गम्भीर प्रवृत्ति दिखाई देती है वहां दूसरी ओर विदेशी ललित साहित्य के रम्य नवीन प्रयोगों की ओर भी झुकाव स्पष्ट है। अतः जहां महाराष्ट्र ने इतिहास संशोधक समाजशास्त्रज्ञ, वज्ञानिक साहित्य रचयिता और ज्ञानकोषकार दिए हैं, वहाँ संगीतज्ञ और चित्रकार उपन्यासकार और काव्य के श्रव्य दृश्य दोनों प्रकार के लेखक प्रचुर मात्रा में प्रदान किए हैं।

गोवा से गोंडवाना तक बोली जाने वाली ढाई करोड़ जनता की इस भाषा का साहित्य ईसवी सन् ९८३ से आरम्भ हुआ, यद्यपि संशोधकों को कुछ ताम्रपट इससे पुराने भी मिले हैं। प्राचीन मराठी साहित्य के कालखंड इस प्रकार माने जाते हैं; ज्ञानेश्वर और महानुभावी सन्तों का यादव काल :— १२५०, १३५० एकनाथ दासोपन्त का बहमनी काल १३५०, १६००, रामदास तुकाराम का शिवकाल:— १६००, १७००, मोरोपन्त राम जोशी का पेशवे काल:—१७००, १८००, सन् १८१८ में पेशवाई के पतन के पश्चात् आधुनिक साहित्य का आरम्भ होता है, जिसमें सन् १८५६ में 'निबन्धमाला' के प्रकाशन के बाद के काल से ही हमे यहां प्रयोजन है। साहित्य के इतिहास में यह एक शती कई प्रकार के उलट फेर देख चुकी है जिसमें सन् ५७ के स्वातन्त्रय युद्ध से सन् ४२ के आन्दोलन और सन् ४७ के सत्तान्तर तक न केवल राजनीतिक घटनाएँ घटीं परन्तु सामाजिक मान्यताओं में भी आश्चर्यजनक परिवर्तन हुआ। आरम्भिक अवस्था में एक ओर मुस्लिम शासक और फिरंगी आक्रामक के बीच में मराठों को चुनना पड़ा। अंग्रेज़ी के साथ समझौता और अनुवाद सम्भ्रम और अनुकरण आदि अवस्थाओं में से गुज़रते हुए अंग्रेज़ी के घोर विरोध तक मराठी गद्य विकसित होता गया। मराठी साहित्य में आधुनिक काल में आरम्भ से ही दो प्रवृत्तियां चिपलूणकर लोक हितवादी और तिलक, आगरकर से लगा कर सावरकर, साने गुरुजी तक बराबर लक्षित होती हैं। इन्हें हम अतीतोन्मुखी राष्ट्रीय आदर्शवादी और यथार्थवादी सामाजिक सुधारवादी कह सकते हैं। पहली प्रवृत्ति का ज़ोर राजसत्ता और शक्ति पर है; दूसरी का व्यक्ति और हृदय परिवर्तन पर। पहली का झुकाव 'संघे शक्तिः कलौ युगे' की ओर है दूसरी का 'लोकशाही' की ओर।

विष्णु शास्त्री चिपलूणकर ने 'बाघिन का दूध' कह कर अंग्रेज़ी की सराहाना मात्र की परन्तु 'हाली' के 'मुसद्दस' और मथिलीशरण की 'भारत भारती' की भाति अंग्रेज़ीयत का घोर विरोध उन्होंने 'आमच्या देशाची स्थिति' में किया जिसके ऊपर से सन् १९३७ में काँग्रसी मन्त्रिमंडल के समय ही निर्बन्ध उठा। लोकहितवादी ने 'शतपत्रे' लिख कर सामाजिक विषमताओं और जातिगत अन्यायों को प्रकट किया और प्रगति के प्रकाश की ओर इंगित भी किया। उन्होने कहा कि पुराना इतिहास स्फूर्ति चाहे दे दे परन्तु वह ज्यों का त्यों दुहराया नहीं जा सकता। परन्तु सदियों की शिवशाही और पेशवाई का प्रभुता मद कई वर्षों तक न उतरा। अभी तक कुछ लोग पुनः भगवा ध्वज अटक से कटक तक फैलाने के सपने देख ही रहे हैं। इस दल ने साम्प्रदायिकता और राष्ट्रीयता को एकप्राण करके प्रस्तुत किया। तिलक अधिक विवेकी थे परन्तु उनकी परम्परा में केलकर, सावरकर, करन्दीकर आदि ने जो जोशीली धार्मिक राष्ट्रवादी वृत्ति लहकाई उसी में से 'हिन्दू राष्ट्र' के सम्पादक के हौतात्म्य प्रेमी निर्मित हुए। इनकी राष्ट्रीयता केवल धार्मिक कुलवाद पर सांस्कृतिक मुलम्मे का नाम मात्र रह गई। धार्मिक भी वह उस मानवतावादी सच्चे अर्थ में नहीं है जिसके लिए महाराष्ट्र की गांधीवादी लेखक परम्परा लड़ती रही है और लड़ रही है, जिनमें स्व. खाडिलकर, साने गुरुजी, काका कालेकर, आचार्य जावड़ेकर, आचार्य भागवत, विनोबा भावे और दादा धर्माधिकारी आदि आते हैं।

शिवशाही पेशवाई सामन्ती संस्कार, अंग्रेज़ों के सम्पर्क और चोट से लगे पहले धक्के में ही कम होते चले। सन् १९१४ के महायुद्ध के बाद महाराष्ट्र सतर्क, वास्तववादी, उपयोगिता प्रधान साहित्य का सर्जन अधिक करने लगा। उसे तथाकथित रहस्यवाद और छायावाद का खोखलापन बहुत जल्दी ज़ाहिर हो गया

प्र. के. अत्रे या 'केशवकुमार' ने 'झंडूची फुलें' में विडंबन गीतों से इस अति भावुकता पर खासा प्रहार किया। सन् १९२४ से ही 'नवमतवाद' की चर्चा महाराष्ट्र में जोर पकड़ती चली। 'रत्नाकर' में छपे 'ओलेती' के चित्र पर उठे आन्दोलन से कला और नीति का वाद चला, कविवर भा. रा. ताम्बे ने वह प्रसिद्ध भाषण दिया जिसमें 'सौंदर्य में शिव निहित है' इस शिलर वाले मत का समर्थन था। 'कला के लिए कला' और 'जीवन के लिए कला' वाला वैचारिक संघर्ष कई वर्षों तक चलता रहा। प्रो. फड़के पहले मत के थे, वि. स. खांडेकर ने 'दोन ध्रुव' उपन्यास दूसरी बात को लेकर लिखा। ज्यों ज्यों राजनैतिक घटनाओं की प्रगति तीव्रता से होने लगी, महाराष्ट्र के साहित्य के पीछे की वैचारिक धाराएं भी बँट गई। यद्यपि साहित्य में राजनैतिक पक्षाभिनिवेश का मानदण्ड लगाना बहुत उचित नहीं फिर भी साहित्य में यही दो प्रवृत्तियां एक पीछे लौटो' का नारा देने, वाली पारलौकिक; और दूसरी जाति प्रान्तभेदों से ऊपर उठ कर विश्व-कुटुम्बवाद मानने वाली, ऐहिक पुनः संघर्ष करने लगीं और एक पूरी पीढ़ी का साहित्य इसी अवस्था में से गुजरा। आज साहित्य में एक ओर सौंदर्यवादी व्यक्तिवादी; और दूसरी ओर मानवतावादी समाजवादी धाराएं सुस्पष्ट लक्षित हो रही हैं। पहली प्रवृत्ति में लेखक सामाजिक उत्तरदायित्व से भाग कर जाने अन-जाने किसी न किसी प्रकार की एकान्त तानाशाही का समर्थक बन जाता है, उसका रूप रंग चाहे जैसा हो, सफ़ेद, भगवा या लाल; दूसरी और गूंगी जनता के दुःख दर्द को अनुभव करने वाले और वाणी देने वाले वे सच्चे मानवतावादी लेखक हैं जो निरे पूंजी के क्रीतदास नहीं, अथवा जो भी शक्ति सिंहासन पर हो उसके अवसरवादी विट चेट नहीं; परन्तु लोकवेदना से पीड़ित और लोक हितैषणा से अनुप्राणित हैं। उन्हें प्रगति-शील जनतान्त्रिक साध्य और नवनवीन प्रयोगशील साहित्य साधन में विश्वास है। उनका विश्वास प्रति-कूल परिस्थितियों में भी अखंडित है, दुनिया उनके लिए एक बन्द अँधेरी गली नहीं बन गई है।

आधुनिक मराठी साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियों को लक्षित करने के लिए साहित्य के तीन चार अंग है जिन्हें अधिकांश पाठक पढ़ते हैं, और जिनके द्वारा जनरुचि और साहित्यकार की गति-विधि का भी अन्दाजा लगाया जा सकता है; कविता, आख्यायिका, नाटक और लघु निबन्ध कविता से आरम्भ करना इसलिए उचित होगा कि उसमें किसी भी जाति के विचारों का पराग मिलता है। आज की मराठी कविता में तीन सम्प्रदाय स्पष्ट लक्षित हो रहे हैं। एक तो सौंदर्यवादी सम्प्रदाय है जो कला के लिए कला मानता और जिसके लिए जीवन गुलाबों का उपवन है; दूसरा वह मानवतावादी सम्प्रदाय है जो कविता से बिगुल या डंकों की चोट या समाज सुधार के प्रचार के लिए ध्वनिपेक्षक का कार्य कराना चाहता है; तीसरा वह अतिवास्तवादी सम्प्रदाय है जिसके लिए जीवन विकृतियों का समूह है, सब ओर खंडित व्यक्तित्व और रुग्ण मनों का ही बोलबाला है। जीवन के सब मूल्य गड़बड़ा गए हैं, और जो श्मशान में हंसनेवाले विद्रूप नरमुंड की भांति व्यक्ति जीवन और जगजीवन का उपहास मात्र करता है। इन तीन धाराओं के प्रति-निधि कवि ले लें और उनकी कुछ विवेचना करें।

सौंदर्यवादी कवियों की सच्ची परम्परा बालकवि चन्द्रशेखर, गोविंदाग्रज या गडकरी, तम्बे और माधव ज्यूलियन तक आकर एक प्रकार से समाप्त सी हो जाती है। प्रकृति के मुग्ध सौंदर्य की ओर अशब्द सजीवता की छवि बालकवि ने अपनी कुशल तूलिका से सहज रम्य प्रसादमयी शैली से आँकी है। गड़करी ने उसमें प्रणय की वन्य उन्मुक्त प्रखरता के रंग भरे। ताम्बे ने उसमें गीत माधुरी दी, सूक्ष्म भाव विकलता की छटाएं और प्रादेशिक वर्णनों की रेखाएं प्रदान कीं। पंडित कवि माधव ज्यूलियन ने इसी रोमानी कविता

का बाह्यवेश सवर्ण ; खैयाम की रुबाइयां, फ़ारसी की गज़ल और अंग्रेज़ी के सानेट के अलंकार उसे पहनाए । 'रविकिरण मंडल' के कवियों तक आकर इस परम्परा में एक प्रकार से क्षीणता आ गई यद्यपि आज भी कुछ आलोचक बोरकर, कान्त, पु. शि. रेगे आदि को इसी परम्परा के कवि मानते हैं । उनके नारीरूप वर्णन और प्रकृति में विविध मनोदशाओं का प्रक्षेपण इसी बात की पुष्टि अवश्य करता है । यद्यपि प्रभाकर होनाजी, बाला के काल से ही लावनी जैसे लोकगीतों के माध्यम में प्रणय गीतों की एक स्वस्थ परम्परा मौजूद थी, फिर भी अब शुद्ध सौंदर्यवादी प्रेमगीतों का भविष्य नहीं के बराबर है ।

क्योंकि सौंदर्य को भी जीवन के परिपार्श्व में देना होगा और तक कवि की भावुकता की सरिता केवल 'मिलन विरह के पुलिनों' से न टकरा कर वास्तव पत्थरों, उपयोगितावादी सिकता और इतिहास की गति से प्रेरित होगी । 'केशवसुत' कृष्णाजी केशव दामले इस राष्ट्रीय नवचेतना के प्रथम अग्रदूत थे । हिन्दी से भारतेन्दु की भाँति उन्होंने अपनी 'तुतारी' तुरही, फूंकी । उन्होंने मराठी में राष्ट्रीय स्वातन्त्र्योन्मुखी कविता का शंखनाद किया । उसी राष्ट्रीय चेतनायुक्त ओजस्वी कवि परम्परा में शाहीर, गोविन्द विनायक, माधव, सावरकर, यशवन्त आदि आते हैं । इनकी प्रेरणा का स्त्रोत मुख्यतः महाराष्ट्र का अतीत था और मातृभूमि के प्रति बलिदान की भावना से इनकी रसवन्ती ओतप्रोत थी । इस परम्परा ने नये युग में नया रूप ले लिया और 'मानवता' और 'बंडे' लिखने वाले अनिल को अपनी रचनाओं में एक भिन्न प्रकार के परिपार्श्व पर उसी प्रक्षोभ रस को व्यक्त करना पड़ा । पहले जो कवि विधवा के दुःख से तिलमिलाता था वह अब सामाजिक विषमता देख कर क्रुद्ध हो उठता है । यों अब वह सहानुभूति के साहित्य की अपेक्षा द्वेष और आवेश का साहित्य रचता है,। कुसुमाग्रज अपनी प्रेयसी को कहते हैं कि 'सखी, तुमने जो चांदनी के हाथ मेरे गले में डाले हैं उन्हें हटा लो । क्षितिज के उस पार दिन के दूत खड़े हैं । ये दिन के दूत नया जीवनसंगीत कवियों को सिखा रहे हैं जिसमें दासता की शृंखलाओं को तोड़ने की व्याकुलता है"। 'अनिल' ने अपनी 'मानवता' कविता में लिखा है कहीं भी अन्याय हो, हम अपना रोष प्रदर्शित करेंगे; कहीं भी चोट पड़े, हम तिलमिला उठेंगे। मानवतावादी कविता की परम्परा तुकाराम के 'जो पीडित, हैं यातना के शिकार हैं उन्हें जो अपनाए वही साधु है। एकनाथ के भूतदयावाद में केशवसुत के न मैं ब्राह्मण न मैं हिन्दू, न मैं किसी एक पन्थ का हूं' आदि में मिलती है । समता और स्वतन्त्रता का यह स्वर 'अनिल' के 'सुप्त ज्वालामुखी' में कुसुमाग्रज की 'जा जरापूर्वेकडे' में श्री कृष्ण पोवले के 'पाथरवट' में ना. ग. जोशी के 'विश्वमानव' में और अन्य कई नए कवियों मे मिल जाएगा । ये सभी कवि एक नई समताश्रित समाज व्यवस्था चाहते हैं । पहले सुधार उनका अस्त्र था आज समाजक्रान्ति में वे विश्वास करने लगे हैं ।

परन्तु कवियों का एक तीसरा दल भी है जिसने इस समाजक्रान्ति में से गुज़रनेवाले समाज की खंडित मान्यताओं को अनुभव करना शुरू कर दिया है । चाहे इस दल को प्रेरणा देनेवाले गुरु रामदास हों या "जीवन एक निरन्तर करूं करूं" है । "जन्म, मृत्यु, इत्यलम्, इत्यलम, इत्यलम्" कहने वाले टि० एस० ईलियट, चाहे 'जिमि दशनन महं जीभ बिचारी' वैसे ही के हथौड़ों के बीच हमारा हृदय जी रहा है कहने वाले रिल्के हों, चाहे 'बची रहती है हड्डी सी सूखी आत्मा की निशा' कहने वाले आडेन ; मर्ढेकर-मनमोहन, य० द० भावे आदि की इस नई परम्परा को अतिवास्तववादी कह सकते हैं । आज के यन्त्र, पीडित युग में पिसे हुए मानव का बीभत्स, गहन निराश पूर्ण चित्रण इन कवियों ने किया है । परिस्थिति के तेज़ाब से इन नए कवियों के मानव की ठठरी खोखली होगई है, उसकी हड्डियाँ उसके जीवनमृत मन

की टिकटी है, समुद्र उनके लिए उस भंगी के समान है जो अपनी सारी गन्दगी किनारे पर लाकर जमा करता है, जीने की भी सख्ती है, मरने की भी सख्ती है, 'सर्वे जन्तु रूदिन: सर्वे जन्तु निराशया:'। इस नई कविता ने मानवता के मधुर आशा स्वप्न को धक्का दिया है, उसने काव्य में आज तक कभी व्यवहृत न हुए ऐसे शब्दों और मुहावरों को ला पटका है। अभी यह 'संज्ञाहीन' मानव का भयानक चित्र देने वाली कविता प्रयोगावस्था में है। इसके बारे में कोई भी निर्णय जल्दी नहीं किया जा सकता। मनोविकृति और अगतिकता कविता का विषय नहीं हो सकती यह कहना गलत होगा, परन्तु क्या कविता केवल इस व्यंग-चित्रात्मक आघात तन्त्र में बन्धी रह सकेगी? जीवन यदि निरा संगीत, सुमन, और सुरा का सपना नहीं है, तो वह निरा कोलाहलमय रास्ते में होने वाला सिरदर्द भी तो नहीं है। जो कविता का प्रत्येक पंक्ति में आत्मा का कलुष ही दे। नई मराठी कविता में अभी नए नए उन्मेष और समन्वय की सम्भावनाएं हैं, यही इन सब आन्दोलनों के विषय में कहा जा सकता है।

काव्य के बाद दूसरा महत्वपूर्ण साहित्यप्रकार है लघुकथा और उपन्यास। लघुकथा का प्रसार परिमाण और गुण दोनों ही दृष्टियों से काफ़ी हुआ है। परन्तु इस साहित्यरूप में अंग्रेज़ी साहित्य से उधार ली हुई टेकनीक की दासता अधिक है। मराठी मन की घटना, विकास और आकांक्षाओं का प्रतिबिम्ब इन कथाओं में कम मिलता है। एक तो लेखक मध्यम वर्ग के अधिक हैं, दूसरे पाठक मनोरंजन से अधिक कुछ कथा से चाहते भी नहीं। कथा का आरम्भ यद्यपि उसी अद्भुत रम्यता पर आश्रित घटना प्रधान दीर्घ आख्यायिकाओं से हुआ, फिर भी उसे संवारने में वि० स० खांडेकर, ना० सी० फड़के और य०मो० जोशी जैसे कुशल कथाशिल्पियों के विशेष योग दान दिया। दिवाकर कृष्ण से गंगाधर गाडगील तक मराठी लघुकथा में चरित्र चित्रण ने पर्याप्त प्रगति न केवल मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मता में, परन्तु वर्णन के लिए विवरण के चयन में भी की है। कथा लेखिकाओं में से कृष्णाबाई और विभावरी शिरूरकर ने समाज में स्त्रियों के कई ऐसे प्रश्नों को मुखरित किया जिन्हें कि पुरुष लेखक शायद ही लिख पाते। मराठी में अनुवाद भी इस क्षेत्र में घड़ल्ले से हुए। देशी विदेशी भाषाओं के विख्यात लेखकों की कथाओं का प्रभाव लेखकों पर पड़े बिना न रहा। लघुतम कथा और रूपक कथा से लगा कर सुदीर्घ कथाओं तक शैली के प्रयोग इस क्षेत्र में हुए। परन्तु सामाजिक कथाओं में विशेषतः दम्भस्फोट, मौन, कुंठा का चित्रण और मनोरंजक प्रसंग रचना के अतिरिक्त कोई विशेष प्रवृत्ति लघुकथा की नही दिखाई देती। यद्यपि माडगूलकर, कुसुमावती देशपांडे आदि नए लेखकों में स्पष्टतः प्रादेशिक पार्श्वभूमि का और अब तक मध्यवर्ग के बाबू लेखक वर्ग द्वारा अछूते समाजों का अधिक अन्तरंग चित्र प्रस्तुत करने का प्रयास स्पष्ट है।

उपन्यास की कुछ प्रवृत्तियां स्पष्ट हैं। केवल मनोरंजन प्रधान, ऐतिहासिक और जासूसी कादम्बरियों को छोड़ दें तो सामाजिक उपन्यासों में हरि नारायण आप्टे ने एक वास्तववादी परम्परा उपस्थित की। उस समय के महाराष्ट्र के समाज का, विधवाओं का, ग़रीब निम्न मध्यवर्ग का, दम्भी अफ़सरों का अकाल का और विपन्नता का जैसा चित्र हरिभाऊ ने उपस्थित किया है वह डिकेंस की याद दिलाता है। उनके बाद वामन मल्हार जोशी और श्रीधर व्यंकटेश केतकर ने एक दार्शनिक और समाजशास्त्रज्ञ के नाते बदलते हुए समाज के मूल्यों को देखने का प्रयत्न किया और अंशतः वे सफल भी हुए। परन्तु उनके बाद फड़के, खांडेकर माडखोलकर, पु. य. देशपांडे आदि औपन्यासिकों ने समस्याओं को ज्यों का त्यों देखना नहीं चाहा। इन्होंने या तो उनकी पार्श्वभूमि पर अपनी नायक, नायिका, खलनायक वाले प्रेम त्रिकोण की कथा को

उपस्थित किया, या फिर उसका अमानवी आदर्शीकरण कर डाला, उसकी विकृतियों में रसलिया या उनसे आंख मूंद कर एक नया ही अतीन्द्रिय कल्पनालोक निर्मित कर लिया। उपन्यासकार के लिए ये दोनों ही स्थितियां खतरनाक हैं कि वह मधुमक्खी की तरह जीवन के मधु में अपनी पांखें इतनी चिपटा ले कि उसी में उसका नाश हो, या कि वह जीवन की विभीषिका से भाग कर ज्यामिति की आकृतियोंकी भाँति अपने विश्वास लोक में मनमाने पात्र और परिस्थितियां गढ़े। पहला प्रकार प्रकृतिवादी नग्न यथार्थ के कुछ चटकीले चित्र चाहे,दे दे, उच्चकोटि का साहित्य नहीं दे सकता जिसमें आत्मिक संघर्ष को प्रस्तुत किया जा सके। दूसरा प्रकार केवल सर्कस के यान्त्रिक चमत्कृतिपूर्ण रंजक व्यायाम की भाँति बौद्धिक सन्तोष चाहे दे, हार्दिक सन्तोष नहीं दे सकता। अतः मराठी उपन्यास में तान्त्रिक दृष्टि से कितनी ही पूर्णता क्यों न आई हो, उपन्यास अभी उस कोटि के नहीं कहे जा सकते कि जिन्हें पढ़ कर महाराष्ट्र के समाज जीवन का यथातथ्य दर्शन मिल सके और न उनमें व्यक्ति जीवन की चिरन्तन समस्याओं का ही निरूपण या समाधान मिलता है। जेम्स जौयस के ढंग पर मनोविश्लेषण वाले प्रयोग भी हुए प्रत्यक्ष आदिवासियों के जीवन पर या बंगाल के विभाजन को देख कर 'रिपोर्ताज' ढंग के उपन्यास भी लिखे गए हैं कुछ उत्तम किशोर साहित्य भी साने गुरुजी ने लिखा। परन्तु इन सब को ध्यान में रखते हुए भी मराठी उपन्यास की मुख्य प्रवृत्ति राजनैतिक उपन्यास ही मानी जा सकती है। अभी तो उपन्यास में राजनीति कथा वस्तु के पट में एक सूत्र में ग्रंथित नहीं जान पड़ती चरित्र 'टाइप' होते हैं न कि जीते जागते व्यक्ति, फिर भी उस और लेखकों का रुझान अधिक है। अकेले सन् ४२ के आन्दोलन पर ही पांच उपन्यास लिखे गए जिनमें से तीन जब्त भी हुए। सामाजिक दृष्टिकोण है जागरूकता भी पर्याप्त मात्रा में है कलात्मक उपकरण भी हैं, परन्तु मराठी उपन्यास कार के पास नहीं है वह व्यापक अवगाहन करने वाली सूक्ष्म मानवी दृष्टि जिससे ज्यों क्रिस्तोफ़ या 'गोरा' या 'होरी' जैसे पात्रों की ही सृष्टि हो या ह्यगो हार्डी या गोर्की की भाँति विशाल करुणा जीवनपट ही उपस्थित किया जा सके।

नाटक के क्षेत्र में मराठी को उचित अभिमान है कि उसका रंगमंच बहुत समृद्ध है। अभी छह वर्ष पूर्व उसका शतसांवत्सरिक उत्सव मनाया गया। अण्णा किर्लोस्कर, देवल और कोल्हटकर के युग तक रंगभूमि पर संगीत का बहुत प्राधान्य रहा; गडकरी ने उसमें भाषा सौष्ठव का आनन्द बढ़ाया: खडिलकर ने पौराणिक विषयों में राजनैतिक आशय भरा। आरम्भ में यद्यपि संस्कृत के प्राचीन नाटकों के अनुवादों, का शेक्सपीयर और मोलियर के अनुवादों का प्रभाव बहुत था, बाद में मराठी नाट्य प्रतिभा का पूर्ण स्वतन्त्र रूप से विकसित हुआ। गडकरी ने सामाजिक समस्याओं को छुआ था परन्तु अपनी रोमानी दृष्टि से। मामा बरेरकर और प्र० के० अत्र ने उन प्रश्नों को सामाजिक यथार्थ के रूप में और बहुत कुछ इब्सन, शा के मूर्तिमंजक व्यंगचित्रात्मक ढंग से उपस्थित किया। आधुनिक मराठी नाटक की नारी एक 'सफ़्रेजेट' नायिका है जो विवाह बन्धन तोड़ कर घर के बाहर निकलती है। परन्तु फिर चुपके से पतिव्रत का महत्व समझ कर वापस घर में चली जाती है। इब्सन, शा के समाज में और हमारे समाज में अभी बहुत अन्तर है, अतः वहां की दृष्टि को ज्यों का त्यों यहां ले आना इसी प्रकार के दृश्य उपस्थित किए बिना न रहता। के० नारायण काले ने 'इंग्रेजी रंगभूमीचा मराठी अवतारे' नामक निबन्ध में इस एक प्रकार की कृत्रिमता से एक दूसरे प्रकारकी कृत्रिमता में जाना बताया है। जहां पहले नाटक अधिक संगीत प्रधान थे, नए नाटक अधिक गद्य प्रधान हो गए, यहां तक कि नाटक की सारी सफलता केवल भड़कीले

और चटपटे संवादों में निहित रह गई। महाराष्ट्र के समाज जीवन का यथातथ्य चित्र वे कहां दे पा रहे हैं इस और ध्यान कम हो जाने से, नाटक भी उपन्यासों की भांति केवल लेखकों का बौद्धिक व्यायाम और पाठकों का बौद्धिक मनोरंजन बन कर रहने लगे। मेंटरलिंक या चेखोफ़ या ओ नील की समस्याएं अलग थीं, हमारी समस्याएं अलग हैं। अतः वहां एक और तमाशा और लोकनाट्य ने अलग प्रचार रूप धारण किया, वहां रंगमंच पर नव नाट्य के प्रयोग बोलपट की बाढ़ में खो से गए। जिस प्रकार उपन्यासों में, वैसे ही नाटकों में, मराठी के आधुनिक लेखकों की विदेशों से तन्त्र और दृष्टिकोण उधार लेने की वृत्ति ने उस लेखन को अपनी जड़ों से अलग कर दिया। परिणामत: इतनी सशक्त और पुरानी परम्परा होने पर भी आज मराठी रंगमंचों की स्थिति या नाटककार का पता पूछने पर हम चित्रपट की और अनिच्छा-पूर्वक अंगुलि निर्देश करना पड़ता है।

ललित साहित्य का अन्तिम क्षेत्र है लघुनिबन्ध, परिहास और व्यंग की यात्रा और संस्मरण की, आत्मचरित्र और समालोचना की यह कृति एक सम्मिलिनी सी है। इस क्षेत्र में मराठी ने बहुत प्रगति की है। आत्म निबन्ध, विरोधाभास युक्त निबन्ध, संस्मरणात्मक निबन्ध आदि में मराठी में फड़के की 'मुजगोष्ठी' अनन्त काणकर के कई संग्रह और ना० म० सन्त, इरावती कर्वे, काका गाडगील आदि अनेक लेखकों का नामोल्लेख ही काफ़ी है। प्रौढ़ साहित्यक विचार पूर्ण निबन्ध से लगा कर वृत्तपत्रीय निबन्ध तक मराठी में कई विदग्ध शैलीकार मिलेंगे। महाराष्ट्रीय मनसा के लिए यह वाद विवादपूर्ण, चर्चात्मक निबन्ध प्रकार विशेष प्रिय साहित्यिक माध्यम जान पड़ता है। जहां वा० म० जोशी से विनोबा भावे तक उत्तम दार्शनिक निबन्ध मिलेंगे, वहीं श्री० कृ० कोल्हटकर से वि० जोशी और मु० ल० देशपांडे तक उत्कृष्ट हास्य निबन्धों का भी मराठी में प्राचुर्य मिलेगा। जानसन ने निबन्ध की 'मन का स्वैर भ्रमण' कहा था, वह कई अंशों में मराठी निबन्धों के विषय में सत्य है। काव्यशास्त्र विनोद की मूल आत्मा 'विच्छित्ति', 'विट' इन निबन्धों में मिलेगी।? इनकी प्रवृत्ति समाजविश्लेषण, विवरणयुक्त वर्णन और तटस्थ विचार तरंगों की और अधिक है। अतः मराठी का यह साहित्यांग आधुनिक काल में विशेष रूप से परिपुष्ट हुआ है।

यद्यपि गम्भीर समालोचना, इतिहास संशोधन, कोष कार्य आदि साहित्य के कई अन्य समृद्ध पक्ष मराठी में हैं तथापि इस निबन्ध का परिमित उद्देश्य एक साधारण पाठक की दृष्टि से प्रवृत्तियों का परिचय मात्र था। अतः हम मराठी के आधुनिक ललित साहित्य में जहां एक और विदेशी शैलीगत प्रयोगों के अनुकरण की प्रवृत्ति पाते हैं, वहीं लोक जीवन में हमें जानपद गीता और जानपद कथाओं से प्रेरणा लेने के शुभ लक्षण भी दीखते हैं, जहां एक और विदेशी विचार पद्धति से निर्मित मोह भंग देखते हैं, वहीं एक प्रकार के संस्कृति समन्वय की दृष्टि भी हमें मिलती है जो कि एक आशास्थान है। मराठी मन की प्रवृत्ति राजनैतिक एकेश्वरवाद की और बढ़ कर जहां व्यक्ति पूजा के संध सन्तोष तक जाती हुई एक और साहित्य में परिलक्षित है, वहां सच्ची जनतंत्रवादी मानवता की प्रतिष्ठा भी वैज्ञानिक और विवेकवादी दृष्टिकोण सें हम साहित्य में मिलती है। किसी भी चीज़ को ज्यों का त्यों न मान लेना मराठी साहित्य का प्रमुख लक्षण है, और इस प्रकार का सर्वसंशयवाद संक्रान्तिकालीन जागरूकता का लक्षण है। मराठी साहित्य की आधुनिक प्रवृत्तियों को इस प्रकार हम बहुत आशाजनक मान सकते हैं, क्योंकि उसमें जनतन्त्र और

ऐहिक वैज्ञानिक नवसमाज के निर्माण के सुस्पष्ट बीज लक्षित होते हैं। आज जो भी कुछ प्रचार इधर उधर दिखाई भो देता है वह शिशिरकालीन सूखे पत्तों की तरह है, वन में भी वसन्त निश्चित आने वाला है। गडकरी का 'पत्थरों का देश' 'पुष्पमय देश' भी बनने वाला है।

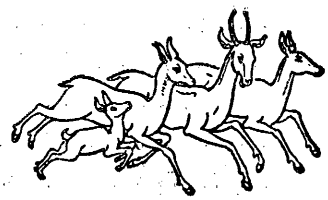

प्रभाकर बलवंत माचवे
नई दिल्ली

मराठी नाटकों के हिन्दी 'ललित'

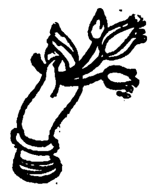

मराठी में साहित्य-रचना का प्रारम्भ मध्यप्रदेश के कवि मुकुन्दराज से माना जाता है। उनके 'विवेकसिन्धु' की रचना के काल में यद्यपि मतभेद है, तो भी सन् ११८८ में वह लिखा गया, यह बहुमान्य धारणा है। 'विवेकसिन्धु' के लगभग सौ वर्ष पश्चात् ज्ञानेश्वर महाराज की 'ज्ञानेश्वरी' रची गई। इस अवधि में मराठी में नाटकों के लिखे जाने का कोई प्रमाण नहीं मिलता। यद्यपि 'ज्ञानेश्वरी' में कठपुतलियों, नृत्य, नटों ,सूत्रधार आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है और इससे लोग यह निष्कर्ष निकालते हैं कि ज्ञानेश्वरी काल में मराठी नाटक विद्यमान थे—अभिनीत होते थे। परन्तु हमारा अनुमान है कि उस समय यदा-कदा प्राचीन संस्कृत नाटक ही अभिनीत होते होंगे और ज्ञानेश्वरी में जो 'नाटक' की पारिभाषिक शब्दावली है, वह मराठी नाटकों से ही ली है, यह कैसे कहा जा सकता है ? ज्ञानेश्वर महाराज संस्कृत वाङमय से अत्यधिक परिचित रहे हैं ? अतएव यह बहुत सम्भव है, संस्कृत नाटकों से ही उन्होंने शब्द लिए हों। और यह भी सम्भव है कि प्राचीन परिपाटी के अनुसार लोग कठपुतली आदि का नृत्य करा कर अपना मनोरंजन करते हों!

विष्णुदास भावे को मराठी के प्रथम नाटककार होने का गौरव प्राप्त है। इनका समय १८४० से है। ज्ञानेश्वरी से लेकर विष्णुदास तक मराठी नाटकों की क्या स्थिति थी, यह बिलकुल स्पष्टतया तो नहीं कहा जा सकता पर यह निश्चित है कि इस अवधि में लोकनाटक ही अधिक प्रचलित रहे हैं। तंजावर (तंजोर) के रामदासी मठ में श्री लक्ष्मीनारायण नामक नाटक के प्राप्त होने से इसे ही मराठी के नाट्य इतिहास-साहित्य में पहला स्थान प्राप्त हुआ है। स्वर्गीय राजवाड़े के मतानुसार उसकी रचना सन् १६७५ के दो वर्ष पश्चात् हुई जान पड़ती है। यह एकांकी नाटक है। इसमें 'भोंसलकुन शाहदेव त्रिलोचन' से शिवाजी के पिता शाहजी का बोध होता हैं।* उन्ही के काल में यह लिखा गया है।

सन् १६७५ के पश्चात् सन १८४३ तक भावे का प्रथम नाटक "सीता स्वयम्बर' खेला गया। इसके पूर्व भी मराठी में अवश्य छोटे-मोटे नाटक लिख गए होंगे पर उनकी पाण्डुलिपियां उपलब्ध नहीं है।

प्रमाण मिले हैं कि जनता लोक नाट्यों से अपना मनोरंजन करती थी। ललित, तमाशा, गोंधल, बहुरूपियों का स्वांग नामक लोकनाट्य के कुछ प्रकार उस समय प्रचलित थे। इन्हीं को मराठी नाटकों का मूल कहा जाता है। बालकृष्ण लक्ष्मण ने 'ललित संग्रह' नाटक पुस्तक प्रकाशित की है। उसमें महाराष्ट्र में खेले जाने वाले हिन्दी भाषा के ललित भी हैं। इससे प्रतीत होता है कि सामान्य जनता हिन्दी के लोकनाटकों को चाव से देखती और उनसे रस प्राप्त करती थीं।

नवरात्र के समय जब कीर्तन आदि होते थे, तब श्रोताओं को आकर्षित करने के लिए वही ललित भी खेले जाते थे। भक्तों का स्वांग धर कर अपने साम्प्रदायिक देवता से प्रसाद मांगा जाता था जिसे सभी श्रोता और दर्शक बाँट कर खाते थे। 'ललित' शब्द बहुत प्राचीन काल से मराठी में प्रचलित है। कोशों में इसके अर्थ-सुन्दर, क्रीड़ा, हाथों की एक विशेष मुद्रा आदि दिए गए हैं। (बृहत् हिन्दी कोश—११२) हरि-कीर्तन के बीच में जनसेवन करने की दृष्टि से जो स्वांग आदि किए जाते थे, देख कर मनोमुग्धकारी प्रतीत होते होंगे। तभी उन्हें ललित का नाम प्राप्त हुआ। तुकाराम के अभंगों में भी वह मिलता है। इसका आशय यह हुआ कि यह नाट्य-प्रकार तुकाराम से पूर्व भी महाराष्ट्र में प्रचलित रहा होगा। श्री विश्वनाथ पाण्डुरंग दाण्डेकर के मतानुसार सत्रहवीं शताब्दी में महाराष्ट्र 'ललित' खेले जात रहे हैं।

ललित, कीर्तन के पूर्व रंग के समाप्त होने पर खेले जाते थे। उसमें वासुदेव, छड़ीदार, मालदार, शीलवंती आदि के स्वांग लाए जाते थे। अभिनय समाप्त होने पर देवता की आरती होती और देवता: से ही प्रसाद मांगा जाता था। तत्पश्चात् शेष कीर्तन का कथा-भाग होता और अन्त में प्रसाद-वितरण के साथ कीर्तन की समाप्ति होती।

महाराष्ट्र में सत्रहवीं शताब्दी में भी जनता हिन्दी से परिचित थी, इसका प्रमाण उनके कीर्तनों में होने वाले 'ललित' से मिल जाता है। एक ललित का उदाहरण 'ललित संग्रह' से नीचे दिया जाता है:

सांग (स्वांग) छड़ीदार का।

छड़ीदार : निर्गुण, निराकार, जिनका सृष्टि कू आधार, जिनके नीति से दो बने चार, उस साहेब कू मुजरा करूँ, नजर रखो। मेहरबान, साधुसंत सुजान, मेरे जुबान पर रखो ध्यान, कहे बंदा रामजी अज्ञान,

*देखिए मराठी नाट्य-सृष्टि पौराणिक नाटकें पृ० २९।

सब साधुं-सज्जन कुँ मुजरा करूँ। ऐसे महाराज निर्गुन निराकार उन्ने लिए दश अवतार, किया दुष्ट का संहार, को दीनोद्धार महाराज हैं। मेहरबान सलाम।

पाटिल : आप कौन हो?

छड़ीदार : हम छड़ीदार, पोशाक पैना जड़ी जरदार, फीर शेला से बांधी कंबर, गले में डाल भाव मोतन का हार, ग्यान ध्यान की बंधी तलवार, पुतडचा में हो बरछी कंबर में हात यों क्षमा यही छड़ी गुलजार खड़ा रहूँ साहेब के द्वार, भगवान के नाम की पुकार ने ललकार ये ही हम छड़ीदार कहलाते हैं।

पाटिल : तुम कहां नौकरी बनाई?

छड़ीदार : दश अवतार में।

पाटिल : कौन से दशावतार में?

छड़ीदार : मच्छ, कच्छ, व राह, नरसिंह, वामन, परशराम, राम, श्रीकृष्ण, बौद्ध, कलंकी ऐसे महाराज के दश अवतार में नौकरी बनाई।

पाटिल : मच्छ अवतार में कैसी नौकरी बनाई?

छड़ीदार : पैदा हुआ सागर से, शंखासूर नाम कहलाते उसे, उन्ने धूम मचाई देवतों से वेद छीन लिए ब्रह्मा से सागर में छुप रह्यो, सागर में छुपाए वेद चार, तब सब सुर ब्रह्मा मिल किया विचार, गए साहेब के द्वार। बताया हाल शंकासुर का, तब भगवान् ने लिया मच्छ अवतार, शंकासुर मारा वेद छीन लिए चार, स्वधर्म की स्थापना करके मच्छ अवतार खलास किया, वहां की नौकरी छोड़ चले आए।

पाटिल : कच्छ अवतार में कैसे नौकरी बनाई?

छड़ीदार : मंथने लगे सागर कूं

जब पृथ्वी जाने लगी रसताल कूं

चिंता पड़ी सब देवता कूं

तब भगवान् ने धावा किया सुनके देवतों का भगवान् ने अवतार लिया कूर्म का, पृथ्वी कंटेका दिया, पृथ्वी का मंथन करके सागर, का कच्छ अवतार खलास किया, फिर वहाँ की नौकरी छोड़ चले आए।

पाटिल : वराह अवतार में कैसी नौकरी बनाई?

छड़ीदार : हिरण्याक्ष दैत्य बड़ा उने सब देव दानव कूं पीड़ा, इन्द्र ने अपना आसन छोडा, भागता फिरे जंगल माँ, जभी तभी छुपे गिरी गुहा मों, ऐसा प्रतापि हिरण्याक्ष दैत्य भया, जब भगवान् ने अवतार लिया, पृथ्वी कूं दिया दंत का धिरा हिरण्याक्ष दैत्य मारा, फिर वाराह अवतार खलास हुआ। वहाँ भी नौकरी छोड़ आए।

इस प्रकार नवों अवतारों का वर्णन कर अन्त में कलंकी अवतार की नौकरी का वर्णन इस प्रकार करता है।

छड़ीदार : सुनो कलजुग का सार, घर-घर हो रहे टोकाकार, किनका किनकूं नहीं मिले विचार, सब भ्रष्टाचार होने लगा, तब भगवान् ने लिया कलंकी अवतार हुवा घोड़े पर सवार, देख प्रलय का कारभार, ऐसा इरादा किया, ऐसे दश अवतार में हम नौकरी बनाई।

पाटिल: यहाँ नौकरी करोगे ।
छड़ीदार: लेना देना क्या है ?
पाटिल: रिद्धि-सिद्धि ।
छड़ीदार: रिद्धि-सिद्धि को हम तुच्छ मानते ।
पाटिल: फिर क्या चाहते ?

छड़ीदार: जहाँ भगवान् का द्वार, खड़ा रहूं मैं छड़ीदार, पुकारूँ हरिनाम की ललकार, दोनों का दातार, वो ही है दोनों का दातार; लिया पंढ़रपुर में अवतार, करता अनाथ का उद्धार, वो ही मेहरबान सच्च है, उस मेहरबान का ग़ुलाम, अज्ञान राम जी करते हैं सलाम, सब संत सज्जन कूं निगा रखो मेहरबान, किसे क्या लेना ? हम महाराज के चरण पास नौकरी करते हैं ।

पद

सुन सुन वेदग्यान छड़ीदार में पाया ।।धृ०।।
राम नाम की छड़ी । ये तो तीन लोक में बड़ी ।।
सुन सुन ।।१।।
राम नाम का घोड़ा । ये तो तीन लोक में बड़ा
सुन सुन ।।२।।
त्रिगुण शिखर पर जाना । वहां राम नाम नाम जप जपना ।
सुन सुन ।।३।।
कहत कबीरा सुन मेरे प्यारा । चुका ले जन्म मरण का फेरा ।।

उपर्युक्त हिन्दी "ललित" सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध का हो सकता है । ऐसा प्रतीत होता है, आधुनिक प्रेस में जाकर इसकी भाषा में यहाँ-वहाँ सुधार हो गया है ।

सत्रहवीं शताब्दी में महाराष्ट्र में मुसल्मानों का वर्चस्व रहा है । अतएव "ललित" की भाषा में जो यत्र-तत्र विदेशी शब्दों की छटा है वह उसी का प्रभाव है । अंतिम 'पद' में कबीर का नाम जुड़ा हुआ है पर वह केवल "कहत कबीर" की टेक मात्र है । पदों को जन सामान्य में प्रचलित करने के लिए प्रसिद्ध पदकारों के नाम प्राचीन युग में जोड़ दिए जाते थे । महाराष्ट्र में कबीर की अत्यधिक प्रसिद्धि रहा है अतः ललितकार ने उनका नाम जोड़ दिया है। संविधान ने छ: वर्ष पूर्व ही हिन्दी को राजभाषा के पद पर आसीन किया है पर महाराष्ट्र ने उसे सदियों पूर्व राष्ट्रभाषा की मान्यता प्रदान की थी ।

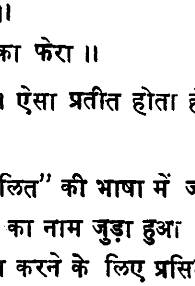

विनयमोहन शर्मा एम. ए. एलएल-बी.,
अध्यक्ष हिन्दी-विभाग
विश्वविद्यालय, नागपुर

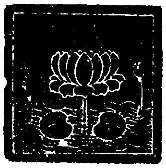

शान्ति

संस्कृत साहित्य का गौरव

"यदि मुझसे पूछा जाए कि भारत के पास सबसे बड़ी सम्पदा क्या है और उसकी सर्वोत्तम विरासत क्या है तो मैं निःसंकोच कहूंगा–संस्कृत भाषा, संस्कृत साहित्य तथा वह समस्त ज्ञान-सम्पदा जो उन दोनों में संचित है। जब तक यह विराट् विरासत विद्यमान् रहेगी और हमारे राष्ट्रीय जीवन को प्रभावित करती रहेगी, तब तक भारत की मौलिक प्रतिभा अक्षुण्ण रहेगी।

–जवाहरलाल नेहरू [अहमदाबाद का भाषण १९४९]

हमारी इस परम प्यारी भारत भूमि और भारतीय संस्कृति में जो कुछ भी महान्, जो कुछ भी उदात्त, जो कुछ भी श्रेष्ठ और सुन्दर सम्पदा विद्यमान है, उस सबका आदि स्रोत संस्कृत वांङमय है। भारत की समस्त भाषाओं और साहित्यों का मूल स्रोत संस्कृत ही है। प्राकृत, अपभ्रंश, पाली तथा प्रचलित प्रांतीय भाषाओं को समस्त प्रेरणा और सामग्री वहीं से प्राप्त होती है। मानव जाति की मेधा और प्रतिभा ने इतिहास के अरुणोदय से लेकर आज तक जिन विद्याओं, कलाओं और विज्ञानों की परिकल्पना की है उन सभी विषयों में संस्कृत भाषा में अत्युन्नत, अद्‌भुत और व्यापक साहित्य का निर्माण हुआ है। भारत

के प्रायः सभी राजकीय अभिलेखों और अनुशासनों की भाषा संस्कृत और प्राकृत रही है। संस्कृत भाषा में ही विश्व के तीन महान् धर्मों (वैदिक धर्म, बौद्ध धर्म और जैन धर्म) की शिक्षाएँ लिखी गईं और प्रचारित हुई हैं। पूर्व समुद्र से पश्चिम समुद्र तक तथा कन्याकुमारी से काश्मीर तक व्याप्त महान् भारतीय साम्राज्य की विशाल सीमाओं में संस्कृत भाषा द्वारा जो ज्ञान, सम्पदा और संस्कृति उत्पन्न हुई है उसने सहस्रों वर्षों तक अपनी गोद में करोड़ों मनुष्यों को ज्ञान, जीवन और ज्योति तथा प्राण, प्रेरणा और पुरुषार्थ का प्रशस्त पाठ पढ़ाया है। मानवता और महत्ता की शिक्षा प्रदान की है। उपनिवेश–निर्माताओं की अदम्य सांस्कृतिक विस्तार भावना ने सुदूर, लंका, ब्रह्मदेश, जावा, सुमात्रा, चम्पा, हिन्दचीन, तिब्बत, चीन, कोरिया, मंगोलिया, जापान अफ़गानिस्तान, ईरान, मध्य,एशिया और गोबी के मरुस्थल तक संस्कृत विद्याओं का प्रचार और प्रसार किया था।

डॉक्टर विनयतोष भट्टाचार्य (प्राच्य विद्यामंदिर, बड़ोदा के अध्यक्ष) लिखते हैं:–"कालचक्रतंत्र की विमल प्रभा टीका में एक महत्वपूर्ण कंडिका आती है। जिसमें यह लिखा है कि त्रिपिटक तथा बौद्ध धर्म का औपनिवेशिक साहित्य ९६ प्रदेशों तक पहुंचा था और उसका अनुवाद ९६भिन्न भिन्न भाषाओं में किया गया था। ११ वीं शती के इस उद्धरण द्वारा सिद्ध होता है कि एक युग में संस्कृत भाषा समस्त एशिया की संस्कार भाषा थी और समस्त प्रादेशिक भाषाओं में उसका भाषान्तर हुआ था।

गत शती के विख्यात आंग्ल पुराविद् विल्सन ने यह घोषणा की थी और इतिहास वेत्ता एलफ़िन्स्टन ने उसका समर्थन किया था कि "लैटिन और ग्रीक के सम्मिलित साहित्य की अपेक्षा संस्कृत भाषा का ग्रंथस्थ वाङ्मय अधिक है"। इन दोनों विद्वानों के समय के बाद सुव्यवस्थित गवेषणाओं के कारण संस्कृत भाषा के सहस्रों नए हस्त लिखित ग्रंथ उपलब्ध हुए हैं। अतः ज्ञात संस्कृत साहित्य की मात्रा तो लैटिन और ग्रीक के सम्मिलित साहित्य-भंडार से कई गुनी अधिक हो चुकी है। इसके अतिरिक्त यह बात विशेष रूप से ध्यान रखने योग्य है कि यूरोप में लैटिन और ग्रीक के हस्तलिखित साहित्य का पन्ना पन्ना सुसम्पादित होकर मुद्रित हो चुका है; जब कि भारत में अब तक संस्कृत और प्राकृत में जितने भी हस्तलिखित ग्रंथ उपलब्ध हुए हैं, उनका केवल प्रतिशत पांचवा हिस्सा ही मुद्रित हो पाया है। इस प्रकार विपुलता और उत्तमता दोनों दृष्टियों से संस्कृत भाषा के माध्यम से जिस वाङ्मय की रचना हुई है, उसने मानव जाति के लौकिक मांगल्य और पारमार्थिक शान्ति के लिए महान् कार्य किया है।

एक युग में देश-देशान्तरों और द्वीप-द्वीपान्तरों के ज्ञानपिपासु भक्त जन-भारतीय ऋषि-मुनियों के चरणों में आकर उनके द्वारा शिक्षित और दीक्षित होकर अपने चरित्र को विद्या, विनय और शील से समुन्नत करते रहे हैं। इस सत्य को धर्म शास्त्रकार महर्षि मनु ने बड़े गौरव से घोषित किया था–

> "एतद्देश प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः
> स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः।"

भारत के प्राचीन और आधुनिक जीवन में जो सुन्दर संस्कृति अभिव्यक्त हो रही है उसकी सम्पूर्ण प्रेरणा संस्कृत वाङ्मय से प्राप्त हुई है। भाषा, भूषा, भाव, कला, स्थापत्य और शिल्प आदि में तथा जीवन के नैतिक तथा आध्यात्मिक दृष्टिकोण में, हमारी संस्कृति में कोई विशेष परिवर्तन नहीं आया है। इतिहास

की इस सुदीर्घ परम्परा में संस्कृत वाङ्मय की भावना भारतीयों को प्रभावित करती रही है। भौतिक समृद्धि और आत्मिक शान्ति दोनों के लिये संस्कृत वाङ्मय की शिक्षाएँ हमें उद्बोधित करती रही हैं। यह भी एक महत्व की बात है कि संस्कृत साहित्य से संभूत संस्कृति ने कभी हमें एकांगी शिक्षा नहीं दी। उसके द्वारा हमें जीवन के आदर्शों के व्यापक संतुलन और समस्वरता का संदेश सदा ही मिलता रहा है।

संस्कृत वाङ्मय के महत्व और गौरव की चर्चा करने से पूर्व संस्कृत भाषा के सौष्ठव और उपादेयता पर विचार करना भी कुछ अप्रासंगिक न होगा।

यूरोपियन पुरातत्वज्ञों में अग्रगण्य सर विलियम जोन्स लिखते हैं–"संस्कृत भाषा का गठन अति अद्भुत है। संस्कृत भाषा ग्रीक की अपेक्षा अधिक पूर्ण और लैटिन की अपेक्षा अधिक सुन्दर है।"

अध्यापक मैक्समूलर का कथन है–"संस्कृत तो भाषा की भी भाषा है। यह बात सर्वथा सत्य है कि संस्कृत भाषा का विज्ञान से वही सम्बन्ध है, जो ज्योतिर्विद्या का गणितशास्त्र से है।"

प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् श्लीगल का कथन है–"संस्कृत शब्द ही बता रहा है कि यह एक पूर्ण और परिष्कृत भाषा है। अपने गठन और व्याकरण में यह ग्रीक के समान है, परन्तु उसकी अपेक्षा कहीं अधिक व्यवस्थित है। अतएव सरल होते हुए भी यह ग्रीक से कम समृद्ध नहीं इसमें ग्रीक की चारुता और पूर्णता के साथ साथ लैटिन की सी संक्षिप्तता और मनोहरता यथार्थतः विद्यमान् है। फ़ारसी और जर्मन धातुओं से इसका विशेष सामीप्य है।"

प्रसिद्ध भाषा शास्त्री बोप की सम्मति है–"एक समय सारे सभ्य संसार में संस्कृत भाषा व्यवहार की भाषा थी।"

वैदिक साहित्य—अति विशाल भारतीय साहित्य की मूर्धा पर वैदिक वाङ्मय विराज रहा है। चारों वेद समस्त भारतीय वांङ्मय में अतिशय श्रद्धा और सम्पन्न के ग्रंथ हैं। क्योंकि वे समस्त ज्ञान विज्ञानों और उदात्त शिक्षाओं के स्रोत हैं। इतिहास के अरूणोदय से उनकी शिक्षाओं से मानव जाति की विशेषतः भारत की संस्कृति और सभ्यता का निर्माण हुआ है। परवर्ती काल में आर्य ऋषि मुनियों द्वारा प्रणीत, ब्राह्मण ग्रंथ, उपनिषद, दर्शन धर्म सूत्र, गृह्यसूत्र, स्मृति ग्रंथ तथा अन्य समस्त धार्मिक ग्रंथ सदा से वेदों का जय–जयकार करते आए हैं। इतिहास पुराण रामायण और महाभारत में भी उनकी गौरव गाथा गाई गई है। इसका एक ही कारण है कि वेदों में मानव जाति के चिरमांगल्य की अमर गीतियां गाई गई हैं। वह ऐसा अमर काव्य है जो कभी जीर्ण और पर्युषित (बासी) नहीं होता। "देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति।"

वेदों की शिक्षाएं मानव मात्र के कल्याण का उद्घोषण और उद्बोधन कर रही है —

"श्रृण्वन्तु सर्वे अमृतस्य पुत्राः (ऋग्वेद)

आज विश्वबन्धुत्त्व की बात करना बड़ी उंची उड़ान समझा जाता है। परन्तु वेद तो जीवमात्र के कल्याण की कामना करते हैं—"द्विपदे शं चतुष्पदे।" यजुर्वेद में कहा गया है—"मैं समस्त प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखा करूं—"मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे"।

विश्व के अनेक विचारक आज एक विश्वराष्ट्र की कल्पना कर रहे हैं। एक राष्ट्र की भावना के लिए किन किन गुणों की आवश्यकता है, उसे बताने के लिए संसार के साहित्य में ऋग्वेद के अंतिम सूक्त से बढ़ कर और कौन-सी प्रार्थना हो सकती है—

सं गच्छध्वं सं वद्ध्वम् सं वो मनांसि जानताम् ।
देवा भागं यथा पूर्वे सं जानाना उपासते ।।
समानो मंत्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम् ।
समानं मंत्रमभिमन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि ।।
समानी वं आकूतिः समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ।।

हमने देखा कि वैदिक संस्कृति समस्त विश्व (प्राणिमात्र) के मांगल्य की उद्गात्री है। ईर्ष्या और द्वेष, संघर्ष और संदेह, रोष और अमर्ष के अन्तर्दाह से अनुतप्त हुए संसार के समस्त राष्ट्रों के हृदयों को वैदिक मन्दाकिनी का शान्त पावन अभिषेक ही शान्त कर सकता है।

गत शताब्दी में पहले पहल जब पश्चिम के विद्वानों को वैदिक शिक्षाओं का ज्ञान हुआ तो वे उन उपदेशों पर निछावर हुए जाते थे।

प्रख्यात फ्रेंच विद्वान् वालटेयर के समक्ष जब यजुर्वेद प्रस्तुत किया गया तो उसने कहा था—"यह वह अति मूल्यवान् उपहार है जिसके लिए पश्चिम सदा के लिए प्राची का ऋणी रहेगा।"

विख्यात वैदिक मनीषी अध्यापक मक्समूलर ने कहा था—

"वेद मानव जाति के ग्रंथालय की सबसे पुरानी पोथी है —वैदिक वङ्मय को हम मानव जाति की शिक्षा का अध्याय कह सकते हैं। कहीं भी उसके मुकाबले का साहित्य हमें उपलब्ध नहीं होता।—संसार के इतिहास में वेदों द्वारा उस स्थान की पूर्ति होती है जिसे अन्य किसीं भाषा की कोई साहित्यिक कृति पूर्ण नही कर सकती।"

विश्व विख्यात फ़्रेंच साहित्यकार विक्टर ह्यूगो के सभापतित्व में सन् १८८४ में व्याख्यान देते हुए फ़्रेंच विद्वान् लिपां देल्बां ने उत्साहपूर्वक कहा था—

"ग्रीस और रोम के पास ऋग्वेद की अपेक्षा अधिक मूल्यवान् कोई अभिलेख नहीं है।"

वैदिक साहित्य में वेदों के अनन्तर उपनिषदों में आर्य जाति की अपूर्व आध्यात्मिक भावना और दार्शनिक प्रतिभा के दर्शन होते हैं। उपनिषदों म गहरे आत्मचिन्तन के साथ साथ जीवन की अद्भुत पवित्रता निर्व्याजिता और ऋजता का परिचय मिलता है। उपनिषद् हीं हमारे षड्दर्शनों में प्रभाव स्थान हैं।

जर्मन अध्यापक गोल्डस्टकर का कथन है कि उपनिषदों में सभी प्रकार के तत्वज्ञानों के बीज विद्यमान हैं। उपनिषदों का अध्ययन करके जर्मन दार्शनिक शोपनहार ने अपूर्व शान्ति और आश्वासन अनुभव करते हुए लिखा था—

"सारे संसार के साहित्य में उपनिषदों जैसा लाभकारी और आत्मा को ऊंचा उठाने वाला अन्य कोई अध्ययन नहीं है। यह मेरे जीवन को आश्वासन दने वाला है और परलोक में भी मुझ शान्ति प्रदान करेगा"।

उपनिषदों के समालोचक प्रसिद्ध जर्मन अध्यापक ड्यूसन ने कहा था—

" सारी मनुष्य जाति में अपने मौलिक विचारों के लिए उपनिषद् से बढ़कर मूल्यवान् अन्य कोई साहित्य नहीं है "।

उपनिषदों का मंथन करने पर जो नवनीत निकला है वह भगवद्गीता के रूप में विश्वविश्रुत है। "सर्वोपनिषदो गावो, दोग्धा गोपालनदनः" गीता के तत्वज्ञान पर सारे विश्व के विद्वान् मुग्ध हैं। विश्व कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर जब विलायत की यात्रा पर गए थे तो वहां पर उन्होंने वहाँ के मूर्धन्य विचारकों और साहित्य-विधायकों के अध्ययन कक्ष में गीता के अनुवाद देख थे जिनमें स्थान स्थान पर टिप्पणियां और लाल निशान अंकित थे। अभिप्राय यह है कि आधुनिक विचारक भी गीता से बराबर प्रेरणा लेते रहे हैं।

विश्व वन्द्य बापू गांधी जी ने एक बार कहा था कि वैदिक साहित्य और वैदिक संस्कृति में जो कुछ कहा गया है उसका मर्म उपनिषद् के प्रथम मंत्र में निहित है। यदि भारत का समस्त वाङ्मय नष्ट हो जाए और केवल यह मंत्र बच जाए तो इसके आधार पर वैदिक संस्कृति का भवन खड़ा किया जा सकता है।

अनेक प्रमाण प्रस्तुत किए जा सकते हैं, जिनसे यह सिद्ध होता है कि भारतीय दार्शनिकों के अनेक सिद्धान्तों के आधार पर विभिन्न देशों के तत्वज्ञानियों ने अपनी चिन्तनधारा को विकसित किया है।

श्रीमती एनी बीसेन्ट ने एक स्थान पर लिखा है —" यूरोपियन मनोविज्ञान की तुलना में भारतीय मनोविज्ञान कहीं अधिक पूर्ण है "।

विद्वान् जर्मन अध्यापक श्लीगल ने अपने साहित्य के इतिहास में स्पष्ट लिखा है—

" पुनर्जन्म के सिद्धान्त का मूल स्थान भारत है। पिथागोरस द्वारा वह ग्रीस में लाया गया।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि वैदिक तथा उत्तर वैदिक काल के साहित्य ने विश्व के वाङ्मय को अपनी अद्भुत प्रतिभा से प्रभावित किया था।

लौकिक साहित्य —ऊपर संस्कृत वाङ्मय के एक भाग वैदिक साहित्य के गौरव की अति संक्षिप्त चर्चा की गई है। वैदिक वाङ्मय की तरह भारत का लौकिक संस्कृत-साहित्य भी अतिशय समृद्ध और उपादेय है। केवल आध्यात्मिक शास्त्रों में ही नहीं अपितु भौतिक विज्ञानों और व्यावहारिक शास्त्रों में भी भारतीयों ने सभ्य जगत् को अपनी अमूल्य देन से अनुगृहीत किया है।

धर्म शास्त्र के क्षेत्र में मनु और याज्ञवल्क्य की संहिताएं सर्वातिशायी हैं। इन दोनों आचार्यों के अतिरिक्त पाराशर, नारद, बृहस्पति और कात्यायन जैसे अन्य स्मृतिकारों ने भी भारत के धर्म शास्त्र को खूब समृद्ध किया है।

व्याकरण-शास्त्र में संस्कृत के शब्द-शास्त्रियों का मुकाबला करना अशक्य है। भारत के सर्वश्रेष्ठ व्याकरणकार पाणिनि का समय चौथी शती ईस्वी पूर्व है। उससे पूर्व भी शाकटायन आदिशलि, गार्ग्य, गालब स्फोटायन, भारद्वाज आदि व्याकरणकार हो गए हैं।

सर विलियम हन्टर का कथन है —" पाणिनि का व्याकरण संसार के समस्त व्याकरणों में सर्वोच्च है।" अध्यापक मोनियर विलियम की सम्मति में— " पाणिनि का व्याकरण संसार की साहित्यिक

कृतियों में सर्वोत्तम है। अन्य कोई देश उसके मुकाबले की व्याकरण-शैली अब तक नहीं उपजा पाया है। उसकी योजना मौलिक और उसका पृथक्करण अति सूक्ष्म है।"

तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में भी भारतीयों ने अद्भुत काम किया है। रेवरेण्ड वार्ड का कथन है—"भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में भी आर्यों ने प्राचीन ग्रीकों और रोमनों पर तथा आधुनिक भाषा शास्त्रियों पर विजय पाई है"। एलफ़िन्स्टन ने कहा था—"पाणिनि और उसके उत्तराधिकारियों की रचनाओं ने व्याकरण की एक ऐसी पद्धति आविष्कृत की है, जो अपने आप में सर्वथा पूर्ण है। मानवीय भाषा के तत्वों को इस प्रकार किसी अन्य ने सुव्यवस्थित नहीं किया है"।

बहुत से पाश्चात्य लोगों की यह धारणा सर्वथा निर्मूल है कि संस्कृत-साहित्य तो केवल हिन्दुओं के धार्मिक साहित्य से भरा हुआ है। कौटिल्य का अर्थशास्त्र किसी भी देश को राजशास्त्र की शिक्षा चिरकाल तक दे सकता है। वह कोई धार्मिक ग्रंथ नहीं अपितु सर्वथा लौकिक शास्त्र है। इसी प्रकार आयुर्वेद के त्रिदोष सिद्धान्त और सप्तधातु सिद्धान्त में चिकित्सा-विज्ञान के उच्चतम तत्व विद्यमान हैं। नाड़ी शास्त्र के महत्व को तो अभी तक पाश्चात्य वैज्ञानिक नहीं समझ पाए हैं। इतिहास इस बात का साक्षी है कि पुराने युग में भारतीय आयुर्वेद से सारे सभ्य संसार ने चिकित्सा-विज्ञान की बातें सीखी थीं। सासानी राजा नौशेरवां (छठी शती) के समय में वहां का एक विद्वान् भारतीय विज्ञानों में दक्षता प्राप्त करने भारत में आया था। इसी प्रकार हारूं रशीद के समय में भारत के वैद्य सम्मानपूर्वक बग़दाद के राजदरबार में बुलाए गए थे। उन्होंने वहां रह कर अरबी में आयुर्वेद शास्त्रों का भाषान्तर किया था। आगे जाकर इन्हीं अरबी ग्रंथों के अनुवाद यूरोपीय भाषाओं में हुए और वहां पर चिकित्सा-शास्त्र का विकास प्रारम्भ हुआ। इसके अतिरिक्त गणित, ज्योतिष, भवन-निर्माण विद्या, चित्र विद्या, कामशास्त्र, राजशास्त्र और धर्मशास्त्र आदि लौकिक शास्त्रों पर आर्य विद्वानों ने सैकड़ों ग्रंथों की रचना की थी, जिनके अनुवाद सभ्य देशों की भाषाओं में बराबर होते रहे। काव्य, नाटक, प्रबंध, चम्पू, आख्यान आदि के साहित्य में भारत के पंडितों और कवियों ने जो चमत्कार दिखाया है वह विश्वविदित है। विस्तार के भय से काव्य के क्षेत्र का अधिक परिचयन देते हुए प्रतीक रूप में इस भारत के तीन हम महान् राष्ट्रीय कवियों—महर्षि वाल्मीकि, महामुनि कृष्ण द्वैपायन, वेदव्यास और महाकवि कालिदास की कृतियों का कृति-कौशल प्रदर्शित करके अपना लेख समाप्त करेंगे।

संस्कृत भाषा के काव्य-साहित्य में शीर्ष स्थान पर दो अति भव्य अमर रचनाएँ अवस्थित हैं। वे हैं-"रामायण" और "महाभारत"। दोनों ही रचनाओं का सारे संसार में आदर है। भारत के घर घर में रामायण और महाभारत किसी न किसी रूप में अवश्य पढ़े जाते हैं। वे हमारे राष्ट्रीय काव्य हैं। भारतीय संस्कृति का मूर्तिमान् आदर्श इन दोनों ग्रंथ रत्नों में दृष्टिगोचर होता है। युगों से वे करोड़ों मानवों की आत्मा को जीवन के आदर्शों की प्रेरणा देते आए हैं।

'महाभारत' में यद्यपि अनेक स्थानों पर पाप, अन्याय और असत्य की चर्चा आती है परन्तु अन्त में विजय धर्म की ही होती है। इसी कारण बंधु-बांधवों, गुरुजनों और प्रिय परिजनों के रक्त से सना हुआ युद्ध-क्षेत्र भी धर्म-क्षेत्र कहा गया है। समरांगण में शस्त्रों की झंकारों में ही आर्य जाति के बुजुर्ग भीष्म पितामह शान्ति पर्व के रूप में प्रवचन करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। 'महाभारत' हमें असत्य पर सत्य की

अधर्म पर धर्म की और अन्याय पर न्याय की विजय घोषणा करता हुआ दिखाई देता है। — उर्ध्वबाहु होकर 'महाभारत' के प्रणेता भगवान् वेदव्यास जी संसार को शाश्वत धर्म का उपदेश कर रहे हैं—

श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रंथकोटिभि:।
परोपकार: पुण्याय पापाय परपीडनम् ॥

'रामायण' में धर्म और कर्तव्य की विजय-ध्वज अयोध्या से लेकर लंका तक उड़ती हुई दृष्टिगोचर होती है। वन-उपवन, पर्वत-पहाड़, नदी-नाले, ग्राम-नगर, आश्रम और कुटीर तक सभी उससे पावन और प्रभावित हो उठे हैं। उस प्रभाव से हिमाचल से लेकर कुमारी अंतरीप तक का समूचा देश ही धर्म क्षेत्र बन गया है। सर्वत्र ही सवर्णाश्रम धर्म निर्विघ्न रीति से परिपालित होते दिखाई देते हैं।

प्रिंसिपल ग्रिफ़िथ कहते हैं—"रामायण किसी भी युग के और किसी भी देश के साहित्य को चुनौती देती हुई मानो कहती है—रामचन्द्र और सीता जैसे पूर्ण चरित्र प्रस्तुत करने में कौन समर्थ है? कविता और नैतिकता इसमें सौन्दर्य के साथ गुंथी हुई है और एक दूसरे को उन्नत करती हुई जिस प्रकार इस पवित्र काव्य में प्रस्तुत हुई है, वैसी अन्यत्र कहीं भी नहीं प्राप्त होती है"।

अध्यापक मोनियर विलियम लिखते हैं —"समस्त संस्कृत-साहित्य में रामायण जैसी मनोमुग्धकारी कविता नहीं है। इसमें अभिजात पवित्रता है, शैली की स्वच्छता और सरलता है। काव्यमयी भावनाओं का प्राचुर्य है। वीरत्व पूर्ण घटनाओं का चित्रमय वर्णन है। प्रकृति का भव्य दृश्य, मानव-हृदय के अतिशय परिष्कृत भावों के घात-प्रतिघातों से गहरा परिचय--आदि गुण इस अति मनोरम रचना को उस प्रतिष्ठा पर पहुंचा देते हैं, जहां पर किसी भी गुण की कोई भी रचना नहीं पहुंच सकी है।"

एक प्रकार रामायण में भारतीय जीवन के आदर्शों की तथा भारतीय संस्कृति की काव्यमय आलोचना और व्याख्या दोनों है। युग-युगान्तर से कोटि-कोटि जन इस उत्तम महाकाव्य के चरित्रों से प्रेरणा और शिक्षा पाते आए हैं। रामायण की इस अमरता को कवि ने ठीक ही आंका है—

यावत् स्थास्यन्ति गिरय: सरितश्च महीतले।
तावद् रामायण-कथा लोकेषु प्रचरिष्यति ॥

भारतीय विचारकों ने काव्य होते हुए भी 'रामायण' को शास्त्र की पदवी पर बैठा दिया है क्योंकि उसके पाठ से चित्त को शुद्धि होती है। सामाजिक अनुष्ठानों, राष्ट्रीय कार्यों और गृह कृत्यों में प्रवृत्ति होती है। स्वार्थपरता से सम्भूत अपराधों की निवृत्ति होती है। 'रामायण' की इस गरिमा को 'स्कन्दपुराण' ने ठीक ही प्रतिपादित किया है—

ऋग् यजु: सामाथर्वा च भारतं पांचरत्नकम्।
मूलं रामायणं चैव शास्त्रमित्यभिधीयते।
यच्चानुकूलमेतस्य तच्च शास्त्रं प्रकीर्तितम् ॥

—स्कंदपुराण

परवर्ती काल में महाकवि सर्वभूति ने श्री रामचन्द्र का चरित्र धर्मावतार के रूप में अंकित किया है। वह भी अभूतपूर्व है। इस सब बातों से हम एक ही परिणाम पर पहुंचते हैं कि हमारा साहित्य युग-युग

से जीवन को दुर्बल और विघटित होने से बचाने में बड़ा सहायक सिद्ध हुआ है। सत्कर्म के प्रति अटूट श्रद्धा और निष्ठा का स्वर हमारे इन दोनों महाकाव्यों में कभी मन्द नहीं पड़ा है। कर्म योग के प्रति अमर आश्वासन देते हुए, हाथ उठा कर भगवान् वेदव्यास पुनः मानों सिंहनाद कर उठते हैं —

न हि कल्याणकृत् कश्चित दुर्गति तात गच्छति।।

महाभारत जैसा कि उसके नाम से झलकता है भरतवंश के चरित्र की काव्यमयी महती गाथा है। इसको व्यास की संहिता अर्थात् व्यास-प्रणीत संग्रह पोथी भी कहते हैं। महाकाव्य महापुराण कहने से भी इसकी व्यापकता और विशालता का बोध नहीं हो सकता। वास्तव में यह आर्य जाति के कार्यों और मन्तव्यों का विशाल विश्व-कोश है। इसमें प्राचीन भारत के ऐतिहासिक, धार्मिक, दार्शनिक आध्यात्मिक, नैतिक, राजनीतिक, और सामाजिक आदर्शों का बड़े विस्तार से निरूपण किया गया है। स्वयं महाभारत में लिखा है कि इस महाकाव्य में सब दर्शनों और स्मृतियों का सार, इतिहास और चरित्र-चित्रण समाविष्ट हैं। विषयों की विविधता और विशालता के कारण इसको पंचम वेद भी कहते हैं। अपनी गरिमा को 'महाभारत' ने स्वयं ही बड़े अच्छे शब्दों में अभिव्यक्त किया है—

"धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्।।"

अर्थात् धर्म, अर्थ काम और मोक्ष के विषय में जो कुछ 'महाभारत' में कहा गया है वही अन्यत्र भी है। जो बातें इसमें नहीं हैं, वे अन्यत्र कहीं नहीं हैं।

महर्षि वाल्मीकि और महामुनि वेदव्यास मानव-मूर्तियों में देवत्व की स्थापना करके विश्व के समस्त साहित्याकारों से ऊंचा स्थान पा गए हैं। उन्होंन जो आदर्श चित्र अंकित किए हैं, वे ऐसे अलौकिक हैं कि परवर्ती भारतीय कवि किसी नवीन देव-प्रतिमा का निर्माण करने का साहस नहीं कर सके। वाल्मीकि और व्यास की बनाई हुई देवमूर्तियों का साज श्रृंगार करते हुए उनकी अर्चना में अपनी प्रतिभा को धन्य मान गए हैं। इसका एक ही कारण है कि वाल्मीकि और व्यास की शक्ति के पीछे धर्म-भावना प्रबल थी। उसी धर्म-भावना ने उन्हें अमरत्व प्रदान किया और उनके पात्रों में देवत्व का संचार किया। दोनों क्रांतदर्शी महाकवियों ने आर्यों के जीवन को ऐसी मर्यादा में बांध दिया ह कि समस्त धरती पर वैसे तेजस्वी और अद्भुत चरित्र वाले पात्र अप्राप्य हैं। उन्हीं प्रतापी कवियों की बदौलत हम संसार की मानव-जाति के गुरू बनन का दम भर सकते हैं।

नमः परम ऋषिभ्यो नमः परम ऋषिभ्यः।

भारतीय इतिहास के स्वर्ण युग (गुप्तकाल) में उत्पन्न कविकुल गुरु कालिदास ने भी उन्हीं कवि ऋषियों के चरण-चिन्हों पर चलते हुए आर्यावर्त्त में पुनः आर्य-संस्कृति की अलख जगा दी। कालिदास ने अपने काव्यों और नाटकों में वर्णाश्रम धर्म के गौरव को फिर से घोषित किया। कालिदास की कृतियों में भी उदात्त नैतिकता का सुन्दर चित्रण हुआ है। "विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एवं धीरः" 'कुमार सम्भव' की एक सूक्ति है—अर्थात् विकार की परिस्थिति उत्पन्न होने पर जो मनुष्य विकार-ग्रस्त

नहीं होते हैं; वे ही वास्तव में धीर पुरुष हैं। कालिदासको भी वैदिक आदर्श अति प्यारा है। स्मार्त्त युग में भी वह श्रुति का गौरव स्थापित करना चाहता है। कालिदास को तपोवन और आश्रम अति प्यारे हैं। उसके नाटकों और काव्यों में से तपोवनों को निकाल दीजिए तो वे निष्प्राण हो जाएंगे। मानव हृदय और निसर्ग का जैसा—सुभग समन्वय हमें कालिदास में उपलब्ध होता है वैसा वाल्मीकि के सिवाय अन्यत्र कहीं नहीं।

इसी प्रकार जर्मन कवि शिलर ने अपने विद्वान् मित्र हंबोल्ट को 'शाकुन्तल' की प्रशंसा में अपने पत्र में लिखा था—

समस्त यूनानी पुराण-कथाओं की परम्परा में ऐसी एक भी प्रतिनिधि काव्यमयी रचना नहीं है जो मनोरम स्त्रीत्व या प्रेम के माधुर्य के विषय में 'शकुन्तला' का मुकाबला कर सके।

कहने का अभिप्राय इतना ही है कि कविगुरु कालिदास की विश्व-साहित्य की दृष्टि से भारत को अपूर्व देन है। यह भारतीय संस्कृति का प्रतिनिधि कवि है। संस्कृति वाङमय को अपने इन सभी कवि ऋषियों पर अभिमान है जिन्होंने विश्व में भारत और भारती की विजय वैजयन्ती फहराकर उसको विश्व-विजयी बना दिया है। भगवान् करे भारत और भारती का सदा जय-जयकार होता रहे।

प्रियव्रत, वेदवाचस्पति
गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी, हरिद्वार

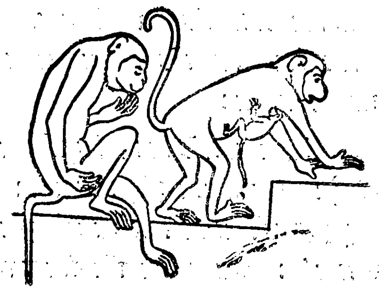

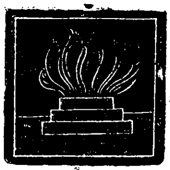

यज्ञ

यूरोप में संस्कृत विद्याओं का अन्वेषण

ईसा की पंद्रहवी शती के अन्त में समुद्र-मार्ग से यूरोपियन यात्रियों, सार्थवाहों (व्यापारियों) और ईसाई धर्म प्रचारकों का भारत में आवागमन प्रारम्भ हो गया था। इन पर्यटकों और धर्म-प्रचारकों का ध्यान भारतीय साहित्य और संस्कृति के अनुशीलन की ओर विशेष रूप से आकृष्ट हुआ। इसी समय धर्म-यात्री संस्कृत भाषा की चारुता और गठन के प्रति मुग्ध हुए। संस्कृत भाषा का ज्ञान होने पर यूरोपियन भाषाओं के साथ उसीकी आश्चर्यजनक समता को निहार कर इन मनीषियों ने तुलनात्मक भाषा शास्त्र और व्याकरण के गहरे अनुशीलन के लिए संस्कृत भाषा और संस्कृत वाङमय की विशेष छान-बीन प्रारम्भ कर दी।

संस्कृत भाषा के विषय में यूरोपियन भाषा में सब से पहली पुस्तक लिखने का श्रेय एक जर्मन मिशनरी को है। इसका नाम है हेनरिख रोथ। यह आगरे में जसुइट पादरियों की विद्याशाला का अध्यक्ष था। सन् १६६८ में आगरे में ही इसका देहान्त हुआ था। इसने संस्कृत व्याकरण पर एक पुस्तक लिखी, जो छपी नहीं। इसकी हस्त प्रति रोम नगर में अब तक सुरक्षित है।

सन् १६५१ में हालैण्ड के एक पादरी अब्राहम रोजर ने कविवर भर्तृहरि के सुभाषितों का डच भाषा में अनुवाद किया। यह भी मद्रास प्रान्त में ईसाई प्रचारक था। इस पुस्तक का पुर्तगीज़ भाषा में एक ब्राह्मण ने अनुवाद किया। इसी का जर्मन भाषान्तर सन् १६६३ में न्यूरेनबर्ग में प्रकाशित हुआ था।

बेंजमिन शुल्ट्ज नामक एक जर्मन पादरी दक्षिण भारत में रहकर बाइबिल का तमिल-भाषा में अनुवाद कर रहा था। इस सिलसिले में उसे संस्कृत और यूरोपियन भाषाओं की आश्चर्यजनक समानता का परिज्ञान हुआ। अगस्त सन् १७२५ में अपने मित्र प्रोफेसर फांकन को पत्र लिखते हुए उसने संस्कृत संख्याओं की जर्मन और लेटिन संख्याओं से समता का उल्लेख किया था। इससे भी पहले सोलहवीं शती के सासेटी नामक एक इटालियन विद्वान् ने कहा था संस्कृत तो एक अति मनोरम और संगीतमयी भाषा है। इसने इटालियन शब्द "दिओ" का संस्कृत के "देव" शब्द से साम्य दिखलाया। सन् १७६९ में एक फ्रेंच ज्योतिर्विद् लाजेन्टिल दक्षिण के ब्राह्मण पंडितों से संस्कृत भाषा और ज्योतिः शास्त्र का अध्ययन कर रहा था।

यूरोपियन भाषा में मुद्रित रूप में सबसे पहले उपलब्ध होने वाली पुस्तक संस्कृत व्याकरण के विषय में है। यह लातानी (लैटिन) भाषा में है। इसका लेखक पाओलिनों बार्थोलीमियो नामक एक आस्ट्रियन ईसाई साधु था। यह भी मालाबार-तट पर धर्म प्रचारक था। यह पुस्तक सन् १७८० में रोम में छपी थी। बार्थोलोमियो की पुस्तक का आधार एक जर्मन जसुइट पादरी हेग्सेलेडन की हस्त-लिखित पुस्तक था जो उसने सन् १६९९ में लिखी थी। यह पादरी भी मालाबार में तीस वर्ष तक कार्य करता रहा था। इसकी पुस्तक भी आज तक छापी नहीं गई।

इंग्लिस्तान के विद्वानों का सांस्कृतिक सम्बन्ध भारतीय साहित्य से उस समय स्थापित हुआ जब ईस्ट इन्डिया कम्पनी का आधिपत्य १८ वीं शती के पिछले भाग में, बंगाल में स्थिर हुआ। कम्पनी के अनेक कार्यकर्ता भारतीय साहित्य विशेषतया संस्कृत भाषा और संस्कृत वाङमय के अनुशीलन के लिए आकृष्ट हुए। उन्होंने भारतीय साहित्य का अध्ययन और विवेचन प्ररम्भ किया। प्राचीन हस्त लिखित ग्रंथों की खोज शुरू की। बंगाल के तत्कालीन गवर्नर जनरल वारन हेस्टिंग्स को राज्य शासन की दृष्टि से हिन्दू धर्म शास्त्रों के आधार पर बने हुए एक कानून-संग्रह की आवश्यकता प्रतीत हुई। उसकी प्रेरणा से हिन्दू पंडितों ने "विवादार्णवसेतु" नामक क़ानूनी ग्रंथ का संकलन किया। इसका फ़ारसी अनुवाद कराया गया और इस फ़ारसी अनुवाद पर से अंग्रेज़ी भाषांतर किया गया। यही क़ानून-संग्रह सन् १७७६ "ए कोड आफ हिन्दू लॉ" नाम से प्रकाशित हुई। इस ग्रन्थ की प्रस्तावना में संस्कृत शास्त्रों के अनेक प्रमाण प्रस्तुत किए गए। इनसे संस्कृत साहित्य की अनेक बातें पहली बार ही इन आंग्ल शासकों को ज्ञात हुई। यूरोपियन लोगों को संस्कृत साहित्य से परिचित कराने में चार्ल्स विल्किन्स का भी बड़ा महत्वपूर्ण हाथ है। वार्न हेस्टिंग्स की प्रेरणा से चार्ल्स विल्किन्स ने काशी में रह कर संस्कृत का अच्छा ज्ञान प्राप्त किया। सन् १७८५ में विल्किन्स ने भगवद्-गीता का अंग्रेज़ी भाषान्तर किया। 'हितोपदेश, की कहानियों तथा 'महाभारत' के शकुन्तला आख्यान का आंग्ल भाषान्तर भी विल्किन्स ने ही किया।

परन्तु पश्चिम में संस्कृत के अध्ययन को प्रारम्भ करने का तथा अन्य विद्वानों को भी उसकी ओर प्रवृत्त करने का महान् श्रेय सर विलियम जोन्स (१७४६-१७९४) को है। ये ईस्ट इण्डिया कम्पनी के

प्रज्ञा के धनी ? जान्स महाशय संस्कृत भाषा और संस्कृत वाङ्मय की खूबी पर लट्टू हो गए। भारत में ये केवल ग्यारह वर्ष रह पाए। परन्तु इन ग्यारह वर्षों में बड़ी साधना और तपस्या के साथ इन्होंने संस्कृत भाषा में अद्भुत उत्पन्नता प्राप्त कर ली। आप ही के सत्प्रयत्नों से कलकत्ता में एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना हुई जो पूर्व के साहित्य का अनुसंधान करने वाला एक विश्वविश्रुत प्रतिष्ठान है। इस संस्था द्वारा पश्चिम में भारतीय विद्याओं के अनुशीलन का बड़ा कुतूहल जाग उठा। सन् १७८९ में जोन्स महोदय ने कविगुरु कालिदास की श्रेष्ठ कृति 'शकुंतला' का अंग्रेजी भाषान्तर प्रकाशित किया। दो वर्ष पश्चात् इस आंग्ल अनुवाद के आधार पर जार्ज कॉस्टर ने "शकुन्तला" का जर्मन भाषान्तर प्रकाशित किया। इस अनुवाद को पढ़कर हाडर और गेटे जैसे विद्वान् आनन्द से नाच उठे। जर्मन कवि-मनीषी गेटे ने अपनी आनन्द विभोर दशा में 'शकुन्तला' के विषय में जो पद्यमय उद्‌गार प्रकट किए थे उसका अंग्रेजी अनुवाद इस प्रकार है :—

Wouldst thou the young years blossom
And the fruits of its decline,
And all by which the soul is charmed,
Enraptured, feasted and fed ?
Wouldst thou the heaven and earth itself
in on sole name combine ?
I name thee, O Shakuntala
And all at once is said.

सहृदयों के मनोरंजन के लिए इस पद्य का सुरम्य संस्कृत में श्लोक-बद्ध अनुवाद (श्रीयुत ताराकुमार कविरत्न कृत) दिया जाता है :—

वासन्ते मुकुलं फलं च युगपत् ग्रीष्मस्य सर्वं च यत्
यत् किंचिन्मनसो रसायनमयं सन्तर्पणं मोहनम्।
एकीभूतमभूतपूर्वमथवा स्वर्लोकभूलोकयोः
ऐश्वर्यं यदि कोऽपि कांक्षति तदा शाकुन्तलं सेव्यताम्

नव वत्सरेर कुड़ि, तारी एक पाते वर्ष शेषेर एकफल।
प्राण करे चुरि आर, तारि एक साथे प्राणे एने देय पुष्टिबल॥
आछे स्वर्ग लोक आर, सेइ एक ठाई, बांधा येथा आछे महीतल।
देव यदि कमु थाके, तुमि तवे ताई, ओहे अभिज्ञान शकुन्तला॥

(कवीन्द्र रवीन्द्र कृत बंगानुवाद)

उन्हीं दिनों फ्रांस के प्रसिद्ध संस्कृत प्रो० शेजी ने भी शकुन्तला का फ्रेंच भाषान्तर किया था। इस फ्रेंच अनुवाद को पढ़कर ही कविवर गटे ने कालिदास की अपूर्व प्रतिभा के विषय में विस्तार से एक सुन्दर प्रशस्ति प्रो० शेजी के प्रति लिखी थी।

जोन्स महोदय ने "मनुस्मृति" का भी अंग्रेजी भाषान्तर किया और कालिदास के "ऋतुसंहार" का सुन्दर अंग्रेजी संस्करण सन् १७९२ में प्रकाशित किया। सन् १८०८ में चार्ल्स बिल्की-रचित संस्कृत

व्याकरण को छापने के लिए यूरोप में सबसे पहले संस्कृत टाइप का उपयोग किया गया। ये टाइप भी बिल्की ने स्वयं बनाए थे। बिल्की ने ही पहले कुछ एक भारतीय शिलालेखों को पढ़ा और कुछ का अंग्रेजी अनुवाद किया। जोन्स महोदय द्वारा अनुवादित 'मनुस्मृति' का जर्मन भाषान्तर सन् १७९७ में प्रकाशित हुआ।

सर विलियम जोन्स की प्रेरणा से ही हेनरी थामस कोल ब्रुक ने "ए डाइजस्ट आफ़ हिन्दू लॉ एँड कान्टेक्टस एँड सक्सेशन" नामक अपना विशाल और विख्यात ग्रंथ प्रकाशित किया। कोलब्रुक महाशय ने 'अमरकोष' 'अष्टाध्यायी', 'हितोपदेश', 'किरातार्जुनीय' आदि अनेक संस्कृत ग्रंथों का सम्पादन किया। कई शिला लिपियों का अनुवाद भी किया। दस हज़ार पौण्ड की कीमत के प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथों का संग्रह भी कोलब्रुक के प्रयत्नों का परिणाम है। यह समस्त ग्रंथ संग्रह इन्होंने ईस्ट इंडिया कम्पनी को सौंप दिया, जो कि लन्दन के इण्डिया आफ़िस पुस्तकालय में सुरक्षित है। सन् १८०५ में आपने वेदों पर निबन्ध लिख कर यूरोप का ध्यान आर्य जाति की आदिम पवित्र पुस्तक की ओर आकृष्ट किया। कोलब्रुक महाशय १७८२ में कलकत्ता आए और कई वर्षों तक भारत में रहे।

एक अन्य आंग्ल-सज्जन का नाम जिन्होंने भारत में रहकर संस्कृत विद्या का अच्छा अनुशीलन किया था, स्मरणीय है। वे थे अलेग्जेंडर हेमिल्टन। ये सन् १८०२ म अन्य अंग्रेज यात्रियों सहित इंग्लैण्ड लौट रहे थे। उन दिनों इंग्लैण्ड और फ्रांस की आपस में अनबन होने के कारण नेपोलियन बोनापार्ट की आज्ञा से इनको पेरिस में बन्दी बना लिया गया। इनका यह कारावास यूरोप में संस्कृत विद्या के प्रसार का कारण बन गया। अपने बन्दी जीवन में इन्होंने कई यूरोपियन विद्वानों को संस्कृत भाषा सिखाई। फलतः उन लोगों ने बड़ी गम्भीरता और उत्साह से संस्कृत विद्याओं का अनुशीलन आरम्भ किया। यह प्रशंसनीय प्रयत्न यूरोप में "संस्कृत विद्या की खोज" नाम से विख्यात हो गया। हेमिल्टन के इन शिष्यों में विश्रुत जर्मन मनीषी और सुकवि फ़्रेडरिक श्लीगल का नाम उल्लेखनीय है।

श्लीगल महोदय ने भारत की भाषा और दार्शनिक प्रतिभा पर एक युग-प्रवर्तक ग्रंथ लिखा। इसी ग्रंथ द्वारा सर्वप्रथम तुलनात्मक और ऐतिहासिक समीक्षा पद्धति का सूत्रपात हुआ। इस सुन्दर ग्रंथ में रामायण, गीता, मनुस्मृति के अच्छे अच्छे अंशों का जर्मन भाषान्तर भी दिया गया था। फ़्रडरिक श्लीगल के भ्राता आगस्ट विन्हेलम श्लीगल, प्रो. शजी (संस्कृत के विश्रुत फ्रेंच विद्वान्) के शिष्य थे। आगस्ट श्लीगल ने केवल तुलनात्मक भाषा शास्त्र के क्षेत्र में अपनी अमूल्य योग ही नहीं प्रदान किया अपितु संस्कृत के अनेक मूल ग्रंथों का संपादन और भाषान्तर भी किया। वे सन् १८१८ में जर्मनी के बोन विश्व विद्यालय में संस्कृत के प्रधान उपाध्याय नियुक्त किये गए। अपने लातानी भाषा में "भगवद्गीता" का सस्करण भी तैयार किया। श्लीगल के एक शिष्य क्रिश्चियन लेसन को भारतीय विद्याओं के प्रति विशेष अनुराग था। श्लीगल के समसामयिक फ़ान्स बाय ने संस्कृत का लातानी, यूनानी आदि भाषाओं के साथ तुलनात्मक अध्ययन किया और इस प्रकार भाषा विज्ञान की नींव डाली। बाय महाशय भी प्रो. शजी के शिष्य थे। बाय ने 'रामायण' और 'महाभारत' का भाषान्तर भी किया। इनके लिखे संस्कृत व्याकरण के जर्मनी में संस्कृत के अनुशीलन को बड़ा प्रोत्साहन दिया। तुलनात्मक भाषाशास्त्र के क्षेत्र में किये गए बाय महाशय के कार्य को प्रख्यात जर्मन मनीषी विल्हेजम बानहंबोल्ट ने बड़ी व्यापक पद्धति पर विकसित किया। हंबोल्ट

ने भारतीय दर्शनों के अनुशीलन में भी महत्वपूर्ण कार्य किया। भारतीय काव्यानुशीलन के क्षत्र में जर्मन पंडित फ्रेडरिक रुकट ने भी प्रशंसनीय कार्य किया। रुकट अनुवाद के काम में सिद्धहस्त थे। इनके द्वारा जर्मनी में संस्कृत साहित्य बहुत लोकप्रिय हुआ।

१९ वीं शती के प्रारम्भ में दाराशिकोह के उपनिषदों के फ़ारसी अनुवाद के आधार पर फ्रेंच विद्वान् आंकेतील दु-पेरों ने एक लातानी अनुवाद प्रकाशित किया। उसे पढ़कर कई जर्मन तत्वचिंतक (शलिंग, कांट, शिलर, शोपनहार आदि) चमत्कृत हो उठे। शोपनहार तो भाव विभोर होकर कहने लगा—यह तो मानवीय मेधा का उच्चतम उत्कर्ष है।

वैदिक साहित्य की छानबीन का काम सन् १८३० में फ्रेडरिक रोज ने प्रारम्भ किया। यह कार्य प्रख्यात फ्रेंच पुराविद् यूजेन बर्नफ की शिष्य मण्डली द्वारा आगे बढ़ता रहा। बनर्फ ने सबसे पहले फ्रेंच में वेदों की व्याख्या की। गोरेशियो, नेवी, गोल्डस्टकर, सेंट हिलेयर आदि विद्वान् बर्नफ के ही शिष्य थे। रूडोल्फ़ रौय और मैक्समूलर जैसे महामनीषी भी बर्नफ के शिष्य थे। मैक्समूलर ने 'ऋग्वेद' का सायण भाष्य युक्त सुविख्यात संस्करण संपादित और प्रकाशित किया। रौथा के विख्यात् शिष्य एच. ग्राममैन ने 'ऋग्वेद' का अविकल जर्मन भाषान्तर लाइपशिग से प्रकाशित किया। इसी समय आंग्ल प्राच्यतत्व प्रवीण एच.एच. विलसन महाशय ने सायणाचार्य की शैली पर 'ऋग्वेद' का अंग्रेज़ी भाषान्तर किया। इसी प्रकार अलफ्रेड लुडविग ने सम्पूर्ण 'ऋग्वेद' की जर्मन गद्य में विशद व्याख्या छह जिल्दों में प्राग नगर से प्रकाशित की। इसके अनन्तर आर. पिशल और एम. गेल्डनर नामक जर्मन मनीषियों ने मिलकर तेरह वर्ष के सतत प्रयत्न के पश्चात् "वैदिक स्टडीज़" नामक विशद ग्रंथ जर्मन भाषा में स्टुटगाट से प्रकाशित किया। वेदों की खोज के क्षेत्र में जर्मन विद्वान् थियोडोर आफरेक्ट ने मैक्समूलर से पहले १२ वर्ष के परिश्रम के पश्चात् रोमन लिपि में 'ऋग्वेद' छपाया।

पश्चिम में संस्कृत विद्यानुशीलन के क्षेत्र में "सेंट पीटर्स वर्ग डिक्शनरी" (संस्कृत-जर्मन महाशब्द कोश) का प्रकाशन सन् १८५२-१८७५ अतिशय महत्व की घटना है। छब्बीस वर्ष के अखंड उद्योग के ओटो बोहतलिंग और रुडोल्फ रौथ ने इसका संकलन और संपादन किया। इसका प्रकाशन सेंट पीटस वर्ग का "अकैडमी आफ़ एण्ड साइन्स" ने किया था। जर्मन मनीषी अलफ्रेड बीवर का "भारतीय साहित्य का इतिहास" भी सन् १८५२ में प्रकाशित हुआ। इसका अंग्रेज़ी अनुवाद लन्दन से प्रकाशित हुआ है। डाक्टर विन्टरनिट्ज़ के शब्दों में यह ग्रंथ वर्षों तक भारतीय साहित्य के परिचय के लिए प्रामाणिक रूप से काम देता रहेगा।

थियोडोर आफरेट ने "केटलोगस केटलोगोरस" तैयार करके संस्कृत ग्रंथों और उनके प्रणेताओं की एक विशाल सूची बनाकर अपने ढंग का एक अपूर्व कार्य किया। इस विशाल सूची-पत्र को बनाने में ४० वर्ष लगे। तेरह वर्ष तो इसके छपने में ही लग गए। इस विराट् सूची-पत्र का अभिनव संस्करण भारत में मद्रास-विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग द्वारा डाक्टर वे. राघवन् की अधिनायकता में तैयार हो रहा है। एक खंड छप कर तैयार हो गया है। इस दिशा में डाक्टर सिल्वन लेवी (फ्रान्स) और डाक्टर विन्टर-निट्ज़ (चकोस्लोवाकिया) के प्रयत्न भी प्रशंसनीय हैं।

आंग्ल-मनीषी आर्थर अन्थनी मेक्डोनल का " वैदिक व्याकरण " और वैदिक माइथोलोजी " भी बड़े उपयोगी ग्रंथ हैं। मैकडोनल और आर्थर बरीडल कीथ के संयुक्त पुरुषार्थ द्वारा प्रस्तुत " वैदिक इण्डक्स" (शब्दानुक्रमणी) की यूरोप में बड़ी प्रशंसा हुई है। वैदिक साहित्य के पर्यालोचन में मौरिस ब्लूमफ़ील्ड की पुस्तक "वैदिक कोन्‌कोर्डेन्स" ने भी शास्त्र प्रेमियों को बहुत सहायता पहुंचाई है। विलियम डवाईट विहटनी (अमेरिका) का संस्कृत व्याकरण अब तक बहुत उपयोगी सिद्ध हो रहा है। कलकत्ता संस्कृत कालेज के आचार्य एडवर्ड बाइल कावेल ने सर्वदर्शन संग्रह, बुद्ध चरित्र आदि अनेक ग्रंथों का अनुवाद और संपादन किया। काशी के राजकीय संस्कृत कालेज के प्रिन्सिपल आर्थर वेनिस के प्रयत्न भी स्तुत्य हैं।

आंग्ल विद्वान् एच. एच. विल्सन महाशयने वायु-पुराण का भाषान्तर करके पश्चिमी और भारतीय विद्वानों का ध्यान पौराणिक साहित्य की ओर आकृष्ट किया। फलतः यूजेन बर्नफ, ज्यूलियस एर्जेलिंग, विल्फोर्ड आदि विद्वानों ने पुराणों की अच्छी छानबीन की। पुराणों के ऐतिहासिक महत्व के विषय में पार्जिटर तथा किर्फेल (बान विश्वविद्यालय-जर्मनी) ने जो विशद विवेचन किए हैं उन्होंने पुराणों के महत्व को और भी बढ़ा दिया है।

आर्यों के ज्योतिः शास्त्र के विषय में भी पाश्चात्य विद्वानों ने अच्छी गवेषणा की है। ला जेन्टिल नामक एक फ्रेंच विद्वान् दक्षिण में (सन् १७६७ में) संस्कृत भाषा और ज्योतिर्विद्या सीख रहा था। उसने अपनी खोज का परिणाम १७७२ ई. में प्रकाशित किया। सर राबर्ट चैम्बर्स ने बनारस में "सूर्यसिद्धान्त" का पता चलाया और उसे अपने मित्र सेमुअल डेसिव के समीप भेज दिया। डेविस ने उसके बहुत अंशों का अनुवाद किया।

जिन यूरोपियन सुधी जनों ने भारत में रहकर हमारे पुरातन साहित्य के अन्वेषण और अनुशीलन में भगीरथ प्रयत्न किए हैं, उनमें फ्लीट, विन्सेन्ट स्मिथ, अलेग्जेन्डर, कनिंघम, सर जान मार्शल, स्टाईन, जार्जग्रियर्सन, फ़रग्यूसन, आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इसके अतिरिक्त जिन यूरोपिय मनीषियों ने संस्कृत विद्या के अनुसन्धान में अपना मूल्यवान् जीवन लगा दिया है, उनमें ज्यार्ज बुहलर, जे. म्यर, पाक कीलहार्न, ई. राने, एच. ल्यूडर, हरयान याकोबी, ई. सेनाते, सिलवन लेवी, होपकिन्स, ई. हुल्श, बरनल, मोनियर विलियम्स, थियोडोर गोल्डस्टकर, जार्ज थीवों, जूलियस जोलो, मौरिस विन्टरनिट्ज़, कीथ आदि के नाम अग्रगण्य हैं।

निःसंदेह पश्चिमी विद्वानों की इन श्रमसाध्य गवेषणाओं से भारत को बड़ा लाभ पहुंचा है। इन खोजों के कारण भारत के पुरातन गौरव से पश्चिम जगत् अच्छी तरह परिचित हुआ है। हमारे अपने देश में भी विद्या और विज्ञान के सभी क्षेत्रों में शास्त्रीय पद्धति से अन्वेषण करने की आकांक्षा उदीप्त हुई है। इतिहास और पुरातत्व के क्षेत्र में तो इससे भारतीय विद्वानों ने बहुत लाभ प्राप्त किया है। परन्तु इसका मतलब यह नहीं कि पश्चिमी विद्वानों की ये गवेषणाएं पूर्ण और निर्दोष हैं या उनका खण्डन और पुनःसमीक्षण नहीं किया जाना चाहिए। सच तो यह है कि इनमें से अनेक विद्वानों ने भारतीय साहित्य, संस्कृति और परम्पराओं को अशुद्ध रूप में अवगत किया है तथा अशुद्ध रूप में प्रतिपादित किया है। अनेक स्थानों पर

हमारे इतिहास, धर्म, दर्शन, कला, और साहित्य के स्पष्टीकरण तथा निरूपण में जाने अनजाने इन विद्वानों द्वारा बड़ा अन्याय हुआ है। उसका प्रधान कारण यह है कि इनमें से बहुत से अन्वेषक जातीय पक्षपात से ऊपर नहीं उठ पाए हैं। स्वाधीन भारत के अन्वेषक मनीषियों का काम है कि पाश्चात्य पंडितों से हमारे इतिहास तथा वाङ्मय के साथ जो अन्याय हुआ है उसकी विधिवत् परिमार्जना और परिशुद्धि करें, जिससे सभ्यता और संस्कृति की यह प्यारी लीलाभूमि भारत अपने वास्तविक गौरव से आलोकित हो उठे।

शंकरदेव विद्यालंकार
गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी, हरिद्वार

उर्दू-उपन्यास की परम्परा

उर्दू-साहित्य में अन्य भाषाओं की भांति गद्य का विकास काव्य के बहुत बाद में हुआ। जब प्रथम प्रथम गद्य की रचना आरम्भ हुई, तब उसमें अनुवाद की बहुलता रही। जहां तक उपन्यास का संबंध है उसका आरंभ बहुत बाद में हुआ। उर्दू में सबसे पूर्व 'दास्तान' के रूप में कथा का प्रचलन आरंभ हुआ। अनेक समीक्षक दक्खिनी भाषा में लिखी हुई "सबरस" को (जो गोलकुण्डा के प्रसिद्ध कवि और गद्यकार मुल्ला वजही की लिखी हुई है) इसमें प्रथम स्थान देते हैं। यह कृति १६३४ ई. में लिखी गई। बहुत काल तक इसके संबंध में यह धारणा रही कि यह मौलिक पुस्तक है। किन्तु बाद की शोध से ज्ञात होता है कि यह पुस्तक फ़ारसी की एक पुस्तक का रूपान्तर है। इस पुस्तक के पात्र मानवीय स्वभावों और उसके अन्य प्रसंगों की पृष्ठभूमि पर आधारित है। वह व्यक्ति के जीवन का चित्र इसी माध्यम में चित्रित करते हैं और पुस्तक का निष्कर्ष यह है कि मानव की सद्वृत्तियां विकृतियों पर सदा विजय प्राप्त करती है। वजही के पश्चात् कुछ लोग सैय्यद इंशा अल्ला खां की पुस्तक "रानी केतकी और कुंवर उदयभान की कहानी" को उपन्यास का प्रथम चरण समझते हैं। पर उपन्यास के सैद्धांतिक दृष्टिकोण से इसका रूप भिन्न है।

वास्तव में यह कहानी है। इसकी प्रसिद्धि का सबसे बड़ा कारण इंशाअल्ला खां की भाषा की सरलता, मधुरता और बोधगम्यता है इस के पश्चात् फ़ोर्ट विलियम कालेज की ओर से कुछ लेखकों को नियत किया गया कि वे फ़ारसी से उर्दू में बहुत सी पुस्तकों का अनुवाद करें। यहीं पर फ़ारसी की एक प्रसिद्ध पुस्तक "नौ तर्ज़े मुरस्सा" जो संभवतः तहसीन की लिखी हुई है, अनुवाद की गई। कुछ लोगों की धारणा है कि यह पुस्तक अमीर खुसरो की थी। इसका अनुवाद दिल्ली के मीरअम्मन ने 'बाग़ो बहार' के नाम से हें सन् १८०१ में किया था। इस पुस्तक के पात्र भी प्रचलित कथाओं की भांति काल्पनिक और अवास्तविक हैं। मीर अम्मन की सबसे बड़ी विशेषता है कि वह इन पात्रों के द्वारा भी मानवीय दृश्य और भावनाओं का अच्छा परिचय देते हैं और कहीं कहीं वे मूल फ़ारसी पुस्तक से भी आगे बढ़ जाते हैं। साथ ही अपने काल परम्पराओं, विचारों और संस्कृति का अभ्यास देते हैं। यही कारण है कि आज इस पुस्तक का स्थान समग्र उर्दू साहित्य मे भी अक्षुण्ण है। भाषा के दृष्टिकोण से यह पुस्तक बड़ी महत्वपूर्ण है। इन्हीं के काल के एक अन्य लेखक मिर्जा रजब़अली बेग 'सुरूर' की एक गाथा मिलती है, जिसका नाम "फसाना अजायब" है। इनकी मृत्यु १८६७ ई. में हुई। इस पुस्तक की रचना मीर अम्मन की "बाग़ो बहार" की प्रतिस्पर्धा मे हुई थी। 'फ़साना अजायब' की भाषा में कृत्रिमता अत्यधिक है। इसके पात्र भी मानव जीवन से कोई संबंध नहीं रखते। फिर भी यह पुस्तक उन दिनों बहुत लोकप्रिय हुई क्यों कि उन दिनों लोग काल्पनिक कथाओं में गहरी अभिरुचि रखते थे।

इस पुस्तक के बाद उर्दू गद्य में गाथा का विकास तेज़ी से हुआ। इस साहित्य का स्रोत देवमालाओं की कथाओं पर आधारित प्रतीत होता ह अथवा ऐतिहासिक विषयों पर। इसका आधार धर्म अथवा सुधार की भावना है। इसी कारण इस साहित्य के पात्र सामान्य पुरुष और नारी के प्रकृतिजन्य गुण और अव-गुणों से मुक्त न होकर वे केवल सत्पात्र अथवा कुपात्र ही होते हैं। कथाओं की श्रृंखला परस्पर प्रवाहित ही रहती है। इन कथाओं के नायक घोर संघर्ष उठाकर भी कम से कम अंत में सदा विजयी होते हैं। इस साहित्य का क्रम मुग़लराज्य की समाप्ति तक चलता रहा। पुस्तकें ही नहीं, बल्कि गाथाओं को कहने का प्रचलन भी था। सम्पन्न व्यक्ति अपने घरों पर भी ऐसे कथा वाचकों को रखते थे, जो कहानी कहकर उनका मनोरंजन करते रहें। हमारे कुछ समय पूर्व तक इन कथाओं का प्रचलन उपलब्ध होता है। इन कथाओं का वास्तविक सूत्र प्राचीन कहानियों की प्रच्छन्नता में है या परिवर्द्धित रूप है।

लेकिन तथ्य यह है कि उर्दू उपन्यास का मूल वास्तविक आरंभ डॉ. नज़ीर अहमद से होता है। डॉ. नज़ीर, सर सैयद अहमद के समकालीन थे और अपने समय के पांच प्रसिद्ध गद्यकारों में से थे। वे अरबी-फ़ारसी के विद्वान् थे। उनका अंग्रेज़ी का ज्ञान भी अच्छा था। धार्मिक विचारों के होने पर भी वे स्वभाव से अत्यन्त विनोद-प्रिय थे। उनका उपन्यास कार बनजाना एक अनायास की घटना ही माना गया है। उन्हें अपने बालकों के लिए ऐसी पुस्तकों की आवश्यकता थी, जो शिक्षण के साथ-साथ उनमें अध्ययन के लिए अभिरुचि का विकास भी कर सकें। जब उन्हें इस ढंग की पुस्तकें उपलब्ध नहीं हो सकीं तो उन्होंने स्वयं कहानी के प्रकार की कुछ पुस्तकें लिखीं। डॉ. नज़ीर अहमद कुछ पृष्ठ नियमित रूप से नित्य प्रति लिखा करते थे और जब उन्होंने लिखना समाप्त किया तो उन्हें यह बात भी ज्ञात हुई कि उनकी रचनाएँ अनायास ही साहित्यिक स्तर पर आगई हैं। इसी प्रकार वे अपनी रचनाओं के प्रकाशन के पश्चात् पुरस्कृत और सम्मानित भी किये गए।

डॉ. नज़ीर अहमद के उपन्यासों की पृष्ठभूमि दिल्ली के वातावरण पर आधारित है। उनमें स्त्रियों की समस्या और उसके समाधान को अधिकता से उठाया गया है। उनको शैली इतनी रोचक और विचित्र है कि किसी भी आयु का कोई भी व्यक्ति इन्हें पढ़ता है तो विस्मित और विमुग्ध रह जाता है और बार बार पढ़ जाने पर भी उनसे मन ऊबता नहीं है। उनकी कहानियों का सारा वातावरण कुछ ऐसा आकर्षण युक्त है कि शुरू करके बिना समाप्त किये नही छोड़ा जाता। उनकी विषय वस्तु और पात्र हमारे जीवन से गहरी समानता रखते हैं और हम से अभिन्न प्रतीत होते हैं। उस कालम में तो लोग उनके उपन्यासों की विषय वस्तु और पात्रों को यथार्थ मानने लग जाते थे और जब वे पाठक दिल्ली आते थे तो उपन्यासों में वर्णित पात्रों और स्थानों की खोज करने लग जाते थे। इन उपन्यासों में रोचकता, मधुरता, सरलता और तरलता का बड़ा योग है। डॉ. नज़ीर का शब्द और मुहावरों का ज्ञान बड़ा विशाल था। उनके उपन्यासों में कहीं-कहीं उपदेशात्मकता भी परिलक्षित होती है। कतिपय स्थानों पर उन्होंने प्रतीकों के माध्यम से सद्-वृत्तियों और कुवृत्तियोंको सामने रखा है। और कहीं कहीं उन्होंने अत्यधिक आदर्शवादिता को भी लक्ष्य बनाया है। सबसे अधिक आश्चर्य की बात तो यह है कि जो पात्र उन्होंने जीवन की विकृतियों के रूप में प्रस्तुत किए, वही न केवल सामान्य जीवन से अत्यन्त निकट प्रतीत होते हैं, अपितु सामान्य व्यक्ति उन्हीं की ओर अत्यधिक आकर्षित भी हुए और इसके विपरीत जो पात्र उन्होंने आदर्श के रूप में रखें, वे बहुत लोकप्रिय नहीं हो सके और सामान्यतः अपरिचित से लगते थे। उनका सबसे उल्लेखनीय पात्र मिर्ज़ा जाहिरदार बेग है। इसके माध्यम से मानव जीवन की सारी विकृतियों पर व्यापक प्रकाश डाला गया है। इस पात्र का मनोविश्लेषण तत्व बड़ा सूक्ष्म और वास्तविक है। मिर्ज़ा जाहिरदार बेग का नाम लेते ही सामान्य मानव जीवन का पूरा चित्र स्वतः साकार हो जाता है। डॉ. नज़ीर अहमद के उपन्यासों का केवल यही एक पात्र ही उन्हें उर्दु उपन्यास साहित्य में अमर बना देने के लिए पर्याप्त है। उनके उपन्यासों की सफलता को पृष्ठभूमि में युग की परिवर्तित बौद्धिक और सामाजिक चेतना का बड़ा स्थान है। और अन्ततः यही बौद्धिक और सामाजिक चेतना उनके उपन्यासों का लक्ष्य भी बनती है। इनके अनन्तर इन्हीं के अनुसरण पर अनेक लेखकों ने बहुत से उपन्यास लिखे किन्तु वे नज़ीर अहमद की कोटि में नहीं आ सके। डॉ. नज़ीर अहमद के समस्त साहित्यिक कृतित्व में नवीनता और प्राचीनता का अद्भुत सामंजस्य है। उनके उपन्यासों में उस काल का संपूर्ण और वास्तविक प्रतिविम्ब मिलता है।

उनके समय में अंग्रेज़ी राज्य की स्थापना हो चुकी थी। लोगों की स्वतंत्रता संबंधी उत्कट भावनाओं को साहित्यकारों ने व्यंग के माध्यम में व्यक्त किया। उस समय लखनऊ से "अवध पंच" नामक उर्दू पत्र का प्रकाशन होता था और उसके लेखकों में रतननाथ दर 'सरशार' का नाम विशेष उल्लेखनीय है। रतननाथ दर 'सरशार' काश्मीरी ब्राह्मण थे। उनका आवास लखनऊ में कई पीढ़ियों से था। उनकी रचनाओं में गंभीर विषय को भी हास्य और व्यंग में कहने की प्रवृत्ति अधिक पाई जाती है। इन्होंने कई कहानियां, निबंध और उपन्यास लिखे। उनकी समस्त रचनाओं में "फ़सानाए आज़ाद" सबसे अधिक लोकप्रिय है। इसका प्रकाशन "अवध अखबार" में धारावाहिक रूप में हुआ और बाद में इसका प्रकाशन चार खण्डों की पुस्तक में हुआ। साहित्यिक दृष्टि से यह पुस्तक उपन्यास और कथा के मध्य की वस्तु है। इस पुस्तक का एकमात्र पात्र "आज़ाद" है। केवल इसी के माध्यम से पुस्तक में लखनऊ के समस्त तत्कालीन वातावरण और समाज को बड़ी सजीवता और रोचकता से रखा गया है। इसमें

लखनऊ के प्रासादीय जीवन, बेग़माती भाषा (बोली-ठोली) नवाबों की बैठकें, मुहर्रम के जुलूस, ऐशबाग़ के मेले, मदारी का तमाशा, बटेरों की लड़ाइयां आदि आदि लखनऊ का सारा जीवन उपलब्ध होता है। पुस्तक की शैली और भाषा हास्य और व्यंग्य से इतनी ओत प्रोत है कि कोई भी पाठक स्थान-स्थान पर हंसता, खिलखिलाता रह जाता है। इस विशाल पुस्तक में आकर्षण इतना अदम्य है कि पाठक इसे समाप्त कर के भी समाप्ति नहीं चाहता। इस पुस्तक के अनुसरण में अन्य लेखकों ने भी लिखने के प्रयास किये किन्तु उन्हें 'सरशार' जैसी सरसता और सिद्धहस्तता प्राप्त नहीं हो सकी। इसी पुस्तक का समस्त उर्दू साहित्य में एक विशिष्ट स्थान है। यह पुस्तक सरशार की पारदर्शी प्रतिभा का एक अत्यन्त उत्कृष्ट नमूना है। उनका निधन अत्यल्प आयु में ही हो गया।

सरशार के काल में ही अब्दुल हलीम शरर का नाम ऐतिहासिक उपन्यासों के कारण उल्लेखनीय है। उनके उपन्यासों की संख्या विशाल है, किन्तु उनके सारे उपन्यासों की वर्ण्यवस्तु, भाषा, कथानक, शैली आदि में इतनी अधिक ऐकरूपता है कि उनका कोई विशेष महत्व प्रतीत नहीं होता। ऐतिहासिक उपन्यासों में सिद्धान्ततः ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को भी प्रस्तुत किया जाता है, किन्तु उसमें ये उपन्यास असफल ही रहे हैं.। इनका एक उपन्यास "फिरदोसे बरीं" विशेष उल्लेखनीय है। उनकी भाषा में प्रवाह और सरसता अत्यधिक मिलती है।

समय के परिवर्तन के साथ मानवीय दृष्टिकोण का परिवर्तन भी स्वतः ही हो जाता है। मिर्ज़ा हादी 'रुसवा' ने युग की प्रवृत्तियों के अनुसार ही लिखा। ये केवल साहित्यिक ही नहीं थ, अपितु अनेक कलाओं के भी महान् ज्ञाता थे। पर वे उपन्यासकार के नाम से अविस्मरणीय हैं। उनका उपन्यास "उमराव जानअदा" उनकी सर्वोत्कृष्ट कृति है। अब तक के साहित्यकार साहित्य में वेश्या लाना औचित्य पूर्ण नहीं मानते थे। उन्होंने इस उपन्यास में एक वेश्या की आत्म कथा को बड़ी सहजता, सशक्तता और मार्मिकता से वर्णित किया है। इस उपन्यास का क्षेत्र लखनऊ है। उर्दू-साहित्य में सर्वप्रथम वेश्या के पात्र को उन्होंने ही रखा। यद्यपि उस समय के सामन्ती समाज में वेश्या का स्थान अभिन्न था, किन्तु उसकी चर्चा साहित्य में बड़ी आलोच्य और अशिष्ट थी। 'रुसवा' की विषेशता मानव जीवन की विकृतियों से गहरी सहानुभूति रखन में है। वे निम्न कोटि के व्यक्तियों में भी अभिरुचि रखते थे। उनका कथन था कि जीवन के सौंदर्य की प्यास केवल हम में ही नहीं सारे समाज में भी है; वे समाज की समस्याओं का समाधान प्रस्तुत नहीं कर सके। किन्तु 'उमराव जानअदा' का मनोविश्लेषण तत्व बड़ा गहन और सूक्ष्म है। उसमें बड़ी मार्मिकता और संवेदनशीलता है।

ज्यों ज्यों भारत की राजनीति और जनता में संघर्ष तीव्र होता गया, वैसे वैसे परिवार और समाज के जीवन में नई नई समस्याएं बढ़ती ही गईं। हमारे लेखक और कलाकार इस परिवर्तन-काल की भावनाओं को समझ रहे थे। और अपनी अपनी बुद्धि और शक्ति से उसका समाधान भी करने का प्रयास यथा शक्य कर रहे थे। अंग्रेज़ी शिक्षा के माध्यम से लोग अंग्रेज़ी साहित्य और संस्कृति के निकट आ रहे थे और लोगों की भावना यह भी बन चुकी थी कि बिना अंग्रेज़ों के अनुसरण किए हम सभ्य और संस्कृत नहीं हो सकत। दूसरी ओर कुछ लोगों की धारणा ऐसी भी थी कि जब तक हम अपनी संस्कृति, सभ्यता और परम्परा को सुरक्षित नहीं रखेंगे तब तक अपना व्यक्तित्व और अस्तित्व भी कुछ न तन सकेगा। व्यक्ति और समाज की इन भिन्न-भिन्न धारणाओं के परस्पर संघर्ष से उपन्यास को विकसित किया।

इस प्रकार प्रेमचंद जैसे लेखकों के लिए भूमि तैयार हो रही थी। और जहां तक भाषा और शैली का संबंध था लोगों का दृष्टिकोण विविधता का था। इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि भाषा और शैली भी भिन्न भिन्न रूपों और मार्गों में विकसित हो रही थी। ऐसे उपन्यासकारों में राशेदुल खैर का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इनका मुख्य विषय तत्कालीन स्त्री समाज का चित्रण और उनकी समस्याओं को प्रस्तुत करते हुए उनका समाधान करना था। उनके उपन्यासों में संवेदना के भावों का चित्र बड़ा गहरा और मार्मिक है। राशेदुल खैर ने स्त्रियों को लिखने पढ़ने की प्रेरणा दी। १९३६ ई में उनकी मृत्यु हुई। किंतु उनकी मृत्यु के पहले ही नारी समाज में अच्छी जागृति उत्पन्न हो चुकी थी। इन्हीं दिनों एक नाम साहित्यकारों में विशेष रूप से देदीप्यमान हो उठा। वह नाम है 'प्रेमचंद'। प्रेमचंद ने उपन्यास का सारा आधार, रूप, शैली सब कुछ परिवर्तित कर डाला। प्रेमचंद उर्दू साहित्य में लघु कथाओं के उन्नायक होने के साथ, उपन्यास-साहित्य का वे मार्ग दर्शन भी करते हैं। आज तक साहित्य मनोरंजन के लिए होता था या किसी विशेष ध्येय को लेकर लिखा जाता था। उसकी सारी पृष्ठभूमि को प्रेमचंद ने परिवर्तित कर डाला और उसे एक सामायिक दिशा प्रदान की। उन्होंने विविध व्यक्तियों और विविध जीवनों को प्रत्येक दृष्टिकोण से देखा, उसका चित्रण किया और उसे एक समाधान देने का भी प्रयास किया। उन्होंने साहित्य की दृष्टि को व्यापक बनाया और इस मान्यता का सूत्रपात किया कि साहित्य केवल बड़ी और महत्व की घटनाओं के लिए ही नहीं है, जीवन की छोटी छोटी घटनाओं को भी उस में स्थान दिया जाना चाहिए। वे अपने समय की गति, दिशा और परिवर्तनों से पूरी तरह परिचित थे। और उनमें गहरी अभिरुचि रखते थे। भारत की परिस्थितियों के तीव्र परिवर्तन की बौद्धिक और सामाजिक पृष्ठभूमि को वे अनुभव करते। इसीलिए लगभग ४०० कहानी और चौदह उपन्यास लिखने के अनन्तर उनकी लेखनी सतत सृजनशील ही नहीं, रही अपितु उनकी लेखनी उत्तरोत्तर प्रखर और प्रशस्त भी होती गई। जैसे-जैसे उनकी आयु, अध्ययन और अनुभव बढ़ता गया, वैसे वैसे उनके साहित्य में प्रौढ़ता और गहनता आती गई। पर वे अपने पाठकों और समाज के दृष्टि कोणों का भी पूरा विचार रखते थे। और अपनी त्रुटियों को बड़ी सरलता से स्वीकार कर लेते थे। उनकी विचार दृष्टि जहां तरल थीं, वहां गहन और प्रतिभाशाली भी थी। वे समाज से कभी विमुख नहीं रहे। और अपने व्यक्तित्व और जीवन के प्रति कर्तव्य और उसकी समस्याओं के प्रति वे सदा सजग रहे। उनके उपन्यासों को समझने के लिए उनके निजी जीवन, परिवार की पृष्ठभूमि और उनके तत्कालीन जीवन के इतिहास को भी समझना आवश्यक है। एक वे परतंत्र राष्ट्र में स्वतंत्र रहने की उत्कट कामना लेकर जन्मे थे। उनकी विशेष मुख्यता इस बात में थी कि वे साधारण व्यक्ति के मनोविश्लेषण को भी निजत्व के साथ समझ सकते थे। वे अपने साहित्य में बुराई का विरोध करते थे, पर बुरे व्यक्ति के प्रति उनकी हार्दिक सहानुभूति थी और बुराई और बुरे व्यक्ति के प्रति उनका दृष्टिकोण निराशा और कुंठा का नहीं था। उनका दृष्टिकोण सामान्य व्यक्ति और जीवन के प्रति बड़ा व्यापक, सहानुभूतिपूर्ण और प्रखर था। उन्होंने अपने दृष्टिकोण को अपने मन और समाज के साथ इतनी निकटता, सबलता और सहजता से प्रस्तुत किया कि उस काल के ही नहीं आज के साहित्यिक भी उन्हे अपना अग्रगण्य मानते हैं। उनका जीवन संबंधी दृष्टिकोण सीमित अथवा विशिष्ट नहीं था अपितु वे जीवन को प्रत्येक दृष्टिकोण से देखते थे।

आधुनिक साहित्य में प्रगति के चिन्ह दिखलाई पड़ते हैं। शायद यही कारण था कि लखनऊ में प्रगतिशील लेखक संघ का जो प्रथम अधिवेशन हुआ था उसमें प्रगतिशील लेखकों ने प्रेमचंद को एक मत से अपना नेता माना। उर्दू में प्रगतिवाद सज्जाद ज़हीर और उनके साथियों द्वारा आया, इनसे पूर्व भी कुछ लोग हमारी प्रचलित रूढ़ियों का विरोध कर रहे थे, जिनमें नियाज़ फ़तेहपुरी और क़ाज़ी अब्दुल ग़फ़्फ़ार विशेष उल्लेखनीय हैं। नियाज़ १८८७ ई. में पैदा हुए और साहित्य में अपनी नास्तिकता के कारण नवयुवकों में बड़े प्रिय हो गए थे। इनका एक लघु उपन्यास "शहाब की सर गुज़श्त कला के दृष्टिकोण से उतना महत्वपूर्ण नहीं है, परंतु उसने लेखकों के पूरे दृष्टिकोण को एक नया मोड दिया। इसी से इसका विशेष महत्व है। वे निबंध और समीक्षा के श्रेष्ठ लेखक थे। यदि इनके समय में कोई किसी महत्व पूर्ण ग्रंथ का प्रकाशन हुआ है तो वह पुस्तक "लैला के ख़तूत" है। क़ाज़ी साहब १८८८ में पैदा हुए और गत जनवरी, ५६ में उनकी मृत्यु हो गई। क़ाज़ी साहब की साहित्यिक प्रतिभा बहुमुखी थी। "लैला के ख़तूत की पृष्ठभूमि युगचेतना की एक शक्तिशाली प्रतीक है। इस उपन्यास के अतिरिक्त उनका अन्य कोई उपन्यास इतना उत्कृष्ट नहीं बन सका। इनके बाद सज्जाद ज़हीर अपने लघु उपन्यास द्वारा अपने ध्येय की ओर उन्मुख हैं। उन्होंने धर्म और समाज के प्रति विरोधाभासात्मक दृष्टिकोण लेकर एक लघु उपन्यास "लन्दन की एक रात" लिखा। इस उपन्यास में मानव जीवन को व्यापक रूप से परिवर्तित कर डालने की प्रेरणा मिलती है। इस उपन्यास के लिखने के बाद सज्जाद ज़हीर राजनीति में आगए। किंतु उनकी पुस्तक ने लोगों को बड़े स्तर पर प्रभावित किया। कृष्णचन्द्र, इसमत चुग़ताई, क़ुर्रतुलऐन हैदर-ए. हमीद आजकल के उल्लेखनीय लेखक हैं। कृष्णचन्द्र का महत्व उनकी भाषा के कारण विशेष रूप से है। उनकी भाषा चित्रण भाव का उभार अधिक है और काश्मीर का अंकन उसमें इतनी सजीवता और सहजता से किया गया है कि काश्मीर उनके साहित्य में अमर हो गया है। इसमत चुग़ताई, उर्दू साहित्य के लब्ध प्रतिष्ठ हास्यकार अज़ीम बेग चुग़ताई की बहन है। इनकी भाषा में चापल्य विशेष रूप में है। 'टेढ़ी लकीर' नामक इनका उपन्यास प्रसिद्ध है। इन्होंनें छात्राओं के जीवन का चित्रण अधिक किया है।

कुर्रतुलऐन हैदर अंग्रेज़ी शिक्षा दीक्षा में पली हैं। कहना चाहिए कि वे अंग्रेज़ी में सोचती हैं, उर्दू में लिखती हैं उनकी शैली अस्तव्यस्त होते हुए भी प्रिय हुई है। इनके उपन्यास "मेरे भी सनम खाने" और 'सफ़ी नये ग़मे दिल" अधिक प्रसिद्ध हैं। ए. हमीद, कृष्णचन्द्र से प्रभावित हैं किंतु उनकी एक विशेषता है कि उन्होंनें पर्यटनात्मक उपन्यासों का सृजनपटुता और सुंदरता से किया है। इनका उपन्यास "झल और कमल" बड़ा लोकप्रिय है। और संभावना है कि ए. हमीद के साहित्य में अभी और भी प्रौढ़ता और सजीवता प्राप्त होगी।

यदि हम उर्दू उपन्यास की समस्त परंपरा पर एक विहंगम दृष्टि डालें और विवेचनात्मक दृष्टिकोण तथा तुलना दृष्टि से उस पर अनुशीलन करें तो हमें इस बात का अनुभव तीव्रता से होगा कि उर्दू उपन्यास अभी केवल अपनी आरंभिक अवस्था में ही है, उसमें शैली, भाषा विषय, भावों आदि की भूमि पर विभिन्न प्रकार के प्रयोग निरंतर चल रहे हैं। कहना यों चाहिए कि उर्दू उपन्यासों को अभी सैद्धांतिक विशदता और स्थिर एवं व्यापक सम्यक्दृष्टि की निरंतर अपेक्षा है। उर्दू लघु कथा और उर्दू-उपन्यास को तुलनात्मक

दृष्टिकोण से देखा जाए तो साहित्य का प्रथम अंग न केवल सुस्थिर ही हो गया है, अन्य भारतीय लघु कथा साहित्य की तुलना में स्पृहणीय भी बन गया है। सूत्र रूप में उर्दू उपन्यास की परम्परा दीर्घकालीन होने पर भी स्फुट रही है। तथा असंदिग्धतः ही अभी भी उसकी स्थिति प्रयोग और प्रारंभ की है।

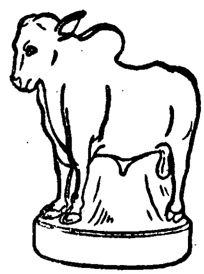

श्रीमती साजिदा, एम. ए.,
महिला-महाविद्यालय,
हैदराबाद-दक्षिण

उत्तरी भारत की भाषा पर दक्खिनी उर्दू का प्रभाव

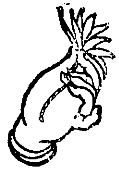

औरंगज़ेब की विजय के पश्चात् उत्तरी और दक्षिणी भारत राजनीतिक रूप से न केवल एक सूत्र में आबद्ध हुए अपितु उनके मध्य सभ्यता और संस्कृति का भी सम्मिलन स्थापित हुआ। उस समय जब दक्षिण और उत्तर के मध्य आवागमन प्रारम्भ हुआ तब दोनों ही स्थानों के निवासियों को अपनी अपनी बोल चाल की भाषाओं की विभिन्नता और पार्थक्य का भी आभास हुआ। उत्तर के निवासी जब दक्षिण में आए तो उन्हें यहां साहित्यिक कार्य प्रचुर रूप में देखने में आया। इससे उत्तर वालों ने यह भी अनुभव किया कि साहित्यिक क्षेत्र में वे दक्षिण से पर्याप्त पिछड़े हुए हैं। उत्तर भारत के विषय में कहा जा सकता है कि वहां अभी तक किसी भी व्यक्ति ने सामान्य उर्दू में कविता नहीं की थी। यद्यपि हमें उस समय इस प्रकार के दो चार उदाहरण मिल भी जाते हैं किन्तु साहित्य के इतिहासकारों ने उन्हें साहित्यिक कोटि की रचनाओं में स्वीकार नहीं किया है। उस समय उत्तरी भारत में रची गई उर्दू-कृतियां साधारण स्तर की ही मानी जाती हैं। उस युग में केवल दो चार कवि ही ऐसे मिलते हैं जिन्होंने उर्दू में रचनाएँ कीं। ऐसे उर्दू कवियों में मुईज़ मूसवी खां "फ़ितरत" का भी नाम लिया जा सकता है।

"फ़ितरत" औरंगज़ेब के समय में हुए हैं और दरअसल वे फ़ारसी के कवि थे। उनका निम्न उर्दू-शेर साहित्य के इतिहास में उपलब्ध होता है :

अज़ ज़ुल्फ़े सियाहे तो बदिल दूम परी है
दर ख़ान-ए- आईना गता झूम परी है

मिर्जा मुईज़ के साथ एक अन्य कवि कज़िलबाश खां "उम्मीद" के शेर उर्दू में भी मिलते हैं। एक उर्दू शेर का उदाहरण है :—

बामन की बेटी आज मेरी आंक मूं परी
गुस्सा किया व गाली दिया और दिगर लरी

इस प्रकार के शेरों के अतिरिक्त औरंगज़ेब के काल के कुछ अन्य शेर भी उर्दू में मिलते हैं। ये उर्दू-शेर जाफ़र-अली "जटल्ली" द्वारा लिखे प्रतीत होते हैं। साहित्यिक दृष्टि से ये शेरे निकृष्ट कोटि के हैं। किन्तु लन्दन स्थित इंडिया आफ़िस के पुस्तकालय में संगृहीत पाण्डुलिपि में कुछ शेर इस प्रकार के भी प्राप्त होते हैं, जिन्हें सामान्यतः अच्छा कहा जा सकता है। नीचे उदाहरण रूप में एक शेर दिया जा रहा है, जिससे उस समय की उर्दू शायरी की अवस्था का आंशिक ज्ञान हो सकता है। निम्न शेर औरंगज़ेब की प्रशंसा में लिखा गया है :—

ज़हे धाके औरंगशाहे वली
दर अक़लीमे दक्कन पड़ी खलबली
दरी पीर सा लो ज़ईफ़े बदन
मचाई धमा चौकड़ी दर दखन
ज़हे शाहे शाहाँ के गाहे बग़ाय
न हल्लत न टल्लत न जुम्बद ज़े जाय
बरावुर्द लश्कर बसा धूम धाम,
के हलचल पड़ी बरसरे सुबहो-शाम
महासूर जोधा बली बेबदल
चूं अलबर्ज़ क़ायम चूं परबत अटल

निम्न मर्सिया औरंगज़ेब की मृत्यु के समय का है :—

अकल बेकल हुआ संसार सारा
बखू तैयार शुद मिर्रीख़ तारा
सदाए तोपो बन्दूके अस्त हरसू
छटा छट्टो फटाफट अस्त हरसूं
बहर सूं मार मारो धाड़ धाड़-अस्त
अछल चालो तबर.ख़ंजर गुज़ा रस्त

कहना यों चाहिएं कि इस प्रकार की उर्दू कविता करने वालों ने जब देखा कि दक्षिण में बहुत काल से उर्दू कविता पर्याप्त परिष्कृत रूप धारण कर चुकी है तो वे दक्षिणी साहित्य से प्रभावित होने के साथ ही

"फ़ितरत" औरंगज़ेब के समय में हुए हैं और दरअसल वे फ़ारसी के कवि थे। उनका निम्न उर्दू-शेर साहित्य के इतिहास में उपलब्ध होता है :

अज़ ज़ुल्फ़े सियाहे तो बदिल दूम परी है
दर खान-ए- आईना गता झूम परी है

मिर्जा मुईज़ के साथ एक अन्य कवि कज़िलबाश खां "उम्मीद" के शेर उर्दू में भी मिलते हैं। एक उर्दू शेर का उदाहरण है :—

बामन की बेटी आज मेरी आंक मूं परी
गुस्सा किया व गाली दिया और दिगर लरी

इस प्रकार के शेरों के अतिरिक्त औरंगज़ेब के काल के कुछ अन्य शेर भी उर्दू में मिलते हैं। ये उर्दू-शेर जाफ़र-अली "जटल्ली" द्वारा लिखे प्रतीत होते हैं। साहित्यिक दृष्टि से ये शेर निकृष्ट कोटि के हैं। किन्तु लन्दन स्थित इंडिया आफ़िस के पुस्तकालय में संगृहीत पाण्डुलिपि में कुछ शेर इस प्रकार के भी प्राप्त होते हैं, जिन्हें सामान्यतः अच्छा कहा जा सकता है। नीचे उदाहरण रूप में एक शेर दिया जा रहा है, जिससे उस समय की उर्दू शायरी की अवस्था का आंशिक ज्ञान हो सकता है। निम्न शेर औरंगज़ेब की प्रशंसा में लिखा गया है :—

ज़हे धाके औरंगशाहे वली
दर अक़्लीमे दक्कन पड़ी खलबली
दरी पीर सा लो ज़ईफ़े बदन
मचाई धमा चौकड़ी दर दखन
ज़हे शाहे शाहाँ के गाहे बग़ाय
न हल्लत न टल्लत न जुम्बद ज़े जाय
बरावुर्द लश्कर बसा धूम धाम,
के हलचल पड़ी बरसरे सुबहो-शाम
महासूर जोधा बली बेबदल
चूं अलबर्ज़ क़ायम चूं परबत अटल

निम्न मसिया औरंगज़ेब की मृत्यु के समय का है :—

अकल बेकल हुआ संसार सारा
बखूं तैयार शुद मिर्रीख तारा
सदाए तोंपो बन्दूक अस्त हरसू
छटा छट्टो फटाफट अस्त हरसूं
बहर सूं मार मारो धाड़ धाड़-अस्त
अछल चालो तबर.खंजर गुज़ा रस्त

कहना यों चाहिए कि इस प्रकार की उर्दू कविता करने वालों ने जब देखा कि दक्षिण में बहुत काल से उर्दू कविता पर्याप्त परिष्कृत रूप धारण कर चुकी है तो वे दक्षिणी साहित्य से प्रभावित होने के साथ ही

उसकी ओर आकर्षित भी हुए। चूंकि ये लोग इस दीर्घ अवधि में फ़ारसी कविता का अनुसरण करते-करते ऊब भी चुके थे। एक विदेशी भाषा में सिद्धहस्त होने के लिए उन्हें विशेष परिश्रम भी करना पड़ता था। उसके बावजूद वे फ़ारसी कवियों के सम्मुख अपने को स्वयं ही हीन अनुभव करते थे साथ ही चूंकि फ़ारसी उनकी मातृभाषा नहीं थी इससे वे अभिव्यक्ति के नए-नए ढंग ग्रहण करने में भी अपने को असमर्थ ही पाते थे। इन कवियों को हर वक्त यह भय भी सताता रहता था कि कहीं ईरानी उस्ताद उनकी कविता को सिद्धान्त और शैली के आधार पर निम्न कोटि का अथवा त्रुटि पूर्ण न ठहरा दें—विशेषतः इस पृष्ठभूमि पर ईरानी और भारतीय कवियों में मुहावरों आदि के प्रयोग के प्रश्न पर प्रायः विवाद ही छिड़ा रहता। इन विवादों का उल्लेख प्राचीन साहित्य की पुस्तकों में उपलब्ध होता है। एक अन्य उल्लेखनीय बात यह है कि भारत में फ़ारसी को प्रश्रय देने वाले राज्य बड़ी तीव्र गति से अवनति की ओर अग्रसर हो रहे थे—इस समय के शासक न तो स्वयं ही कवि थे और न वे अपनी पतनोन्मुख स्थिति में अन्य कवियों को समुचित रूप में आश्रय दे सकते थे। यदि अकबर के काल के सामन्तों की भांति औरंगज़ेब और उसके काल के सामन्त भी फ़ारसी कवियों को जी खोलकर प्रोत्साहित करते तो बहुत सम्भव था कि फ़ारसी कविता कुछ समय तक के लिए और प्रचलित रहती। इसके अतिरिक्त फ़ारसी के भारतीय कवियों के लिए भावाभिव्यक्ति के नए नए ढंग पूर्णता और सरलता से सुलभ नहीं थे। दूसरे वे भारत की स्थानीय विशेषताओं और अपनी प्रकृति जन्य मनःस्थिति को फ़ारसी कविता में अभिव्यक्त करना अनुकूल नहीं पाते थे, इसलिए स्वभावतः वे अन्दर ही अन्दर किसी ऐसी चीज़ के खोजी थे जिसके माध्यम से वे स्वच्छन्दता और स्वाभाविकता के साथ अपनी प्रतिभा को सब के समक्ष रख सकते। जिस समय उन्होंने दक्खिनी उर्दू का अध्ययन किया तो उन्हें वह अपने बहुत निकट की वस्तु प्रतीत हुई। उन्हें यह भी भान हुआ कि दक्खिनी उर्दू के माध्यम से उनकी समस्त साहित्यिक आवश्यकताएं भी पूरी हो सकती हैं। उन्होंने शनैः शनैः फ़ारसी को छोड़ना आरम्भ किया तो दूसरी ओर वे दक्खिनी उर्दू की ओर उन्मुख होते गए और कुछ समय पश्चात् वे फ़ारसी के प्रति उदासीन से ही हो गए। उस समय "सौदा" या "मीर" भी यदि फ़ारसी में रचना करते तो इन्हें भी हेय दृष्टि से ही देखा जाता।

उस काल में जो दखनी के कवि उत्तरी के भारत गए। उनकी संख्या धीरे धीरे बढ़ती ही गई। "मुसहफ़ी" के इतिहास से प्रकट होता है कि दक्षिण के चौदह पंद्रह उर्दू कवि दिल्ली गए थे। "मुसहफ़ी" के इतिहास में तीस के लगभग उत्तरी भारत के ऐसे कवियों का उल्लेख मिलता है, जो दक्षिण गए थे। यदि उस काल के साहित्य के अन्य इतिहासों का भी अध्ययन किया जावे तो हमें विश्वास है कि उक्त संख्या में प्रचुर वृद्धि हो जाएगी। फिर भी इस स्थल पर इस बात का प्रकट करना आवश्यक प्रतीत होता है कि उस समय में उत्तरी भारत के कवियों के विषय में साहित्य के इतिहास में जो कुछ लिखा गया ह उसमें जितने अंशों का अध्ययन हमने किया है उसके आधार पर हम यह कह सकते हैं कि दो सौ के लगभग ऐसे कवि मिलते हैं जो किसी न किसी रूप में दक्षिण से सम्बन्धित कहे जा सकते हैं।

इसके अतिरिक्त दक्षिण के ऐसे लोग भी पर्याप्त संख्या में उत्तर गए जिनकी रुचि साहित्यिक थी। वे अपने साथ बहुत सी पुस्तकें भी ले गए। इससे जाना जा सकता है कि दक्षिण की दक्खिनी साहित्य उत्तर में कितनी शीघ्रता से लोकप्रिय हुआ। ऐसे प्रमाण भी प्राप्त होते हैं कि भारत और यूरोप के पुस्तकालयों में जो पाण्डलिपियां हैं उनके लिपिकार उत्तरी भारत के थे और उन्होंने मुहम्मद शाह के प्रारम्भिक काल तक

लिपि बद्ध करने का कार्य पूरा कर लिया था। प्राचीन इतिहास से यह भी पता चलता है कि दक्खिनी कविता का उस समय सामान्यतः अच्छा आदर होता था। 'वली' ने तीन बार दिल्ली की सम्मानपूर्ण यात्रा की थी। दिल्ली के कवि 'वली' की कविता पद्धति पर कविता करना गौरव की बात समझते थे। यद्यपि उत्तर के उस काल के कवियों का कलाम साधारणतः नहीं मिलता, तब भी लन्दन के इण्डिया आफ़िस में प्राप्त सामग्री से इस बात की पुष्टि होती है कि अपनी एक पुस्तक की भूमिका में हातिम ने 'वली, का उल्लेख किया है और लिखा है कि उन्ही की शैली पर मैं भी लिखता हूं और 'वली' के आचार्यत्व का अनुसरण करता हूं। हातिम द्वारा लिखी गई बहुत सी गजलें ऐसी भी हैं जो 'वली, की शैली के अनुसरण पर ही लिखी गई हैं। कुछ शेरों में 'वली, को सम्बोधित भी किया गया है।

प्रतीत होता है कि शुरू शुरू में उत्तर के फ़ारसी कवियों ने उर्दू का विरोध सा किया था। उस समय के एक अन्य इतिहास में "तजकिरेबेजिगर" में वली के विषय में लिखा ह "वास्तव में हिन्दी के मैदान में जिसने घोड़ा दौड़ाए, वही था, और तो वस्तुतः जो व्यक्ति साहित्य में पुनर्जागरण लाया, वही था।" उच्च कोटि के कवि "हातिम", "आबरू", "फ़ुगां" आदि "वली" की भाषा और शैली का अनुसरण करते हुए प्रयोग करने लगे थे।

"गुजराती या हिन्दी काव्य संग्रह मुहम्मद शाह के काल में दिल्ली पहुंचा तो उसका भी अनुसरण किया।" (अनुवाद)

"मुसहफ़ी" ने अपने साहित्य के इतिहास में स्वयं हातिम का कथन उनके विषय में लिखा। इससे प्रतीत होता है कि 'वली' का काव्य दिल्ली में अत्यन्त लोकप्रिय हो गया था।

हातिम का कथन है कि :—

"एक दिन इस फ़क़ीर से बयान किया कि सन् २ "फिरदौस आरामगाह" में 'वली' का दीवान शाह जहांबाद में आया और इसके शेर हर छोटे-बड़े की जबान पर चढ़ गए। दो तीन आदमियों के साथ जिसमें से "नाजी" मजमून" "मम्नून" आबरू हैं। हिन्दीं कविता इहाम (दो अर्थ) की नींव पर रखी गई। और सूक्ष्मभावों और विषयों के निरूपण की सराहना की। (अनुवाद)

'वली' के अतिरिक्त जिन दक्खिनियों ने दिल्ली में प्रसिद्धि प्राप्त की उनमें फ़क़ीरुल्ला "आज़ाद", "फ़िराकी" भी शामिल हैं। मीर हसन अपने इतिहास में लिखते हैं — "समझना चाहिए कि रेख्ता पहले दक्खिनी भाषा थी।" (अनुवाद)

सारांश है कि उत्तर के लेखकों ने शीघ्र ही फ़ारसी काव्य को छोड़ दिया और दक्खिनी का अनुसरण किया।

वहां के कवियों ने फ़ारसी छोड़ कर और उनकी गज़लों के अनुकरण में ग़ज़लें लिखीं और यथाशक्य इस बात की कोशिश कि दक्खिनी भाषा और शैली में कविता करें! केवल यही नहीं, अपितु जो आदमी भी दक्खिनी में लिखता, उसकी निन्दा की जाती और उसकी कविता निम्न स्तर की समझी जाती थी।

दक्खिनी के प्रभाव के पश्चात् जिन हिन्दू और मुसलमान कवियों ने फ़ारसी छोड़कर दक्खिनी में कविता प्रारम्भ की उनकी संख्या काफ़ी है। उनका नाम साहित्य के इतिहास में उल्लेखनीय महत्व रखता है।

किन्तु दिल्ली के कवियों की यह प्रवृत्ति अधिक दिनों तक न रही। दक्खिनी भी फ़ारसी के समान उनकी अपनी मातृभाषा न थी। इसमें भी अपने विचारों को प्रकट करने में उन्हें सफलता नहीं मिलती थी। अब उन्होंने इस बात की कोशिश की कि अपनी बोलचाल की मातृभाषा में फ़ारसी के अंश मिलाकर कविता शुरू की। यद्यपि पहले अनेक लोगों ने इसका विरोध भी किया, लेकिन यह प्रवृत्ति सफल रही। शीघ्र ही 'उर्दू ए मोअल्ला' की भाषा में काव्य आरम्भ हुआ इसका सूत्रपात मिर्जा जान जाना "मज़हर" ने किया और इसका विकास "आतिश" नासिख" के काल तक होता रहा।

इस भाषागत परिवर्तन को कुछ लोगों ने पसन्द नहीं किया। मगर यह शैली बराबर उन्नति करती रही।

यहां इस बात का उल्लेख करना आवश्यक है कि दक्खिनी भाषा के शीघ्र प्रचलन के बाद उसकी प्रतिक्रिया भी तीव्रता से हुई। "मीर", "सौदा"", "क़ायम" जैसे महान् कवि इसी भाषा में लिखने लगे।

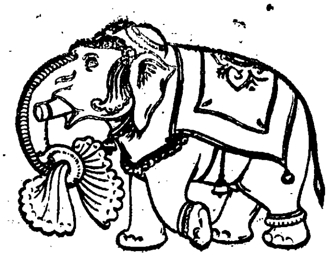

सैयद मुहीउद्दीन क़ादरी "ज़ोर" एम.ए., पीएच.डी.,
प्रिंसिपल, चादरघाट कालेज,
हैदराबाद-दक्षिण

शुद्धि

दक्खिनी साहित्य : एक विहंगम दृष्टि

सैय्यद मुहम्मद हुसैनी दक्खिनी के प्रथम साहित्यकार माने जाते हैं। सन् १४०० के आसपास इन्होंने दक्खिनी-गद्य में कुछ रिसाले लिखे जिनमें सूफ़ी मत के दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है। यद्यपि इन रिसालों की भाषा में अरबी फ़ारसी प्रचुर है और इनका साहित्यिक दृष्टि से अधिक महत्त्व नहीं है किन्तु प्राचीन होने के कारण भारत की आधुनिक भाषाओं में गद्य-साहित्य के इतिहास की दृष्टि से इन रिसालों का विशेष महत्त्व है। सैय्यद मुहम्मद हुसैनी की लिखी हुई ग़ज़लें और कुछ शेर भी उपलब्ध हैं किन्तु उनकी संख्या बहुत थोड़ी है और उनमें साहित्यिकता की अपेक्षा दार्शनिकता और धार्मिकता अधिक है।

निज़ामी की मसनवी 'कदम राव और पदम' को दक्खिनी की प्रथम साहित्यिक कृति कहा जा सकता है। निज़ामी निजाम शाह बहमनी (१४६१-६३) का दरबारी शायर था। सम्भवतः इसने अपना 'निज़ामी' उपनाम निज़ाम शाह के ही नाम पर रखा था।

इस प्रकार पन्द्रहवीं शताब्दी में दक्खिनी गद्य और पद्य दोनों में रचनाएँ प्रारम्भ हो गईं। क़रीब चार सौ वर्षों तक दक्खिनी में साहित्य निर्माण की धारा अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित होती रही। इन चार सौ वर्षों में दक्खिनी साहित्य के चार प्रमुख केन्द्र थे :

१. गुलबर्गा (१४००–१५१६)
२. बीजापुर (१४९०–१६८६)
३. गोलकुण्डा (१५१८–१६८७)
४. औरंगाबाद (१६३७–१८००)

गुलबर्गा में बहमनी वंश का राज्य स्थापित होने के बाद बहुत से साहित्कार और सूफ़ी फ़क़ीर गुलबर्गा की ओर आकृष्ट हुए। साहित्यकारों का उद्देश्य दरबार में राज्याश्रय प्राप्त करना और सूफ़ी फ़क़ीरों का उद्देश्य सूफ़ी मत एवं इस्लाम का प्रचार था। वे राजधानी को केन्द्र बना कर संगठित रूप में अपने विचारों का प्रचार करना चाहते थे। गुलबर्गा का जो गद्य-साहित्य उपलब्ध है, वह सैय्यद मुहम्मद हुसैनी और उनके शिष्यों का लिखा हुआ है और उसमें सूफ़ी मत के सिद्धान्तों का विवेचन है।

बीजापुर में आदिलशाही बादशाहों के साहित्य-प्रेम के कारण सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी में दक्खिनी साहित्य की बड़ी उन्नति हुई। आदिलशाही राज्य का संस्थापक यूसुफ़ आदिलशाह स्वयं एक अच्छा कवि और संगीत प्रेमी था। उसने बहुत से भारतीय कवियों को अपने दरबार में आश्रय दिया और तुर्किस्तान एवं ईरान के बहुत से शायरों को अपने यहां आने के लिए निमन्त्रित किया।

इब्राहीम आदिलशाह द्वितीय (१५८०–१६२६) का शासन-काल साहित्य और कला की उन्नति की दृष्टि से बड़ा महत्वपूर्ण है। इसकी 'नवरस' नाम की पुस्तक साहित्य और संगीत—दोनों दृष्टियों से बड़ा महत्त्व रखती है। उसने अपने दरबार में देश-विदेश के बहुत से कवियों, चित्रकारों और गवैयों को आश्रय दे रखा था। बादशाह को 'नवरस' शब्द से विशेष प्रेम था। उसने अपने सिक्कों का नाम 'नवरस' रखा ; बीजापुर के एक खास मुहल्ले का नाम उसके समय में 'नवरस' था और वह भवन जिसमें वह रहता था उसका नाम भी 'नवरस' था।

इस वंश का सातवाँ बादशाह अली आदिलशाह द्वितीय (१५५६–१६७२) स्वयं भी एक शायर था। उसका उपनाम 'शाही' था। उसकी रचनाओं का एक संग्रह 'कुल्लियात' नाम से उपलब्ध है, जिसमें क़सीदे, मसनवी, ग़ज़ल, रेख़्ती, रुबाई आदि अनेक प्रकार की रचनाएँ मिलती हैं। वह अपने दरबारी कवियों की रचनाओं का सुधार किया करता था, जिसके कारण लोग उसे 'आलिमों का उस्ताद' कहा करते थे।

आदिलशाही बादशाहों के साहित्य-प्रेम के कारण बीजापुर में एक साहित्यिक वातावरण बन गया था जिसके कारण वहां ऊँचे साहित्य का निर्माण हो सका। गुलबर्गा का अधिकांश साहित्य तसव्वुफ़ एवं इस्लाम धर्म से सम्बन्ध रखनेवाला है। किन्तु बीजापुर में सूफ़ी फ़क़ीरों के अतिरिक आतशी, मुक़ीमी, अमीन, दौलत, नूरी, शौक़ी, खुशनीद, रूस्तमी, मलिम, हाशमी आदि पच्चीसों शायरों की रचनाएँ उपलब्ध हैं, जिन्हें साहित्यिक दृष्टि से ऊंचा स्थान प्राप्त है।

बीजापुर के साहित्यिक वातावरण का प्रभाव वहाँ के सूफ़ी फ़कीरों पर भी पड़ा, उन्होंने तसव्वुफ़ और मज़हब के ख़ुश्क मसलों को भी साहित्यिकता प्रदान की । इस प्रकार की रचनाओं में शाहमीरां जी शमसुल उश्शाक ; शाह बुरहानुद्दीन जानम और अमीनुद्दीन आला की कुछ रचनाओं का नाम लिया जा सकता है ।

बीजापुर राज्य की स्थापना के २८ वर्षों के बाद सन् १५१८ में गोलकुण्डा में कुतुबशाही वंश की स्थापना हुई । बीजापुर के बादशाहों की भाँति गोलकुण्डा के बादशाह भी साहित्य और कला के बड़े प्रेमी थे । इस वंश के संस्थापक सुलतान कुली के जीवन का अधिकांश भाग यद्यपि युद्ध करने और राज्य को व्यवस्थित करने में व्यतीत हुआ किन्तु उसने भी साहित्य की उन्नति में योग दिया । फ़रिश्ता ने लिखा है कि उसने गोलकुण्डा में 'ऐशख़ाना' नाम का एक विशेष भवन बनवाया था ; जिसमें कवि एकत्रित हो कर अपनी रचनाएँ सुनाते थे । बादशाह स्वयं उन मुशायरों में उपस्थित होता था ।

गोलकुण्डा के बादशाहों में इब्राहीम कुली कुतुबशाह, मुहम्मद कुली कुतुबशाह, मुहम्मद कुतुबशाह और सुल्तान अब्दुल्ला अपने साहित्य एवं कला-प्रेम के लिए विशेष रूप से उल्लेखनीय है ।

उस समय के प्रसिद्ध इतिहासकार इब्राहीम शीराज़ी ने इब्राहीम कुली कुतुबशाह की बड़ी प्रशंसा की है । इब्राहीम शीराज़ी बीजापुर का दरबारी इतिहासकार था । उसे कई बार बीजापुर के राजदूत की हैसियत से गोलकुण्डा जाने का अवसर प्राप्त हुआ था । उसने लिखा है कि इब्राहीम कुतुबशाह ने बहुत से मदरसे स्थापित किए, जिनमें निःशुल्क शिक्षा का प्रबन्ध था । बादशाह कवियों और विद्वानों का बड़ा सम्मान करता था । जब कभी उसके बाग़ में फल निकलते ; तो वह उनका अधिक भाग दर-बार के कवियों और विद्वानों के पास भेज दिया करता । उसने अपने पुस्तकालय के लिए एक विशेष भवन का निर्माण कराया था । उस भवन के सात भाग थे । उस भवन के एक बड़े भाग में दरबार के शायरों और विद्वानों के रहने के स्थान थे, जहां वे साहित्यचर्चा किया करते थे ।

हैदराबाद नगर का बनानेवाला सुलतान मुहम्मद कुली कुतुबशाह (१५८०-१६११) दक्खिनी, तेलुगु और फ़ारसी का अच्छा विद्वान् एवं कवि था । उसकी रचनाओंका एक संग्रह 'कुल्लियात' नाम से प्रसिद्ध है । इसमें शेरों की संख्या पांच हज़ार है । तत्कालीन इतिहास से पता चलता है कि उसके शेरों को राजमहलों और मजलिसों में गाया जाता था । बहुत से शायर उसके तर्ज़ पर शेर लिखते और उसकी शायरी की प्रशंसा में ग़ज़लें लिखते थे ।

मुहम्मद कुली ने अपने चारों तरफ़ इस प्रकार का वातावरण पैदा कर दिया था कि वह शायरी करने के लिए विवश था । उसने अपने एक शेर में लिखा है :

"कुतुबशाह रोज़ ऐसे ही शेर कहता है जैसे नदी में लहरें उठती हैं किन्तु न तो नदी की गति में अन्तर पड़ता है और न लहरों का वेग ही कम होता है ।"

यही कारण है कि मुहम्मद कुली की कविता में सादगी, स्वाभाविकता और प्रवाह है । उसने अपने समय की कविता को एक नई दिशा की ओर मोड़ा । उस समय तक अधिकांश कविता धार्मिक विषयों

पर होती थी। उसने कविता के लिए नए नए विषयों को चुना और हिन्दू मुसल्मानों के रीति रिवाजों त्यौहारों एवं प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन बड़ी सुन्दरता के साथ किया।

मुहम्मद कुतुबशाह (१६१२–२६) फ़ारसी और दक्खिनी का अच्छा कवि था। वह फ़ारसी में 'ज़िलुल्ला' और दक्खिनी में 'कुतुबशाह' उपनाम से कविता करता था। इसका एक दीवान फ़ारसी का और दूसरा दक्खिनी का सालार जंग पुस्तकालय हैदराबाद में उपलब्ध है।

मुहम्मद कुली की भाँति इसकी रचनाओं में भी भाषा की सादगी और शैली का सौन्दर्य दिखलाई पड़ता है।

कुतुबशाही शासकों का शासन-काल दक्खिनी साहित्य के इतिहास का सबसे महत्वपूर्ण समय है। दक्खिनी गद्य और पद्य में विभिन्न प्रकार के साहित्यों का निर्माण जितना कुतुबशाही शासकों के समय में हुआ उतना कभी नहीं हुआ। इस काल के कवियों ने विभिन्न शैलियों मसनवी, क़सीदा, ग़ज़ल और रुबाई आदि में जो रचनाएँ कीं दक्खिनी साहित्य की अमर निधि हैं।

विषय की दृष्टि से भी इस समय का साहित्य अनेक प्रकार का है। एक ओर सूफ़ी फ़क़ीरों ने धर्म और दर्शन के ऊँचे तत्वों को लोगों के सामने रखा और दूसरी ओर दरबारी कवियों ने प्रेम और सौन्दर्य एवं अन्य सांसारिक विषयों को अपनी कविता का विषय बनाया।

वजही की 'कुतुबमुश्तरी', ग़वासी की 'सैफुल मुल्क,' इब्ब निशाती की 'फूलबन', जुनैदी की 'माहपैकर', तबई की 'बहराम व गुल अन्दाम' और गुलाम अली की 'पद्मावत' कुतुबशाही शासन काल की प्रमुख काव्य कृतियां हैं।

कुतुबशाही शासन काल का गद्य भी कई दृष्टियों से पहले लिखे गए गद्य की अपेक्षा विशेष महत्व-पूर्ण है। बीजापुर और गुलबर्गा का जो गद्य उपलब्ध है, वह धार्मिक एवं दार्शनिक है। अब तक गद्य लिखने में लेखक का मुख्य उद्देश्य धर्म प्रचार एवं सूफ़ी मत के दार्शनिक तत्वों का विवेचन करना रहता था। किन्तु गोलकुण्डा में ऐसे गद्य का प्रारम्भ हुआ जिसका महत्व साहित्यिक है। यद्यपि अब तक उपलब्ध गद्य की इस प्रकार की पुस्तकों में केवल वजही के 'सबरस' का नाम लिया जा सकता है, किन्तु 'सबरस' की शैली को देखते हुए यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि वह इस परम्परा की पहली पुस्तक नहीं हो सकती।

इस काल की 'आरोग्य शास्त्र' पर भी लिखी हुई एक छोटी सी पुस्तक गद्य में प्राप्त है। वह पुस्तक है आबिदशाह की (मआलिजात ख्वाजा बन्दा नवाज़)। सम्भव है इस प्रकार की अन्य भी पुस्तकें लिखी गई हों, जो अब उपलब्ध नहीं हैं किन्तु इस पुस्तक से इस बात का अनुमान लगाया जा सकता है कि इस काल में दक्खिनी गद्य का प्रयोग विभिन्न प्रकार के विषयों का वर्णन करने के लिए किया जाने लगा था।

गोलकुण्डा के गद्य लेखकों में वजही, मौ. अब्दुल्ला, मीराँ जी खुदानुमा, मीराँ याकूब और आबिद शाह विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं।

सन् १६३७ से १८०० तक औरंगाबाद राजनैतिक और सांस्कृतिक दोनों दृष्टियों से दक्षिण भारत का बड़ा नगर रहा है। सन् १६१६ में अहमद नगर का राज्य मुग़ल साम्राज्य में सम्मिलित हो गया। शाहजहां ने सन् १६३७ में औरंगजेब को दक्षिण का सूबेदार नियुक्त किया। उसने 'खिरकी' को अपना

सदर मुक़ाम बनाया और उसका नाम औरंगाबाद रखा। बीजापुर और गोलकुण्डा राज्यों के पतन के बाद औरंगाबाद का महत्व अधिक बढ़ा और बीजापुर एवं गोलकुण्डा के ही नहीं बल्कि उत्तर भारत के भी बहुत से शायर औरंगबाद की ओर आकृष्ट हुए।

औरंगाबाद के कवियों में 'वली' और 'सिराज' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

वली औरंगाबाद में ही उत्पन्न हुए जहाँ २० वर्ष तक विद्योपार्जन करते रहे। इसके बाद अहमदाबाद गए जो उस समय विद्या और कला का केन्द्र था और शाह वजीहुद्दीन के मदरसे में, जहाँ लोग दूर-दूर से ज्ञानोपार्जन के लिए आते थे, प्रविष्ट हुए और कुछ समय के अनन्तर इस वंश के शिष्य हो गए। कुछ दिनों के बाद, औरंगाबाद आकर उन्होंने कविता प्रारम्भ की। वली ने सन् १७२९ में 'दहे मजलिस' नाम की एक मसनवी की रचना की जो कर्बला के शहीदों की प्रशंसा में है। 'गुलशने हिन्द' के लेखक ने वली के एक दीवान की भी चर्चा की है। वली की रचनाओं में काव्य के प्रायः सभी रूप—गज़ल, क़सीदा, मसनवी, रुबाइयाँ आदि देखने में आते हैं। उनकी शायरी में सादगी और सरलता है। भाषा में प्रवाह और स्वाभाविकता है।

सन् १७०० के आस पास वली दिल्ली गए उस समय तक उन्होंने अपने 'रेख़्ता-दीवान' की रचना कर ली थी। 'रेख़्ता-दीवान' का दिल्ली में बड़ा आदर हुआ। उसकी यहाँ तक प्रसिद्धि हुई कि महफ़िलों और बाज़ारों में उसके शेर लोगों की ज़बान पर थे।

'सिराज' का स्थान 'दक्खिनी-साहित्य' के इतिहास में विशेष महत्वपूर्ण है। वे दक्खिनी के अन्तिम बड़े कवि माने जाते हैं। सिराज ने अपना वृत्तान्त 'मुन्तक़ब दवावीन' की भूमिका में लिखा है। इस पुस्तक का सम्पादन-काल सन् १७५८ है। इसमें पुराने तथा तत्कालीन कवियों की रचनाओं का संग्रह किया गया है। सिराज ने अपनी उपर्युक्त पुस्तक में लिखा है कि १२ वर्ष की अवस्था के बाद वे भावावेश में हज़रत शाह बुरहानुद्दीन के रोज़े के पास घूमते रहे। इस दशा में उनके मुंह से शेर निकल जाते किन्तु वे लेखनी-बद्ध नहीं हुए। यदि उस समय के सभी शेर प्राप्त होते, तो एक बड़ा संग्रह तैयार हो जाता। कुछ दिनों के बाद ये अब्दुल रहमान चिश्ती की सेवा में पहुंचे और उनके शिष्य हो गए। वहाँ अब्दुल रसूल खाँ, जो इनके गुरु-भाई थे, उनके कहने पर दक्खिनी में कुछ शेर लिखे जिनकी संख्या पाँच हज़ार तक पहुंचती है। रसूल खां ने उन शेरों को अकारादि क्रम में जमा किया। उसके कुछ दिनों के बाद सिराज ने शेर लिखना बन्द कर दिया और फ़क़ीर हो गए।

सिराज साधु प्रकृति के एक धार्मिक व्यक्ति थे। इन्हें संगीत और कव्वाली से विशेष प्रेम था। सप्ताह में एक दिन इनके यहाँ मजलिस जमा होती जिसमें कव्वाल अपनी कव्वाली और संगीतज्ञ अपना संगीत सुनाते थे।

उपर्युक्त रचनाओं के अतिरिक्त सिराज की 'बोस्ताँ ख़याल' नाम की एक मसनवी उपलब्ध है। इस मसनवी का रचना-काल १७६२ है। इसमें इन्होंने गुल और बुलबुल के रूपकों के सहारे आध्यात्मिक भावनाओं को व्यक्त किया है।

सिराज को अपनी रचनाओं पर अभिमान था किन्तु वली का इन्होंने सम्मान किया है। एक बार इन्होंने कहा था :

"तुझ मिस्ल ऐ सिराज; बाद वली कोई साहब सखुन नहीं रच्या।"

वली और सिराज के बाद दक्खिनी फ़ारसी प्रचुर और दिल्ली की उर्दू से प्रभावित होने लगी और दक्खिनी के क्षेत्र में भी साहित्यिक भाषा का स्थान धीरे धीरे उर्दू ग्रहण करने लगी।

विषय की दृष्टि से दक्खिनी में लिखे गए काव्यों को मसनवी; क़सीदा और मरसिया—इन तीन भागों में बाँटा जा सकता है। दक्खिनी की मसनवियाँ फ़ारसी मसनवियों की प्रणाली पर लिखी गई हैं और उनके कथानक का आधार फ़ारसी और भारतीय कथाएँ हैं। इन मसनवियों में कुछ तो मौलिक हैं और कुछ फ़ारसी से अनूदित हैं।

'क़सीदे' फ़ारसी क़सीदों के अनुकरण पर लिखे गए हैं। अधिकांश क़सीदों में भाषा अतिशयोक्ति पूर्ण और रूपक एवं उपमा का प्रयोग अधिक है।

दक्खिनी में लिखे गए मरसियों पर अरबी और फ़ारसी के कवियों का प्रभाव है। इन मरसियों में वजही, ग़वासी, लतीफ़, शाही, नूरी और हाशमी के मरसिए विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनमें युद्धों के सजीव चित्र हैं और ये करुण-रस से ओत-प्रोत हैं।

दक्खिनी गद्य में इस्लाम और तसव्वुफ़ से सम्बन्ध रखने वाली पुस्तकें अधिक हैं। जो पुस्तकें इस्लाम के प्रचार के लिखी गई हैं, उनमें रोज़ा, नमाज़ एवं अन्य धार्मिक कृत्यों का वर्णन हैं। तसव्वुफ़ से सम्बन्ध रखने वाली पुस्तकों में सूफ़ी मत के अनुसार खुदा को प्राप्त करने के साधनों एवं खुदा और जीव के सम्बन्धों आदि का विवेचन किया गया है।

दक्खिनी गद्य में व्यावहारिक विषयों से सम्बन्ध रखने वाली पुस्तकों की संख्या कम है। आबिद शाह की रचना 'मआलजात ख्वाजा बन्दानवाज़' की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। यह सोलह पृष्ठों की एक छोटी पुस्तक है और औषधि शास्त्र से सम्बन्ध रखती है। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में कुछ ऐसी पुस्तकें लिखी गईं, जिनका वर्ण्य-विषय व्यावहारिक विषयों से सम्बन्धित है। इन पुस्तकों में 'हैदरनामा' और 'आईन अफ़वाज कम्पनी' एवं इतिहास की कुछ पुस्तकें विशेष रुप से उल्लेखनीय हैं।

'हैदरनामा' में हैदर अली एवं टीपू का जीवन-वृत्त एवं उनकी लड़कियों का वर्णन है। इस पुस्तक की एक प्रति 'इंडिया आफ़िस' के पुस्तकालय में उपलब्ध है।

'आईन अफ़वाज कम्पनी' में मद्रास में अंग्रेज़ी फ़ौज के लिए बनाए गए नियमों को दक्खिनी गद्य में लिखा गया है। इस पुस्तक की एक प्रति पेरिस के पुस्तकालय में उपलब्ध है।

दक्खिनी गद्य में लिखी हुई कुछ कहानी की पुस्तकें भी मिलती हैं। कहानियों का मूल स्रोत फ़ारसी अरबी और संस्कृत की कहानियाँ हैं। कहानी की प्रायः सभी पुस्तकें फ़ारसी की पुस्तकों के अनुवाद या संक्षिप्त रुपान्तर हैं, कहानी की पुस्तकों में 'किस्सा गुल व हुरमज़', 'अखलाक़ हिन्दी', 'क़िस्सा अनार रानी', 'कामरूप काम लता' 'तूतीनामा' और 'सबरस' विशेष रूप में उल्लेखनीय हैं।

साहित्यिक दृष्टि से वजही की रचना 'सबरस' विशेष महत्वपूर्ण है। इस पुस्तक का रचना काल १६३६ई. है और इसका कथानक मौ. फ़ताही की फ़ारसी रचना 'हुस्न व दिल' के कथानक पर आधारित है।

दक्खिनी साहित्य उर्दू की अपेक्षा भारतीय वातावरण से अधिक प्रभावित है। यद्यपि कवियों ने फ़ारसी शैली—मसनवी; क़सीदा; मरसिया आदि, का प्रयोग किया किन्तु उनका झुकाव हिन्दी शब्दों के प्रयोग और भारतीय परंपराओं की ओर बना रहा। कवियों और लेखकों ने ऐसी उपमाओं और रूपकों का प्रयोग अधिक किया है; जो भारतीय वातावरण के हैं। स्त्री की ओर से पुरुष के प्रति प्रेम प्रदर्शन, संसार को जीव के मैके और परलोक को सुसराल के रूप में समझना आदि भारतीय साहित्य की विशेषताए दक्खिनी साहित्य में दिखलाई पड़ती हैं।

दक्खिनी के अधिकांश साहित्यकार मुसल्मान थे किन्तु उन्हें भारतीय रीति-रिवाजों; हिन्दू त्यौहारों एवं हिन्दू परंपराओं का अच्छा ज्ञान था। इब्राहीम आदिलशाह ने अपनी 'दिवस' नाम की पुस्तक में सरस्वती हनुमान आदि हिन्दू देवताओं का वर्णन एवं उनकी स्तुति बड़े सुन्दर शब्दों में की है। 'नवरस' में सरस्वती का शब्द-चित्र अत्यन्त सुन्दर है:

"सरस्वती स्वच्छ सुन्दरी, महा उत्तम जात निर्मल
एक हस्त पुस्तक, दूजे पाणी फटिक सुमिरन
तीजें शयः शुक, चौथे कर कमल"

वही कवि एक स्थान पर नेत्रों का वर्णन करते हुए कहता है:

"अंजन जानवा नयन दीती
पलखाँ पितांबर बाँध लेती
अँझु जल संध्यान कीती
जप कर दृष्टि ईश्वर पार्वती"

अर्थात् अंजन का यज्ञोपवीत और पलकों का पीताम्बर धारण करके मानो दृष्टि शंकर पार्वती का जप कर रही है।

दक्खिनी गद्य लेखक सूफ़ी फ़कीर एक ओर तो रूमी; गज़ाली आदि मुस्लिम दार्शनिकों के विचारों से प्रभावित हैं दूसरी ओर उन पर भारतीय वेदान्त का भी पर्याप्त प्रभाव दीख पड़ता है। उन्होंने 'सगुन', 'निर्गुन' आदि बहुत से ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है, जो भारतीय दर्शन के हैं।

राजकिशोर पाण्डेय, एम॰ ए॰,
हिन्दी-विभाग, निज़ाम कालेज
हैदराबाद–दक्षिण

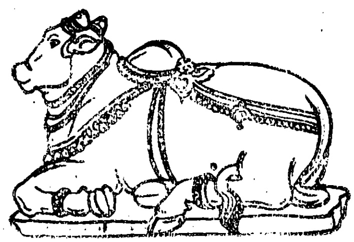

गुरु नानक : पंजाबी काव्य में

गुरु नानक केवल सिख सम्प्रदाय के प्रथम गुरु ही नहीं थे वे पंजाब के सर्वप्रिय महापुरुष भी थे अपने समय के पहुँचे हुए फ़कीर भी थे। आज भी हर पंजाबी चाहे वह भारत में हो, चाहे पाकिस्तान में, चाहे वह हिन्दू हो, चाहे मुसल्मान बाबा नानक के लिए सभी के हृदयों में एक-सी श्रद्धा है, एक-सा आदर है।

गुरु नानक केवल धर्म प्रवर्तक ही नहीं थे, वे एक महान् कवि भी थे। पंजाबी भाषा में गुरु नानक से अधिक श्रेष्ठ कवि आज तक नहीं हुआ। कवि नानक ने पंजाबी कविता को रूप और भाव की दृष्टि से एक ऐसे शिखर तक पहुँचाया था जहाँ पंजाबी कविता अभी तक नहीं पहुँच पाई। और पंजाबी कविता का स्तर, भारत की अन्य भाषाओं के स्तर को ध्यान में रखते हुए कोई ऐसा नीचा नहीं।

गुरु नानक घर-बार त्यागने वाले एक बैरागी महात्मा ही नहीं थे, अपने समय के वे एक बहुत बड़े देशभक्त भी थे। बाबर के आक्रमण से जो अत्याचार नानक के देशवासियों पर हुए उन्हें देख कर इस निर्भीक महात्मा ने अपने भगवान् को चुनौती दी थी :

"एतीं मार पई कुरलानें, तैं की दर्द ना आया !"

इतनी मार पड़ी, लोग बिलबिला उठे। और तुझे तरस न आया।

आक्रमणकारी के भय से अपने देशवासियों की बदल रही वेशभूषा, बदल रही बोली को देख कर गुरु नानक ने कई स्थानों पर इस प्रवृत्ति की निन्दा की है और अपनी कविता में बार-बार इस पर करारी चोट की है।

इसलिए यह आश्चर्य का विषय नहीं कि ऐसा महापुरुष पूजा-स्थानों की चारदीवारी में ही बन्द होकर नहीं रह गया। गुरु नानक का उनके भक्तों के हृदयोंकी प्राचीरों की कट्टरता के बाहर बहुत आदर और सत्कार हुआ है।

एक साहित्याकार के रूप में पंजाबी साहित्य पर गुरु नानक की छाप अमिट है। गुरु नानक की परम्परा से पंजाबी साहित्य बहुत समृद्ध हुआ है। गद्य के क्षेत्र में भी और पद्य के क्षेत्र में भी।

और सिख सम्प्रदाय का पहला गुरु पंजाब निवासियों का कुछ ऐसा हृदयेश्वर सा बन गया कि उनके व्यक्तित्व पर प्रचुर मात्रा में पंजाबी में कविता लिखी गई। इस कविता में उस काल का वर्णन है, जब बाबा नानक ने जन्म लिया था। इस कविता में गुरु नानक के जीवन पर अनेक मनोहर झाँकियां प्रस्तुत की गई हैं। इस कविता में उन आदर्शों की स्थापना की गई है जो बाबा को प्रिय थे। इस कविता में बार-बार नानक का आह्वान किया गया है जब भी पंजाब निवासियों पर कोई विपत्ति पड़ती रही है या कोई कठिनाई आती रही है।

गुरु नानक के बाद के सभी सिख गुरुओं को गुरु नानक का रूप ही माना जाता है। इन्होंने अपन आपको अपनी वाणी को गुरु नानक के हीं प्रति अर्पित किया। अधिकांश तो अपनी कविता के अन्त में नानक के नाम का भी प्रयोग करते रहे हैं।

भाई गुरुदास पहला सिख इतिहासकार कवि है। भाई गुरुदास की कविता को गुरु-वाणी का दर्जा प्राप्त है। गुरु नानक के सम्बन्ध में भाई गुरुदास ने बहुत लिखा है। इस 'शब्द' में गुरु नानक के जन्म का उल्लेख है, इस 'शब्द' में व्यक्त की गई श्रद्धा, उस समय की कविता का एक प्रतीक है :

"सतगुरु नानक प्रकटया, मिट्टी धुन्ध जग चानन होआ
ज्यों कर सूरज निकल्या, तारे छपे, अन्धेर पलोआ
सिंह बुक्के मृगावली भन्नी जाए ना धीर धरोआ
जित्थे बाबा पैर धरे, पूजा आसन थापन सोआ
सिध आसन सब जगत दे,
नानक आद मते जे कोआ
घर घर अन्दर धरम-साल, होवे कीर्तन सदा वसोआ
बाबे तारे चार चक्र, नो खण्ड पृथवी सच्चा ढोआ गुरमुख कल विच प्रगट होआ"

—भाई गुरुदास

इस प्रकार समय–समय पर संत, कवि, फ़क़ीर, भाट और जन-गायक गुरु नानक की महिमा गाकर अपनी वाणी को पवित्र करते रहे हैं। यहां तक कि गुरु नानक का उल्लेख पंजाब के लोकगीतों में भी मिलता है :

"बाबे नानक जैसा भगत न कोई
जिन हर नाम पछाता"

बाबा नानक जैसा कोई भगत नहीं। जिसने भगवान के नाम को पहचाना।

"हट्ट खुल गई बाबे नानक दी
सौदा लैन गे नसीबां वाले"

बाबा नानक की हाट खुल गई है। सौभाग्य वाले ही ख़रीद पाएँगे।

सचेत रूप में पंजाबी भाषा में साहित्य सृजन का प्रारम्भ भाई वीर सिंह से माना जाता है। इसलिए गुरु नानक की पंजाबी काव्य में एक विषय के रूप में लोकप्रियता का अनुमान इस ज़िक्र से किया जा सकता है, जो आधुनिक पंजाबी कविता में मिलता है। आधुनिक पंजाबी कवियों में चाहे कोई सिंह-सभाई हो, चाहे मार्क्सवादी, चाहे कोई गांधीवादी हो, चाहे कोई कुछ सबने गुरु नानक के प्रति श्रद्धाञ्जलि अर्पित की है।

आधुनिक पंजाबी कवियों में सबसे अधिक भाई वीरसिंह ने गुरु नानक के बारे में लिखा है। 'श्री गुरु नानक चमत्कार' इनकी लिखी गुरु नानक की जीवनी में बीस से अधिक गीत और कविताएँ बाबा नानक पर हैं। उसके अतिरिक्त, भाई वीरसिंह ने अपनी और भी कई कृतिएँ में गुरु नानक का जीवन और व्यक्तित्व अंकित किया है। इस गीत में भाई वीरसिंह का अपना विशेष रंग है :

"कित्थे नी गुरु नानक वसदा
जंगल बेले जल थल ढूंढे, किते नई नी दिसदा
जोगी जती स्याने पुच्छे, भेत न कोई दसदा
जिस बल मुंह पवे भालां, पर ओ भाल न फसदा
है लुक्या, पर खिच्च पावन्दा, खिच्च तनावाँ कसदा
दिल पंगर पंगर वह तुरदा,प्यार प्यार विच धसदा
इक दिन एकर गुम-गुमदयां, अर्शो झलका वसदा
की वेखां गुरु नानक अन्दर, अन्दर शीशे लसदा"

गुरु नानक का कहां निवास है? जंगल बियावान जल थल, सभी जगह ढूंढ चुकी हूँ, वह कहीं नज़र नहीं आता। योगियों, तपस्वियों और सयानों से पूछा, कोई भी उसका भेद नहीं बताता। जिधर मुंह उठाती हूँ, उधर ही ढूंढ़ने के लिए चल पड़ती हूं, पर वह नहीं मिलता। छिपा हुआ है, खींच रहा है और अपने आकर्षण को और भी बढ़ा रहा है। मेरा हृदय पिघल पिघल कर बह रहा है, और प्रेम में अपने आपको खो रहा है। एक दिन ऐसे विलीन होते हुए अन्तर में एक झलक दिखाई दी। देखती हूँ कि गुरु नानक मेरे अन्दर है और मन के दर्पण में झलक रहा है।

भाई वीरसिंह के बाद गुरु नानक सम्बन्धी पंजाबी साहित्य की भरमार है। इसके स्रष्टाओं में फीरोजद्दीन 'शरप', उस्ताद हमदम और उस्ताद 'दामन' आदि मुस्लिम कवि ही नहीं हैं, धनीराम चात्रिक जसवन्त राय 'राय', नन्दलाल नूरपुरी, सुन्दरदास 'आसी' आदि पंजाबी के प्रसिद्ध हिन्दू कवि भी हैं और सिख कवियों में, तेजा सिंह 'साबर' गुरदित्तसिंह 'कुन्दन' और विधातासिंह 'तीर' ने सबसे उत्कृष्ट, कविताएं गुरु नानक पर लिखी हैं। ज्ञानी गुरुमुख सिंह 'मुसाफ़िर' की कविता का यह अंश इस युग की गुरु नानक सम्बन्धी बहुत सी कविता के एक उत्कृष्ट नमूने के तौर पर प्रस्तुत किया जा सकता है :

"समझ वालियां ने कृष्ण समझ लैनां
भावें मोहन कह लौ, भावें शाम कहलौ
नीयत विच जे भाव है प्यार वाला
फ़तें बन्दगी, नमस्ते, सलाम कहलौ
नामां सारियाँ बिच ओहदा नाम कोई नई
एसे लई ओहदा कोई नाम कहलौ
सबनां बोलियां ताई ओह जानदा ए
भावें कहौ अल्ला, भावें राम कहलौ
ऐसे प्रेम दे रंग बिच रंगया जो
उनें समझया ठीक जरूर नानक
अन्दर-बार ओनूं नज़री पया आवे
नूर नूर नानक ! नूर नूर नानक !"

समझने वाले कृष्ण समझ लेते हैं, चाहे उसे कोई मोहन कहे, चाहे श्याम। अगर मन में स्नेह का भाव हैं, तो 'फ़तह' बन्दगी, नमस्ते और सलाम---सभी अभिवादनों का एक ही अर्थ है। इन सब नामों में उसका कोई नाम नहीं, इसीलिए उसे किसी भी नाम से पुकार लो। वह सभी भाषाएँ जानता है। चाहे उसे अल्लाह कहो, चाहे राम कहो। ऐसे प्रेम रंग में जो रंगा हुआ है, वह गुरु नानक को ठीक तरह समझता है। उसी के भीतर बाहर गुरु नानक का प्रकाश दिखाई देता है।

बेबे नानकी कदाचित् गुरु नानक की पहली 'सिख' थी। एक बहन जिसे अपने वीरन में भगवान् नज़र आया था। बेबे नानकी बराबर अपने माता-पिता से कहती रही, अपने पड़ौसियों को समझाती रही। इसे नानक में कोई दिव्य ज्योति दिखाई देती थी परन्तु उनकी किसी ने भी न सुनी। ऐसी स्नेह मयी बहन के लिए बाबा नानक के हृदय में भी अगाध स्नेह था। जब कभी वह जग के भ्रमण के लिए घर से बाहर जाते तो अपनी बहन से वायदा कर जाते कि जब कभी वह श्रद्धापूर्वक उनका स्मरण करेगी वे चाहे कहीं भी हो, तुरंत उसके पास लौट आएँगे। एक बार बहन को अपने भाई से बिछुड़े कई वर्ष हो गए थे। एक दिन बेबे नानकी ने दूध बिलोया और उससे ढेर-सा मक्खन निकला। इसे अपना भाई याद आया। जब बहन ने तवे पर रोटी डाली तो उसकी आँखों से अश्रुधारा बह निकली। आज उसका बीरन यदि घर से हो तो वह अपने हाथ की पक्की रोटी उसे खिलाए---उस पर मक्खन रख कर, 'चूरी' बना कर उस पर बलिहारी होकर। बेबे नानकी इधर यह सोच ही रही थी कि बाहर गली से "सत

कर्तार" की आवाज़ सुनाई दी। बहन का इकलौता भाई, बेबे नानकी का भगवान् गुरु नानक उसके आंगन में था।

निस्सन्देह यह प्रसंग कविता के लिए बहुत आकर्षक है। पंजाबी में भाई वीरसिंह से ले कर कोई आधी दर्जन से भी अधिक कवियों ने इसका वर्णन अपनी कविता में किया है।

नन्दलाल नूरपुरी बेबे नानकी के भावों को इस प्रकार व्यक्त करता है :

"कहना ए मैंनू ओसने, भैणे नई घबराई दा
आखूं बिछौडे बालड़ा मोहरा नई ए खाई दा
कहना ए ओने रोएँ क्यों अखियां जां रो में कज्जियाँ
आखूंगी वीरा वेख के ए पापनां नई रज्जियाँ
कहना ए ओनें—भैण घर नई वीर आ बेंदे कदी
आखूँगी ऐडी दूर जा बिछड़ वे नहीं बेंदें कादी
भेणें सुदैने मेरिए ओनें क्या जा बौहु तूं
आखूंगी वीरा मेरिया अज दी दिहाड़ी रौ तूं"

अर्थात् वह मुझ से कहेगा घबराना नहीं चाहिए। मैं कहूंगी कि बिछोह का विष भी नहीं खाया जाता। जब मैं रो कर अपनी आंखों को ढँक लूंगी, तो वह कहेगा कि तू रोती क्यों है ? मैं कहूँगी, ऐ बीरन तुझे देख कर यह पापी नयन तृप्त नहीं हुए। वह कहेगा बहन के घर भाई कभी भी आ कर नहीं रहते। मैं कहूँगी, वे बिछुड़ कर इतनी दूर भी नहीं जा बैठते। अगर उसने कहा—"ऐ मेरी पगली बहन, बैठ तो सही," तो मैं कहूँगी—"मेरे बीरन तू आज के दिन रुक जा।"

और जब बेबे नानकी यों अपने भैया की याद में डूबी हुई है, उधर बाबा नानक के हृदय में बहन के स्नेह के तार झनझना उठे। तेजसिंह 'सार' ने इसका वर्णन इस प्रकार किया है :

"भैण दे प्यार वाली तार आन खड़की
बिजली दे वांग आ ख्यालां उत्ते कड़की
भैणां दे वछोड़े वाली अग सीने भड़की
खुल गई समाधी, ऐसी याद अन्दर रड़की
कहन लगे " अज प्रेम काबू कर लीता ए
उठ मर्दानियां भई भैण याद कीता ए
ओस पासे तवे उत्ते रोट पई ए थकदी
भैण शोदी मुड़ मुड़ बूहा पयो ए तकदी
हजुआ नूं केर केर सेक पई ए उकदी
भुक्खी ए प्रेम दी न थकदी न अकदी
फुलका जां तते उत्ते हो गया तैयार ए
किसे क्या बूरा उत्ते सत्र कर्त्तार ए"

अर्थात् गुरु नानक के हृदय में बहन के स्नेह की सुधि आई और बिजली की तरह उनके भावों पर जैसे कौंध पड़ी। बहन के वियोग की ज्वाला सीने में भड़क उठी। याद कुछ इस तरह आई कि उनकी समाधि भंग हो गई। कहने लगे "आज मैं प्रेम के वशीभूत हो गया हूं। मर्दाने उठो, बहन याद कर रही है।"

उधर तवे पर रोटी पक रही है। बहन नानकी बेचारी बार-बार दरवाज़े की ओर देख रही है। अपने आंसुओं से वह जैसे चूल्हे की आंच को रोक रही है। प्रेम की भूखी न थकती है, न ऊबती है। जब रोटी तवे पर पक कर तैयार हो गई तो किसी दरवाज़े पर आकर 'सत्त-कर्त्तार' की अलख जगाई।

पंजाबी के प्रबुद्ध कवियों ने बाबा नानक की जीवनी का ज़िन्दगी के स्वस्थ मूल्यों को दिखाने के लिए प्रयोग किया है। बाबा नानक ने लालो बढ़ई की रूखी सूखी रोटी खा कर और उस नगर के शासक के मालपुओं को तिरस्कृत करके हक हलाल की कमाई का जो वास्तविक भेद जतलाया था, उसका ज़िक्र करते हुए डा. मोहनसिंह ने 'भाई लालो' नामक कविता में इस प्रकार लिखा है :

"पापां बाजों ना जुड़े, मोयां नाल न जाए
तृपत न होन अखीर तक माया दे तिरहाए
अन्ने बोले आखिएँ, माया दे भरमाए
लखत दो लखत कौडा लाई की की जुल्म कमाए
चापलूसियां होरनां कीते साक पराए
ज़र है ज़ोर ज़हान ते, जोर जुल्म उपजाए
जलमा जात चमुट्टियां लऊ धनी मोटाए
पुन दान दा साज पज वाधू लऊ वडाए"

अर्थात् धन पाप किए बिना संचित नहीं होता। और मरने पर किसी के साथ नहीं जाता। वे लोग जो माया जाल में फँसे हुए है, उन्हें अंधा और बहरा कहना चाहिए। लाख दो लाख कौड़ियों के लिए लोग क्या-क्या ज़ुल्म ढाते हैं। चापलूसी करके ग़ैरों को भी अपना बनाते हैं। इस संसार में धन ही शक्ति है और शक्ति अत्याचार को जन्म देती है। जात-पांत की जोंकें धनवान् के मोटे शरीर से चिमटी हुई हैं और जिस पुण्यदान का वह बहाना करता है, उससे वह अपना फ़ालतू लहू लोगों में बाँट रहा है।

इसी प्रकार अमृता प्रीतम चकित हैं कि आज से पाँच सदियों पहले कहते हैं कि अत्याचार की अँधेरी रात छाई हुई थीं। चारों ओर झूठ का दौर-दौरा था और तब एक चन्द्रमा उदित हुआ था, जिसे लोगों ने गुरु नानक का नाम दिया था। आज भी दुनिया में कपट है, अधर्म है, लूट खसोट है। आज भी ग़रीब बहुत ग़रीब और धनी बहुत धनी हैं आज वह चन्द्रमा क्यों नहीं उदित होता :

"हत्थ संगीना
जीभ निहत्थी
ज़िन्दगी हक दे
खँभां तो खुत्थी
शाह हनेरे पटक पटक

टुट गये लख मत्थे
अज कृष्णा पख दी रात
चन कित्थे ?
पंजु कु सदियां
पहलां दा पावस
इँज कल काती
सी कूड अमावस
मिटी धुंध ते जग चानन
कोई प्रगटया इत्थे
अज कृष्णा पख दी रात
चन कित्थे"

अर्थात हाथ में संगीनें हैं, ज़ुबान निहत्थी है। जीवन की सचाई के पंख नोच लिए गए हैं। घोर अन्धकार में पीट पीट कर लाखों माथे फूट गए हैं। आज कृष्ण पक्ष की रात है। चांद कहां है। आज से कोई पांच सदियां पहले इसी प्रकार तूफ़ानी रात थी ? इस प्रकार कलिकाल की कतरनी चल रही थी और असत्य का घटाटोप अन्धेरा छाया हुआ था और फिर धुन्ध मिट गई और संसार में प्रकाश हो गया- इस धरती पर कोई महापुरुष प्रकट हुआ। आज भी कृष्णपक्ष की रात है वह चांद कहां है ?

इसी प्रकार प्रो. मोहनसिंह हैरान है कि गुरु नानक के सत्य, धर्म, न्याय और एकता के मार्ग को लोग क्यों नहीं अपनाते ? जो कुछ बाबा नानक ने कहा है उस पर दुनिया क्यों नहीं ध्यान देती ? आखिर इनकी आंखें कब खुलेंगी ?

"साड़े वेड़े आया माए, नूर कोई रब दा
सारे जग देखि लिया, सानूं क्यों ना लबदा
मजिझयाँ ते गाज्याँ डिट्टा चुक चुक बूबियाँ
कीड़ियाँ ते काडियाँ व लभ लइआँ खूबियाँ
तक के इशारे ओदे मोल पइआँ वाडियाँ
लग ओदे पंजे नाल रुकियाँ पहाडियाँ
तक ओदे नैनाँ दिया डूंगियाँ खुमारियाँ
भुल गइआँ टूने कामरूप दियाँ नारियाँ
ठगाँ नू ठगोरी भुल्ली पैरी ओदे लगनी
तपदे कडाहे बुज्झे, ठण्डी होई अग्गनी
सारे जग देख लेआ, सानूँ क्यों ना लबदा
साडे वेडे आया माए, नूर कोई रब दा"

हमारे आँगन में भगवान् का कोई प्रकाश आया है। सारे जग ने उसे देख लिया है, परन्तु हमें क्यों नहीं दिखाई देता। गाय, भैंसों तक ने अपनी थूथनियाँ उठा कर उसे देख लिया है, कीड़े मकौड़ों ने भी उसके

गुणों को पहचान लिया है। उसके इशारों पर खेत हरे भरे हो गए। उसके हाथ का स्पर्श पाकर पहाड़ रुक गए। उसके नयनों के गहरे खुमार को देख कर कामरूप की सुन्दरियाँ अपना जादू भूल गईं। उसके चरण छू कर ठगों को अपनी ठगी भूल गई, उबलते हुए कड़ाहे ठण्डे हो गए और आग बुझ गई। हमारे आँगन में भगवान् का कोई प्रकाश अवतरित हुआ है। सारे जग ने उसे देख लिया, परन्तु हमें क्यों नहीं दिखाई देता ?

गुरु नानक का व्यक्तित्व, गुरु नानक का सन्देश, गुरु नानक की परम्परा पंजाब की सीमा से ऊपर उठ चुकी है। युग युगान्तर तक एकता के इस अवतार को लोग याद करेंगे। युगयुगान्तर तक "कमाओ और बाँट कर खाओ" का नारा लगाने वाले इस महान् दार्शनिक की ओर लोग एक ज्योति स्तम्भ की भाँति देखते रहेंगे। साहित्यकारों के लिए गुरु नानक सदैव एक सदा नवीन विषय रहेगा और पंजाबी कवि सदैव गुरु नानक से प्रेरणा लेंगे और आत्म-विभोर होते रहेंगे।

कर्तार सिंह दुग्गल
आकाशवाणी, हैदराबाद-दक्षिण

अरबी भाषा तथा साहित्य

अरबी भाषा सेमेटिक परिवार से सम्बद्ध है। पुरातत्व की शोधों से यह भी ज्ञात होता है कि अरबी सभ्यता ४००० वर्ष ई० पूर्व की है। दक्षिणी अरब में पाए गए कुछ शिलालेखों का काल ईसा पूर्व छठी शताब्दी अनुमानित किया जा सकता है और इनसे यह भी अनुमान लगाया जाता है कि उस समय की संस्कृति उत्कर्ष पर होगी। इन शिलालेखों से यह भी निश्चित किया जाता है कि १५०० ईसवी पूर्व इस क्षेत्र में पढ़ने-लिखने की कला भी विकसित रूप में विद्यमान थी। अनेक प्रमाणों से यह निश्चित किया जा सकता है कि अरब के उत्तर में अरबी पल्लवित और विकसित हुई तथा मक्का के धार्मिक स्थान में इसे विशेष रूप से आश्रय प्राप्त हुआ। अरबी का प्रवाह क़बीलों के साथ-साथ कारवानों द्वारा मेसोपोटामिया तक फैला। यहां अरबी के रूप में परिमार्जन और परिपक्वता दृष्टिगोचर होती है।

सातवीं शताब्दी के पश्चात् इस्लाम मज़हब के साथ-साथ, अरबी की भाषा, सभ्यता, संस्कृति भी न केवल समस्त मध्यपूर्व के देशों में ही फैली ; अपितु अन्य एशियाई देशों और आफ्रिका के कतिपय भागों में भी फैली। अरबी इन समस्त प्रदेशों में बोली जाने के अतिरिक्त लौकिक व्यवहार के लगभग

सभी कार्यों के लिए व्यवहृत भी की जाती थी। जावा, याल्टा, मिस्र आदि प्रदेश भी इसके प्रभाव से न बच सके। तेरहवीं शताब्दी पूर्व तक क़ुरान का प्रभाव एशिया, आफ़्रिका और यूरोप के एक बड़े भूभाग पर व्यापक रूप में पड़ा। आज भी अरबी मध्य पूर्वीय देशों की न केवल मातृभाषा ही है, अपितु वह समस्त मुस्लिम संसार की संस्कृति और धर्म का स्त्रोत भी है। इसके अतिरिक्त उत्तर और दक्षिण अमेरिका में स्थित कतिपय अरब-संस्थानों द्वारा अरबी के साहित्यिक पत्रों की बड़ी मांग रहती है।

अन्य भाषाओं की भांति अरबी भाषा का उद्गम और विकास भी प्रारम्भ में कविता द्वारा ही माना जाता है। अरबी कविता का आविर्भाव सुललित एवं संगीतमय गद्य से हुआ। मूर्तिपूजा के उपदेशात्मक अवसरों में मन्त्रों के स्थान पर कविता का प्रयोग हुआ। ऐसी कविताएँ अधिकांश में सोलह मात्राओं में ही हुईं। इन्हीं मात्राओंमें अरबों ने भी कविता की, किन्तु काल्पनिक —पाँचवीं शताब्दी के पूर्ववर्ती कवियों का भाषा पर अच्छा अधिकार था और उनकी वर्णनात्मक शैली भी पर्याप्त रूप से विकसित थी। इस कविता को 'क़सीदा' का नाम दिया गया। 'क़सीदे' में ६० से १०० तक पंक्तियाँ होती थीं। क़सीदा सामान्यत: एक यात्री की वियोग-गाथा होता है। क़सीदे का यात्री रेगिस्तान की यात्रा करते करते जब ऐसे स्थान में पहुंचता है, जहां वह कभी प्रिय (महबूब) के साथ रहा था, प्रेमालाप किया था ; उन्हीं विस्मृत बातों को वह फिर स्मरण करने लगता है। इन क़सीदों में रेगिस्तान तथा दूसरे अन्य स्थानों के विस्मृत और अतीत सुख-वैभव के दृश्यों का अच्छा चित्रण होता था। इनमें ऊँट, शिकार, धूल, तूफ़ान आदि विषय प्रमुखता से होते थे। मुख्य विषय भले ही कुछ हों, क़सीदों में उक्त बातों का वर्णन अवश्य होता था। बहुत से क़सीदे मेलों के ऊपर भी मिलते हैं। इन्हें 'मुलाक़ात' कहते हैं।

इस्लाम के प्रादुर्भाव से पूर्व अरब में उमरा-उल-क़ैस नामक कवि का नाम विशेष उल्लेखनीय है। क़ैस ने भी क़सीदे ही लिखे हैं। क़ैस का अनुसरण कुछ अन्य कवियों ने भी किया। इनमें दो-एक कवियों ने अपने क़बीलों की जीत के गीत भी गए। इस्लाम से पूर्व अरब में दो शाही खानदान थे और इन दोनों का फ़ारस और रोम के युद्धों में बड़ा भाग रहा है। किन्तु इन सुलतानों ने अपन दरबार में कवियों को अच्छा आश्रय दिया। इस प्रकार क़सीदों की कविता ने दरबारी कविता का रूप ग्रहण करना भी आरम्भ किया।

इस्लाम से पूर्व की कविता से स्पष्टत: झलकता है कि रेगिस्तान के वासियों ने घूमने फिरने के समय अपना डेरा डालने के लिए स्थान-स्थान पर क्या देखा होगा। इस कविता में कहीं-कहीं रेगिस्तान की शुष्क व्यापकता की तुलना जीवन से की गई है। इस कविता में सुख, दु:ख, वीरता, प्रेम, अपमान, गोरव, आतिथ्य आदि विषयों को सामान्यत: पृष्ठभूमि बनाया गया है। इसमें धार्मिक भावना कहीं भी परिलक्षित नहीं होती। लेकिन इस कविता में सामजिक अवस्था और विशिष्ट सामायिक प्रवृत्तियों का आभास मिलता है। उत्तरी अरब वालों की 'खाओ, पीओ, मौज करो' में आस्था अधिक थी। अरब की प्राचीन कविता में उस समय के क़बीलों का जीवन, उनकी प्रवृत्तियाँ, परिस्थितियाँ, संघर्ष आदि विषयों का परिचय मिलता है।

उस समय के गद्य-साहित्य के आधार पर कहा जा सकता है कि अरब में लेखन-कला न केवल लोकप्रिय ही नहीं थी, बल्कि उसका अस्तित्व न-के बराबर ही था। 'क़ुरान' को अरबी-साहित्य का प्रथम लिखित

ग्रन्थ माना जाता है । 'क़ुरान' धार्मिक तथा सामाजिक आदर्श एवं व्यवस्था के अतिरिक्त मानवीय स्तर पर पवित्र जीवन का निर्देश करता है । इसे पवित्र धर्मग्रन्थ माना जाता है और धार्मिक धारणाओं के अनुसार स्वर्ग में रसूल मुहम्मद को इसमें वर्णित तत्व ज्ञान का बोध हुआ। 'क़ुरान' आज तक भी अरबी की अद्वितीय और विशिष्टतम कृति है और उसका समूचे अरबी साहित्य पर गहरा और व्यापक प्रभाव पड़ा है । वह समस्त मुसल्मानों की सर्वोपरि विधान-पुस्तक भी है । उसके कारण अरबी का क्षेत्र संसारव्यापी हो गया ।

रसूल मुहम्मद के जीवन काल में जब इस पुस्तक का प्रणायन हुआ था, उस समय भी अरबी लिपि अपूर्ण और त्रुटिपूर्ण थी । 'क़ुरान' का परिज्ञान प्राप्त करने के लिए व्याकरण, शब्दज्ञान तथा भाषाशास्त्र के गहन ज्ञान की बड़ी आवश्यकता है । 'क़ुरान' की अपेक्षाकृत प्रौढ़ और पुष्ट भाषा का तत्कालीन प्रभाव यह हुआ कि भाषा-विज्ञान तथा कोश-रचना को बड़ा बल मिला । 'क़ुरान' से पूर्व के अरब की बौद्धिक भूमि का अध्ययन करने से क़बीलों की वंशावली का विवरण ही अधिक मिलता है । उस समय के गद्य का विकास 'क़ुरान' की शैली पर हुआ । 'कुरान' की गद्य शैली आज भी अरबी साहित्य में आदर्श मानी जाती है ।

इस्लाम की शिक्षा (मत वाद) जो कि ईश्वर, राष्ट्र, कर्म तथा विचारशीलता की एकता पर ज़ोर देती है, क़बीलों की परम्परागत मनोभूमि पर शक्तिशाली प्रहार करती है । उस समय उपदेशात्मक तथा धर्मसम्बन्धी विषयों के लिए गद्य का उपयोग ही अधिकाधिक किया गया और उससे आगे भी पैग़म्बरों और ख़लीफ़ाओं के समय भी काव्य की प्रगति अवरुद्ध-सी रही तथा अमुस्लिम देशों के धार्मिक कवि लगभग वे ही थे, जिन्हें प्रोत्साहन तथा प्रश्रय प्राप्त हुआ ।

इस्लाम के उत्थान तथा ख़लीफ़ाओं के प्रभुत्व काल में जहां अरब में इस्लामी सिद्धान्तों और दृष्टि-कोणों का प्रसार हुआ । वहां उच्च तथा सामान्य वर्गों में ऐश्वर्य का भी प्रवेश हुआ । इस काल में क़बाइली सरदारों ने राजनीतिक जामा पहन लिया और अरब की सामाजिक और धार्मिक पृष्ठभूमि भी राजनीतिक प्रवृत्तियों में आत्मसात् होती चली गई । उस समय की रचनाओं में राजनीतिक रंग स्पष्टता से देखा जा सकता है । अरब के जीवन में राजनीति के व्यापक प्राबल्य से भोगविलास का प्रसार भी स्वभावतः हुआ और इसकी परिणति स्वरूप अरबी कविता में सुरूर आया । इससे पूर्व प्लेटो की स्थापनाओं के अनुसार कविता की निराडम्बर अनुभूतियां रेगिस्तान की कविता में भी पल्लवित और विकसित हुई थीं, उसमें कला और शिल्प का भी आडम्बर-पूर्ण सम्मिश्रण होने लगा ; किन्तु इस काल के काव्य का प्रेम-विषय-बड़ा प्रखर था । इस कविता में बूथानिया का प्रेमी जमीत-ब-मामार, लुबना का प्रेमी कैस-ब-ज़रीह, लैला का प्रेमी मजनू आदि के प्रसंग पवित्र प्रेम के चिरस्मरणीय विषय हैं । इन काव्यात्मक प्रेम-प्रसंगों ने अरबी-साहित्य में लोक-गाथाओं का रूप धारण तो किया ही ; इसके अतिरिक्त ईरान, तुर्किस्तान आदि प्रायः समस्त मुस्लिम क्षेत्रों में इनको बड़ी लोकप्रियता प्राप्त हुई । इस प्रकार की अलौकिक प्रेम-कविताओं में अमर-ब-अरबिया का महत्वपूर्ण स्थान है । यह कुरैश क़बीले का था । इसकी कविताएं एक दीवान में संगृहीत हैं । अलौकिक तथा लौकिक प्रेम-प्रसंगों से पूर्ण कविताओं का क्षेत्र सर्वांशतः धर्म शून्य भावना तक सीमित प्रतीत होता है । इस प्रकार की कविता में क़सीदों के स्थान पर ग़ज़लों को तेज़ी से प्रश्रय मिला । यद्यपि अभी तक ग़ज़लों का कोई विशेष अस्तित्व अथवा स्थायित्व निर्धारित नहीं किया जा सका था ; किन्तु उमैया के काल में ग़ज़लों को स्वतन्त्र अस्तित्व प्राप्त हुआ । अरबी कवित

में दीर्घावधि तक धर्मशून्य भावना के प्रेम-प्रसंगों का एकाधिपत्य-सा दृष्टिगोचर होता है। उस काल की कविता में हमें सामाजिक और आर्थिक बन्धनों की झलक स्थान-स्थान पर मिलती है, किन्तु कविता की अभिव्यक्ति और शैली में पत्थर पूजा का प्रकाशन बहुत अंशों में मिलता है। उस काल में कविता की प्रवृत्तियों को अधिकाधिक प्रश्रय मिलने का एक ऐतिहासिक कारण यह भी था कि क़ुरान के प्रवचनों, उपदेशों और प्रसंगों को समझने के लिए काव्य-तत्वों के मर्मों का परिज्ञान भी आवश्यक था और लोग भी क़ुरान के अध्ययन और व्याख्या के लिए कविता को ही माध्यम बनाए हुए थे। 'क़ुरान' ने ही वस्तुत इस्लाम को साहित्यिक संस्कार प्रदान किए। प्राचीन कविता का पाठ करने वाले 'रावी' कहलाते थ, इनका एकमात्र काम कविता को कण्ठस्थ करना और लोगों को सुनाना था। प्राचीन काव्य के संग्रहकर्ताओं में खलफ़-उल अहमर का नाम सदा अविस्मरणीय रहेगा।

राजनीतिक कारणों से खलीफ़ाओं की राजधानी दमिश्क़ से बग़दाद में परिवर्तित हुई। बग़दाद और उसके आस-पास पारसियों का प्रभाव अधिक था। इसका अरब के राजनीतिक, लौकिक और सांस्कृतिक जीवन में भी प्रभाव पड़ा। परिणामस्वरूप इस काल के साहित्य सृजन में विभिन्न प्रकार की ओर नई-नई प्रवृत्तियों का भी आविर्भाव दिखता है। अब्बासियों ने गद्य और पद्य को ही पर्याप्त समृद्ध नहीं किया, उनका ध्यान वैज्ञानिक अध्ययन की ओर भी गया। इस काल के साहित्य को अध्यात्म, धर्म, दर्शन, इतिहास, भूगोल तथा प्रकृति विज्ञान आदि अनेक विषयों में विभाजित किया जा सकता है। इनमें कुछ विषय गद्य में लिखे गए और कुछ पद्य में भी लिखे गए।

मुसलमान इस्लाम मज़हब के सिद्धान्तों पर अपनी निगूढ निष्ठा और रसूल के कथनानुसार 'क़ुरान' के समस्त प्रवचनों पर गम्भीरतापूर्वक मनन करते थे। उनका यह कार्य नैमित्तिक था। 'क़ुरान' पर दीर्घकाल तक तक किए गए मनन के पश्चात् कहा जा सकता है कि उसमें कितनी सामग्री असली है और कितनी बाद में ठूंसी हुई। इस सम्बन्ध में अब तक के अनुसान्धान पर 'क़ुरान' के छः संग्रह विश्वसनीय माने जाते हैं।

१. अलबुख़ारी द्वारा संगृहीत
२. मुस्लिम द्वारा संगृहीत
३. अबूदाऊद द्वारा संगृहीत
४. अबू-इस-तिरमिज़ी द्वारा संगृहीत
५. नसाई द्वारा संगृहीत
६. इब्न माज़ा द्वारा संगृहीत

किन्तु इनके अनन्तर भी कुछ संग्रह और माने गए हैं। इनको 'क़ुरान' की व्याख्या को और अधिक सरल बनाने के लिए अथवा वैज्ञानिक अध्ययन की परम्परा को स्थिर रूप देने के लिए प्रश्रय दिया गया। इसके अतिरिक्त इस क्षेत्र में कुछ और भी गवेषणाएँ उपलब्ध होती हैं। इस प्रकार की समस्त गवेषणाओं और अध्ययनों का विषय मूलतः क़ुरान ही था। ऐतिहासिक दृष्टिकोण, मौलिक निरूपण, व्याकरण सम्बन्धी, आलंकारिक, प्रशस्तिपरक तथा विधान सम्बन्धी विवेचनाएँ क़ुरान की आयतों की आध्यात्मिक और लौकिक व्याख्याओं के मुख्य विषय हैं। इस प्रकार के अध्ययन की कुछ काल तक तो परम्परा ही चल

पड़ी। कालान्तर में यही परम्परा स्वतन्त्र और नियमित ज्ञान के रूप में मान्य हुई। इन समस्त पूर्व अन्वेषणों को एकत्र करने और नियमित ज्ञान के रूप में मात्र हुई। इन समस्त पूर्व अन्वेषणों को एकत्र करने और उन्हें संग्रह का रूप देने में इब्नजरीर-उल-तहरी का नाम उल्लेखनीय है। १२०९ ई० के लगभग फ़ख़रुद्दीन-अर-राज़ी ने 'मफ़ातिहु-ग़ालिब' में क़ुरान की आध्यात्मिक एवं दार्शनिक व्याख्याओं के विषय पर लिखा।

लगभग इसी काल में अमूर्त कल्पना आदि यूनानी दर्शन तथा ईसाई लोकोक्तियों के प्रभाव में अरबी साहित्य में चर्चा का विषय बनीं। और इसलिए इसके अनन्तर अरब में परम्परात्मक रूढ़ियों के विरुद्ध राष्ट्रीय आन्दोलन चला। यह आन्दोलन काफ़ी दिन चला और एक नई विचार-धारा का जन्म हुआ जिसके प्रणेता अबुल हसन अल-अशखी (९३५) और मनसूर अलमतुरीदी (९४४) नामक दो विद्वान् थे। इन विद्वानों ने रूढ़िग्रस्त परम्परावाद और मआताल के विचारवाद में निर्णायकों का कामलिया। इससे एक दार्शनिक पद्धति का जन्म हुआ, जिसे 'कलाम' कहते हैं। 'कलाम' के साहित्यिक प्रतिनिधि अबूबकर अल-वलील्लनी (१०८५) हैं जो अपने समय के एक बड़े सिद्धान्तवादी विद्वान् माने जाते थे और जिनके शिष्य अलराज़्ज़ली थे। इनके अतिरिक्त एक प्रतिभाशाली विद्वान् बग़दाद में और हुए— अबुल-फतेह-एश-शरस्तानी (११५३)। इन्होंने अपनी कृति 'किताब-अल-मिलल वल निहाल' में समस्त प्रचलित धार्मिक एवं दार्शनिक पद्धतियों और इस्लामी मान्यताओं को प्रशस्त रूप दिया। हारिस उल-मुहासिबी (८२८), जुन नूर उल-मिसरा (८५९) और अल जुनैद (९००) ने न केवल आदर्शपूर्ण रचना लिखी बल्कि अपनी आत्मा को भी पवित्र किया और आदर्श जीवन व्यतीत किया। अल-कुशैरी (१०७२) के रिसाले में इन रचनाओं का बहुत कुछ उल्लेख मिलता है। प्राचीन पद्धति के सबसे प्रमुख प्रतिनिधि शेख़ अब्दुल क़ादिर जीलानी हैं जिन्होंने अल-कदीरिया शहाबउद्दीन उमर अस-सुहरावर्दी (१२३४) और म्हीउद्दीन इन अरबी (१२४०) आदि के आधार पर लिखा। शेख़ अब्दुल क़ादिर ने भाषण भी दिए और यौगिक आदर्श एवं सत्य धर्म पर भी पुस्तकें लिखीं। इस समय के सबसे अधिक प्रतिभाशाली सूफ़ी दार्शनिक अल-गज़्ज़ली (११११) थे जो अपने समय के सारे विरोधों का सामना करते हुए निगूढ़ आध्यात्मिक जीवन का सन्देश दे गए। उनकी प्रसिद्ध रचना ईह्यू-अल-उलूम-उद्दीन उनके जीवन के अध्ययन का संक्षिप्त सार है। इसके द्वारा इस्लाम में सूफ़ी मत के समावेश होने का सूत्र-पात होता है।

जब ग़ैर अरब इस्लाम धर्म में आने लगे और अरब सुदूर प्रदेशों में बसने लगे.....तब तो 'क़ुरान' के समुचित अध्ययन की आवश्यकता और भी पड़ी। पश्चिमी देशों में स्पेन के अल-दनी और अल-शतीबी ने 'क़ुरान' के उच्चारण तथा पढ़ने के ढंग पर लिखा था।

अबु असदुदौला (६८५) पहले विद्वान् माने जाते हैं, जिन्होंने व्याकरण की व्याख्याएँ कीं। अरबी के व्याकरण का अध्ययन ईराक़ के दो नगरों—कुफ़ा और बसरा में चलता रहा। जहां अरबी के प्रचलन में दो विचार धाराएँ उक्त विद्वानों द्वारा निर्धारित कर दी गई थी और इसी प्रकार व्याकरण में भी दो शैलियां उत्पन्न हो गई थीं। सब से प्रसिद्ध व्याकरणाकारों में छन्द शास्त्र के प्रणोता खबील-बिन-अहमद (७८६); २, अल किताब (व्याकरण) के लेखक अबुशिर अमर-बिन-उस्मान (७९६) का नाम उल्लेख्य है। प्रारम्भिक रचनाएँ जंगली जानवरों, घोडों, ऊँटों और आदमी की प्रकृति के विषयों पर लिखी गई।

इन्हीं पुस्तकों में से भाषा तथा शब्द-कोश सम्बन्धी सामग्री एकत्रित की गई। बाद में इन पुस्तकों से विस्तृत और व्यवस्थित ढंग से शब्द-कोश बनाए गए। बसरा के विद्वान् अबूबकर इब्न रैद ने 'जम्हरा' और 'किताब अल-इश्तिक़ाक' जैसे शब्द कोश की पुस्तकें रचीं जिनमें संसार के विभिन्न ज्ञान-सूत्रों का अच्छा संकलन है। इस श्रेणी में अल-मुहर्रद (८९८) पहले आते हैं जिनकी 'किताब-उल-कामिल' अरबी भाषा एवं साहित्य का विश्व-कोश ही नहीं है बल्कि पुरातन इतिहास तथा परम्परा में भी महत्वपूर्ण है। और कूफ़ा में क़िसाई, फेर्रा और इब्न अल हुए जिनकी पुस्तक 'इस्लाह-उल-मनतिक़' और 'किताब उल-अल्फ़ाज' प्रसिद्ध है। बसरा में जो स्थान सिक़ित मुहर्रद का था वही स्थान कूफ़ा में तालब का था। जो अपनी रचना 'किताब-उल्-फ़सीह' के लिए प्रसिद्ध है,। इनके शिष्य इब्न-उल-अन्हरी ने अधिकृत शब्दों पर एक पुस्तक लिखी, दीवानों का संकलन किया और उनकी टीका की। बग़दाद में इब्न खलाबिया, इब्न अहमद और इब्न फ़ारिस ने उन्नति की। स्पेन में शब्द ज्ञान के प्रणेता अबुअली उल-खली (९६६) थे। स्पेन में सबसे महत्वपूर्ण रचना इब्न सिंदा (१०६५) द्वारा 'रचित' अलम् खम्मस थी। व्याकरण तथा शब्द-कोश के लिए एक और महान् विभूति अज-जम-खसंरी है, जिनका रचित शब्दकोश उल्लेखनीय है और मुफस्सल (व्याकरण) अब भी लोकप्रिय है। लेकिन अरबी में हर स्थान पर जहां भी वह पढ़ाई जाती है इब्न मलिक का अलफ़िया ज़रूर पढ़ाया जाता है।

ईरानियों के सम्पर्क में काव्य ने नाज़ुक खयाली तथा शायराना मुहावरों से वशीभूत होकर गम्भीरता का रूप धारण कर लिया। इस काल के कवियों में बशहर इब्न बुर्द (७८३) और सबीह इब्न-अब्दुल कुद्दुस (८१३) उल्लेखनीय हैं। कुछ प्रारंभिक कवियों में से छोड़ कर इस युग के सबसे प्रसिद्ध कवि अबु निवास, अबुल अताहिया और अबु तम्मान और अल-बुहतरी हैं। अबु निवास (८१०) बहुत ही स्वतन्त्र तथा अपरिचित कवि था। बुढ़ापे में जैसा कि उसके दीवान के अन्तिम परिच्छेद 'ज़ूहदियात' से प्रतीत होता है कि वह काफ़ी गम्भीर विचारों में डूबा हुआ दीखता है। वैसे उसके शराब एवं प्यार के गीतों ने काफ़ी लोकप्रियता एवं प्रसिद्धि प्राप्त की। जब कि अबुल अताहि ने (९२८) 'जुह्द' (पवित्र जीवन) पर काफ़ी लिखा और लौकिक कविताएँ साधारणतया उपदेशपूर्ण शैली में रची।

वह स्वच्छन्द स्फूर्ति जिसने वृद्ध परम्पराओं के विरुद्ध विद्रोह किया, कविता में भी एक विशेषधारा प्रवाहित की और इस धारा प्रवाह में अब्दुल्ला इब्न अलम् हाज सुपुत्र खलीफा अलमुताज़ भी सम्मिलित थे।

क़सीदे की प्राचीन शैली को जीवित रखने वाले कवियों में से अबुहम्माम (८४५) और अलबुहतुरी (८९७) का नाम लिया जा सकता है। ये दोनों सीरिया के थे और बग़दाद आकर राजकवियों की तरह रहे। स्तुति पाठक (भाट) होने के अतिरिक्त दोनों ने 'अलहसन' के शीर्षक से पदावली का संकलन किया। 'अबुहम्माम' अभी तक के अरबी कविता-संग्रहो में सर्वश्रेष्ठ माना जाता था। किन्तु स्पेन में मुवाशाह और ज़ज़ाल प्रकार की नयी कविता का रूप शुरू हुआ। अरबी काव्य तथा संगीत स्पेन में ही नही ; बल्कि आफ़्रिकी देशों और सिसली आदि में भी गुंजे।

अब्बासी सैफुद्दौला हमदानी का दरबार विशेष तथा अरबी साहित्य का सबसे बड़ा केन्द्र था जहां अल-मुतनब्बी (९६५) जैसे प्रसिद्ध कवि ने रहकर कीर्ति पाई। इनकी रचनाएँ हमेशा साहित्यिक क्षेत्रों में बड़ी रुचि से पढ़ी जाती रही है और सराही जाती है। अल-मुतनब्बी ने अपने समकालीन कवि अबु-

फिरस अल-हमदनी के साथ सैफुद्दौला के विजय की गीत गाए जो उस समय वहां का शासक था और यूनान से चालीस लड़ाइयाँ लड़ी थी। सीरिया और बग़दाद में कविता में शास्त्रीय शैली का समावेश चक्षुहीन कवि मअरी (१०५४) से शुरू हुआ। जिसका इस्लामी तथा यूनानी ज्ञान के साथ साथ भारतीय दर्शन में भी बड़ा ज्ञान था। साहित्यिक रसायल (पत्र व्यवहार) के अतिरिक्त वह अपनी दो काव्य रचनाओं "सकत-उल-जन्द" तथा "लुजुम-मायालुजुम" के लिए प्रसिद्ध है। इन रचनाओं में मअर्री ने बड़ी बहादुरी से अपने समकालीन विचार, समाजिक जीवन, राज्य तथा धर्म की कटु आलोचना की है। उसने स्वयं 'ज़ुहद' के आदर्श को अपनाया। उसके विचार से बौद्ध विचार आदर्श है।

गद्य का श्रीगणेश फ़ारसी, यूनानी, सीरियाई साहित्यों का अब्बासी खलीफ़ा द्वारा अरबी में अनुवाद के प्रोत्साहन से हुआ। फ़ारसी से सामान्य-साहित्य, यूनानी से दर्शन, प्रकृति, विज्ञान तथा भारत से गणित के अनुवाद के आन्दोलन ने बड़ा ज़ोर पकड़ा। संस्कृत के 'पंचतन्त्र' का अरबी अनुवाद कलीला और दमना के नाम से पहलवी में हुआ जो फ़ारसी में इब्न अल मुकफ़्फ़ा (७५७) में अनुवाद किया। अरबी से फ़ारसी की ऐतिहासिक रचना 'ख़ुदाईनामा' का भी अनुवाद हुआ। अरब में सबसे लोकप्रिय एवं कलात्मक गद्य रचनाकार बसरा के अल जाहीज़ थे जिनकी 'किताब उल-हैवान', "किताब-उल-बयान', 'बल-तबईन' और किताब 'अलमुखाश' है जिसमें अरबी मुहावरे तथा साहित्यिक एवं सांस्कृतिक इतिहास का भंडारा भरा है। वह न केवल तीखे व्यंगकार ही थे बल्कि अरबी गद्य के आचार्य भी थे जिन्होंने आन वाली पीढ़ियों पर भारी प्रभाव डाला है। भाषा शास्त्रीय एवं इतिहासकार इब्न कुतैबा (८८३) अल जाहीज़ के समकालीन थे। अपनी रचना 'अदब-उल-क़बीर' में इन्होंनें व्याकरण तथा भाषा की विशेष समस्याएँ भी उठाई हैं जिसका ज्ञान एक लेखक के लिए अनिवार्य है। और अपनी किताब 'उलमा-अरिफ़' और 'मुईन-उल-अख़बार' में इन्होंने काव्य एवं साहित्य के विषयों को ऐतिहासिक रूप में लिया है।

विभिन्न विषयों पर प्रौढ़ गद्य में अगणित रचनाओं के अतिरिक्त विश्व-कोश की भी रचना हुई जिसमें सर्व साधारण शिक्षा के लिए उपयुक्त सभी सामग्री दी गई। इस प्रकार की रचना स्पेन के इब्न अब्दुल-ख़नी (९३९) द्वारा रची गई इसमें पच्चीस परिच्छेद हैं जिनमें इस्लाम से पूर्व इस्लामी इतिहास, काव्य, छन्द शास्त्र, सास्हित्यक एवं ऐतिहासिक किंवदन्तियाँ आदि हैं। इसी प्रकार की रचना इसके बाद राग़िब उल-इफहामी (११०९) और अज-ज़मसरी (११४३) की क्रमशः 'मुहावरात उल उदबा' और 'राग़े-बुल-इफहान' हैं।

कलात्मक गद्य की आवश्यकता शासकों के राजनैतिक पत्रव्यवहार एवं राजकीय लेखों के द्वारा और तीव्रता से बढ़ी। पहले राजकीय लेखों की सीधी स्वच्छ शैलियों में गुलकारी की गई और उन्हें आकर्षित बनाया गया। आलंकारिक सजावट तथा आकर्षक गद्य शैली का भी आरम्भ हुआ।

इन कलाकृतियों से साहित्य को एक और विशेष रूप मिला जिसे 'मकमा' कहा जाता था। ये एकांकी नाटक की तरह होता है। जिसमें हमेशा कहानी कहने वाले के द्वारा नायक को दुःखावस्था में प्रस्तुत किया जाता है। सारी वार्ताएँ गेय गद्य में रहती है। इस प्रकार की साहित्यिक रचना के सर्वप्रथम प्रणेता अहमद-उल-हमदनी उपनाम—'वसी' उज़्ज़मा (१००७) थे किन्तु मक़म की शैली में अल-हरीरी (११२१) की लेखनी में विशेष प्रौढ़ता है।

पूर्व के इस्लाम की युद्ध कथाएँ, अन्तारा की गाथाएँ सैफ इब्न जीयाजां की प्रेम कथा, दक्षिणी अरबीय राजा की कहानी और बनु-हिलाल की प्रेम कहानियाँ बहुत रोचकता से पूर्ण हैं। इसी श्रेणी में 'अलिफ़ लैला की कहानियाँ' भी आती हैं जो सारे संसार में प्रसिद्ध हैं।

अरब का पहला दार्शनिक लेखक अबुयुसूफ याकूब उल-किन्दी (८६२) है जिसने दो सौ रचनाएँ दर्शन, ओषधि, ज्योतिष, गणित एवं संगीत पर कीं। इस युग के चुने हुए दार्शनिकों में अबुसनर-उल-फ़राबी (९५०) हैं जिन्होंने अरस्तु गणित एवं संगीत पर टीकाएँ लिखी थी। अबु अली इब्नेसीना ने भी इसी प्रकार के विषयों पर लिखा। उनकी 'किताब-उश-शफ़ा' दर्शन शास्त्र में और 'अलक़ानून फिततिब' ओषधि पर प्रसिद्ध रचनाएँ हैं और इसका लैटिन अनुवाद तो मध्ययुग में यूरोप में हुआ। इनके अतिरिक्त अलग़ज्ज़ाली ने 'मक़ासिद उल फलसफ़ा' लिखा और इसके पश्चात् 'तहफ़ात-उल-फ़लसफ़ा' लिखा जिसमें उन्होंने लिखा कि दर्शन धार्मिक गुत्थियों को नहीं सुलझा सकता।

किन्तु स्पेन और उत्तरीय अमरीका के दर्शन में नया मोड़ पैदा हुआ इब्न रुशद ने (११९८) अलग़ज्ज़ाली की विचारधारा का विरोध किया और अपने दर्शन की पुष्टि की। इब्न अवज्जा (११३८) और इब्न तुफैल (११८५) पश्चिमी क्षेत्रों में काफ़ी प्रसिद्ध हैं।

जहाँ अल ख्वाराज़मी (८१०), तावित इब्न-कुर्रा और अल करख़ी ने गणित पर अनेकों रचनाएँ लिखीं वहाँ इब्राहीम अल-फ़ज़री ने ज्योतिष-तालिकाएँ बनाई। दूसरे खलीफ़ा उल-मनसूर ने भारती गणित 'सिद्धान्त' अरबी में अल-ख्वारिज़मे से अनुवाद कराया। अरबी ज्योतिष शास्त्र का प्रतिनिधित्व करने वालों में से प्रसिद्ध अल-फ़रग़ानी अल-बथानी, इब्न युनुस, इब्न उल हैइतम और जाबर इब्न अफ़ताह को गिना जा सकता है। इन के अध्ययन से बग़दाद, दमिश्क और काहिरा में प्रयोगशालाएँ स्थापित करने में बड़ी सहायता मिली।

अन्य विषयों के साथ साथ यूनानी हकीमों की रचनाओं का अध्ययन एवं अनुवाद शुरू हुआ। लेकिन रचनात्मक एवं व्यक्तिगत अनुवादों से अरबी विद्वानों ने ओषधिज्ञान में प्रगति की, और अपना स्वतन्त्र साहित्य बनाया। इस युग के सर्वप्रधान हकीम अबु जकारिया अर-राज़ी (९३२), अज जहरोई (१००९) इब्न सीना (१०३७), इब्न मसावह (१०१५), इब्न बुबतल (१०२२), इब्न मेमून (१२०९) और इब्न नफ़ीन्स (१२९०) थे। अरब के हकीमों ने औषधि बनाने और रोगों को लक्षणों से जानने की विद्या को बहुत बढ़ा लिया था। उस समय पश्चिम में भी हस्पतालों तथा ओषधि संस्थाओं में भी इन्हीं का बोल-बाला था।

खलीफ़ाओं की अच्छी शासन व्यवस्था और आवागमन व्यवस्था से भूगोल ज्ञान में काफ़ी सहयोग मिला। वैसे तीर्थयात्रियों को तो दूसरे देशों का ज्ञान रहता ही था जहाँ वह जाते थे। इन भोगोलिक पुस्तकों में केवल आने जाने के रास्ते, व्यापार तथा व्यापारिक संस्थाओं का ही हाल नहीं था बल्कि वहाँ के लोगों को सांस्कृतिक सामाजिक एवं धार्मिक जीवन के बारे में भी विवरण था। इस प्रकार के संकलनों से इस बात का काफ़ी प्रमाण मिल जाता है कि इस ओर लोगों का अध्ययन कहाँ तक था। यात्रियों ने भी पूर्व और पश्चिम के कई देशों के बारे में बहुत लाभदायक सूचनाएँ दीं। भूगोल में इब्न खुरदादबीह द्वारा लिखित "किताब उल मासलिक बल मुमालिक" था कूबी की किताब 'अल बुलदा' इब्न रूस्ता की अल-अल्क अन नफ़ीस,

अल इस्तखरी की 'किताबल-मुसलिक अल ममालिक' के साथ साथ अलमकदसी द्वारा लिखित 'अशन अल तकसीम की' मा 'रिफ़त अल अक़लीम' इद्रीसी की नुज़रत अल मुश्ताक़, और 'तवारीख़ हिन्द' के रचयिता अलबेरूनी की लिखी हुई पुस्तक अल-अथर 'अल वाक़िया अन अल कुरान अल-खालिया' हैं। इब्न फ़दलन, अबु दुलफ़ खाज़ाजो, इब्न जुहारी और इब्नबतूता ने भी अरब और उन सब देशों के बारे में लिखा है जहाँ वे गए थे। वकीरी ने 'मुजम्मा रत्तजम' और याकूत ने 'मुजम अलवल्दा' भौगोलिक शब्द-कोशों का संकलन किया।

प्राचीन काव्य तथा वंश परंपराओं से इतिहास के अध्ययन में काफ़ी सहयोग मिला। इस्लाम की शुरूआत का ज्ञान प्राप्त करने के रसूल की जीवनी तथा इस्लाम की लड़ाइयों जैसी सामग्री एकत्रित करना परम आवश्यक हो गया था। रसूल की सवप्रथम अनुरूप जीवनी मुहम्मद इब्न इशाक ने लिखी जो इब्न हिशम द्वारा फिर से सम्पादित हुई।

स्पेन के सबसे प्रसिद्ध इतिहासकार हिसमुद्दीन इब्न अल-खबीब (१३७४) हैं जिनका इतिहास 'अलईदता फ़ी तारीख-ए-गश्त' बहुत प्रसिद्ध है। लेकिन स्पेन के अरबों के सांस्कृतिक एवं साहित्यिक जीवन पर उत्तरी आपकी इतिहासकार अलमक्करी ने अपनी प्रसिद्ध रचना 'नफ़्ह-उल-तिब मिन गुस्न अल-अंदलुस अर रातिब' में विवरण से प्रकाश डाला है।

मंगोलों के आक्रमण तथा बग़दाद की पराजय के पश्चात् ६५६-१२५९ में सांस्कृतिक केन्द्र फिर सीरिया और मिश्र बन गए और साहित्य में स्वाभाविक परिवर्तन आया। इस युग के विशेष साहित्यकारों में इब्न हज़र अल अस्क़लानी (१४४८) जलालुद्दीन अल-महल्ली (१४५९) जलालउद्दीन अस-सईदी (१५०५) शबीबउद्दीन अल-क़स्तलनी (१५१७) और मुस्लिम आदर्शों के लिए इब्न तैमिया (१३२७) इब्न-उल-जौज़िया (१३५०) और तकीउद्दीन अस सुबकी (१३६९) हैं अल-रौरानी (१५६५) ने सूफ़ी मत पर बहुत लिखा। इब्न सैयाद अन तस (१३३३), बदरउद्दीन उल-हलाली (१६३४) और जैनी दैहलान ने रसूल के जीवन चरित्र को संकलित किया। और तित्किका (१३०१) अब्दुल फ़िदा इस्माइल (१३३१) अबु अब्दुल्लाह उद-धवी (१३४७), इब्न खातिर (१३७२), तकीउद्दीन अल-मकरीजी (१४४१) और अब्दुल महासिन अल-तग़रीविरदी (१४६९) ने तो इस शैली में चार चाँद लगा दिए। आठवीं शताब्दी हिज्री में जो महान् इतिहासकार था जिसने अरबी इतिहास के लिए बिलकुल नया ढंग दिया वह था इब्न खलदून (१४०६) उसकी शैली न केवल पूर्व में ही अपनाई गई बल्कि पश्चिम के भी इतिहासकारों ने इसका प्रयोग किया। सम्पूर्ण अरबी साहित्य का अध्ययन एक तुर्की साहित्यकार हाजी खलफ़ा (१६५७) ने किया और इस अध्ययन के आधार पर खोजपूर्ण पुस्तक 'कश्फ़ुज़ जुनून' लिखी।

यद्यपि इस युग में कविता नाम मात्र को ही थी फिर भी इसका बीजारोपण हो गया था। इस युग के प्रसिद्ध कविगण सफ़ीउद्दीन अल-हल्ली (१३४४), अलबसरी (१२९६) और सलेहउद्दीन अल सफ़दी (१३६२) थे।

इन तमाम बड़ी बड़ी रचनाओं के अतिरिक्त शब्दकोश को जिन्होंने स्मरणीय देन ही है वह है—अल फिरोज़ाबादी (१४१४) इब्न मनसूर (१३११) और मुर्तज़ा अज़ ज़ाहीदी (१७९०)। प्रकृति के इतिहास तथा प्राणिविद्या में कमलुद्दीन अद दमीरी (१४०५) ने 'हयात उल हैवान' लिखी।

भौगोलिक तथा राजनैतिक संकटों के बावजूद भी भारत के मुसलमानों और धार्मिक संस्थाओं में अरबी रही। कुछ भारतीय मुसलमान अब्बासी तथा उमैयारी युग में अल-हिजाज और ईराक़ चले गए और वहीं बस गए। वहा अबुअता अल-सिन्धी कवि के रूप में, हसन अल-सग़नी (१२५२) शब्द शास्त्री के रूप में और सफ़ीउद्दीन अल-हिन्दी (१३१५) क़ानून में माहिर के रूप में प्रसिद्ध हुए। अल-बरूनी अपनी किताब अल-हिन्द को लिखने के लिए भारत आया था और हिन्दू संस्कृति तथा अन्य विशेषताएँ लेकर वापस गया। शमशुद्दीन मुलतान आए और हदीस की विचारधारा भारत में फैलाई। लेकिन भारत के मुस्लिम शासन काल में—गजनवियों (९९८) ई. से मुग़लों (१५३६) तक कोई मौलिक अरबी साहित्य देखने में नहीं आया। भारतीय मुसलमानों ने इस समय में कुछ भी मौलिक नहीं लिखा किन्तु तर्कशास्त्र इन्हें बहुत पसन्द आया और मुहीब उल्लाह बिहारी (१७०७) ने 'सल्लुम अल-उलूक' लिखा जो तर्कशास्त्र पर विशेष रचना मानी जाती है।

इनके अलावा सद-बिन-सामान, निज़ामुद्दीन औलिया, नासिरुद्दीन चिराग़ देहलवी और शाहबुद्दीन और अमीर खुसरो अरबी काव्य के चमकते हुए नक्षत्र हैं। ऐसे भी कवि हुए हैं जिन्होंने अरबी में पूरा दीवान भी लिखा है। जैसे मालाबार के मुहम्मद-ब-अब्दुल अज़ीज़ (१०वीं शताब्दी), सैयद अलीखाँ इब्ने मासूम (१७०५), सैयद अब्दुल जलील बिलग्रामी (१७१५), सैयद ग़ुलाम अली आज़ाद (१७८५) ये सभी कवि फ़ारसी शायरी से प्रभावित थे और अपनी कविता में वैसा ही व्याकरण के प्रयोग करते थे। मुहम्मद (मालाबार के) ने अरबी में लगभग ५०० पद्यों की मसनवी लिखी थी जिसमें कालीकट के जमोरिन और पुर्तगालियों में हुई लड़ाई की कथा है। इस्लाम के प्रति अनुराग इब्न मासूम ने अपनी रचना 'अलबदियात' में प्रदर्शित किया ह। अन्य कवियों की तरह आज़ाद भी अपनी कविता में हिन्दी और संस्कृत की उपमाओं तथा अलंकारों का प्रयोग करते हैं। धार्मिक अध्ययनों और रचनाओं में भारतीय मुसलमानों का भी योग सराहनीय है। मुहिब उल्लाह बिहारी (१७०७) द्वारा रची 'फ़तवा-ए-आलमगीरी' और मुसल्लम उल सुबुत धर्म शास्त्र पर अद्वितीय रचनाएँ मानी जाती हैं। बुरहानपुर के अली मुक्तकी (१५५७) ने 'कनजुल उम्मल' लिखा। देहली के शाह वली उल्लाह (१७६२) ने इसी परम्परा में 'मुसव्वा' लिखा। इसी प्रकार इन्होंने 'क़ुरान' पर टीकाएँ लिखी ज़हीर अली का 'ताज' अरबी भाषी देशों में काफ़ी सम्मनित हुआ है।

अरबी साहित्य में आधुनिकता का सूर्य तब उदय हुआ जब वह एक फिर (१७९८) में पश्चिमी संस्कृति के सम्पर्क मे आया। मिश्र से ही ये आधुनिकता शुरू हुई। पाश्चात्य पद्धति पर स्कूलों का खुलना अरबी मुद्रणालयों का स्थापित होना और पत्रकारिता एवं यूरोपीय रचनाओं का अरबी में अनुवाद ही, आधुनिकता के भूल लक्षण हैं। पुराने ढंग की गद्य शैलियों ने नएपन का जामा पहना। शेख मुहम्मद अब्दुल ने अज़हर में, उपदेश, 'क़ुरान' पर टीका तथा इस्लामी दर्शन में बिलकुल नए ढंग से प्रस्तुत किए। कवियों ने आधुनिक और नए प्रयोग किए। कहानी लिखने की कला भी ऐतिहासिक उपन्यासों के साथ शुरू हुई। जिन्होंने यूरोपीय देशों में जा कर अध्ययन किया उन्होंने फ़्रेंच इंग्लिश, जर्मन तथा इटालियन भाषाओं से अरबी में अनुवाद किए। अल मनफलुती, अज्ज़ुयात और अल मज़नी ने अपनी रुचि के अनुसार यूरोपीय प्रेम कथाओं को प्रस्तुत किया। बाद में तौफ़ीक उल हकीम, अल मज़नी और अहमद तैमोर ने मिश्र की पृष्ठभूमि पर उपन्यास लिखे। इसके अनन्तर भी नाटक कम्पनियों, फ़िल्म कम्पनियों तथा रेडियो केन्द्रों ने इस क्षेत्र में बड़ी सहायता दी।

गद्य की तरह आधुनिक कविता भी फ्रांस के कवियों के लोक गीतों के अनुवादों से शुरू हुई । क़सीदे की परम्परा का उल्लेख करते समय कविताओं की आधुनिक प्रवृत्तियों का इस्लामी तथा पश्चिमी दर्शन से सम्पर्क बताना विशेष बात है । अल बहदी (१०६९-१९०४) हफ़ीज़ और शौक़ी (१८६८-१९३२) ने अरबी राष्ट्रीयता के गीत गाए और प्राचीन संस्कृति की भी याद दिलाई । आज के कवि छन्दों और मात्राओं के बन्धन से बाहर निकल कर स्वच्छन्द और अतुकान्त कविताओं की ओर अभिमुख हैं और इस योग में उन्हें भारी सफलता मिल रही है ।

(डा.) एम. अब्दुल मुईद ख़ान
उस्मानिया विश्व विद्यालय,
हैदराबाद-दक्षिण

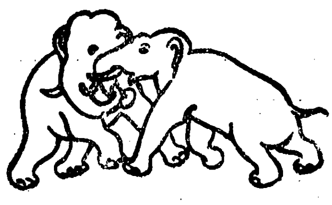

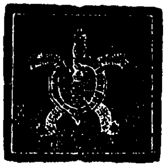

संयम

भारत में लोकतंत्र राज्य

भारत में साधारण जनता और राजनीति में दिलचस्पी लेने वाले वर्ग की यह भावना होगी कि हमारे देश में लोकतंत्र राज्य विषयक विचार यूरोपियन लोगों से आए और प्राचीन समय में हमारे देश में इस प्रकार की कोई परम्परा नहीं थी । किन्तु श्री के. पी. जायसवाल आदि विद्वानों की गवेषणाओं ने यह प्रमाणित कर दिया है कि भारतवर्ष में यह प्रथा पुरानी ही नहीं अपितु, यूरोप में यूनान के लोकतंत्र राज्य से भी बहुत पुरानी है । और इस अनुक्रम से उद्भावित बहुत से समृद्ध और शक्तिशाली राष्ट्र हमारे यहां फूल-फल चुके हैं । इन राज्यों में से उत्तर मद्रों के विषय में बौद्ध-ग्रंथ 'मिलिन्द पञ्हो' में आश्चर्यजनक वर्णन मिलता है ।

सबसे पहले हमें ऐतरेय ब्राह्मण में लोकतंत्र राज्यों की सत्ता का स्पष्ट प्रमाण मिलता है । ऐतरेय ब्राह्मण का समय ईसा से कोई एक हजार वर्ष पूर्व माना जाता है । उस काल के गणतंत्र राज्यों की समुन्नत दशा से यह अनुमान किया जा सकता है कि यह शासन विधि देश में इस काल से काफ़ी पूर्व प्रचलित हो चुकी थी । इसी समय का दूसरा ग्रंथ जिससे इस विषय की कुछ सूचना मिलती है, तैत्तिरीय ब्राह्मण है । ऋग्वेद तथा अथर्व वेद संहिताओं में, जिनकी रचना ब्राह्मणों से बहुत पूर्व हुई होगी यद्यपि राजाओं के

चुनाव का वर्णन मिलता है, तथापि लोकतंत्र राज्य विषयक प्रकरण नहीं मिलते। इससे यह विदित होता है कि भारतीय राज्य प्रणाली भी अन्य देशों की भांति निर्वाचित प्रभुत्व-संम्पन्न राजा द्वारा आरम्भ हुई और इसके उपरान्त गणतंत्रात्मक राज्य सत्ता का उद्‌गम और विकास हुआ।

ऐतरेय ब्राह्मण में अन्य प्रकार के गणतंत्रात्मक राज्यों के अतिरिक्त एक प्रकार के वैराज्य का वर्णन है। वैराज्य का अर्थ राजारहित संविधान होता है। ब्राह्मण में लिखा है :—

जनपदा उत्तरकुरव उत्तर मद्रा इति वैराज्यायैव ते अभिषिच्यन्ते (८.१४) इसका अर्थ है कि उत्तर-कुरुओं और उत्तर मद्रों के वैराज्य राज्य में सब जनता का राज्याभिषेक होता है। अर्थात् राज्य प्रभुत्व समस्त जनता को समान रूप से प्रदान किया जाता है। लोकतंत्र राज्य का इस प्रकार का उदाहरण प्राचीन यूनान के अथेन्स नगर राज्य के संविधान में ही मिल सकेगा।

वैदिक साहित्य के अतिरिक्त लोकतंत्र राज्यों के विषय में संकेत और वर्णन अन्य संस्कृत, पाली तथा प्राकृत साहित्य में भी मिलते हैं। साहित्य के साथ साथ भारत के प्राचीन शिला-लेखों और मुद्राओं से भी इस विषय में पर्याप्ति सूचना मिलती है। इनके अतिरिक्त सिकन्दर के समय के ग्रीक लेखकों की कृतियों में भी भारतीय जनतंत्र अथवा गणतंत्र राज्यों के विषय में विवरण मिलते हैं।

पाणिनि का समय ईसा से पांच सौ वर्ष पूर्व के लगभग माना जाता है। पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में संघों का वर्णन किया है। पाणिनि ने संघ का अर्थ गण किया है। ये संघ राजनीतिक थे और गण अथवा "रिपब्लिक" के परिचायक थे। बौद्ध वा जैन-धर्म संघों का पाणिनि ने ज़िक्र नहीं किया। संघ शब्द का ३२५ से ३०० बी. सी. तक के क़रीब कौटल्य ने भी गणराज्य के अर्थ में प्रयोग किया है। पाणिनि ने अष्टा-ध्यायी में कोई १६ गण-राष्ट्रों का विवरण दिया है। इससे विदित होता है कि यह शैली उस समय के भारत में कितनी अधिक प्रवर्तित थी।

ईसा से पूर्व पांचवी शताब्दी के बौद्ध-साहित्य में गणराज्यों का वर्णन है। महात्मा बुद्ध ने जिस धर्म संघ की स्थापना की, उसका संविधान अपने पैतृक शाक्य-वंश के गणतंत्रात्मक संविधान के आधार पर निर्धारित किया था। अम्बठ्ठ सुत्तन्त से पता चलता है कि शाक्य राज्य गणतंत्र गणराज्य था। महात्मा बुद्ध के पिता शुद्धोदन इस शाक्य गणराज्य के राजा अथवा राष्ट्रपति थे। बौद्ध-साहित्य में उन राज्यों के भी विवरण हैं, जिनमें गौतम बुद्ध ने जन्म लिया और जिनमें वे रहे। दीघनिकाय ग्रन्थ के महापरिनिब्बान सुत्तन्त में बुद्ध ने अपने शिष्य आनन्द तथा अन्य भिक्षुओं से वज्जियों अथवा बृजियों (लिच्छवियों तथा विदेहों) के शासन के सात तत्वों का वर्णन किया है और कहा है कि ये संघ (राजनैतिक तथा धार्मिक) को चिरस्थायी और उन्नत बनाने वाले सिद्धान्त हैं। जातक कथा में लिच्छवी राज्य को गणतंत्रात्मक कहा गया है, तथा अठ्ठकथा में उनके संविधान के विषय में वर्णन है। जातक में लिखा है कि उनकी राजधानी वैशाली में ७७०७ परिवार हैं, जिनका अभिषेक होता है और जो राजा अथवा राष्ट्रपति, उपराजा अथवा उपराष्ट्रपति, सेनापति और भांडागारिक बनते हैं। जन कल्पसूत्र में भी इस प्रकार के गणराज्य का निर्देश है। बौद्ध संघ के आधार पर ही विश्व में बाद में अन्य धर्मों की स्थापना हुई।

भारत के गणराज्यों में शासनात्मक कार्यवाही की प्रक्रिया के विषय में जितना विशद ज्ञान हम बौद्ध-ग्रंथों से प्राप्त कर सकते हैं, उतना और किसी भी स्रोत से नहीं। यह प्रतीति यद्यपि स्पष्टतः राज्यों के विषय

में तो नहीं है, अपितु बौद्ध-धर्म संघ के विषय में है, तथापि चूंकि धर्म संघ का स्थापन और परिचालन राजनीतिक संघ के आधार पर हुआ था इसलिए हम धर्म संघ की पूर्वालोचन प्रक्रिया से गणराज्यों की प्रक्रिया के विषय में यथार्थ ज्ञान लाभ कर सकते हैं।

शाक्यों ने अपना राज्य राजा के अधीन कर देने का विनिश्चय अपनी गण सभा में बहुमत द्वारा किया था। इस बात का उल्लेख रौकहिल ने अपनी पुस्तक "लाईफ ऑफ़ बुद्ध" (Life of Buddha) में किया है। चुल्लवग्ग में वेसालि अथवा वैशालि की सभा का वर्णन है और वहां पर भिक्षुओं के आसना पंजपक अथवा आसन विनियत करने वाले की नियुक्ति का ज़िक्र है। दूसरे स्थल में (४, ११, २, में) संघ की सभा में ज्ञप्ति अथवा प्रस्ताव या "मोशन" (Motion) का वर्णन है और उसके उपरान्त प्रतिज्ञा अथवा संकल्प या "रेज़ोल्यूशन" (Resolution) का वर्णन है। जो प्रस्ताव से सहमत होते थे वे चुप रहते थे और जो विरुद्ध होते थे उनको बोलने के लिए कहा जाता था। इस प्रकार बहुमत से कोई प्रस्ताव स्वीकृत अथवा अस्वीकृत होता था। इस प्रकार चुल्लवग्ग (११,१,४) में महात्मा बुद्ध की मृत्यु के उपरान्त बुलाई गई राज-गृह की सभा में संकल्प स्वीकृति का वर्णन है, तथा चुल्लवग्ग (४, ११, २) में तीन बार प्रतिज्ञा के कहने के द्वारा उवाड, भिक्षु अथवा भिक्षु के दण्ड के विनिश्चय का वर्णन है। संघ में भत्ति और प्रतिज्ञा के कथन के नियम निश्चित थे और नियम के अतिक्रमण से कार्यवाही निश्चित की जाती थी।

कोरम (Quorum) अथवा गणपूर्ति का नियम था। भिक्षुओं की स्थानीय सभाओं में २० का "कोरम" होता था। महावग्ग ध ३, ६, ६) में गणपूरक अथवा "व्हिप" (Whip) का उल्लेख भी मिलता है। महावग्ग में वोट के लिए छन्द शब्द का प्रयोग किया गया है। छन्द का अर्थ इच्छा होता है अर्थात् मतदाताओं को अपना मत बिलकुल स्वतंत्र रूप से अपनी अपनी इच्छा के अनुसार देने का अधिकार था। जातक माला में भी एक जगह राजा के चुनाव के विषय में एक छन्द हुत्वा का प्रयोग किया गया है। अर्थात् निर्वाचन सब के इकठ्ठे एकमत से किया गया। भिन्न मत होने पर यदि किसी प्रस्ताव के लिए "वोट" अधिकारी किसी कारण वश सभा में उपस्थित न हो सकते हों तो उनके वोट भी सावधानी अवँध से प्राप्त किए जाते थे। चुल्लवग्ग (४, १४, २४) में वोट लेने की विधि का विस्तृत वर्णन है।

वोट रंगीन शलाकाओं अथवा लकड़ी के पिनों द्वारा लिए जाते थे। शलाकाग्राहक, जिसको संघ उसकी निष्पक्ष निर्भयता आदि गुणों के कारण नियुक्त करता था, भिन्न मतों के लिए भिन्न रंगों की शलाकाएं मतदाताओं को बांट देता था और फिर शलका ग्रहण द्वारा विनिश्चय किया जाता था। इस प्रक्रिया को पाली में "भूय्यसिकम" कहते हैं, अर्थात् वह प्रक्रिया जिसमें बहुतर मत से निर्णय हो। "वोट" लेने के तीन तरीके थे "मूल्हकम" अर्थात् गुप्त रूप से "सकण्ण जप्पकम्" अर्थात् कानाबाती द्वारा तथा "विवटकम्" अर्थात् प्रत्यक्ष रूप से। कभी कभी किसी विषय में निरर्थक भाषणों से बचने के लिए निर्णय का अधिकार एक समिति को सोंप दिया जाता था। यदि वह फ़ैसला न कर सके तो निर्णय फिर संघ द्वारा बहुमत से होता था। विधि सम्बन्धी विषय का निर्णय "ज्यूरी" द्वारा भी होता था जिसको कि संघ अपने संकल्प से नियुक्त करके अधिकार देता था। इस प्रक्रिया को सम्मुख विनय कहते थे। नियमानुसार निर्णय होने के बाद उस

प्रश्न का पुनर्विलोकन नहीं हो सकता था। महा गोविन्द सुत्तन्त में संघ की कार्यवाही के अभिलेख रखने वालों का भी निर्देश मिलता है और इनको महाराज शब्द से सम्बोधित किया गया है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि गौतम बुद्ध के समय में और उससे पहले भारत में संघों अथवा गणराज्यों की प्रभुत्व सम्पन्न सभाओं की कार्यवाही की प्रक्रिया कितनी विकसित और समुन्नत थी तथा महात्मा बुद्ध ने अपना "धर्म-चक्र-राज्य" फैलाने के लिए संविधान तत्वों पर धर्म संघ को स्थापित किया था।

मिलिन्द पन्ह (ईसा से पूर्व दूसरी शताब्दी) में गणतंत्र राज्यों की समृद्धि और सुखमय जीवन के विषय में विस्मयकारक विवरण है। वहां पर उत्तरमद्रों की राजधानी सागल नगर उत्तर पश्चिमी पंजाब के विषय में लिखा है कि नगर निवासी सब तरह के अन्याय से अनभिज्ञ हैं। नगर में वणिकों के निगम हैं तथा दुकानों में बहुमूल्य माल भरा हुआ है। बनारस की मलमल, तरह तरह की सुगन्धियां, अनगिनत जवाहरात, शृंगार का सामान, सोने, चांदी, तांबे, और पत्थर के बरतन तथा भिन्न भिन्न प्रकार के खान-पान आदि बिकते हैं। संक्षेप में नगर पूर्णरूप से धनधान्य सम्पन्न है। लाखों ऊंचे ऊंचे शानदार मकान हैं मानों नगर देवताओं के शहर अलकनन्दा के समान हैं, तथा कहा गया है कि धन में यह नगर उत्तर कुरू के समान है।

कौटल्य कृत अर्थशास्त्र में ७ ऐसे संघों अर्थात् गणराज्यों का जिक्र है जहां मुख्य शासक राजा कहलाता था। कौटल्य ने उनको "राजश बिदन्" संघ कहा है। इनमें लिच्छविक, बृजिक और मद्रक शामिल हैं। इनके अतिरिक्त चार ऐसे गणराज्यों का प्रसंग है, जिनमें कि कोई शासक राजा शब्द से सम्बोधित नहीं किया जाता था। इनमें सब नागरिक सैनिक होते थे।

ईसा से ३२५ वर्ष पूर्व भारत पर सिकन्दर के आक्रमण के ग्रीक इतिहास लेखकों ने पंजाब और सिंध उस समय के बहुत से गणराज्यों का वर्णन किया है। अपनी कृतियों में इन राज्यों के लिए उन्होंने "फ्री" (Free) "ओटोनोमस" (Autonomous) "इन्डिपेन्डेन्ट" (Independent) तथा "डेमोक्रेटिक" (Democratic) शब्दों का प्रयोग किया है, जिससे विदित होता है कि ये राज्य गणराज्य थे। मेगस्थनीज ने कहा है कि जहां लोगों का अपना राज्य है, वह वे सब बातें मजिस्ट्रेटों से प्रतिवेदन करते हैं और जहां राजा का शासन है वहां राजा से। एडीसन और स्ट्रेबो ने कठों के (Kathaians) के राष्ट्र का वर्णन किया है। ये रावी नदी के पूर्व की ओर आजकल के लाहौर और अमृतसर जिलों में रहते थे। स्ट्रेबों ने इनके विषय में लिखा है कि इनमें सबसे सुन्दर मनुष्य को राजा चुना जाता था। संस्कृत साहित्य (काठक संहिता अथवा कृष्ण यजुर्वेद तथा काठक धर्मसूत्र) में इनके लिए कठाः शब्द का प्रयोग किया गया है। एक दूसरे राज्य का सम्बस्ते (Sambastai) तथा अबस्तनोह (Abastanoi) शब्दों से सम्बोधन करके ग्रीक लेखक डायोडोरस तथा कर्टिअस ने उल्लेख किया है। कर्टिअस ने अपनी पुस्तक के नवें भाग के अष्टम अध्याय में इनकी राज्यविधि को "डेमोक्रेटिक" कहा है। सम्भवतः इनके संविधान का अंग एक बड़ों की परिषद् भी थी। इस राज्य का जिक्र महाभारत और पतंजलि ने अम्बष्ठाः नाम से किया है। यूनानी लेखकों के वर्णन से ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय के पंजाब और सिंध के उन सब भागों में, जिनमें कि सिकन्दर गया था पोरस और अभिसारों आदि के दो तीन राज्यों को छोड़कर शेष सब लोग गणतंत्रात्मक शासन प्रणाली से शासित थे।

महाभारत के शान्तिपर्व के अध्याय १०७ में गणतंत्र राज्यों की विशेषताओं का वर्णन है। कौटल्य ने अर्थशास्त्र में राजा के लिए संघों को प्रायः विजय करने की नीति का उपदेश दिया है। अशोक (२७३-२३२ बी. सी.) के शिलालेखों में बहुत से गणराज्यों का प्रसंग है। ऐसा प्रतीत होता है कि मौर्योत्कर्ष के समय गणराज्य आन्तरिक शासन में स्वाधीन रूप से मौर्य साम्राज्य के महत्वशाली अंग थे। लेकिन भारत में एक साम्राज्य के आविर्भाव से इस काल में गणराज्य परम्परा की अवनति प्रारम्भ होती है। इस समय के पंजाब और पश्चिमी भारत के गणराज्य इस पतन के ज्वलंत उदाहरण हैं। इसी काल में सिंध के गणतंत्र-राज्य भी हीन दशा को प्राप्त हुए। मौर्य काल के उपरान्त शुंगों के समय में और उसके पश्चात् (१५० वर्ष ईसा के पूर्व से ३५० वर्ष ईसा के बाद तक) भारत में गणराज्यानुक्रम जारी रहा और राजपूताने में नए गणराज्यों का आविर्भाव हुआ। इस सारे काल में यौधेय गणराज्य इस परम्परा का एक उत्तर उदाहरण है।

इनका राज्य भारत में मौर्यकाल से पहले से वर्तमान था। पाणिनि ने यौधेयों को जनपद कहा है, जिसका अर्थ राष्ट्र-देश अथवा राजनीतिक गिरोह होता है। शिलालेखों और मुद्राओं से इनके विषय में पर्याप्त ज्ञान मिलता है। रुद्रदामन के शिलालेख (ईसा के बाद दूसरी शताब्दी) और समुद्रगुप्त (चौथी शताब्दी) के शिलालेख में इनका प्रसंग है। इनके सिक्के शुंग समय से ईसा के बाद चौथी शताब्दी तक के काल के मिलते हैं। ईसा के पश्चात् छठी शताब्दी के उपरान्त इतिहास में ये लुप्त हो जाते हैं। गुप्त राज्यों के काल में गणराज्य सत्ता गुप्त नरेशों के अधीन ही क़ायम रही और पांचवीं शताब्दी के अवसान तक बिल्कुल लुप्त हो गई।

इस प्रकार से पाठक देख सकते हैं कि गणराज्यों का सिलसिला भारत में कम से कम १५० वर्ष तक क़ायम रहा। जगत् के इतिहास में गणराज्य-सत्ता इतनी चिरस्थायी किसी भी देश में नहीं हुई। भारत को प्राचीन इतिहास का अनुसंधान अपूर्ण होने के कारण यह विवरण जितना कि पाठक चाहते होंगे, उतना पूर्ण तो नहीं हो सका। लेकिन इससे पाठक प्राचीन भारत की एक आलोकमय झलक देखकर यह हृदयंगम कर सकते हैं कि इस देश में राज्य तंत्र की यह शैली कितनी प्रौढ़ता को पहुंच चुकी थी तथा इन राज्यों में जनता सुख, समृद्धि और बल की किस निष्ठा तक पहुंची हुई थी। यह बात कि प्राचीन गणतंत्र राज्य यहां कितने कितने काल तक समुन्नत दशा में रहे इससे स्पष्ट हो जाती है कि सात्वत भोजों का राज्य यहां ऐतरेय ब्राह्मण काल से ईसा की पहली शताब्दी तक अर्थात् कोई १००० वर्ष रहा। उत्तर मद्रों का राज्य जिनके वैभव के विषय में हम ऊपर लिख आए हैं ऐतरेय ब्राह्मण के समय से गुप्तों के काल तक अर्थात् कोई १३०० साल तक रहा। ये लोग सुख समृद्धि के साथ साथ स्वाधीनता को इतना प्रिय समझते थे कि ईसा से पहले दूसरी शताब्दी में यूनानी राजा मीनाण्डर अथवा मिलिन्द के इनके राजधानी को अपने अधीन कर लेने पर ये लोग उत्तर पश्चिम भारत से दक्षिण में जाकर अपना राज्य स्थापित करके स्वतंत्र रूप से रहने लगे। मालवों का गणराज्य पाणिनि के समय से ईसा के कोई ३०० वर्ष पश्चात् तक अर्थात् १००० वर्ष के लगभग क़ायम रहा। सम्भवतः इन्हीं लोगों ने ईसा से ५८ वर्ष पूर्व विक्रम-सम्वत् जारी किया। यौधेयों का राज्य पाणिनि के समय से १००० वर्ष तक रहा। लिच्छवियों का पाणिनि ने वृजियों के नाम से उल्लेख किया है तथा बौद्ध साहित्य में भी इनका काफ़ी वर्णन है।

इन्होंने गुप्त साम्राज्य के स्थापन में सहायता दी और इनका शासन कोई १००० वर्ष तक रहा। इस प्रकार से संसार के अन्य लोकतंत्रात्मक शासनों से तुलना करने पर भारत में लोकतंत्र राज्य बहुत अधिक काल तक रहा प्रतीत होता है। यहां तक कि भारतीय गणराज्यों से तुलना करने पर स्पार्टा, रोम और इंग्लैण्ड के विख्यात लोकतंत्र राज्य भी अल्पकालीन ही प्रतीत होते हैं। यदि नवीन गवेषणाओं से प्राचीन भारत के शासन का यह अपूर्ण चित्र पूर्णता को पहुंच गया तो न केवल भारत के अपितु अन्य देशों के भी भावी शासक लोकतंत्र राज्य विषय की दिन-प्रति-दिन की अनेक उलझनों को सुलझाने के लिए पर्याप्त शिक्षा ले सकेंगे। प्राचीन भारतीय शासन शैली एक प्रगतिशील शैली थी, यह पाठक उपर्युक्त विवेचन से सुनिश्चित कर सकते हैं। प्राचीन यूनानियों का जीवन व्यतीत करने का ढंग यद्यपि एहिक जीवन की दृष्टि से सर्वांगपूर्ण था तथापि उसमें धर्म के लिए पर्याप्त स्थान नहीं था। पुरातन भारतीय संस्कृति और सभ्यता के परिशीलन से अन्तरात्मा की वह लिप्सा परिपूरित होती है जो कि आत्मा को सर्वांगपरिपूर्ण सामंजस्यात्मय जीवन के लिए लालायित रखती है। जहां पश्चिम ने संसार को वैज्ञानिक टेकिनकल उन्नति के वर्तमान शिखर तक पहुंचाया है वहां भारतीय संस्कृति उसके मन को परिष्कार की उस चोटी तक पहुंचाने की क्षमता रखती है जिस पर आरूढ़ होकर पुरुष वैज्ञानिक और टेक्निकल समुन्नति का यथार्थ रूप से संसार के हित में उपयोग कर सकेगा। अतः प्राचीन भारत के इतिहास की यथेष्ट गवेषणा का प्रयत्न होना चाहिए जिससे कि भावी जनता उसके परिशीलन से समुचित लाभ उठा सके।

श्री के. पी. जायसवाल ने अपनी पुस्तक "हिन्दू पोलिटी" में प्राचीन भारत के ८२ गणतंत्र राज्यों का वर्णन किया है। इन गणराज्यों में प्रभुत्व पर कोई पैतृक अधिकार नहीं था और संविधान रूप से वे, लोकतंत्रात्मक थे। पाणिनि ने दो प्रकार के संघों का कथन किया है। एक को अनौत्तराधर्य संघ अथवा प्रकार के संघों कायवानिकाय कहा है। इसका अर्थ है कि ऐसा गणराज्य जिसमें ऊपर और नीचे के सदन का भेद न हो अर्थात् जिसमें एक ही सदन हो, तथा दूसरे ऐसे संघ जिनमें यह विवेक हो अर्थात् जो द्विसदनी हों। बौद्ध संघ भी प्रथम श्रेणी के होते थे। धर्म शास्त्रों में गणराज्यों के कानूनों को समय कहा है। "समय" सम् उपसर्ग के साथ "इ" धातु से बनता है जिसका अर्थ इकठ्ठे होना होता है।

इसलिए समय का अर्थ सभा के द्वारा किया हुआ विनिश्चय या संकल्प द्योतित होता है। अतः क़ानून गणसभा द्वारा बनाए जाते थे। एक प्रकार के "अरिस्टोक्रैटिक" शासन के लिए संस्कृत साहित्य में "कुल" शब्द' का प्रयोग हुआ है। असहाय टीकाकार ने नारद स्मृति पर टीका करते हुए "कुल" का अर्थ कति-चित्पुरुषगृहीत अर्थात् पुरुषों द्वारा नियमित अर्थात् जिनका प्रबन्ध कुछ पुरुषों द्वारा होता हो, किया है। आज कल संस्कृत साहित्य के कुछ अच्छे ग्रंथ दंडनीति पर उपलब्ध हैं। इनमें सर्वोत्तम कौटलीय अर्थशास्त्र है जिसकी कि पश्चिम के किसी भी राजनीति ग्रंथ से तुलना की जा सकती है। दूसरा मूल्यवान् ग्रंथ शुक्र-नीतिसार (आठवीं शताब्दी) है। इनके अतिरिक्त इसी विषय के कामन्दकीय नीतिसार (ईसा से ४०० वर्ष पश्चात्) सोमदेवकृत नीति वाक्यामृत (दशम शताब्दी) तथा बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र आदि ग्रंथ उप-लब्ध हैं। लेकिन इन सब ग्रंथों में नृपमूलक राज्य सत्ता का ही वर्णन है। कौटल्य संघ राज्य को तिरस्कार की दृष्टि से देखता था। महाभारत में लिखा है कि यदि युद्ध में कोई गणराज्य हार जाता था तो उसकी शासन-प्रणाली का अन्त हो जाता था। कौटल्य और महाभारत ने उस समय के गणराज्यों में आन्तरिक

भेद को उनका एक मुख्य दोष माना है । राजनीति शास्त्र का कोई ग्रंथ आज तक ऐसा उपलब्ध नहीं हुआ जिसका मुख्य विषय गणराज्य शासन का वर्णन हो । जिस दिन ऐसा ग्रंथ उपलब्ध हो जाएगा उस दिन हमें भारत की उस शासन विधि का यथार्थ और पूरा परिचय मिल जाएगा और भारत के गणतंत्र राज्यों के संविधानात्मक इतिहास पर प्रचुर प्रकाश पड़ सकेगा ।

डा. सूर्यकान्त, एम.ए., डी.लिट्.फिल.
(आक्सन) एम. एल. सी.
हिन्दू विश्व विद्यालय, काशी

हिन्दी प्रचार सभा विहंगावलोकन

हैदराबाद का भारत के इतिहास में सभ्यता, संस्कृति, भूगोल आदि दृष्टिकोणों से एक विशिष्ट और महत्वपूर्ण स्थान है । दक्षिण, पश्चिम और उत्तर का सन्धि-स्थल होने के कारण राष्ट्र की समन्वयात्मक सांस्कृतिक अविच्छन्नता का यह एक अप्रतिम प्रतीक है । भाषा का स्थान किसी भी राष्ट्र की सांस्कृतिक और राजनीतिक एक सूत्रता और सृजनपरकता में स्वतः अक्षुण्ण है । भाषा की दृष्टि से हैदराबाद में तेलुगु, कन्नड़, और मराठी का प्रचलन रहा है । अनुमानतः तीन सौ वर्षों से कतिपय राजनीतिक और ऐतिहासिक कारणों से हिंदी जनता का आगमन यहां हुआ——मुख्यतः मुसल्मानों का। संस्कृति जन्य प्रवृत्तियों के आवागमन का महत्व पृथक् है उत्तर से आने वाले मुसल्मान अथवा अन्य समुदाय मूलतः हिन्दी भाषी थे। यहां आने वालों का तत्कालीन इतिहास की दृष्टि से एक बड़ा राजनीतिक महत्व है, जिसका यहां के सामान्य जन जीवन पर अप्रतिहत प्रभाव पड़ा——आने वालों की भाषा हिन्दी की अपरिहार्यतः यहां एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ ।

हिन्दी राष्ट्र के सांस्कृतिक जीवन में ही समन्वय उत्पन्न नहीं करती अपितु राष्ट्र के पुर्ननिमाण की इस सद्य:बेला में वह आधार भूत भावनाओं को पुष्ट और प्रशस्त भी करती है । हैदराबाद का पिछले

कुछ वर्षों का इतिहास राष्ट्र की एक रूपता के लिए बड़ा विरोधाभासात्मक रहा है। भारत के साथ हैदराबाद की अविच्छन्नता को अक्षुण्ण रखने में राजनैतिक और भौगोलिक सम्बन्धों का जितना महत्व हो सकता है; भाषा सम्बन्धी अभिप्रेरणाओं का महत्व उससे कुछ भी कम नहीं है। वस्तुतः हैदराबाद का भाषा आन्दोलन शेष राष्ट्र से उसके राजनीतिक तथा भौगोलिक सम्बन्धों का एक बड़ा पूरक है।

मूलतः इन्ही विचारों से अभिप्रेरित हिन्दी प्रचार सभा राष्ट्र की इस पुनर्भव बेला में अनन्त एकता की सृजनात्मक अनुभूतियों को लेकर अपने निर्दिष्ट पथ उत्तरोत्तर अग्रसर है। उसकी सिद्धि और मौलिकता वैषम्य और विरोधात्मक पृथकत्व की मात्रा से विमोहित हैदराबाद नहीं, दक्षिण भारत की सामान्य चेतना को भी भारत की ऐक्य भावना--में अनन्त आस्था और अनुभूतियों के साथ आत्मसात् कर देने में सन्निहित है।

हिन्दी प्रचार सभा की संस्थापना नितान्त प्रतिकूल परिस्थितियों और लगभग प्रच्छन्न संकल्प के साथ अप्रैल ४, १९३५ ई. नगर के कुछ विशिष्ट व्यक्तियोंकी एक सभा में हुई। सभा की संयोजना की प्रस्तुत करनेवाली इस सभा की अध्यक्षता उस्मानिया विश्वविद्यालय के गणित के प्रोफ़ेसर श्री कृष्णचन्द्र कर रहे थे। श्री पन्नालाल पित्ती, श्री इन्द्र मल लूनिया जैसे सुसम्पन्न और स्वर्गीय श्री चन्द्रावर कर, स्वर्गीय प्रो. के. सी. राय सक्सेना प्रभृति लब्ध प्रतिष्ठ विद्वान् और शिक्षा विशेषज्ञ भी इस सभा में उपस्थित थे। अध्यक्ष महोदय ने हिन्दी के अस्तित्व पर बल देते हुए अपने भाषण में कहा था——" आज कल उर्दू और हिन्दी को एक ही भाषा बताया जा रहा है, किन्तु मैं इस विचार से सहमत नहीं हूं। हिन्दी का पृथक् और विशिष्ट अस्तित्व है। उसकी शिक्षा की भी पूरी व्यवस्था होनी चाहिए "।

श्री रामगोपाल संघी ने जो कि सभा के संस्थापकों में से एक हैं कहा था——" यद्यपि संस्था हिन्दी भाषियों की सुविधा के लिए स्थापित की जारही है किन्तु हमारा यह प्रयत्न रहेगा कि सभी लोग हिन्दी पढ़ें।' " इन उद्घोषणाओं से स्पष्ट आभास मिलता है कि उस समय सभा का मार्ग आज जैसा प्रशस्त नहीं था, और यह कहना अनौचित्य नहीं होता कि तत्कालीन राज्य द्वारा सामान्य हिन्दी भाषी जनता पर अरबी फ़ारसी निष्ठ उर्दू लादने के विरोध की प्रतिक्रिया के रूप में अधिक था। परन्तु विरोध की यह प्रतिक्रिया अधिकाधिक रचनात्मक थी और उसमें कुछ कर डालने की उत्साहपूर्ण सौहार्द्र भावनाएं काम कर रही थीं। उस समय के सभा के कार्यकर्ताओं का उत्साह अपूर्ण और अदम्य था। सभा का उस समय का उद्देश्य जनता की सामान्य भाषी-समस्या को सीधा-सीधा लक्ष्य करना था और उसकी प्रारंभिक गतिविधि रही है—— दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, मद्रास तथा राष्ट्र भाषा प्रचार समिति, वर्धा की परीक्षाओं को हैदराबाद में संचालित कराना।

सभा के जो कार्यकर्ता स्वयं हिन्दी नहीं जानते थे, पर हिन्दी के प्रति जिनकी बड़ी अभिरुचि थी उन्होंने भी हिन्दी सीखी। प्रारंभ में कुछ वर्षों तक सभा की सारी गतिविधियां परीक्षा लेने तक ही केंद्रित और सीमित रहीं। स्थिति स्वतः ही परिवर्तित हुई। दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा मद्रास की भाषा सम्बन्धी नीति में परिवर्तन तथा राज्य की ओर से बाहर की परीक्षाओं पर उठाई गई वैधानिक आपत्तियों के कारण सन् १९४१ ई. में सभा ने अपनी स्वतंत्र परीक्षाओं का संचालन आरंभ किया। प्रथमा, मध्यमा, उत्तमा, विशारद और भूषण की परीक्षाएं ली जाने लगीं। लगभग उसी समय और हिन्दी क्षेत्रों में प्रचार-प्रसार की

नीति समता तथा श्रृंखला स्थिर करने के उद्देश से राष्ट्र भाषा प्रचार समिति, वर्धा से सम्पर्क स्थापित किया और उसकी परीक्षाओं को भी सभा द्वारा संचालित किया गया।

सभा ने आरंभ से ही इस अहिंदी भाषी प्रदेश में हिन्दी में अभिरुचि रखने वाले जन सामान्य के समक्ष प्रेरक आकर्षणों को रखने के प्रयास यथा शक्य किए हैं। शुरू के दिनों में भी सभा की और से प्रमाण पत्र वितरणोत्सव का आयोजन समारोह पूर्वक किया जाता था। उत्तीर्ण होने वाले प्रतिभाशाली छात्रों को पारितोषिक देकर विशेष रूप से प्रोत्साहन प्रदान करने की परम्परा भी प्रारंभ की गई। प्रारंभ में हिंदी की ओर हिन्दी भाषी जनता में से महिलाएं ही अधिकांश में अग्रसर हुई और उन्हीं के साथ साथ अहिन्दी भाषी महिलाओं की भी हिन्दी की ओर रुचि बढ़ी। शनैः शनैः पुरूषों की संस्था में भी वृद्धि होती गई।

वस्तुतः परीक्षाओं का संचालन तो राष्ट्र भाषा हिन्दी के प्रसार को स्थिर रूप देने का माध्यम मात्र है। परीक्षाओं के माध्यम में केवल इतना ही नहीं, हिन्दी से परिचय-----उसकी प्रवृत्तियों और ज्ञान से निकट का परिचय उपलब्ध होता है।

सभा का प्रत्यक्ष सम्बन्ध तो शिक्षा से ही समग्रतः है। शिक्षाके सम्बन्ध में निज़ामशाही की नीति सदा दुराग्रह की और एक पक्षी रही है। राज्य के शिक्षा व्यवहार घोर साम्प्रदायिकता में लिप्त रहा है। उसके सारे प्रयत्न यही रहे हैं कि वह शिक्षा पर एकाधिकार ही रखे। उस्मानिया विश्वविद्यालय सर्व प्रथम विश्वविद्यालय है, जिसने उर्दू को शिक्षा का माध्यम बनाया और अरबी-बहुल उर्दूको यद्यपि वह अपनी इस चेष्टा में विफल ही रहा। इसी प्रकार निज़ाम-शाही शिक्षा पर अत्यधिक व्यय करने पर भी अपने दूषित दृष्टि कोण के कारण केवल नौ (९) प्रतिशत व्यक्तियों को ही साक्षर कर सकी। राज्य में प्रादेशिक भाषाओं तक को कहीं कोई स्थान नहीं था। हिन्दी के प्रति तो शासन की दृष्टि और भी कटु थी। उस्मानिया विश्व विद्यालय में अरबी, जर्मन, फ्रेंच भाषाओं का तो अच्छा प्रबन्ध था। मगर हिन्दी की कोई पूछ तक नहीं थी। जनता में सरकारी शिक्षा नीति के विरुद्ध विद्रोह बढ़ता गया। सभा ने शिक्षा और हिंदी के प्रति जनजागृति उत्पन्न की आर्य समाज आदि संस्थाओं ने भी इसमे सक्रिय भाग लिया। तब सभा ने हिंदी का पक्ष राष्ट्र भाषा के नाते नहीं लिया, बल्कि बड़ी विनम्रता से इसलिए मांग की कि राज्य में लाखों हिंदी भाषी रहते हैं, मगर निज़ामशाही में हिंदी के प्रति अन्त तक भारी उपेक्षा से ही काम लिया गया। उसने हिंदी को गैर-मुल्की ज़बान तक घोषित कर डाला। पुलिस कार्यवाही के अनन्तर राज्य में जहाँ बड़े बड़े परिवर्तन हुए वहाँ शिक्षा विभाग दीर्घ काल तक अविचल ही बना रहा और उर्दू की रक्षा के लिए वह पहले से अधिक प्रवृत्त हो उठा। अखिल भारतीय आकाश वाणी के हैदराबाद केन्द्र में भी हिंदी को कोई स्थान प्राप्त नहीं था। सभा ने हैदराबाद में हिंदी के लिए व्यापक रूप में केवल संघर्ष ही नहीं किया, वह रचनात्मक कार्यों में भी सतत रूप से प्रवृत्त रही। उसने स्वयं भी हिंदी की शिक्षा का उत्तम प्रबन्ध किया निज़ी रूप में अनेक विद्यालयों की स्थापना की। सभा ने अपने साधन और शक्ति अहिंदी भाषी बालकों और प्रौढ़ों पर विशेष रूप से लगाई। आज तो सभा द्वारा संचालित केन्द्रों और विद्यालयों की विशाल संख्या है और वे हैदराबाद राज्य के कोने कोने में वर्तमान हैं। इनके माध्यम से सभा ने हिंदी के संदेश को ग्राम-ग्राम में प्रचारित किया है। और यह सौभाग्य की बात माननी चाहिए कि इस सुदूर अहिंदी भाषी क्षेत्र में सभा को शिक्षकों और केंद्र

व्यवस्थापकों के रूप में ऐसे निःस्वार्थ व्यक्ति बड़ी संख्या में उपलब्ध हो गए हैं जिनमें हिन्दी के प्रति गहरी आस्था है और जो अविरत भाव से हिन्दी कार्य में अपने अपने स्थान पर संलग्न हैं।

संभवतः इसी का फल है कि आज राज्य का कोई ऐसा भाग नहीं है, जहां सभा का केन्द्र सुचारु रूप से अपना कार्य न कर रहा हो। स्थिति यह है कि जहां जहां पोस्ट आफ़िस है, वहां वहां परीक्षा केन्द्र भी है। मूलतः तो परीक्षाओं के कारण ही सहस्रों व्यक्तियों ने हिन्दी सीखी है। परीक्षाओं की अविरत क्रियाशीलता की पृष्ठभूमि में श्री गोपाल राव अपसिंगीकर उनके साथियों और अपरिचित केन्द्र व्यवस्थापकों का श्रम और आस्था अविस्मरणीय है। एक समय तो हैदराबाद का शिक्षित वर्ग भी यह तक नहीं जानता था कि हिन्दी में कुछ लिखित साहित्य भी है। हिन्दी के संबन्ध में अनेकानेक घोर आपत्तियां फैली हुई थीं। सभा इन सब आपत्तियों के समाधान के लिए भी प्रवृत्त हुई उसने समय समय पर अनेक सार्वजनिक सभाओं के आयोजन किए और हिंदी साहित्य में सामान्य जनता को यथा-शक्य परिचित कराया। सभा द्वारा प्रतिवर्ष आयोजित तुलसी जयन्ती का उत्सव हैदराबाद के सामाजिक जीवन में एक विशिष्ट महत्व रखता है। इस उत्सव के माध्यम से सामान्य जनता को बड़ी रोचकता से हिंदी साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियों से अवगत कराया जाता है। जनता में साहित्य सृजन की प्रेरणा और अभिरुचि उत्पन्न करने के लिए सभा ने विभिन्न प्रकार के आकर्षक आयोजन भी प्रस्तुत किए। लेखादि प्रतियोगिताओं को आयोजित किया गया, इन प्रतियोगिताओं में सैकड़ों नवयुवकों ने भाग लिया। उनके द्वारा प्रस्तुत उत्कृष्ट कृतियों को सभा ने यथा शक्ति पुरस्कृत भी किया। सभा के बार बार अनुरोध पर जब सर मिर्ज़ा ईस्माइल के मंत्रित्व काल में हिंदी पत्र पत्रिकाओं के प्रकाशन को कुछ सुविधा दी गई। कुछ समय पश्चात् सभा की ओर से "अजन्ता" नामक मासिक पत्रिका का प्रकाशन हुआ। "अजन्ता" आज न केवल दक्षिण भारत की श्रेष्ठ हिंदी मासिक पत्रिका है, अपितु उत्तर भारत के सर्वोपरि कोटि के हिंदी मासिकों में भी उसका विशिष्ट एक स्थान है। उसने उत्तर और दक्षिण भारत की साहित्यिक और सांस्कृतिक चेतना के लिए चिरगौरव का कार्य किया है। इसके संपादक श्री वंशीधर विद्यालंकार सहृदय और मर्मज्ञ आलोचक, अनुभूति के सुस्पष्ट कवि और सूक्ष्म पत्रकार हैं। श्री वंशीधर विद्यालंकार हैदराबाद में विगत बीस वर्षों से विविध रूपों में हिंदी की सेवा करते आ रहे हैं। उस्मानिया विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के प्रथम अध्यक्ष भी आप ही हैं। सभा ने साहित्य गोष्ठियों के निरंतर आयोजन किए हैं। पहले साहित्य-गोष्ठी पृथक् मुहल्लों में आयोजित की जाती थी। सभा द्वारा आयोजित गोष्ठियों का हैदराबाद के साहित्यिक जीवन में एक विशिष्ट और स्पृहनीय स्थान बन चुका है। डा. संपूर्णानंद, स्व. डा. अमरनाथ झा, वासुदेव शरण अग्रवाल, भदंत आनन्द कौसल्यायन, जैनेन्द्रकुमार आदि आदि देश के लब्ध प्रतिष्ठ विद्वान् भी इस गोष्ठी द्वारा आमंत्रित किए जा चुके हैं।

सभा की आरंभिक स्थिति और वर्तमान स्थिति पर यदि हम एक साथ ही दृष्टिपात करें तो हमें हठात् ही विस्मित हो जाना पड़ेगा, साथ ही सभा की आज की आशातीत सफलता पर विमुग्ध हुए बिना भी हम न रह सकेंगे। कितनी दृढ़शीलता से सभा का वर्तमान भव्य और व्यापक रूप हमारे समक्ष आज है प्रारंभ में हिन्दी के लिए घोर कुंठाओं और वर्जनाओं का व्यापक राज्य था। सभा की प्रारंभिक स्थिति न कुछ सी थी आज की तुलना में नगण्य से व्यक्ति उसके पास थे तब कार्यालय के लिए न कोई स्थान था और न आर्थिक साधन थे। उस समय श्री भदंत आनन्द कौसल्यायन ने सभा का एक वार्षिक बजट देखते हुए

कहा था, "सभा का बजट तो तमोली के बजट से भी गया बीता है "। ऐसी दयनीय और नगण्य स्थिति थी तब आज उसका बजट लाखों पर है, भव्य और विशाल कार्यालय उसका अपना है, राज्य के कोने कोने में बिखरे सैकड़ों व्यवस्थित केंद्र अनेक पाठशालाएं, हाईस्कूल और कालेज सभा के तत्वावधान में सुचारूपूर्वक संचालित हो रहे हैं। सभा के इस रूप के पृष्ठभूमि में उसके वर्तमान प्रधान मंत्री श्री श्रीराम शर्मा का एक विशिष्ट व्यक्तित्व सन्निहित रहा है। शर्मा जी अनथक अध्यवसायी, व्यवहार पटु और प्रतिभाशाली व्यक्ति हैं। साथ ही उन्होंने दक्षिणी साहित्य पर हिन्दी में गहन अध्ययन को प्रस्तुत किया है। सभा के उन्नायकों में हैदराबाद राज्य के वर्तमान शिक्षा सचिव श्री लक्ष्मीनारायण गुप्त का स्थान बहुत ऊंचा है। सभा के वर्तमान अध्यक्ष श्री विनायकराव विद्यालंकार का तो हैदराबाद के समस्त जनजीवन में एक विशिष्टता है ही और इसके साथ वे हिन्दी के कुशल कहानीकार भी हैं।

नरेन्द्र एम. एल. ए.
आर्य समाज सुलतान बाजार,
हैदराबाद-दक्षिण

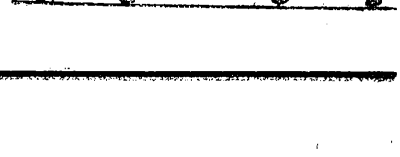

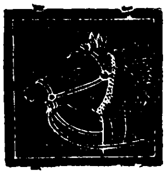

महाकवि नाथूराम शंकर शर्मा

प्रातःकाल का समय था, पौ फटने ही वाली थी। कुछ मित्र साथ-साथ टहलने के लिए जा रहे थे। निकट के ग्राम से किसी किसान का मधुर गाना सुनाई पड़ा :

सांची मान सहेली परसौं,
पीतम लैबे आवेगो
मात-पिता भाई भौजाई, सबसों राख सनेह-सगाई,
दो दिन हिल-मिल काट यहां ते, फिर को तोहि पठावेगो।

एक साथी ने कहा, किसी प्राचीन कवि की क्या ही बढ़िया कविता इस किसान ने याद की है।

दूसरे महानुभाव ने कहा यह तो आध्यात्मिक भाव से भरे हुए किसी ग्रामीण के हृदय का उद्गार है। तीसरे ने कहा अरे भाई सुनो भी तो। पीछे बहस करना।

वह किसान गाता जा रहा था :

सौंची मान सहेली परसों
पीतम लैबे आवेगो

अब कौ छेता नांहि टरेगो जानों पिय के संग परेगो,
हम सबको तेरे बिछुरन को—दारुन शोक सतावेगो
चलिबे की तैयारी कर ले, तोसा बांध झोक कौं धरले,
हाला हाल बि्दा की बिरियाँ को पकवान बनावेगो
पुर बाहर लौ पीहर बारे, रोबत संग चलेंगे सारे
शंकर आगे आगे तेरो डोला मचकत जावेगो

जब गाना समाप्त हुआ तो उन मित्रों को पता लगा कि यह तो शंकर जी की पुरानी कविता है। महाकवि शंकर जी में प्राचीनता और नवीनता का अद्भुत सामंजस्य था। अपनी रहन-सहन, शिष्टाचार, बोलचाल, अतिथि-सत्कार इत्यादि में वे प्राचीन भारतीय संस्कृति के पुजारी थे पर उनकी विचार-धारा प्रगतिशील थी। स्वामी दयानन्द के वे अनन्य भक्त थे और उन दिनों के आर्यसमाजी थे, जब समाज का सदस्य होना खतरनाक चीज़ थी। अपने अन्तिम दिनों में जब शंकर जी रोग-शय्या पर पड़े थे, दूर-दूर के मित्र और भक्त उनके दर्शन करने के लिए जाते थे। शंकर जी सबसे यही कहते :

"मैं अपने जीवन के दो फल मानता हूँ। एक तो मैं ऋषि दयानंद के दर्शन किये हैं, दूसरे कुछ तुकबन्दी कर लेता हूँ।" उस समय जो आता उसे 'रामचरित-मानस' पढ़ने की सम्मति देते और महात्मा गांधी की सफलता के लिये शुभ कामना करते हुए भगवान् से देश के शीघ्र स्वतंत्र होने की प्रार्थना करते।

शंकर जी की कविता उद्देश्य को लिए हुए होती थी क्योंकि स्वयं उनके जीवन का एक मिशन था। बन्धुवर नवीन जी ने कहा था : "स्वर्गवासी पं. नाथूराम शंकर शर्मा हमारे साहित्य के उन निर्माताओं में से थे, जिन्होंने हमारी साहित्यिक गतानुगति के आडम्बर को छिन्न-विछिन्न करने की दशा में पहले पहल क़दम उठाया था। वे शब्दों के स्वामी, भाषा के अधीश्वर, महाविरों के सिरजनहार और साहित्य के अखाड़े के उक्खड़ पहलवान थे। पूजार्ह शंकर जी में शब्द-निर्माण की क्षमता असाधारण रूप से विद्यमान थी। जिस वक़्त वे किचकिचा कर लिखते थे, तो उनके शब्द ऐसे होते थे कि पढ़ते-पढ़ते पाठक स्वयं दांत किटकिटाने लगता था। जिस तरह स्वर्गीय अकबर इलाहाबादी अपने रंग के अनूठे कवि हो गये हैं, उसी तरह कविवर शंकर जी का रंग भी निराला है और उन्हें अभी तक किसी ने नहीं पाया है। शंकर जी ने उस समय लिखना शुरू किया जबकि हम में से बहुतेरे साहित्य-सेवी ककहरे का अभ्यास कर रहे थे। उस समय देश में एक नव विधान की प्राणोदना देश की आत्मा को अनुप्राणित कर रही थी। महर्षि स्वामी दयानन्द की सागर गम्भीर वाणी ने क़ौम के एक बड़े तबक़े को विचलित और आन्दोलित कर दिया था। सामाजिक हृदय एक नवीन भावना से कम्पित हो रहा था। राष्ट्र के उस नेत्रोन्मीलन के युग में, प्रभात की उस बेला में, प्रथम रवि-रश्मि स्नात उस घटिका में जिन विहगों ने अपने विभास, भैरव, भैरवी और आसावरी के नव जीवनप्रद स्वरों में हमें उद्बोधन के, जागरण के विनाश और नवनिर्माण के, गीत सुनाए उनमें पूजनीय स्वर्गीय नाथूराम शंकर शर्मा भी थे।"

समाज-सुधार के क्षेत्र में शंकर जी की कविताओं ने ज़बरदस्त काम किया। आर्यसमाज के सैंकड़ों जलसों में शंकर जी की कविताओं का गान होता था। पैंतालीस वर्ष पहले एक उत्सव था। हमारे नगर फ़ीरोज़ाबाद में बड़ी धूमधाम थी। भजनीकों का जमघट था। नगर कीर्तन हुआ ; शहर की खास खास सड़कों पर सब लोग घूमे। एक भजनीक महोदय को बाज़ार में किसी ने बतला दिया कि अमुक कोठे पर कोई वारबधू नर्तकी रहती है। बस उन्होंन गाना शुरू कर दिया :

सैयां न ऐसी नचाओ पतुरियाँ

गाने पै रीझो, बजाने पै रीझो, बन्दी की छातीमें छेदों न छुरियाँ
पापों की पूँजी पचेगी न प्यारे ,खाते फिरोगे हकीमों की पुरियाँ
डोलोगे डाली, डुलाते-डुलाते हांथों में पूरी न होंगी अँगुरियाँ
जो हाय शंकर दशा होगी ऐसी, तो कैसे बचा लोगे मेरी चुरियाँ

एक घटना हमें और भी याद आ रही है। वसन्त ऋतु थी। भजनीकों की तुकबन्दियों को सुनते-सुनत हम लोग तंग आ चुके थे कि इतने में ठाकुर नत्थासिंह भजनीक ने एक भजन गाना शुरू किया

छवि ऋतुराज की रे,
अपनी और निहार निहारो

घटती हैं घड़ियाँ रजनी की, बढ़ता है दिन मान,
सकुचेगी इस भाँति अविद्या विकसेगा गुरु-ज्ञान

हार हरे कर दिये बसन्ती जौ-गेहूँ के खेत,
मानों सुमति मिली सम्पति से धर्म सुकर्म समेत

मधुर रसीले फल देने को बौरे सघन रसाल,
जैसे सकल सुलक्षण धारें होनहार कुल पाल

फूल रहे सर में रस बांटे उपकारी अरविन्द,
दान पाय गुण गण गाते हैं, याचक वृन्द-मिलिन्द

त्याग विरोध मिले समता से, सरदी और निदाध,
वैर विसार तपोवन में, ज्यों साथ रहे मृग-बाध

रसिक शत्रु वासन्ती विधि का, करते हैं अपमान,
ज्यों रस भाव-भरी कविता को सुनते नहीं अजान

भर देता है भारत भर में, मधु आनन्द उमंग,
भंग पिला कर शंकर का भी, कर डाला व्रत भंग

शंकर जी ने प्रारम्भ में शृंगार रस की अनेक कविताएँ की थीं। उनमें रीतिकालीन की तरह का नखशिख वर्णन था, और उस संग्रह का नाम था 'कलित कलेवर'। यह ग्रन्थ समालोचक-शिरोमणि श्रीयुत पद्मसिंह शर्मा तथा अन्य साहित्य-मर्मज्ञों को बहुत प्रिय था। पर, शंकर जी उसके छपाने के विरोधी

थे और एक दिन उन्होंने उस ग्रन्थ को नष्ट ही कर दिया। दो-चार कविताएँ कुछ लोगों को याद रह गई हैं, पर, उन्हें भी 'शंकर-सर्वस्व' में स्थान नहीं मिला। हाँ, समस्या पूर्तियों में कहीं-कहीं ऐसी सुरुचिपूर्ण कविताओं की झलक मिल जाती है, जिनसे अनुमान हो सकता है कि कितना प्रवाह और कितना प्रसाद-गुण कलित कलेवर" की कविताओं में रहा होगा। एक समस्या थी 'निशाकर निहारे लगी' उसकी पूर्ति शंकर जी ने इस प्रकार की थी :

सास न बुलाई घर-बाहर की आई सो,
लुगाइन की भीर मेरो घूंघट उघारे लगी।
एक तिन में की तृण तोरि-तोरि डारे लगी,
दूसरी सराई राई-नोन की उतारे लगी।
शंकर जिठानी बार-बार कछु बारे लगी,
मोद-मढ़ी ननदी अटोक टोना टारे लगी।
आली पर, सांपिन-सी सौति फुसकारे लगी,
हेरि मुख 'हा' कर निशाकर निहारे लगी।

× × × ×

आनन की ओर चले आवत चकोर मोर,
दौर-दौर बार-बार बेनी झटकत हैं।
बैठ-उठ शंकर उरोजन पै राजहंस,
मोतिन के हार तोर-तोर पटकत है।
झूम-झूम चाखन को चूम-चूम चंचरीक,
लटकी लटन में लिपट लटकत हैं।
आज इन बरिन सों बन में बचावे कौन,
अबला अकेली में अनेक अटकत हैं।

असहयोग-आन्दोलन के दिनों में इसी समस्या की पूर्तियाँ शंकर जी ने दूसरे रंग में भी की थीं :

नौकरों की शाही सभ्यता का गला काटती है,
गाँधी के सँगाती अखियों में खटकत हैं।
भारत को लूट कूटनीति की उजाड़ रही,
न्याय के भिखारी ठोर-ठोर भटकत हैं।
जेलों में स्वदेश भक्त हिंसा हीन सज्जनों को,
पेटपाल पातकी पिशाच पटकत हैं।
कौन पै पुकारे अब शंकर बचा ले तु ही,
गोरे और गोरों के गुलाम अटकत हैं।

न रखना ही क़यामत का
 न ज़ाहिर हो पयम्बर को
सकूनत पाक जन्नत में
 मिले अल्लाह अकबर को।

शंकर जी की एक रूबाई और भी प्रसिद्ध है और वे इसे बार-बार पढ़ा करते थे:

बुढ़ापा नातवानी ला रहा है,
 ज़माना ज़िन्दगी का जा रहा है।
किया क्या और आगे क्या करेगा,
 अख़ीरी वक़्त दौड़ा आ रहा है।

श्री. प्रेमचन्द जी ने एक बार कहा था:

"इसमें कोई सन्देह नहीं कि शंकरजी आशुकवि थे और उनकी कविता का वही उद्देश्य था जो सुधारक के भाषण का होता है, पर, भारतीय विनम्रता उनमें इतनी थी कि महाकवि होते हुए भी अपने को कवि कहने में भी उन्हें संकोच होता था। न नाम की भूख थी, न कीर्ति की प्यास। अपनी कुटिया में बैठे हुए जो कुछ लिखते थे स्वांत: सुखाय, केवल अपने हृदय के सन्तोष के लिए।"

स्वर्गीय प्रेमचन्द जी का कथन सर्वथा सत्य था। शंकर जी ने पैसे कमाने के लिए कभी नहीं लिखा। जब सन् १९१३ में उनका काव्य-संग्रह 'अनुरागरत्न' छपने जा रहा था तो उनके सामने एक राजा के यहाँ से यह प्रस्ताव आया कि यदि वह अपना 'अनुरागरत्न' उक्त राजा को समर्पित कर दें तो ग्रन्थ की छपाई के अतिरिक्त उन्हें राजा साहब पाँच हज़ार रुपए भेंट करेंगे। पर शंकर जी ने इस प्रस्ताव को बिलकुल ठुकरा दिया वह निश्चय कर चुके थे कि यह ग्रन्थ तो श्रीयुत पद्मसिंह शर्मा को ही समर्पित होगा। स्वयं शर्मा जी ने तथा अन्य अनेक भक्तों और प्रेमियों ने बहुत ज़ोर डाला कि ग्रन्थ राजा साहब को समर्पित करके कुछ अर्थलाभ कर लिया जाए पर शंकर जी अपने निश्चय पर दृढ़ रहे और उन्होंने कहा:

"मैं तो अपनी किताब सम्पादक जी (पंडित पद्मसिंह जी) की भेंट करूंगा। वे कविता समझें हैं। बिचारो राजा कविता कूं कहा जानें। धन के पीछे मोकूं दबाओ मत।"

शंकर जी महाकवि तो थे ही, पर उससे भी बढ़कर उनकी मनुष्यता थी। काव्य जगत् में उन्होंने जो महान् कार्य किया उसका वृत्तान्त साहित्य मर्मज्ञ जानते ही हैं। पर, हरदुआगंज और उसकी आसपास की जनता का जो हित उन्होंने किया उसे बहुत कम लोग जानते हैं। वे पीयूषपाणि वैद्य थे और यदि वे चाहते तो सहस्रों रुपए वैद्यक से कमा लेते, पर उनका लक्ष्य तो था समाज सेवा और इसी कारण उन्होंने एक फूटी कोठरी में टूटे से छप्पर के नीचे पड़े रह कर ही अपने जीवन के ७२ वर्ष बिता दिए।

शंकर जी में साम्प्रदायिकता का नामोनिशान नहीं था और उर्दू फ़ारसी के वे बड़े प्रेमी थे। महाकवि अकबर इलाहाबादी के वे बड़े भक्त थे और उनकी कविताओं को बार-बार पढ़ते और सराहते थे। जब अकबर का स्वर्गवास हुआ तो, उन्होंने एक रुबाई लिखकर उनके सुपुत्र के पास भेजी थी:

शंकर जी आस्तिक थे और उच्चकोटि के धार्मिक। उनका जीवन सच्चे तपस्वियों का जीवन था। उन पर अनेक वज्रपात हुए। उनके दो पुत्र उनके सामने चले गए और भी अनेक दुर्घटनाएँ घटीं, जिनमें आचार्य पद्मसिंह जी का स्वर्गवास सबसे अधिक हृदय-वेधक था। २१ अगस्त सन् १९३२ को स्वयं उनका भी स्वर्गवास हो गया। खेद की बात है कि शंकर जी का कोई जीवन-चरित्र अभी तक नहीं लिखा गया। उनकी कविताओं का भी उचित मूल्यांकन नहीं हो पाया। पर एक बात में शंकर जी बड़े सौभाग्यशाली थे। साहित्य सेवाकी परम्परा अक्षुण्ण रूपसे उनके कुटुम्ब से बराबर जारी है। उनके सुपुत्र बन्धुवर हरिशंकर जी तथा उनके पौत्र सभी साहित्य सेवी हैं। बक़ौल निरालाजी वह सिद्धों का कुटुम्ब है। स्वर्गीय प्रेमचन्द जी ने कहा था 'शायद कोई ज़माना आए कि हरदुआगंज हमारा तीर्थस्थान बन जाए'।

स्व० प्रेमचन्द जी की यह कल्पना साकार बने, हमारी यही कामना है।

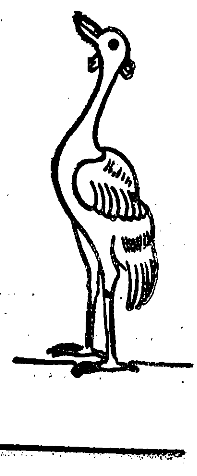

बनारसीदास चतुर्वेदी, एम. पी.
९९ नार्थ एवेन्यू, नई दिल्ली

त्याग

हिन्दी साहित्य में प्रयोगवाद

"मनुष्य में जड़ और चेतन एक प्रगाढ़ आलिंगन में आबद्ध रहते हैं। उसका बाह्याकार पार्थिव और सीमित संसार का भाग है और अन्तस्तल अपार्थिव और असीम का" * "अनुभव का साधन इन्द्रियाँ ही होने के कारण स्वभावत: वह पार्थिव एवं स्थूल की ओर सरलता से आकर्षित हो जाता है..... जब यह स्थूलोपासना एक निर्दिष्ट सीमा तक पहुंच जाती है तो मनुष्य का चिर प्रसुप्त चेतन विद्रोह कर उठता है।" † इस विद्रोह का कारण यह है कि मनुष्य या तो इन भौतिक सुखों से ऊब जाता है अथवा निराश एवं हतोत्साहित हो जाता है और उसका चेतन हृदय सूक्ष्म की ओर अग्रसर हो, शान्ति खोजता है। यदि एक ओर ऐसा है तो दूसरी ओर सूक्ष्म भी मनुष्य को अपने में बहुत काल तक नहीं बाँध पाता। वह इन्द्रियों से अभिभूत हो पुनः स्थूल की ओर जाता है। इस प्रकार स्थूल के प्रति सूक्ष्म और सूक्ष्म के प्रति स्थूल के विद्रोह की शृंखला चलती रहती है। यूरोप तथा संसार के अन्य देशों के साहित्य में भी इस प्रकार के विद्रोह दृष्टिगत होते हैं। हिन्दी साहित्य में हमें इस प्रकार की शृंखला स्पष्ट मिलती है। आदिकाल में भारतीय भौतिक सुखों राज-पाट मान मर्यादा के लिए लड़ते रहे। तब के कवियों एवं चारणों ने वीर रस के साथ

* श्री महादेवी वर्मा † डा. नागेन्द्र

जो शृंगार-रस-धार बहाई है वह भी स्थूल है। भक्ति काल में भक्ति प्रेम आदि सूक्ष्म भावों का बोलबाला हुआ। इसी भक्ति और प्रेम ने ऐन्द्रियकता और भौतिकता के समावेश के कारण विकृत रूप धारण किया और रीतिकाल की सृष्टि हुई। यह शृंखला द्विवेदी युग के उपयोगितावादी एवं इतिवृत्तात्मक साहित्य तक चलती रही। भावुकता ने पुनः विद्रोह किया और यह क्रान्ति छायावाद के नाम से प्रख्यात हुई।

छायावाद और साथ में रहस्यवाद भी पल्लवित, पुष्पित और फलित हुआ। कुछ समय तक तो उसने साहित्याकाश को पूर्णतया आच्छादित कर लिया। परन्तु यह अमूर्त-सौन्दर्योपासना, वायवी भाववस्तु और उसी के अनुरूप कोमल एवं सीमित काव्य सामग्री तथा शैली–शिल्प अधिक समय न चल सके। कवि काल्पनिक जगत् के दुर्भेक्ष कुहासे में पलायनवाद एवं निष्क्रियतावाद की मादक मदिरा पीकर अपने को और न भुला सका। जीवन की विवश निराशाएँ, सामाजिक कुण्ठाएँ ओर आर्थिक विषमताएँ असह्य हो उठीं और कवि, एक बार फिर 'इन्कलाब' का गगनभेदी नारा लगा, पार्थिव जगत् में अपने अस्त्र-शस्त्र संभालता हुआ संघर्ष करने के लिए कटिबद्ध हो गया। उसने जीवन को उसके नग्नरूप में देखा। जीवन की समस्याओं के यथार्थ कारणों पर मनन कर, वह उनके कर्ममूलक सुलझाओं को ढूंढ निकालने की ओर अग्रसर हुआ। उसने इन समस्याओं का अन्त, मोटे रूप से, साम्यवादी जीवन दर्शन एवं उसके वर्गवाद में पाया और उसी के अनुरूप रूसी आदि साम्यवादी देशों के साहित्य से प्रेरणा प्राप्त कर वह साहित्य सृजन में संलग्न हो गया। यह वर्ग प्रगतिवादी कहलाया।

कुछ ही वर्षों में एक और वर्ग साहित्य में आया। इस वर्ग का ध्यान प्रगतिवादियों की भाँति ही भौतिक जीवन एवं उसकी समस्याओं पर रहा पर वे इनका सुलझाव केवल साम्यवाद अथवा और किसी राजनैतिक-वाद में नहीं था। इस वर्ग ने इस क्षेत्र में अन्वेषण की आवश्यकता समझी। यही नहीं वरन् उसने अभि-व्यक्ति के प्रचलित साधनों को भी अपर्याप्त समझा। अतः वह काव्य-वस्तु और शैली-शिल्प के क्षेत्र में नवीन प्रयोग करके उन्हें आज के अनेक रूप अस्थिर, चिर प्रयोगशील जीवन के उपयुक्त बनाने में लग गये।

इस दूसरे वर्ग को 'प्रयोगवादी' वर्ग की संज्ञा दे दी गई है और न यद्यपि इस प्रकार की कविता की लहर अंग्रेजी से आई है तो भी 'अज्ञेय' जी को इसका नेता मान लिया गया है। 'प्रयोगवाद' शब्द भी अभी तक विवाद का विषय बना हुआ है। एक प्रयोगवादी कवि शमशेर बहादुर सिंह के अनुसार "प्रयोगवाद लफ़्ज़ ग़लत है" और स्वयं अज्ञेय जी के शब्दों में "प्रयोग का कोई वाद नहीं है। हम वादी नहीं रहे, न हैं। न प्रयोग अपने आप में इष्ट या साध्य है। ठीक इसी तरह कविता का भी कोई वाद नहीं है, कविता भी अपने आप में इष्ट या साध्य नहीं है अतः हमें प्रयोगवादी कहना उतना ही सार्थक या निरर्थक है, जितना हमें कवितावादी कहना।" अज्ञेय जी 'प्रयोगवाद' और प्रयोगवादी संज्ञाओं को माने या न मानें पर उन्हीं द्वारा प्रकाशित दोनों 'सप्तकों'– 'तार सप्तक' और 'दूसरा सप्तक' के कारण ही यह विवाद उठ खड़ा हुआ है। इन दोनों सप्तकों की कविताएँ तथा 'प्रतीक' और 'हंस' में प्रकाशित कुछ कविताएँ ही आज प्रयोगवादी रचनाएँ मानी जाने लगी हैं।

मेरी सम्मति में 'प्रयोगवाद' शब्द ठीक है। इन कवियों को 'प्रयोगवादी' के अतिरिक्त कुछ कहा भी नहीं जा सकता क्योंकि इन कवियों का प्रधान ध्येय काव्य विषयक प्रयोग तथा अन्वेषण है जैसा कि अज्ञेय जी स्वयं कहते हैं, "दावा केवल यही है कि सातों (यानी तार सप्तक के सात कवि) अन्वेषी हैं। काव्य के प्रति अन्वेषी का दृष्टिकोण उन्हें समानता के सूत्र में बाँधता है.......बल्कि उनके एकत्र

होने का कारण ही यह है कि वे किसी एक विचारधारा के नहीं हैं, वे किसी मंज़िल पर पहुंचे हुए नहीं हैं अभी राही हैं---राही नहीं, राहों के अन्वेषी।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि इन कवियों का ध्यान एकमात्र प्रयोग और अन्वेषण की ओर है। यद्यपि साहित्य में प्रयोग होना कोई चीज़ नहीं। साहित्य में प्रयोग सदा होते रहे है और होते रहेंगे। वास्तव में प्रत्येक प्रवृत्ति, प्रवृत्ति होने के पूर्व प्रयोग ही रहती है। प्रयोग सफल होने के कारण ही वह, प्रवृत्ति कहलाने लगती है। पर हां, प्रयोग को इस प्रकार की खुली छूट देना इनकी विशेषता है। और इसलिए इन्हें 'प्रयोगवादी' कहना उचित ही है।

प्रयोगवाद की कुछ निश्चित रूपरेखा हो सकेगी इसमें सन्देह है क्योंकि अभी कुछ प्रयोग ही हुए हैं और न जाने कितने प्रयोग भविष्य के अन्धकार में छिपे हैं। हां, अब तक के प्रयोगवादी रचनाओं के आधार पर कुछ कहा जा सकता है। डॉ. रघुवंश ने इनकी दो सामान्य प्रवृत्तियां मानी हैं :

१. भाव जगत् के काल्पनिक कुहासे, से वास्तविकता को और बढ़ने का प्रयास

२. अतिवैयक्तिकता-शैली और सौन्दर्य-बोध के क्षेत्र में।

'जहाँ तक काल्पनिक कुहासे से वास्तविकता की ओर बढ़ने का प्रश्न है हम पहले ही कह आये हैं कि प्रयोगवाद और प्रगतिवाद छायावाद के सूक्ष्म के प्रति भौतिकता के विद्रोह का परिणाम है। इस विशेषता को मानने में कदाचित् ही कोई मतभेद हो।

इस अतिवैयक्तिकता का भी होना स्वाभाविक ही है। कारण 'प्रयोगवाद' नाम---जिसे हम सर्वथा उचित मानते हैं--से स्पष्ट है कि यह कवियों के प्रयोगों का फल है। प्रयोग वैयक्तिक ही होते हैं; कवि की अनुभूति अपनी होती ही है और उसकी अभिव्यक्ति भी अपनी; विशेषतया जब वह उन दोनों ही क्षेत्रों में अपने प्रयोग करने में स्वतन्त्रता का दावा करता है। और मेरी समझ में यही प्रयोगवाद और प्रगतिवाद की धूमिल विभाजक रेखा है। प्रगतिवादी प्रगति और यथार्थता का दावा करते हुए भी एक विशेष साम्यवादी दृष्टिकोण से ही वस्तुओं को देखने का अभ्यासी बन जाता है। वह शोषक और शोषित वर्ग को हृदय से निकाल ही नहीं सकता। अतः स्वभावतः ही वह शोषित के प्रति अति सहानुभूतिपूर्ण और शोषक के प्रति घोर घृणापूर्ण दृष्टि रखता है। इस प्रकार जीवन के अन्य अंगों को भी वह साम्यवादी विचारधारा और दृष्टिकोण से देखता है। पर प्रयोगवादी इससे दूर है। उसके लिए उसका अपना दृष्टिकोण ही सब कुछ है। जीवन की अनुभूतियाँ जो उसे जिस रूप में प्राप्त होती हैं और फिर उन्हें जिस ढंग से वह व्यक्त कर सकता है, वही उसके लिए कला की उच्चतम पराकाष्ठा है। न वह भावनाओं को छिपाने, संवारने, सुधारने में विश्वास रखता है और न शैली, भाषा आदि को निखारने में। उसकेलिए यह सब भी प्रयोग ही है जिस प्रकार जीवन ही चिर प्रयोग है। इसी कारण श्री शमशेर बहादुर सिंह जैसे प्रयोगवादी कवियों में भी जो अपने को खुले ढंग से मार्क्सवादी मानते हैं, वैयक्तिकता है और वे इस वैयक्तिकता के प्रति जागरूक भी हैं।

इस अतिवैयक्तिकता के कारण प्रयोगवादी रचनाओं में विपुल विरोध एवं अत्यन्त विभिन्नता मिलती है। यह विरोध एवं विभिन्नता केवल विभिन्न कवियों म ही नहीं है वरन् एक ही कवि की विभिन्न रचनाओं में प्रतीत होती है और कभी कभी एक ही रचना में भी विरोधाभास के दर्शन होते हैं। आज के इस संकुल युग का आकुल कवि विरोध, अस्थिरता एवं अन्तर्द्वन्द से घिरा हुआ है। कवि की अभिव्यक्ति का सम्बन्ध

होने का कारण ही यह है कि वे किसी एक विचारधारा के नहीं हैं, वे किसी मंजिल पर पहुंचे हुए नहीं हैं अभी राही हैं—राही नहीं, राहों के अन्वेषी।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि इन कवियों का ध्यान एकमात्र प्रयोग और अन्वेषण की ओर है। यद्यपि साहित्य में प्रयोग होना कोई चीज नहीं। साहित्य में प्रयोग सदा होते रहे हैं और होते रहेंगे। वास्तव में प्रत्येक प्रवृत्ति, प्रवृत्ति होन के पूर्व प्रयोग ही रहती है। प्रयोग सफल होने के कारण ही वह, प्रवृत्ति कहलाने लगती है। पर हां, प्रयोग को इस प्रकार की खुली छूट देना इनकी विशेषता है। और इसलिए इन्हें 'प्रयोगवादी' कहना उचित ही है।

प्रयोगवाद की कुछ निश्चित रूपरेखा हो सकेगी इसमें सन्देह है क्योंकि अभी कुछ प्रयोग ही हुए हैं और न जाने कितने प्रयोग भविष्य के अन्धकार में छिपे हैं। हां, अब तक के प्रयोगवादी रचनाओं के आधार पर कुछ कहा जा सकता है। डॉ. रघुवंश ने इनकी दो सामान्य प्रवृत्तियां मानी हैं:

१. भाव जगत् के काल्पनिक कुहासे, से वास्तविकता को ओर बढ़ने का प्रयास

२. अतिवैयक्तिकता-शैली और सौन्दर्य-बोध के क्षेत्र में।

जहाँ तक काल्पनिक कुहासे से वास्तविकता की ओर बढ़ने का प्रश्न है हम पहले ही कह आये हैं कि प्रयोगवाद और प्रगतिवाद छायावाद के सूक्ष्म के प्रति भौतिकता के विद्रोह का परिणाम है। इस विशेषता को मानने में कदाचित् ही कोई मतभेद हो।

इस अतिवैयक्तिकता का भी होना स्वाभाविक ही है। कारण 'प्रयोगवाद' नाम—जिसे हम सर्वथा उचित मानते हैं—से स्पष्ट है कि यह कवियों के प्रयोगों का फल है। प्रयोग वैयक्तिक ही होते हैं; कवि की अनुभूति अपनी होती ही है और उसकी अभिव्यक्ति भी अपनी; विशेषतया जब वह उन दोनों ही क्षेत्रों में अपने प्रयोग करने में स्वतन्त्रता का दावा करता है। और मेरी समझ में यही प्रयोगवाद और प्रगतिवाद की धूमिल विभाजक रेखा है। प्रगतिवादी प्रगति और यथार्थता का दावा करते हुए भी एक विशेष साम्यवादी दृष्टिकोण से ही वस्तुओं को देखने का अभ्यासी बन जाता है। वह शोषक और शोषित वर्ग को हृदय से निकाल ही नहीं सकता। अतः स्वभावतः ही वह शोषित के प्रति अति सहानुभूतिपूर्ण और शोषक के प्रति घोर घृणापूर्ण दृष्टि रखता है। इस प्रकार जीवन के अन्य अंगों को भी वह साम्यवादी विचारधारा और दृष्टिकोण से देखता है। पर प्रयोगवादी इससे दूर है। उसके लिए उसका अपना दृष्टिकोण ही सब कुछ है। जीवन की अनुभूतियाँ जो उसे जिस रूप में प्राप्त होती हैं और फिर उन्हें जिस ढंग से वह व्यक्त कर सकता है, वही उसके लिए कला की उच्चतम पराकाष्ठा है। न वह भावनाओं को छिपाने, संवारने, सुधारने में विश्वास रखता है और न शैली, भाषा आदि को निखारने में। उसकेलिए यह सब भी प्रयोग ही हैं जिस प्रकार जीवन ही चिर प्रयोग है। इसी कारण श्री शमशेर बहादुर सिंह जैसे प्रयोगवादी कवियों में भी जो अपने को खुले ढंग से मार्क्सवादी मानते हैं, वैयक्तिकता है और वे इस वैयक्तिकता के प्रति जागरूक भी हैं।

इस अतिवैयक्तिकता के कारण प्रयोगवादी रचनाओं में विपुल विरोध एवं अत्यन्त विभिन्नता मिलती है। यह विरोध एवं विभिन्नता केवल विभिन्न कवियों म ही नहीं है वरन् एक ही कवि की विभिन्न रचनाओं में प्रतीत होती है और कभी कभी एक ही रचना में भी विरोधाभास के दर्शन होते हैं। आज के इस संकुल युग का आकुल कवि विरोध, अस्थिरता एवं अन्तर्द्वन्द से घिरा हुआ है। कवि की अभिव्यक्ति का सम्बन्ध

उसकी संवेदना से हुआ करता है और संवेदना, वस्तु परिस्थिति और वातावरण के साथ बदलती है। वस्तु परिस्थिति, वातावरण आदि आज के युग में कितनी तीव्रता से बदलते हैं यह हम सभी देखते हैं। प्रयोगवादी कवि इस अस्थिर, विरोध एवं अन्तर्द्वन्द से आकुल मनःस्थिति के यथार्थ चित्रण को ही उचित समझता है।

हम ऊपर कह आये हैं कि यह अतिवैयक्तिकता सौन्दर्यबोध और शैली दोनों ही क्षेत्रों में है। सौन्दर्य को उन्होंने केवल मसृण एवं मधुर तक ही सीमित नहीं समझा है। सौन्दर्य चेतना को गत्यात्मक एवं व्यापक माना है। चूंकि आज के हमारे जीवन में परुष, अनगढ और भदेस हमारे अधिक निकट है अतः वे इनकी ओर अधिक आकृष्ट होते हैं। यद्यपि सौन्दर्य के प्रति यह दृष्टिकोण महादेवी जी आदि छायावादी कवियों का भी रहा है जैसा कि उनकी इन पंक्तियों से प्रकट है:—

"फूलों के भार से झुक झुक पड़नेवाली लता कोमल है, पर शून्य नीलिमा की ओर विस्मित बालक-सा ताकनेवाला ठूंठ भी कम सुकुमार नहीं। गुलाब के रंग और नवनीत की कोमलता में कंकाल छिपाए हुए रूपसी कमनीय है पर झुर्रियों में जीवन का विज्ञान लिए वृद्ध भी कम आकर्षक नहीं"।

पर इस दृष्टिकोण को वे व्यवहार में न ला सके। पर प्रयोगवादी कवियों ने, मेंढक, मूत्र-सिंचित वृत्त में खडे हुए धैर्य धन गदहे, चप्पल, अपच और चाय की प्याली आदि पर भी कलम उठाई है। देखिए:

तू सुनता रहा मधुर नूपुर ध्वनि यद्यपि बजती थी चप्पल

—भारतभूषण

निकटतर धंसती हुई छत, आड़ में निर्वेद
मूत्र-सिंचित मृत्तिका के वृत्त में
तीन टाँगों पर खड़ा नत-ग्रीव
धैर्य धन गदहा

शैली के क्षेत्र में तो अतिवैयक्तिकता और भी स्पष्ट एवं सप्रयत्न है। प्रयोगवादी कवि भाषा का सर्वथा वैयक्तिक प्रयोग करते हैं। वे शब्दों के प्रचलित अर्थों को ग्रहण नहीं करते। वे अपने विशिष्ट अनुभव को व्यक्त करने के लिए विशिष्ट अर्थ में शब्दों का प्रयोग करते हैं। उनके अनुसार साधारणीकरण की पुरानी प्रणालियाँ रूढ़ हो गई हैं। अतएव वे भाषा में नया, अधिक व्यापक और सारगर्भित अर्थ भरना चाहते हैं। इसके लिए वे विभिन्न विज्ञानों, शास्त्रों, गली कूचों, गाँवों, सभी जगह से शब्द एकत्र करते हैं तथा इन शब्दों का विचित्र एवं मनमाना प्रयोग करते हैं। इसके अतिरिक्त "भाषा को अपर्याप्त पाकर विराम संकेतों, अंकों और सीधी-तिरछी लकीरों, छोटे-बड़े टाइप, सीधे-उल्टे अक्षरों, लोगों और स्थानों के नामों, अधूरे वाक्यों से—सभी प्रकार के इतर साधनों से कवि उद्योग करने लगा कि अपनी उलझी हुई संवेदना की सृष्टि को पाठकों तक अक्षुण्ण पहुंचा सके" *

इसी प्रकार छन्दों में भी प्रयोगवादी कवि "प्रायः मुक्त छन्द को ही ग्रहण करता है और उनमें वार्णिक और मात्रिक छन्दों की भिन्न भिन्न संयोजनाओं के अतिरिक्त पदार्थ और स्वर-पात आदि की भी व्यवस्था करता है। तुकों का वह अत्यन्त सूक्ष्म प्रयोग करता है, पूर्णान्त तुकों का तो प्रायः प्रयोग ही नहीं करता क्योंकि उसकी धारणा है कि पूर्णान्त तुक छन्द-बंदों को अतिशय नादमय बनाकर विषय गंभीरता के अनुरूप

*अज्ञेय

नहीं रहने देती" सारांश कि इस ओर भी वह मनमाना प्रयोग करता है। इस प्रकार प्रयोगवादी की अतिवैयक्तिकता ही उसकी सबसे बड़ी विशेषता है। दूसरी ओर प्रयोगवादी कवि अपनी रचनाओं के जागरूक है। वे समझते हैं कि सामाजिक मूल्य की ओर भी उन पर सामाजिक उत्तरदायित्व है और उसे उन्हें निभाना है। डा. रघुवंश की सम्मति में उनकी सफलता और असफलता का रहस्य भी यही है। यदि यह कवि सामाजिक चेतना के प्रति जागरूक होकर अपनी वैयक्तिकता का निर्वाह कर सके, जैसी कि आशा अभी होती है, तो वे सफल होंगे। परन्तु यदि वे किसी प्रकार असामाजिक व्यक्तिवादी हो गए, व्यक्ति और समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्व को निभा सके, तो उनके ये प्रयोग 'अपनी-अपनी ढपली अपना-अपना राग' से अधिक महत्व न पा सकेंगे।

इन दो विशेषताओं के अतिरिक्त और कोई विशेषता खोज सकना अभी सम्भव नहीं प्रतीत होता। अभी इनकी अति विभिन्नता ही विशेषता है। स्वयं अज्ञेय जी इस विभिन्नता के विषय में अनेक बार कह चुके हैं। उन्हीं के शब्दों में "उनमें मतैक्य नहीं है, सभी महत्वपूर्ण विषयों में उनकी राय अलग अलग है-जीवन के विषय में, समाज और धर्म और राजनीति के विषय में, काव्य वस्तु और शैली के, छन्द और तुक के, कवि के दायित्वों के-प्रत्येक विषय म उनका आपस में मतभेद है। यहां तक कि हमारे जगत् के ऐसे सर्वमान्य और स्वयंसिद्ध मौलिक सत्यों को भी वे स्वीकार नहीं करते, जैसे लोकतंत्र की आवश्यकता, उद्योगों का सामाजीकरण, यांत्रिक युद्ध की उपयोगिता, वनस्पति घी की बुराई अथवा काननबाला और सहगल के गानों की उत्कृष्टता इत्यादि। वे सब दूसरे की रुचियों-कृतियों और आशा विश्वासों पर, एक दूसरे की जीवन-परिपाटी पर और यहां तक कि एक दूसरे के मित्रों और कुत्तों पर भी हंसते हैं"।

हिन्दी साहित्य में साधारणतया जब भी कोई नई वस्तु आती है तो कुछ आलोचक तो उसे आसमान पर चढ़ाने का प्रयत्न करते हैं और कुछ उसे रसातल ही में पहुंचाना चाहते हैं। रचनात्मक एवं अतिशयोक्तिरहित उचित आलोचना का प्रायः अभाव ही रहता ह। यहां एक उदाहरण देने का लोभ म संवरण नहीं कर सकता। छायावाद, जिसने एक बार साहित्याकाश को इतना आच्छादित कर दिया, उसी के प्रति एक सम्भ्रान्त आलोचक एवं साहित्य लेखक का दृष्टिकोण देखिए :

"एक बार सन् १९४९ में मैं मिश्र-बन्धुओं में अन्तिम पं० शुकदेव विहारी जी मिश्र से मिलने गया मैं गद्यकार महादेवी पर कुछ लिखना चाहता था मैंने उनकी सम्मति चाही। उन्होंने अपने स्वाभाविक ढंग से कहा--"भैय्या, गद्य पर का कही, हम तो उनका पद्यौ नाहीं पढेन हैं"। मेरे ही क साथी ने कहा--"हां मिश्र जी वह आपने पके पढै लायक नाहीं है"। उन्होंने पुनः कहा--"हां भय्या एक जनै कछु पढ़त रहे। दूसर पूछिन, अरे का सरसाम (सन्निपात) हुइगा है। वे कहिन नाहीं, यह छायावादी कविता है"।

हाँ तो कुछ ऐसा ही प्रयोगवाद पर भी हुआ है। एक ओर तो प्रयोगवादी कवि अपने प्रयोगवाद की प्रशंसा में बहुत कुछ कह जाते हैं और दूसरी ओर श्री नन्द दुलारे वाजपेयी जी जैसे आलोचक उसकी कटुतम आलोचना करते हैं। हाँ, डा. नगेन्द्र, डा. रघुनाथ आदि ने बीच का मार्ग अपनाया है। श्री नन्द दुलारे वाजपेयी जी के प्रयोगवादी साहित्यिक के प्रति विचार देखिए--

"प्रयोगवादी साहित्यिक से साधारणतः उस व्यक्ति का बोध होता है जिसकी रचना में कोई तात्विक अनुभूति, कोई स्वाभाविक क्रम विकास या कोई सुनिश्चित व्यक्तित्व न हो। वास्तविक सृजन और क्रान्तदर्शिता के बदले सामान्य मनोरंजन और शैली प्रसाधन ही उसकी विशषता होती है। अधिकार

और अत्तरदायित्व की अपेक्षा अनिश्चय और उद्द्श्यहीनता की भावना ही वह उत्पन्न करता है। स्रष्टा और सन्देशवाहक न होकर वह प्रणेता और प्रवक्ता–मात्र होता ह"।

अज्ञेय जी ने 'दूसरा सप्तक' की भूमिका में इन आक्षेपों के लिए ठीक ही कहा है—"कुछ आक्षेपों को पढ़ कर तो बड़ा क्लेश होता है, इसलिए नहीं कि उनमें कुछ तत्व है, इसलिए कि उनमें तर्क परिपाटी की कोई ऐसी अद्भुद विकृति दीखती है, जो आलोचक से अपेक्षित नहीं होती........तर्क (वाजपेयी जी के) पढ़ने में रोचक हैं और उत्तर की अपेक्षा नहीं रखते"। वास्तव में वाजपेयी जी ने आक्षेप करने के लिए आक्षेप किए हैं, ऐसा प्रतीत होता है। बाल की खाल निकालते हुए उन्होंने 'तर्क–विकृति का आश्चर्यजनक उदाहरण' प्रस्तुत किया है।

डा. नगेन्द्र को सबसे अधिक भय इन कवियों की दुरूहता से है। उन्हीं के शब्दों में "ये कविताएँ अनिवार्यरूप से ही नहीं सिद्धन्त रूप से भी दुरूह हैं। इस दुरूहता के अनेक कारण हैं जिनमें चार मुख्य हैं:

(१) भावतत्व और काव्यानुभूति के बीच रागात्मक के बजाए बुद्धिगत सम्बन्ध
(२) साधारणीकरण का त्याग
(३) उपचेतन मन के अनुभव खंडों के यथावत् चित्रण का आग्रह
(४) काव्य के उपकरणों एवं भाषा का एकान्त वैयक्तिक और अनर्गल प्रयोग"

"इनके अतिरिक्त एक और भी कारण है और वह है इन सबका मूलवर्ती कारण—नूतनता का सर्वग्राही मोह, जो सदा परिचित को छोड़ अपरिचित की खोज में रहता है। ये कारण यदि आनुषगिक होते तो इनको सफाई के रूप में ग्रहण किया जा सकता था। परन्तु इसके विपरित यह सभी कारण सैद्धान्तिक ह——क्योंकि इनके आधारभूत सिद्धाल्त ही सदोष हैं ओर मानोविज्ञान तथा काव्य शास्त्र दोनों की कसौटियों पर ही खोटे उतरते हैं"।

डा. नगन्द्र ने अपने इन आक्षेपों पर और अधिक प्रकाश भी डाला है। उनके ये आक्षेप तर्कयुक्त हैं। आलोचक न पर्याप्त विचार एवं शोध के पश्चात् इन्हें स्थिर किया है। प्रयोगवादी कवियों यदि ऊपर कहीं सब बात सीमा में रहता ह तब उसमें विशष दुरूहता नहीं आती पर सीमा का अतिक्रमण होते ही वह पर्याप्त दुरूह हो जाता है।

इस प्रकार प्रयोगवाद पर अनेक मत हैं और हो सकते हैं। प्रयोगवाद के भविष्य पर कुछ अधिक कहना अभी शीघ्रता करना होगा। निस्सन्देह कुछ प्रयोगवाद कवियों में उच्च कोटि की प्रतिभा है। वे उस प्रतिभा का यथेष्ट परिचय दे चुके हैं। साथ ही कुछ कवियों ने बड़ी ऊटपटांग 'भदेस' एवं विचित्र रचनाएँ की हैं। वे कहां तक साहित्य में आदर पा सकेंगी यह सन्देहात्मक है। यदि प्रयोगवादी कवियों ने अहम्मन्यता का त्याग कर अपने को सुधार कर, संभल कर बढ़ाने का प्रयत्न किया तो वे निस्सन्देह साहित्योद्यान को सजा सकेंगे।

प्रयोगवादी रचनाओं में मुख्य स्थान 'तार सप्तक' तथा 'दूसरा सप्तक' का है। 'तार सप्तक' में अज्ञेय जी ने निम्नलिखित सात कवियों की स्थान दिया है: मुक्तिबोध, नेमिचन्द्र, भारतभूषण, प्रभाकर माचवे, गिरिजा कुमार माथुर, रामबिलास शर्मा और स्वयं अज्ञेय। इन सभी को कम से कम सिद्धान्त की दृष्टि से प्रगतिशील लेखक, विचारक माना जा सकता है। "दूसरा सप्तक' में हैं भवानीप्रसाद मिश्र, शकुन्तला माथुर, हरिनारायण व्यास, शमशेर बहादुर सिंह, नरेशकुमार मेहता,

रघुवीर सहाय, धर्मवीर भारती। इनके अतिरिक्त भी कुछ और कवि प्रयोगवादियों की सूची में रखे जा सकते हैं यथा डा. रांगेय राघव, केदारनाथ, चन्द्रभूषण, त्रिलोचन शास्त्री आदि।

अब इन कवियों की रचनायों के कुछ उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। देखिए कहां तक आपको रूचते हैं।

डा. रामबिलास शर्मा का निम्न-मध्यवर्ग का यथार्थ मार्मिक चित्रण देखिए—

नोन तेल लकड़ी की फिक्र में लगे धुन से
मकड़े के जाल से, कोल्हू के बैल से
मकाँ नहीं रहने को, फिर भी यह धुन से
गन्दे, अंधियारे और बदबू भरे दड़ाबों में
जनते हैं बच्चे

देखिय प्रभाकर माचवे—

बीसवीं सदी ने यही दिया
मानव को मानव का भक्षण
मानव को निज संरक्षण का
परवाना सबको बांध दिया
जीवन संघर्ष बढ़ा याँ तक
उस हाथ दिया इस हाथ लिया
देखा न पुण्य अथवा पातक
जिसने मारा बस वही जिया

अब देखिए 'अनुभूतियों में उलझे' हुए अज्ञेय—

फिर गया नभ, उमड़ आये मेघ काले
भूमि के कम्पित, उरोजों पर झुका सा
विशद, श्वासहत, चिरातुर
छा गया इन्द्र का नील वृक्ष
वज्र सा, यदि तड़ित से झुलसा हुआ तन

इसके अतिरिक्त अज्ञेय जी का शब्द—चयन कहीं कहीं पन्त के छायावाद की याद दिलाता है और कहीं कहीं गद्य से निकटता स्थापित करता है।

किसने देखा चांद
किन्तु अन्ततः है अभिन्न
है अभिन्न, निष्कम्प, अनिर्वच, अनभिवद्य है युगातीत एकाकी

एकमात्र ?

भारती की 'थके हुए कलाकार से' शीर्षक कविता निराला के 'उद्बोधन' और 'जागो फिर एक बार' की स्मृति दिलाती है। कवि की अभिव्यक्ति पर्याप्त प्रभावशाली है।

सृजन की थकन भूल जा देवता
अभी तो पड़ी है धरा अधबनी,
अभी तो पलक में नहीं खिल सकी
नवल कल्पना की मधुर चांदनी

× × ×

रुका तू गया रुक जगत का सृजन
तिमिरमय नयन में डगर भूलकर
कहीं खो गई रोशनी की किरन
बादलों में कहीं सो गया
नयी सृष्टि का सप्तरंगी सपन
रुका तू गया रुक जगत का सृजन
अधूरे सृजन से निराशा भला
किसलिए, जब अधूरी स्वयं पूर्णता

किन्तु दूसरी ओर भारती अपनी 'उन्मुक्त रूपोपासना' और 'उद्दाम यौवन की मांसलता' से प्रभावित करते हुए भी, यद्यपि यह प्रभाव भी अपने ढंग का होता है, अपनी अस्पष्ट अलंकार योजना में उलझे भी हैं, देखिए कवि की 'चुम्बन' शीर्षक कविता।

रख दिए तुमने नज़र में बादलों को साध कर
आज माथे पर, सरल संगीत से निर्मित अधर,
आरती के दीपकों की झिलमिलाती छांह में
बांसुरी रखी हुई ज्यों भागवत के पृष्ठ पर

बांसुरी के भागवत् के पृष्ठ पर होने तथा अधरों के मस्तक पर होने के साम्य की यह कल्पना दुरूह है। ऐसी कल्पनाएँ काव्य सौन्दर्य को बोझिल बना देती हैं।

नरेशकुमार मेहता की रचनाएँ अलंकार सुगठित और चमत्कारपूर्ण हैं। उनके रूपक सुन्दर होते हैं।

शमशेर बहादुर सिंह अपने छन्द ताल आदि के नए प्रयोगों को ही साध्य मान बैठे हैं, ऐसा प्रतीत होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इन सभी कवियों ने कुछ 'प्रयोग' अवश्य किए हैं और इस नाते तो वे प्रयोगवादी हैं ही। हां पर यह प्रयोग समय की कसौटी पर कितने खरे उतर सकेंगे इसके लिए अभी प्रतीक्षा की अपेक्षा है।

राम कुमार खण्डेलवाल एम. ए.,
उस्मानिया विश्वविद्यालय,
हिन्दी-विभाग, हैदराबाद-दक्षिण.

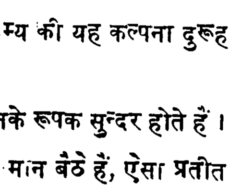

ज्ञान

धर्म और राजनीति

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
तांस्ते प्रेत्यामि गच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः यजु–४०/३

महर्षि दयानन्द ने राजनीति को धर्म का एक अंग माना है। वे लिखते हैं कि जीवन की तरह शासन सम्बन्धी प्रत्येक कार्य और व्यवहार में भी धर्म को मुख्यता दी जानी चाहिए। जब तक राजनीति या शासन पद्धति में धर्म की प्रधानता न होगी तब तक यथार्थ सुख व शान्ति का उदय नहीं हो सकता। वास्तविक सद्भावना और समृद्धि की कभी आशा नहीं की जासकती। विधान या दण्ड व्यवस्था का प्रभाव तो शरीर अथवा वाह्य जीवन तक ही सीमित रहता है। कानूनों के द्वारा सज़ा देकर न्यायालय शान्ति तथा व्यवस्था स्थापित करने का जितना ही प्रयत्न करते हैं, अशान्ति और अपराध करने की प्रवृत्ति उतनी ही बढ़ती जाती है। इसके अतिरिक्त यह भी बात है कि वैधानिक पाश अर्थात् कानूनी शिकंजों में थोड़े से ही अपराध आ पाते हैं। शष तो छल-छंद्म या तिकड़म द्वारा अपनी सांसारिक विकृतियों को बनाए रखते हैं। न्यायालय द्वारा दण्डित होकर जिन अपराधियों

को कारागार जाना पड़ता है वे वहां अन्य अपराधियों के कुसंग में पड़कर सुधरते तो नहीं वरन् अभ्यस्त और अनुभवी अपराधी बन कर निकलते हैं। वहां उन्हें अपराध-प्रवृत्तियों की अधिकाधिक प्रेरणा और शिक्षा मिलती है। दण्ड विधान से बचने तथा पुलिस की पकड़ में न आने के सफल एवं सिद्ध साधन सिखाए जाते हैं। वे नए-नए अनुभव लेकर बाहर आते हैं। यही कारण है कि एक अपराधी दण्ड भोगकर भी अपराध करता है और बार-बार जेल जाता है। अधिक धूर्त या प्रंपची हो जाने के कारण पुलिस भी उस पर हाथ नहीं डाल पाती। अभिप्राय यह है कि कोरा कानून अपराध रोकने में सफल नहीं होता क्योंकि उसमें हृदय परिवर्तन के लिए स्थान नहीं।

राजनैतिक सत्ता के समर्थक लोग मत सम्प्रदायों की बड़ी कड़ी आलोचना करते हैं। इन्हें सारे उपद्रवों और लड़ाई झगड़ों का मूल कारण बताते हैं। इसमें अधिक सत्य अवश्य है। मत, सम्प्रदाय या मज़हब के कारण बड़े बड़े अनर्थ और उपद्रव हुए हैं। परन्तु यह और भी कटु सत्य है कि धर्महीन राजनीति विश्व का विनाश करने में बहुत आगे रही है। संसार के दोनों गत महायुद्धों का आधार विशुद्ध राजनैतिक स्वार्थ था। उनमें मत, सम्प्रदाय या मज़हब का नाम को भी सरोकार न था। ऐसी दशा में यह क्यों न कहा जाए कि मत सम्प्रदायों से भी भयानक और संहारक रूप धर्महीन राजनीति का है ऐसी राजनीति द्वारा जितने अनर्थ, अनाचार रक्तपात और संहार हुए उतने अन्य प्रकार नहीं हो पाए। हम पूछते हैं कि धर्म ने कब अनर्थ किए ? कितने नरसंहार और कहां कहां प्रहार कराए ? धर्म के। कारण कोई युद्ध हुआ हो तो बताइए ? धर्म तो युद्धों का अन्त कर शान्ति प्रसार करता है।

राजनीति, मत-सम्प्रदाय या मज़हब से तो दूर रखी जानी चाहिए परन्तु धर्म से उसकी पृथक्ता कैसे सम्भव हो सकती है। धर्म तो विश्व भर के लिये हैं। धर्म के अटल सिद्धांतों का खण्डन कभी कोई व्यक्ति समुदाय या राष्ट्र नहीं कर सकता है। धर्म-तत्व से अलग रहकर शासन-सत्ता स्वार्थान्ध उच्छृंखल और भ्रष्ट बन जाती नहीं। कैसे आश्चर्य की बात है कि एक ओर तो शासन की ओर से कहा जाता है कि :—सदाचारी, नैतिक, सच्चे और ईमानदार बनो। सत्य और अहिंसा को जीवन का लक्ष्य बनाओ। दूसरी ओर धर्म को धता बताई जाती है। धर्म-निरपेक्षता का डिंढोरा पीटा जाता है। मानो धर्म की परिभाषा और उसका स्वरूप सत्य, न्याय, अहिंसा, अस्तेय, आदि से भिन्न हो। धर्म को मत-सम्प्रदाय मानकर उसका बहिष्कार कर देना कहां का न्याय है। यह कौन सी परिभाषा है जिसमें धर्म को संकीर्ण संकुचित या सम्प्रदाय बताया गया है। शास्त्र में स्पष्ट कहा है—"यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः" जिसमें लोक और परलोक दोनों की सिद्धि होती है यही धर्म है। अभ्युदय का अर्थ है लौकिक उन्नति और निःश्रेयस—पारलौकिक उन्नति और मोक्ष का नाम है अर्थात् जिन नियमों या सिद्धान्तों का अनुसरण करने से लोक-परलोक (दीन-दुनियां) दोनों की उन्नति हो सके वे ही धर्म हैं।

य एव श्रेयस्करः स एव धर्मशब्देनोच्यते (मीमांसा १/२ सूत्र भाष्य) जो कुछ कल्याणकारी है वही धर्म शब्द में समाविष्ट होता है। उसी को धर्म कहते हैं। और भी कहा है—

आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना
यस्तर्केणनु सन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः।

जो व्यक्ति ऋषि-मुनियों के धर्माधार उपदेश का वेद-शास्त्र के अविरोधी तर्क द्वारा अनुसंधान करते हैं, वे ही धर्म को जानते हैं, अन्य लोग नहीं। मीमांसाकार फिर कहते हैं :—

विहित क्रिया साध्यः धर्मः पुंसो गुणो मतः

अर्थात् विहित क्रिया द्वारा साध्य पुरुष का जो गुण है वही धर्म है। महर्षि जैमिनि ने "चोदना लक्षणोऽर्थो धर्मः" सूत्र द्वारा निर्देश किया है कि आचार्य या वेद द्वारा प्रेरित होकर, सत्कर्म में प्रवृत्त में होना ही धर्म है। महा भारत में भगवान् वेद व्यास ने भी बताया है जो धारण करता है उसे धर्म कहते हैं। धर्म प्रजाओं को और मनुष्यों को धारण करता है। जिस नियम या सिद्धान्त में जीवन को उठाने का गुण है उसे ही धर्म कहना चाहिए।

उपर्युक्त पंक्तियों में धर्म की जो सुन्दर और सुबोध परिभाषा या व्याख्या की गई है उसमें कहीं भी एक देशीय संकीर्णता, विशिष्टता या सामप्रदायिकता का आभास भी नहीं मिलता। ये परिभाषाएँ भारत ही नहीं, विश्व भर के लिए माननीय हैं। उन पर कोई आपत्ति या शंका-संदेह नहीं कर सकता। मत सम्प्रदाय तो परम्परागत है जो किसी भी समय परिवर्तित और विकृत हो सकते हैं। ऐसे सीमित और संकीर्ण सम्प्रदाय या मत को शाश्वत, अटल और अक्षुण्ण समझना भयंकर भूल है। उससे भी अधिकतर भयंकर भूल है—मत सम्प्रदाय अथवा मजहब के लिए "धर्म" शब्द प्रयोग का प्रयोग करना या धर्म के स्थान पर अंग्रेजी शब्द 'रिलीजन' शब्द रखना। ऐसा करके संतोष की सांस लेनेवाले 'धर्म' शब्द का घोर अपमान करते हैं। खेद है कि आधुनिक राजनीति में धर्म का यही अशुद्ध और अनुचित अर्थ किया जा रहा है।

महात्मा गांधी ने जिस राजनीति को जन्म दिया और जिसके आधार पर भारत को स्वतंत्र कर दिखाया उसके मूल में सत्य और अहिंसा दोनों धर्म के ही महान् तत्व हैं। इन दोनों की सफलता का प्रतीक ही आज हमारा स्वराज्य है। महात्मा गांधी ने अपने "नवजीवन" नामक पत्र में स्पष्ट लिखा है :—

> "मैं धर्म से भिन्न राजनीति की कल्पना नहीं कर सकता। वास्तव में धर्म तो हमारे हर एक कार्य में व्यापक होना चाहिए। यहां धर्म का अर्थ कट्टर पन्थी से नहीं। उसका अर्थ है—विश्व की राजनैतिक सुव्यवस्था।—रामराज्य वह है जब जनता और जन–सेवक (शासक या अधिकारी) दोनों धर्म युक्त सदाचार—सम्पन्न हों। स्त्रियां माताएं और बहनें समझी जाएँ। और उनका मान—आदर हो तथा ऊँच नीच का भेद भाव दूर होकर सब भाई बहन की भावना से बर्ताव करें।"

ऊपर के शब्दों में महात्मा गांधी ने धर्म और धर्म भावनाओं को कितना अधिक महत्व दिया है। वे धर्म विहीन राजनीति की कल्पना भी नहीं कर सकते। कैसी सुन्दर विचारधारा और कैसा उत्तम भाव है।

राजनैतिक संसार में जिस "पंचशील"की आज इतनी चर्चा है, जिसके प्रभाव से प्रेरित होकर चीन और रूस तक "पंचशील" के भक्त बन गए हैं। यह "पंचशील" भी धर्म की ही प्राचीन परम्परा की श्रृंखला है। भगवान् बुद्ध के आन्दोलन और उपदेशों में ऐसे अनेक "शीलों" का उल्लेख मिलता है। प्रसिद्ध विद्वान् कुल्लूक भट्ट ने तो पांच नहीं तेरह शीलों का वर्णन किया है। ये तेरह शील है—ब्रह्मण्यता

ब्राह्मण-ज्ञानियों की उच्च भावना, २. देव-पितृ-भक्ति, ३. सौम्यता ४. राग द्वेष-परित्याग ५. अनसूयता ६. मृदुता ७. अपारुष्य ८ मित्रता, ९ प्रियवादिता १० कृतज्ञता ११ शरण्यता १२ कारुण्य और १३ प्रशान्ति। ये तेरह शील धर्म के ही अंग नहीं तो क्या हैं। इन सब का आधार धर्म और एक मात्र धर्म है। इस पर क्या किसी को आपत्ति हो सकती है ? धर्म के मुख्य लक्ष्ण दस बताए गए हैं :—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शोचमिन्द्रियनिग्रहः
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।

वस्तुतः धर्म मनुष्य को मनुष्य बनाता है। मनुष्यता नष्ट हो जाने से ही विश्व अनर्थ का केंद्र बन जाता है। कोई व्यक्ति कितना ही विद्वान् धनवान् बलवान् लेखक, वक्ता, नेता, कवि, साहित्यकार क्यों न हो यदि वह मनुष्य नहीं है, धार्मिक नहीं है तो संसार के लिए वह अधिक उपयोगी सिद्ध नहीं हो सकता। फिर राजनीति ही धर्म को धता बता कर लोक कल्याण कारिणी कैसे बन सकेगी ? "न मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्"। मनुष्यता से बढ़कर संसार में कोई भी वस्तु नहीं है। अतएव सब को पहले मनुष्य और पीछे और कुछ बनने की आवश्यकता है। धर्म ही है जो मनुष्य में मनुष्यता के भाव भरता और उसे सत्य, न्याय, सदाचार, अहिंसा स्नेह आदि सद्गुणों की ओर ले जाता है। धर्म के बिना राजनीति अपूर्ण और लंगड़ी है –।

हमारा निश्चित मत है कि यदि विश्व में सच्ची शान्ति और सुव्यवस्था स्थापित करती है तो धर्म के मूल और शाश्वत तत्वों को राजनीति अथवा शासन विधान में सम्मिलित करना होगा। इसके बिना किसी राष्ट्र की अवस्था तथा व्यवस्था नहीं सुधर सकती और न वह सुखः-समृद्धि सम्पन्न ही बन सकता है। "रामराज्य का अर्थ है शासन सत्ता में धर्म का संयोग और सहयोग"। ऐसा करने से शासन तथा शासित अथवा राजा और प्रजा दोनों धार्मिक बन कर विश्व में सच्ची सुख शान्ति की विमल वर्षा करेंगे और उसे समृद्धिशाली बनाएंगे। किसी कवि की नीचे लिखी पंक्तियों में भी यही बात बड़ी सुन्दरता से कही गई है :—

"जो लोक और परलोक सिद्धि का साधक है
अभ्युदय और निःश्रेयस का आराधक है
जिसमें संकीर्ण भावना कभी न आती है
जिसकी प्रभुता प्रति क्षण पीयूष पिलाती है
वह परम तत्व सर्वथा भुलाया जाता है
जब राजनीति से धर्म हटाया जाता है
बढ़ता अधर्म और अन्धेरा छाता है"

स्वामी ध्रुवानन्द सरस्वती
साधु आश्रम, अलीगढ़

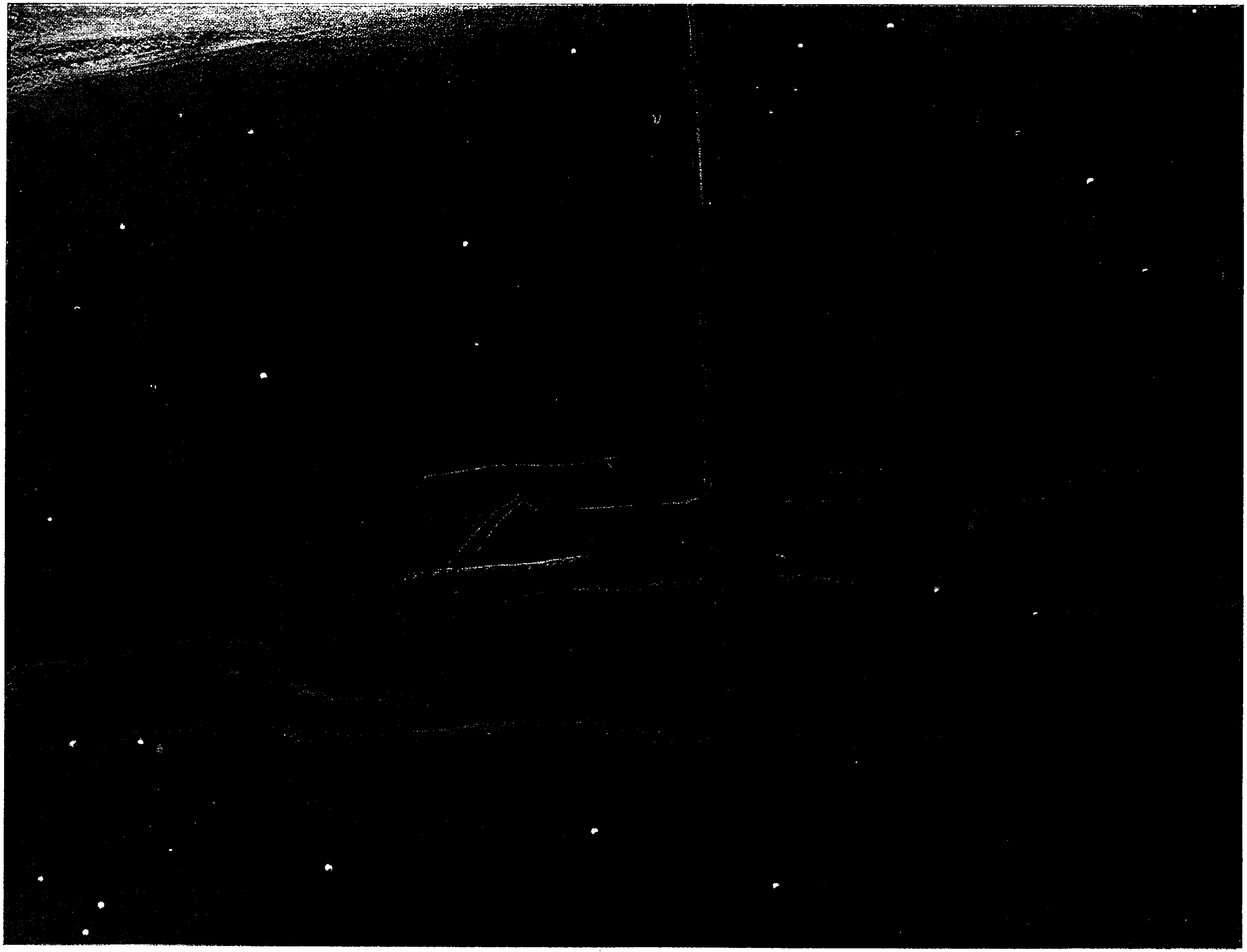

'दूर कहीं दीपक जलता है'

चित्रकार : श्री विश्वनाथ मुखर्जी

भारतीयों में अपनी संस्कृति के लिए उच्च भाव हो

किसी देश का भूत उसके भविष्य का उन्नायक है। जातियों के उत्थान-पतन में राष्ट्रों के उत्थान का बीज निहित है। धरा पर जातियों का उत्थान और पतन होता है परन्तु उनकी परम्परा अक्षुण्ण बनी रहती है। यही उनके भावी वंशजों की प्रेरणा और स्फूर्ति प्रदान करती है। किसी राष्ट्र के निर्माण का भार उसके अध्यापक और नवयुवकों पर है। यही उसके प्राण हैं और सदा उसे आगे ले चलनेवाले हैं। परन्तु यह सब कुछ स्वदेशी शिक्षा पर अवलम्बित है। शिक्षा को स्वदेशी बनाने में स्वदेशी संस्कृति के अपनाने की आवश्यकता है। जिस देश के अध्यापक और छात्र वर्ग को अपनी स्वदेशी संस्कृति के प्रति गर्व न हो, वे कभी अपने देश और जाति को समुन्नत करने में समर्थ और कृतकार्य नहीं हो सकते। वास्तव में स्वदेशी शिक्षा और स्वदेश-भक्ति की पूर्व पीठिका स्वदेशीय संस्कृति है। राष्ट्रीयता जो देश-भक्ति का ही एक रूपान्तर है, तीन तत्वों से ओतप्रोत है। मातृभाषा, मातृसंस्कृति और मातृभूमि। ये ही राष्ट्रीयता के प्राण हैं। कोई भी स्वदेशज व्यक्ति अपने को देशभक्त नहीं कहला सकता, जब तक उसे इन तीन मौलिक तत्वों में आस्था न हो।

हमारे देश में स्वतंत्रता को प्राप्त करने के पश्चात् संस्कृति के विषय में एक लहर चल पड़ी है। परन्तु ...का तत्त्व क्या है? इसके समझने पर अधिक बल नहीं दिया जा रहा है। यह केवल रंगमंचों और ...लनों का विषय नहीं। यह तो साहित्य के प्रसार से ही स्थायी रूप से पूरा किया जा सकता है। संस्कृति क्या है? उस पर थोड़ा विचार अपेक्षित है। संस्कृति पर विचार करते हुए बहुधा लोग उसके बाह्य रूपों पर ही बल देते हैं और अभ्यन्तरीय स्वरूप को छोड़ देते हैं जिससे उसके मूल्यांकन में एक प्रकार की न्यूनता रह जाती है। वस्तुतः आभ्यन्तरीय दृष्टि पर अधिक बल देने की आवश्यकता है। संस्कृति शब्द का भाव संस्कार और परिमार्जन है। इसे शब्दान्तर से परिष्कार भी कहा जा सकता है। किसी राष्ट्र या जाति के प्रत्येक क्षेत्र में परिष्कृत और परिमार्जित परम्पराएँ ही उसकी संस्कृति का रूप समझी जाती हैं। मनुष्य एक विचारात्मक प्राणी है। उसके अन्दर अनेकों प्रकार की विचारशक्तियाँ भरी पड़ी हैं, उनको समुन्नत करना ही वास्तव में संस्कृति है। मानवी शक्तियों को पूर्णतम विकास पर पहुंचाना ही इसका परम तत्त्व है। भारतीय वाङमय में विशेषतः वैदिक ग्रन्थों में समुन्नत को "कृष्टि" (Cultured man) कहा गया है। कृष्टि शब्द का मूल 'कृष्' है जिसका अर्थ उत्पन्न करना अथवा विकास में लाना है। कृषि पद जिसका अर्थ खेती है वह भी इसी मूल से निकला है। जिस प्रकार कृषक बीज को विकास में लाकर उसे अन्तिम उन्नत रूप देता है और वह उत्तम कृषक माना जाता है उसी प्रकार जिस मानव की सभी आभ्यन्तरीय शक्तियाँ विकास को प्राप्त हो गई हों वह "कृष्टि" कहलाता है। हमारा साहित्य, संस्कृति और सभ्यता इन दोनों शब्दों के प्रयोग से भी रिक्त नहीं। वैदिक साहित्य से लेकर आधुनिक साहित्य तक में इसके प्रयोग प्रचुरता से पाए जाते हैं। अब ये दोनों एकार्थक माने जाने लगे हैं परन्तु दोनों में अन्तर अवश्य है। वह अन्तर इतना ही है कि सभ्यता संस्कृति के अन्तर्गत है। संस्कृति का अर्थ उससे विशाल, विस्तृत और व्यापक है। सभ्यता केवल सभा, समाज सम्बन्धी उन्नतियों से सम्बद्ध है जब कि संस्कृति मानव-क्षेत्र की प्रत्येक उन्नति को लिए हुए है। अँगरेज़ी में भी इसके लिए Culture और Civilization दो प्रकार के शब्दों का प्रयोग होता है। लोग दोनों को समानार्थक समझते हैं परन्तु दोनों हैं थोड़े से भिन्न। Culture पद लेटिन भाषा की Colere मूल से बना है जिसका अर्थ उत्पन्न करना Till और पूजा करना Worship है। इनमें से एक उत्पत्ति के अर्थ को लेकर सभी परिष्कारों के अर्थ में प्रयुक्त है जैसा कि Agriculture, Harticulture अर्थ धार्मिक विश्वासों और सिद्धान्तों के रूप को धारण कर Cult के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा। अतः Culture पद से Refinement पद से और Cult दोनों का बोध किया जाता है। इसका व्यापक अर्थ सभी प्रकार के परिष्कारों Refinements से सम्बन्ध रखता है। इसलिए संस्कृति वह है जो मानव में विहित सभी शक्तियों का विकास परिणाम है इस प्रकार Culture जहाँ सभी परिष्कारों के अर्थ को लिए है वहाँ Civilization का अर्थ सीमित है और वह Culture के ही अन्तर्गत है। अँगरेज़ी का यह Civilization पद Civil जिसकी क्रिया Civilize है, से बना है। Civil के अर्थ सभ्य सभा से सम्बध्द अथवा नागरिक के हैं। नागरिकता सम्बद्ध बातों, चाहे वे समाज की हों या राष्ट्र की, इसके अन्तर्गत आ जाती हैं। समाज सम्बन्धी प्रत्येक प्रकार की उन्नति सभ्यता कहला सकती है परन्तु यही संस्कृति है, ऐसा कहना संस्कृति के क्षेत्र को संकुचित करना है। संस्कृति का ही अंग सभ्यता भी है

परन्तु वह इससे कुछ और भी है। भारतीय संस्कृत साहित्य का 'सभ्यता' शब्द भी इसी प्रकार है सभा में होने वाले को 'सभ्य' कहा जाता है और उसके भाव का नाम 'सभ्यता'। 'सभ्यता' 'सामाजिकता' 'नागरिकता' आदि पदों के विवेचन से इस पर विशेष प्रकाश पड़ता है।

इस प्रकार देखा गया कि सभ्यता और संस्कृति में थोड़ा-सा भेद अवश्य है परन्तु दोनों का समानार्थक प्रयोग कुछ काल से होने लगा है और आज दोनों एक ही समझे जाने लगे हैं। इन्हें समानार्थक मान कर ही प्राच्य और प्रतीच्य संस्कृतियों का भेद भी खड़ा हो गया है। कुछ लोग केवल सभ्यता को ही संस्कृति समझ-कर समाजोत्कर्ष से आगे नहीं बढ़ते और समाज तथा राष्ट्र का उत्थान ही संस्कृति समझते हैं। ये सामाजिक उत्थान, राष्ट्रीय उत्थान और अन्तर्राष्ट्रीय उत्थान तक ही मानव-उन्नति और परिष्कारों की चरम सीमा समझते हैं। समाज संपूर्ण उन्नत वस्तु Complete product नहीं है। यह एक ऐसी चीज है जो सदा उन्नति के क्रम Process में है। इसकी उन्नति करना ही मानव-जीवन का ध्येय है ऐसी विचार-धारा इस लोक सम्बन्धी अभ्युत्थान से आगे नहीं जाती। समाज की उन्नति से ही व्यक्तियों को सुख हो सकता है अतः सब मिलकर उसकी ही उन्नति करें, इस विचार ने आज पाश्चात्य संस्कृति में ज़ोर पकड़ लिया है। राष्ट्र भी एक उन्नत समाज ही है अतः उसके उत्थान में ही सब कुछ समझना चाहिए। उसमें ही शक्ति को एकत्र करना चाहिए इसके ऊपर और कुछ नहीं। यह भावना ही बढ़कर स्वार्थ का रूप धारण कर लेती है। इसीलिए एक राष्ट्र दूसरे को हड़पना बुरा नहीं समझता। परिणामतः जो जितना ही शक्ति-सम्पन्न है वह अपने को उतना ही सभ्य समझता है। ऐसा प्रत्येक सभ्य राष्ट्र यही समझता है कि हमारी सभ्यता का माप यही है कि हम कितने शक्तिशाली हैं। इस विचार-धारा में सिंह बनना ही सभ्यता की इतिश्री है।

परन्तु केवल सिंह बनना मानव-जीवन का अन्तिम उद्देश्य नहीं है। मानवता सिंह-शक्ति से पृथक् वस्तु है। सिंह को तर्क शास्त्र से प्यार नहीं, उसको तो उतने से प्यार है जितने में उसके पंजे पहुंचते हैं। यदि, मनुष्य भी ऐसा ही करने लगे तो संसार से शान्ति और सुख का अन्त हो जाए। सारा समाज स्वार्थ में परिणत हो जाए और सभ्यता संसार में रक्तपात के अतिरिक्त और कुछ भी दृष्टिगोचर न हो पाए। इसलिए सिंह शक्ति में सभ्यता नहीं, मानवता में है। मानवता सिंह की भाँति इसे मानव के खून की प्यासी नहीं बनाती अपितु विचार कर कार्य करने और एक दूसरे के लिए त्याग की भावना का पाठ पढ़ाती है। वह अपने स्वार्थ को दूसरे के हित त्यागने की प्रेरणा देती है। समाज केवल समुदाय का नाम नहीं। समाज वह है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति समाज के दूसरे व्यक्तियों के लिए कुछ त्याग करता है। सामाजिक वह है जो समाज की रक्षा करता है। वह नहीं जो इसका उच्छेद करता है। पशु-समुदाय को 'समाज' कहा जाता है। क्योंकि वह समुदायमात्र है। परन्तु मनुष्य समाज में प्रत्येक की परस्पर उन्नति चाहता है, इसलिए उसका समुदाय समाज है। यह समाज स्थित क्यों है? सिंह बनने से नहीं अपितु मनुष्य बनने और त्याग करने से। समाज में मनुष्य की स्थिति सिंहवत् माननेवाले लोग मानवता, त्याग और उदारता को सभ्यता का अंग नहीं मानते हैं, जब कि भारतीय संस्कृति में इनका प्रधान स्थान है। सभ्यता के इसी रूप ने व्यक्ति के उत्कर्ष को भी समाप्त कर दिया। व्यक्ति का मान समाज की एक इकाई के और कुछ नहीं रह गया। मनुष्य स्वयं क्या है? वह समाज का उत्कर्ष क्यों चाहता है? उसका यह जीवन ही सब कुछ है या इससे अगले जीवन

का भी कुछ संबंध है ? इत्यादि भी तो प्रश्न हैं, जिनका समाधान इस सभ्यता में नहीं दिया जा सकता। वास्तव में इन प्रश्नों का समाधान जिसमें हो वही संस्कृति है।

सभ्यता और संस्कृति में भेद मानने पर पुनः यह प्रश्न होता है कि संस्कृति क्या है ? जिसका सभ्यता भी एक अंग है। विचार दृष्टि से देखा जाए तो ज्ञात होगा कि मानव में स्थित सभी शक्तियों के बीज का पूर्ण विकास अथवा परिष्कार संस्कृति है और सभ्यता केवल उसकी समाज-सम्बन्धी शक्तियों के विकास का नाम है। मानवी-परिष्कार सम्बन्धी सभी बातों को समन्वित करने के लिए संस्कृति (Culture) के तीन अर्थ माने जाते हैं। इनमें प्रथम भावना कला और भाषा सम्बन्धी परिष्कारों से सम्बन्ध रखती है। दूसरी मानवविज्ञान सम्बन्धी (Anthropological) सांस्कृतिक धारणा जो संस्थानों, परिभाषाओं और आदर्शों से सम्बन्ध रखती है। इसे ही कभी कभी सभ्यता के नाम से कहा जाता है। तीसरी धारणा धर्मविज्ञान अथवा कर्तव्यमीमांसा के विचार से सम्बद्ध है। इसी के अनुरूप संस्कृति से नौ बातों का सम्बन्ध माना जाता है। ये ही इसके नौ प्रकार भी कहे जा सकते हैं।—कृषि (Agriculture) उद्योग (Industry) भाषा (Language) साहित्य (Literature) कला (Arts) विज्ञान (Science) नीति (Morality) दर्शन (Philosophy) और धर्म (Religion) जब हम कहते हैं भारतीय संस्कृति तब हमें उन सभी भारतीय परिष्कारों को समझना चाहिए जो इन विषयों से समन्वित हैं। इनका भारतीयों में कहाँ तक विकास हुआ था और वे किस परिणाम पर पहुंचे थे यह संस्कृति के परिज्ञान से हमें ज्ञात होता है। हमारे देश का भूत इस बात का साक्षी है कि उसने इन सभी विषयों में एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया है। दर्शनशास्त्र और ज्योतिर्विज्ञान, आचारशास्त्र आदि के विषय में तो कहना ही क्या ? यदि अध्यापक और विद्यार्थी वर्ग अपने देश के इस सांस्कृतिक सार को समझें और उससे प्रेम कर प्रेरणा लें तो राष्ट्र को आदर्श बना सकते हैं।

आजकल हमारा देश एक धर्म-निरपेक्ष गणराज्य है। इसलिए यह विचार उपस्थित हो सकता है कि ऐसे राज्य में संस्कृति के तत्त्व-धर्म के लिए कोई स्थान ही क्या हो सकता है। परन्तु यह धारणा निर्मूल है। राज्य का कोई धर्म इस प्रकार के राज्य में नहीं हो सकता परन्तु व्यक्तियों के धर्म में कोई बाधा नहीं शासन धर्म-निरपेक्ष ही रहेगा, उसका अपना कोई विशेष धर्म नहीं होगा परन्तु राष्ट्र में सभी धर्मों के साथ सम-व्यवहार और उनकी उन्नति में राज्य बाधक नहीं होगा। सभी को समभाव से फलने-फूलने का अधिकार होगा। 'Secularism' का अर्थ धर्म की निरपेक्षता नहीं अपितु धर्म के ऊपरी आडम्बरों की निरपेक्षता है। ये ऊपरी आडम्बर संप्रदायवाद के रूप में धर्म को परिणत कर देते हैं जिसका इसमें कोई स्थान नहीं परन्तु धर्म का विशुद्ध तत्त्व जो समाज और व्यक्ति दोनों की उन्नति का सोपान है उसकी उपेक्षा कभी न तो किसी ने की और न हो सकती है। धर्म का वह रूप जो विश्वभावना, "वसुधैव कुटुम्बकम्" की उदात्त प्रेरणा और अध्यात्मवाद के तत्त्वों से ओत-प्रोत है उसे मिटाया नहीं जा सकता और न (Secularism) से उसका विरोध ही हो सकता है। आध्यात्मिक भावना धर्म का वास्तविक तत्त्व है। यह किसी भी अवस्था में दूर नहीं की जा सकती। यदि मानव में यह भावना नहीं है तो वास्तव में विशाल मानव-परिवार, जो वसुन्धरा पर विराजमान है, उसे किसी भी प्रकार अपने समान रूप में नहीं देख सकता। उसे यह भी ज्ञान नहीं हो सकता कि वह विश्व के मानव-परिवार का एक व्यक्ति है। प्रकृतिवाद में मानवता

का उद्देश्य धुंधला है जब कि अध्यात्मवाद में वह स्पष्ट है। महामानव गांधी ने जिस मानवतावाद का उपदेश दिया है वह भी तो एक विशुद्ध धम है और है अध्यात्मानुप्रणीत। आध्यात्मिक दृष्टि से ही उसका विशुद्ध विश्लेषण हम कर सकते हैं। आधिभौतिक विज्ञानवाद संसार की मानवता को प्रलय की ओर ले जा रहा है। उसे बचाने का उपाय केवल अध्यात्मवाद ही है। जब प्रकृतिवाद मानव-मस्तिष्क पर अपना प्रभुत्व जमा लेता है तो संसार विनाश की अग्रसर होता है। विनाश से बचने और शान्ति की स्थापना का मार्ग विज्ञान के साथ अध्यात्मतत्व का समन्वय करने में है। भारतीय संस्कृति में दोनों का समन्वय है। यह मानव का एक विशुद्ध धर्म है। इसका धर्म-निरपेक्ष राष्ट्र में कोई विरोध नहीं। प्रत्येक व्यक्ति ऐसे विशुद्ध मानव-धर्म को अपना सकता है।

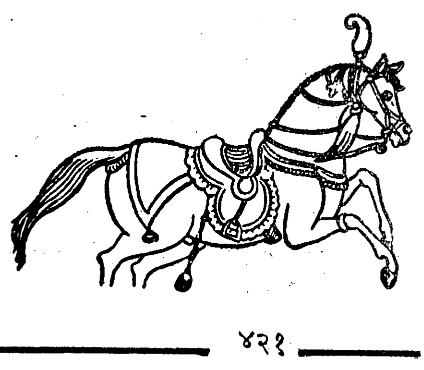

आचार्य वैद्यनाथ शास्त्री
पोर बंदर, गुजरात

आर्य-संस्कृति का दार्शनिक आधार

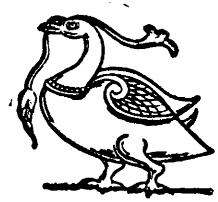

पुरातत्व वेत्ताओं ने ऐतिहासिक दृष्टि से 'आर्य-जाति' को माना है और भाषाविज्ञान वेत्ताओं ने संसार की भाषाओं का वर्गीकरण करते हुए 'आर्य-भाषा' को भी माना है।

जिस विचार से ये विद्वान् 'आर्य' शब्द का अर्थ लेकर 'आर्य-जाति' और आर्य-भाषा' की कल्पना करते हैं; भारतवर्ष के प्राचीन विचारक और ऋषि दयानन्द (ईसवी सन् १९२३-१९२५) उस विचार से कल्पना नहीं करते। उनकी दृष्टि में 'आर्य' शब्द की पृष्ठभूमिका भिन्न है। इसलिए 'आर्य संस्कृति' के स्वरूप के विषय में भी भेद हैं।

मुझे यहां पर ऋषि दयानन्द की दृष्टि से जिसे ब्रह्मा, मनु, व्यास से लेकर जैमिनि पर्यन्त ऋषियों ने माना है 'आर्य संस्कृति' के दार्शनिक आधार का वर्णन करना है।

भारतवर्ष आर्यों का आदि देश है। आर्य का अर्थ है—'श्रेष्ठ-स्वभाव, धर्मात्मा, परोपकारी, सत्य-विद्यादि युक्त, गुणयुक्त अर्थात् धर्म न्याययुक्त नियमों में चलने वाले शान्तिप्रिय और समाज का अभ्युदय

चाहने वाले उत्तम नागरिक। मानव सृष्टि होने के बाद जिन्होंने समाज का संगठन किया, उन्हें भी 'आर्य' कहते हैं। ये मानव जाति के पूर्वज (मूल पुरुष) सबसे पहले त्रिविष्टप (तिब्बत, हिमालय) पर प्रकट हुए। इस 'आर्य जाति' से पहले संसार में और कोई 'मानव समुदाय' नहीं था। पीछे से जनसंख्या बढ़ जाने पर ये ही सर्वत्र भूमण्डल पर फैल गए और इसके ही भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न नाम हो गए।

इनकी दृष्टि में यह बात निश्चित है कि ईश्वर के दिये उपदेश (आदि ज्ञान वेद) के बिना किसी मनुष्य को यथार्थ-ज्ञान नहीं हो सकता तथा कोई भी मनुष्य विद्वत्ता नहीं प्राप्त कर सकता और किसी मनुष्य को ग्रन्थ रचने का सामर्थ्य भी नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त सृष्टि के आरम्भ में पढ़ने और पढ़ाने की कुछ भी व्यवस्था नहीं थी और न कोई विद्या का ग्रन्थ ही था; इसलिए ईश्वर द्वारा प्रदत्त ज्ञान ही आदि मानव समुदाय का पथ-प्रदर्शक था।

उस ज्ञान के आधार पर इन आर्यों ने परस्पर मिलकर देश कालानुसार कुछ क़ायदे-कानून विधि विधान, आचार-विचार और वेशभूषा के नियम नियत किए; जीवन का आदर्श और जीवन का दर्शन निश्चित किया। आर्यों के इस तत्वविचार का नाम 'आर्य दर्शन, है। इसी के आधार पर 'आर्य संस्कृति' विकसित हुई है।

मानव-जीवन का उद्देश्य

जैसे संसार की अन्य जातियों ने मानव जीवन के उद्देश्य और सृष्टि की रचना के विषय में विचार किया है, वैसे ही भारतीय ऋषि मुनियों ने भी विचार किया है। उन्होंने मानव जीवन का उद्देश्य 'पुरुषार्थ चतुष्टय' अर्थात् 'धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष' नियत किया है।

इस चराचर जगत् में समस्त जीवधारी प्राणियों के आवागमन का प्रयोजन अपने शुभाशुभ कर्मों के सुख दुःखात्मक फलों को भोगकर मोक्ष प्राप्त करना है।

मानव जीवन का उद्देश्य धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चार पुरुषार्थों की प्राप्ति करके आनन्द भोगना है।

ब्रह्मचर्य-साधना, व्यभिचार-निवृत्ति, अग्निहोत्रीादि यज्ञों से वृष्टि द्वारा उत्तम अन्न प्राप्ति और उसके उपभोग द्वारा उत्तम आरोग्य सम्पादन करने से तथा प्रयत्न पूर्वक तन, मन, धन और आत्मा द्वारा ईश्वर के साहाय्य से पुरुषार्थ चतुष्टय की सिद्धि होती है।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पदार्थों की प्राप्ति के लिए क्रमशः ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास इन चार आश्रमों का सेवन करना सब मनुष्यों को उचित है।

इन ऋषियों ने 'धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष' का निम्न भाव बताया है :—

धर्म का अभिप्राय है, 'सब को एक सूत्र में धारण करने वाले भाव ; न्यायानुसार आचरण, सदाचार नियम ब्रह्मचर्य व्रतपूर्वक विद्याभ्यास अर्थात्, 'धीः'। प्रत्येक वस्तु का अपना-अपना गुणधर्म होता है। उस के सत्यज्ञान से उनका उचित उपयोग जीव कर सकता है। यह भी दो वस्तुओं का परस्पर धारित होता है। धर्म शब्द का अर्थ इन की दृष्टि में 'रिलिजन,' 'मत' या 'सम्प्रदाय' सर्वथा नहीं है।

अर्थ का अभिप्राय है, 'धर्मानुसार सांसारिक भोग, ऐश्वर्य का संग्रह करना' अर्थात् 'श्री'। शरीर यात्रा के निमित्त धनधान्यों का सम्पादन और इसके साथ साथ इनकी व्यवस्था का सबके लिए प्रबन्ध करना इसीलिए भारतीय वाङ्मय में 'अर्थशात्र' का अर्थ 'राजनीति' है।

काम का अभिप्राय है, अपने को आगे बढ़ाए रखने के निमित्त 'स्त्री-पुरुष' के सम्बन्धों को मर्यादित करके सन्तानोत्पादन करना अर्थात्, 'स्त्री:'।

मोक्ष का अभिप्राय है, छूटना, दुःखों और पापों से मुक्त होना। अर्थ काम के द्वारा शरीर और मन विकृत हो जाते हैं एवं आत्मा बन्धन में पड़ जाता है। इस प्रकार जीव पाप और पुण्य ग्रस्त हो जाता है। इन बन्धनों से, मलों से, वासनाओं से और कर्मफलों से अत्यन्त विच्छेद द्वारा शाश्वत, सुखप्राप्ति होना मोक्ष है।

सृष्टि के मूल कारण

इस प्रकार जीवन की दिशा निश्चित करने का कारण यह था कि अपनी सत्ता में विश्वास करते थे, उस सृष्टि को अपनी भोग्य समझते थे और इस सृष्टि का एक रचयिता, संस्थापक, संचालक मानते थे, इन की दृष्टि में इस सृष्टि या विश्वब्रह्माण्ड के तीन कारण बनते हैं। आर्यसंस्कृति के विचारकों की दृष्टि में ये तीनों ज्ञाततत्व गुण लक्षण कर्मों की भिन्नता के कारण भिन्न, किन्तु अनादि और अविनाशी हैं। इस प्रकार सृष्टि के मूल कारण 'ब्रह्म-सृष्टिकर्ता' 'जीव-कर्मकर्ता और 'फलभोक्ता' और 'प्रकृति-भोग्या या भोगस्थली" है।

जीवात्मा 'धर्म सम्पादन' के निमित्त इस प्रकृति में आता है और 'अर्थ काम का उपयोग करता है। मर्यादित उपयोग करके, इनको छोड़ 'ब्रह्मसान्निध्य' प्राप्त करता है। यही मानव जीवन का उद्देश्य है।

आर्य-संस्कृति के मूल दार्शनिक आधार

(१) जड़-चेतन वाद क्योंकि सृष्टि में जड़-चेतन-रूप द्विविध तत्वों का मेल दृष्टिगोचार होता है; इसलिए भारतीय सृष्टि विश्व के समस्त पदार्थों को जड़ और चेतन (चर-अचर, क्षर-अक्षर, विनाशी-अविनाशी) दो वर्गों में विभक्त करते हैं।

जड़—अर्थात् प्रकृति-सूर्य, चंद्र, नक्षत्र, पृथिवी आदि, वृक्ष-वनस्पति आदि और प्राणियों के नाना शरीर आदि सब प्राकृतिक पदार्थ।

चेतन—अर्थात् शरीर, इन्द्रिय और मन से युक्त मनुष्य पशु-पक्ष्यादि प्राणी वर्ग और इनसे रहित सृष्टिकर्ता सर्वज्ञ सर्वव्यापक सर्वशक्तिमान् ईश्वर।

क्योंकि यह विश्व जड़-चेतन दोनों का मेल है, दोनों स्पष्टतया भिन्न दृष्टिगोचर होते हैं; इसलिए किसी एक तत्व के आधार पर 'विश्व की सब समस्याओं का वैज्ञानिक सुसंगत समाधान' नहीं हो सकता। 'विश्व की पहेली' को किसी एक तत्व जड़ या चेतन से बूझना, तर्कविरुद्ध अवैज्ञानिक और कार्यकारण के सर्वमान्य नियम का तिरस्कार है। 'अर्थकाम' का उपयोग हो ही तब सकता है; जब कोई जड़ प्रकृति हो।

(२) सुख-दुःख वाद—क्योंकि सृष्टि में सुख-दुःख दोनों दिखाई देते हैं ; इसलिए आर्यविचारक जीवन को सुख-दुःखमिश्रित मानते हैं। 'सर्वदुःखमनित्यं च' केवल ऐसा संसार में नहीं है। यदि सृष्टि के सुख-दुःख की तुलना की जाए, तो सुख कई गुणा अधिक उपलब्ध होता है।

इसलिए केवल सुख-दुःख या केवल दुःखवाद के आधार पर बना जीवनदर्शन पूर्ण सुसंगत और वैज्ञानिक नहीं हो सकता। एसा दर्शन जीवन की अधूरी व्याख्या और उन्नति का अधूरा उपाय बताएगा।

तत्वदृष्टि से देखा जाए, तो संसार की कोई वस्तु न दुःखमय है और न सुखमय। दार्शनिकों की दृष्टि में 'इन का अनुकूल प्रयोग' सुखजनक और 'प्रतिकूल प्रयोग' दुःखजनक है। अथवा इनमें लिप्त हो जाना दुःख और निर्लिप्त रहना सुख है। जैसे नदी के पानी में तैरना आनन्ददायक और डूबना दुःखदायक होता है।

इस सृष्टि का निर्माण हमारे आनन्दोपयोग के लिये है ; जीव का भ्रमण मोक्षप्राप्ति की साधना के निमित्त है। इसी विचार से मानव जीवन में आशा और उत्साह का संचार हो सकता है।

(३) पाप-पुण्य—क्योंकि सृष्टि में पाप-पुण्य दोनों पाए जाते हैं ; जगत् केवल पापमय या पुण्य-मय नहीं। इसलिए आर्य ऋषि जीवन को पाप-पुण्यमिश्रित मानते हैं।

इसलिए जीवात्मा को जन्मतः पापवान् या पुण्यवान् मानकर बना जीवनदर्शन पूर्ण सुसंगत और वैज्ञानिक नहीं हो सकता। ऐसा दर्शन जीवन की अधूरी व्याख्या और उन्नति का अधूरा उपाय बताएगा।

आर्य संस्कृति का जीवन सम्बन्धी दृष्टिकोण

(१) प्रवृत्ति-निवृत्ति—क्योंकि 'इच्छा-ज्ञान-प्रयत्न' जीव के स्वाभाविक गुण हैं—उनकी सत्ता के लिंग हैं ; इसलिए सृष्टि में आकर, जन्म पाकर प्रवृत्त होना आवश्यक है। कर्म में प्रवृत्ति सहज है। और क्योंकि 'धर्म' द्वारा 'अर्थकाम' में प्रवृत्त होने के पश्चात् सांसारिक। सुख-दुःख के भोग से 'मोक्ष' (मोचन मुक्ति छूटना-पृथक् हो सुख ही सुख में स्वतंत्रतापूर्वक विचरना) मानव जीवन का चरम उद्देश्य है ; इसलिए सृष्टि में आकर, जन्म पाकर, प्रवृत्त होकर भी इनसे 'निवृत्त'—विरक्त होना आवश्यक है।

इस प्रकार 'जीवन की पूर्णता' के लिए 'प्रवृत्ति मार्ग और 'निवृत्ति मार्ग' दोनों का सामंजस्य जरूरी है। जन्म पाना 'प्रवृत्ति' का द्योतक है और (अभ्यास वैराग्य द्वारा) 'निवृत्ति' प्राप्त करने का साधन है। ब्रह्मचर्य आश्रम 'प्रवृत्ति' की तैयारी और गृहस्थाश्रम 'प्रवृत्ति का प्रयोजक है, वानप्रस्थाश्रम 'निवृत्ति' की तैयारी और संन्यासाश्रम 'निवृत्ति' का साधनाक्षेत्र है। ब्रह्मचर्य 'धर्म' सम्पादन का अवसर देता है, गृहस्थाश्रम 'अर्थ-काम' से निवृत्त हो 'मोक्ष' की ओर कदम और संन्यास 'मोक्ष' का 'साधना-मंदिर' है। इस प्रकार आर्य संस्कृति इन दोनों में समन्वय करती है।

(२) त्याग-भोग—प्रकृति में त्याग और भोग दोनों प्रकार के कर्म हैं। कुछ त्याग कर रहे हैं, कुछ भोग रहे हैं। मनुष्य को दोनों प्रकार के कर्म करने चाहिए। 'संसार-भोग' पाप नहीं ; 'संसार-त्याग' पुण्य नहीं। दोनों का समय है। विवेक दोनों में मेल के बिंदु का निदर्शन करता है। मानव जीवन में दोनों प्रकार के कर्म आने चाहिए। इसी का नाम 'यज्ञमय' जीवन' बिताना है। देवपूजा इन्द्रियों और दैवी शक्तियों का आनन्द के लिए सदुपयोग ; संगतिकरण=अपने को भोग और त्याग में संगत करना ; दान=भोग के लिए प्राप्त पदार्थों का त्याग। कितना सुन्दर वैज्ञानिक समन्वय है।

आर्य संस्कृति में जीवन की पूर्णता का निर्देश

व्यक्ति समष्टि में समन्वय रूप से है। पर-हित (समाज की भलाई) में स्वहित (व्यक्ति का श्रेय) देखना ही 'अभ्युदय' और इन दोनों से ऊपर उठ अपने को सर्वोपरि शक्ति के सान्निध्य में रखना 'निःश्रेयस्' है। व्यक्ति समाज के लिए अपने व्यक्तित्व को समाप्त कर दे और समाज प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिए अवकाश दे; साधन सामग्री प्रस्तुत करे; इसी में जीवन की पूर्णता है। जीवन सम्बन्धी यह दृष्टिकोण आर्यसंस्कृति की अपनी ही विशेषता है।

आर्य संस्कृति के निर्णायक-तत्व

विचार और आस्था, बुद्धि और विश्वास, श्रद्धा और तर्क एवं धर्म और विज्ञान दोनों हैं। 'सत्य' ज्ञान के लिए पहले तर्क, वाद-विवाद विचार, बुद्धि का उपयोग एवं विज्ञान आवश्यक है और ज्ञान 'सत्य पर आचरण के लिए आड़िग 'श्रद्धा' की आवश्यकता है। जब तक 'श्रद्धा-मेधा' में समन्वय नहीं होता धर्म और विज्ञान में संगति नहीं बैठती तब तक मनुष्य जीवन खण्ड-खण्ड अस्त-व्यस्त रहेगा। केवल धर्म' 'श्रद्धा से जीवन जड़ता-मलता आ जाती है, मानव जीवन की उन्नति के द्वार बन्द हो जाते हैं। और केवल विज्ञान तर्क जीवन में रूखापन लाते हैं।

जब तक हम इन ऊपर लिखी बातों को ध्यान में नहीं रखते, तब तक आर्य संकृति की शुद्ध दार्शनिकता और श्रेष्ठता को नहीं समझ सकते। ऋषि दयानन्द ही वे व्यक्ति हैं; जिन्होंने इन मूल दार्शनिक आधारों का पता चलाया, उनमें समन्वय स्थापित किया। इसी कारण मानव जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण अत्यन्त विशाल और व्यापक तथा आर्य सिद्धांतों की उनकी व्याख्या अधिक क्रमबद्ध और सुसंगत है। संक्षेप में सत्य यह है कि इस संस्कृति के मूल सिद्धांतों को जीवन में घटाए बिना शांति प्राप्ति किसी भी मूल्य पर असम्भव है।

इन दार्शनिक आधारों को हृदयंगम किए बिना 'आर्य संस्कृति' का व्यावहारिक दृष्टिकोण नहीं समझा जा सकता।

मौलिक-अधिकार—सर्वोदय

शरीररचना और समान प्रसव की दृष्टि से सब मनुष्य जन्म से समान हैं, न कोई बड़ा है, न छोटा। मनुष्यत्व की दृष्टि से सब समान् हैं; परन्तु क्योंकि प्रत्येक जीव-मनुष्य योनि में आने वाला-के 'गुण कर्म, 'स्वभाव' और 'देश काल स्थिति' भिन्न-भिन्न होती हैं, इसलिए उनके पद और योग्यता में भेद पड़ जाता है। जीव अपने कर्मों के कारण भिन्न परिस्थितियों में जन्म पाता है—प्रत्येक का प्रारब्ध भिन्न होता है; अतः जन्म से ही भिन्न सामर्थ्य रुचि स्वभाव व भोग वाला होता है।

क्योंकि ईश्वर हमारा माता-पिता सखा बन्धु है; इसलिए हम सबको मिलकर अपनी अभिवृद्धि करनी चाहिए। अभ्युदय-निःश्रयस् की सिद्धि में सबको समान अवसर मिलना चाहिए। मनुष्य को प्राणीमात्र के साथ प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य बर्तने की शिक्षा दे कर, ऋषि दयानन्द अपने से पूर्वकालीन युग पुरुषों के पथप्रदर्शक के रूप में माने जाएँगे।

स्त्री-पुरुष को उनके नैसर्गिक भेद के कारण पैदा हुई विषमता को छोड़ कर आर्य संस्कृति अन्य सब आहार विहार आदि कार्यों में समानाधिकार देती है। सांघिक दृष्टि से इनके नागरिक व आर्थिक अधिकारों में कोई भेद नहीं। कोई किसी का दास या दासी नहीं है। स्त्रियाँ पढ़ सकती हैं; कृषि शिल्प-व्यापार चला सकती हैं; समय आने पर युद्धों तक में भाग ले सकती हैं और उपदेश दे सकती हैं, शासन-कार्य चला सकती हैं।

व्यावहारिक पथ-प्रदर्शन

आर्य संस्कृति मनुष्य के सम्पूर्ण विकास के लिए उसका 'सर्वांगीण वैयक्तिक विकास' और जिस समाज में यह रहता है, उसकी 'चतुर्मुखी उन्नति' का मार्ग बताती है।

'सर्वांगीण वैयक्तिक विकास' अर्थात् शारीरिक उन्नति के आसन, प्राणायामादि योग पद्धति का प्रचार, मांस शराब मादक द्रव्य सिगरेट आदि के पान का तीव्र निषेध करती है, ब्रह्मचर्य पालन पर अधिक ज़ोर देती है। व्यक्ति के लिए 'पंचमहायज्ञ' रूपी दैनिक प्रोग्राम तथा 'षोड़श संस्कार' रूपी जीवनव्यापी प्रोग्राम निर्धारित करती है।

पंचमहायज्ञ—दैनिकाभ्युदय योजना

(१) ब्रह्मयज्ञ—योगाभ्यास, आत्मचिन्तन, ईश्वरोपासना (सन्ध्यावन्दन) और वेद स्वाध्याय द्वारा अन्तःकरणशुद्धि। इससे विद्या, शिक्षा, धर्म, शिष्टाचार आदि शुभ गुणों की वृद्धि होती ह।

(२) देवयज्ञ—आसन प्राणायामादि द्वारा अपनी सब इन्द्रियों को स्वस्थ सुदृढ़ बनाना। अग्निहोत्र द्वारा वायु-शुद्धि करके गृहों को स्वास्थ्यकर रखना, अर्थात् शारीरिक उन्नति। इससे आरोग्य, बुद्धि, बल, पराक्रम बढ़ के धर्म-अर्थ-काम मोक्ष, के अनुष्ठान की योग्यता और सामर्थ्य बढ़ाना।

(३) पितृयज्ञ—जीवित माता-पिता वृद्ध कुटुम्बियों की अन्न-पान वस्त्र-रक्षण द्वारा सेवा करना। ससे ज्ञान सदाचार और कृतज्ञताभाव की वृद्धि होती है।

(४) अतिथियज्ञ—धार्मिक, परोपकारी, सत्योपदेशक, साधु-संन्यासियों के अन्न, वस्त्र, निवास-रक्षण की समुचित व्यवस्था करना। इससे पाखण्ड विनाश सत्यविज्ञान की प्राप्ति और धर्म प्रचार होता है।

(५) बलिवैश्वदेवयज्ञ—चींटी, गाय, कुत्ता आदि जीवजन्तुओं तथा निर्धन, निःसहाय निराश्रित जनों का यथायोग्य पालन-पोषण करना। इससे प्राणिमात्र में समदृष्टि और परोपकार भावना की वृद्धि होती है।

व्यक्ति समाज के साथ कैसे बरते, इसका उपाय पंच महायज्ञविधि है। इसमें स्वार्थ और परार्थ का सुन्दर समन्वय दिखाया गया है। प्रथम दो मन्त्र व्यक्ति के शारीरिक मानसिक (बौद्धिक आत्मिक) उन्नति के साधक हैं; शेष तीन सामाजिक हित के त्याग भाग सिखाते हैं, जिन्होंने जन्म दिया पाला पोसा उनकी सेवा, जिन्होंने विद्यादान दिया सदाचार सिखाया उनकी सेवा और शेष प्राणिमात्र की सेवा।

संस्कार—शतवर्षीय योजना

प्राचीन आर्य ऋषि-मुनियों ने जीवन की हर एक दिशा में सुनियोजित व्यवस्था की थी। समस्त जीवन भर मनुष्य क्रम से उन्नति करता जाए—जन्म से मरण पर्यन्त वह विकसता जाए—इसके लिए

उन्होंने संस्कार पद्धति की योजना बनाई। गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि पर्यन्त सोलह संस्कार हैं। जो मनुष्य की सम्पूर्ण आयु में फैले हुए हैं। इनका उद्देश्य गर्भ समय से मृत्यु पर्यन्त मनुष्य शरीर, मन और आत्मा को बलवान् बनाना तथा उन पर उत्तम संस्कार डालना है। संस्कारों द्वारा शरीर और मन सुसंस्कृत होने से 'धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, का अनुष्ठान सरलता से हो सकता है। इसलिए संस्कारों का विधिवत् अनुष्ठान स्त्री-पुरुष भेद के बिना सबको करना उचित है।

वर्णाश्रम-व्यवस्था

आर्य संस्कृति 'चतुर्मुखी सामाजिक अभ्युदय' (संघ-सौष्ठव) के लिए वेदानुकूल 'वर्णाश्रम की व्यवस्था' को आवश्यक मानती है। वर्णाश्रम व्यवस्था ही एक ऐसी व्यवस्था है जो समाज में सब व्यक्तियों को 'परहित' का ध्यान रखते हुए 'स्वहित' का सर्वोत्तम समान अवसर दे सकती है। मानवसमाज में प्रचलित देशजाति सम्प्रदाय आदि का भेद कृत्रिम और सर्वोदय में बाधक है।

मानव-जीवन को पूर्णतः सफल करने के लिए मनुष्य की आयु को चार भागों में विभक्त किया गया है, जिनमें परिश्रम पूर्वक उत्तम गुणों को ग्रहण और श्रेष्ट काम किए जाते हैं।

शारीरिक बल, बौद्धिक उन्नति और आत्मिक विकास के लिये ब्रह्मचर्याश्रम है।

शरीर मन आत्मा की शक्तियों के व्यावहारिक प्रयोग अर्थात् उत्तम सन्तान पैदा करने, आजीविका सम्पादन करने और सामाजिक कर्त्तव्यों का धर्मानुसार पालन करने के लिए गृहस्थाश्रम है।

तपःस्वाध्याय द्वारा क्षीण शक्तियों के संग्रह और मानसिक आत्मिक शक्तियों को समुन्नत करने के लिए वानप्रस्थाश्रम है।

परहित और ब्रह्मोपासना के लिए संन्यासाश्रम है।

× × × ×

गृहस्थाश्रम में प्रवेश का अभिप्राय है, स्त्री-पुरुषों का मिलकर सन्तानोत्पादन करना, आजीविका सम्पादन अर्थात् अर्थ-काम का सम्पादन। दो आत्माओं के मिलन के निमित्त आर्य संस्कृति में विवाह एक पवित्र धार्मिक सम्बन्ध है; जो कि मानवजाति के सर्वविध सामाजिक आर्थिक नागरिक जीवन का मुख्य आधार और आदर्श है। यह स्वेच्छाहार-विहार के निमित्त किया गया कान्ट्रैक्ट (नियत-काल-सम्बन्ध) नहीं। विवाह माता-पिता के परामर्श, (चुनाव, ढूंढ़, सलाह) समाज (सोसाइटी, विश्वेदेवाः) की अनुमति तथा वधू-वर की तदर्थ सहमति (स्वीकृति, स्वयंवरण) के आधार पर प्रसन्नतापूर्वक किया जाना चाहिए।

पति-पत्नी में से किसी एक के मर जाने पर अथवा दोनों के जीवित होने पर किसी कारण से जैसे नपुंसकत्वादि स्थिर रोगों के कारण या आपत्काल में, सम्बन्धयोग न रहने की दशा में सन्तानोत्पादन के निमित्त समान गुण, कर्म, स्वभावस्थिति वाले विवाहित स्त्री-पुरुषों में राज्यव्यवस्थानुसार नियमपूर्वक पुनः सम्बन्ध अर्थात् धर्मानुसार नियोग हो सकता है।

× × × ×

समाज को उत्तमरीत्या संगठित अखण्ड बनाए रखने, सबके लिए समान अवसर दिए जाने के भाव को कार्यरूप देने और सबके लिए जीविका-उपलब्धि का सदुपाय कराने के लिए आर्यऋषियों द्वारा निर्मित श्रमविभाग रूप सुन्दर विधान का नाम वर्णव्यवस्था है। यह पूर्ण वैज्ञानिक पद्धति है।

प्रत्येक व्यक्ति से सामर्थ्य और गुण कर्म स्वभाव के अनुसार अनिवार्य रूप में कार्य लेने और काम के अनुसार जीवनोचित पारिश्रमिक देने की व्यवस्था के अनुसार जीवनोचित पारिश्रमिक देने के लिए ही वर्णविभाग है।

इसलिए विद्यारम्भ करने से लेकर विद्यासमाप्ति तक बालक की योग्यता को देखकर जब वह स्वतंत्र आजीविका व गृहस्थ जीवन प्रारम्भ करता है उस समय प्रत्येक का वर्ण नियम किया जाता है। और–

जब तक मनुष्य गृहस्थाश्रम में रहता हुआ, आजीविका सम्पादन करता है, तभी तक यह वर्ण-विभाग रहता है। वानप्रस्थाश्रम और संन्यासाश्रम में गए हुओं का कोई वर्ण नहीं होता। वर्णोंका यह विभाग केवल लोक सम्बन्धी कर्मों का कोई वर्ण नहीं होता। वर्णों का यह विभाग केवल लोक सम्बन्धी कर्मों से होता है। परलोक सम्बन्धी कर्म वेदाध्ययन, यज्ञ, दानधर्म और जपतप आदि अनुष्ठान सब के लिए एक जैसे हैं; इनमें किसी प्रकार का भेद नहीं।

(१) जो उत्तम विद्या प्राप्त करके, चरित्रवान् होता हुआ राष्ट्र सन्तति को ज्ञान प्रदान करके मानव समाज की सेवा करे, उसे ब्राह्मण कहते हैं। यह प्रजा में मानवधर्म नीति, सदाचार, संस्कृति सभ्यता का प्रचार करता है। यह राष्ट्र धर्म, राष्ट्रीय चेतना, राष्ट्र संस्कृति विकसाता है।

(२) जो उत्तम विद्या प्राप्त करके, चरित्रवान् होता हुआ, संकट काल में मनुष्यों की रक्षा और संकट सामग्री का विनाश करे, उसे क्षत्रिय कहते हैं यह राष्ट्र शक्ति को विकसाता है।

(३) जो उत्तम विद्या को प्राप्त करके, चरित्रवान् होता हुआ, कृषि कर्म व्यापार आदि से धन-धान्य आदि का संग्रह करके समाज को समृद्ध करे, उसे वैश्य कहते हैं। यह राष्ट्र धन को विकसाता ह।

(४) जो उत्तम विद्या को न प्राप्त कर सके, परन्तु चरित्रवान् होता हुआ शारीरिक श्रम द्वारा राष्ट्र की सेवा करता है; उसे शूद्र कहते हैं। यह राष्ट्रधर्म को विकसाता है।

निःश्रेयस-प्राप्ति

सृष्टि में जीव स्वतंत्रतापूर्वक जैसा शुभाशुभ कर्म करता है, उनको तदनुसार सुख-दुःखात्मक फल भोगने के लिए वैसे ही योनि (शरीर, जन्म, देहान्तरप्राप्ति) अर्थात् पुण्य कर्म से उत्तम जन्म और पाप कर्म से निकृष्ट जन्म मिलता है। इस प्रकार कृमि कीट मत्स्य पिपीलिका मण्डूक पतंग मधुमक्खी आदि (तथा स्थावर वृक्षादि) रूप में तथा मानव रूप में जन्म लेकर इस सृष्टि में अपना 'अच्छा बुरा' व्यापार करता है।

मनुष्य जन्म में वह युक्ति और ज्ञानसहित पुरुषार्थ करके अनुकूल (शुभ) तथा अज्ञानपूर्वक आचरण से प्रतिकूल (अशुभ) परिस्थिति बनाता है। इस प्रकार अपना जीवनचक्र चलाते हुए वह अपने पिछले कर्मों का फल भोगता और आगे के लिए नये कर्म स्वतंत्रता पूर्वक करता है और पाप-पुण्य

से सुख-दुःख उठता रहता है। परन्तु उसका चरमलक्ष्य 'मोक्ष' प्राप्ति है। जब तक वह पाप दुःख से छूट नहीं जाता, तब तक उसे अपने पुण्यों का फलरूप उत्तम सुख प्राप्त नहीं हो सकता। जीव को पाप कर्म और पाप कामना दोनों से मुक्त होना चाहिए; तभी दुःख से अत्यन्त निवृत्ति होगी।

ऊपर वर्णित 'आर्य सिद्धांत' उसे इस दिशा में ले जाने के सर्वोत्तम साधन हैं। पञ्च महायज्ञ षोड़श संस्कार और वर्णाश्रमव्यवस्था ऐसी पद्धतियाँ हैं; जिनसे मनुष्य की पापकर्म में प्रवृत्ति घटती जाती है, पापवासना का क्षय होता जाता है और वह अपनी शरीरिक, मानसिक और आत्मिकत उन्नति कर लेता है। पापकर्म न रहने से उसके दुःख समाप्त होते हैं और प्रारब्ध से नियत दुःखों का अन्त हो जाता है। उसके कर्म पुण्यात्मक हो जाने से, आगामी जीवन के लिए सुख का मार्ग खुल जाता है।

यही आर्य संस्कृति की संक्षिप्त सी रूप रेखा है।

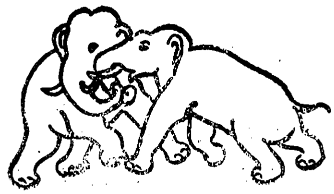

मदन मोहन विद्यासागर वेदालंकार
हैदराबाद-दक्षिण

वेद, दर्शन और अध्यात्म

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्

* * *

आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्

* * *

तमेव विदित्वा ऽ तिमृत्यु मेति

* * *

नान्यः पन्थाः विद्यते ऽ यनाय

—वेद

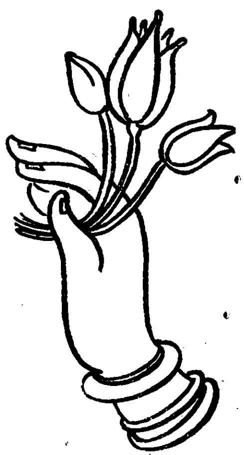

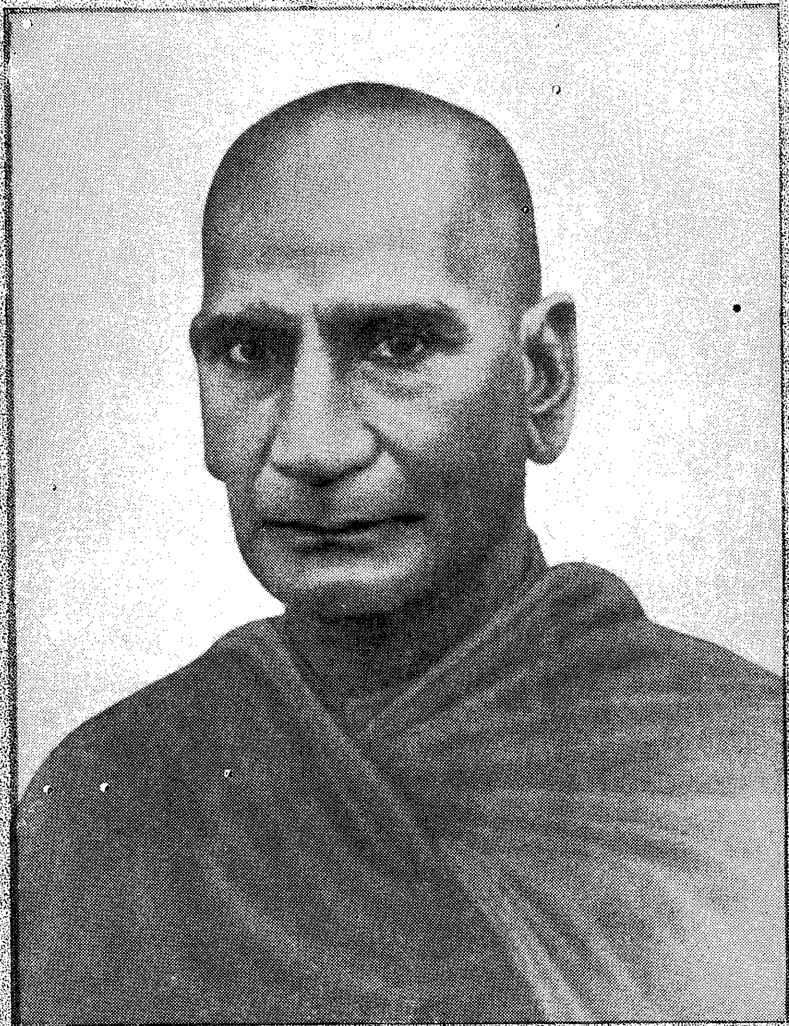

—अमर शहीद स्वामी श्रद्धानन्द

ध्येय

ईश्वर और राज्यशासन

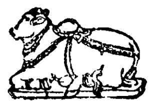

विश्व का शासक

ईश्वर है, इसमें सन्देह नहीं है और वह ईश्वर " विश्वका शासक " है इसमें भी संदेह नहीं है। ऋषियों ने जो ईश्वर माना है वह विश्वका नियन्त्रण करके ही माना है। ऋषि मुनि कहते आए हैं कि, 'ईश्वर का मनन करो, ईश्वर के गुणों का ध्यान करो, इसका अर्थ " विश्वके शासक के गुणों का मनन करो, विश्वके विश्वके शासक के गुणों का ध्यान करो।" यही है। अर्थात् 'विश्वके राज्यशासन ' का मनन करो।

ईश्वर न्यायकारी है सज्जनों का पालन करता है। दुष्टों को दूर करता है, मानव धर्म की स्थापना करता है, सुख देता है, दुःख दूर करता है। यह सब उसका वर्णन "उत्तम निर्दोष शासक का वर्णन" है। पृथ्वी पर अनेक राज्य हैं और उनपर अनेक प्रशासक राज्य कर रहे हैं। उनमें वहा शासक श्रेष्ठ और उत्तम है कि जिसमें ईश्वर के गुण आधिकांश में हैं।

निर्दोष शासन का मनन

"विश्व का शासक ईश्वर है।" वह महान् है। पृथ्वी पर के शासक छोटे हैं। छोटे शासकों के लिए बड़ा शासक–विश्वका बड़ा शासक–अर्थात् ईश्वर आदर्श शासक के समान है। पृथ्वी पर का शासक अपने राज्यशासन की तुलना ईश्वर के शासन के साथ करे। और अपने शासन में जो न्यूनता होगी उसको दूर करके अपना राज्यशासन ईश्वर के शासन के समान निर्दोष बनाए। इसी लिए ईश्वर के गुणों का मनन मनुष्य को करना चाहिए। ईश्वर का ध्यान करने का यही हेतु है।

वेद के मंत्रों में ईश्वर का वर्णन है। वह विश्व के महान् निर्दोष शासक का वर्णन है। मनुष्य इस वर्णन को देखे और इन गुणों को अपने जीवन में ढालने का यत्न करे। मनुष्य किसी भी स्थान में हो, वह शासक ही है। साधारण मनुष्य अपने छोट घरका शासक होता है, बड़ा धनी मनुष्य अपने बड़ कारखाने का शासक है। और राजा अपने राज्य का शासक है। शासन क्षेत्र छोटा हो या बड़ा हो, शासक में शासनकर्तृत्व के गुण होंगे, तो ही उस का शासन निर्दोष हो सकेगा। इसी लिए मनुष्य किसी भी स्थान में हो, उसको ईश्वर के गुण अपने में ढालने का यत्न करना चाहिए। ईश्वर की स्तुति मनुष्य को इसी लिए करनी चाहिए।

ईश-ईश्वर में कार्यक्षेत्र का भेद

ईश, ईश्वर, महेश्वर, परमेश्वर, ये ईश्वर के नाम हैं। पर ये नाम राज्य शासन में छोटे मोटे ओहदे-दारों के नाम होते हैं; देखिए—

१. ईश=ग्रामाधिकारी.

२. ईश्वर=प्रान्ताधीश, अनेक ईशोंपर अपना अधिकार चलाने वाला, ईशों में वरिष्ठ।

३. महेश्वर=प्रदेशाधीश, अनेक प्रान्ताधीशों पर अधिकार चलाने वाला। ईश्वरों से भी महान्।

४. परमेश्वर=अन्तिम श्रेष्ठ शासक, राजा, महाराजा, राष्ट्राध्यक्ष, सर्वाध्यक्ष।

ये नाम ईश्वरको, विश्व शासक को इस कारण दिए हैं कि, वह विश्वके छोटे भाग का जैसा शासन करता है, वैसा ही विश्व के संपूर्ण स्थान का भी वह वैसा ही उत्तम शासन करता है।

इन्द्र और महेन्द्र

ऐसे ही नाम वेद में हैं। इन्द्र, महेन्द्र, देव, महादेव, ये नाम छोटे बड़े अधिकारियों के वाचक हैं। छोटे अनेक इन्द्रों पर प्रभुत्व करने वाला 'महेन्द्र' है और छोटे अनेक देवों पर प्रभुत्व करने वाला 'महादेव' है। यद्यपि ईश्वर के ये नाम समान भाव से हम प्रयुक्त करते हैं, तथापि शासन क्षेत्र में छोटे बड़े भाव रहते ही हैं, उनको हटाना अशक्य है। इस कारण ईश्वर के नाम और कर्म राज्य शासन में जिस समय हम ढालेंगे, उस समय उनको मानवी राज्यशासन की मर्यादा में ही ढो ढालने चाहिएँ।

वेद के मन्त्रों में परमात्मा का वर्णन है, इसका क्षेत्र अमर्याद, विश्व भर व्यापक है। राजा का क्षेत्र उससे छोटा है और व्याक्ति का क्षेत्र उससे भी छोटा है। पर ईश्वर विश्व का 'प्रभु' है, राजा अपने राज्य का 'प्रभु' है, ओर मनुष्य अपने घर का 'प्रभु' है। प्रभुत्व सब में समान है, यद्यपि उस के क्षत्र की मर्यादा में बड़ा अन्तर है। यही दर्शाने के लिए ऋषि दयानन्द महाराज ने अपने भाष्य में ऐसा अर्थ किया है:

अग्निं परमेश्वरं भौतिकं वा। ऋ० १।१।१।
इन्द्र परमेश्वर सूर्य वा। ऋ० १।३।४
वायो ईश्वर भौतिको वायुः वा। ऋ० १।२।१

'अग्नि, इन्द्र, वायु' आदि पदों के अर्थ 'परमेश्वर, जीव और भौतिक अग्न्यादि पदार्थ' लिए जाते हैं। इसका यही आशय है। अर्थात् ईश्वर विश्व का शासक है, राजा राष्ट्र का शासक है और जीव शरीर का शासक है। इसलिए तीनों स्थानों में शासकत्व समान है। उदाहरण के लिए हम एक मन्त्र लेते हैं:

ईशा वास्यमिदं सर्वम्। वा० यजु० ४०।१; ईश० १

इस मन्त्रका उत्तानार्थ यह है कि 'ईश्वर इस सब विश्व भर में बसा है, व्यापक है।' इसका रहस्यार्थ अब देखिए:

ईश्वर के व्यापकत्व का रहस्य

ईशः=(ईष्टे इति ईशः) = जो ईशन करता है वह ईश है। जिसके अन्दर ईशन शक्ति है वह ईश है। जिसमें अपनी निज ईशनशक्ति है। वही ईश है। ईशन शक्ति का अर्थ शासन शक्ति है। जिसमें अपनी निज शासन शक्ति है, दूसरे के पास से मांगकर लाई नहीं है, वह स्वयं अपने बाल से शासन करन वाला ईश होता है।

वास्यं=(वस निवासे, आच्छादने च)=वस का अर्थ निवास करना और आच्छादन करना है।

ये दोनों अर्थ लेने से 'ईशा वास्यं' का रहस्यार्थ यह हुआ, कि "जिसके अन्दर अपनी निज शासन करने की शक्ति है दूसरे के पास से मांग कर लाई नहीं, है; परन्तु स्वयं अपने अन्दर की शक्ति पर्याप्त प्रमाण में है", वही यहां निवास कर सकता है और वही इसको घेर सकता है।

अर्थात् जिसके अन्दर अपनी निज शासन शक्ति नहीं है, वह न यहां रह सकता है और न वह इसको घेर सकता है।

यह अर्थ राज्य शासन का भाव स्पष्ट रीति से बताता है। इस मंत्रका यही रहस्यार्थ है।

"ईशा वास्यमिद सर्वम्" इस मंत्र का उत्तानार्थ यह है कि "ईश्वर वसता है इस सब में" पर इसीका रहस्यार्थ यह है कि—"जिसके अन्दर अपनी निज स्वयंभू शासन शक्ति है वही यहां रह सकता है और वही इस सब को घेर भी सकता है।" यह रहस्यार्थ शासन क्षेत्र में ढालने से इसीसे राज्यशासन विषय बोध प्राप्त होता ह।

राज्य प्राप्त होने से ही केवल वह बनाया हुआ निर्बल राजा उस राज्य का पालन और रक्षण कर सकता है, ऐसी बात नहीं है। यदि उसके अन्दर अपनी निज स्वयं भू शासन शक्ति रही, तो ही वह उस राज्य का संरक्षण कर सकता है और उस राज्य को अपने आधीन रख भी सकता है। यह नियम शाश्वत नियम है, यही सनातन सिद्धान्त ह, जो वेद के इस वचन ने बताया है। यही नियम सार्वभौमिक है, सर्वदेशिक तथा सावकालिक और त्रिकालाबाधित भी ह। यही वेद है।

ईश्वर के गुण शासक में ढालो

ईश्वर के सभी गुण इस रीति से राज्यशासन में ढाले जाते हैं। देखिए, ईश्वर का वर्णन इस तरह वेद में किया है --

शुक्रं शुद्धं अपापविद्धं। कवि : मनीषी परिभूः स्वयंभूः याथातथ्यतः
अर्थान् व्यदधात्। वा० य० ४० ; ईश

"वह परमेश्वर वीर्यवान्, शुद्ध, पाप से दूर, ज्ञानी, मन को स्वाधीन रखने वाला, सब को घेरने वाला, स्वयंभू है और सब कर्तव्यों को जैसा करना चाहिए वैसी यथा योग्य रीति से वह करता है।" यह परमेश्वर का वर्णन राज्यशासन में ढालने से राज्यशासन विषयक कितना उत्तम बोध मिल सकता है, वह देखिए :

१. शुक्रं--राज्यशासन वीर्यवान् होना चाहिए, निर्वीर्य राज्यशासन हुआ तो उस पर शत्रु आक्रमण करके उसको परास्त कर सकते हैं। इसलिए राज्यशासन वीर्यवान्, सामर्थ्यवान् बलवान्, होना चाहिए।

२. शुद्धं--राज्यशासन परिशुद्ध होना चाहिए, निर्दोष होना चाहिए। जहां दोष रहेंगे, वहां से शत्रु अन्दर घुसेंगे और उपद्रव देंगे।

३. अपापविद्धं--राज्यशासन पापसे बिंधा नहीं होना चाहिए। पापी लोग राज्यशासन में न घुसें। राज्यशासन पापी लोगों का अड्डा नहीं बनना चाहिए। राज्यशासन में पाप होने लगा तो तो पाप से पतन होगा, ऐसा समझना चाहिए। राज्यशासन में कोई भी विभाग पाप से बिंधा नहीं होना चाहिए।

४. कविः (क्रान्तदर्शी)--राज्यशासक दूरदर्शी होने चाहिए। अदूरदर्शी, संकुचित दृष्टि वाले शासक नहीं होने चाहिए। शत्रु क्या कर रहा है और भविष्य में वह क्या करेगा इसका उत्तम ज्ञान शासकों को होना चाहिए।

५. मनीषी--मन को स्वाधीन रखने वाले शासक होने चाहिएँ। इन्द्रियसंयम, मनोनिग्रह, आत्म-संयम करने वाले राज्यशासक होने चाहिएँ।

६. परिभूः--चारों ओर देखने वाले राज्यशासक होने चाहिएँ। अपने राज्य में तथा अपने राज्य के बाहर चारों ओर क्या हो रहा है, उसका यथार्थ ज्ञान राज्यशासकों को होना चाहिए।

७. स्वयंभूः--अपनी शक्ति से अपने स्थान पर रहने वाले राज्यशासक होने चाहिएँ। जिनके अन्दर निज शासन शक्ति है ऐसे शासक चाहिएँ।

८. याथातथ्यतः अर्थान् व्यदधात्--यथा योग्य रीतिसे जो कार्य जैसा करना चाहिएँ, वैसे ही वह कार्य करने वाले शासक होने चाहिएँ। कैसा भी कार्य करके छोड़ देनेवाले शासक नहीं होने चाहिएँ।

ईस रीति से परमेश्वर के गुण राज्यशासकों के अन्दर देखने चाहिएँ। राज्यशासकों के अन्दर जो ईश्वर के गुण न हों, वे उन राज्यशासकों के अन्दर ढालने चाहिएँ और राज्यशासक ईश्वरीय गुणों से गुणवान हों, एसा करना चाहिए। पृथ्वी पर का राज्यशासन ईश्वर के विश्वशासन के समान शुभ तथा निर्दोष करना चाहिए। और भी देखिए--:

तदेजति तन्नैजति, तद् दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य, तदु सर्वस्यास्य बाह्यत:॥

ये ईश्वर के गुण हैं। "वह ब्रह्म दूसरों को कँपाता है। परन्तु वह स्वयं नहीं कांपता। वह दूर भी है और पास भी है। वह इस सब विश्व के अन्दर है और बाहर भी है।" यही ब्रह्म के गुण राज्य-शासन में इस तरह देखे जाते हैं--

१. तत् (ब्रह्म) एजति (एजयति):--वह बड़ी राज्यशासने शक्ति दूसरों को--अर्थात् शत्रुओं को कंपायमान करती है। इसके डरसे शत्रु कांपने लगते हैं। इस राज्यशासन का सामर्थ्य इतना प्रचण्ड होता है कि इस के शत्रु इसके प्रचण्ड सामर्थ्य को देखकर कांपने लगते हैं। डरते रहते हैं। भयभीत होकर कांपते हैं।

२. तत् (ब्रह्म) न एजति:--परन्तु वह बड़ा सामर्थ्यवान् राज्यशासन अपने प्रचण्ड सामर्थ्य के कारण किसीसे डरता नहीं। इस से सब डरते हैं, पर यह किसी से भी डरता नहीं है।

३. तत् दूरे, तद्वत् अन्तिके:--वह राज्यशासन का सामर्थ्य राष्ट्र के दूर दूर के स्थानों पर भी वैसा ही प्रभावशाली रहता है, कि जैसा वह समीप, केन्द्रीय सरकार के समीप, प्रभावशाली होता है। केन्द्र सरकार के समीप तथा राज्य के दूर के स्थान पर समान रीति से जो राज्यशासन प्रभावशाली होगा, वही शत्रु से आक्रान्त नहीं होगा। परन्तु जो केन्द्र में तो प्रभावी होगा, परन्तु दूर के स्थानों में शिथिल होता जाएगा, उस पर शत्रु तत्काल आक्रमण करेगा और शत्रु उसका नाश भी करेगा। इसलिए राज्यशासन सर्वत्र समान रीति से प्रभावशील होना चाहिए, जैसा ईश्वर सर्वत्र समानतया उपस्थित रहता है।

४. तत् अस्य सर्वस्य अन्त:, तदु अस्य सर्वस्य बाह्यत:--वह राज्यशासन का प्रभाव का जैसा राष्ट्र के अन्दर है, वैसा ही वह बाहर भी है। अन्दर और बाहर समान रीति से राज्यशासन प्रभावशील होना चाहिए। यह इस का तात्पर्य है।

यहां पाठक देख सकते हैं कि जो ब्रह्म के गुण अथवा ईश्वर के गुण हैं, वेही वैसे के वैसे ही, राज्य-शासकों अन्दर ढाले हुए रहने चाहिए। यही बात अन्य मंत्रों के अन्दर भी देखनी योग्य है जैसा--

शत्रु को घेरना

तत् धावतो अन्यान् अत्येति।

"वह ब्रह्म दौड़ने वाले दूसरों के परे जाता है।" वह सर्वत्र पहिले से ही पहुंचा होता है। इसी तरह राज्यशासक भी (धावत: अन्यान्) दौड़नेवाले अन्य शत्रुओंको लाँघता है। राष्ट्र में शत्रु घुसे हैं और उपद्रव देकर भागने लगे हैं। उस समय राष्ट्रशासकों के रक्षकों की गति शत्रुसे अधिक होनी चाहिए। जिससे राष्ट्र के रक्षक, अधिक गति होनेसे शत्रु को पकड़ सकते हैं और अपनी प्रजाका अच्छी तरह संरक्षण कर सकते हैं। यहां 'अन्यान् अत्येति' ए पद बड़े महत्व के हैं। जो स्वकीय अथवा अपने नहीं हैं, वे अन्य शत्रु हैं। शत्रुओं का अतिक्रमण करन की शक्ति अपने रक्षकों के अन्दर होनी चाहिए, यह राज्य-शासन का सनातन नियम है।

चोर चोरी करके भाग रहा है और वह २० मील प्रति घण्टे के वेग से भाग रहा है। हमारे रक्षक उसका पीछा कर रहे हैं। यदि हमारे रक्षकों की गति ३० मील प्रति घण्टे में होगी, तो ही हमारे रक्षक उस चोर को पकड़ सकेंगे। यह नियम हर कोई जान सकता है। वही 'तत् धावतः अन्यान् अत्येति इस वेद वचन में कहा है। यह सदा उपयोगी नियम है।

यहां का 'अन्य' पद 'परकीय, दूसरे, शत्रु' इस अर्थ में है। अन्य राष्ट्रों की गति की अपेक्षा हमारे राष्ट्र की गति अधिक रहनी चाहिए। शत्रु से हमारा प्रभाव अधिक रहना चाहिए। यह नियम यहां कहा है, और यह सनातन नियम है और यह तीनों कालों में समग्नतया उपयोगी है। और भी देखिए—

राजा पिता है, प्रजा उसके पुत्र हैं

स नो बन्धुः जनिता स विधाता
धामानि वेद भुवनानि विश्वा ॥

'वह ईश्वर हमारा भाई है, वह हमारा पिता है, वह विधाता है और सब भुवनों और स्थानों को जानता है।' ये गुण राज्यशासक में अब देखिए :

राज्यशासक प्रजाजनों का भाई जैसा हित करन् वाला होना चाहिए, वह जनक के समान, पिता के समान, प्रजा को पुत्रवत् मान कर उनका पालन करने वाला होना चाहिए, वह विधाता होना चाहिए विधाता वह होता है कि जो नए सुख साधन निर्माण करता है। राज्यशासक भी प्रजा के हित के लिए नए नए सुखसाधन निर्माण करने वाला हो। नईं आयोजनाएं रचकर प्रजाका सुख बढ़ाए।

राज्यशासक अपने राज्य में जो जो स्थान और भुवन हैं, उनको यथावत् जानने वाला होना चाहिए जिसको अपने राष्ट्र में क्या है उसका पता नहीं है, वह उसका प्रतिपालन किस तरह कर सकता है। अपने राष्ट्र में ग्राम, नगर, वन, कीले, दुर्ग, तालाब, पहाड़ आदि कहां कसे हैं, तथा कौन प्रजाजन कहां रहती, और वे कैसे हैं, यह सब शासकों को मालूम रहना चाहिए, तभी वे राष्ट्ररक्षण कर सकते हैं।

मन्त्र का रहस्यार्थ देखने से इस तरह वेद के मन्त्रों से राज्य शासन की बातें सहज ही से विदित हो सकती है। और भी देखिए।

उत्तम मार्ग से धन प्राप्ति

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्
विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो
भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम ॥ वा० य० ४०

"हे तेजस्वी प्रभो! हमें उत्तम मार्ग से धन के समीप ले चलो, क्यों कि तुम सब प्रकार के कामों को जानते हैं। हमारे अन्दर के कुटिल पाप के साथ हमसे युद्ध कराओ (और उसको दूर कराओ), हम तुम्हें प्रणाम करते हैं।" इससे प्राप्त होने वाला राजकारण का बोध अब देखिए —

१. सुपथा राये नय—राज्यशासक अपनी प्रजा उत्तम परिशुद्ध मार्ग से धन प्राप्ति करते रहें ऐसा शासन प्रबंध करे। राज्यशासक इस तरह का राज्यशासन करें कि जिसमें रहने वाली प्रजा उत्तम

निर्दोष व्यवहार से ऐश्वर्य प्राप्त करने में समर्थ हो। राज्यशासन में शिक्षा का प्रबंध ऐसा होना चाहिए कि जिससे वहां की प्रजा सन्मार्ग के सद्व्यवहार से अपना ऐश्वर्य बढ़ाने में समर्थ हो जाए। कभी असद्व्यवहार तथा काला बाजार करके धन कमाने की दुष्ट इच्छा उनमें उत्पन्न ही न हो। शिक्षा मन्त्री का यह कार्य राष्ट्र के शासन में है।

उद्योगमंत्री का भी सम्बन्ध यहां है

२. "विश्वानि वयुनानि विद्वान्––राज्यशासक प्रजा की उन्नति के सब कार्यों को यथावत् जानने वाले होने चाहिएँ। इससे वे जान सकेंगे कि क्या करने से प्रजा के ऐश्वर्य की उन्नति सरल मार्ग से हो सकेगी और कैसा व्यवहार करने से प्रजा की उन्नति होने में विघ्न उत्पन्न हो सकेंगे। प्रजा की उन्नति के (विश्वानि वयुनानि विद्वान्) सब कर्मों को किस रीति से करना चाहिए, नई नई योजनाएँ कैसी खड़ी करनी चाहिएँ यह सब राज्य के शासक जाने। जो यह ज्ञान अपने अन्दर धारण करते हैं वे ही नाना प्रकार की आयोजनाएं राष्ट्र में करके प्रजा का सुख बढ़ा सकते हैं और प्रजा की उन्नति कर सकते हैं।

३. जुहुराणं एनः युयोधि––कुटिल पापके साथ युद्ध कराओ और उस पाप को दूर करो। अपने राष्ट्र में जो कुटिल कर्म करने वाले होंगे, और जो पापी होंगे, उनको दूर करना चाहिए। इससे प्रजा का सुख बढ़ सकता है और दैन्य दूर हो सकता है।

ये राज्य शासकों के कर्तव्य इस मन्त्र में कहे हैं। ईश्वर के गुण किस तरह राज्यशासन को निर्दोष बना सकते हैं, इसका पता इस तरह मन्त्रों का मनन करने से लग सकता है। और भी देखिए––

श्रेष्ठ का चुनाव

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परिता बभूव।

"हे प्रजा का पालन करने वाले राजन्। तुझ से भिन्न दूसरा कोई इन सब वस्तुजात को घेर ले ऐसा यहां नहीं है।" प्रजापति को प्रजापति के स्थान के लिए नियुक्त करने के समय यह नियम ध्यान में धारण करना चाहिए जो सब को अच्छी तरह घेर सकता है, वही प्रजापति हो सकता है। प्रजा का पालन करना प्रजापति का कार्य है। प्रजापति अनेक होते हैं। ग्रामाधिपति ग्रामीण प्रजाका पालन करता है; प्रान्ताधिपति, राज्याधिपति, महाराज्य का प्रतिपालक आदि अनेक प्रजापति राष्ट्र में होते हैं।

ग्रामीण प्रजापति का कर्तव्य छोटा और राष्ट्रीय प्रजापति का कर्तव्य का महान् होता है। इसलिए जिस स्थान का कार्य करने के लिए नियुक्ति करनी होगी, उस स्थान के संपूर्ण कार्य को घेर ले ऐसा वहां नियुक्त होना चाहिए। यही एक नियम सनातन है, शाश्वत है, अटल ह।

राष्ट्र में मन्त्री पद के लिए किसी योग्य को चुनना है,तो उस समय उस मन्त्री पद के सब कर्तव्यों को जो उत्तम रीति से घेर सकता है, उसीको चुनना चाहिए यदि कई कर्म जिससे नहीं हो सकते, ऐसा चुना जाए, तो वह कार्य उनसे नहीं हो सकेगा और सदोष मन्त्री की नियुक्त होने से राज्यशासन ठीक नहीं हो सकता। इससे राष्ट्र का घात होगा।

यही बात एक साधारण चपरासी की नियुक्ति करने के लिए भी लागू है। चपरासी के कार्य को उत्तम रीति से घेर ले एसा ही मनुष्य चपरासी के स्थान के लिए नियुक्त करना चाहिए। इसका नियम यह है ––

त्वत् अन्यः, एतानि विश्वा जातानि परि बभूव एवंविधः नास्ति।

"तुझसे भिन्न इन सब कार्यों को घेर ले ऐसा यहां कोई नहीं है इसलिए तुझे हमने इस कार्य के लिए स्वीकार किया है।" यह नियम सार्वदेशिक है, सनातन है और त्रिकालाबाधित है।

जहां इस नियम का उल्लंघन होगा, वहां दुःख बढ़ सकता है। समझ लीजिए कि जहां मन्त्री की अथवा किसी अन्य कार्यकर्ता की नियुक्ति उसके गुणों को देखकर नहीं होती, परतु बसीले सें, रिश्वत से अथवा किसी अन्य क्षुद्र हेतु से होती है, वहां का कार्य ठीक तरह नहीं हो सकता और वहां राष्ट्र का दुःख बढ़ सकता है। इस दृष्टि से विचार करने पर स्पष्ट पता लग सकता है कि, वेदमन्त्र का यह उपदेश राज-व्यवहार में बड़ा भारी लाभकारी हो सकता है।

देवों का अनुकरण

यद्देवा अकुर्वंस्तत्करवाणि।

श–ब्रा.

'जिस तरह देवताओंने आचरण किया वैसा आचरण में करूंगा।' यह शतपथ ब्राह्मण में कहा है। वेद मन्त्रों में देवताओं ने क्या किया वह दिया है। अग्नि इन्द्र आदि देवताओं ने क्या किया वह वेद मन्त्रों में हर कोई देख सकता है। वह देख कर वह देवताओं का आदर्श मनुष्य अपने जीवन में ढालने का प्रयत्न करे। उदाहरण के लिए अग्नि का आदर्श देखिए और वैसा व्यवहार राज्य में कीजिए:—

अग्रणी कैसा हो

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्।
होतारं रत्नधातमम्॥

ऋ० १।१।१

'पुरोहित, यज्ञ के देव, ऋत्विज, होता, रत्नों का धारण कराने वाले अग्नि के मैं गुण वर्णन करता हूँ। यह तो उत्तानार्थ इस मन्त्रका हुआ। अब इसका रहस्यार्थ देखिए —

"(पुरः हितं) पहले से हित करनेवाले, तथा पूर्ण रूपसे हित करनेवाले अथवा समीप स्थित, (यज्ञस्य देवं) यज्ञ के प्रकाशक, यज्ञ के प्रवर्तक, ऋत्विज–ऋतु-यजं) ऋतु के अनसार यज्ञ करनेवाले, (होतारं) दिव्य विबुधों को अपने पास बुलानेवाले, और (रत्न -धातमं) रत्नों का धारण करानेवाले (अग्नि) तेजस्वी अग्रणी के गुणों का मैं (ईडे) वर्णन करता हूँ।"

पहले अर्थ से यह अर्थ अधिक बोध दे रहा है। पर इससे भी अधिक गहराई में उतरने से और अधिक गूढ अर्थका पता लग सकता है। प्रथम अग्नि का ही अर्थ देखिए —

'अग्निः कस्मात्, अग्रणीर्भवति' (निरुक्त)। अग्नि यह अग्रणी ही है। देखिए। अंधेरे स्थान में अग्नि जलाया जाए, तो उस स्थान में ऊँचा नीचा स्थान कैसा ह इसका पता लग सकता है और आगे चलने का मार्ग दिखता है। अर्थात् अग्नि आगे बढ़ने का मार्ग बताता ह। इस कारण वह 'अग्र-णी' है।

अग्र भाग में अनुयायियों को ले जाता है। 'अग्रणी' में से रकार हट गया और 'अग्नि' पद बना है। वास्तव में यह अग्रणी है। अग्नि अपने अनुयायियों को आगे जाने का मार्ग बताता है। अग्र भाग में जाने के सुगम तथा सरल मार्ग दर्शाता है।

'अग्निमीडे' में उस अग्रणी के गुण गाता हूं' कि जो अनुयायिओं को आगे बढ़ने का मार्ग बताता है। अर्थात् जो अग्रणी ठीक योग्य मार्ग नहीं बताता, परन्तु उनको बुरे मार्ग से ले जाकर उनका अधःपात करता है, वह अग्रणी प्रशसा करने योग्य नहीं है।

'पुरोहितं अग्नि ईडे' पहले से हित करनेवाले, पूर्ण हित करनेवाले तथा समीप स्थापन में रहने वाले अग्रणी के गुण में गाता हूं। पर जो अपने अनुयायिओं का पहले से हित नहीं करता अथवा पूर्णतया हित नहीं कर सकता अथवा जो समीप अर्थात् अनुयायिओं में नहीं रहता वैसे नेता के गुण में नहीं वर्णन करूंगा।

देखिए ये अर्थ राज्यव्यवहार का भाव बताते हैं। राज्यव्यवहार में सच्चे नेताका महत्व बड़ा भारी है। उसीका वर्णन इस मंत्र में हो रहा है।

यह नेता (यज्ञस्य देवं) यज्ञ का प्रकाशक है, यज्ञ का प्रवर्तक है। यज्ञ क्या है? 'यजू देवपूजा-संगतिकरण-दानेषु'। यज्ञ के तीन अर्थ हैं (१) दिव्यजनों का 'सत्कार', (२) संगति करण अर्थात् जनता का संगतिकरण या 'संगठन करना' और (३) दान अर्थात् जनता में जो न्यूनता होती है, उसको दूर करने के लिए अपनी शक्ति का प्रदान करना।

चार प्रकार की न्यूनताएँ

जनता में चार प्रकार की न्यूनताएँ होती हैं (१) ज्ञान न होने से होने वाली न्यूनता, (२) बल न होने से होने वाली न्यूनता, (३) धन न होने से न्यूनता और (४) कर्मशक्ति न होने से न्यूनता। यह चार प्रकार की न्यूनता राष्ट्र में होती है। यह न्यूनता दूर करना और उस स्थान में उन गुणों की विपुलता की स्थापना करना, यह दान से होता है। इस दृष्टि से यह दानरूपी एक राष्ट्र के उद्धार का सरल मार्ग है।

ज्ञान का दान करके लोगों को ज्ञानी बना देने के लिए, निर्बलों को बलवान् बनाने के लिए, निर्धनों को धनवान् बनाने के लिए तथा कर्म हीनों की कर्म शक्ति बढ़ाने के लिए दान देना चाहिए। और ये चारों प्रकार की न्यूनताएँ राष्ट्र में से दूर करनी चाहिएँ। यही यज्ञ है। विचार करने से पता लग सकता है कि, यह एक राष्ट्रीय अभ्युत्थान का उत्तम और पूर्ण मार्ग है। यह यज्ञ राष्ट्र का हित साधन करने का उत्तम उपाय है। 'यज्ञस्य देवः' इस तरह के राष्ट्र हित करने वाले उपाय का जो साधन करता है वह अग्रणी यहां प्रशंसित हुआ है। प्रजा को अग्रणी राष्ट्र में ज्ञान, बल, धन तथा कर्म शक्ति बढ़ाने का उपाय करे और ये न्यूनताएँ दूर करे।

यह कार्य राष्ट्रहित का नहीं ऐसा कोई कह नहीं सकता। संपूर्ण राष्ट्रका अभ्युदय इससे सिद्ध होता है। इसलिए इस मंत्र में कहा है कि मैं उस नेता के गुण गाता हूं कि जो राष्ट्र की ये चारों न्यूनताएँ दूर करने का यत्न करता है। पाठक यहां देखें कि यह कितना महान् कार्य है और यह कैसा राष्ट्रहित का साधक है।

ऋतु के अनुसार कार्य करो

(ऋतु—ऋतु यजं ऋतु के अनुसार कार्य करने वाला। वसंत, ग्रीष्म, वर्षा, शरत् हेमन्त और शिशिर ये छः ऋतु वर्ष में होते हैं। जिस ऋतु में जैसा आचरण करना चाहिए वैसा आचरण उस ऋतु में यह नेता करे और अपने अनुयायियों को करने का आदेश दे। मनुष्य के जीवन में बाल्य, कौमार्य, तारुण्य, प्रौढत्व, वार्धक्य, जरा ये छः ऋतु होते हैं। इनमें जैसा आचरण करना चाहिए वैसा आचरण करना योग्य है। ऋतुओं के अनुसार ही आचरण करने से मनुष्य की उन्नति हो सकती है। ऋतु के प्रतिकूल आचरण करने से मनुष्य का अधःपात होता है। इस कारण ऋतु के योग्य आचरण मनुष्य करे और अपनी उन्नति होती रहे ऐसा ही व्यवहार करे। राष्ट्र की उन्नति के लिए ऋतु के अनुसार आचरण करना अत्यंत आवश्यक है। लोग ऐसा नहीं करेंगे, तो ऋतु के विरुद्ध आचरण होने से रोग बढ़ते जाएँगे और राष्ट्र पर बड़ी भारी आपत्ति आजाएगी। इस दृष्टि से स्पष्ट होता है कि यह 'ऋत्विज' पद राज्यशासन के आरोग्य मंत्री के कार्य का बोध कराता है। आरोग्य मन्त्री ऐसा प्रबंध करके जनता को नीरोग रखने का यत्न करें 'होतारं' पद आगे है, अपने साथ विबुधों को बुलाकर लाता है। ज्ञानी विबुध लोगों के साथ रहना योग्य है। दुष्टों की संगति में रहने से मनुष्य दुष्ट बनता है और दिव्य विबुधों के साथ रहने वाला दिव्य होता है। मनुष्य सज्जनों के साथ रहें और सज्जन बनें, यह उपदेश इस पद के द्वारा मिलता है।

अनुयायों पर रत्नों का धारण

'रत्न-धा-तमं'—अपने अनुयायियों के शरीरों पर रत्नों का धारण करानेवाला अग्रणी हो। यह धन निर्माण करता है और उससे अपने अनुयायियों के शरीरों पर रत्न रहे ऐसा प्रबंध कराता है। अग्रणी को अपने अनुयायियों की उन्नति करनी चाहिए। ऐसा जो करता है वही उत्तम श्रेष्ठ नेता है।

ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र से यह बोध मिला। यह बोध राष्ट्रीय उन्नति का साधन है, इसमें संदेह नहीं है। वेद के शब्द लेकर उसके अन्दर उनका आन्तरिक भाव देखना चाहिए और वह भाव व्यक्ति में और राष्ट्र में ढालकर उन्नति के मार्ग का मनुष्य आक्रमण करता रहे। इस तरह देखने से ईश्वर के वर्णन, राज्यशासन तथा राष्ट्र के उत्थान का मार्ग बता सकते हैं, यह बात ध्यान मे आ सकती है।

यहां तक अनेक मन्त्र बताकर हमने यह बताया है कि वेदमन्त्रों में जो नाना देवताओं का वर्णन है, वह जगत् के महान् शासन कर्ताओं का वर्णन है, इसीलिए वह वर्णन राज्यशासन का ही वर्णन है। अतः वह हमारे राष्ट्र शासकों के लिए आदर्श शासक का ही वर्णन है।

इस वर्णन में जो वर्णन केवल खास परमेश्वर का ही वर्णन है यह कदाचित् राज्यशासन में नहीं ढाला जा सकता। परंतु शेष सब का सब वर्णन राज्यशासन में ढाला जा सकता है। परमेश्वर का राज्य-शासन विश्वव्यापक है और हमारे राष्ट्र शासकों का शासन पृथ्वी पर के छोटे भूभाग का शासन होने से वह छोटा है। परन्तु एक ग्राम का शासन हो, एक राष्ट्र का शासन हो अथवा संपूर्ण पृथ्वी पर का राज्य-शासन हो, शासन की दृष्टि से सब राज्यशासन एक ही है। चिनगारी और दावानल में दाहकता होती ही है वैसा ही यह है।

इस तरह ईश्वर का जहां जहां वर्णन है यह सब वर्णन राज्यशासन में ढाला जा सकता है, यह बात यहां सिद्ध हुई है। अब हमें वे मन्त्र यहां देखना चाहते हैं कि जिनम अत्यंत स्पष्ट रीति से राज्यशासन विषयक उपदेश दिखता है।

बहुपाय्य स्वराज्य

आ यद् वां ईयचक्षा मित्र वयं च सूरयः।
व्यचिष्टे बहुपाय्ये यतेमहि स्वराज्ये।। ऋ० ५।६६

"हे (ईय-चक्षसौ) व्यापक दृष्टि वालो हे (मित्र) मित्र रूप व्यवहार करने वालो, तुम दोनों और (वयं च सूरयः) हम सब विद्वान् ऐसे तीनों मिलकर (व्यचिष्टे बहुपाय्ये स्वराज्ये) विस्तृत बहुतों द्वारा जिस का पालन किया जाता है ऐसे स्वराज्य में जनता का हित करने के उद्देश से (आ यतेमहि) प्रयत्न करते रहें।"

यहां "बहुपाय्य स्वराज्य" का वर्णन स्पष्ट है। अर्थात् एक की इच्छा से यहां का राज्यशासन नहीं होगा, परंतु बहुत विद्वान् एकत्र मिलेंगे और बहुसंमति से यह स्वराज्य का राज्यशासन होगा।

यहां 'स्वराज्य' शब्द स्पष्ट है। उसका विशेषण बहु-पाय्य' भी यहां है। अर्थात् यह राज्य शासन बहुतों की संमति से होने वाला है। एक राजा जो मर्जी आए करे, ऐसा यहां नहीं हो सकता। अब ये बहुसंमति देने वाले कौन है, इसका उत्तर मंत्र में तीन पदों द्वारा दिया है।

(१) ईय-चक्षा—व्यापक दृष्टि वाले अर्थात् जिनमें संकुचित दृष्टि नहीं है, (२) मित्र—जो प्रजा के साथ मित्रवत् व्यवहार करने वाले हैं, अर्थात् नाना प्रकारके उपद्रव करने वाले जो नहीं है, तथा (३) सूरयः—बड़े विद्वान्। ये तीन प्रकार के प्रजा के प्रतिनिधि अपनी बहुसंमतिसे यहां का राज्यशासन करें। यह 'बहुपाय्य स्वराज्य शासन' निःसंदेह जनतंत्र शासन है। इसी विषय में एक और मंत्र देखिए—

स विशो अनुव्यचलत्। तं सभा च
समितिश्च सेना च सुरा चानुव्यचलन्।। अथर्व०

"वह राजा, वह शासक प्रजा के अनुकूल राज्य शासन करने लगा, इसलिए उसके अनुकूल सभा, समिति, सेना और धनकोश हुए।"

जो राजा प्रजा का हित करता है उसको ग्राम सभा, राष्ट्र समिति, राष्ट्र की सेना और राष्ट्र का धनकोश अनकूल होता है। यहां स्पष्ट शब्दों में कहा है कि ग्रामसभाएँ, राष्ट्र की शासक समिति, राष्ट्र का सैन्य और धनकोश उसको अनुकूल होते हैं कि जो राष्ट्र हित का साधन करने के लिये अपना राज्य शासन चलता है। यहां जलतन्त्र राज्य शासन की अत्यंत श्रेष्ठ अवस्था बताई है।

राजा की शक्ति ग्राम सभा, राष्ट्र समिति, सेना और धनकोश पर निर्भर रहती है। यदि इन चारों की शक्ति राजा को न मिली, तो राजा राजगद्दी पर टिक भी नहीं सकता। वेद कहता है कि ये चारों शक्तियाँ राजा को तब प्राप्त होती हैं कि जब राजा प्रजा के हित के लिये ही अपना राज्यशासन चलाता है। यह श्रेष्ठ जनतंत्र शासन है जो वेद मंत्रों में अति स्पष्ट वाक्यों से बताया है।

इस तरह वेद में राज्यशासन के निर्देश अनेक हैं। जो आज भी विद्वानों को विचार करने के योग्य हैं।

श्री विनायकराव दीर्घायु हों

श्री विनायक राव कोरटकर के षष्टयब्दि के महोत्सव के ग्रंथ के लिए यह लेख है। श्री विनायकराव के पिता श्री केशवराव कोरटकर पक्के आर्यसमाजी और पूर्ण वेदनिष्ठ थे। आपने श्री विनायकराव को हरिद्वार कांगड़ी गुरुकुल का स्नातक बनाकर विलायत भेज कर बैरिस्टर बनाया और ये आज हैदराबाद सरकार के एक मन्त्री का स्थान अलंकृत करके उत्तम शासन कार्य कर रहे हैं। आपने हैदराबाद रियासत में आर्यसमाज की उन्नति के लिये अपने पिताश्री के समान अत्यंत उत्तम कार्य किया है। यह सब करने पर भी, तथा पूर्ण धर्मनिष्ठ होने पर भी आप बड़े उदार तथा सब प्रजा के साथ मित्रवत् व्यवहार करते हैं। मैं कांगड़ी गुरुकुल में शिक्षक था उस समय आप वहां ब्रह्मचारी थे। इस लिए मेरा और इनका नाता 'गुरुशिष्य' का है। मैं यही चाहता हूं कि ये अपने जीवन में उत्तम यश प्राप्त करें और अभ्युदय निश्रेयस की सिद्धि हस्तगत करें तथा पूर्ण आयु को प्राप्त करके आनन्द में रहें।

दामोदर. सातवलेकर
गीतालंकार, वेदाचार्य, साहित्य वाचस्पति,
स्वाध्याय मण्डल, आनन्दाश्रम, पारडी (जि.सूरत)

नियम

वेद और गौ-पालन

वैदिक गृहस्थ के जीवन में गौ का बहुत अधिक महत्वपूर्ण स्थान है। गौ उसकी एक बहुत प्यारी सम्पत्ति है। उसे जब कभी अपने भगवान् से ऐश्वर्य की प्रार्थना करनी होती है तो उस ऐश्वर्य में और वस्तुओं के साथ प्राय: गौ भी अवश्य सम्मिलित रहती है। पचासों स्थानों पर वेद में प्रभुभक्त याचक द्वारा अपने भगवान् से गृहस्थ के अभीष्ट ऐश्वर्य में गौओं की अभ्यर्थना की गई है। वह एक नहीं, अनेक गौ अपने पास रखना चाहता है। उदाहरण के लिए अथर्व०२।२६ में वह कहता है :–

इमं गोष्ठं पशवः संस्रवन्तु ॥ अ० २।२६।२॥
सं सिञ्चामि गवां क्षीरं समाज्येन बलं रसम्।
सं सिक्ता अस्माकं वीरा ध्रुवा गावो मयि गोपतौ ॥ अ०२।२६।४॥

आहरामि गवां क्षीरमाहार्षं धान्यं रसम्।
आहृता अस्माकं वीरा आ पत्नीरिदमस्मकम् ॥अ०२।२६।५ ॥

प्रथम मन्त्रखण्ड का अर्थ है --" मेरे इस गौओं के ठहरने के घर में (गोष्ठं) पशु बहकर आएँ"। अगले दोनों मन्त्रों का अर्थ देने से पहले इस वाक्य के सम्बन्ध में दो पंक्तियाँ और लिख देना आवश्यक है। सूत्र के प्रथम मन्त्र में जो पशु दिन के समय बाहर जंगल या खेतों में चरने चले गये थे उन्हें वापस बुलाया जा रहा है। वे सुखपूर्वक वापिस मेरे घर में आ जाएँ यह प्रार्थना की जा रही है। प्रस्तुत मन्त्रखण्ड उसी प्रसंग में दूसरे मन्त्र का प्रथम चरण है। इसमें पशुओं के लौट कर आने के लिये "संस्रवन्तु" क्रिया का प्रयोग किया गया है। इस का शब्दार्थ है "बहकर आएँ"। यह क्रिया उन वस्तुओं के चलने में प्रयुक्त होती है जो चलते हुए ऐसा प्रतीत हो कि मानो धारा में चल रहे हैं। जैसे सेनाओं का चलना, नदियों आदि के पानी का बहना इत्यादि। यहां इस क्रिया के प्रयोग से यह अवगत होता है कि वापस लौट कर आ रहे पशु एक दो या दस-पांच नहीं हैं, प्रत्युत् वे इतने अधिक हैं कि चलते हुए उनका एक प्रवाह सा आता हुआ प्रतीत होता है। लौटकर उनके घर में ठहरने के स्थान को गोष्ठ कहा गया है। गोष्ठ का शब्दार्थ वह घर या स्थान है जहां गौवें ठहरें। इस शब्द के प्रयोग से यह व्यञ्जित होता है कि इन पशुओं में गौओं की प्रधानता है। गोष्ठ शब्द के प्रयोग से ही यह बात व्यक्त नहीं होती। ऊपर उद्धृत किए दो मन्त्रों से यह बात आप ही सुव्यक्त है। इन मन्त्रों का अर्थ इस प्रकार है :--

"मैं गौवों के दूध को अपने शरीर में सिंचन करता हूं, उनके घी से मैं अपने शरीर में बल और रस (वीर्यादि) सिंचन करता हूं, उन के दूध और घी से हमारे घर के सारे ही वीर (पुरुष) सिंचन होते हैं। मुझ गोपति में गौवें स्थिर होकर रहें"

"मैं अपने इस घर में (अस्मकम्) गौओं का दूध लाता हूं (आहरामि), धान्य और रस लाता हूँ, यहां वीर (पुरुष) आये हुए हैं और उनकी पत्नियां आई हुई हैं।"

इन मन्त्रों में दूध-घी खाने के लिये 'सिञ्च' क्रिया का प्रयोग हुआ है। इसका अर्थ सींचना होता है। खतों और उद्यानों आदि को प्रभूत जल प्रदान से आप्लुत करने को सींचना कहते हैं। वैदिक गृहस्थ दूध घी खाता नहीं, वह अपने आपको उससे सींचता है। वह छटाँक दो छटाँक या पाव दो पाव दूध-घी से तृप्त नहीं होता, उसे उसके कटोरे के कटोरे और घड़े के घड़े चाहिये। तभी तो हमारा घर "वीरों" और वीर-पत्नियों से भर सकता है। जिस घर के लोगों को अपने आपको दूध-घी से सींचना हो तो उन्हें एक दो गौवों से कहां सन्तुष्टि हो सकती है, उन्हें तो घर में बह कर आती हुई गौवों की धारा की आवश्यकता है।

इसीलिये जब गौ-प्रिय वदिक गृहस्थ अथर्व० ३।१२ में अपने रहने के लिये एक सुन्दर शाला (घर) का निर्माण करता है तो वह उसको और ऐश्वर्य से भरने के साथ "गोमती...घृतवती पयस्वती" (अ०३।१२।२) और "घृतमुक्षमाणा" भी बनाता है। उस में गौवें रखकर घी और दूध से भरना चाहता है; इतना भरना चाहता है कि वह हमारे लिये घी सिञ्चन करने वाली (उक्षमाणा) बन सके। वह अपनी शाला के सम्बन्ध में इच्छा रखता है कि उसमें--

आ वत्सो गमेद् आ धेनवः सायमास्पन्दमानाः। अथ० ३।१२।३॥
एमां परिस्नुतः कुम्भ आ दध्नः कलशैरगुः। अथर्व० ३।१२।७॥

सायंकाल को बाहर से चर कर बछड़े और उछलती हुई गौएँ आया करें। "दही से लबालब भरे (परिस्त्रुत) कुम्भ और कलश रहा करें। वह अपनी पत्नी को प्रतिदिन कहना चाहता है कि—

> पूर्णं नारि प्रभर कुम्भमेतं घृतस्य धाराममृतेन संभृताम्।
> इमां पातॄनमृतेना समङ्ग्धीष्टापूर्तमभि रक्षात्येनाम्॥ अथर्व० ३।१२।८॥

"हे नारि, इस कुम्भ को अमृत से भरी हुई घी की धारा से पूरा भर ले और फिर इस अमृत से इन पीने वालों को खूब चिकने, सुन्दर और कान्तिमान् शरीर वाला बना (सम्-अङ्ग्धि) हमारे द्वारा किये हुए इष्ट और आपूर्त के शुभ कर्म पर घर की रक्षा करते रहें।"

अथर्व वेद के दो सूक्तों के इन उद्धरणों से पाठकों को यह स्पष्ट हो गया होगा कि अपने घी-दूध से उस के शरीर को सींच कर चिकना, सुन्दर, बलिष्ठ और कान्तिमान् बनाने वाली गौ और तज्जन्य पदार्थों से वैदिक गृहस्थ को कितना प्रेम है और वह उन्हें कितनी भारी मात्रा में अपने पास रखना चाहता है। यहां और भी कितने ही उद्धरण इस भाव को स्पष्ट करने के लिए दिए जा सकते थे। हम विस्तार भय से ऐसा नहीं करना चाहते और इस की कोई आवश्यकता भी नहीं है। वेद का प्रत्येक पारायण करने वाला जानता है कि वैदिक आर्य गृहस्थ के लिए गौ-धन की कितनी क़ीमत है और वह इस धन को पाने के लिए कितना उत्सुक रहता है और भगवान् से इसके लिए कितनी प्रार्थनाएँ करता है। साधारण दृष्टि से भी वेद की एक बार आवृत्ति कर लेने से यह बात विदित हो सकती है। न केवल वेद का प्रत्येक गृहस्थ ही अपने लिए वैयक्तिक रूप में भगवान् से गो-धन की याचना करता है प्रत्युत कई स्थलों पर सारे राष्ट्र के लोगों के लिए भी गो-धन की याचना की गई है। उदाहरण के लिए यजुर्वेद का निम्न मन्त्र देखिए—

> आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामा राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽति-
> व्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढाऽनड्वानाशुः सप्तिः
> पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां
> निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां
> योगक्षेमो नः कल्पताम्॥ यजुः २२।२२॥

जिस अध्याय का यह मन्त्र है उसका शतपथ में अश्वमेध में विनियोग किया गया है। अध्वर्यु इस मन्त्र द्वारा अश्वमेध करने वाले सम्राट् के राष्ट्र में अभ्युदय की प्रार्थना भगवान् से कर रहा है। वह कहता है—"हे भगवान् (ब्रह्मन्) इसके राष्ट्र में ब्रह्मतेज वाले ब्राह्मण उत्पन्न हों, शस्त्र चलाने में निपुण, दूर का निशाना बींधने वाले, महारथी, शूर, क्षत्रिय उत्पन्न हों, दूध देने वाली गौएँ उत्पन्न हों, भार उठाने में समर्थ बैल हों, शीघ्रगामी घोड़े हों, नगरों की रक्षा करने वाली (पुरंधिः) स्त्रियाँ हों, इस यजमान (सम्राट्) के पुत्र (वीरः) विजयी, रथारोही, सभाओं में जाने योग्य और युवा हों, जब जब हम चाहें तब तक बादल बरसा करें, अनाज (ओषधयः) फल वाले होकर पका करें, हमें अलब्ध ऐश्वर्य की प्राप्ति और प्राप्त की रक्षा (योगक्षेमः) प्राप्त हो।" मन्त्र में उत्पन्न होने के लिए "आ जायताम्" क्रिया का प्रयोग हुआ है। इस में "आ" उपसर्ग की व्यंजना देखने योग्य है। "आ" का अर्थ होता है "समन्तात्"—"चारों ओर"। इसलिए "आ जायताम्" क्रिया का भाव यह हुआ कि मन्त्र में वर्णित ब्राह्मणादि एक

दो नहीं, प्रत्युत राष्ट्र में चारों ओर—कोने कोने में —उनका प्रादुर्भाव हो। पाठक स्पष्ट देख रहे हैं कि राष्ट्र के इस ऐश्वर्य की प्रार्थना में "दूध देने वाली गौओं" को भी साथ रखा गया है।

जिन गौओं का राष्ट्र के व्यक्तियों को वीर और बलिष्ठ बनाने में इतना महत्वपूर्ण स्थान है और इसी लिए जो राष्ट्र के ऐश्वर्य का एक अत्यन्त आवश्यक अंग हैं, उन गौओं का राष्ट्र के घरों में उचित भरण पोषण हो रहा है कि नहीं इसका सदा निरीक्षण रखना वेद में राज्य का भारी कर्तव्य बताया गया है। राजा के इस कर्तव्य का अनेक स्थानों पर निर्देश मिलता है। उदाहरण के लिए ऋग्वेद ६।२८ का निम्न सूक्त देखिए। इस में गोपालन से सम्बन्ध में कई सुन्दर शिक्षाओं का वर्णन करते हुए इस सम्बन्ध में राजधर्म का भी इशारे से निर्देश कर दिया है। सूक्त इस प्रकार है :—

आ गावो अग्मन्नुत भद्रमक्रन्त्सीदन्तु गोष्ठे रणयन्त्वस्मे।
प्रजावती: पुरुरूपा इह स्युरिन्द्राय पूर्वीरुषसो दुहानाः ॥ १ ॥

इन्द्रो यज्वने पृणते च शिक्षत्युपेद्ददाति न स्वयं मुषायति।
भूयो भूयो रयिमिदस्य वर्धयन्नभिन्ने खिल्ये नि दधाति देवयुम् ॥ २ ॥

न ता नशन्ति न दभाति तस्करो नासामाममित्रो व्यथिरा दर्धषति।
देवांश्च याभिर्यजते ददाति च ज्यौगित्ताभि: सचते गोपतिः सह ॥ ३ ॥

न ता अर्वा रेणुककाटो अश्नुते न संस्कृतत्रमुप यन्ति ता अभि।
उरुगायमभयं तस्य ता अनु गावो मर्तस्य विचरन्ति यज्वनः ॥ ४ ॥

गावोः भगो इन्द्रो में अच्छान् गावः सोमस्य प्रथमस्य भक्ष:।
इमा या गावः स जनास इन्द्र इच्छामीद्धृदामानसा चिदिन्द्रम् ॥ ५ ॥

यूयं गावो मेदयथा कृशं चिदश्रीरं चित्कणुथा सुप्रतीकम्।
भद्रं गृहं कृणुथ भद्रवाचो बृहद्वो वय उच्यते सभासु ॥ ६ ॥

प्रजावतीः सूर्यवसं रिशन्तीः शुद्ध अप : सुप्रपाणे पिबन्तीः।
मा वः स्तेन ईशत माघशंसः परि वो हेती रुद्रस्य वृज्या: ॥ ७ ॥

उपेदमुपपर्चनमासु गोषूप पृच्यताम्।
उपऋषभस्य रेतस्युपेन्द्र तव वीय ॥ ८ ॥

सूक्त के मन्त्रों का अर्थ क्रम से इस प्रकार है—

(गावः) गौए (आ अग्मन्) आवें (गोष्ठें) हमारे गोष्ठ अर्थात् गौवों के रहने के स्थान में (सीदन्तु) बैठें अर्थात् रहें (उत) और (भद्रं) हमारे लिए मंगल (अक्रन्) करें (अस्मे) हम में रहती हुई (रणयन्तु) रमण करें अर्थात् आनन्दपूर्वक रहें (इह) यहां हमारे घर में ये गौवें (प्रजावतीः) संतानों वाली होकर (पुरुरूपाः) बहुत रूपों वाली अर्थात् अनेक प्रकार की (स्युः) होती रहें और इस प्रकार (इन्द्राय) सम्राट् के लिए (पूर्वीः) बहुत (उषसः) उषःकालों अर्थात् दिनों तक (दुहानाः) दूध देने वाली बनी रहें ॥१॥

इस मन्त्र में निम्न उपदेश मिलते हैं :—

(१) हरेक गृहस्थ के घर में गोष्ठ अर्थात् गौओं के रहने का स्थान भी अवश्य रहना चाहिए। कोई घर गौओं के बिना न रहे। गौपालकर सबको अपना भद्र करना चाहिए।

(२) गौ पालने वालों को इस प्रकार उनकी संतानें उत्पन्न करानी चाहिए कि उनसे अनेक प्रकार की उत्तमोत्तम गौएँ तैयार हो सकें जिनमें पहले की अपेक्षा अधिक दूध और मक्खन उत्पन्न होता हो और अधिक बलिष्ठ बछडे और बछडिएँ उत्पन्न होते हों, तथा रूपाकृति की सुन्दरता-विविधता भी पहले की अपेक्षा अधिक बढती जाए। यह सब भाव "प्रजावती: पुरुरूपा:" इन दो शब्दों का है।

(३) "इन्द्र के लिए दूध देने वाली बनी रहें" इस वाक्य से यह भाव प्रतीत होता है कि गौओं से जो भी दूध की आय गृहस्थों को हो उसमें कुछ भाग राज्य का भी रहना चाहिए।

(४) "हम में रहती हुई रमण करें" इस वाक्य की ध्वनि है यह कि जिस प्रकार घर के मनुष्य मिल कर आनन्द से रहते हैं, उसी प्रकार हमारी गौएँ भी हम में मिल कर आनन्द से रहें। हम अपनी गौओ को अपने जैसा ही समझें और अपने जैसी ही उनके आराम की चिन्ता करें।

(इन्द्र:) सम्राट् (यज्वने) राज्य संघटन के लिए अपना भाग दान करने वाले और इस प्रकार (पृणते) राज्य की आवश्यकताओं की तृप्ति करनेवाले के लिए (शिक्ष ति) अपनी रक्षा देता है। (उपेद्दाति) और समीप पहुंच कर देता है। (स्वं) उस के धन को (न मुषायति) अपहरण नहीं करता या होने देता (अस्य) इस के (रयिं) धन को (भूय: भूय:) बार बार (वर्धयन् इत्) बढाता हुआ (देवयुम्) सम्राट् रूप देव को अर्थात् राज्य के भले को चाहने वाले इस को (अभिन्ने) अभेद्य (खिल्ये) स्थान में (निदधाति) रखता है।"

यहां प्रसंग गौओं का चल रहा है। इसलिए मन्त्र में प्रयुक्त धन शब्द का अर्थ गौ समझना चाहिए। जो व्यक्ति अपने गौ-धन की आय में से राज्य को अपना देयांश देता रहता है, राज्य उसकी गौओं की रक्षा करता है और उन पर किसी प्रकार का आक्रमण नहीं होने देता-यह मन्त्र का भावार्थ है। प्रथम मन्त्र में "इन्द्राय दुहाना:" इन शब्दों में जो बात संक्षेप से कही गई थी वही इस मन्त्र में आकर अधिक स्पष्ट हो गई है। और सम्राट् द्वारा गौ-धन की आय का कुछ अंश लेने का प्रयोजन भी स्पष्ट हो गया है। राज्य को क्योंकि गौओं की विशेष रक्षा और परवाह करनी है इसलिए प्रत्येक गृहस्थ से एक विशष गौ-कर भी राज्य ले सकेगा।

"भूयो भूयो रयिमिदस्य वर्धयन्" इस वाक्य का यह भाव है कि जिन से लोगों के गौ-धन की उत्तरोत्तर वृद्धि रह सके ऐसे उपाय सर्व साधारण को बताते रहना राज्य का एक कर्तव्य होगा। गोपालन और गौसंवर्धन के विशेषज्ञ रख कर राज्य को यह कार्य कराते रहना होगा। तभी उस के लिए लोगों से गौ-कर लेना संगत हो सकेगा।

(ता:) वे गौएँ (न नशन्ति) नष्ट नहीं होतीं (तस्कर:) चोर उन पर (न दभाति) प्रहार नहीं करता (अमित्र:) शत्रु का (व्यथि:) पीडा देने वाला शस्त्रादि (आसां) इन का (न आदधर्षति) धर्षण नहीं करता (याभि:) जिनसे (देवान्) देवों का (यजते) यजन करता है —अर्थात् जिन की आय से राज्य के संचालक

देवों के राज्य संघटन के लिए कुछ अंश दिया जाता है अथवा जिनके घृतादि से अग्निहोत्रादि यज्ञ किए जाते हैं (च) और (ददाति) अतिथि आदि को घृतदुग्धादि का दान करता है (ताभिः) उनके (सह) साथ (गोपतिः) गोपालक गृहस्थ (सचते) देर तक संयुक्त रहता है ॥ ३ ॥

क्योंकि सम्राट् द्वारा रक्षा प्राप्त होती है इसलिए :—

(१) गौएँ नष्ट नहीं होने पाती। राज्य की ओर से गौओं में रोग न होने देने के और रोग हो जाने की अवस्था में उन्हें फैलने न देने के उपाय होते रहते हैं।

(२) किसी की गौ को चोर नहीं चुरा सकते।

(३) शत्रु लोग उनको किसी प्रकार की पीड़ा नहीं दे सकते।

(४) और इस प्रकार गोपालक गृहस्थ के पास उसकी गौएँ सदा बनी रहती हैं।

(५) पांचवी शिक्षा इस मन्त्र से यह मिलती है कि गोपति को गृहस्थ को, अपनी गौओं से सदा देवों का यजन और अतिथि आदि का सत्कार करते रहना चाहिए। देवों के यजन का भाव हमने मन्त्र के अर्थ में ही संक्षेप से समझा दिया है।

(ताः) उन गौओं को (रेणुककाटः) धूल उड़ाकर आता हुआ (अर्वा) शत्रु का घोड़ा (न अश्नुते) प्राप्त नहीं हो सकता (ताः) वे गौएँ (संस्कृतत्रम्) किसी प्रकार की हिंसा या सूनागृह की (अभि) ओर (न उपयन्ति) नहीं जाति (तस्य) उस (यज्वनः) यज्वा (मर्तस्य) पुरुष की (ताः) वे गौएँ (अभयं) अभय होकर (उरुगायं) फिरने के विस्तृत देशों में (अनुविचरन्ति) विचरण करती हैं। मन्त्र म अर्वा का अर्थ हिंसक भी हो सकता है क्योंकि 'ऋ' धातु के गति और हिंसा दोनों अर्थ होते हैं। तब अर्थ यह होगा कि धूल उडाकर आता हुआ कोई व्याघ्रादि हिंसक पशु उन्हें प्राप्त नहीं कर सकता ॥ ४ ॥

क्योंकि राज्य की ओर से रक्षा का पूरा प्रबन्ध रहता है इस लिए।

(१) शत्रुओं के घुड़सवार आकर उन्हें भगाकर नहीं ले जा सकते।

(२) अथवा व्याघ्रादि हिंसक पशु जंगलों में उनपर आक्रमण नहीं कर सकते।

(३) किसी प्रकार की दूसरी हिंसा भी उन्हें प्राप्त नहीं हो सकती अर्थात् कोई पुरुष उन्हें मार नहीं सकता और वे सनागृह (Slaughter house) आदि में वध होने के लिए भी नहीं भेजी जा सकतीं।

(४) वे निर्भय होकर चरने के लिए जंगलों में दूर-दूर विचरण करती हैं।

मन्त्र में आर्य यज्वा शब्द का भाव हम ऊपर द्वितीय मन्त्र की व्याख्या में स्पष्ट कर आये हैं।

(इन्द्रः) सम्राट् (मे) मुझे (गावः) गौएँ (अच्छान्) देदे (गावः) गौवें (भगः) धन हैं (गावः) गौएँ (प्रथमस्य) उत्कृष्ट (सोमस्य) सोम का (भक्षः) भक्षण हैं (जनासः) हे मनुष्यो (इमाः) ये (याः) जो (गावः) गौएँ हैं (सः) वे (इन्द्रः) परमश्वर्य हैं (हृदा) हृदय और (मनसा) मन से (इन्द्रं) इस परमैश्वर्य को (चित्) ही (इच्छामि) मैं चाहता हूं ।। ५ ।।

मुझे इन्द्र गौएँ देदे इस वाक्य से यह प्रतीत होता है कि गौओं के क्रय-विक्रय पर राज्य का पूरा नियन्त्रण चाहिये। कोई व्यक्ति जो गाय खरीदे उसे पहले राज्य के विशिष्ट कर्मचारी देख लें कि उस में

किसी-प्रकार का रोग या कोई भयंकर त्रुटि तो नहीं है। जब वे उसके दूध को प्रयोग में लाने योग्य कह दें तभी वह गृहस्थ के घर में जा सकती है। क्योंकि कोई गौ राज्य की अनुमति के बिना क्रय नहीं की जा सकती इसलिए आलंकारिक ढंग में यह कहा जा सकता है यह सम्राट गौएँ देता है। पाठक देखें कि वैदिक राज्य में नागरिकों के स्वास्थ्य की चिन्ता का कितना भार राज्य पर डाला गया है।

गौवों को "उत्कृष्ट सोम का भक्षण" इसलिए कहा गया है कि उनसे ही दूध, दही और घी जैसे उत्कृष्ट सोम पदार्थ प्राप्त होते हैं। वैदिक साहित्य में कई स्थानों पर दूध-दही आदि को भी सोम कहा गया है। उदाहरणार्थ "सोमो वै दधि" (कौ० ८।९), "सोम: पय:" (श० १२।७।३।१३), "रस: सोम:" (श० ७।३।१३) ब्राह्मण के इन वाक्यों में दूध-दही और धृतादि रसों को स्पष्ट रूप में सोम शब्द से अभिहित किया गया है। यों प्रसिद्ध सोम औषधि को भी गौ के दूध-घी के साथ मिलाकर भक्षण किया जाता है। सोम में गौ के दूध-घी को मिला देने से और भी अधिक उत्कृष्टता आ जाती है।

"गौवें इन्द्र हैं" इस वाक्य में हमने "इन्द्र" का अर्थ परमैश्वर्य किया है। पहले वाक्य में इन्द्र (सम्राट) से गौ देने की प्रार्थना है। इस वाक्य में गौवों को ही इन्द्र बना दिया है। इसलिए इस वाक्य में इन्द्र का अर्थ सम्राट् से भिन्न कोई दूसरा होना चाहिए। गौवें तो स्वयं सम्राट् हो नहीं सकती यदि इन्द्र देवता का अर्थ परमात्मा करें तो गौवें परमात्मा भी नहीं हो सकतीं। और इसी प्रकार इन्द्र का सिद्ध पौराणिक अर्थ होने पर वे वैसा इन्द्र भी नहीं हो सकतीं। इस लिए हमें यहां अगत्या इन्द्र के धात्वर्थ की सहायता से उस का परमैश्वर्य ऐसा अर्थ करना पड़ता है। इन्द्र को ब्राह्मण में एक स्थान पर "रुक्म एवेन्द्र:" (ईश० १०।४।१६) ऐसा कहकर सुवर्ण के अर्थ में ग्रहण भी किया गया है। सुवर्ण क्योंकि परश्मैवर्य की वस्तु है इसी लिए उसे इन्द्र कहा है। वेद की दृष्टि में गौवें भी एक प्रकार का धन हैं और उत्कृष्ट कोटि का धन हैं इसलिये गौणी वृत्ति से उन्हें इस मन्त्र में इन्द्र कह दिया गया है जिससे मन्त्र में काव्य का एक विशेष चमत्कार आ गया है। जो स्वयं इन्द्र (परमैश्वर्य) हैं उन्हें इन्द्र (परमैश्वर्यवान् सम्राट) से मांगा जा रहा है।

इस मन्त्र में गौवों को "भग" और "इन्द्र" कहा है। इन दोनों शब्दों का जो वास्तविक और बुद्धि-संगत अभिप्राय है वह ऊपर स्पष्ट कर दिया गया है। "भग "और" इन्द्र" "वेद के प्रसिद्ध देव-ताओं में से हैं। यहां गौवों के लिए भी नाम प्रयुक्त हो गये हैं। इसी से, वेद का वास्तविक आशय न समझने के कारण प्रतीत होता है। गौ में देवत्व की वह कल्पना कर ली गई है जो प्रचलित हिन्दू-धर्म में पाई जाती है।

(गाव:) हे गौवों (यूयं) तुम (कृश चित्) पतले-दुबले पुरुष को भी (मेदयथ) स्निग्धता प्रदान करके मोटा कर देती हो (अक्षीरंचित्) सुन्दरता-रहित को भी (सुप्रतीकम्) सुन्दर अंगों वाली (कृणुथ) कर देती हो (भद्रवाच:) हे भद्रवाणी वाली गौओं (गृह) हमारे घर को (भद्रं) कल्याण युक्त (कृणुथ) कर दो (सभासु) सभाओं में (व:) तुम्हारे (बृहत) बहुत (वय:) अन्न का (उच्यते) बखान किया जाता ह।। ६।।

इस मन्त्र से निम्न बातों पर प्रकाश पड़ता है :—

(१) गौ के दुग्ध और घृत के सेवन से पतले-दुबले शरीर मोटे ताज़े बन जाते ह।

(२) जो सुन्दर नहीं हैं, उन के शरीर में गौ के दुग्ध का सेवन करने से स्वास्थ्य जनित सुन्दरता आ जाती है।

(३) जिस घर में गौवें रहती हैं, और उन के दुग्ध का सेवन होता है वह घर कल्याण और मंगल से भर जाता है।

(४) गौओं में बड़ीं अन्न हैं। इन के दुग्ध, दही, मक्खन आदि में बडी उत्कृष्ट श्रेणी की अन्न-शक्ति है। इन की इस अन्न-शक्ति का सभाओं में बखान हो सकता है। उनमें विद्वानों के व्याख्यान हो सकते हैं जिनमें घण्टों तक गौ के दुग्धादि के गुणों का वर्णन किया जा सकता है। इन के दुग्धादि के गुणों पर पुस्तकों लिखी जा सकती हैं।

(सूयवसं) उत्तम घास को (रिशन्तीः) खाती हुई (सुप्रपाणे) उत्तम पानी पीने के स्थानों में (शुद्धाः) निर्मल (अपः) जल (पिबन्तीः) पीती हुइ ह गौवों तुम (प्रजावतीः) पुत्र पौत्रों से युक्त होकर रहो (स्तेनः) चौर और (अघशंसः) पाप करने वाला पुरुष (वः) तुम पर (मा) मत (ईशत) प्रभुता कर सके (रुद्रस्य) परमात्मा का (हेतिः) प्रहरण (वः) तुम्हें (परिवृज्याः) छोड़े रखे अर्थात् तुम शीघ्र न मरो प्रत्युत दीर्घ आयु वाली होओ।।७।।

इस मन्त्र से निम्न बातें ज्ञात होती हैं:—

(१) गौवों को जो घास आदि खाने को दिया जाए वह बहुत उत्तम हो। सड़ा-गला, मैला, पुराना और बोदा घास उन्हें खाने को न दिया जाए।

(२) उन के पीने का पानी भी अति निर्मल होना चाहिए। गँदला और किसी तरह के मैलेपन और अपवित्रता से युक्त पानी उन्हें पीने को न दिया जाए।

(३) ऐसा करने से उनकी सन्तानें उत्तम होंगी। दुर्बल और क्षीण बछड़े-बछड़ी उत्पन्न नहीं होंगी।

(४) ऐसा करने से वे देर तक जी सकेंगी। परमात्मा का मृत्यु-रूप शस्त्र उन पर जल्दी नहीं गिरेगा।

(५) हमें अपनी गौओं की चोर-डाकुओं से रक्षा करनी चाहिए। ऐसा उत्तम प्रबन्ध रखना चाहिए कि हमारे इस उत्कृष्ट धन को वे पापी लोग हम से अलग न कर सकें। इसका एक उपाय ऊपर द्वितीय और तृतीय मन्त्र में बताया गया है अर्थात सम्राट को इस का प्रबन्ध करना चाहिए। प्रजा जनों को इस के लिए राज्य को गौ-कर देना चाहिए।

(आसु) इन (गोषु-उप) गौओं में (इदं) यह जो (उप पर्चनम्) बैल के समीप जाकर मिलने का गुण या इच्छा ह (ऋषभस्य) और बैल के (रेतसि) वीर्य में (उप-) जो गौओं के पास जाकर मिलने का गुण है वह (इन्द्र) हे सम्राट् (तब) तेरे (वीर्ये) पराक्रम में अर्थात् तेरे पराक्रम की अधीनता में (उप-उपपृच्यताम्) मिले।।८।।

इस मन्त्र में यह स्पष्ट है कि सन्तानेच्छा के समय गौ और बैल अपनी इच्छा से न मिल सकें। ऐसा नहीं होना चाहिए कि कोई भी गौ किसी भी बैल से मिलाकर सन्तान उत्पन्न कराई जा सके। प्रत्युत यह

क्रिया सम्राट् के पराक्रम के आधीन होनी चाहिए। राज्य की शक्ति का इस पर पूरा नियन्त्रण रहना चाहिए। वे ही सांड सन्तान उत्पन्न कर सकें जिन्हें राज्य के इस विभाग के विशेषज्ञ स्वीकृत कर चुके हों। और ऐसे सांडों से मिलाने से पहले प्रत्येक गोपति गृहस्थ को अपनी प्रत्येक गौ की राज्य के इन विशेषज्ञों से परीक्षा करानी होगी। जो गौ इनके द्वारा सन्तान उत्पन्न कराने के योग्य समझी जायगी वही उन परिक्षित सांडों से मिलने दी जाएगी। गौओं पर राष्ट्र के स्वास्थ्य और बल-वीर्य की निर्भरता है, इस लिए बीमार और दुर्बल गाय ओर सांड मिलकर दुर्बल बच्चे और शक्तिहीन दुग्ध पैदा न कर सकें इस का राज्य को पूरा नियन्त्रण करना होगा। इस मंत्र के ही भाव को वेद के अन्य स्थलों में दूसरे शब्दों में भी स्पष्ट किया गया है। उदाहरण के लिए अथर्व १३।१।१९ में राजा से प्रार्थना की गई है "वाचरमते.......गोष्ठे नो गा जनय"— "हे वाचस्पति राजन्! हमारे गोष्ठ में गौवें उत्पन्न कराइए" राजा हमारे गोष्ठ में गौवें उत्पन्न करने का यही भाव है कि हमारी गौवों की सन्तानोत्पत्ति पर राज्य का नियन्त्रण रहना चाहिए। उस के इस विषय के विशेषज्ञ कर्मचारियों की अनुमति प्राप्त किये बिना किसी गृहपति की गौवें सन्तान उत्पन्न न कर सकें। अथर्व १३।१ के प्रारम्भिक मन्त्रों में राजा के राज्यासीन होने का वर्णन है। राज्यासीन हो रहे राजा को ही इस मन्त्र में वाचस्पति शब्दों से कहा है क्योंकि वह राष्ट्रकी वाणी और तदुपलक्षित ज्ञान का रक्षक होता है अथवा स्वयं उत्कृष्ट व्याख्याता होता है।

अथर्व वेद के चतुर्थ काण्ड का २१ वां सूत्र भी हलके शाब्दिक परिवर्तन के साथ वही है जो ऋ० ६।२८ है। अथर्व वेद के सूत्र में ऋग्वेद के सूक्त का केवल ८ वां मन्त्र नहीं है। पाठक देखें कि वेद के इन मन्त्रों में गृहस्थ के लिए गोपालन का कितना महत्व तथा उस की कितनी उपयोगिता बताई गई है और इसी लिए अतः पर राज्य का कितना नियंत्रण रखा गया है। इसी प्रसंग में ऋ० १०।१६९ सूक्त भी देखने योग्य है:—

मयोभूर्वातो अभि वातूस्त्रा ऊर्जस्वतीरोषधीरा रिशन्ताम्।
पीवस्वतीर्जीवपन्थाः पिबन्त्वसाय पद्वते रुद्र मृड ॥ १ ॥

याः सरूपा विरूपा एकरूपा यासामग्निरिष्ट्या नामानि वेद।
या अंगिरसस्तपसेह चक्रस्ताभ्यः पर्जन्य महि शर्म यच्छ ॥ २ ॥

या देवेषु तन्वमैरयन्त यासां सोमो विश्वा रूपाणि वेद।
ता अस्मभ्यं पयसा पिन्वमानाः प्रजावतीरिंद्र गोष्ठे रिरीहि ॥ ३ ॥

प्रजापतिर्मह्यमेता रराणो विश्वैर्देवैः पितृभिः संविदानः।
शिवाः सतीरुप नोगोष्ठ भाकस्तासां व्यं प्रजया सेदम् ॥ ४ ॥

मन्त्रों का क्रमशः अर्थ इस प्रकार है :—

(मयोभूः) सुख देने वाला (वाताः) वायु (उस्त्रा) गौओं की (अभिवातु) और चले, ये गौवें (ऊर्जस्वतीः) बल वाली या रसीली (औषधीः) औषधियों को (आरिशन्ताम्) खायें (पीवस्वतीः) मोटी करने वाले और (जीवधन्याः) जीवन देने वाले जलों का (पिबन्तु) पान करें (रुद्र) हे रुद्र (पद्वते) पैरों वाले (अवसाय) हमारे अन्य अर्थात् गौवों के लिये (मृड) सुख कीजिए ॥ १ ॥

इस मन्त्र से भिन्न निर्देश मिलते हैं :—

(१) गौवों के रहने के स्थान ऐसे होने चाहियें जहां उन्हें सुख देने वाला स्वच्छ निर्मल वायु निरन्तर मिलता रहे। इस से यह भी ध्वनित होता है कि ऐसा वायु प्रभूत मात्रा में मिल सके इस लिए उन्हें दिन में जंगलों और खेतों में चरने के लिए भी भेजना चाहिए।

(२) उन्हें जो ओषधि अर्थात् घास खाने को दी जावें वे बल-वर्द्धक और स्वादु रस से भरी होनी चाहियें। औषधि शब्द की यह भी ध्वनि है कि गौवों के बल और स्वास्थ्य की वृद्धि के लिये उन्हें उपयुक्त रासायनिक ओषधियाँ भी खिलाते रहना चाहिए।

(३) गौवों के पीने का पानी गन्दा, मैला, सड़ा, पुराना न हो प्रत्युत जीवन देने वाला और उन्हें मोटा बलिष्ठ करने वाला स्वच्छ, ताज़ा और पवित्र होना चाहिए।

(४) रुद्र वेद में कई अर्थों में प्रयुक्त होता है। रोग निवारक वैद्य के अर्थ में भी इसका प्रयोग हुआ है और सेनापति के अर्थ में भी। परमात्मा के वाचक तो सभी देवतावाची पद प्रायः हैं ही। वैद्य अर्थ में रुद्र द्वारा गौवों के सुखी किए जाने का भाव यह होगा कि ऐसे वैद्यों का प्रबन्ध भी रहना चाहिए जो गौवों के रोगों को दूर करके उन्हें सुखी करते रहें। सेनापति अर्थ में भाव यह होगा कि राज्य की सेनाओं का प्रबन्ध ऐसा होना चाहिए कि जब हम चाहें तभी हमें उनकी रक्षा प्राप्त हो सके जिस से कोई दुष्ट हमारी गौवों को और इसी लिये हम को दुःखी न कर सके। परमात्मा तो सभी रोगों और सभी दुःखों के नाशक हैं इस लिए उस अर्थ में तो प्रार्थना का भाव स्पष्ट ही है। सायण ने यहां रुद्र का अर्थ ज्वरादि नाशक देव ही किया है। रुद्र के प्राण, अग्नि आदि भी अर्थ होते हैं। उन की संगति भी यहां लग सकती है। पर विस्तार भय से हम इतनी दूर तक नहीं जाते।

(याः) जो (सरूपाः) समान रूप वाली हैं (विरूपाः) विभिन्न रूप वाली हैं (एकरूपाः) सर्वथा एक समान रुप वाली हैं (इष्ट्या) यज्ञ के द्वारा (अग्नि) सम्राट् (यासां) जिन के (नामानि) नामों अर्थात् भेदों को (वेद) जानता है (याः) जिन्हें (अंगिरसः) अंगिरा लोग (तपसा) तप द्वारा (इह) यहां (चक्रुः) बनाते हैं (ताभ्यः) उन के लिए (पर्जन्य) हे मेघ (भाहि) बहुत बड़ा (शर्म) सुख (यच्छ) दीजिए।।२।।

मन्त्र गत वर्णन से निम्न बातें ध्यान में आती हैं :—

(२) "स्वरूपाः, विरूपाः और एकरूपाः" शब्दों की यह ध्वनि है कि हमारे पास अनेक रूपों अर्थात् अनेक प्रकार अथवा श्रेणियों की गौवें रहनी चाहियें। किन्ही के दूध में मक्खन अधिक हो, किन्हीं के में मलाई अथवा दूध में पाई जाने वाली कोई और चीज अधिक हो, किन्हीं के बछड़े खेती के लिए बढ़िया बैल बन सकते हों।

(२) अग्नि अर्थात् सम्राट इन के नामों अर्थात् भेदों को जानता है। इस की व्यंजना यह है कि राज्य के पास ऐसे विशेषज्ञ विद्वान् कर्मचारी रहने चाहिए जो आवश्यकतानुसार गौवों के इन रूपों को बढ़ाते रह सकें।

(३) अग्नि "यज्ञ" के द्वारा इन के भेदों को जानता है यह वाक्य भी सुस्पष्ट है। ज्ञान की सारी बातें यज्ञ द्वारा जानी जाती हैं। यज्ञ अर्थात् सुव्यवस्थित संगतीकरण अर्थात् संघटन के बिना किसी

विद्या की उन्नति नहीं हो सकती। आवश्यकतानुसार गौवों की नस्लों (प्रकारों) को बनाने और बढ़ाने के लिए राज्य यज्ञ करता है अर्थात् उपयुक्त विद्वानों के संघटन (Organisations) बनाता है।

(४) "अंगिरसः" का अर्थ सायण ने यहां ऋषयः अर्थात् ऋषि लोग ऐसा किया है। ऋषि उच्च कोटि के तत्वदर्शी विद्वानों को कहते हैं। ऋषि दयानन्द ने अपने वेदभाष्य में अंगिरसः का और और अर्थों के साथ एक अर्थ "प्राणादिविधाविदः, "सर्वविद्यासिद्धांतविदः", "प्राप्तविद्यासिद्धान्तरसानाम्" ऐसा भी किया है। उन के अनुसार विद्या-रस में निमग्न रहने वाले विद्वानों को अंगिरसः कहते हैं। अब "अंगिरा लोग तप के द्वारा गौवों को बनाते हैं" इस कथन का भाव यह हुआ कि विद्या तत्वों के परदर्शी विद्वान् लोग तप करके अर्थात् अनेक कष्ट उठा कर गौवों के प्रकारों का निर्माण, उन का संवर्धन, पालन और संरक्षण करते हैं। गौ का दूध मक्खन आदि स्वास्थ्य के लिए अितना अधिक महत्वपूर्ण है कि कष्ट उठा कर भी उस की प्रभूत मात्रा में प्राप्ति के उपाय करने चाहिएँ, यहां प्रयुक्त इस 'तपसा' पद की यह ध्वनि भी है। और ज्ञानी लोग गोपालन के भारी महत्व को सदा समझते हैं यह ध्वनि अंगिरसः पद की है।

(५) "पर्जन्य गौवों के लिए बहुत बड़ा सुख देवे" इस का व्यंग्यार्थ यह है कि जहां तक हो सके बादल की वर्षा से उत्पन्न हुए जंगल के घास गौवों को अधिक खिलाने चाहिए। इस के लिए उन्हें जंगल में चरने भेजना चाहिए। दिन-रात उन्हें घर में ही नहीं बांध रखना चाहिए। पानी भी जहां तक हो सके शुद्ध वर्षा जल का ही देना चाहिए।

(याः) जो (देवेषु) राष्ट्र के भांति-भांति के व्यवहारशील लोगों में (तन्वं) अपने शरीर को (ऐरयन्त) भेजती हैं। (यासां) जिन के विश्वा सब (रूपाणि) रूपों अर्थात् भेदों को (सोमः) सोम (वेद) जानता है (अस्मभ्यं) हमारे लिए (पयास) अपने दूध से (पिन्वमानाः) सिंचन करती हुई और (प्रजावतीः) सन्तानों से युक्त (ताः) उन गौवों को (इंद्र) हे सम्राट् गोष्ठे हमारे गौ बांधने के स्थान में (रिरीहि) प्राप्त करा ॥ ३ ॥

मन्त्र गत वर्णन से अधोलिखित बातों का निष्कर्ष निकलता है :—

(१) भांति-भांति के व्यवहार करने वाले राष्ट्र के सभी लोगों को गौ का दूध पीना चाहिए। गौवें अपने शरीर को देवों में भेजती हैं उस वाक्य की यही ध्वनि है।

यहां गौवों के शरीर से उत्पन्न होने के कारण उन के दूध को ही उपचार से उन का शरीर कह दिया है। "अस्मभ्यं पयसा पिन्वमानाः "इन शब्दों के साहचर्य में "तन्वं" का यही अभिप्राय लेना होगा। गौ को मार कर उस का मांस खाने या उस के मांस द्वारा यज्ञ करने की कल्पना इस मन्त्र से नहीं लेनी चाहिए। क्योंकि गौ को वेद में अनेक स्थानों पर "अघ्न्या" अर्थात् न मारने योग्य कहा है। वेद में गौ के अतिप्रसिद्ध-नामों में से एक यह अघ्न्या नाम है और इस का वेद में पचासों स्थानों पर प्रयोग हुआ है। वेद में गौ का यह नाम रहते हुए वेद के किसी वाक्य से गौ-वध विषयक अर्थ नहीं निकाला जा सकता। इस के अतिरिक्त वेद में अनेक स्थानों पर गौ को किसी अवस्था में भी नहीं मारा जाना चाहिए इस बात का स्पष्ट उल्लेख भी मिलता है। ऊपर ऋग० ६।२८।४ मन्त्र की व्याख्या में हम देख चुके हैं कि "न संस्कृत त्रमुप यन्ति ता अभि" अर्थात् "गौवों को कभी हिंसा के लिए सूनागृह में नहीं जाने दिया जाता। "ऋग्वेद ८।१०१।१५—

मन्त्र में स्पष्ट विधि वाक्य है कि गौ को कभी मत मारो । पूरा मन्त्र इस प्रकार है :— "माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसादित्यानाममृतस्य नाभिः, प्रनु वोचं चिकितुषे जनाय मा गामनागामदितिं वधिष्ट ।" अर्थात्—"गौ राष्ट्र के रुद्र, वसु और आदित्य ब्रह्मचारी रह कर विद्या प्राप्त करने वाले प्रजाजनों की माता, पुत्री और बहिन है । भाव यह है कि प्रजाजनों को गौ के साथ माता, बहिन और पुत्री की भांति गहरा प्रेमभाव रखना चाहिए । गौ अमृत की नाभि अर्थात केन्द्र है क्योंकि उस से अमृत जैसे गुणों वाला दूध प्राप्त होता है । मैं परमात्मा ज्ञानवान् पुरुष को आज्ञा देता हूं कि उसे निष्पाप और कभी भी न काटी जाने योग्य (अदितिं) गौ को नहीं मारना चाहिए ।" मन्त्र का भाव अति स्पष्ट है । गौ अमृत पिलाती है । उस को मारने का अर्थ नहीं निकाला जा सकता । इसी प्रसंग में ऋग० १०।८७। १६ मन्त्र भी देखने योग्य है, के साथ माता बहिन और पुत्री की तरह प्यार किया जाना चाहिए । वह निष्पाप है । वह कभी काटी जान के योग्य नहीं है । उसे कभी नहीं मारना जाहिए । इस मन्त्र के रहते वेद के किसी वाक्य से गौ मन्त्र इस प्रकार है :—" यः पौरुषेयेण क्रविषा समङ्क्ते यो अश्व्येन पशुना यातुधानः यो अघ्न्याभरति क्षीरमग्ने तेषां शीर्षोणि हरसापि वृश्च ।" अर्थात् जो व्यक्ति पुरुष के मांस से अपने को पुष्ट करता है, जो राक्षस व्यक्ति घोड़े के मांस से अथवा अन्य किसी पशु के मांस से अपने को पुष्ट करता है, जो कभी न मारने योग्य (अघ्न्या) गौ को मार कर उसके दूध को हर लेता है ऐसे इन राक्षस पुरुषों के सिरों को हे राजन् (अग्ने) अपने शस्त्र से भी काट डाल"। इस मन्त्र में सभी पशुओं के मांस को खाने का निषेध किया गया है । मांस खाने वाले व्यक्ति को यातुधान अर्थात् राक्षस कहा गया है । मन्त्र के अनुसार मनुष्य को मार कर खाना जैसा भारी अपराध है किसी पशु को मार कर खाना भी वैसा ही अपराध है । और गौ को मार कर खाना भी वैसा ही भारी अपराध है । ऐसा अपराध करने वाले का सिर भी काटा जा सकता है । मन्त्र के " अपि " भी—पद की यह ध्वनि है कि यदि ऐसा अपराधी पुरुष समझाने बुझाने या किसी अन्य दण्ड से ठीक न हो तो उसे सिर काटने का अर्थात् मृत्यु का दण्ड भी दिया जा सकता है ।

वेद में एक दूसरे स्थान पर भोजन के सम्बन्ध में कहा है—" पुष्टिं पशूनां परिजग्रभाहं चतुष्पदां द्विपदां यच्च धान्यम्, पयः पशूनां रसमोषधीनां बृहस्पतिः सविता मे नियच्छात् ।" (अथर्व-१८।३१।५) अर्थात्—"चौपाये और दोपाये पशुओं तथा जो कोई अनाज (धान्य) है उस से मैं पुष्टि प्राप्त करता हूं । पशुओं का दूध (पयः) पीता हू और अनाजों को (ओषधीताम्) चबा कर उन का रस लेता हूँ । सब को उत्पन्न करने वाले (सविता) और सब के पालक और रक्षक (बृहस्पति) परमात्मा ने मेरे लिये यही नियम बनाया है (नियच्छात्) ।" इस भोजन का नियम बांधने के प्रकरण में यदि पुष्टि प्राप्त करने के लिए पशुओं का मांस खाना भी वेद को अभीष्ट होता तो " पशूनां पयः " पशुओं का दूध— इतना न कह कर " पशूनां पयः मांस च "— पशुओं का दूध और मांस—ऐसा कहकर पशुओं का दूध पीने और मांस खाने दोनों का ही विधान कर दिया जाता । पर यहां तो केवल पशुओं के दूध के पीने का ही विधान किया गया है । इस से स्पष्ट है कि वेद की सम्मति में किसी भी पशु का मांस नहीं खाना चाहिए । और इसी लिए किसी भी पशु को मारा नहीं जाना चाहिए । फलतः गौ का दूध ही पीना चाहिए । उस का मांस नहीं खाना चाहिए । और इसी लिए गौ को भी मारा नहीं जाना चाहिए । वेद के इस प्रकार के मन्त्रों की उपस्थिति में वेद के किसी वाक्य या शब्द से गौ को मारने का अर्थ नहीं निकाला जा सकता । यदि कहीं ऊपर-ऊपर से ऐसा अर्थ प्रतीत होता हो तो उस वाक्य या शब्द का दूसरा अर्थ

खोजना चाहिए जो वेद के इन स्पष्ट गोवध-निषेधपरक मन्त्रों से विरोध न खाता हो। इसी लिए हमने ऊपर "तन्व" का अर्थ गौ के शरीर से उत्पन्न होन वाला गौ का दूध किया है। प्रकरण और वेद के आशय के अनुकूल इस पद का यही अर्थ हो सकता है। या इस का अर्थ गौ का चमड़ा करके यह भाव भी लिया जा सकता है कि जो अपने चमड़े से जूते आदि देती है।

(२) "पिन्वमाना:" (पिवि सेचने) क्रिया का भाव यह है कि हमें गौ का दूध खूब पीना चाहिए। दूध द्वारा हमें अपने आप को सींचना चाहिए। पाव-आध पाव दूध पीकर ही सन्तुष्ट नहीं हो जाना चाहिएँ।

(३) न्यायाधीश के रूप में राजा का जो स्वरूप प्रकट होता है उसे सोम कहते ह। सोम गौओं के सब भेदों को जानता ह। इस वाक्य का भाव यह ह कि राज्य के न्याय विभाग से सम्बन्ध रखने वाले कर्मचारियों को गौओं के सम्बन्ध में सब आवश्यक जानकारी रहनी चाहिए। जिससे वे गौवों सम्बन्धी अभियोगों को आसानी से सुलझा सकें।

(४) "इन्द्र गौवों को हमारे गोष्ठ में प्राप्त करा" इस प्रार्थना से यह ध्वनित होता है कि सम्राट् का यह कर्तव्य है कि वह ऐसे उपाय करे जिन से राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति को घर में गौ रखना संभव हो सके। बहुवचन की यह ध्वनि है कि एक ही नहीं, प्रत्येक घर में अनक गौवें रह सकें ऐसा राज्य को प्रबन्ध करना चाहिए।

(५) "प्रजावती:" शब्द की यह ध्वनि है कि राज्य को यह भी प्रबन्ध करना चाहिए कि प्रत्येक घर की गौवें उत्कृष्ट सन्तानें उत्पन्न कर सकें।

" (विश्वै:) सब (देवै:) विविध व्यवहारशील राज्य के कर्मचारियों और (पितृभि:) सभा और समिति नामक नियामक राज्य सभाओं के सदस्यों के साथ (सविदान:)) एक–मति को प्राप्त होता हुआ (प्रजापति:)) प्रजा पालक राजा (मह्यं) मुझे (एता:) इन गौवों को (रराण:) देता हुआ (शिवा: सती:) इन्हें कल्याणकारिणी बना कर (न:) हमारे (गोष्ठं) गोष्ठ में (उप आ अक:) भेजे (वयं) हम (तासां उनं गौवों की (प्रजया) सन्तान से (संसदेम) युक्त होकर रहें ॥ ४॥

मन्त्र से निम्न बातों पर प्रकाश पड़ता है :—

(१) राजा का कर्तव्य है कि वह प्रत्येक घर में गौएँ रह सकें इस बात का प्रबन्ध करे तथा वे गौवें सामान्य न हों। शिवा अर्थात् पूर्ण-रूप से मंगलकारिणी हों। गौवों से मिल सकने योग्य मंगल उन में भली भाँति मिल सकते हों।

(२) प्रत्येक गृहस्थ की गौवों से उत्कृष्ट सन्तान उत्पन्न हो सकने का प्रबन्ध भी राज्य को करना चाहिए।

(३) राष्ट्र में गोपालन और गो-संवर्धन के कार्य के सम्बन्ध में आवश्यक बातें करवाने के लिये आवश्यक हो तो राज्य कर्मचारियों और राज्य की नियामक सभाओं का सहयोग भी प्राप्त कर लेना चाहिए। अर्थात् इस सम्बन्ध में नियामक सभाओं (Legislatures) से नियम पास करवा के राज्य कर्मचारियों द्वारा उन का पालन करवाना चाहिए। "देवै :पितृभि :संविदान :प्रजापति:"

इस वाक्य का यही भाव है। अथर्व ७।१२।१ में सभा और समिति के सदस्यों को "पितर:" कहा गया है। उसी से हमने यहां पितृभिः का अर्थ सभा और समिति के सदस्य किया है। और इस पद के साहचर्य से "देवै:" का अर्थ हमने राज्य कर्मचारी किया है। देव शब्द संस्कृत साहित्य में राजा के लिए प्रचुर रूप में प्रयुक्त होता ही है। इस लिए बहुवचनान्त "देवै: "प्रयोग में यह शब्द राज्य-कर्मचारियों को कहेगा जब कि ये "देव "प्रजापति अर्थात् राजा से सम्बन्ध रखने वाले हों।

राष्ट्र के लिए गोपालन का महत्व, उसके उपाय और उस के सम्बन्ध में राजा के कर्तव्यों पर वेद जो प्रकाश डालता है वह मन्त्रों में कितना स्पष्ट है।

इस प्रसंग में अथर्व० ३।१४ सूक्त पर भी एक दृष्टि डाल लेनी चाहिए। यह सूक्त भी गोपालन विषयक ही है। इस म भी गोपालन के सम्बन्ध में अनेक निर्देश उपलब्ध होते हैं। सूक्त ६ मन्त्रों का है। स्थानाभाव से हम प्रत्यक मन्त्र का प्रतिपद अर्थ नहीं देते। गोपालन के सम्बन्ध में कुछ स्थूल निर्देश करने वाले दो चार वाक्यों को ही उद्धृत करके बस कर देते हैं।

संवो गोष्ठेन सुपदा। अथर्व ० ३।१४।१
शिवो वो गोष्ठो भवतु। अथर्व ० ३।१४।५
अयं वो गोष्ठ इह पोषयिष्णु। अथर्व ० ३।१४।६

इन वाक्यों में यह कहा गया है कि गौवों के रहने का स्थान (गोष्ठ) ऐसा होना चाहिए जिसमें गौवें सुख-पूर्वक बैठ सकें और रह सकें। वह उन के लिए सब भांति शिव अर्थात् कल्याणकारी होना चाहिए। और उस में उन्हें सब प्रकार की पुष्टि प्राप्त हो सके अर्थात् उसमें पुष्टिदायक खान-पान आदि का गौवों के लिए पूरा प्रबन्ध रहना चाहिए।

अबिभ्युषी:। अथर्व० ३।१४।३

इस शब्द द्वारा यह निर्देश किया गया है कि ऐसा प्रबन्ध होना चाहिए कि हमारी गौवों को कहीं किसी, तरह का भी डर न प्राप्त हो सके।

रायस्पोषेण बहुला भवन्ती:। अथर्व ०३।१४।६

इस वाक्य में कहा गया है कि अपने धन द्वारा खूब खिला पिलाकर हमें अपनी गौवों को पुष्ट करना चाहिए जिस से उन की संख्या हमारे घर में खूब बढ़ सके।

मया गावो गोपतिना सचध्वम्। अथर्व०३।१४।६

अर्थात् "हे गौवो मुझ गोपति के साथ मिलकर रहो", इस वाक्य की ध्वनि यह है कि प्रत्येक गृहस्थ को अपने घर में गौवें रख कर गोपति बनना चाहिए।

अनमीवा:। अथर्व ३।१४।३

इस शब्द द्वारा कहा गया है कि हमें अपनी गौवों को सदा निरोग रखना चाहिए। रोगी गौवों का दूध नहीं पीना चाहिए यह इस शब्द से स्वयं ही निकल आता है।

विभ्रती : सोम्यं मधु अथर्व० ३।१४।३

अर्थात् गौवें सोममय अर्थात् सोम के गुणों से युक्त मधुर दूध अपने अन्दर रखती हैं, इस वाक्य से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि वेद में गोपालन का इतना अधिक महत्व क्यों है।

संवः सृजतु इन्द्रो यो धनंजयः। अथर्व० ३।१४।२

अर्थात् "धन-प्रदाता सम्राट (इन्द्र) तुम्हें मेरे साथ जोड़े या मेरे यहां उत्पन्न करे (संसृजतु)" इस वाक्य द्वारा इस सूक्त में भी राज्य का कर्तव्य बता दिया गया है कि वह ऐसा प्रबन्ध करे जिस से सोममय दूध का पान कराने वाला गोधन राष्ट्र के प्रत्येक गृहपति के घर में रह सके।

गौवों की उत्तम नस्ल प्राप्त करने के लिए आवश्यक है कि उन का उत्तम वृषभों के साथ संयोग करा के सन्तानें उत्पन्न कराई जाएँ। वेद में इस के महत्व को बहुत अधिक समझा गया है। अथर्व वेद के नवम काण्ड का चतुर्थ सूत्र बड़े बड़े २४ मन्त्रों का है। इस सूक्त में सन्तानोत्पादन के लिए नियुक्त किए जाने वाले वृषभ की महिमा गाई गई है और आलंकारिक ढंग में यह उपदेश किया गया है कि यदि किसी के घर में कभी बहुत उत्तम कोटि का बछड़ा उत्पन्न हो जाए तो उसे नगर की गौवों में सन्तान उत्पन्न करने के लिए दान कर देना चाहिए। उसे "ऐन्द्र" बना देना चाहिए अर्थात् राज्य को सौंप देना चाहिए। वेद की दृष्टि में यह कार्य बड़ा पवित्र है, क्योंकि इस से राष्ट्र के लोगों का कल्याण होता है, इस लिए यज्ञ करके ब्राह्मणों को दान करके उन द्वारा राष्ट्र के काम पर उस वृषभ को नियुक्त कराना चाहिए। सूक्त के २१ वें मन्त्र में सम्राट् (इन्द्र) का कर्त्तव्य भी बताया गया है कि वह उत्तम वृषभ रूप चेतन धन राष्ट्र को प्रदान करे और इस प्रकार उत्तम दूध देने वाली, सदा बछड़ों से युक्त, धनु हमें देता रहे। प्रजा जनों या राज्य (इन्द्र) की ओर से जो वृषभ सन्तानोत्पत्ति के लिए नियुक्त किया जाए वह "साहस्त्रः" (अथर्व० ९।४।१) अर्थात् सहस्त्रों बच्चे उत्पन्न कर सकने में समर्थ हो, "त्वेष:" (९।४।१) अर्थात् बड़ा तेजस्वी हो, "ऋषभः" (९।४।१) अर्थात् गतिशील, चंचल, फुर्तीला हो "पयस्वान्" (९।४।१) अर्थात् बहुत दूध देने वाली नस्ल की गौ का पुत्र हो जिस से उस की सन्तानें भी बहुत दूध दे सकें, "उस्त्रियः" (९।४।४) अर्थात् उस्त्रा अर्थात् गौवों से सम्बन्ध कर सकने योग्य हो, "पुमान्" (९।४।३) अर्थात् पुरुषत्व युक्त हो, "अन्तर्वान्" (९।४।३) अर्थात् गर्भ धारण करने में समर्थ हो, "स्थविरः" (९।४।३) अर्थात् स्थिर प्रकृति का हो अर्थात् अपने गुणों को स्थिर रखता हो। ऐसा ऋषभ नियुक्त करने का प्रयोजन यह है कि वह "तन्तुमातान्" (९।४।१) अर्थात् सन्तान-रूप तन्तु को आगे फैला सके। क्योंकि यह ऋषभ "पिता वत्सानाम् पतिरध्न्यानाम्" (९।४।४)—उत्तम बछड़ों का बाप और गौवों का पति होता है। "प्रतिधुक् पीयूष आमित्ता घृतं तद्वस्य रेतः" (९।४।४) इस के वीर्य से ताजा दूध, पीयूष, आमित्ता और घृत प्राप्त होते हैं, "सोमेन पूर्णं कलशं विभर्षि" (९।४।६) आज्यंबिभर्ति घृतमस्य रेतः" (९।४।७)—इसके कारण सोम जैसे दूध के घड़े भरे जाते ह और इस के वीर्य के कारण आज्य और घृत प्राप्त होता है, "त्वष्टा रुपाणां जनिता पशूनाम्" (९।४।६)— यह रूपवान् बच्चे उत्पन्न करने वाला होता है, और क्योंकि इस के कारण ही "इन्द्र, वरुण, मरुत्" आदि (९।४।८) राज्याधिकारी देवों के शरीरों में ओज भरन वाला दूध प्राप्त होता है, इस लिए यह वृषभ स्वयं भी एक दिव्य वस्तु है। वृषभ

की इसी दिव्यता को ध्यान में रख कर सूक्त में उस का एक बड़ा सुन्दर आलंकारिक वर्णन किया गया है— उसे सभी देवों का रूप बना दिया गया है।

स्थानाभाव से हम सूक्त के आलंकारिक वर्णन से युक्त और संख्या में प्रचुर मन्त्रों का यहाँ प्रतिपादन अर्थ देने में असमर्थ हैं। सूक्त का सरांश ही हमने इन पंक्तियों में दिया है।

सायणादि भाष्यकार इस सूक्त को बैल को मार उस के मांस से यज्ञ करने में लगाते हैं। यह उन की भूल है। मार कर जिसे यज्ञ में जला दिया गया है, उस बैल से ऊपर वर्णित चीजें प्राप्त नहीं हो सकतीं। सूक्त के अन्तिम मन्त्र "एत वो युवान प्रति ध्वनं, अन्नतेन क्रीडन्तीशचमोत वंशां अनुमानो हसिष्ट जनुषा सुमागारांयस्यपौषैर्राभनः सचध्वम्" में गौओं को सम्बोधन करके कहा गया है कि "इस युवा ऋषभ के साथ हम तुम्हें मिलाते हैं, इस के साथ खेलती हुई इच्छानुसार विचरण करो, हमें कभी अपनी सन्तानों से हीन न करो और एश्वर्य की पुष्टियों से हमें युक्त करो"। यह वर्णन यज्ञ में जला दिए गए ऋषभ पर कभी नहीं घट सकता। यह हमारे दिखाए अर्थ में ही संगत हो सकता है। सूक्त में प्रयुक्त हुए "जहोति" क्रिया के रूपों से भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए। "हु" "धातु का अर्थ" दान भी होता है। क्योंकि यजमान अपने उत्कृष्ट ऋषभ को राष्ट्र के काम के लिए दान कर रहा है, इसलिए वह उस का हवन ही है। अन्यत्र वेद में गौ को मारकर उससे यज्ञ करने का स्पष्ट निषेध किया गया है। उदाहरण के लिए अथर्ववेद का निम्न मन्त्र देखिए :—

"मुग्धा देवा उत शुना यजन्तोत गोरगैः पुरुधायजन्त, य इमं यज्ञं मनसा चिकेत प्रणो वोजस्तमिहेह ब्रवः." (अथर्व ७।५।५) अर्थात् "वे याज्ञिक लोग (देवाः) मूर्ख और अज्ञानी (मुग्धाः) हैं जो कुत्ते से (शुना) यज्ञ करते हैं अथवा गौ के अंगों से भाँति भाँति के (पुरधा) यज्ञ करते हैं। जो इस यज्ञ को मन से जानता है वही हमें यज्ञ के रहस्य को बता सकता है ऐसे यज्ञ के रहस्यवेत्ता ज्ञानी को ही हमें बताओ। इस मन्त्र में पशुओं की बलि देकर यज्ञ करने की निन्दा की गई है। ऐसे यज्ञ करने वालों को मूर्ख कहा गया है। निकृष्ट पशुओं में कुत्ता गिना दिया गया और उत्तम पशुओं में गौ गिना दी गई। बीच में सभी प्रकार के पशु आ गए। किसी भी पशु की बलि देकर यज्ञ करने वाला याज्ञिक मूर्ख है। यज्ञ तो मन से विचारपूर्वक काम करने का नाम है। ऐसे कामों में पशुहिंसा का कोई स्थान नहीं है। इस प्रकार इस मन्त्र में पशुमात्र की बलि से यज्ञ का निषेध करते हुए गौ की बलि से यज्ञ का तो स्पष्ट ही निषेध कर दिया गया है। ऐसे यज्ञों को मूर्खों का काम बताया गया है। इस मन्त्र की उपस्थिति में वेद के किसी सन्दर्भ को गौ की बलि देकर यज्ञ करने विषयक अर्थ में नहीं लगाया जा सकता। इसलिए अथर्व वेद को इस ९।४ सूत्र को सायणादि भाष्यकारों ने जो बैल को मारकर उस के मांस से यज्ञ करन में विनियुक्त किया है वह वेद विरुद्ध है। फिर जैसा हमने ऊपर दिखाया है सायणादि का यह अर्थ इसी सूत्र की अन्तः साक्षी के भी विरुद्ध है।

वेद में गोपालन के महत्व और इस महत्वपूर्ण कार्य के सम्बन्ध में राज्य के कर्त्तव्य को अनेक प्रसंगों में बताया गया है। स्थानाभाव हमें इस प्रसंग में अधिक लिखने से रोकता है।

वेद में गोपालन का जो स्थान है वह पाठकों ने देख लिया है। हिन्दु जाति में गौ के प्रति जो आदर और स्नेह की गहरी भावना पाई जाती है उस का मूल स्रोत आर्यों के धर्मग्रन्थ वेद में गोपालन के सम्बन्ध में दिए गए उपर्युक्त और इन जैसे अन्य महत्वपूर्ण उपदेश ही हैं। ऋषि दयानन्द वेद के परम प्रचारक थे। इसी लिए वे गोपालन का प्रचार भी देश में पूरे बल से चाहते थें। इसी कारण उन्होंने गोकरुणानिधि लिखी और गो-रक्षिणी सभाओं का आन्दोलन चलाया था। वेद के ये उपदेश और ऋषि का जीवन हम आर्यों का गो-रक्षा के सम्बन्ध में जो कर्तव्य है उस की ओर स्पष्ट निर्देश करते हैं।

प्रियव्रत वेदवाचस्पति
आचार्य: गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी,
हरिद्वार

कारणवैचित्र्ये सति, कार्यवैचित्र्यम्

इस सारे ब्रह्माण्ड के मूल आधार वस्तु तीन हैं ; ईश्वर, जीव और प्रकृति। इस सिद्धान्त को वेद और शास्त्र प्रतिपादन करते हैं :—

"द्वा : सुपर्णा : सयुजा : सखाया :
समानं : वृक्षं परिषस्वजाते
तयोरन्य पिप्पलं स्वाद्वति
अनश्नन्न्योऽ भिचाकशीति। ऋग्वेद

'एक वृक्ष है। उस पर दो पक्षी हैं। एक वृक्ष के फल खाता है और स्वाद का अनुभव करता है। दूसरा निरीक्षण करता रहता है। इस मंत्र में प्रकृतिवृक्ष रूप में और दो पक्षियों में से एक जीव दूसरा ईश्वर के रूप में वर्णित है। यह आलंकारिक वर्णन है।

इसी बात को उपनिषद् में भी इसी रूप में हम पाते हैं।

"अजामेकां लोहित शुक्लकृष्णां
बह्वी: प्रजा: सृजमानां सरूपा:।
अजो ह्येको जुषमाणो ऽ नुशेते—
जहात्यनां भुक्त भोगाम जो ऽन्य:।।

'गीता' में भी श्री व्यास जी महाराज कृष्ण के मुख से कहलाते हैं :—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके, क्षरश्चाक्षर एवच।
क्षर: सर्वाणि भूतामि कूटस्थो क्षर उच्यते।।
उत्तम: पुरुषस्त्वन्य: परमात्मेत्युदाहृत:।।

इन श्लोकों में वर्णित क्षर प्रकृति है, कूटस्थ जीव है और उत्तम पुरुष परमात्मा ईश्वर है।

ईश्वर सच्चिदानन्द स्वरूप है। वह सृष्टि का कर्ता-धर्ता और संहर्ता है। यह सृष्टि का मूल कारण है अर्थात् चेतन निमित्त कारण है। यह कोई नहीं जानता कि वह इस सृष्टि को कब से बना रहा है और कब तक बनाता रहेगा? अर्थात् ईश्वर अनादि काल से सृष्टि रच रहा है और अनन्त काल तक रचता रहेगा।

दूसरी मूल वस्तु जीव है। यह संख्या में अनेक हैं। इस का स्वरुप सुख, दु:ख, इच्छा, द्वेष ज्ञान और प्रयत्न है। सब जीवों का स्वरूप एकसा है। कोई भेद नहीं। ये सभी नित्य हैं।

तीसरी मूल वस्तु प्रकृति है। यह सत्व-रजस्तमो गुणत्मिका है। शास्त्रों में लिखा है कि "सत्वं-रज-स्तम इति गुणा: प्रकृति सम्भवा:।" "सत्य रजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृति:" यह प्रकृति भी नित्य है, इसका नाश नहीं होता। सभी शास्त्रों में प्रकृति का वर्णन इसी तरह पाते हैं। एवं ईश्वर जीव और प्रकृति नामक तीन मूल तत्वों से यह दृश्यमान सारा संसार संघटित हुआ है। इससे यह सिद्ध होता है कि सारे ब्रह्माण्ड का मूल तत्व एक ही ब्रह्म को मानता तर्क विरुद्ध और अशास्त्रीय है। इसी तरह केवल मूल प्रकृति ही से सारा संसार बना मानना भी युक्तिसंगत नहीं समझना चाहिए।

इतना जानने के पश्चात् जब हम संसार को ध्यान से निरीक्षण करते हैं, तो हमारे सामने एक जटिल समस्या उपस्थित हो जाती है। यह वह है कि इस विशाल संसार में सर्वत्र नाना प्रकार की जो विचित्रता दिखाई देती है, उस का कारण क्या है? सृष्टि के अन्तर्गत पदार्थ नानाविध क्यों हैं? सृष्टि के किसी भी पदार्थ को देखें, तो हमें मालूम होता है कि वह अन्य पदार्थों से कुछ न कुछ विलक्षण व विचित्रता को लिए है,। सृष्टि के समस्त पदार्थों के अन्दर पाए जाने वाली इस विचित्रता की कोई सीमा नहीं दिखाई देती। इसका कारण क्या है? क्या यह एक समस्या नहीं? इसका उत्तर पाना अथवा इसकी विवेचना करना क्या मनीषियों का कर्तव्य नहीं?

जो लोग सच्चिदानन्द स्वरुप ब्रह्म-मात्र से यह सारा संसार उद्भूत या विवृत हुआ मानते हैं; उन के पास इस समस्या का क्या हल और क्या विश्लेषणात्मक निरुपण है? एक मात्र ब्रह्म अनेकधा (बहुधा) कैसे विवृत हुआ,? चिदात्मक ब्रह्म से इस संसार में दिखाई देने वाली जड़ता नानाविध

अचित् स्वरूप पदार्थ क्योंकर उद्भासित हो रहे हैं ? आनन्दात्मक ब्रह्म से आनन्दात्मक--दुःखमय संसार कैसे हुआ ? निर्विकार निरंजन परमात्म तत्व कैसे सविकार हो गया, केवल ब्रह्मवादियों के पास इन शंकाओं का क्या समाधान है ? जब तक इन शंकाओं का समाधान होगा, तब तक संसार गत विचित्रता का समाधान क्या हो सकता है ? कुछ भी नहीं। अतएव केवलाद्वैत ब्रह्मवादी गत विचित्रता की व्याख्या नहीं कर सके। बल्कि संसार को मिथ्या बनाकर संतुष्ट हुए। क्या वह कोई समाधान है ? एवं केवल प्रकृतिवादी विचारकों के सामने भी यह जटिल समस्या वैसे ही उपस्थित होती है। क्यों ? प्रकृति यद्यपि त्रिगुणात्मक है, सत्वरजस्तमोरूप है; तथापि सृष्टि गत नानाविधता की उत्पादक कैसे होगी ? प्रकृति यदि त्रिविध है, तो उससे बनी सृष्टि त्रिविध हो सकती है। अथवा त्रिविधता का कई बार गुणा करें, तो षड्विधता नवविधता होगी अर्थात् तीन से विभक्त करने योग्य संख्यात्मक विविधता हो सकती है, न कि शेषात्मक। इसके अतिरिक्त प्रकृति जड़ स्वरूप है। उससे चेतन पदार्थ क्यों कर उत्पन्न होंगे ? इस तरह सृष्टिगत नानाविध वैचित्र्य क्यों कर है ? ऐसी समस्या केवल प्रकृतिवादियों के सामने भी वैसी सिर उठाए सदा खड़ी रहती है। इस प्रकार क्या यह समस्या जटिल नहीं ?

इस संसार के अन्तर्गत विविधता के ठीक जानने के लिये प्राणियों के योनिभेद की और दृष्टि डालें ; तो हमें पता लगता है कि कितनी विविधता-विभिन्नता व वैलक्षण्य है ? अमीनी से लेकर मनुष्य तक जितने प्राणि वर्ग हैं, उन के भेद का क्या हम अंदाजा कर सकते हैं ? कई परिशीलकों के विचार से साठ और सत्तर लाख योनियां संसार में हैं। भारतीय विद्वानों की परम्परिक अनुश्रुति की दृष्टि से चौरासी लाख योनियां दुनियां में हैं। थोडी देर के लिए इस संख्या को बिल्कुल ठीक मान लें, तो भी हमारी समस्या हल नहीं होती। क्योंकि आखिर इतनी लाखों योनियां अर्थात् विलक्षण शरीर क्यों ? एक मानव शरीर को भी हम परिशीलता की दृष्टि से देखें तो इन शरीरों में भी परस्पर कितनी विलक्षणता अथवा वैचित्य उपलब्ध होता है।

एक शरीर से दूसरा शरीर नहीं मिलता। एक का रंग गोरा है, तो दूसरे का काला, तीसरे का पीला और चौथे का भूरा,। एक का कद उंचा है, तो दूसरे का नीचा। एक का शरीर मोटा है, तो दूसरे का पतला। किसी के अंग किसी प्रकार के नाम तोल के हैं, तो दूसरे के दूसरे माप तोल के। इसी तरह दूसरी योनियों में विलक्षणता पाई जाती है। यह सब क्यों ? न केवल मानवों अपितु सभी प्राणियों की बुद्धि में भी कितना अन्तर है।

जीव यद्यपि संख्या में करोड़ों हैं, तथापि उन के स्वरूप में कोई भेद नहीं। सभी जीवों का स्वरूप सुख इच्छा, द्वेष, ज्ञान और प्रयत्न हैं,। इस तरह जीव स्वरूपतः सदृश्य होने के कारण उनके शरीर में विविधता न होकर एक जैसापन होना चाहिए। पर ऐसा क्यों नहीं ? जीव और प्रकृति के अतिरिक्त ईश्वर को मानने वालों के निकट भी इसका क्या समाधान है ?

ईश्वर को मानने वालों में कोई कोई ऐसा भी विचित्र सम्प्रदाय है कि यदि उनसे यह प्रश्न किया जाय कि सृष्टिगत नाना प्रकार की विलक्षण क्यों हैं ? तो वे कहते हैं कि ईश्वर की इच्छा अथवा उसकी लीला है कि किसी जीव के लिए कोई शरीर और दूसरे के लिए दूसरा बना देएँ। ईश्वर स्वतंत्र है। जो

चाहे सो करता है और जैसा चाहे वैसा ही करता है। अतः इस विषय में प्रश्न ही नहीं करना चाहिए। वे लोग ईश्वर को न्याय कर्ता भी साथ मानते हैं। यदि ईश्वर न्यायकर्ता है, तो सब जीवों को एक जैसा सुखदायक शरीर ही क्यों नहीं दिया ? किसी को दुखद और किसी को सुखद शरीर क्यों। किसी को सुन्दर और किसी को असुंदर क्यों दिया ? ऐसा प्रश्न करें तो वे मौन धारण करते अथवा आकाश के तारे गिनने लगते हैं। अतः उनका यह कहना ठीक नहीं कि परमेश्वर अपनी इच्छा वे विविध शरीर बनाता रहता ह, क्योंकि वह स्वतंत्र है।

वस्तुतः इस समस्या का ठीक ठीक समाधान वे ही विद्वान् दे सकते हैं ; जो वैदिक त्रैतवाद (जीवेश्वर प्रकृति) को जानते और मानते हैं। वेद इन तीनों पदार्थों को नित्य मानता है। उनमें प्रकृति परिणाम को प्राप्त होने की योग्यता रखती है, परन्तु स्वयं स्वेच्छता से परिणत नहीं होती। ईश्वर उसे सृष्टि के रूप में परिणत करता है अर्थात् सूक्ष्म प्रकृति को स्थूल रूप में लाता है ; इसी का नाम सृष्टि है। इसी तरह स्थूल सृष्टि को सूक्ष्म रूप भी दिया करता है, ; इसी का नाम प्रलय है। जो "एकं रूप बहुधा करोति" है ; वह आत्मस्थ परमात्मा है। परमेश्वर इस प्रकृति को अनेक रूप में क्यों बदलता है ? इसी लिए, कि जीवों को अपने किये नाना कर्मों के अनेक रूप फल यथावत् भुगाने होते हैं।

वैदिक दर्शन यह बतलाता है कि जीव नित्य है। वह अपनी इच्छा से प्रयत्न-कर्म करता है अर्थात् कर्म करने में वह स्वतंत्र है। इस लिए वह जो चाहता है और जैसा चाहता है, वैसे ही करने के लिये सयत्न हो जाता है। यह तो सर्वानुभव सिद्ध भी है। इस सिद्धान्त का कोई भी विद्वान् अपलाप नहीं करता। परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि वह फल पाने में भी स्वतंत्र है। जीवों के लिये कर्मों का फल ईश्वर की और से यथा समय मिलता रहता है।

जीव कर्म करने में स्वतंत्र होने के कारण नाना प्रकार के कर्म करता रहता है। उन कर्मों की संख्या अतएव नियत भी नहीं हो सकती। एक तो जीव अनेक और दूसरा उनके किये कर्म भी अनेक। उन कर्मों के फल कितने प्रकार के हो सकते हैं ? पाठक स्वयं अनुमान कर सकते हैं कि कर्मों के फल भी बहु-विध हुए बिना नहीं रह सकते।

ईश्वर कर्म फल दाता है। जीव कर्म फल भोक्ता है।

"ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके।" कर्मों के अनुसार यथावत् फल प्राप्ति कराने के लिये ईश्वर नाना विध सृष्टि रचता है। जीव कृत कर्मों में जितनी विविधता-वैचित्र्य रहती है वैसी उतनी विविधता फलों में भी होती है। विविध रूप फलों को भोगने योग्य शरीर भी विविध रूप में ईश्वर को बनाने पड़ते हैं। और नाना विध फल सुख दुःख रूप में प्राप्त कराने के लिये जिन जिन विषय व पदार्थों के द्वारा जीवों को फल मिलता है ; उन उन भोग्य पदार्थों को भी विविध रूप में रचना ही पड़ता है। अन्यथा ईश्वर की न्याय व्यवस्था में अनौचित्य आ जाता और वह ईश्वर, वैषम्य-नैर्घृण्य-रूप दोषों का आश्रय हो जाता है।

यही वैदिक कर्म-सिद्धान्त की विशिष्टता है। अतएव वैदिक विद्वान् कर्म सिद्धान्त की ओर सर्वदा संकेत करते रहते हैं। वेदानुकूल शास्त्र भी इस विषय पर विशेष ध्यान दिलाते रहते हैं। "ये वै कपूतचरणाः कपूतां योनिमापद्यन्ते। रमणीयचरणा रमणीयां योनिमापद्यन्ते।"

इसी निश्चित सिद्धान्त को लेकर ही लोक में कई लोकोक्तियां भी बन गई हैं। "कर्मन की गति न्यारी" "यथा कर्म तथा फलम्"। जैसा करें वैसा भोगें "जैसा बोओगे वैसा काटोगे"। इत्यादि।

इसी कर्म वचित्र्य (जीवत्) के कारण संसार के अन्दर हम इतनी विचित्रता विविक्ता और अनेक रूपता पाते हैं। इसी को क्रान्तदर्शी महर्षि ने दार्शनिक भाषा म कह दिया :

कारण वचित्र्ये सति, कार्य वचित्र्यम्"

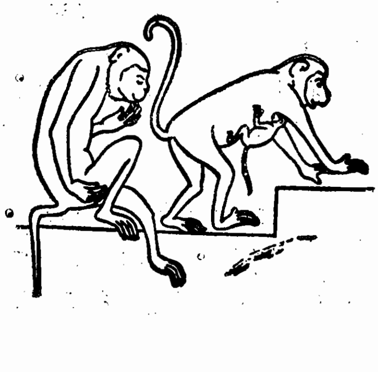

गोपदेव. दर्शनाचार्य
कूचिपूडी, आंध्र प्रदेश

मोक्ष तथा मृत्यु

मोक्ष के विषय में भिन्न भिन्न मत हैं। मोक्ष को शास्त्रकार कर्म-जन्य नहीं मानते; क्योंकि लिखा है :—

॥ अविद्यास्तमयो मोक्षः सा च वन्द्य उदाहृत : ॥

अतः मोक्ष विद्या-जन्य है। विद्या का अर्थ है, आत्म साक्षात्कार। आत्मसाक्षात्कार होने पर मनुष्य जीवन-मुक्त कहलाता है। जैसे कुम्हार चाक को एक बार घुमा देता है तथा वह चाक कई चक्कर काटता रहता है, उसी प्रकार यह शरीर कर्मों के कारण अभिमान को छोड़कर चलता रहता है। जीवन मुक्तावस्था में यदि द्वैत की प्रतीति हो तो कोई हानि नहीं। क्योंकि जैसे किसी आदमी को नेत्र दोष से दो चन्द्रमा दिखाई पड़ते हों। परन्तु जब उसे यह समझा दिया जाए कि चन्द्रमा एक ही है और उसकी समझ में आ जाए, तो दो चन्द्रमा दीखा भी करें; तो भी ज्ञानी की कोई हानि नहीं। धीरे धीरे जब संस्कार

भी हट जाएँगे ; तब उसे कैवल्य-मुक्ति की प्राप्ति होगी। मुक्ति अवस्था में भूत और भौतिक तत्व अपने कारणों में लीन होने का यत्न करते हैं। लिखा है :—

"गताः कलाः पंचदश प्रतिष्ठाः" (मुण्डकोपनिषद ३।२।७)

अर्थात् १५ कलाएँ अपने कारणों में लीन हो जाती हैं और चक्षु आदि देवता अपने कारण अग्नि आदि में लीन हो जाते हैं। तदनन्तर उसको आत्मतत्व की प्राप्ति होती है।

वस्तुतः कलाएँ १६ हैं। जो जीवात्मा से उत्पन्न होती हैं, जिनका वर्णन प्रश्नोपनिषद् के छठें प्रश्न के चौथे मंत्र में किया गया है —

"स प्राणमसृजत् प्राणाच्छ्राद्धां खं वायु र्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियं मनः। अन्न मन्नाद्वीर्यंतपो मंत्राः कर्म लोका लोकेषु नाम च :।"

अर्थात् जीवात्मा ने सबसे पहले १. प्राण को रचा ; उसके बाद शुभ कर्मों में प्रवृत्त कराने वाली २. श्रद्धा-निश्चयात्मक बुद्धि को पैदा किया ; फिर ३. आकाश ४. वायु ५. अग्नि ६. जल और ७. पृथ्वी इन पांच भूतों को—इनके अनन्तर ८. पांच ज्ञानेन्द्रियां और ९. पांच-कर्मेन्द्रियां तथा १० ग्यारहवें मन को बनाया ११. अन्न को पैदा किया, अन्न से १२. वीर्य, वीर्य से १३ तप ; तप से कर्मों के आधार भूत ऋगादि वेदों को फिर १४. मंत्र, उनसे अज्ञादि १५. कर्म ; कर्मों से शरीर और उन १६. शरीरों में नाम और रूप को रचा।

नोट :—१५ कलाएं कारण और कार्य को एक मान कर—कर्म और शरीर को एक कर दिया गया तथा शरीर में रहने वाले नाम और रूप की गणना नहीं की जाती। अतः मुण्डकोपनिषद् की १५ कलाएँ सिद्ध होती हैं। प्रश्नोपनिषद् में "लोक" शब्द का अर्थ शरीर है।

यहां जो जीवात्मा को प्राणादिकों का स्रष्टा कथन किया गया है, वह स्वकर्मों द्वारा उपचार से कथन किया गया है। वास्तव में इनका स्रष्टा ब्रह्म है जैसा कि "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः।" (तैति० ब्रह्मा० व. अ. १)

इत्यादि वाक्यों में वर्णन किया है। पांच प्राण, पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच सूक्ष्म भूत और मन, इन षोडश कला वाला जीवात्मा को कथन दिया गया है। और जो अन्नादिकों की उत्पत्ति इस प्रकरण में कथन की गई है, वह उत्पत्ति क्रम दर्शाने के अभिप्राय से है ; षोड़श कलाओं की पूर्ति के अभिप्राय से नहीं।

मोक्ष के स्वरूप के विषय में नयायिक मोक्ष में सुख नहीं मानते। वैष्णव विशेष तथा वल्लभ सम्प्रदाय के आचार्य सारुप्य, सारोप्य, सायुज्य आदि भेद से ४ प्रकार की मुक्ति मानते हैं। रामानुजी भी ४ व्यूहों को स्वीकार करते हैं। षट्गुण पूर्ण वासुदेव के लोक में रहना ही मुक्ति मानते हैं। वेदान्ती मुक्ति में सुख मानते हैं। सांख्य और योग भी सुख मानते हैं। मीमांसक कर्मों के द्वारा बन्धन से छूटने को ही मुक्ति कहते हैं। आधुनिक आचार्यों में ऋषि दयानन्द ने मुक्ति को कर्म जन्य और अवस्था-विशेष माना है। दिन और रात के अनुसार बन्ध और मोक्ष का चक्र चलता है। एसा वे कहते हैं। कुछ भी हो सभी आचार्य तत्वज्ञान से मुक्ति को स्वीकार करते हैं। जो व्यक्ति मुक्ति का भागी नहीं, वह कर्म-बन्धन में पड़ता है। गरुड़ पुराण में किन कर्मों के करने से कौन सी योनि मिलती है—इसका सविस्तार

वर्णन है। कर्मों से मनुष्य किसी प्रकार मृत्यु के बाद लोक लोकान्तरों में घूमता है और पुनः कैसे शरीर में आता है, इसका वर्णन पंचाग्नि विद्या में किया गया है ; जो पंचाग्नि विद्या निम्नलिखित है :—

पंचाग्नि विद्या

१. द्युलोकाग्नि—

मनुष्य किस अवस्था में जाकर मनुष्य बन जाता है —इस प्रश्न का उत्तर है ! गौतम। यह द्युलोक अग्नि है। जिसमें १. सूर्य ही लकड़ी है २. किरणें धुआं है ३. दिन ज्वाला है। ४. दिशाएँ अंगार ५. अन्वान्तर दिशाएँ चिनगारियां हैं। इस अग्नि में देवगण श्रद्धा का हवन करते हैं ; जिससे सोम की उत्पत्ति होती है ।

भावार्थ : संक्षिप्त रूप में यह पर देवयान-मार्ग का निरूपण किया गया है। श्रद्धा नाम जल का है ; जिस प्रकार जल बहता रहता है, उसी प्रकार कर्म प्रकार भी चलता रहता है। इसलिए श्रद्धा जल और कर्म तीनों पर्यायवाची हैं। वैदिक परिमाषामें "अप" नाम कर्मों का है। उत्तम कर्म करने पर मानव की उर्ध्व गति होती है अर्थात् देवयान मार्ग से प्रयाण होता है। पंच तंत्र में भी लिखा है :—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमंडलभेदिनौ ।
परिव्राड् योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखोहतः ॥

कर्म-श्रद्धा से अभिप्राय कर्म करनेवाले लिंग शरीर सहित जीव का है। यह जीव उत्तम कर्म करने पर द्युलोक में अन्तरिक्ष द्वारा जाता है। वहां पर सूर्य (ज्ञान) से सुखानुभव, धूम दुखःनुभूत ज्वाला, सुख वासना, दिशा और उपदिशा अर्थात् निरवधिक लोक लोकान्तरों में विचरण करता हुआ, पुनः जन्म धारण करता है। कितने समय बाद जन्म होता है, इसका उत्तर आगे मिलेगा।

२. पर्जन्याग्नि—

मेघ अग्नि है। १. संवत्सर समिधा है, २. बादल धुआँ है, ३. बिजली लपट ह, ४. अशनि अंगार है, ५. मेघ गर्जन विस्फुलिंग है ।

३. इहलोकाग्नि :—

यह लोक ही अग्नि है। १. पृथ्वी समिधा २. अग्नि धूम है, ३. रात्रि ज्वाला है, ४. चन्द्रमा अंगार है, ५. नक्षत्र विस्फुलिंग है। इस अग्नि में वृष्टि का होम होता है और आहुति से अन्न होता है।

४. पुरुषाग्नि :—

पुरुष ही अग्नि है १. उसका खुला हुआ मुख ही समिधा है, २. प्राण धूम है, ३. वाक् ज्वाला है ४ नत्र अंगार हैं, ५. श्रोत्र विस्फुलिंग है। इस अग्नि में देवगण अन्न का होम करते हैं ; जिससे वीर्य उत्पन्न होता है ।

५. योषाग्नि :—

स्त्री ही अग्नि है। १. उपस्थ ही उसकी समिधा है, २. लोभ धूम है, ३. योनि ज्वाला है, ४. मैथुन अंगार है, ५. आनन्द लेश विस्फुलिंग है। इस अग्नि में देवता लोग वीर्य का होम करते हैं ; जिससे पुरुष उत्पन्न होता है ।

सारे कथन का भाव यह है कि जीव पहले द्युलोक में जाएगा फिर पर्जन्य लोक में आएगा। फिर वहां से पृथ्वी लोक में आवेगा। अन्न द्वारा वहां से पुरुष में वीर्य रूप में आएगा फिर माता के गर्भ में आकर जन्म ग्रहण करेगा। यह हुआ देवयान मार्ग। इस का ही पंचम प्रश्न के उत्तर के रूप में विशेष वर्णन किया गया है। जो लोग इस प्रकार का तत्त्व ज्ञान रखते हुए अरण्य में श्रद्धा और सत्य की उपासना करते हैं, वे ज्योतिष्-पथ से रात्रि और दिन के चक्कर में न पड़कर ६ मास तक उत्तरायण सूर्य होने के समय प्राण परित्याग कर के देवलोक में जाकर क्रमशः सूर्य लोक, विद्युत् लोक, ब्रह्म लोग को प्राप्त करते हैं।

इसके विपरीत धूम्र यान मार्ग हैं, जिनमें पड़ कर जीवन ८४ लाख योनियों को प्राप्त करता है। जिसका वर्णन निम्न लिखित है। इसके वर्णन से ही द्वितीय अर्थात् इस लोक में कितनी बार आता है?

और तृतीय अर्थात् मरण पथ के निरन्तर प्रवाहित होने पर खचाखच क्यों नहीं भर जाता? इन प्रश्नों का भी उत्तर आ जाएगा।

जो लोग कर्म प्रधान हैं, वे ज्ञान-विहीन हैं। वे धूम्र यान मार्ग से कृष्ण पक्ष के द्वारा सूर्य के दक्षिणायन होने पर पितृ लोक में जाकर (यहां पितृ लोक का अर्थ अष्ट वसु हैं) पंच महाभूत, काल सूर्य और चन्द्रमा ये आठ वसु माने गये हैं। कहीं कहीं इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना, अपराजिता गांधारी, हस्ति-जिह्वा, पूषा, अलम्बषा कुधू, शंखिनी, तालुजिह्वा, इमजिह्वा, विजया, कामदा, अमृता, बहुला—इन नाडियों के रहनेवाले अष्ट गति वाले प्राणों को ही अष्टा-वसु शब्द से पुकारा गया है। क्योंकि "वसति शरीरे जति वसु" यह व्युत्पत्ति है। वहां से आकाश, वायु, वृष्टि, पृथ्वी, अन्न आदि लोकों में विचरता हुआ जीव पुरुष और योषा नामक अग्नि के द्वारा मनुष्य का शरीर प्राप्त करता है। पर जो अज्ञानी हैं; वे मनुष्य ही प्राणियों के पेट में अन्न के द्वारा जाकर अन्नस्था जीव आति-वाहिक, शरीर में आने पर मल भाग से क्षेत्रादि में खाद वग़ैरह के रूप में पड़ कर वर्षों बाद भिन्न भिन्न प्रकार की ८४ लाख योनियों में पड़ते हैं अर्थात् कीट, पतंग, सर्प, बिच्छू, आदि के रूप में जन्म लेते हैं।

पहले प्रश्न—"जीवों को भिन्न भिन्न मार्गों की गति किस प्रकार से मिलती है?" का उत्तर यह है कि वे कर्मवश अग्नि के द्वारा या पृथ्वी के द्वारा या विष्ठा के द्वारा, देह परित्याग करने पर कर्मानुसार भिन्न भिन्न मार्गों से जाते हैं। जिसमें ब्रह्म रन्ध्र से जीव उत्क्रमण या देह के नव छिद्रों में से जीव का उत्क्रमण भी सम्मिलित है। इस उत्क्रमण के अनुसार उनका मार्ग भिन्न है।

(उपनिषद् बृहदारण्य, अध्याय ६, ब्राह्मण २)

वेद के निम्नलिखित मंत्र में लोकलोकान्तरों में जीव के भ्रमण करने का वर्णन मिलता है। वह मंत्र यह है—

"ॐसविता प्रथमे ऽ हन्नग्निर्द्वितीये वायुस्तृतीय आदित्यश्चतुर्थे चन्द्रमाः पंचम ऋतुः षष्ठे मरुतः सप्तमें बृहस्पतिरष्टमे मित्रो नवमे वरुणो दशम इन्द्र एकादशे विश्वेदेवा द्वादशे।"

(यजु० ३९।६)

इस मंत्र में सूर्य, अग्नि वायु, आदित्य, (द्युलोक), चन्द्र, ऋतु, मरुत बृहस्पति, मित्र, वरुण, इन्द्र, विश्वेदेव नामक स्थानों पर यात्रा करता हुआ जीव १३ वें दिन गर्भ में आ जाता है, यह लिखा है। अतएव १३ दिन का ११ दिन का आशौच भी माना गया है ।

योग दर्शन में कर्म फलों के विषय में लिखा है कि :—

" कर्मनदी नाम उभयतोवाहिनी
वहति पुण्याय, वहति पापाय "

(योग दर्शन)

अतः यह नहीं कहा जा सकता कि कौन से कर्म का उदय कब होगा। अतएव अनक पापी सुखी देखे जाते हैं और अनेक धर्मात्मा दुःखी। पर इससे धर्म भ्रष्ट होने की शिक्षा लेना विवेकशील व्यक्ति का कर्तव्य नहीं।

हरिदत्त शर्मा, शास्त्री, एम. ए.
अध्यक्ष, संस्कृत विभाग
डी. ए. वी. कालेज, कानपुर

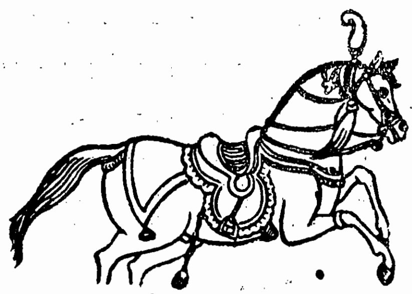

शांति

कर्म का सिद्धान्त

हमारे देश की प्रचलित कथाओं के अनुसार मनुष्य देह चौरासी लाख योनियों के बाद मिलता है। एक अन्धे का दृष्टान्त दिया जाता है जो चौरासी लाख दरवाज़ों वाली धुम्मरघेरी के भीतर उसकी दीवार के साथ साथ बाहर निकलने का रास्ता टटोल रहा है। इसमें केवल एक दरवाज़ा खुला है जिसमें से बाहर निकला जा सकता है, बाकी सब रास्ते बन्द हैं, परन्तु जब वह अंधा हाथ से टटोलता टटोलता खुले दरवाज़े के समीप पहुंचता है तो उसे ज़ोर की खुजली उठती है, और वह आगे निकल जाता है और फिर चौरासी लाख दरवाज़ों को खटखटाने के फेर म पड़ जाता है। पशु पक्षियों की भिन्न-भिन्न योनियां वे बन्द दरवाज़े हैं जिनमें से आत्म-तत्व बाहर निकल कर स्वतंत्र होने का प्रयत्न करता है परन्तु इनमें से निकल नहीं सकता। मनुष्य की योनि खुला दरवाज़ा है, इस पर पहुंच कर यह आत्मा अपन बन्धनों को काट कर स्वतंत्र हो सकता है। परन्तु काम-क्रोध-लोभ-मोह की खुजली उसका ध्यान दूसरी तरफ़ खींच देती है और वह फिर जन्म–जन्मान्तरों के इसी चक्र में फिरता हुआ बाहर निकलने का रास्ता टटोला करता है।

कर्म तथा कार्य-कारण का नियम :

इस सारे लम्बे चौड़े चक्र में पड़ जाने का कारण क्या है ? उनका कहना था कि इसका कारण है — " कर्म "। परन्तु यह कर्म क्या वस्तु है ? भौतिक जगत् का आधारभूत नियम कार्य-कारण का नियम है इसे सब कोई जानता है। कोई कार्य ऐसा नहीं हो सकता जिसका कारण न हो, न कोई कारण ही ऐसा हो सकता है जिस कारण का कार्य नहीं वह कारण नहीं। यही कार्य-कारण का नियम जब भौतिक जगत् के स्थान में आध्यात्मिक जगत् में काम कर रहा होता है तब इसे कर्म का सिद्धान्त कहते हैं। कार्य कारण के भौतिक नियम का आध्यात्मिक रूप ही " कर्म " है।

कार्य कारण का नियम भौतिक-जगत् का एक अटल नियम है। कारण उपस्थित होगा तो कार्य हो कर रहेगा। एक सुन्दर एक मास का बच्चा पाला पड़ते हुए नंगा बाहर पड़ा रह गया। उसे सर्दी लग ही जाएगी, सर्दी इस बात की परवाह नहीं करेगी कि बच्चा छोटा-सा है, एक मास का ही है, सुन्दर है, माता पिता की भूल से बाहर रह गया है, उसका अपना कोई दोष नहीं है। कुछ नहीं, किसी बात की रियायत नहीं: कारण उपस्थित हुआ है, कार्य होगा, अवश्य होगा। किसी तरह की ननु-नच की सुनवाई नहीं होगी। पत्थर से टक्कर होगी तो चोट लगेगी, आग में हाथ पड़ेगा तो झुलस जाएगा, पानी में कपड़ा गिरेगा तो गीला अवश्य होगा—यह निर्दय, निर्मम कार्य कारण का नियम विश्व का संचालन कर रहा है। इस नियम से ही सूर्य उदय होता है, चन्द्र अपनी रश्मियों का विस्तार करता है, पृथ्वी अपनी परिधि पर घूमती है, समुद्र में ज्वार-भाटा आता है। अवश्यम्भावी तो कार्य-कारण के नियम की आत्मा है। कारण का अर्थ अवश्यम्भाविता है उसे टाला नहीं जा सकता।

" अवश्यम्भाविता " के साथ साथ कार्य-कारण का नियम एक " चक्र " में चलता चला जाता है। कारण कार्य को उत्पन्न करता है, यह कार्य फिर कारण बन जाता है, अपने से अगले कार्य को उत्पन्न कर देता है— और इस प्रकार प्रत्येक कारण अपने से पिछले का कार्य और अगले का कारण बनता चला जाता है, और यह प्रवाह सृष्टि का अनन्त प्रवाह बन जाता है। बीज वृक्ष को जन्म देता है, और यह परम्परा अनन्त की ओर मुख किए आगे ही आगे बढ़ती चली जाती है।

क्योंकि " कर्म " का सिद्धान्त कार्य-कारण का ही सिद्धान्त है इसलिए " कर्म " में भी कार्य कारण की दोनों बातें-अवश्यम्भाविता तथा चक्रपना पाई जाती है। प्रत्येक कर्म का फल अवश्य भोगना पड़ता है—यह " अवश्यम्भाविता " है। प्रत्येक कर्म का फल फल ही न रहकर स्वयं एक कर्म बन जाता है—यह " चक्र " है। कर्म का " चक्र " कैसे चलता है ? हमें किसी ने मारा, यहाँ ये फल है, या " कर्म " है या कार्य है या कारण है ? या तो यह हमारे किसी कर्म का हमें " फल " मिला है या जिसने हमें मारा उसने एक नया " कर्म " किया, एक नया कारण उत्पन्न किया जिसका उसे फल मिलता है। अगर हमें " फल " मिला है तो यह किसी कारण का कार्य है और अगर हम थप्पड़ खाकर चुप रह जाएँ, गुस्सा तक न करें, तो यह फल शांत हो जाए, और अगली कार्य-कारण परम्परा को खड़ा न करें। परन्तु ऐसा नहीं होता। हमें किसी ने मारा, इसलिए हम उसका बदला अवश्य लेंगे, सीधे थप्पड़ का जवाब थप्पड़ से न दे सकेंगे, तो दूसरी किसी उपाय की सोचेंगे, और कुछ नहीं, तो बैठ बठे मन में ही संकल्प विकल्पों का ताना बाना बुनेंगे। नतीजा यह हुआ कि अगर यह फल था, किसी पिछले कारण का कार्य था तो भी यह सिर्फ़

कार्य या फल न रहकर फिर कारण बन जाता है और अगले कार्य के चक्र को चला देता है। और अगर यह फल नहीं था, एक नया कारण था, जिसने हमें थप्पड़ मारा उसको एक नया ही कर्भ था, तब तो कार्य-कारण के नियम के अनुसार इसका फल मिलता ही है—इससे भी चक्र का चल पड़ना स्वाभाविक ही है। हर हालत में प्रत्येक "कर्म—चाहे वह कारण हो, चाहे कार्य-डाक चक्र को चला देता है, और प्रत्येक कर्म पिछले कर्म का कार्य और अगले कम का कारण बनता चला जाता है। इस प्रकार यह "आत्म-तत्व" कर्मों के एक ऐसे जाल से बंध जाता है जिसमें से निकलने का कोई उपाय नहीं सूझता। इसमें से निकलने का हर झटका एक दूसरी गांठ बांध देता ह, और जितनी गांठ खुलती जाती हैं उतनी ही गई गांठ पड़ती भी जाती है।"

कर्म का चक्र तथा भाग्य :

कार्य-कारण के अटल नियम में से बच निकलने का कोई रास्ता नहीं, तो क्या कर्म के बन्धनों से बच निकलने का भी कोई रास्ता नहीं? तथा जो कुछ हो रहा है ठीक हो या ग़लत—ऐसा होना ही है कुछ टल नहीं सकता, जो कुछ हो रहा है वह कर्मों का फल है, जो कुछ होगा वह कर्मों का फल होगा, हम इसमें क्या कर सकते हैं? अगर बुरा हो रहा है तब भी हमारे बस का नहीं अगर अच्छा हो रहा है तब भी हमारे बस का नहीं। कार्य कारण के अटल नियम की तरह कर्म का अटल नियम भी काम करेगा, हम चाहेंगे तब भी करेगा न चाहेंगे, उलटा चाहेंगे, तब भी करेगा। इसी को आम बोलचाल की भाषा में "कर्मों का लेखा" "प्रारब्ध," "भाग्य," "दैव" आदि शब्दों से कहा जाता है। अगर कार्य-कारण का नियम ही आध्यात्मिक जगत् का कर्म—सिद्धान्त है, तो जैसे कार्य-कारण के नियम में "अवश्यम्भाविता" और "चक्रता" है, वैसे कर्म में भी अवश्यम्भाविता और चक्र का होना आवश्यक है—यही "प्रारब्ध" है, "भाग्य" है, "दैव" है। अच्छा बुरा जो कुछ हो रहा है वह कार्य-कारण का विस्तार है, पिछले कारण ऐसे थे जिनसे वर्तमान कार्य ही उत्पन्न हो सकते थे, दूसरे नहीं, इस समय के कार्यों से ऐसे कारण बन रहे हैं जिनसे आगे होने वाले कार्य ही उत्पन्न हो सकते हैं दूसरे नहीं। कर्मों के सिद्धान्त को मान कर चलने का यह भयंकर परिणाम सामने आ खड़ा होता है। आत्मा की स्वतंत्रता—यह स्वतंत्रता जिसके लिए हम क्षण-क्षण तरसते हैं, जिसके लिए जातियाँ और देश सदियों तक जीवन-मरण का युद्ध किया करती हैं—यह स्वतंत्रता एक मरु-मरीचिका की तरह कभी हाथ में न आने वाली वस्तु हो जाती है। पुरुषार्थ के स्थान में भाग्य एक लम्बा लेखा लेकर हमारे सामने आ खड़ा होता है।

कर्म तथा वर्तमान विज्ञान :

इस उलझन में से निकलने का क्या रास्ता है? सबसे आसान रास्ता तो यह है कि कर्म के सिद्धान्त को ही न मानें। जो कुछ हो रहा है इस जन्म में हो रहा है। हम पैदा हुए माता-पिता के रज-वीर्य द्वारा उनके तथा "वंश-परम्परा" प्राप्त संस्कारों को लेकर जन्में, उसके बाद जैसी परिस्थिति, में रहे उसके अनुसार बने या बिगड़े, अन्त में समाप्त हो गए। वर्तमान विज्ञान यही मानता है। परन्तु इस विचार में भी "स्वतंत्रता" कहां है? वंश-परम्परा और "परिस्थिति" ही तो हमें बनाती है। माना कि इस विचार में पिछले जन्म के कर्म नहीं माने जाते, परन्तु इस जन्म में वंश-परम्परा के, माता-पिता के ही नहीं, पितामह, प्रपितामह और पिछली सभी पीढ़ियों के संस्कारों में बंध कर पैदा होना, और इस जन्म में भी

परिस्थिति का ही दास बने रहना, परिस्थिति को अपने अनुकूल बनाने के स्थान में परिस्थिति के थपेड़े खाकर जैसा वह बनाए वैसे बन जाना—इसमें आत्मा की स्वतंत्रता कहाँ है, पुरुषार्थ कहाँ है ? फिर विज्ञान जिसका आधार ही कर्म-कारण का नियम है, कर्म के उस सिद्धान्त से कैसे इनकार कर सकता है जो अगर कुछ है तो कार्य-कारण का ही नियम है, और कुछ नहीं। यह कैसे हो सकता है कि जीवन जैसी एक महान् घटना आकस्मिक रूप से हो जाए और उसका पीछे कोई नाम-निशान तक न हो, इस जीवन में कुछ देर रह कर एक दम समाप्त हो जाए, और आगे उसका कुछ अता-पता नहीं ? यही होना और यही समाप्त हो जाना असम्भव है तभी सम्भव है अगर कार्य कारण का नियम काम न करता हो। अगर पिछले जन्म के कर्म इस जन्म के कारण नहीं हैं तो जीवन प्रारम्भ करते ही हम सब में इतनी विषमता क्यों है—अभी तो हमने कुछ किया ही नहीं ? इसका उत्तर आधुनिक विज्ञान के पंडित "वंश-परम्परा" और परिस्थिति से देते हैं। माता पिता के रज-वीर्य की भिन्नता, और जिन भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में वे अपनी संतान को रखते हैं उससे प्राणी - प्राणी में भेजने उत्पन्न हो सजाता है। इसका अभिप्राय तो यह हुआ कि हम ने कुछ नहीं किया, माता-पिता ने किया, फल हमें मिला। माता-पिता के अच्छे बुरे कर्मों का फल माता-पिता को मिलना चाहिए, या हमें ? प्रश्नों का प्रश्न, महान् प्रश्न यह प्रश्न जिसका "वंश-परम्परा" तथा "परिस्थिति" का नाम लेने वाले विज्ञान के पास कोई उत्तर नहीं है, यह है कि हमने क्या किया था जो हमें ऐसे माता-पिता के साथ बांध दिया गया जिनके रज-वीर्य में रोग के कीटाणु थे, जो हमें अच्छी परिस्थिति में नहीं रख सकते थे ? इसका उत्तर इसके सिवाय क्या दिया जा सकता है कि हम कुछ हैं ही नहीं, हम तो एक आकस्मिक घटना हैं, आकस्मिक रूप में हो गए, आकस्मिक रूप में ही समाप्त हो जाएँगे। परन्तु कार्य-कारण का अटल नियम मानने वाले विज्ञान के यहां तो आकस्मिक कुछ है ही नहीं। ऐसी अवस्था में "वंश परम्परा" और परिस्थिति मान लेने से ही जन्म की प्रारम्भिक विषमताओं को आकस्मिक मानना पड़ता है। इसके अतिरिक्त अच्छे माता-पिता की बुरी सन्तान बुरे माता-पिता की अच्छी सन्तान, उत्तम से उत्तम परिस्थिति में नीच से नीच व्यक्ति, नीच से नीच परिस्थिति में उत्तम से उत्तम व्यक्ति क्यों पैदा हो जाते हैं ? फिर अन्त में यह सारा लेखा एकदम समाप्त हो जाता है। ऐसा क्यों ? हरेक बही खाता जब शुरू होता है, तो कुछ रक़म लेकर शुरू होता है हर दिन के जोड़ में कुछ लेना, कुछ देना बना रहता है, साल के बाद जब दूसरी बही खोली जाती है तब पिछली का लेना देना अंकित करके हिसाब आगे चलता है। क्या जीवन की बही बिना किसी हिसाब के है ? यह बिना लेने-देने के शुरू हो जाती है, बिना लेखा पूरा किए समाप्त हो जाती है। ऐसा कैसे हो सकता है ? —नहीं हो सकता, विज्ञान भी जब तक कार्य कारण के नियम पर स्थित है आर्य संस्कृति के कर्म के सिद्धान्त से इनकार नहीं कर सकता।

कर्म तथा मत-मतान्तर :

यहूदी, ईसाई तथा मुसल्मान कर्म के सिद्धान्त को अटल रूप से नहीं मानते। उनका कहना है कि इस जन्म में परमात्मा ने आत्मा को पैदा कर दिया। उनके कर्मों के कारण पैदा कर दिया था। यों ही पैदा कर दिया—इसका उनके पास कोई उत्तर नहीं। इस जन्म में अच्छे कर्म करने वाले स्वर्ग चले जाएँगे, बुरे कर्मों वाले नरक चले जाएँगे। वे वर्तमान वैज्ञानिकों की तरह जीवन का आकस्मिक उत्पन्न होना तो मानते हैं—भले ही परमात्मा ने उत्पन्न किया हो, हुआ तो यों ही, बिना हमारी जिम्मेदारी के परन्तु वर्तमान वैज्ञानिकों की तरह इस सब हिसाब-किताब को अकारण राख करके चल देना नहीं मानते।

इस जन्म के कर्मों का फल स्वर्ग या नरक मानते हैं। परन्तु इस जन्म के थोड़े से कर्मों का अनन्त फल कैसे हो सकता है ? हमने इस जन्म में कुछ अच्छे काम किए, कुछ बुरे किए। अगर अच्छे बुरों की अपेक्षा कुछ ज्यादा हो गए तो हमें सदा के लिए स्वर्ग मिल गया, अगर कुछ कम रह गए तो सदा के लिए नरक में ढकेल दिए गए—यह कार्य-कारण नियम के विपरीत है। कर्म का सिद्धान्त अगर ठीक है तो पूर्व भी मानना पड़ता है, पुनर्जन्म भी मानना पड़ता है। यह तो हमें दीख रहा है कि अगर कार्य-कारण का नियम एक सत्य नियम है, तो कर्मों का लेखा भी एक अमिट लेखा है, यह हिसाब पीछे से चला आता है। इस जन्म में यह हमारे हाथ में आ जाता है, और जब इस जन्म में हम जीवन की इस बही को बन्द करते हैं तो आगे कहीं इसी लेने-देने से अगला हिसाब शुरू करते हैं इसी हिसाब से बंधे रहते हैं। और कोई कल्पना कार्य-कारण से नियम को छोड़कर ही की जा सकती है, इसके बिना नहीं।

कर्म, भाग्य अथवा पुरुषार्थ—एक समस्या :

तो फिर वही प्रश्न जहाँ का तहाँ उठ खड़ा होता है। क्या हम प्रारब्ध से, दैव से, भाग्य से पिछले कर्मों से इस प्रकार जकड़े हुए हैं कि इनकी अवश्यम्भाविता और इनके "चक्र" में से निकल ही नहीं सकते, जो कह देता है वह होना ही है, मस्तक में जो रेखा खिच चुकी वह अमिट है या जीवन में पुरुषार्थ को, स्वतंत्रता को भी कोई स्थान है यह नया कुछ भी कर सकता है ? आर्य संस्कृति ने विश्व में कार्य-कारण के व्यापक भौतिक नियम को देख कर उसी को आध्यात्मिक जगत् में कर्म के सिद्धान्त का नाम दिया, कम के सिद्धान्त को मानने से उसके लिए पूर्व जन्म तथा पुनर्जन्म माना आवश्यक हो गया परन्तु इनके मानने से उसके सामने एक महान् समस्या उठ खड़ी हुई। आत्मा को आर्य संस्कृति कर्ता मानती है कर्म नहीं, भोक्ता मानती है भोग्य नहीं ,स्वतंत्र मानती है, फिर कर्म के सिद्धान्त के साथ जिसमें आत्मा परतंत्र हो जाता है, यह आत्म-तत्व की स्वतंत्रता की संगति कैसे करे ?

भाग्य तथा पुरुषार्थ आत्म तत्व का कर्मों के बन्धन के साथ बंधा होना तथा स्वतंत्र रूप से कार्य कर सकना—इन दोनों बातों की संगति समझने के लिए "कर्म" को कुछ और गहराई से समझने की जरूरत है।

संचित, प्रारब्ध तथा क्रियमाण-कर्म :

"कर्म" तीन तरह का माना गया है—संचित, प्रारब्ध तथा "क्रियमाण"। पिछले जन्मों से लेकर अब तक का जितना कर्म है वह संचित कहलाता है। संचित कर्मों में से किन्हीं का फल मिल चुका है वे अब संचित नहीं रहे, कुछ का मिलने लग रहा है, कुछ का अभी मिलना बाक़ी है। जिनका फल मिल चुका था मिलने लग रहा है उन्हें "प्रारब्ध कहते हैं। प्रारब्ध इसलिए क्योंकि उनका फल मिलना प्रारम्भ हो गया है। जिन कर्मों का अभी फल मिलना बाकी रह गया वे संचित की श्रेणी में ही हैं। संचित और प्रारब्ध कर्मों में इतना ही भेद है कि संचित कर्मों का जब फल मिल जाए, या मिलना प्रारम्भ होने के कारण प्रारब्ध कहाता है। वास्तव में "संचित" और "प्रारब्ध" दोनों का भूत कर्मों से सम्बन्ध है। वर्तमान में जो कर्म हम कर रहे हैं वे "क्रियमाण" कहाते हैं परन्तु "क्रियमाण" कर्म ही झट से "संचित" की श्रेणी में चले जाते हैं। इस जन्म से उठकर अगर हम पिछले जन्म में चले जाएँ तो इस जन्म के जो "संचित-कर्म" हैं वे उस जन्म के "क्रियमाण"—कर्म थे, और अगर हम इस जन्म से अगले आने वाले जन्म की दृष्टि से देखें तो जन्म के जो "क्रियमाण"—कर्म हैं वे अगले जन्म के "संचित" कर्म होंगे। असली कर्म

"संचित" और "क्रियमाण" कर्म हैं। "प्रारब्ध" तो "संचित" और क्रियमाण कर्म—क्रियमाण-कर्म जब संचित बन जाते हैं—इनके फल के प्रारम्भ हो जाने का नाम है। इसीलिए जब कोई अच्छा या बुरा फल प्रारम्भ हो जाता है तब हम कहते हैं—प्रारब्ध में ऐसा लिखा था"। बिना प्रारम्भ हुए कैसे कहें प्रारब्ध में ऐसा था। एक आदमी को बैठ-बैठे सांप आ कर डस गया। जब तक नहीं डसा तब तक हम नहीं कहते कि प्रारब्ध ऐसा था, जब डस गया तब कहते हैं कि प्रारब्ध में ऐसा लिखा था। तब इसलिए कहते हैं क्योंकि इस समय फल मिलना प्रारम्भ हो गया दीखने लगता है।

क्या क्रियमाण-कर्म स्वतंत्र हो सकता है ?

कर्म-सिद्धान्त की वास्तविक समस्या "क्रियमाण" कर्म की है। जो कर्म हम इस समय करने लगे हैं वह बिल्कुल नया, स्वतंत्र कर्म है, या यह किसी पिछले कर्म का फल है, यह किसी कारण का कार्य है, या एक नया कारण है जो किसी अगले कार्य को उत्पन्न करने वाला है? इसी प्रश्न के हल में "भाग्य "या पुरुषार्थ की समस्या का हल छिपा है।

इस प्रश्न के दो उत्तर तो स्पष्ट हैं। एक तो यह कि "क्रियमाण" कर्म कोई स्वतंत्र कर्म नहीं है कार्य-कारण की अनन्त काल से चली आ रही लड़ी की यह एक कड़ी है, दीखने को यह एक स्वतंत्र कर्म दीखता है, परन्तु वास्तव में पिछले कर्म का यह फल है, यह ऐसा ही होता है, इससे भिन्न नहीं हो सकता। जो विचारक कर्म के सिद्धान्त को कार्य-कारण का सिद्धान्त ही मानते हैं वे इस के अतिरिक्त दूसरी बात कैसे कह सकते हैं? इसीलिए "कर्म" का सिद्धान्त मानने वाले प्रायः भाग्यवादी हो जाते हैं, जो कुछ हो रहा है उसे अमिट, अवश्यंभावी मानते हैं, उसमें परिवर्तन नहीं हो सकता—ऐसा मानते हैं। इस प्रश्न का दूसरा उत्तर यह है कि क्रियमाण" कर्म एक स्वतंत्र कर्म है, हम जो चाहें कर सकते हैं किसी पिछले बंधन से हम बंधे नहीं। इस बात को मानने से कार्य-कारण के नियम को छोड़ना पड़ता है। इन दो उत्तरों के अतिरिक्त इस प्रश्न का एक तीसरा उत्तर भी है। यह उत्तर आर्य-संस्कृति का है।

तीसरा उत्तर यह है कि कार्य-कारण के नियम और कर्म के सिद्धान्त में जहाँ समानता है, वहाँ उस समानता के साथ एक भिन्नता भी है। कार्य-कारण का नियम भौतिक जगत् का नियम है, आग, पानी हवा का नियम है, कर्म का नियम आध्यात्मिक-जगत् का नियम है, उस जगत् का नियम है जहाँ "चेतना नाम की एक नवीन सत्ता क्रिया करने लगती है। भौतिक जगत् स्वतंत्र जगत् नहीं है, दूसरे किसी के अधीन है। यह दूसरा कौन है? कोई कहता है परमात्मा है, कोई कहता है नियम है—परन्तु जो कुछ हो, भौतिक जगत् स्वतंत्र नहीं है, परमात्मा मानों तो भी, न मानों तो भी, यह कार्य-कारण के महान् नियम के अधीन है, उससे इधर-उधर नहीं हो सकता। आत्म तत्व के साथ यह बात नहीं है। आत्म भौतिक पदार्थों से एक भिन्न तत्व है। आत्म-तत्व में स्वतंत्रता की अनुभूति प्रत्येक व्यक्ति को होती है। इसमें संदेह नहीं कि मैं चारों तरफ़ से बंधा हुआ है, परन्तु इस में भी संदेह नहीं कि मैं अनुभव करता हूं कि मैं इन बन्धनों में से निकल भी सकता हूं। हरेक प्राणी हर बन्धन को तोड़ने के लिए हर समय झटका दिया करता है, स्वतंत्र होना चाहता है, बंद रहना नहीं चाहता, बन्धन को देखकर जिस किसी उपाय से, सफल हो, असफल हो, उसे काटा करता है। मनुष्य ही नहीं, पशु-पक्षी तक में बन्धन से निकल जाने की एक प्रबल भावना है। आग-पानी हवा में, भौतिक जगत् के किसी तत्व में तो ऐसा नहीं। वे तो कार्य

कारण के नियम से ऐसे जकड़े हुए हैं कि करोड़ों वर्षों से सूर्य जहाँ का तहाँ अपनी परिधि में चक्कर काट रहा है, चन्द्र-तारे एक सूत भी अब्द वर्षों से इधर-से उधर नहीं हिले, उनकी विशेषता ही उनका कार्य-कारण के नियमों में बंध रहना है। परन्तु मनुष्य पशु-पक्षी ,कीट -पतंगे ? ये जब से सृष्टि में आए तभी से बन्धन से विद्रोह कर रहे हैं, इनके गले में बड़े बड़े मजबूत रस्से पड़े हैं, परन्तु उन रस्सों को तोड़ने के लिए लगातार झटके पर झटके दिया करते हैं। इसका कारण क्या है ? इसका कारण यही है कि यद्यपि आत्म तत्व बन्धन मे है, तथापि इसका स्वभाव बन्धन में पड़े रहने का नहीं है। यह बंधन में आया है बन्धन में से निकलने के लिए, कर्म में फंसा है कर्म को काटने के लिए, कार्य-कारण में उलझा ह कार्य-कारण की गांठ को खोल कर उससे नहीं परन्तु उसमें से स्वतंत्र हो जाने के लिए।

कार्य-कारण तथा कर्म में यही भेद है। कर्म इसमें संदेह नहीं, कार्य-कारण का ही नियम है, परन्तु भेद यह है कि " कार्य-कारण " जड़ जगत् का कर्म चेतन जगत् का नियम है, कार्य-कारण अन्धा नियम है, कर्म सुजाखा नियम है, कार्य-कारण प्रकृति का नियम है, कर्म आत्म-तत्व का नियम है, प्रकृति का स्वभाव ही कार्य-कारण के बन्धन में पड़े रहने का है आत्म तत्व का स्वभाव ही बन्धन से निकलने का, कार्य कारण की, कर्मों की भारी-भारी हथकड़ियों को, बेड़ियों को काट देने का है। अगर आत्म तत्व एक स्वतंत्र तत्व न होता, तब प्रकृति की तरह यह भी कार्य-कारण की बेड़ियों में जकड़ा रहता, तब जो हो रहा है वह अवश्यम्भावी होता परन्तु कार्य संस्कृति की घोषणा है कि आत्म-तत्व प्रकृति से भिन्न एक स्वतंत्र तत्व है। यह जब तक प्रकृति के साथ अपने को एक किए बैठा है तब तक कार्य-कारण की उलझन में पड़ा हुआ है, जहाँ इसने अपने स्वरूप को पहचाना वहीं यह कर्मों के बंधन से साफ़ निकल कर बाहर आ खड़ा हो सकता है।

तो फिर क्या स्थिति हुई ? क्या " क्रियमाण " –कर्म अवश्यंभावी है, एक चक्र के परिणाम हैं या स्वतंत्र भी हो सकते हैं। आर्य संस्कृति की जिस विचारधारा का हम-अभी उल्लेख किया उसके अनुसार ये दोनों हो सकते हैं। कर्म, कार्य-कारण का ही एक रूप हैं, अिसलिए हमारे " क्रियमाण " कर्म, वे कर्म जिन्हें हम इस जन्म में, इस समय कर रहे हैं पिछले कर्मों का फल भी हो सकते हैं, कार्य-कारण की श्रृंखला में एक कड़ी ही हो सकते हैं, और क्योंकि आत्म-तत्व की नींव ही स्वतंत्रता पर खड़ी है, इसलिए ये क्रियमाण-कर्म आत्म-तत्व के इस जन्म के सर्वथा स्वतंत्र कर्म भी हो सकते हैं। इन्हें पिछले जन्मों का फल या इस जन्म से स्वतंत्र कर्म मानने से कार्य कारण के नियम में कोई त्रुटि नहीं आती।

कर्म के सिद्धान्त को मानने में सबसे बड़ी निराशा की बात यह आ पड़ती है कि हम अपने को स्वतंत्र कहना कर्म करने में, पुरुषार्थ करने में अशक्त पाते हैं, सब कुछ दैव, भाग्य समझने लगते हैं। आर्य -संस्कृति का कहना है कि "आत्म-तत्व" के यथार्थ स्वरूप को समझ लेने से यह निराशा जाती रहती है। आत्म-तत्व कर्मों से बंधा है, कार्य कारण के इधर-उधर नहीं जा सकता यह बात ठीक है परन्तु यह बात भी ठीक है कि इसमें स्वतंत्र कार्य करने की उग्र भावना भी है। यह तो हमें दीखता है, इसे किसी युक्ति से सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं रहती। अगर स्वतंत्र कार्य करने की भावना भी कर्मों का ही फल है, कार्य-कारण के नियम का ही परिणाम है तब तो यह बहस एक शब्दाडम्बर मात्र रह जाती है। हमारा काम तो इतने से ही चल जाता है कि जीव बंधा ही बंधा न रहे, स्वतंत्र भी काम कर सके, भाग्य की डोर से ही लटका न रह कर पुरुषार्थ भी कर सके।

कार्य-कारण के नियम के पीछे चलते-चलते कर्म के सिद्धान्त को जन्म देने वाली आर्य-संस्कृति कर्म के विचार से इतनी परास्त नहीं हुई थी कि वह आत्म-तत्व की स्वतंत्र क्रिया-शक्ति को भूल जाती। कर्म का सिद्धान्त जहाँ आर्य संस्कृति का मूल तत्व है वहाँ आत्मा के स्वतंत्र कर्तृत्व का सिद्धान्त भी उसका अपना ही बड़ा मूल तत्व है। हम बंधे हैं परन्तु बंधन काट सकते हैं, उलझे हैं परन्तु उलझनों में से निकल सकते हैं, कर्म के चक्कर में आ पड़े हैं, परन्तु इस चक्कर में से बाहर भी आ सकते हैं। हम परतंत्र हैं, कर्म के अधीन हैं, परन्तु स्वतत्र भी हैं, कर्म के स्वामी भी हैं। प्रश्न यही है कि यह कैसे ?

यह इस प्रकार। "क्रियमाण"—कर्म के विषय में ही तो हमें निश्चय करना है कि यह पिछले कर्मों का ही परिणाम है, या इस जन्म का ही नया कर्म है ? क्रियमाण कर्म दो तरह का हो सकता है—वैयक्तिक या सामाजिक। वैयक्तिक वह जिसका हमारे निज के साथ सम्बन्ध है, दूसरों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं। हम खाते-पीते हैं, फिरते हैं। भूख लगी. खाना खा लिया प्यास लगी पानी पी लिया। इन कर्मों में भी अवश्यम्भाविता और चक्रता है परन्तु वह हमारे लिए कोई समस्या नहीं खड़ी करतीं। भूख लगने पर खाएँगे तो तृप्ति अवश्य होगी, पेट अवश्य भरेगा, भर कर पेट काम करेगा, भोजन पच जायगा, फिर भूख लग जाएगी, इस अवश्यम्भाविता के साथ यह चक्र भी चल पड़ेगा, परन्तु कर्म के सिद्धान्त की जो उलझन है वह यह नहीं है। उलझन कहाँ जाती है ? उलझन आती है उन कर्मों में जिन्हें "सामाजिक" कहा जा सकता है। सामाजिक कर्मों से हमारा अभिप्राय उन कर्मों से है जो करते तो हम हैं परन्तु उनका सम्बन्ध हमारे निज से तो है ही परन्तु साथ ही दूसरों से भी कम नहीं है। हमने किसी को क्रोध में मार डाला, पकड़े जाने पर साफ़ इनकार कर दिया, किसी की चोरी की, दुराचार किया—यह सब बातें करते तो हम हैं परन्तु इनका सम्बन्ध दूसरों से होता है—समाज से होता है। कर्मों के सिद्धान्त की जटिलता सामाजिक कर्मों के सम्बन्ध में है और एक जटिलता यही है कि ये कर्म अगर कार्य-कारण की श्रृंखला के परिणाम हैं, अगर अवश्यम्भावी हैं और एक चक्र को उत्पन्न कर रहे हैं तो पाप-पुण्य क्या रहा ? पाप तो पाप तब हो सकता है, और इसी प्रकार पुण्य पुण्य तब कहा जा सकता है, जब वह जान-बूझकर, अपनी इच्छा से किया जाए। जो काम होना ही है, हम चाहें, न चाहें, पिछले कर्मों के ज़ोर से होना है, वह न पाप हो सकता है, पुण्य हो सकता है, वह तो टल ही नहीं सकता, उसमें तो कोई हमारा बस ही नहीं है। समस्या के इस बिन्दु पर पहुंचने पर आर्य-संस्कृति का कहना था कि कर्म कार्य-कारण के नियम की तरह एक अंधा नियम नहीं है। यह ईंट-पत्थर-अचेतन का नियम नहीं, चेतन का नियम है। दीवार पर ईंट फेंकी जाएगी तो वह अवश्य दीवार से टकराएगी, किसी मनुष्य पर फेंकी जाएगी तो वह एक ही स्थान पर खड़ा रहकर चोट भी खा सकता है, एक तरफ़ को चोट से बच भी सकता है। खड़ा रहकर दीवार की तरह व्यवहार करेगा, तो अचेतन की तरह व्यवहार करेगा, एक तरफ को हट जाएगा तो चेतन की तरह व्यवहार करेगा खड़ा रहेगा तो अवश्यम्भावित और चक्र में फंस जाएगा, हट जाएगा तो इस चक्र में से निकल जाएगा।

कर्म–चक्र का कारण आवेग है :

इस बात को अभी और अधिक समझने की ज़रूरत है। हम कर्म के चक्र में क्यों पड़ते हैं ? हमने किसी की कोई चीज़ चुरा ली, उसने हमें पकड़ लिया, उसे गुस्सा आया, उसने हमें थप्पड़ मारा, हमने बदले में मारा, उसे और गुस्सा आया—चक्र चलता गया, चलता गया। प्रश्न यह है कि क्या हम इस अवश्यम्भाविता

और चक्र को कहीं पर काट भी सकते हैं नहीं ? आर्य संस्कृति की विचार धारा यह है कि हम इसे शुरू में भी काट सकते थे, बीच में काट सकते हैं, अन्त में भी काट सकते हैं, जब चाहें इस चक्र में से निकल सकते हैं इसलिए निकल सकते हैं क्योंकि ईंट पत्थर नहीं चेतन प्राणी हैं, प्रकृति तत्व नहीं, आत्म तत्व हैं, स्वतंत्रता आत्म तत्व का जन्म-सिद्ध गुण है, जब तक हम अपने स्वात्म को भूले हुए हैं तभी तक हम इस उलझन में फंसे हैं। यह चक्र चला कैसे ? हमने किसी की चीज़ चुराई थी। अगर हम न चुराते, तो यह चक्र कैसे चलता ? चुराने पर जब उसने हमें मारा तब हम गुस्से में आकर प्रतिक्रिया न करते, अपने अपराध को स्वीकार कर लेते, वह चक्र कैसे चलता ? चक्र चलते-चलते किसी समय भी हम गुस्सा छोड़ सकते थे अपराध स्वीकार कर सकते थे क्षमा-याचना कर सकते थे—इसका अर्थ है कि किसी समय भी हम कमी की अवश्यंभाविता और उसके चक्र में से निकल सकते थे। यह कहना कि जिस समय हमने पहले-पहल चीज़ चुराई थी उस समय ही हम चोरी करने में स्वतंत्र नहीं थे कर्मों के अनुसार हमें चोरी करनी ही थी, यह विधि का विधान था, टल नहीं सकता था—यह कहने के समान है कि आत्म तत्व आत्म तत्व नहीं है, ईंट पत्थर है। यह तो हम देखते हैं अनुभव करते हैं कि क्रोध हमें आता है, हम-चाहें तो क्रोध को दबा भी सकते हैं लालच हमें पराभूत कर देता है, हम चाहें तो लालच को जीत भी सकते हैं। बदले को भावना सिरपर सवार हो जाती है, हम चाहें तो असल भावना से ऊपर भी उठ सकते हैं। इस बात को खूब अच्छी तरह से समझ लेने की आवश्यकता है कि कम-चक्र चल पाने का कारण भौतिक नहीं, आध्यात्मिक है। काम क्रोध-लोभ-मोह के कारण हम कर्म के चक्र को चलने देते ह। कितना ही कर्म का चक्र है—असंख्य प्राणियों का जिसके आधार में काम वासना कार्य कर रही है। लाखों और करोड़ों प्राणियों के कर्म चक्र के पीछे। क्रोध है, या मोह है। कर्म चक्र के अचलने के ये आध्यात्मिक उपाव है। आर्य संस्कृति का कहना था कि काम-क्रोध –लोभ–मोह पर विजय पा लिया जाए तो कर्म का बन्धन अपने आप कट जाता है और इन पर विजय पाना अपने हाथ में है।

भोग–योनि तथा कर्मयोनि

काम-क्रोध-मोह-लोभ-आदि मन के आवेग हैं। इनके वश में न होने से कर्म का चक्र चलता है, इन्हें अपने वश में कर लेने से चक्र टूट जाता है। परन्तु इन्हें वश में कर लेना भी तो कोई हँसी खेल नहीं। अधिक अवस्था तो ऐसी ही होती है जिस में हम इन्हीं के वश में रहते हैं। इस समस्या को सुलझाने के लिए आर्य विचारकों ने भोग-योनि और कर्म-योनि के सिद्धान्त की कल्पना की थी। आत्म-तत्व के विकास की एक अवस्था तो वह है कि जिसमें हम इन मनोवेगों में से बच कर निकल नहीं सकते, कार्य-कारण अटल नियम की तरह इन के घात-प्रतिघातों में थपेड़े खाते ही रहते हैं। यह अवस्था भोग-योनि कहाती है। इसमें हम कर्म करने में स्वतंत्र नहीं। जो कर्म है, अवश्यंभावी है। कर्म क्या ? वही—काम, क्रोध ,लोभ, मोह, मद मत्सरता आदि द्वारा प्रेरित कर्म। पशु योनि भोग योनि है। इस योनि में कर्म का सिद्धान्त बिलकुल कार्य-कारण के भौतिक नियम की तरह अटल कार्य करता है। ये योनियां अनन्त हैं। अनन्त इसलिए हैं क्योंकि कार्य-कारण के नियम के अनुसार चलते हुए काम का, क्रोध का, लोभ का, अन्त नहीं। मनुष्य जन्म कर्म-योनि है। कर्मयोनि इसलिए क्योंकि इस योनि में कर्म आत्म तत्व को कार्य-करण के अटल नियम की तरह नहीं चिपटता। भोग योनियों में से गुज़रने के बाद आत्म तत्व पर यह अमिट छाप तो पड़ चुकी होती है कि कर्म के बन्धनों में से निकलने का रास्ता काम-क्रोध-लोभ-मोह

आत्मतत्व के इन बन्धनों को काट देता है, मनुष्य की इस कर्म योनि में आकर हमारे हाथ में एक शस्त्र आ जाता है जिससे हम कर्म के बन्धनों को कर्म की अवश्यंभाविता और चक्र को काट सकते हैं, परन्तु हम इसका लाभ उठाते हैं जो इस अवसर को खो देते हैं, वे चौरासी लाख योनियों में फिर से यह सीखने के लिए चल देते हैं कि काम-क्रोध आदि के वंश में पड़े रहने का परिणाम क्या है ।

वास्तव में भोग योनि में कार्य-कारण का नियम काम करता है । कर्म योनि में कर्म या सिद्धान्त भोग योनि में आत्म तत्व कर्म करने में स्वतंत्र नहीं होता, कर्म योनि में स्वतंत्र होता है । कर्म का सिद्धान्त वास्तव में भोग योनि का नहीं कर्म योनि का सिद्धान्त है । इस सिद्धान्त की आत्मा यह नहीं है कि हम कर्मों के बन्धनों से बंधे हुए हैं इस सिद्धान्त की आत्मा यह है कि यद्यपि पिछले जन्म-जन्मान्तर के कर्म एक अथाह बोझ को लिए हुए पड़े हैं तब भी आत्मा अपने निजी रूप में कर्म करने में स्वतंत्र है, यह स्वतंत्रता का अवसर इस मनुष्य जन्म में ही मिलता है । मनुष्य जन्म कर्म भूमि है । इस एक जन्म में इतनी सामर्थ्य है कि हम पिछले सभी जन्मों के "संचित" कर्मों को इसे जन्म के "क्रियमाण" कर्म से बदल सकते हैं। आखिर असली कर्म तो क्रियमाण––कर्म ही है । जिन कर्मों को हम संचित कहते हैं कि वे भी तो किसी समय किए ही जा रहे थे–क्रियमाण ही थे । यह नहीं माना जा सकता है कि हर एक कर्म किसी न किसी पिछले कर्म का परिणाम है । अगर ऐसा माना जाए तब तो शुरू शुरू का सिर्फ एक कर्म रह जाता है । उस एक कर्म से यह सारा सिलसिला चल पड़ा––यह असम्भव है । हर एक कर्म पिछले का परिणाम है, परन्तु उसमें अपना नयापन भी अवश्य है अगर नयापन न होता तो आगे आगे के कर्मों और कर्मों के परिणामों में भेद क्यों होता ? यह नयापन आत्म तत्व की स्वतंत्रता के कारण ही है यह नयापन ही कर्म के सिद्धान्त की अन्तरात्मा है । आत्मा की कर्म करने की इस स्वतंत्रता के आधार पर ही, बिल्कुल नया कर्म करने की, पिछले किसी कार्य–कारण के बन्धन से न बंधे हुए कर्म करने की आत्म तत्व की सामर्थ्य के सहारे ही आत्मकर्मों के चक्र में से, विधि के विधान में से निकल सकता है, जन्म जन्मान्तरों की माथे पर पढ़ी हुई लकीरों को मिटा सकता है ।

कर्म-चक्र कट सकता है :

कर्म का चक्र कैसे चल पड़ता है, और यह चक्र कैसे कट भी जाता है यह कुछ उदाहरणों से स्पष्ट हो जाएगा । हम बैठे एक लेख लिख रहे हैं, बड़ी तन्मयता के साथ, दत्त चित्त हो कर । इतने में पत्नी ने आकर पुकारा चलो घूम आएँ । हम झुंझला उठे, क्रोध में भर गए––इसलिए कि उसे इतना भी खयाल नहीं कि ऐसे समय जब विचारों की धारा एक खास दिशा में बह रही है तब बीच में उस शृंखला को न तोड़े । हमने कहा, चुप रहो, काम करने दो हमारे क्रोध को देख कर उसे क्रोध आया, उसने कहा चुप कैसे रहें घूमने का वक्त हो गया है, चलना होगा । हमने कहा नहीं चलते––बस तू-तू मैं-मैं का सिलसिला चल पड़ा-पति-पत्नी में लड़ाई हो गई । घंटों वे एक दूसरे से नहीं बोले । यह एक छोटे से कर्म चक्र का दृष्टान्त है । अगर हमें काम छोड़ कर घूमने चलने को कहा जाता तो हम चल पड़ते, तो यह तू-तू मैं-मैं का सिल-सिला न चलता, अगर शान्ति से कह देते, अच्छा दो चार मिनट में चलता हूँ तब भी मामला आगे न बढ़ता । चक्र को चलने देना न चलने देना अपने हाथ में था । ऐसी घटनाएँ हर व्यक्ति के जीवन में हर रोज होती हैं । मानसिक आवेग से कर्म का छोटा-सा चक्र बना ही करता है इस आवेग में से निकल कर काम करना

अपने ही हाथ में होता है परन्तु हम ज़रा ज़रा सी बात में लड़ा करते हैं झगड़ा करते हैं। एक दूसरे से उलझा करते हैं और कर्म का चक्र लम्बा होते होते कभी कभी बहुत बड़ा हो जाता है। पिछले दिनों अखबारों में पढ़ा कि दो आने के लेन-देन पर खून हो गया। एक मोची से किसी ने जूता ठीक कराया, मोची ने चार आने मांगे देने वाले ने दो आने दिए, देकर वह चल दिया मोची ने उसे पकड़ लिया, झगड़ा हो गया झगड़ा बढ़ते बढ़ते हाथापाई होने लगी, ग्राहक ने मोची का गला दबोच लिया, मोची न उसका गला पकड़ने की कोशिश की, ग्राहक ने क्रोध में आकर चाकू निकाला और मोची के पेट में खोप दिया। वह चिल्लाया और देखते देखते मर गया। कितनी छोटी सी बात थी कितना भयंकर परिणाम निकला। इस घटना पर बड़े बड़े विचारक मग्ज़पच्ची कर सकते हैं। हो सकता है यह सब पिछले जन्म का नाटक इस जन्म में खेला जा रहा हो। इन जन्म का मरने वाला पिछले जन्म का मारने वाला हो इस जन्म का मारने वाला पिछले जन्म का मारने वाला हो। इस जन्म में तो यह दो आने का पहली बार का लेन देन था फिर इतनी भयंकर घटना किसी इतने ही भयंकर कारण के बिना कैसे हो गई ? परन्तु फिर प्रश्न होगा अगर ऐसी घटना इस जन्म में पहली बार नहीं हो सकती तो पिछले जन्म में कैसे हुई होगी ? अगर यह माना जाए कि पिछले से पिछले जन्म में हुई होगी तब तो पीछे ही पीछे चलते जाना होगा। अगर इससे समस्या हल नहीं होगी तब कहीं कोई जन्म तो मानना ही पड़ेगा। जब ऐसी भयंकर घटना इस दोनों के जीवन में पहली बार हुई होगी। अगर पिछले किसी जन्म में पहली बार ऐसी घटना हो सकती है, तो इस जन्म में भी भी पहली बार हो सकती है। समस्या यह नहीं है कि यह घटना कब हुई इस जन्म में पहली बार हुई या पिछले किसी जन्म में पहली बार हुई। हमारी व्यवहारिक समस्या यही ह कि अगर यह घटना कर्मों की पिछली शृंखला की कड़ी है तो क्या इस शृंखला को आगे बढ़ने का रोका जा सकता था या नहीं, पीछे नहीं रोका गया तो अब रोका जा सकता है या नहीं। क्या यह चक्र अटल है, अमिट है हम इसे नहीं तोड़ सकते या यह टल सकता है। अगर नहीं टल सकता तो हमारा सब कर्म निरर्थक है टल सकता है तभी कर्म की सार्थकता है। इस घटना में क्या हुआ ? मोची ने चार आने मांगे, ग्राहक ने दो आने दिए। अगर मोची दो आने लेकर चुप हो जाता, या ग्राहक चार ही आने दे देता तब मामला आगे कैसे बढ़ता ? मोची दो आने लेकर चुप नहीं रहा, ग्राहक चार आने देने पर राज़ी नहीं हुआ। क्यों ? इसलिए कि दोनों अपने आप को भूल गए, बुद्धि से काम लेने के स्थान में मानसिक आवेगों से काम लेने लगे। उनके आत्म तत्व पर क्रोध छा गया, लोभ छा गया, पैसे को दांत से पकड़ने की भावना छा गई। अगर वे दोनों ज़रा सोंच समझ से काम लेते, तो मामला आगे बढ़ ही नहीं सकता था। वे दोनों भोग योनि के जीवों का सा बरतने लगे, कार्य कारण के थपेड़ें खाने लगे, कर्म योनि के जीव का सा नहीं बरते, कार्य—कारण में से निकल कर कम योनि के जीवन का सा नहीं बरते, कार्य—कारण में से निकल कर कर्म के सिद्धान्त से नहीं चले। परन्तु क्या चल नहीं सकते थे ? सारा प्रश्न तो मानसिक आवेगों में से निकलने का था। मनुष्य जन्म दिया ही इसलिए गया है कि मनुष्य सोंच समझ से काम ले अपने स्वतंत्र कर्तृत्व को जगाएं मन के आवेगों से अन्धा होकर न चले। अगर उन दोनों में से कोई एक भी क्रोध न करता तो कर्म का यह चक्र-चाहे जन्म-जन्मान्तर से पीछे से चला आ रहा हो या इस जन्म में आगे के लिए बनने जा रहा हो—एक दम टूट जाता। कर्मों के चक्र का सारा प्रश्न मानसिक आवेगों में से निकलने का काम क्रोध लोभ मोह को जीतने का प्रश्न है। इनमें से मनुष्य निकला नहीं और कर्म चक्र टूटा नहीं।

महात्मा गांधी ने इसी परीक्षण को एक विस्तृत क्षेत्र में घटाने का प्रयत्न किया था। हमारी तथा अंग्रेज़ जाति के पारिस्परिक कर्मों का लेना-देना देर से चला आ रहा था। वे हमें लूटते थे हम विद्रोह करते थे। क्रिया-प्रतिक्रिया चल रही थी कर्म का चक्र कहीं टूटता न था। महात्मा गांधी ने एक नवीन विचार-धारा को जन्म दिया। हम विद्रोह करें परन्तु ऐसा विद्रोह करें जिससे प्रतिक्रिया उत्पन्न न हो। प्रतिक्रिया का आधार तो मानसिक उद्वेग है। काम-क्रोध-लोभ-मोह आदि के आवेश में जो कर्म किया जाएगा उसी की तो प्रतिक्रिया होगी। हम क्रोध में किसी को मारेंगे वही बदला लेने के लिए अपना हाथ चलाएगा प्रेम से मारने पर कौन थप्पड़ का जवाब थप्पड़ से देता है? महात्मा गांधी ने विद्रोह किया परन्तु जिसके प्रति विद्रोह किया, उसके प्रति वैर-भाव को नहीं उत्पन्न होने दिया। काम काम को उत्पन्न करता क्रोध क्रोधको उत्पन्न करता है, लोभ लोभ को उत्पन्न करता है, मोह मोह को उत्पन्न करता है—इसी से चक्र चलता है सकामता के सामने निष्कामता खड़ी हो जाए, क्रोध के समाने अक्रोध खड़ा हो जाए लोभ के सामने अपरिग्रह और त्याग खड़ा हो जाए मोह के सामने वैराग्य खड़ा हो जाए, तो चक्र अपने आप टूट जाता है अगला सिलसिला बनने ही नहीं पाता। महात्मा गांधी के सत्याग्रह आन्दोलन का यही रहस्य है। हिंसा एक ऐसा कर्म है जो अगले कर्म को उत्पन्न कर देता है। सिलसिले को बढ़ा देता है। अहिंसा ऐसा कर्म है जो कर्म के शैतान के आंत की तरह एकके बाद निकलने वाले दूसरे और दूसरे के बाद तीसरे कर्म को शुरू में ही काट डालता है। इसी सिद्धान्त पर चलने से महात्मा गांधी को सफलता मिली।

आवेगों से कर्मों का बन्धन चलता है, आवेग ही कर्म के चक्र के मूल स्रोत हैं। इस चक्र में से निकलने का रास्ता आवेगों में से निकल जाना है। उद्वेग मनुष्य को अन्धा बना देता है, उसके स्वतंत्र कर्तृत्व को उससे छीन लेता है, उस समय आत्म तत्व स्वयं कुछ नहीं करता, परिस्थितियां उसे नचाती हैं कार्य-कारण की श्रृंखला में उसकी छीछालेदर होती है। उद्वेग के पीछे भोग योनि के जीव चलते हैं। कर्म योनि का उद्देश्य मानसिक उद्वेग काम-क्रोध आदि में से निकल कर तर्क के बुद्धि के सोच समझ के क्षेत्र में आ जाता है अन्धी शक्तियों के थपेड़े खाने के स्थान में मन चाहा संसार बनाना है। भोग योनि में कर्मकार्य कारण के नियम के अनुसार चलता है। उस योनि में जो होगा अटल नियमानुसार होगा। उस योनि के प्रेरक कारण काम-क्रोध-लोभ-मोह हैं मानसिक विकार हैं। भोग योनि में मानसिक उद्वेगों से धकेला हुआ प्राणी काम करता है। उस समय आत्म तत्व अपने को कर्म करने में स्वतंत्र अनुभव नहीं करता वह जो करता है इस लिए करता है क्योंकि उससे भिन्न कर ही नहीं सकता इस योनि में काम क्रोध कर्मों के ही अवश्यभावी परिणाम है इन पर विजय नहीं पाया जा सकता। कर्म योनि में ऐसा नहीं है। इस योनि में मानसिक उद्वेग भी प्रेरक कारण हो सकते हैं। प्राणी मानसिक उद्वेगों को मसल भी सकता है, बुद्धि से, तर्क से, सोच-समझ से भी काम कर सकता है। इस योनि में कर्ता के सामने दो रास्ते हर समय खुले रहते हैं। एक रास्ता तो वह है जो कार्य कारण का अवश्यंभावी परिणाम है, मानसिक विकारों का रास्ता है, कर्म चक्र में बांधने का रास्ता है जो रास्ता भोग योनि में चल रहा है। परन्तु कर्म योनि में एक दूसरा रास्ता भी खुला है। इस योनि में आत्म तत्व अपनी अन्तर्निहित स्वतंत्रता के कारण कार्य कारण की श्रृंखला को तोड़ कर, मानसिक उद्वेगों के पीछे चलने के स्थान में उन्हें बुद्धि तथा तर्क के पीछे चला कर एक बिलकुल नए रास्ते को भी पकड़ सकता है। कई मनुष्य मनुष्य होते हुए भी भोग योनि के मार्ग पर नहीं चलते हैं काम क्रोध आदि में अन्धे हो जाते हैं, अपने स्वतंत्र

कर्म करने की सामर्थ्य का उपयोग नहीं करते परन्तु मनुष्य वही है जो आत्म तत्व के स्वतंत्र कर्तृत्व का प्रयोग करें, बुद्धि और तर्क की आंखों से आगे पीछे देखता हुआ कर्म के चक्र में बंधने के स्थान में उसमें से निकलने का प्रयत्न करें। ऐसा प्रयत्न करने का सामर्थ्य अन्य किसी जन्म में प्राप्त नहीं होता, केवल मनुष्य जन्म में प्राप्त होता है। मनुष्य जन्म में सामर्थ्य प्राप्त होता है यह मनुष्य की इच्छा पर नर्भर है कि वह इस सामर्थ्य का उपयोग करे या न करे। जो उपयोग करता है वह क्रोध का बदला क्रोध से नहीं लेता, वह क्रोध के बदले शान्ति का स्रोत बहा देता है। घृणा का उत्तर घृणा से नहीं देता, घृणा की प्रतिक्रिया में प्रेम की रागिनी अलापने लगता है, मानसिक आवेगों में उलझन के स्थान में इनमें से निकल जाता है। आर्य संस्कृति की घोषणा है कि कर्मों की गांठों को खोलने का कर्म के दुर्गम व्यूह में से निकलने का यही असली रास्ता है।

प्रश्न यह रह जाता है कि काम क्रोध आदि मानसिक उद्वेगों को हम जीत सकते है या नहीं ? कहीं ये पिछले जन्म के ही अमिट बन्धन तो नहीं ? आर्य संस्कृति के पास इस प्रश्न का उत्तर यही है कि भोग योनि में तो मानसिक उद्वेग कार्य कारण के नियमानुसार चलते हैं, परन्तु कर्म योनि में इनका संचालन कर्म के सिद्धान्त से होता है। हम चाहें इनको दबाएँ चाहे न दबाएँ —इन योनि में आकर जीव कर्म करने में स्वतंत्र हो जाता है। और, क्या हम इस बात को अपने जीवन में देखते नहीं ? हम क्रोध में हैं क्रोध का विश्लेषण करने लगें—क्या ठीक है या गलत—इन बातों पर सोंचने लगें तो क्रोध एकदम काफ़ूर हो जाता है। प्रत्येक मानसिक उद्वेग की यही अवस्था है। मानसिक विकार के बादल हम पर तभी तक छाए रहते हैं जब तक हम बुद्धि के प्रकाश से उन्हें छिन्न-भिन्न नहीं कर देते। जहां बुद्धि की आँख से देखा वहीं उद्वेग समाप्त हो जाता है। काम क्रोध आदि में अन्धापन उनका आवश्यक सहचरी गुण है। जहां बुद्धि या तर्क की आंख खुली वहीं मनुष्य को अंधा बनाने वाले ये मानसिक विकार समाप्त हो जाते हैं। आर्य संस्कृति सभी शास्त्र एक स्वर होकर एक ही पुकार से मनुष्य को जगा रहे हैं। उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत"—उठो, जागो, ज्ञानी पुरुषों के चरणों में जाकर अन्तरात्मा को पहचानो—क्योंकि जिस धुम्मरघेरी में हम आ पड़े हैं उसमें से निकलने का रास्ता यह मनुष्य जन्म ही है।

सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार
देहरादून

विभिन्न प्रमाणों के प्रयोग की शक्तिसापेक्षता

हमारे दार्शनिकों में प्रमाणों के स्वीकार में बहुत मतभेद मिलते हैं। प्रसिद्ध प्रमाण आठ हैं— प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, संभव तथा अभाव। अनुपलब्धि रूप एक प्रमाण भी है, जो अभावरूप प्रमाण ही है, या दोनों में भेद है—इसमें मतविरोध है। कोई कोई चेष्टा तथा प्रतिभा को भी प्रमाण मानते हैं। इस प्रकार प्रमाणों की संख्या में जहां मतैक्य नहीं है, वैसा कौन कितने प्रमाण मानते हैं, इसमें भी मतभेद हैं। सुरेश्वराचार्य ने इस विषय पर एक रोचक संग्रह किया है।*

---

* (१) प्रत्यक्षमेकं चार्वाकाः कणादसुगतौ पुनः।
अनुमानं तच्चाथ सांख्याः शब्दश्च ते अपि॥
न्यायैकदेशिनोऽप्येवमुपमानं च केचन।
अर्थापत्त्या सहैतानि चत्वार्याहुः प्रभाकराः॥
अभावषष्ठान्येतानि भाट्टा वेदान्तिनस्तथा।
संभवैतिह्ययुक्तानि तानि पौराणिका जगुः॥
(तार्किक रक्षा में भी ये श्लोक हैं—पृ०५६) (शेष अगले पृष्ट पर)

जब हम प्रत्येक दार्शनिक द्वारा स्वीकृत प्रमाणों की संख्या में मतभेद पाते हैं, तो उसका कारण क्या है—यह भी एक विचार्य विषय उपस्थित होता है। सब व्यवहार प्रमाणमूलक होते हैं (चाहे प्रमाण का स्वरूप कैसा ही हो), और किसी भी ज्ञान की सत्यता की अन्तिम निर्णय प्रयोगमूलक परीक्षण के ऊपर निर्भर है, अतः प्रमाण के स्वीकार में यदि तात्विक मतभेद हो, तो व्यवहार के सभी क्षेत्रों में मतभेद अवश्यम्भावी रूप से होगा। अतः हमें यह निश्चय करना ही होगा कि विभिन्न प्रमाणों के स्वीकार और अस्वीकार का मौलिक हेतु क्या है।

इस विचार में हम विभिन्न पक्ष की चिन्ता कर सकते हैं, यथा—

(क) क्या किसी दार्शनिक को अपने से अस्वीकृत (अथवा अन्य-वादी से स्वीकृत) प्रमाण को स्वीकार करने का प्रयोजन ही नहीं होता था ?

(ख) क्या अन्य दार्शनिक से स्वीकृत किसी प्रमाण को वह प्रमाण रूप से मानता ही नहीं था ?

(ग) क्या किसी दार्शनिक का स्वीकृत प्रमाण ही इतना विकसित था कि अन्य दार्शनिक से स्वीकृत प्रमाणों का अन्तर्भाव उनसे स्वीकृत प्रमाणों में हो जाता था ?

(घ) कोई दार्शनिक किसी प्रमाण को इसलिए अस्वीकृत करता था कि उस प्रमाण से उसके प्रमेयों की सिद्धि नहीं होती थी।

(ङ) चूंकि प्रमाणों का प्रयोगक्षेत्र बँटा हुआ है, अतः किसी दार्शनिक ने कुछ प्रमाणों के नहीं लिया, इसलिए कि उनके क्षेत्र में वे प्रमाण प्रवर्तित नहीं हो सकते।

(च) अस्वीकृत प्रमाण का प्रयोग इतना सूक्ष्म था कि सब दार्शनिकों से उसका प्रयोग करना संभव नहीं था। जिसने जिस प्रमाण का उपयोग नहीं कर पाया, उसने उस प्रमाण का अस्वीकार किया इत्यादि।

इस प्रकार और भी कुछ विकल्प हो सकते हैं। इस गंभीर विषय पर हमारी चिन्ता यह है कि ज्ञान-शक्ति के साथ ज्ञेय विषय का संबन्ध होने से उसका ज्ञान होता है। पर सर्वदा यह संभव नहीं है कि जिस विषय का ज्ञान मैं करना चाहूं, उसको साक्षात् रूप से जानने के लिए मेरी ज्ञान-शक्ति भी समर्थ हो। जब ज्ञेय के स्वभाव के अनुसार ज्ञान-शक्ति का उत्कर्ष नहीं होता, तब हम किसी अन्य उपाय से ज्ञेय पदार्थ का सत्ता-निश्चय करते हैं, और इन उपायों का नाम ही एक एक प्रमाण है। इसके साथ यह भी जानना चाहिए कि प्रमाण एक 'अपेक्षित तत्त्व' है, अर्थात् किसी ज्ञान की दृष्टि में जो प्रमाण है, वह अन्य ज्ञान की दृष्टि में प्रमाण नहीं भी हो सकता, जैसे रूपज्ञान की दृष्टि में चक्षु प्रमाण है; पर रूप की उपादेयता या हेयता के ज्ञान में रूपज्ञान प्रमाण है, न कि चक्षु। किंच इन्द्रिय को प्रमाण न मानकर कभी कभी

वैशेषिक मत में ३ प्रमाण भी स्वीकृत। ते यथा......

'वैशेषिकमते तावत् प्रमाणत्रितयं भवेत्।
प्रत्यक्षमनुमानं च तार्त्तीयिकमथागमः॥
(विवेकविलास)

सन्निकर्ष को प्रमाण माना जाता है। इसके साथ साथ प्रमाण शक्ति (जिससे प्रमिति की उत्पत्ति होती है) का भी उत्कर्षापकर्ष है।

यदि हम प्रमाणों का स्वरूप तथा उसके प्रयोग करने की प्रक्रिया पर ध्यान दें, तो स्पष्ट प्रतीत होगा कि हमारा निर्णय कहां तक संगत है। हम स्पष्ट देखते हैं कि प्रमाण के प्रयोग में प्रमाता की ज्ञान-शक्ति ही नियामिका है (विषय की प्रकृति की अपेक्षा) और प्रमाण को प्रयोगकारिणी शक्ति का स्तर जैसा होगा, प्रमाण का प्रकार भी वैसा ही होगा—इन दोनों का परस्पर संबन्ध अच्छे हैं। केवल इतना ही नहीं, हम यह भी समझ ते हैं कि 'कितने प्रकार के प्रमाण हो सकते हैं'—इसका कोई भी अन्तिम निर्णयात्मक उत्तर नहीं हो सकता, और अनागत काल में तथा विषयों के असाधारण परिवर्तन होने पर अश्रुत पूर्व नवीन प्रमाणों का भी प्रयोग होता ही रहेगा—इस स्रोत इस स्रोत का अवरोध कोई नहीं कर सकता। यदि कोई विचारक यह समझता है कि मैंनें प्रमाणों की संख्या को निश्चित कर दिया है तो वह उसका दम्भमात्र होगा। कारण यह है कि प्रमाता को अपने शक्तिस्तर के अनुसार ही प्रमाणों का प्रयोग करना पड़ेगा, और शक्तिस्तर की असंख्य विचित्रता के कारण प्रमाणों का नियमन करना असंभव होगा। मैं यह भी मानता हूं कि आगामी काल में प्रमाण के ऐसे भी अनेक प्रकार का आविष्कार होगा, जिसका ज्ञान भी आज हमको नहीं है।

क्यों ऐसा होगा—इसके उत्तर में निम्नोक्त युक्ति द्रष्टव्य है। कोई भी व्यक्ति स्वीकृत प्रमाण के प्रामाण्य को मानकर ही प्रमेय पदार्थों का ज्ञान करता है। किसी प्रमाण को मानना या न मानना प्रमाता के ऊपर निर्भर है, अतः कोई भी व्यक्ति अपनी ज्ञान-शक्ति के स्तर के अनुसार किसी भी प्रमाण को मान सकता है, या नहीं भी मान सकता है। प्रश्न होगा कि यदि प्रमाण के स्वीकार में अपनी इच्छा ही नियामिका हो, तो लौकिक व्यवहार में विप्लव आजाएगा और कभी भी किसी विषय का निर्णय ही नहीं होगा—तो उत्तर यह है कि इसमें आपको आपत्ति क्या है। क्या वास्तव परिस्थिति से ही इस सत्य का प्रमाणीकरण नहीं होता? हम देखते हैं कि लोक व्यवहार में प्रमाता प्रमाण उसी को मानता है, जिससे 'प्रवृत्तिसामर्थ्य' होता है। इस सार्वजनीन सत्य को न्यायभाष्य में दिखाया गया है, यथा 'प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्तौ प्रवृत्तिसामर्थ्यात् अर्थवत्प्रमाणम्' (भाष्यारम्भ)*। इस मत से यह भी विनिगमना निकलती है कि प्रमाता की शक्ति का स्तर जैसा होगा, तदनुरूप ही उसमें 'प्रवृत्तिसामर्थ्य' होगा, अतः कोई भी व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति को उससे स्वीकृत प्रमाणों के स्वीकार के लिए अन्य को बाध्य नहीं कर सकता, क्योंकि यह पूर्ण संभव है कि देवदत्त को जिस प्रमाण से 'प्रवृत्तिसामर्थ्य' होता है, यज्ञदत्त को उससे

*प्रवृत्ति सामर्थ्य के कारण ही प्रमाण का प्रमाणत्व है—यह सभी समझ सकते हैं। यहाँ सामर्थ्य—फल संबन्ध, जिससे इसका अर्थ होगा—सफल प्रवृत्तिजनकत्व। हेतु यह है कि चूंकि प्रमाण सफल प्रवृत्ति का जनक है, अतः प्रमाण प्रतिपद्य अर्थ का अव्यभिचारी है। वाचस्पति ने ठीक ही कहा है—"इयमेव च अर्थाव्यभिचारिता प्रमाणस्य यद देश कालान्तरावस्थान्तरा विसंवादो अर्थ स्वरूप प्रकारयोस्तदुपदर्शितयोः। अत्र हेतुः प्रवृत्तिसामर्थ्यात्, 'समर्थ प्रवृत्तिजनकत्वात्' (न्यायवार्त्तिक तात्पर्य टीका)

नहीं होता। अतः प्रत्येक प्राणी में ज्ञान-शक्ति का जो स्तर है, वह ही यह निर्णय कर सकती है कि किस को प्रमाण माना जाए और किस को न माना जाए। इसके लिए कोई किसी को बाध्य नहीं कर सकता।

यह सिद्धान्त जैसे तत्वतः सत्य है, वैसे व्यवहारतः भी। मीमांसक वेद का प्रामाण्य पूर्णतः मानते हैं क्योंकि वेद से उनका प्रवृत्तिसामर्थ्य होता है, चार्वाक नहीं मानता, क्योंकि चार्वाक का प्रवृत्ति सामर्थ्य वेद से नहीं होता। यद्यपि छल या कपटता से इस सत्य का अपव्यवहार किया जा सकता ह, पर सत्य की दृष्टि से हमे मानना ही पड़ेगा कि एक से स्वीकृत किसी प्रमाण का अस्वीकार करना अन्य के लिए दोषावह नहीं है, यदि वस्तुतः उस प्रमाण से उसका 'प्रवृत्तिसामर्थ्य' नहीं होता। यही कारण है कि संसार में कभी भी सब प्रमाता किसी मत या पदार्थ को तब तक समान रूप से नहीं मान सकता, जब तक सब की ज्ञान-शक्ति का स्तर समान न हो जाए। और चूंकि इस संसार म ऐसा साम्य कदापि संभव नहीं है, अतः प्रमाण के स्वीकार में चिरकाल मतभेद रहेगा। पर इस मतभेद में भी इतना अवश्य सत्य है कि ज्ञान शक्ति का स्तर ही इन मतभेदों का नियामक है। (यदि स्वार्थ से अपव्यवहार करन की प्रवृत्ति न हो)

यदि हम प्रत्येक प्रमाण का स्वरूप विचार करें, तो भी यही प्रतीत होगा (जैसा कि इस निबन्ध में विशद रूप से दिखाया जाएगा)। पहले हमने जो अनक पक्ष दिखाए हैं, उनम आंशिक सत्य अवश्य है, पर वह कोई मौलिक नियामक तत्त्व नहीं है, क्योंकि—

यदि यह माना जाए कि दूसरों से स्वीकृत प्रमाणों का अन्तर्भाव कोई दार्शनिक अपने स्वीकृत प्रमाणों में ही करता है (पृथक् रूपसे स्वीकार न कर) तो यह भी मानता पड़ेगा कि वह वस्तुतः उन प्रमाणों को भी मानता है, अन्यथा अन्तर्भाव कैसे हो सकता? यदि यह पक्ष माना जाए कि—अपने से अस्वीकृत प्रमाणों को वह प्रमाण नहीं मानता, तो अन्य वादी से स्वीकृत प्रमाणों से जो प्रमिति होगी, उसको भी वह नहीं मानेगा। पर उसके अस्वीकृत प्रमाण से प्रवृत्ति-सामर्थ्य हो तो उसका प्रामाण्य अस्वीकार नहीं किया जा सकता। कोई किसी प्रमाण का अस्वीकार करने मात्र से वह प्रमाण अप्रमाण नहीं हो जाता, बल्कि ऐसी स्थिति में तो यह भी कहा जा सकता है कि अस्वीकृत प्रमाणों के व्यवहार करने की शक्ति अस्वीकारकारी में नहीं है, और इसीलिए वह उसका अस्वीकार कर रहा है।

इस लेख में यह विचार नहीं किया जाएगा कि क्यों कोई वादी किसी प्रमाण का अस्वीकार करता है, यहां केवल इतना ही दिखाया जाएगा कि विभिन्न प्रमाणों के स्वीकार का क्या कारण है तथा किस परिस्थिति में विभिन्न प्रमाणों का ग्रहण विभिन्न वादी करते हैं। अस्वीकार का कारण बाद में आलोचित होगा।

हम समझते हैं कि वस्तुतः एक ही प्रमाण है, जिसको 'प्रत्यक्ष' कहा जाता है और अन्य सब प्रमाण उस प्रत्यक्ष का ही विकार है। विकार कहने का तात्पर्य यह है कि प्रत्यक्ष अन्यान्य प्रमाणों से अधिकतर प्रमिति की उत्पत्ति कर सकता है तथा अन्य प्रमाणों का अन्तिम प्रामाण्य प्रत्यक्ष पर ही निर्भर है। 'तत्त्व कौमुदी' में वाचस्पतिने ठीक ही कहा है कि 'प्रत्यक्षस्य सर्वप्रमाणेषु ज्येष्ठत्वात् तदधीनत्वाच्च अनुमानादीनाम्' (सांख्यकारिक ५ का०) तत्त्ववैशारदी में भी उन्होंने प्रत्यक्ष को सर्वप्रमाण का मूल माना है (१।७)

वस्तुतः प्रत्यक्ष का अपलाप कोई भी वादी कभी कर नहीं सकता* और प्रत्यक्ष के प्रामाण्य पर ही अन्य प्रामाण का प्रामाण्य निर्भर है।

इसके साथ यह भी जानना चाहिए कि यदि प्रत्यक्ष से ही सर्वप्रकार का ज्ञान प्राप्त करने की शक्ति मनुष्य में रहती, तो अनुमान आदि का आश्रय कोई कभी नहीं करता। इसका मुख्य कारण यह है कि प्रत्यक्ष प्रमाण से किसी प्रमेय का ज्ञान होने से जिज्ञासा की निवृत्ति हो जाती है, जैसा न्यायभाष्यकार वात्स्यायन ने कहा है–'प्रत्यक्षत उपलब्धेऽर्थे जिज्ञासा निवर्तते' (१।१।१)। धीरबुद्धि से चिन्ता करने से पता चलता है कि प्रत्यक्ष–सिद्ध ज्ञान यदि हो तो अनुमान आदि से जानने की कुछ भी इच्छा नहीं होती, क्योंकि प्रत्यक्ष में विशेषार्थ की भी प्रतिपत्ति होती है, जैसा कि योगभाष्यकार ने कहा है–'सामान्य-विशेषात्मनः अर्थस्य विशेषावधारण प्रधाना वृत्तिः प्रत्यक्षं प्रमाणम् (१।७)। विशेष ज्ञान भी आपेक्षित होता है, अतः प्रत्यक्ष का जितना उत्कर्ष होगा, विशेषज्ञान का भी तदनुपाती उत्कर्ष होगा। अनुमान आदि नियमतः सामान्यज्ञान के जनक हैं। योगभाष्य में कहा गया है–'सामान्यमात्रे कृतोपक्षयम-नुमानं न विशेष प्रतिपत्तौ समर्थम्' (१।२५)। यद्यपि भाष्यकार ने केवल अनुमान का ही नाम लिया है, परन्तु यह बात अन्यान्य प्रमाणों पर भी घटती ह, जो बाद में दिखाया जाएगा।

अब हम यह दिखाएंगे कि अन्यान्य प्रमाण प्रत्यक्ष के बल पर निर्भर है, तथा प्रत्येक प्रमाण से ज्ञान का उत्कष समान नहीं है। बाद में हम यह भी दिखाएंगे कि जब प्रमाता को प्रत्यक्ष प्रमाण के प्रयोग का सामर्थ्य नहीं रहता, तभी वह अनुमान आदि का आश्रय करता है। चूंकि प्रत्येक प्रमाण के पास समान प्रमिति उत्पन्न करने की शक्ति नहीं है और विभिन्न प्रमाण से उत्पन्न प्रमितियों में उत्कर्षापकर्ष है अतः यह मानना होगा कि प्रत्यक्ष के साथ जिस प्रमाण का संबन्ध जितना निकट तथा दृढ़ है, वह प्रमाण उतना अधिक समर्थप्रवृत्ति जनक है। अनुमान आदि में कुछ न कुछ प्रत्यक्ष अवश्य करना पड़ता है, पर वह प्रत्यक्ष इष्ट प्रमेय का नहीं है, बल्कि उससे संबन्धित किसी अन्य पदार्थ का। यह सबन्ध दृढ़तर भी हो सकता है, दूरतर भी हो सकता है।

अनुमान स्वीकार का हेतु:—प्रत्यक्ष प्रमाण से प्रमेय को जानने के लिए प्रमाता की ज्ञान शक्ति जब असमर्थ हो जाती है, तब बह 'अनुमान प्रमाण' का आश्रय करती है। अनुमान प्रमाण से जब ज्ञान किया जाता है तब लक्ष्य हे साक्षात् 'सन्निकर्ष नहीं होता, पर लक्ष्य के लिंग (जो उसका कार्य या अवयव या उससे अविनाभावी संबन्धयुक्त है) का प्रत्यक्ष किया जाता है और उसके बल पर लक्ष्य का सत्ता-निश्चय किया जाता है। अनुमान-प्रमाण में प्रत्यक्ष का ऐसा ही संबन्ध है यह गोतम के 'अथ तत् पूर्वकम्-' (१।१।५) सूत्र से विज्ञात होता है। अनुमान के कितने ही भेद आदि किए जाए, सभी में यह अंश समान रूप से मिलेगा कि लक्ष्य के व्याप्य का प्रत्यक्ष पूर्वक लक्ष्य का ज्ञान उसमें किया जाता है (द्र. सांख्यकारिका ५)

अब विचारना चाहिए कि यदि लक्ष्य का साक्षात् ज्ञान करने की शक्ति होती, तो उसके व्याप्यभूत लिंग का प्रत्यक्ष कर लिंगी लक्ष्य के ज्ञान करने का इच्छा किस मनीषी को होती? अनुमान प्रमाण से

* योगभाष्य में कहा गया है—'न च प्रत्यक्षस्य माहात्म्यम् प्रमाणान्तरेण अभिभूयते, प्रमाणान्तरं च प्रत्यक्षबलेनैव व्यवहारं लभते। तस्माद् एकमनेकार्थम् अवस्थितं च चित्तम्' (१।३२) 'महाभाष्य' में भी कहा गया है–'न च स्वेन्द्रियविरोधेन भवितव्यम्' (४।१।२')।

जो ज्ञान होगा उसमें प्रत्यक्षज्ञान की तरह सब विशेषों का ज्ञान तो हो नहीं सकता, तब किस अपूर्णता की पूर्ति के लिए प्रेक्षावान् प्रत्यक्ष का अनादर कर अनुमान का आश्रय करेंगे ? अतः स्पष्ट है कि प्रत्यक्ष करने में असमर्थ चित्त-शक्ति ही अनुमान प्रमाण का आश्रय करेगी जो वास्तव सत्य है। तर्क किया जा सकता है कि प्रत्यक्षज ज्ञान की दृढ़ता के लिए* अनुमान का प्रयोग किया जाता है अतः अनुमान भी तो ज्ञान शक्ति के उत्कर्ष का परिचायक होगा। पर सूक्ष्म विचार से यह बात निःसार मालूम पड़ती है, क्योंकि प्रत्यक्षज्ञान में भ्रम या संशय का बोध हो तो उसका निराकरण अनुमान से (या प्रमाणान्तर से) किया जाता है, पर निराकरण होने के बाद ज्ञान की अधिकता या उत्कर्ष नहीं हो जाती ; ज्ञान की परिमाण और प्रकृति उतना ही रहता है, सुतरां अनुमानज ज्ञान प्रत्यक्षज ज्ञान से विशदतर नहीं होता, यद्यपि कहीं कहीं उससे संशय का अपनोदन होता है। किंच यदि प्रत्यक्षज्ञान की करणसामग्री विकल न हो तो अनुमान से सुसिद्धज्ञान भी प्रत्यक्ष का अतिक्रमण नहीं करेगा।

पुनः प्रश्न होगा कि न्यायभाष्य में भाष्यकार ने अनुमान की शक्ति प्रत्यक्ष से अधिक कहा है (सद्-विषयंच प्रत्यक्षं, सदसद्विषयं चानुमानम्—१।१।५) अतः यह कैसे माना जाए कि प्रत्यक्ष की शक्ति अनुमान से अधिकतर है ? उत्तर—न्याय में असद् विषय वह है, जो ज्ञायमान नहीं हो रहा है (दर्शनादर्शनाधीने सदसत्त्वे हि वस्तुतः—न्यायमंजरी ने ८ आ), पर प्रत्यक्ष का उत्कर्ष यदि किया जाए, तो वहाँ अनुमान की आवश्यकता नहीं होगी। प्रत्यक्ष करने की शक्ति चूंकि नहीं रहती, अतः किसी चिन्ह के आश्रय से लक्षित पदार्थ का सत्ता-निश्चय किया जाता है। असद्विषय एक आपेक्षिक शब्द है, जो प्रत्यक्षकारणी शक्ति के उत्कर्ष पर निर्भर है। किंच जिन अतीत या भविष्य (—असद्विषय) कालीन विषयों का सत्ता-निश्चय हम अनुमान से कर हैं, यदि कालान्तर उनका प्रत्यक्ष ज्ञान हो, और वह ज्ञान अनुमानज ज्ञान से पृथक् हो, तब क्या हम प्रत्यक्षजनित ज्ञान का ही प्रामाण्य नहीं मानते हैं ?

अनुमान से हम धर्मी का सत्तानिश्चय मात्र करते हैं तथा लिंगज्ञान की उत्कृष्टता के आधार पर लिंगी के परिमाण, आकृति आदि के विषय में कुछ अस्फुट ज्ञान भी पा सकते हैं, पर वह प्रत्यक्ष की तरह विशद नहीं होगा। अतः यह मानना होगा कि अनुमानकारिणी चित्र-शक्ति प्रत्यक्षकारिणी चित्र-शक्ति से निकृष्टतर ह। हम अनुमिति को असम्यक् नहीं कहते हैं, पर अविशद कह रहे हैं।

उपमान स्वीकार का हेतु :—ज्ञानशक्ति जब इतनी कमजोर हो जाती है कि वह लक्ष्य का कार्यभूत या स्वभाव भूत (या अवयवभूत) लिंग का यथार्थ ज्ञान भी न कर सकती हो, तब वह कार्यत्वादि के स्थान पर सादृश्यमात्र का साक्षात् कर लक्ष्य का ज्ञान करती है। इस सादृश्यज्ञान का नाम ही 'उपमान प्रमाण' है। गोतम का सूत्र है —'प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम्' (१।१।६) भाष्यादि के अनुसार इस सूत्र का अर्थ यह है—'प्रसिद्धसाधर्म्यप्रयुक्त अर्थात् प्रकृष्ट रूप से ज्ञात पदार्थविशेष के साथ अदृष्ट पदार्थ के सादृश्यबोधक आप्तवाक्य से जिस साधर्म्य अर्थात् सादृश्य का ज्ञान होता है उस सादृश्य-प्रयुक्त (उस सादृश्य का प्रत्यक्षवशतः) साध्य (=शब्द विशषवाच्य) का साधन (=निश्चय) जिसके द्वारा होता है वह उपमान-प्रमाण कहलाता है' (तर्कवागीश संस्करण)।

(*) पतंजलि ने कहा है —'भवति वै प्रत्यक्षादपि अनुमानबली यस्त्वम्' पर ऐसी स्थिति में दुष्ट प्रत्यक्ष ज्ञान होता है—यह मानना होगा।

ध्यान देने से पता चलेगा कि इस उपमान-प्रमाण की शक्ति अनुमानसे भी कम है तथा ज्ञान-शक्ति जब अनुमान-प्रमाण का आश्रय नहीं कर सकती, तभी वह उपमान-प्रमाण का आश्रय करती है। हम जानते हैं कि अनुमान के लिए लिंग का पक्ष में ज्ञान तथा लिंग-लिंगी का संबन्ध ज्ञान अपरिहार्य है, पर उपमान के लिए सादृश्य (साधर्म्य) का ही ज्ञान अपेक्षित है। लिंग का लिंगी से संबन्ध जितना घनिष्ठ हो सकता है, सादृश्य का तत् सादृश्ययुक्त पदार्थ से उतना घनिष्ठ संबन्ध नहीं हो सकता, क्योंकि सादृश्य अनभीष्ट पदार्थ में भी रह सकता है, पर लिंग-लिंगी को छोड़कर अन्यत्र नहीं रह सकता। धूम से अग्नि का संबन्ध जितना घनिष्ठ है ('अनुमान-प्रमाण', उतनी घनिष्टता मुद्ग से मुद्गपर्णी में नहीं है। मुद्गपर्णी से अन्यत्र भी मुद्ग का सादृश्य रह सकता है, जिससे केवल सादृश्यमूलक ज्ञान भ्रमपूर्ण प्रायः हो जाता है।

अनुमान से उपमान प्रमाण की दूसरी अशक्ति यह भी है कि उपमान में एक अन्य व्यक्ति की अपेक्षा होती है, अर्थात् किसी अन्य व्यक्ति से सादृश्य का ज्ञान कराया जाता है और बाद में ज्ञात-सादृश्य व्यक्ति को संज्ञा-संज्ञि संबन्ध की प्रतिपत्ति होती है। यहां प्रमाता का ज्ञान अन्य पुरुष के ज्ञान की अपेक्षा करता है अतः स्वज्ञानजन्य अनुमान से इसका स्थान समान नहीं हो सकता।

किंच अनुमान से जितना यथार्थज्ञान हो सकता है, उपमान से उतना नहीं हो सकता क्योंकि उपमान में सादृश्य (चाहे वह धर्म हो, या वैधर्म्य हो या साधर्म्य हो—न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका १।१।६) के बल पर ज्ञान किया जाता है। सादृश्य चूंकि प्रमेय का मौलिक कार्य, या अवयव नहीं है, अतः लिंग की तरह वह यथार्थज्ञानोत्पादन में बलवान् नहीं है। हेतु के साथ हेतुमान का जितना घनिष्ठ संबन्ध हो सकता है, एक धर्म से धर्मी का संबन्ध उतना निकट नहीं हो सकता, अतः अनुमान से हम जितना दृढ़ रूप से अज्ञात पदार्थ का सत्ता-निश्चय कर सकते हैं, उपमान से उतना नहीं।

इसके साथ साथ हम यह भी देखते हैं कि किसी पदार्थ के हेतु का ज्ञान करना जितना कठिन है, उसके सादृश्य का ज्ञान करना उतना कठिन नहीं है, इसलिए हम यह कह सकते हैं कि जब चित्तशक्ति अनुमान-प्रमाण के प्रयोग में असमर्थ हो जाती है, तब वह 'उपमान' का प्रयोग करती है। किंच उपमान प्रमाण के लिए अन्य व्यक्ति से सादृश्य ज्ञान की अपेक्षा रहती है, जो अनुमान में नहीं रहता, अतः उपमान अनुमान से अपकृष्ट है।*

शब्दप्रमाणस्वीकार का हेतु :—उपमान-प्रमाण के प्रयोग के लिये भी जब ज्ञान-शक्ति सशक्त नहीं होती, तब वह शब्द प्रमाण का आश्रय करती है। ध्यान देना चाहिए कि उपमान-प्रमाण का आश्रय करती है। ध्यान देना चाहिए कि उपमान-प्रमाण से ही प्रमाता के ज्ञान के लिए आप्त रूप पुरुषान्तर की अपेक्षा हो गई है, और इस पुरुषान्तरसापेक्षता का उत्कर्ष शब्दप्रमाण में अपनी पराकाष्ठा तक पहुंच गया है। उपमान में तो आप्त से सादृश्य का ज्ञान होता था। और लक्ष्य का निश्चय सादृश्य ज्ञान पूर्वक प्रत्यक्षतः होता है पर शब्दप्रमाण में लक्ष्य प्रमेय के वाचक शब्द को सुनकर ही प्रमाता को निश्चय ज्ञान करना पड़ता है, न

(*) शंका हो सकती है कि उपमान प्रमाण के प्रयोगस्थल में अभीष्ट प्रमेय का साक्षात्कार भी हो जाता है, अनुमान में तो साक्षात्कार नहीं होता, अतः यह कैसे कहा जा सकता है कि उपमान से जात ज्ञान अनुमान से निकृष्टतर होता है ? उत्तर—उपमिति को न ऐसा समझकर कहा गया है —

प्रमाता कुछ लिंग ही देख पाता है और न सादृश्य का अनुसन्धान कर प्रमेय का निश्चय करता है। प्रत्क्षादि प्रमाणों से इसकी निकृष्टता कितनी है, इसका निरूपण किया जा रहा है।

गोतम ने शब्द प्रमाण का विवरण किया है—'आप्तोपदेशः शब्दः' (१।१।७); अर्थात् आप्त साक्षात्कृत् पदार्थधर्मा यथादृष्टक्ता) का जो उपदेश भूत शब्द है वह शब्द प्रमाण। इस लक्षण से यह स्पष्ट हो जाता है कि शब्द प्रमाणी में प्रमाता पुरुष केवल प्रमेय-वाचक शब्द ही सुन पाता है और कुछ नहीं और उसी के बल पर वह प्रमेय निश्चय करता है। कोई भी व्यक्ति यह समझ सकता है कि लिंग से लिंगी को जानने से या साधर्म्य से धर्मी को जानने से जितना दृढ़ तथा विशद ज्ञान हो सकता है, वाचक शब्द सुनकर उतना ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि (क) लिंग से लिंगी का या सधर्म से धर्मी का जितना वास्तव संबन्ध है, वाचक शब्द से वाच्य अर्थ का उतना वास्तव संबन्ध नहीं है, (ख) शब्द से वाच्यअर्थ के ज्ञान में अस्तित्वमात्र का ही ज्ञान हो सकता है, वाच्य पदार्थ का कुछ भी वैशिष्टय का बिन्दुमात्र ज्ञान नहीं हो सकता, पर लिंग से लिंगी के ज्ञान लिंगि-निष्ठ कुछ विशिष्टता का अस्फुट ज्ञान भी हो सकता है और उपमान में तो संज्ञासंज्ञि संबन्धप्रतिपत्ति प्रत्यक्षतः ही होती है, (ग) शब्दप्रमाणजनित ज्ञान पूर्णतः पुरुषान्तर सापेक्ष है, जब कि अनुमान-उपमान से ज्ञान में स्वबुद्धिवैशद्य का भी स्थान रहता है।

शब्द प्रमाण की इस अशक्ति पर यह आक्षेप किया जासकता है कि शब्द प्रमाण से तो ऐसे ऐसे अविज्ञात विषयों का ज्ञान हो सकता है, जिसकी कल्पना भी अनुमान आदि से नहीं की जा सकती। उत्तर में वक्तव्य यह है कि परप्रत्यय में निष्ठा रखकर वाचकशब्दों को सुनकर जितना प्रमेय-ज्ञान हो सकता है, उससे अधिक उस विषय में लिंग-पूर्वक ज्ञान से हो सकता है। 'परलोक है'—इस शब्द से जितना ज्ञान होता है, वह उस ज्ञान से अवश्यमेव अदृढ़तथा न्यून होगा, जो अनुमान से उत्पन्न होता है। शब्द तो अस्तित्व छोड़कर और कुछ नहीं बताता (जब विशेषणों का प्रयोग किया जाएगा, तब कथित अंश का सामान्यतम बोध उत्पन्न करता है), पर अनुमान से किञ्चित् अन्य ज्ञान भी होता है (अनुमेय की स्थिति-परिणाम-परिमाण आदि) (यदि शक्ति हो, तो शब्द प्रमाणगम्य सब पदार्थों का ज्ञान अनुमान से ही किया जा सकता है, पर उसके लिए हेतु स्वरूप को जानने के लिए ज्ञान-शक्ति का जो उत्कर्ष चाहिए वह सब प्रमाता में नहीं होता, इसलिये शब्द प्रमाण की सहायता ली जाती है। शब्द प्रमाण में भी शब्द का तो साक्षात्कार करना ही पड़ता है और वक्ता को तो कथित विषय का साक्षात्ज्ञान करना इष्ट ही है, अतः शब्द प्रमाण भी प्रत्यक्षप्रमाण का ही विकार है—यह सिद्ध हुआ।

ऐतिह्यप्रमाणस्वीकार का हेतु:—शब्द प्रमाण का प्रामाण्य आप्त पर आधारित है, अतः शब्दप्रमाण में प्रमाता को पहले ही आप्तत्व का निश्चय कर उसके उपदेश को सुनना चाहिए। प्रमाता में इस निश्चय ज्ञान का जितना उत्कर्ष होगा शब्द प्रमाण भी उतना ही उत्कृष्ट होगा—यह स्वतोबोध्य है। आप्तप्रामाण्यनिश्चय प्रमाता की ज्ञान शक्ति ही करती है, पर वह ज्ञान-शक्ति कभी कभी इतनी निम्न स्तर की हो जाती है कि वह आप्त प्रमाण्य को चाहती हुई भी आप्तत्वनिश्चय नहीं कर पाती और तब वह जिस शब्द-प्रमाण का आश्रय कर प्रमेय सत्ता का निश्चय करती है। उस शब्द प्रमाण का नाम 'ऐतिह्य' है। वात्स्यायन ने कहा है—'इति होचुरिति अनिर्दिष्ट प्रवक्तृकं प्रवाद पारम्पर्य मैतिह्यम्' (न्यायभाष्य २।२।१)।

ऐतिहृय का यह लक्षण स्पष्ट ही प्रमाणित करता है कि यह शब्दप्रमाण का ही किंचित् विकृत रूप है। स्वयं वात्स्यायन भी इस तथ्य की और इंगित किया है, यथा "आप्तोपदेशः शब्द इति, न च शब्दलक्षणम् ऐतिहृयाद् व्यावर्तत इति। सोयं भेदः सामान्यात् सामान्यात् संगृहृयत इति" (२।२।२ मातय)। इससे स्पष्ट होता है कि शब्द प्रमाण ही ऐतिहृय का बीज है।

इतना होने पर भी ऐतिहृय शब्द से पृथक् है और निकृष्ट भी सुतरां उसके आश्रयकारिणी ज्ञान-शक्ति का स्तर पूर्वोक्त स्तर से न्यून होगी–इसमें संशय का अवकाश नहीं है। कारण यह है कि ऐतिहृय प्रमाण में किस आप्त ने ऐसा कहा है उसका अवबोध नहीं रहता (अनिर्दिष्ट प्रवक्तृक) अतः ऐसा होने की भी पूरी संभावना रहती है कि अनाप्त व्यक्ति का वाक्य भी ऐतिहृय के रूप में गणित हो जाए, जिससे लक्ष्य ज्ञान अयथार्थ रूप से नहीं हो सकता। ज्ञान शक्ति की अक्षमता ही इसका कारण है, क्योंकि शब्दबल पर ही जब लक्ष्य ज्ञान किया जाता है तब 'किस आप्त का यह वाक्य है,' यह जानना परमावश्यक होता है* जब प्रमाता यह जानने की शक्ति नहीं रखता कि इस उपदेश के मूल में कौन आप्त है और लोक में उपदेशरूप से प्रचलित होने के कारण उसको ले लेने में बाध्य हो जाता है, जब वह 'ऐतिहृय' प्रमाण का आश्रय करता है। आप्तत्वनिश्चय न होना ही ऐतिहृय प्रमाण की अशक्ति है और इस अशक्ति प्रमाण को चित्र तभी स्वीकार करता है जब उसमें आप्तत्वनिश्चय करने की शक्ति न हो। वस्तुतः प्रमाता की इसी अशक्ति की दृष्टि से ही ऐतिहृय को शब्द प्रमाण के अवान्तरभेद के रूप में न्यायाचार्यों ने माना है।

अब हम अर्थापत्ति आदि प्रमाणों पर अतिसंक्षेप से विचार करना चाहते हैं।

अर्थापत्ति आदि प्रमाणस्वीकार का हेतु:—जब अनुमान आदि का यथोक्तरूप से प्रयोग करना असंभव हो जाता है, तब जिन प्रमाणों का प्रयोग प्रमाता करता है, उनको अर्थापत्ति, संभव तथा अभाव कहा जाता है यदि हम प्रत्यक्ष तथा अनुमान को ठीक से ग्रहण कर सके, तो इन तीनों का अन्तर्भाव उन प्रमाणों में हो जाता है, पर प्रमाता की चित्तशक्ति जब यथार्थतः अनुमान के प्रयोग करने में असमर्थ हो जाती है, तब इन प्रमाणों को थोड़ा सा स्थूल कर (अर्थापत्ति आदि) ही वह प्रयोग करता है। हमने पहले देखा है कि शब्द प्रमाण को यथार्थतः प्रयोग करने के लिए आप्तत्व निश्चय करना आवश्यक है, पर जब प्रमाता उसके निश्चय के बिना ही शब्द प्रमाण का प्रयोग करता है, तब वह 'ऐतिहृय' प्रमाण होता है, ठीक उसी प्रकार अनुमान आदि का प्रयोग जब किसी अंग से ही न होता है तब वह अर्थापत्ति आदि होते हैं। उदाहरण यथा—

'मेघ नहीं होने से वर्षा नहीं होती' इस वाक्य को सुनकर प्रमाता यह भी निश्चय करता है कि 'मेघ होने से वृष्टि होती है'। यह बोध अनुमान-प्रमाण पर आश्रित है, तथा इससे जात ज्ञान अनुमान प्रमाण का अतिक्रमण नहीं कर सकता। संभव-प्रमाण भी अनुमान-प्रयोग की विलक्षणता पर निर्भर है। अभाव तो प्रत्यक्ष विशेष ही है। आगामी लेख में इन प्रमाणों पर विशेष अनुशीलन किया जाएगा।

---

*वाचस्पति ने ठीक ही कहा है—'यत् खलु अनिर्दिष्ट प्रवक्तृकं पारम्पर्यमैतिहृयं तस्य वेदाप्तः कर्त्ता न अवधारितः ततस्तत् प्रमाणमेवन भवतीति' (तात्पर्यटीका)

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रमाणों का प्रयोग ज्ञानशक्ति के स्तर का सापेक्ष है, और ज्ञान-शक्ति की नीचता तथा इष्ट पदार्थ की सूक्ष्मता इन दोनों के समीकरण पर ही प्रमाणों की संख्या (विभिन्न प्रकार) आश्रित है। प्रत्यक्ष यदि सर्वावभासक हो, तो अनुमानादि की आवश्यकता नहीं होती, पर यदि ज्ञेय पदार्थ प्रत्यक्ष-करने की शक्ति से सूक्ष्म हो तो उसके लिंग का प्रत्यक्ष कर इष्ट पदार्थ कर सत्ता-निश्चय निश्चय किया जाता है। यदि लिंगज्ञान के लिए भी शक्ति न हो, तो सादृश्य से सत्ता-निश्चय किया जाता है और सादृश्य जानने की भी यदि शक्ति न हो, तो वाचक शब्द सुन कर सत्ता-निश्चय किया जाता है। अन्यान्य प्रमाणों के विषय में भी यह न्याय प्रवर्तित होता है। हम आगामी निबन्ध में अन्यान्य प्रमाण तथा प्रमाण के विषय में विशेष विचार प्रस्तुत करेंगे।

रामशंकर भट्टाचार्य
टीकमणि संस्कृत कालेज,
दशाश्वमेध, काशी

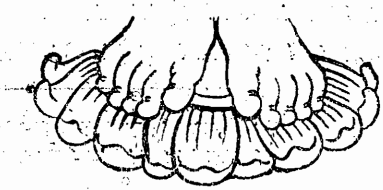

ऋग्वेद के ऋषि

आधुनिक रीति पर जब से वेदों का पठन पाठन प्रारम्भ हुआ है, वेदों के सम्बन्ध में विविध विचार के सम्मुख आ रहे हैं। इस छोटे से लेख में हम ऋग्वेद के ऋषियों के सम्बन्ध में अपने विचार प्रस्तुत करेंगे। वेदों के स्वाध्याय के समय ऋषि-ज्ञान की उपेक्षा नहीं की जा सकती। ऋषि-ज्ञान के बिना मन्त्रार्थ का ज्ञान लेना असम्भव बताया जाता है। प्रायः सब ही वैदिक ग्रन्थों में वेदार्थ के लिए ऋषि-ज्ञान की प्रशंसा के पुल बांधे गए हैं। और वे ठीक हैं, उनमें कुछ अतिशयोक्ति नहीं। अभी हाल में हमने वेंकट माधव कीअनुक्रमणी में निम्न श्लोक पढ़े हैं —

"ऋषिनामार्षगोत्राणां ज्ञानमायुष्यमुच्यते। पुत्र्यं पुण्यं यशस्त्रं च स्वर्ग्यं धन्यममित्रहम्॥
मन्त्राणां ब्राह्मणार्षेयच्छन्दोवैकतविन्न यः। याजनाध्यापनादेति च्छन्दसां यातयत्मताम्॥
मन्त्राणां ब्राह्मणर्षेयच्छन्दो वतवित्तु यः। याजनाध्यापनाभ्यां स श्रेय एवाधिगच्छति॥"

(माधवानुक्रमणी, ५।१।१ २,५,७)

इस प्रकार वेदार्थ के लिए ऋषि-ज्ञान की प्रशंसा में प्राचीन वैदिक साहित्य के अनेकों पृष्ठ रंगे पड़े हैं। इसलिए मन्त्रार्थ में ऋषिज्ञान की उपेक्षा नहीं की जा सकती :

ऋषि पद 'ऋषि गतौ' धातु से बना है। इसका अर्थ ज्ञान, गमन, प्राप्ति व्याकरण में प्रसिद्ध है। धात्वर्थ के आधार पर ऋषि पद का अर्थ ज्ञानी, विचार द्वारा पदार्थों में प्रवेश करने वाला, अथवा सूक्ष्म रूप से उनको प्राप्त होने वाला किया जा सकता है। इसी आशय को लेकर संस्कृत के वैदिक लौकिक साहित्य में ऋषि पद का विवरण अनेक स्थलों पर आता है, उनमें मन्त्र के साथ ऋषि का जो सम्बन्ध दिखलाया गया है, उसके लिए 'दृश्' और 'कृ' दोनों ही धातु का प्रयोग समान रूप से आता है।

निरुक्तकार ने ऋषि पद का साधारण अर्थ साक्षात्कृतधर्मा किया है। 'साक्षात्कृतधर्माण ऋषियो बभूवु:'। जिन्होंने तत्व धर्म को वास्तविक रूप में जान लिया है वे ही ऋषि कहा सकते हैं उन। ऋषियों ने, अपने से बाद में होने वाले असाक्षात्कृतधर्माओं अर्थात् ऋषियों को उपदेश के द्वारा मन्त्र प्रदान किए। कालान्तर में केवल उपदेश के द्वारा ग्रहण शक्ति लुप्त होती गई, और उस समय में निघण्टु, वेद और वेदांगों का बार बार अभ्यास करके विद्वानों ने ज्ञान का सम्पादन किया। निरुक्तकार के इस उपर्युक्त कथन से यह बात स्पष्ट हो जाती है, कि ऋषि वही हैं, जो साक्षात्कृतधर्मा हैं।

मन्त्र के साथ ऋषि का संबन्ध बतलाने के लिए साहित्य में दोनों ही प्रकार का कथन है। अर्थात् "मन्त्र" पद के साथ 'दृश्' और 'कृ' दोनों ही धातुओं का प्रयोग देखा जाता है। 'ऋषयो मन्त्रद्रष्टारो भवन्ति' 'ऋषिर्दर्शनात्' यह एक प्रकार। और 'मन्त्रकृतामृषीणाम्' 'ऋषे मन्त्रकृतां स्तोमैः' यह दूसरा। मन्त्र पद के साथ 'कृ' धातु के प्रयोग के सम्बन्ध में आधुनिक विद्वानों ने पर्याप्त विचार किया है। उनके कथन का सार यही है, कि धातु अनेकार्थक होते हैं, इसलिए 'कृ' धातु भी अनेकार्थक है। महाभाष्यकार ने भी 'कृ' धातु के अनेक अर्थ किए हैं। यद्यपि उन अर्थों में भी 'कृ' धातु का दर्शन अर्थ नहीं दिखाया गया, तथापि अन्य अर्थों के समान इस धातु का 'दर्शन' अर्थ भी हो सकता है। इसलिए जहां कहीं भी साहित्य में 'मन्त्रकृत्' या 'मन्त्रकार' पद आते हैं, और उनसे ऋषियों का बोध होता है, उनका अर्थ 'मन्त्रद्रष्टा ही समझना चाहिए। इस प्रकार साम्प्रतिक आर्य विद्वानों ने 'दृश्' और 'कृ' धातु के प्रयोगों का सामंजस्य करने का प्रयत्न किया है।

परन्तु इस विषय में एक बात कही जा सकती है, धातुओं के अनेकार्थक होनेसे 'कृ' धातु जैसे अनेकार्थक है, उसी तरह 'दृश्' धातु को भी तो अनेकार्थक कहा जा सकता है। यदि अनेकार्थक होने से 'कृ' का अर्थ 'दर्शन' करते हो, तो अनेकार्थक होने से ही 'दृश्' का अर्थ भी 'अपूर्वोत्पादन' क्यों नहीं हो सकता? अभिप्राय यह है, कि अनेकार्थक हेतु दोनों ही के लिये समान है। वह किसी एक विशेष अर्थ को सिद्ध नहीं कर सकता। ऐसी अवस्था में फिर यही बात विचारणीय रह जाती है, कि 'दृश्' और 'कृ' धातुओं के विभिन्न प्रयोगों का सामञ्जस्य क्या ?

जो विद्वान् 'कृ' के मुख्यार्थ को स्वीकार कर इन प्रयोगों का सामञ्जस्य करते हैं, उनका अभिप्राय यह है कि मन्त्रों अथवा सूक्तों के साथ जिन ऋषियों का वैदिक साहित्य में निर्देश किया जाता है वे ऋषि उन मन्त्रों अथवा सूक्तों के कर्ता अर्थात् रचयिता हैं। उन्होंने ही अपने अपने भिन्न समयों में इन मन्त्रों अथवा सूक्तों की रचना की है, और बाद में विद्वानों ने उनका संग्रह कर दिया है, वही संग्रह आज एक ऋग्वेद है।

परन्तु जो विद्वान् 'दृश्' के मुख्यार्थ को स्वीकार कर इन प्रयोगों का सामञ्जस्य करते हैं, उनका अभिप्राय यह है कि मन्त्रों या सूक्तों के साथ जो ऋषि लगे हैं, वे मन्त्रों के रचयिता नहीं, प्रत्युत मन्त्रार्थों के द्रष्टा हैं, मन्त्र उनसे पुराना और बहुत पुराना है। इस प्रकार इन धातुओं के प्रयोग परस्पर इतने विरुद्ध अर्थों में हैं, कि इनका सामञ्जस्य अनायास ही नहीं कहा जा सकता। अभिप्राय यह है, कि इस विषय पर गंभीरता पूर्वक विवेचन होना चाहिए, और कोई ऐसा मार्ग प्रदर्शित होना चाहिए, जिसमें कोई अस्वाभाविक अथवा क्लिष्ट कल्पना न करनी पड़े।

इसमें कोई सन्देह नहीं, कि इन धातुओं का इस रूप में प्रयोग, साहित्य में इस प्रकार हुआ है, जैसे दूध में पानी। अर्थात् इनकी विभिन्नता का विवेचन करना जरा टेढ़ी खीर है। हमारा तात्पर्य यह है कि इन धातुओं का प्रयोग साहित्य में इतनी समानता के साथ हो रहा है, कि इन दोनों में से हम किसी एक को हटा कर दूसरे की निर्बाध स्थापना नहीं कर सकते। अर्थात् यह नहीं किया जा सकता, कि 'दृश्' को बिलकुल बहार निकाल कर बहार किया जाए और 'कृ' के मुख्यार्थ से काम चल जाए अथवा 'कृ' को निकाल बाहर फेंका जाए, और केवल 'दृश्' के ही मुख्यार्थ से काम चल जाए। इस प्रकार 'दृश्' और 'कृ' के मिले जुले प्रयोग को दिखलाने के लिये दो एक उदाहरण हम यहां विद्वज्जनों की सुविधा के लिए उद्धृत करते हैं—

"मनुष्यत्वे मन्त्रकृत ऋषयः परिकीर्त्तिताः। आर्षेयवरणं तेषां तथा च ब्राह्मणं शृणु॥
न 'मन्त्रदर्शनात्' पूर्वमृषित्वं प्रत्यपद्यत।" (माधवानुक्रमणी, ५।७।१, २)

यहां प्रथम पद्य में ऋषियों को 'मन्त्रकृत्' कहा गया है। और उसके साथ ही अगले पद्य में 'मन्त्रदर्शन' से पूर्व ऋषि होने का निषेध किया जा रहा है। अर्थात् मन्त्रों का द्रष्टा हुए बिना कोई व्यक्ति ऋषि नहीं कहा जा सकता। इसी तरह आगे माधव पुनः लिखता है—

"तादृशान् ददृशुर्मन्त्रान्।" ५।७।१४) "काण्डान्यकुर्वन्नृषयः।" (५।७।१९)
"भूयोभूयस्तपस्तप्त्वा वेदाम्नानविधानिति। ऋषियो ददृशुः पूर्वे तं तमर्थमभीप्सवः॥"
(५।७।२६)

यहां पर भी 'दृश्' और 'कृ' धातु का प्रयोग इस प्रकार किया जा रहा है, जैसे इनमें कुछ विभिन्नता ही न हो। ऐसे प्रयोगों से सम्पूर्ण साहित्य भरा पड़ा है। यहां हमने दिग्दर्शन मात्र के लिए उक्त उदाहरण दे दिए हैं। इस प्रकार 'दृश्' और 'कृ' धातु के प्रयोगों की संगति लगाना आवश्यक हो जाता है, यह तो कहा ही नहीं जा सकता, कि इस प्रकार असंगत होंगे। इसलिए इसके सम्बन्ध में हमारा जो कुछ विचार है वह हम विद्वानों के सम्मुख संक्षेप में ही उपस्थित किये देते हैं।

निरुक्तककार यास्क ने देवताओं के सम्बन्ध में विचार करते हुए सप्तमाध्याय के प्रारम्भ में लिखा है—
"यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुंक्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति।"

जिस कामना से युक्त हुआ ऋषि, जिस देवता के विषय में अर्थ स्वामिता की इच्छा रखता हुआ, स्तुति का प्रयोग करता है, वह मन्त्र उसी देवता वाला कहा जाता है। इस वाक्य में 'ऋषि,—स्तुति प्रयुंक्ते ये पद विचारणीय हैं। ऋषि स्तुति का प्रयोग करता है। प्रयोग' करने का अभिप्राय उच्चारण करना ही हो सकता है, वह स्तुति का उच्चारण मन्त्रोच्चारण के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इसीलिए अन्त

में इस वाक्य का उपसंहार करते हुए यास्क लिखता है—'तद्दैवतः स मन्त्रो' भवति'। यहां 'स मन्त्रः में 'तत्' पद इस बात का निर्देश कर रहा है, कि यह मन्त्र वही है, जिसका ऋषि ने स्तुति रूप में प्रयोग किया है। इसका अभिप्राय यही निकलताहै, कि ऋषि, देवताओं की स्तुति के लिए मन्त्रों का प्रयोग करते हैं, अर्थात् उच्चारण करते हैं।

मन्त्रों का उच्चारण करना और उनके अर्थों का साक्षात्कार करना, ये दो बातें हैं पृथक् पृथक्। इसी आधार पर मन्त्रों का प्रयोग उच्चारण अथवा अभ्यास करने के अर्थ में 'कृ' धातु का प्रयोग है और मन्त्रार्थों के साक्षात्कार करने में 'दृश्' धातु का प्रयोग, ऐसा हमारा विचार है। वेदों के शब्दाभ्यास और अर्थों के साक्षात्कार इन दोनों ही बातों पर ऋषित्व अवलम्बित है। पहली बात ऋषित्व की पहिली सीढ़ी है, और दूसरी बात अन्तिम सीढ़ी।

इस प्रसंग में हम विद्वानों का ध्यान, आचार्य पाणिनि के 'तदधीते तद्वेद' इस सूत्र की ओर भी आकर्षित करना चाहते हैं। किसी विषय का अध्ययन और उसका ज्ञान उस विषय के ज्ञाता होने के प्रयोजक हैं। यहां 'अधीते' क्रियापद 'पठति' के अर्थ में प्रयुक्त है। 'पठ्' का अर्थ व्यक्त वाणी और शब्दग्रन्थन धातुपाठ में निर्देश किया गया है। इसका सम्बन्ध उच्चारण से अधिक है, अर्थ से नहीं। अर्थ के लिए 'वेद' पृथक् क्रियापद है। हमारा अभिप्राय यही है, कि मन्त्र का उच्चारण या अभ्यास और उसके अर्थों का साक्षात्कार ये दोनों ही बातें ऋषित्व की प्रयोजक हैं। इसीलिए प्राचीन साहित्य में ऋषियों के लिए 'मन्त्रकृत्' और 'मन्त्रद्रष्टा' दोनों पद समान रूप से आते हैं।

जहां अर्थ के निर्देश की प्रधानता अपेक्षित होती है, वहां प्रायः 'मन्त्र' के साथ 'दृश्' धातु का प्रयोग देखा जाता है, और इसी तरह पाठमात्रप्राधान्य की अपेक्षा में 'कृ' धातु का प्रयोग। यह बात ऊपर उद्धत किये हुए माधव के श्लोकों से भी लक्षित होती है। अब आप सम्पूर्ण साहित्य में आए हुए 'मन्त्रकृत्' और 'मन्त्रदृश्' पदों के प्रयोगों का विवेचन कर सकते हैं। आप देखेंगे, कि 'मन्त्रकृत्' का प्रयोग ऐसे ही स्थानों में होगा, जहां मन्त्र का उच्चारण अथवा अध्ययन आदि ही अपेक्षित है। और जहां मन्त्रार्थों के साक्षात्कार का निर्देश अपेक्षित होगा, वहां आप 'मन्त्र' पद के साथ 'दृश्' धातु का प्रयोग पायेंगे। इस प्रकार विवेचन करने पर इन दोनों ही प्रयोगों में कोई विरोध नहीं रहता, और न किसी अन्य प्रकार की आशंका का अवकाश रहता है। यदि हम इसका और सूक्ष्म विवेचन करें, तो कह सकेंगे, कि अर्थ साक्षात्कार के लिए 'मन्त्र पद के साथ केवल 'दृश्' धातु का प्रप्रयोग, और इसके अतिरिक्त शेष सब ही पदों का (मन्त्रकृत्, मन्त्रकार मन्त्रवान्, मन्त्रपति, आदि पदों का) प्रयोग, मन्त्रों के उच्चारण अथवा अभ्यास मात्र के लिए ही होगा। सप्तमाध्याय के प्रथम प्रकरण का उपसंहार करते हुए यास्क ने भी लिखा है —

"एवमुच्चावचैरभिप्रायै ऋषीणां मन्त्रदृष्टयो भवन्ति।"

वेंकट माधव ने एक और स्थल पर लिखा है—

"नानाविधैरभिप्रायैर्मन्त्रा दृष्टा महर्षिभिः।" इत्यादि (माधवानुक्रमणी ८।१।१)

ऋषि, मन्त्रों के कर्ता अर्थात् रचयिता हैं, उच्चारयिता अथवा प्रयोक्ता नहीं इस सम्बन्ध में एक बात और भी कही जाती है। ब्राह्मणग्रन्थों में अनेक स्थलों पर 'ऋषिणोक्तम्' या 'तदुक्तमृषिणा' इत्यादि वाक्य लिखकर आगे मन्त्र लिखे हुए मिलते हैं। इस से यह अभिप्राय निकाला जाता है, कि ऋषि ने मन्त्र

की रचना की। ये वाक्य, इस तरह के लौकिक वाक्यों के समान ही हैं, जैसे कहीं 'तदुक्तं पाणिनिना' कह-कर 'वृद्धिरादैच्' सूत्र उद्‌धृत किया हुआ हो यह सम्भव है कि ब्राह्मण ग्रन्थों में किसी ऋषि विशेष का नाम लेकर मन्त्र का उद्धरण न मिलता हो, जैसा कि 'विश्वामित्रेणोक्तम्, अथवा 'वशिष्ठेनोक्तम् कर आगे मन्त्र का निर्देश किया जाए; परन्तु अन्य ग्रन्थों में कहीं कहीं है ऐसा भी उल्लेख पाया जाता है। अनुक्रमणीकार वेंकट माधव ने एक स्थल पर लिखा है—

"समानमेतदुदकमुच्चैत्यव चाहभिः।" इतीममर्थं प्रोवच दीर्घतमा मामतेयः॥ (७।६।२)

"समानमेतदुदकमुच्चैत्यव चाहभिः" (ऋ.१।१।१६४।५१) इस मन्त्र के द्वारा ममता के पुत्र दीर्घतमा ऋषि ने इस अर्थ का कथन किया है। यहां स्पष्ट ही दीर्घतमा ऋषि का नाम लेकर उसे मन्त्र का वक्ता अर्थात् साधारण प्रयोगानुसार रचयिता कहा गया है।

परन्तु माधव के इस कथन में अथवा ब्राह्मण ग्रन्थों के उपर्युक्त निर्देशों में भी किसी शब्द से यह बात स्पष्ट नहीं होती, कि ऋषियों ने मन्त्र की रचना की। दीर्घतमा के इस प्रसंग में तो 'अर्थ' पद को रख कर इस बात को और भी स्पष्ट कर दिया है कि दीर्घतमा ने ऋचा के द्वारा अमुक अर्थ का प्रवचन किया अर्थात् मन्त्र के द्वारा उस विशेष अर्थ का निरूपण किया है। अभिप्राय यह है कि इस लेख से उसे मन्त्रार्थ का द्रष्टा बताया गया है, मन्त्र का रचयिता नहीं। यद्यपि वह मन्त्र का प्रवक्ता अथवा प्रयोक्ता अवश्य है। इससे हमारा तात्पर्य इतना ही है, कि वह मन्त्र में कवि-निबद्ध वक्ता है ही।

अर्थ का प्रतिपादन हम शब्द के ही द्वारा कर सकते हैं। कोई भी वक्ता जब किसी अर्थ के प्रकाशन का संकल्प करता है, तो वह स्वरचित वाक्य विन्यास के द्वारा ही संकल्पित अर्थ का प्रकाशन कर पाता परन्तु वैदिक वाक्य अर्थात् उस आनुपूर्वी के द्वारा प्रतिपादित अर्थ के सम्बन्ध में यह बात नहीं कही जा सकती। वेदानुपूर्वी पहले से विद्यमान स्वतःसिद्ध ईश्वरीय अथवा अमानुष है। वेद के मानने और जानने वाले ऋषियों ने वैदिक आनुपूर्वी को लौकिक वाक्य से सदा भिन्न समझा है। महाभाष्य का पतंजलि मुनि ने 'केषां शब्दानाम् ?' के आगे स्पष्ट ही 'लौकिकानां वैदिकानां च' लिखा है। लौकिक वैदिक वाक्यों की समानता में यह सब अनर्थक था। पाणिनि ने भी सर्वत्र छन्दस और वेद आदि का निर्देश कर लौकिक वाक्य रचना से, वेद की स्थिति सर्वथा पृथक् बताई है। पाणिनि ने लौकिक रचना के लिए 'भाषा' पद का प्रयोग किया है, यह बात वेद के लिए नहीं है। इसलिए लौकिक और वैदिक वाक्यों की इस विशेषता पर ध्यान देते हुए, हम यह कह सकते हैं, कि माधव के उक्त पद्य में भी दीर्घतमा के अर्थद्रष्टा होने का ही आभास दिया गया है, मन्त्र रचयिता होने का नहीं।

वेंकट माधव ने अपने ग्रन्थ में इस अर्थ का निर्देश, केवल 'वच्' धातु से ही नहीं, प्रत्युत 'ईर' धातु के द्वारा भी प्रकट किया है। उसने लिखा है :—

"तदेतद्दीर्घतमसा विस्पष्टमृषिणेरितम्। वदतेन्द्रं मित्रमिति।

अभिप्राय यह है, कि 'वच्' और 'ईर' आदि धातुओं का 'अपूर्वोत्पादन' अर्थ नहीं किया जा सकता इस प्रकार के निर्देश हमें इस परिणाम पर ले जाते हैं, कि मन्त्रों के साथ ऋषियों का सम्बन्ध केवल प्रवक्तृत्व का अथवा उनके गूढ़ रहस्यों के विशदीकरण का है। पहला सम्बन्ध, कवि-निबद्ध है, तथा दूसरा भगवान् की कृपा अपनी अलौकिक प्रतिभा और तपस्या का परिणाम है। इसलिए जहाँ भी कहीं साहित्य में

ऋषियों को मन्त्र का कर्ता अथवा वक्ता कहा है, वह सब 'कवि-निबद्ध वक्ता'* कहे जाने में ही पर्यवसित हो जाता है।

आर्य साहित्य में ऐसे उल्लेख भी कम नहीं, जिनमें यह निर्देश किया गया है, कि अमुक ऋचा या सूक्त के द्वारा अमुक देवता की स्तुति की। और इसके अतिरिक्त उस ऋचा का भिन्न अर्थों में भी विनियोग अन्यत्र ग्रन्थों में पाया जाता है, हमारा अभिप्राय यह है। कि एक ऋचा या सूक्त का विनियोग भिन्न भिन्न ऋषियों के द्वारा भिन्न भिन्न अर्थों में देखा जाता है। इसको दो एक उदाहरण हम यहां उपस्थित करते हैं। वेंकट माधव अपनी अनुक्रमणी में लिखता है—

" बृहस्पतिस्तु सामान्यादस्तौद् विद्वांसमेतया।
ब्राह्मणे विनियुक्तैषा सोमे विदुषि राजनि॥" (८।६।११)

बृहस्पति ऋषि ने 'सर्वे नन्दन्ति यशसा' (ऋ० १०।७१।१०) इस ऋचा के द्वारा विद्वान् की स्तुति की है। अर्थात् बृहस्पति के विचार से विद्वान् की स्तुति में इस ऋचा का विनियोग है, अथवा यों कह सकते हैं, कि बृहस्पति ऋषि इस ऋचा का देवता 'विद्वान्' मानता है। परन्तु 'सर्वे नन्दन्ति यशसा गतेनेत्यन्वाह' 'यशो वै सोमो राजा' इत्यादि ऐतरेय ब्राह्मण (१।१३।७) में विद्वान् के अतिरिक्त सोम राजा को इस ऋचा का देवता माना है। इसी तरह के एक और स्थल का भी माधव ने अपनी अनुक्रमणी में उल्लेख किया है—

"त्रैशोकेन तृचेनास्तौदैन्द्रेण प्रतिसत्रिणः। ऋषिरन्य इध्मवाह आ घा ये अग्निमिन्धते॥"

'आ घा ये' (ऋ० ८।४५।१) इत्यादि तीन ऋचाओं के द्वारा, जिनका ऋषि त्रिशोक और देवता इन्द्र है, इध्मवाह नामक एक अन्य ऋषि ने प्रतिसत्रियों की स्तुति की। इस अर्थ को शाटचायन ब्राह्मण ने स्पष्ट किया है, वहां लिखा है—

'ऋषयो वै स्पर्धयन्त इध्मवाहं समिद्धारं परेतमरण्य एकमजहुः।
सोऽकामयत। अनुपतेयं स्वर्गं लोकम्? प्रतिसत्रिणोऽभिसंप्रच्छेयमिति।
स ऐक्षत। हन्त प्रतिसत्रिण एवं स्तवानि,' इत्यादि।

अर्थात् ऋषिजन, वृद्धि को प्राप्त होते हुए इध्य वाह नामक ऋषि से ईर्ष्या करने लगे, और उसे अकेले जंगल में छोड़ गए। उसने अक्षय स्वर्ग की कामना की, और चाहा कि मैं प्रतिसत्रियों को प्राप्त हो जाऊँ। उसने विचार किया, और जान लिया, कि इस प्रकार प्रतिसत्रियों की स्तुति करूँ। और उसने उपर्युक्त तीन ऋचाओं के द्वारा उनकी स्तुति की। इन उद्धरणों के आधार पर हम इसी परिणाम पर पहुंचते हैं कि ऋचा

* जिस प्रकार पञ्चतन्त्र आदि में करटक, दमनक, मेघवर्ण आदि पशुपक्षियों के नाम रखकर उनके मुख से कथा प्रसंग अथवा वार्तालाप आदि ग्रन्थ कर्त्ता के द्वारा कहलाये गए हैं, वस्तुतः वे उन वाक्यों के रचयिता नहीं है, वे केवल कवि के द्वारा वक्ता रूप में उपस्थित किए गए हैं, इसलिए कवि-निबद्ध वक्ता कहे जा सकते हैं। अथवा जैसे किसी भी नाटक में पात्र भाषण करते हैं, वह सब कवि की ही रचना होती है, और वे पात्र भी कवि-निबद्ध ही होते हैं, इसी प्रकार वेद में भी ये ऋषि कवि-निबद्ध वक्ता हैं, अचिन्त्यशक्ति भगवान् ही वेदों का कवि है।

जिस प्रकार पहले से विद्यमान हैं, उनके द्वारा ऋषि जन भिन्न भिन्न देवताओं की स्तुति करते रहे हैं। ऋचाओं की रचना में उनका कोई भाग नहीं। यास्क ने भी इसी अर्थ को 'यत्काम ऋषिः' इत्यादि उपक्रम वाक्य में ध्वनित किया है, और 'एवमुच्चावचैः' इत्यादि उपसंहार वाक्य में इसका स्पष्टीकरण कर दिया है।

फिर भी 'आ घा ये' इत्यादि उद्धारणों में एक बात विचारणीय है। वेदों में सूक्त के प्रारम्भ में जो ऋषि लिखे हुए रहते हैं, उनमें 'आ धा ये' इत्यादि ऋचाओं का ऋषि त्रिशोक ही है, वहां इध्मवाह का नाम नहीं है। इससे यही प्रतीत होता है, कि ऋचाओं का रचयिता होने के कारण त्रिशोक का नाम वहां उल्लिखित है, इध्मवाह का नहीं।

इस प्रकार की आशंकाओं के समाधान के लिए एक विचार यह उपस्थित किया जाता है, कि जिन ऋषियों ने सर्वप्रथम एक या अनेक जिन मन्त्रों के अर्थों का साक्षात्कार किया, उन्हीं के नाम मन्त्रों के प्रारम्भ में उल्लिखित हैं। अनन्तर हुए अन्य अर्थसाक्षात्कर्ताओं के नहीं। क्योंकि उपर्युक्त मन्त्रों के द्वारा इध्मवाह के देवतास्तवन का अपलाप तो किया ही नहीं जा सकता। अन्यथा भिन्न भिन्न ऋषियों के द्वारा उन्हीं मन्त्रों से भिन्न भिन्न देवताओं के स्तवन का प्रतिपादक ब्राह्मणग्रन्थ असंगत हो जाएगा।

इसी विचार की पुष्टि में ऋषि दयानन्द का एक लेख उपस्थित किया जाता है। सत्यार्थ प्रकाश के सप्तम समुल्लास में लिखा है—'जिस जिस मन्त्रार्थ का दर्शन जिस ऋषि को हुआ और प्रथम ही जिसके पहिले उस मन्त्र का अर्थ किसी ने प्रकाशित नहीं किया था, किया और दूसरों को पढ़ाया भी, इसलिए अद्यावधि उस उस मन्त्र के साथ ऋषि का नाम स्मरणार्थ लिखा आता है।' इससे यह स्पष्ट ही परिणाम निकलता है कि जिन्होंने सर्वप्रथम मन्त्रार्थ का दर्शन और प्रकाशन किया, तथा दूसरों को अध्ययन भी कराया, उन्हीं के नाम उन उन सूक्तों या मन्त्रों के साथ ऋषि-रूप में उल्लिखित हैं। इसीलिए 'आ धा ये' इत्यादि स्थलों में ऋषि के स्थान पर त्रिशोक का ही नाम है, इध्मवाह का नहीं।

परन्तु इस विचार पर एक आशंका और उपस्थित की जाती है। गोपथ ब्राह्मण में लिखा है—

"तान् वा एतान् संपातान् विश्वामित्रः प्रथममपश्यत्—'एवा त्वामिन्द्र वज्रिन्' (ऋ० ४।१९।.......).......तान् विश्वामित्रेण दृष्टान् वामदेवो असृजत।" (६।१)

'एवा त्वामिन्द्र' इत्यादि सम्पातमन्त्रों का विश्वामित्र ने पहले दर्शन (अर्थसाक्षात्कार) किया। ....विश्वामित्र के द्वारा देखे हुए उन मन्त्रों को वामदेव ने रचा था। इस ब्राह्मण वाक्य में ऋग्वेद चतुर्थ मण्डल के १९ वें सूक्त का प्रथम द्रष्टा विश्वामित्र को बताया है। अब यदि मन्त्रों के साथ ऋषियों के निर्देश का यही कारण बताया जाय, जैसा कि हमने पूर्व एक विचार प्रकट किया ह, और जिसमें ऋषि दयानन्द की भी सम्मति है, तो इस चतुर्थ मण्डल के १९ वें सूक्त का ऋषि विश्वामित्र ही होना चाहिए। परन्तु ऐसा है नहीं। अनुक्रमणीकारों ने इस सूक्त का ऋषि वामदेव ही माना है।

उक्त ब्राह्मण सन्दर्भ में 'तान्......वामदेवो असृजत' यह एक अवान्तर वाक्य है। इसके आधार पर अनेक विद्वान् यह भी कहते हैं, कि उन मन्त्रों का निर्माण वामदेव ने किया है। इसलिए सूक्त का ऋषि वामदेव ही हो सकता ह, अर्थात् वामदेव उन मन्त्रों का रचयिता है। यह 'अर्थ 'असृजत' इस क्रियापद के द्वारा अत्यन्त

स्पष्ट हो रहा है। हमने भी प्रथम ब्राह्मण वाक्य का अर्थ करते हुए 'सृज्' का अर्थ रचना ही किया है। इस प्रसंग में, 'असृजत' क्रियापद के प्रयोग पर विचार कर लेना भी उपर्युक्त होगा।

अनेक आर्य विद्वानों ने 'असृजत' का अर्थ 'जन साधारण में फैला दिया' किया है। इसी आधार पर यह भी कहा जाता है, कि 'मन्त्रों के ऊपर जो ऋषि लिखे हैं उनका नाम मन्त्रार्थ द्रष्टा होने से ही नहीं लिखा गया, प्रत्युत सब से पहले मन्त्रार्थ प्रचारक होने से भी लिखा गया है।' उपर्युक्त ब्राह्मण वाक्य में प्रयुक्त 'प्रथमम्' पद के आधार पर यह भी परिणाम निकाला जाता है, कि 'प्रथमं.....' शब्द का प्रयोग करने से ब्राह्मणकार का यही अभिप्राय है कि वामदेव ने भी उन ऋचाओं को देखा था, पर सब से पूर्व विश्वमित्र ने ही उन्हें देखा।' अब यदि 'असृजत' क्रियापद का उक्त अर्थ ही स्वीकार कर लिया जाए, तो भी आशंका पूर्ववत् ही बनी रहती है, इससे मूल आशंका का कोई समाधान नहीं हो पाता क्योंकि—

विश्वमित्र = सर्व प्रथम मन्त्रार्थ का द्रष्टा, और—

वामदेव = मन्त्र का प्रचारक (जनसाधारण में फैला देने वाला), संभवतः द्रष्टा भी है।

ये ही दोनों साधन, मन्त्र के साथ ऋषि-निर्देश के नियामक हैं, तब चतुर्थ मण्डल के १९ वें सूक्त के विश्वामित्र और वामदेव दोनों ही ऋषि होने चाहिए। जो विश्वामित्र सर्वप्रथम् मंत्रार्थ का द्रष्टा है वह तो सूक्त का ऋषि न हो; और वामदेव, जिसने केवल मन्त्रों का प्रसार किया, वह इस सूक्त का।। ऋषि माना गया, यह बात कैसे युक्तिसंगत कही जा सकती है? ऐसी स्थिति में 'असृजत' क्रियापद का उक्त अर्थ कर लेने पर भी इस आशंका का समाधान नहीं हो पाता, कि इस सूक्त का ऋषि विश्वामित्र क्यों नहीं?

इसके अतिरिक्त समाधान के उक्त रूप में एक आपत्ति और भी उपस्थित होती है। यदि मन्त्रों के साथ ऋषि-निर्देश के दोनों पूर्वोक्त कारण उसी रूप में मान लिए जाएँ, तो वेद में इस बात का विवेचन करना अत्यन्त अशक्य हो जाएगा, कि किस मन्त्र या सूक्त के साथ, अर्थद्रष्टा होने से ऋषि का सम्बन्ध है, और किस मन्त्र या सूक्त के साथ उसका फैलाने वाला होने से? इसकी कोई भी कसौटी आज तक किसी के पास नहीं है। इस अव्यवस्था के कारण फिर तो विपक्षियों का यही मत अधिक पुष्ट दीखने लगेगा, कि जो ऋषि जिस मन्त्र या सूक्त का रचयिता है, उसी मन्त्र या सूक्त के साथ उस ऋषि का निर्देश कर दिया गया है। और यहां पर यह 'असृजत' क्रियापद इस बात में स्पष्ट प्रमाण है। ऐसी स्थिति में आवश्यक हो जाता है, कि मन्त्रों के साथ ऋषियों का क्या सम्बन्ध है, इस पर और अधिक प्रकाश डाला जाए।

इन आशङ्काओं के समाधान के लिए एक दूसरा विचार इस प्रकार उपस्थित किया जाता है। अनुक्रमणीकारों ने कहा है—'यस्य वाक्यं स ऋषिर्या तेनोच्यते सा देवता'। जिसका वाक्य है, वह ऋषि; और जो उस वाक्य से कहा जाए वह देवता है। 'जिसका वाक्य' से तात्पर्य यही है, कि जो उस वाक्य का कवि-निबद्ध वक्ता, उच्चारयिता अथवा प्रयोक्ता है। सम्पूर्ण वेदराशि एक ही कवि की कृति है। वह कवि क्रान्तदर्शी अचिन्त्यशक्ति परमात्मा के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं। वही, प्रत्येक महासर्ग के प्रारंभ में वेद का प्रकाश करता है। उसी के द्वारा मंत्र या सूक्तों के प्रयोक्ता भी उन उन स्थलों

पर निर्दिष्ट किए हुए हैं, जो कि कल्पकल्पान्तर में भी मन्त्र के समान ही स्थायी हैं। वे ही उन सूक्त अथवा मन्त्रों के ऋषि हैं।

अनन्तर जो ऋषि, तप और विचार शक्ति के द्वारा मन्त्रार्थों के द्रष्टा होते हैं, वे उन्हीं नामों से पुकारे जाते हैं, जो नाम कवि ने उस मन्त्र या सूक्त के वक्ता रूप में निर्दिष्ट किए हुए हैं। यह एक विशेष ध्यान देने योग्य बात है, कि जो अर्थ-द्रष्टा ऋषि हुए हैं, उनके अपने पहिले सांस्कारिक नाम और थे। अर्थ-द्रष्टा होने पर उनके वही नाम हो गए, जो उन उन मन्त्रों या सूक्तों में ऋषि वाचक पद आए हैं, अथवा जो नाम वक्तारूप में निर्दिष्ट किए गये हैं। यह विचार रखने वाले विद्वानों का संक्षेप में यही आशय है, कि मन्त्रों में कवि-निबद्ध वक्ता ही मन्त्रों के ऋषि हैं। इसी सम्बन्ध में प्रामाणिकों की एक प्रसिद्ध उक्ति भी उद्धृत की जाती है—

"ऋषीणां नामधेयानि याश्च वेदेषु दृष्टयः।
शर्वर्यन्ते प्रसूतानां तान्येवैभ्यो ददात्यजः॥"

ऋषि दयानन्द का अर्थ-द्रष्टृत्ववाद भी इसी में पर्यवसित हो जाता है। जो सन्दर्भ हमने अभी सत्यार्थप्रकाश के सप्तम समुल्लास से उद्धृत किया है, उसका व्याख्यान इसी आशय को लेकर संगत हो सकता है। क्योंकि जो ऋषि, सर्वप्रथम मन्त्रार्थद्रष्टा और उपदेष्टा हुए, उनके वही नाम प्रसिद्ध हुए, जो उन उन स्थलों में ऋषियों के लिए निर्दिष्ट थे, और वे ही आज तक अनुक्रमणियों, ब्राह्मणों तथा अन्य अतिरिक्त स्थानों में लिखे चले आते हैं।

इस विचार की पुष्टि में चतुर्थ मण्डल के १९ वें सूक्त का ऋषि-सम्बन्धी विवेचन भी एक उपोद्बलक प्रमाण है। वामदेव, कवि-निबद्ध वक्ता होने से सूक्त का ऋषि है। विश्वामित्र ने, सर्वप्रथम सूक्त का ष्टा होने पर भी अपने आप को विश्वामित्र नाम से ही प्रसिद्ध किया, वामदेव नाम से नहीं। इसलिए सूक्त का ऋषि तो वामदेव ही हो सकता था, पर विश्वामित्र के अर्थ-द्रष्टा होने को भी भुलाया नहीं जा सकता था, इसीलिए ब्राह्मणग्रन्थों में विश्वामित्र के अर्थ-द्रष्टृत्व का पृथक् निर्देश कर दिया गया।

यही बात 'आ घा ये' इत्यादि सूक्त के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। त्रिशोक, इस सूक्त का कवि-निबद्ध वक्ता होने से ऋषि है। इध्मवाह ने इस सूक्त के द्वारा प्रतिसत्रियों की स्तुति की। और वह इध्मवाह नाम से ही प्रसिद्ध रहा। परन्तु उसके इस स्तवन को भी भुलाया नहीं जा सकता था, इसलिए ब्राह्मण ग्रन्थों में उसका पृथक् निर्देश कर दिया गया। इससे यही परिणाम निकलता है, कि अर्थ-द्रष्टा, होने पर भी जिन ऋषियों ने अपने सांस्कारिक नामों को नहीं छोड़ा, उनका ब्राह्मणादि ग्रन्थों में पृथक् निर्देश कर दिया गया है। क्योंकि उनके अर्थ-द्रष्टृत्व का भी अपलाप नहीं किया जा सकता था। ब्राह्मण काल तक यह इतिहास परम्परा निरन्तर चली आती रही होगी। जो ऋषि अर्थ-द्रष्टा होने पर, मन्त्रसम्बद्ध ऋषिवाचक नामों से विख्यात हुए, वे वैदिक ऋषियों में निर्दिष्ट हैं ही। यद्यपि आज हमारे पास ऐसा इतिहास नहीं है, जिससे उन सब ऋषियों के सम्बन्ध में हम यह जान सकें, कि अर्थ-द्रष्टा होने से पूर्व उनका अपना सांस्कारिक नाम क्या था? और उसकी क्या स्थिति थी। परन्तु वैदिक साहित्य से कुछ ऋषियों के सम्बन्ध में ऐसी सूचनाएँ अवश्य प्राप्त हो जाती हैं, जिनमें से दो तीन के सम्बन्ध में अभी ऊपर हम निर्देश कर चुके हैं। और यत्न करने पर और भी अनुसन्धान किया जा सकता है।

फलतः यह बात अब निश्चित रूप से कही जा सकती है, कि इन ऋषियों का मन्त्र-रचना से कोई सम्बन्ध नहीं है। ये केवल मन्त्रों के वक्ता, उच्चारयिता अथवा अर्थ-द्रष्टा हैं। इसीलिए गोपथ ब्राह्मण के 'वामदेवो असृजत' इस वाक्य में 'असृजत' क्रियापद का अर्थ 'अवोचत्' अथवा 'उदचारयत्' ही होना चाहिए, अन्य कुछ नहीं, अर्थान्तरों की कल्पना करना व्यर्थ है, और संगति-पूर्ण भी नहीं कही जा सकती। अब हमारे सामने दो ही स्थितियां हैं — 'मन्त्र' पद के साथ 'कृ' धातु का अथवा ज्ञानार्थक धातु के अतिरिक्त अन्य किसी भी धातु का प्रयोग केवल उच्चारण की प्रधानता को प्रकट करने के लिए; और 'दृश्' धातु का प्रयोग, अर्थ की प्रधानता को प्रकट करने के लिए होता है। यही एक ऐसा निर्णीत मार्ग हो सकता है, जिसमें न किसी धातु के अर्थान्तर की कल्पना करनी पड़ती है, और न किसी तरह का कहीं असांगत्य होता है।

अब हम विद्वज्जनों के विचार करने में सुविधा के लिए, वैदिक साहित्य से कुछ ऐसे उद्धरण उपस्थित करते हैं, जिनमें 'मन्त्रकृत्' अथवा 'मन्त्रकार' पदों का प्रयोग किया गया है, और जिनके आधार पर, आधुनिक अनक विद्वान् यह सिद्ध करने का यत्न करते हैं, कि ऋषि-जन मन्त्रों के रचयिता ही हैं। उनमें से कुछ उद्धरण इस प्रकार हैं—

(१) "ऋषे मन्त्रकृतां स्तोमैः कश्यपोद्वर्धयन् गिरः" (ऋ० ९।११४।२)

(२) "शिशुर्वा आंगिरसो मन्त्रकृतां मन्त्रकृदासीत्। स पितॄन् पुत्रका इत्यामन्त्रयत।" (तां० ब्रा० १३।३।२४)

(३) "देवा ह वै सर्वचरौ सत्रं निषेदुः। ते ह पाप्मानं नापजघ्निरे। तान् होवाचार्बुदः काद्रवेयः सर्प ऋषिर्मन्त्रकृत्।" (ऐ० ब्रा० ६।१)

(४) "नम ऋषिभ्यो मन्त्रकृद्भ्यो मन्त्रपतिभ्यः। मा मामृषयो मन्त्रकृतो मन्त्रपतयः परादुः। माहमृषीन् मन्त्रकृतो मन्त्रपतीन् परादाम्"। (तै० आ० ४।१।१)

(५) "मन्त्रकृतो वृणीते 'यर्थाषि मन्त्रकृतो वृणीत' इति विज्ञायते।" (आप० श्रौ० २४।५।६)

(६) "अथ येषाम् ह मन्त्रकृतो न स्युः सपुरोहितप्रवरास्ते प्रवृणीरन्।" (आप० श्रौ० २४।१०।१३)

(७) "इत ऊर्ध्वान् मन्त्रकृतोऽध्वर्यु वृणीते। 'यर्थाषि मन्त्रकृतो वृणीत' इति विज्ञायते।" (सत्या० श्रौ० २।१।३)

(८) "नम ऋषिभ्यो मन्त्रकृद्भ्यो मन्त्रपतिभ्यः" (आ० श्रौ० ८।१४)

(९) "दक्षिणत उदङ्मुखो मन्त्रकारः" (मा० गृ० १।८।२)

(१०) "दक्षिणतस्तिष्ठन् मन्त्रवान् ब्राह्मण आचार्यायोदकाञ्जलिं पूरयेत्।" (खा० गृ० २।४।१०)

इन सब ही उद्धरणों में आए हुए 'मन्त्रकृत्' अथवा 'मन्त्रकार' पद का अर्थ आधुनिक विद्वान्, विशेषकर पाश्चात्य विद्वान्, 'मन्त्रों के रचयिता' ही करते हैं। परन्तु इन सब ही ब्राह्मण तथा श्रौत वा गृह्यसूत्रों के वाक्यों में यह उपर्युक्त अर्थ सर्वथा असंगत है। क्योंकि ये सब ही वाक्य, विशेष यज्ञों के प्रसंग

में ही उन उन स्थलों में आए हैं और वहां प्रायः सब ही वाक्यों में 'मंत्रकृत्' पद का प्रयोग ऋत्विजों के लिए हुआ है। जिस तरह ये वाक्य ब्राह्मण या सूत्रकाल में लिखे गए थे, ठीक उसी तरह आज भी उन उन यज्ञ-विशेषों में ऋत्विजों का वरण और उपस्थान करने के लिए प्रयुक्त किए जा सकते हैं। ऐसी स्थिति में यह कैसे माना जा सकता है, कि यहां पर 'मंत्रकृत्' आदि पदों से उन ऋषियों का ग्रहण है, जिन्होंने मंत्रों की रचना की थी। इसलिए यहां पर 'मंत्रकृत्' आदि पदों का 'मंत्र प्रयोक्ता' अर्थ करना ही उचित होगा। क्योंकि यज्ञों में ऋत्विजों का मन्त्रों के प्रयोग से ही विशेष सम्बन्ध होता है, अर्थदर्शन से नहीं।

इस प्रकार इन उद्धरणों का गम्भीरता पूर्वक विचार करने पर इसी परिणाम तक पहुँचा जा सकता है, कि ऋषित्व की कसौटी मंत्रों का वक्ता होना और मंत्रार्थ का साक्षात्कार करना है। इनमें ऋषि के मंत्र-प्रयोग रूप अर्थ को प्रकट करने के लिए प्राचीन वैदिक साहित्य में 'मन्त्रकृत्' पद का प्रयोग होता रहा है और ऋषि के द्वारा वह मंत्रप्रयोग कवि-निबद्ध ही है। इसी प्रकार अर्थ-साक्षात्कार के लिए 'मंत्र-द्रष्टा' पद का प्रयोग होता रहा है, जैसा कि हम इस लेख में प्रथम ही निर्देश कर चुके हैं।

इस विचार का मूल ऋग्वेद का वह मन्त्र है, जिसको पूर्वोक्त उद्धरणों में सबसे प्रथम निर्दिष्ट किया गया है। इस मंत्र का अर्थ, वेदभाष्यकार वेंकट माधव ने (जो सायण से लगभग चार सौ वर्ष पुराना है) इस प्रकार किया है—

'ऋषे। कश्यप। मंत्रकृतामृषीणाम्। स्तोमैः। उपर्युपरि वर्धयन्। वाचः स्तुतिरूपाः। सोमम्। पूजय। राजानम्। यः। जातः। पतिः। वीरुधाम्।'

इस सूक्त का कवि-निबद्ध वक्ता-प्रयोक्ता ऋषि, कश्यप है, और अर्थद्रष्टा ऋषि का नाम भी कश्यप हो गया है। इस मंत्र में कश्यप ऋषि अपने भिन्न 'मंत्रकृत्' (ऋषियों) का निर्देश करता है, कश्यप ऋषि अपने आप को ही सम्बोधन करके कहता है—हे ऋषे कश्यप ! मन्त्रकृत् (ऋषियों) के स्तोमों से, (स्तुति रूप) वाणियों को, बहुत बहुत बढ़ाता हुआ, सोम राजा की पूजा कर, जो सब वीरुधों का पति है। इस मन्त्रार्थ को स्पष्ट करने में जो पद व्याख्याकार ने अपनी ओर से जोड़े हैं, उनको हमने कोष्ठ में रख दिया है। शेष सब, मंत्र पदों के सीधे व्याख्यान हैं।

यहां पर अब विचारणीय यह है, कि यदि सूक्तों पर लगे हुए ऋषि, सूक्त या मंत्रों के रचयिता ही माने जाएँ, तो इस सूक्त की अर्थ-संगति नहीं हो सकती, क्योंकि यहां कश्यप ऋषि, अपने से भिन्न 'मन्त्रकृत्' ऋषियों के स्तोमों से सोम की पूजा करने को कह रहा है। ऋषि द्वारा मन्त्ररचनापक्ष में, ऋषि को अपने ही रचित स्तोमों से देवता की पूजा करनी चाहिए। क्योंकि यदि वह अन्य रचित स्तोमों से देवता भी पूजा करेगा, तो वह ऋषि नहीं हो सकता। ऋषि तो वही है, जिसने मंत्र की रचना की है और यहां कश्यप ऋषि जोकि स्वयं वेद-निर्दिष्ट ऋषि है अपने से भिन्न 'मन्त्रकृत्' ऋषियों के स्तोमों से अपने आप को सोम की पूजा करने को कह रहा है। इसलिए ऋषियों के द्वारा मन्त्र-रचना पक्ष में इस अर्थ की संगति नहीं हो सकती। परन्तु जब हम ऋषियों को कवि-निबद्ध वक्ता मानते हैं, तब इसकी संगति अत्यन्त स्पष्ट है। क्योंकि प्रस्तुत सूक्त का कवि-निबद्ध वक्ता ऋषि कश्यप, ऐसे प्रत्येक व्यक्ति का प्रतीक है, जो किन्हीं भी ऋषियों (कवि-निबद्ध वक्ताओं) के द्वारा उच्चरित वाणियों से सोम की पूजा करना चाहता है।

उक्त मन्त्र के आधार पर निम्न लिखित परिणाम निकलते हैं—

१. 'मंत्र' पद के साथ 'कृ' धातु का प्रयोग, मन्त्र के वक्ता अथवा प्रयोक्ता ऋषियों का निर्देश करता है। साथ के 'स्तोम' शब्द से जिसका सर्वथा स्पष्टीकरण हो जाता है। स्तोम, स्तुतिसमूह को कहते हैं, जो शब्दरूप हो सकता है। इससे शब्दरूप मन्त्र के वक्ता या प्रयोक्ता अर्थ को 'मंत्रकृत' पद कहता है।

२. 'कश्यप' पद के साथ मन्त्र में ही 'ऋषि' पद का निर्देश किया गया है, जो साक्षात्करण अथवा अर्थ दर्शन रूप भावों को स्पष्ट करता है।

३. व्याख्याकार ने व्याख्या करते हुए 'मंत्रकृत्' के साथ भी 'ऋषि' पद को जोड़ा है।

४. 'उद्वर्धयन्' मूल पद की 'उपर्युपरि वर्धयन्' यह व्याख्या, ऋषि के मंत्रार्थ-द्रष्टृत्व अथवा अर्थ विस्तार के भाव को स्पष्ट करती है।

इस मन्त्र में 'मन्त्रकृत्' पद के साथ 'स्तोम' शब्द का और 'कश्यप' के साथ 'ऋषि' तथा 'उद्वर्धयन्' पदों का सम्बन्ध विशेष ध्यान देने योग्य है। अन्य वैदिक साहित्य में भी इस प्रकार 'मन्त्रकृत्' पद के प्रयोग का यही मूल है। कालान्तर में 'मन्त्रकृत्' और 'मन्त्रद्रष्टा' पदों का प्रयोग पारस्परिक अर्थों को प्रकट करने के लिए, घुल मिलकर इस तरह होने लगा, कि दोनों पदों के विशेष अर्थों का कुछ महत्व ही नहीं रह गया। परन्तु फिर भी वैदिक परस्परा में इन विशेष अर्थों के संस्कार कुछ न कुछ चलते ही आए। यहां तक कि ऋत्विजों के लिये भी, इस अर्थ की विशेषता के कारण ही 'मन्त्रकृत्' पद का प्रयोग होने लगा और इसमें सूत्र ग्रन्थों के वे वाक्य प्रमाण हैं, जो ऊपर उद्धृत किए गए हैं।

इन उद्धृत वाक्यों में चौथा और आठवां सन्दर्भ विशेष ध्यान देने योग्य हैं। इनमें 'मन्त्रकृत्' पद के साथ 'मन्त्रपति' पद का क्या आशय हो सकता है? हम देखते हैं, कि 'पति' शब्द जिस धातु से बनता है, उसका अर्थ 'पालन' या 'रक्षा' करना है। ऋषियों ने किस तरह मन्त्र का पालन या रक्षण किया? इस आशंका का स्पष्ट समाधान साथ में पठित 'मन्त्रकृत्' पद ही कर देता है। अर्थात् मन्त्रों का निरन्तर अभ्यास और उनका प्रयोग ही मन्त्रों के पालन और रक्षण का उपाय है। जो ऋषि मन्त्रों के प्रयोक्ता हैं, वे ही मन्त्रों के पालन करने वाले हैं, दूसरे शब्दों में जो ऋषि 'मन्त्रकृत्' हैं वे ही 'मन्त्रपति' हैं। इससे यह स्पष्ट परिणाम निकल आता है, कि ऋषियों का मन्त्रों अथवा वेदों के साथ क्या सम्बन्ध है? अर्थात् ऋषि, मन्त्रों के प्रयोक्ता अथवा उच्चारयिता और मन्त्रार्थ के द्रष्टा हैं, मन्त्रों के रचयिता नहीं।

वैदिक साहित्य में 'कृ' धातु का प्रयोग 'प्रयुज्' के अर्थ में होता रहा है, इसका एक प्रमाण और उपस्थित करते हैं। यास्कीय निरुक्त के एक व्याख्याकार स्कन्द महेश्वर ने 'तासां परोक्षकृताः सर्वाभिर्नाविभक्तिम भियुज्यन्ते' (निरुक्त ७।१) इस वाक्य की व्याख्या करते हुए लिखा है—

"करोतिः क्रियासामान्यवचनत्वाद् विशेषं लक्षयन् प्रयुञ्जेरर्थे द्रष्टव्यः, कृताः प्रयुक्ताः।"

इससे स्पष्ट है कि 'कृ' धातु का 'प्रयुज्' के अर्थ में प्रयोग होता रहा है। इसलिए 'मन्त्रकृत्' पद का अर्थ 'मन्त्रप्रयोग' अथवा 'मन्त्रोच्चारण' करना वैदिक विद्वानों के विचारानुकूल ही है, इससे यह स्पष्ट

परिणाम निकल आता है, कि ऋषियों के लिए 'मन्त्रकृत्' पद का प्रयोग, इस बात को सिद्ध नहीं कर सकता, कि ऋषि मन्त्रों के रचयिता हैं।

इस विचार की पुष्टि में हम और एक युक्ति उपस्थित करते हैं। अनेक मन्त्रों के ऋषि जड़ पदार्थ अथवा तिर्यक् प्राणी भी हैं। इसके लिए हम कुछ मन्त्रों का निर्देश यहां करते हैं—

३. मण्डल के ३३ सूक्त की ४, ६, ८, १० ऋचाओं का ऋषि, नदी हैं।

८ मण्डल ६७ सूक्त के ऋषि 'जालनद्धा मत्स्याः' जाल में फंसी मछलियां हैं।

१० मण्डल १०८ सूक्त की अनेक ऋचाओं की ऋषि 'देवशुनी सरमा' है।

अब यदि ऋषियों को मन्त्रों का रचयिता माना जाए, तो यह कैसे सभव हो सकता है ? नदी, मत्स्या, या शुनी के द्वारा मन्त्र रचना असंभव है। यदि हम इन्हें केवल कवि-निबद्ध वक्ता मानते हैं, तो कोई आपत्ति नहीं। कवि ने उन उन स्थलों में उनको वक्ता रूप में निर्दिष्ट कर दिया है।

यह बात उस समय हमारे सम्मुख और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है, जब हम ऋग्वेद के संवादसूक्तों को गंभीरता पूर्वक देखते हैं। ऐसे कुछ सूक्तों का यहां निर्देश कर देना उपयुक्त होगा।

३ मण्डल ३३ सूक्त, विश्वामित्र-नदीसंवाद।

१० मण्डल ५१–६३ सूक्त, देवों और सौचीक अग्नि का संवाद।

१० मण्डल १० सूक्त, यम यमी संवाद।

१० मण्डल ९५ सूक्त, पुरूरवा-उर्वशी संवाद।

१० मण्डल १०८ सूक्त, सरमा, देवशुनी और असुर पणियों का संवाद।

इन संवाद सूक्तों में यही बात विशेष ध्यान देने की है, कि जो वक्ता है, वह ऋषि ; और जिसको कहा जा रहा है, वह देवता है। उदाहरण के लिये प्रथम स्थल में जो मन्त्र विश्वामित्र की ओर से नदियों को कहे गये, उनका ऋषि विश्वामित्र है, और देवता नदियां हैं। इसी प्रकार जो मन्त्र नदियों की ओर से कहे गए, उनके ऋषि नदी है और देवता विश्वामित्र ; अथवा जिसके सम्बन्ध में वे कहे गए। इसी तरह अन्य सब संवादों में भी है। हम यह स्पष्ट ही समझ सकते हैं, कि इस तरह का साक्षात् संवाद असंभव है, इसलिये इससे यह निर्धारित हो जाता है, कि मन्त्रों के ये ऋषि, मूल रूप में कवि-निबद्ध वक्ता ही हैं।

इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में ऐसे भी बहुत सूक्त हैं, जिनका वही ऋषि और वही देवता है। इसके लिए देखिए—१० मण्डल, ४८–५०, ८१–८४, १२३, १५९ आदि सूक्त। और उनमें अनेक ऐसे सूक्त हैं जिनके ऋषि केवल भावना पर अवलम्बित हैं। देखिये—मण्डल १०, सूक्त १२५, १५१ आदि। यह बात भी ऋषियों को मन्त्रों का रचयिता मानने के पक्ष में अनुकूल नहीं होती। परन्तु इनको कवि-निबद्ध वक्ता मानने पर यह एक ऐसा ही वर्णन होगा, जैसे आज कोई रचना-कार, कागज का वर्णन कागज के द्वारा ही कहलवा दे। अथवा किसी भी वस्तु के स्वरूप को उसी के अपने मुख से प्रस्तुत कर दे।

हमने इस लघुकाय लेख में केवल ऋग्वेद के ऋषियों को ध्यान में रख अति संक्षेप में अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। इस विषय पर विस्तारपूर्वक एक अनुसन्धान पूर्ण ग्रन्थ लिखने का हमारा विचार है, हम आशा करते हैं, मनन. शील आर्य विद्वान् इस सम्बन्ध में और अधिक प्रकाश डालने का यत्न करेंगे।

उदयवीर शास्त्री
विद्याभास्कर, वेद-वेदान्तरत्न

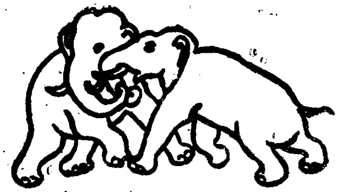

वेद में विद्याएं

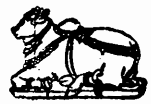

महर्षि कणाद ने समस्त संसार के पदार्थों के—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, एवं समवाय नामक छः वर्ग बनाकर उनके तत्वज्ञान से मोक्ष का होना बताया है। वह तत्वज्ञान एक विशेष प्रकार के धर्म से उत्पन्न होता है, और वह धर्म वेद में कथित है जैसा कि कणाद जी कहते हैं —

"तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्" (वै. द. १।१।३)

धर्म्म का कथन करने से आम्नाय-वेद की प्रमाणता है। तनिक गंभीरता से विचारिए तो कणाद जी का अभिप्राय ऐसा प्रतीत होता है कि वे वेद में सब प्रकार की विद्याओं की सत्ता स्वीकार करते हैं। अन्यथा वे ऐसा सूत्र न बनाते। भारत-इतिहास के मध्यकाल से पण्डित समाज ने वेदों से यह आसन छीन लिया। वेद को वे केवल कर्मकाण्ड की ही पुस्तक मानने और मनवाने लगे। उनके इस असार विचार का प्रसार तथा प्रचार आज भी विद्यमान हैं।

किन्तु किसी भाष्य-टीकादि का आश्रय न लेकर यदि वेद का स्वाध्याय किया जाए तो वेद का स्वरूप कुछ और प्रतीत होता है। प्रसंग से इतना कहने में कोई क्षति नहीं कि वेद कर्मकाण्ड की पुस्तक नहीं है।

क्योंकि कर्म काण्डका क्रमपूर्ण वर्णन वहां नहीं है। जिन मन्त्रों या मन्त्रसमुदायों, सूक्तों, अध्यायों, दशतियों तथा वर्गों में किसी कर्म (दर्श, पौर्णमास, आदि) विशेष का विधान बताया जाता है उनमें भी क्रमपूर्वक प्रतिपादन का न होना कर्मकाण्डाग्रहियों को स्वीकार है।

प्रत्येक यज्ञ के आरंभ में दीक्षा ली जाती है, शतथप ब्राह्मण का आरंभ इन शब्दों से होता है :

व्रतमुपैष्यन्-----व्रतमुपैति--'अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्' इति

अर्थात् दीक्षा लेने वाला यजमान 'अग्ने व्रतपते--(य० १।५) मन्त्र का पाठ करता है। दीक्षा के बिना यज्ञ का आरंभ हो नहीं सकता। किन्तु इस सर्वप्रथम आवश्यक कर्माङ्ग को सर्वप्रथम स्थान नहीं मिला। इससे पूर्व चार मन्त्रों (याज्ञिकों के कथनानुसार कण्डिकाओं) में हिन्दी अन्य कर्माङ्गों का निरूपण वा विधान है। अतः यह सुतरा सिद्ध है कि कर्मकाण्ड का क्रमबद्ध वर्णन न होने से वेद कर्म काण्ड की पुस्तक नहीं हो सकते, कणाद जी के अतिरिक्त 'यन्त्रसर्वस्व' के निर्माता महर्षि भारद्वाज अपने ग्रन्थ का मूल वेद को बतलाते हैं। चरक, सुश्रुत आदि ग्रन्थ भी अपना मूल वेद को ही मानते हैं। गौतम जैसे उग्र तार्किक, कणाद से बाल को खाल उतारने वाले, कपिल-से प्रकृति को नग्न कर देने वाले, पतञ्जलि से मन की गहराई पर जाकर उसके व्यापार विस्तार का सार निकाल संहार का भी उपाय बतलाने वाले जैमिनि---से कर्म का मर्म बतलाने वाले एवं न्याय नियमों, तथा वाक्यार्थ विधियों के विश्लेषक और शरीर और ब्रह्माण्ड में हो रही क्रियाओं एवं प्रतिक्रियाओं का विश्लेषण कर जगत् के निमित्त एवं उपादान कारणों का यथार्थ स्वरूप बतलाने वाले व्यास जैसे मुनि सभी वेद को प्रमाण एवं अपने अपने प्रतिपाद्य सिद्धान्त का प्राण एवं अधिष्ठान मानते हैं। मनु तो वेद को अपना सर्वस्व मानते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि वेद अनेक विद्याओं का मूल है। इस युग में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सबसे पहले असन्दिग्धतः एवं स्पष्ट शब्दों में वेद को सर्वज्ञा निधान उद्घोषित किया। यथा—

१. "वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है।" ।(आर्यसमाज का तीसरा नियम)

स्वयं वेद में वेदों को 'यस्मिन् वेदा निहिताः विश्वरूपाः' (अथर्व० ४।३।५।६) (सब का निरूपण करने वाले वेद जिसमें निहित हैं) कहा है। किन्तु यह आत्मश्लाघा भी समझी जा सकती है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपनी जगत्प्रसिद्ध पुस्तक (जिसे मैक्समूलर ने आश्चर्य जनक पुस्तक माना है) में वेदों में विमानादि अनेक विद्याओं का वर्णन किया है। यह सभी जानते है कि विमान के दर्शन योरुपीय प्रथम महायुद्ध में हुए थे और ऋषि का शरीरान्त उससे लगभग ३१ वर्ष पूर्व हो चुका था। अतः उनका यह वर्णन पश्चिमी विज्ञान को देखकर किया गया नहीं कहा जा सकता। हम पाठकों से अनुरोध करेंगे कि वे ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका के उन स्थलों को पढ़े। वहां उन्हें कई ऐसे तत्त्व भी मिलेंगे जो क्रान्तिकारिणी पाश्चात्य पदार्थविद्या के वश में अभी तक नहीं आए। यथा ऐसा यान–गाड़ी बनाना जो आकाश, जल तथा स्थल में समानरूप से चल सके। अभी तक ऐसे यान का निर्माण नहीं हो पाया है। इसी प्रकार वायुयान–विमान के संबंध में एक बात लिखी है जो अभी तक वैज्ञानिक शिल्पियों से सिद्ध नहीं हो सकी। वेद में ऐसे विमान के निर्माण का विधान है जो एक दिन रात में सारी पृथिवी की परिक्रमा तीन

बार करे। अर्थात् केवल आठ घंटे में समूची सजला मही के चारों ओर घम जाए। इस प्रकार अन्य अनेक तत्व हैं जिन्हें पश्चिमी पदार्थविद्या अभी तक प्राप्त नहीं कर सकी है। अस्तु।

हम आप के सामने थोड़े से ऐसे मन्त्र प्रस्तुत करते हैं जिनमें किसी न किसी विद्या या शिल्प का स्पष्ट विधान है।

१. टूटी टांग के बदले लोहे की टांग बनाना—

"चरित्रं हि वेरिवाच्छेदि पर्णमात्रा खेलस्य परितक्म्यायाम्।
सद्यो जंघामायसीं विश्पलायै धने हिते सर्त्तवे प्रत्यधत्तम्॥" (ऋ० १।११६।१५)

युद्ध में अथवा किसी अत्यन्त पीडादायक रोग में पक्षी के पंख की भांति खिलाडी का चरित्र–चलन का साधन टूट जाता है। तत्काल प्रजापालन के, चलने फिरने के लिए लोहे की टांग उसके बदले लगा देते हैं।

'आयसीं जंघां सर्त्तवे प्रत्यधत्तम्' पद ध्यान देने योग्य हैं।

२. अंतरिक्ष में धातु के बने यानों का चलाना—

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने आज से लगभग ७१ वर्ष पूर्व जब लोहे आदि धातुओं से वायुयान निर्माण कर वायु या अन्तरिक्ष में चलाने की बात कही तब कई विज्ञान विशारदों ने उनका उपहास उड़ाया था। आज वे उपहास उड़ाने वाले स्वयं उपहासास्पद बन रहे हैं। वेद में अन्तरिक्ष में ऐसे यानों के चलने का स्पष्ट वर्णन है। देखिए—

"यास्ते पूषन्नावो अन्तः समुद्रे हिरण्ययीरन्तरिक्षे चरन्ति।
ताभिर्यासि दूत्यां सूर्यस्य कामेन कृतश्रव इच्छमानः॥" (ऋ० ६।५८।३)

हे पूषन्! जो तेरी लोहादि की बनी नौकाएं समुद्र के भीतर अर्थात् समुद्र तल के नीचे और अन्तरिक्ष में चलती हैं, मानों तू उनके द्वारा इच्छापूर्वक अर्जित यश को चाहता हुआ सूर्य के दूतत्व को प्राप्त कर रहा है।

इस मन्त्र में 'नावः' का विशेषण 'हिरण्ययी'–हिरण्य का विकार, वा हिरण्य से बनी हुई, विचार एवं ध्यान देने योग्य है। हिरण्य का अर्थ जहां सुवर्ण है, वहां वेद में लोहे और धातु मात्र के लिए भी प्रयुक्त होता है। इस मन्त्र में नौकाओं के विचरने के लिए 'अन्तरिक्षे' पद के साथ केवल 'समुद्रे' न रख कर 'अन्तः समुद्रे' रखना विशेष अर्थ की सूचना दे रहा है। 'अन्तःसमुद्रे' का अर्थ केवल 'समुद्र में' नहीं है; इस अर्थ को तो केवल 'समुद्रे' कह सकता है। इसके साथ 'अन्तः' पद लगाने से 'समुद्र के भीतर' अर्थ बनता है।[1] अर्थात् इस मन्त्र में वायुयानोंविमानों के साथ पनडुब्बियां (Submarines) का भी वर्णन है।

३. बादलों से बिजली लेना—

"इन्द्रसोमा वर्तयतं दिवो वधं सं पृथिव्या अघशंसाय तर्हणम्।
उत्तक्षतं स्वर्यं पर्वतेभ्यो येन रक्षो वावृधानं निजूर्वथः॥" ऋ० ७।१०४।४

इन्द्र और सोम आकाश से वध (रोगक्रमिनाशक साधन) का व्यवहार करते हैं जो पृथिवी पर कष्ट प्रसारक के लिए मारक है। वे दोनों पर्वतों—बादलों से स्वयं—विद्युत् का निर्माण करते हैं जिससे बढ़ते हुए राक्षस (महामारी आदि) का नाश करते हैं।

निघण्टु में 'पर्वत' शब्द मेघनामों में पठित है। स्वयं का अर्थ बिजली सभी जानते-मानते हैं। विद्युत् और विशेष कर आकाशीय विद्युत् का प्रयोग निवारण के लिए विशेष महत्व रखता है।

४. रथ में वायु का जोड़ना—

"प्र वो वायं रथयुजं कृणुध्वम्" (५।४१।६)

वायु को तुम अपने रथ में जुड़ने वाला बनाओ। अर्थात् ऐसा प्रबन्ध करो कि जिससे वायु तुम्हारे रथ का संचालन करे।

जहां तक हमारा ज्ञान है, अभी तक ऐसा रथ नहीं बन पाया है।

५. त्रितला रथ (Three-storeyed)—

"तं त्रिपृष्ठे त्रिबन्धुरे रथे युञ्जन्ति यातवे। ऋषीणां सप्त धीतिभिः"॥ ऋ० ९।६२।१७

सात ऋषि अपनी बुद्धियों द्वारा उस (पवमान) को चलने-चलाने के लिए तीन बन्धुरों वाले एवं तीन पृष्ठों तलों वाले रथ में जोड़ते हैं।

दो तलों वाली बसें एवं नौकाएं हैं। तीन तलों वाली भी असम्भव नहीं है।

६. समुद्र की तरङ्गों पर कार (Car) का चलाना—

परि प्रासिष्यदत्कविः सिन्धोरुर्मावधि श्रितः। कारं बिभ्रत्पुरुस्पृहम्। ऋ० ९।१४।१

समुद्र की लहरों पर रहने वाले क्रान्तदर्शी ज्ञानी शिल्पी अत्यन्त स्पृहणीय कार को समुद्र की लहरों पर धारण करता हुआ सब ओर चलाता है।

अत्यन्त स्पष्ट शब्द है। आजकल का कार शब्द वैदिक है।

७. विद्युद्रथ (बिजली से चलने वाले रथ)

"स होता मन्द्रो विदथान्यस्थात्सत्यो यज्वा कवितमः सवेधाः।
विद्युद्रथः सहसस्पुत्रो अग्निः शोचिष्केशः पृथिव्यां पाजो अश्रेत्॥" ऋ० ३।१४।१

वह मस्त करने वाला होता सभी ज्ञानों का अधिष्ठान है वह सच्चा याज्ञिक है, वह सर्वाधिक क्रान्तदर्शी वेधा—शिल्पी है जो अतिशय बल सम्पन्न होकर, प्रकाशमय अग्नि की भांति, पालक बन कर विद्युद्रथवाला होकर पृथिवी में रहता है।

यहां विद्युद्रथ निर्माण करने की प्रशंसा की गई है। प्रतीत होता है कि इस प्रकार का शिल्प अतिशय चातुरी की अपेक्षा करता है।

८. अनश्व रथ (ऐसा रथ जिसमें घोडे आदि का उपयोग न होता हो)

अश्विनोरसनं रथमनश्वं वाजिनीवतोः। तेनाहं भरि चाकन॥ ऋ० १।१२०।१०

शक्तिशालियों को इधर-उधर ले जाने वाला रथ अनश्व (घोड़े आदि से रहित) है, उससे मैं बहुत चमकता हूँ।

९. त्रिचक्र रथ (Tricycle)

त्रिबन्धुरेण त्रिवृता रथेन त्रिचक्रेण सुवृता यातमर्वाक्।
पिन्वतं गा जिन्वतमर्वतो नो वर्धयतमश्वना वीरमस्मे॥ ऋ० १।११८।२

तीन बन्धुरों वाले, तीन घेरों वाले, उत्तम रचना वाले, तीन चक्रों वाले रथ से सीधे जाओ। गौओं को प्रसन्न करो, हम घोडों को हर्षित करो, हमारे वीरों को बढ़ाओ।

रथ के साथ 'त्रिचक्र' विशेषण स्पष्ट तीन चक्रों वाले ट्राइसिकल अथवा किसी अन्य अभी तक अनाविष्कृत यान का संकेत कर रहा है।

१०. सूर्य से दर्पण आदि पर किरणें लेकर आग जलाना—

अभूदु भा अंशवे हिरण्यं प्रति सूर्य्यः। व्यख्यज्जिह्वया सितः॥ ऋ० १।४६।१०

लोहे आदि के प्रति सूर्य्य किरण के लिए अग्नि हो जाता है और वह किरणरूपी जिव्हा से प्रकाश करता है।

लोहे आदि को खूब रगड कर, चमका कर उसको सूर्य्य के सामने करके, उसके पास उपले या काला कपड़ा रख देते हैं। सूर्य्य की किरणें उस दर्पण समान चमचमाते धातुखण्ड पर प्रतिफलित होकर पास रखे पदार्थ में आग लगा देती हैं। इस तत्व का वर्णन इस मन्त्र में कितनी स्पष्टता से किया है।

मुलतानी बोली में, जो समस्त भारतीय भाषाओं की अपेक्षा संस्कृत की निकटतम है, अभि अग्नि को भी कहते हैं। उसी आधार पर हमने 'भाः' का अर्थ आग किया है।

११. पृथिवी के गर्भ में अग्नि—

मातेव पुत्रं पृथिवी पुरीष्यमग्निं स्वे योनावभारुखा।
तां विश्वदेवऋतुभिः संविदानः प्रजापतिर्विश्वकर्मा विमुञ्चतु॥ म० १२।६१

उखा—गतिशील पृथिवी, जिस प्रकार मां पुत्र को अपनी कोख में रखती है, उसी प्रकार, पुरीष्य अग्नि को अपनी कोख में रखती है। उसे सब देवों और ऋतुओं से संगत करने वाला सर्वकार्यसाधक प्रजापति भगवान् ही मुक्त कर सकता है।

कितनी सुन्दर उपमा है। उखा का अर्थ हंडिया भी होता है। हंडिया अर्थ मान कर भी अर्थ में कोई दोष नहीं आता। अग्नि को सुरक्षित रखने के लिए आज भी उस उपाय का अवलम्बन किया जाता है।

१२. सूर्य पृथिवी की उत्पत्ति—

भूर्जज्ञे उत्तानपदो भुव आशा अजायन्त। ऋ० १०।७२।४.

उत्तानपत्—सूर्य्य से पृथिवी उत्पन्न हुई तथा पृथिवी से दिशाएं पैदा हुई।

पृथिवीस्थ ही सूर्य्य को देखकर दिशाओं का निर्णय और व्यवहार करते हैं, अतः पृथिवी से दिशाओं की उत्पत्ति कही गई है। सूर्य्य से पृथिवी की उत्पत्ति अत्यन्त स्पष्ट है।

विदुः पृथिव्या दिवो जनित्रं श्रृण्वन्त्यापो अधः क्षरन्तीः॥ (ऋ० ७।३४।२)।

पृथिवी की उत्पत्ति सूर्य से जानते हैं, नीचे गिरते हुए जल मानो सुनते हैं।

द्यौ का अर्थ सूर्य सभी को विदित है।

१३. जल सृष्टि का आरंभ—

यद् देवा अदः वलिले सुसंरब्धा अतिष्ठत।

अत्रा वो नृत्यतामिव तीव्रो रेणरपायत॥ (ऋ १०।७२।६)

देवी शक्तियां सृष्टि-र्माण में वेग से संलग्न होकर जल में प्रतिष्ठित रहीं। मानो इन नाचने वालों का तीव्र रेणु यहां रक्षित है।

अब तो सभी सृष्टि का आरंभ जल में मानने लगे हैं।

१४. चन्द्र के दिन (तिथियां) छोटे होते हैं—

अयं स यो दिवस्परि रघुयामा पवित्र आ।

सिन्धोरूर्मा व्यक्षरत्॥ (ऋ० ९।३६।४)

यह वह चन्द्र है जो छोटे दिनों वाला है और छोटे से सिन्धु—समुद्र की लहरों को गतिमान् करता है।

चन्द्रमा पृथिवी के चारों ओर लगभग २९॥ दिन में गति करता है। ज्योतिषी लोग चन्द्र को पृथिवी के चारों ओर की परिक्रमा के काल को तीस में विभक्त करते है। इस कारण २४ घंटे की अपेक्षा तिथि छोटी हो जाती है। इस बात को कहने के लिए मन्त्र में 'रघुयामा' पद आया है।

१५. पृथिवी के चारो ओर वायु—

अयं चिद्वातो रमत परिज्मन्॥ (ऋ० २।३।८२)

यह वायु भी (सूर्य के नियन्त्रण से) पृथिवी के सब ओर रमण करता है।

'परिज्मन्', पृथिवी के सब और शब्द विशेष ध्यान देने योग्य है।

इस प्रकार सहस्रों मन्त्र प्रस्तुत किए जा सकते हैं, जो अनेक विद्याओं का निर्देश है। विस्तारभय से यहां दिग्दर्शनमात्र, वह भी अपर्याप्त सा कराया है। इस आधार पर हम सर्वथा निर्भ्रान्त होकर कह

सकते हैं कि वेद में सब सत्य विद्याएँ हैं। स्वामी दयानन्द सरस्वती जी का यह कथन सर्वथा सप्रमाण एवं युक्तिसंगत है —

वेदेषु सर्वा विद्याः सन्त्याहोस्विन्नेति ?

अत्रोच्यते—सर्वाः सन्ति मूलोद्देशतः।। (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका ब्रह्मविद्याविषय)

यथा सूर्यः स्वप्रकाशकः सन् संसारस्थान् महतोऽल्पांश्च पर्वतादीन् त्रसरेण्वन्तान् पदार्थान् प्रकाशयति तथा वेदोपि स्वयं स्वप्रकाशः सन् सर्वा विद्याः प्रकाशयतीत्यवधेयम्।।

वेदों में सब विद्याएं हैं अथवा नहीं ? इसका उत्तर यह है कि सब विद्याएं हैं किन्तु मूल रूप से नाम निर्देशमात्र रूप से।

जैसे सूर्य स्वप्रकाश होता हुआ संसार के पर्वत से त्रसरेणु पर्यन्त छोटे बड़े सभी पदार्थों को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार वेद भी स्वयं स्वप्रकाश होता हुआ सब विद्याओं को प्रकाशित करता है, ऐसा समझना चाहिए।

स्वामी वेदानन्द तीर्थ
दिल्ली

वैदिक राष्ट्र-व्यवस्था

वेदों में राष्ट्र सम्बन्धी बहुत ऊँचे विचार मिलते हैं। राष्ट्र व्यवस्था का अभिप्राय है "राष्ट्र का निर्माण, उसका प्रबन्ध, तथा एक राष्ट्र का दूसरे राष्ट्र के साथ सम्बन्ध"। इन विषयों पर इस लेख में कुछ विचार दर्शाए जाएँगे।

राष्ट्र शब्द का अर्थ

राष्ट्र शब्द के अर्थ पर हम प्रथम विचार करते हैं। राष्ट्र शब्द के निर्माण पर ध्यान देने से ज्ञात होता है कि राष्ट्र शब्द दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। "राज्" और "त्र"। इस प्रकार ज्ञात होता है कि राष्ट्र वह देश और जा है जिसमें राजा त्राण करता है, रक्षा करता है। "राज्" अर्थात् राजा और "त्र" अर्थात् त्राण, रक्षा। राष्ट्र शब्द में राज् के ज् कोष् हो गया है। सी प्रकार एक शब्द है 'भ्राष्ट्र' भ्राष्ट्र का अर्थ होता है भट्टी। भ्राष्ट्र शब्द में भी "भ्राज्" या "भ्रास्ज्" धातु है और इसके अन्त में "त्र" लगा हुआ है। भ्राष्ट्र में भी भ्राज् या भ्रास्ज् के ज् का ष् हुआ है। भ्राज् का अर्थ है दीप्त होना और भ्रास्ज् का अर्थ है पाक करना, पकाना, दीप्ति या पकाने के काम की रक्षा (त्राण)

जिसमें होती है उस भट्टी को भ्राष्ट्र कहते हैं। इस प्रकार राष्ट्र शब्द के संगठन से प्रतीत होता है कि एक राजा जितने देश और जिस प्रजा पर शासन करता है, राज करता है उसे राष्ट्र कहते हैं।

राज चुनाव

वैदिक राष्ट्र व्यवस्था में वंश परम्परा से आने वाले राजाओं को कोई स्थान नहीं। वेदों में राजा के चुनाव पर विशेष बल दिया गया है। इस वैदिक सिद्धान्त को सभी वैदिक विद्वान् मानते हैं। कोई भी ऐसा विद्वान् नहीं जो यह मानता हो कि वेदों में राजा को वंश परम्परा से प्राप्त हुआ माना गया है। न केवल ऐसे ही मन्त्र मिलते हैं जिनमें कि राजा के चुनाव का वर्णन है, बल्कि ऐसे भी मन्त्र विद्यमान हैं, जिनमें कि राजा को पदच्युत कर सकने का भय भी प्रदर्शन किया गया है। जिस व्यवस्था में राजा चुना जाए और पृथक् भी किया जा सके ऐसी व्यवस्था को डेमोक्रेसी कहते हैं, या प्रजा-द्वारा शासन की प्रणाली कहते हैं। इस सम्बन्ध में हम कतिपय प्रमाण यहां उद्धृत करते हैं। अथर्ववेद ३।४।२ में लिखा है कि—

"त्वं विशो वृणतां राज्याय"

अर्थात् प्रजाएँ तुझे चुनें राज्य करने के लिए। इसी प्रकार अथर्व वेद ४।८।४ में लिखा है कि—

"विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु"

अर्थात् तुझे सभी प्रजाएँ चाहें। "तुझे सभी प्रजाएँ चाहें"—इस वर्णन से यह भी प्रतीत होता है कि वेदों में राजा के चुनाव में सम्मति देने का अधिकार प्रजा के प्रत्येक व्यक्ति को है, चाहे वह स्त्री हो चाहे पुरुष, चहे धनी हो चाहे निर्धन, चाहे सम्पत्तिशाली हो, चाहे सम्पत्तियों से हीन, चाहे भूमिपति हो, चाहे किसान-मजदूर, सभी को चुनाव में सम्मति देने का अधिकार है। अथर्व वेद ६।८७।१ में यह भी कहा है कि—

"मा त्वद्राष्ट्रमधिभ्रशत्"

अर्थात् हे राजन्! तुझसे राष्ट्र का अधिकार छीनना न पड़े। यह भय प्रदर्शन है कि यदि तू प्रजा की इच्छा के विरुद्ध राज्य शासन करेगा तो प्रजा तुझे से शासन का अधिकार वापिस भी ले सकती है। अथर्व वेद में लिखा है कि:—

'स विशोऽनुव्यचलत्। तं सभा च समितिश्च सेना च रा चानुव्यचलन्" (१५।९।१।२)

अर्थात् राजा जब प्रजाओं की सम्मति के अनुसार चलता है तभी सभा, समिति, सेना और सुरा अर्थात् राष्ट्रकोष उस राजा के पीछे पीछे चलते हैं। सभा और समिति का क्या अभिप्राय है,—यह आगे स्पष्ट हो जायगा। अथर्व वेद १९।३७।३ में राजा को राष्ट्र का भृत्य अर्थात् नौकर कहा गया है। इसके लिए अथर्ववेद का 'राष्ट्र भृत्य' शब्द विशेष महत्व रखता है। राजा को राष्ट्र का भृत्य कहने से यह भी भाव सुतरां स्पष्ट है कि वैदिक राष्ट्र-व्यवस्था में प्रजा के हाथ में ही शासन सूत्र दिया गया है। अर्थात् वैदिक राष्ट्र व्यवस्था में राजा भृत्य है और प्रजा स्वामिनी है। डेमोक्रेसी का यह कितना ऊँचा भाव है। इस डेमोक्रेसी को वेदों में "स्वराज्य" कहा गया है। स्वराज्य का अर्थ है "अपना राज्य" अर्थात् प्रजा का अपना राज्य।

किस जाति का व्यक्ति राजा चुना जाए ?

वैदिक राष्ट्र व्यवस्था में यह आवश्यक है कि राष्ट्र अपनी जाति के व्यक्ति को ही राजा चुने जैसे कि भारतवासियों को भारतवासी व्यक्ति ही राजा चुनना चाहिए इंग्लैण्ड वासियों को अंग्रेज जाति का ही व्यक्ति राजा चुनना चाहिए, इत्यादि अपनी जाति का राजा और अपनी जाति शासक अपनी प्रजा की भावनाओं, कामनाओं, आवश्यकताओं, प्रथाओं, आदतों आदि को ठीक रीति से समझ सकते हैं और उनके साथ सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार कर सकते हैं। यह गुण विदेशीय राजा में होना मुश्किल है। इसीलिए अथर्व वेद ३।५।२ में चुना गया राजा कहता है कि :—

"अहं राष्ट्रस्यभीवर्गे तिजो भूयासमुत्तमः"

अर्थात् मैं जो कि राजा चुना गया हूँ वह तुम्हारे राष्ट्रवर्ग का निज व्यक्ति हूँ, वह मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं अपने आपको उत्तम बनाऊँगा। इस मन्त्र में "निज" शब्द इस भाव को प्रकट कर रहा है कि राजा वही व्यक्ति चुना जाना चाहिए जो कि उसी जाति का व्यक्ति हो। "निज" शब्द में "नि" और "ज" ये दो विभाग हैं जिसने निश्चित रूप से अपनी जाति में जन्म पाया हो उसे "निज" कहते हैं। वेदों में विषम परिस्थितियों में इसका अपवाद भी पाया जाता है। परन्तु सामान्य गियम यही है कि राजा उसी प्रजाजन में से एक व्यक्ति हो जिस प्रजाजन पर कि उस राजा को राज्य करना है। अथर्व वेद ६।२७।१ में इसी भाव को "अन्तरभू" शब्दों द्वारा भी प्रकट किया गया है। "अन्तर अभू :" का अर्थ है कि "तू अन्दर का है, हमारी जाति के अन्दर का है"।

राजा का राज्य काल

वैदिक राष्ट्र व्यवस्था में जब राजा चुन लिया जाता है तब उसके ऊपर शासन काल का कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया जाता। वर्ष-वर्ष के बाद, या पांच-पांच वर्षों के बाद, या किसी भी निश्चित वर्ष संख्या के बाद राजा का चुनाव अवश्य कर देना चाहिए,—यह सिद्धान्त वेदों को अभीष्ट नहीं। वेदों की दृष्टि में ऐसे व्यक्ति को ही राजा चुनना चाहिए जो कि प्रजाजनों में से सर्वोत्कृष्ट हो। ऐसे व्यक्ति को जब राजा चुन लिया और वह यदि राज्य शासन उत्तम रीति से करता है और प्रजा को सुखी तथा सम्पन्न बनाता है तब उसके पुनः चुनाव की कोई आवश्यकता नहीं। वह राजा तब हट सकता है या तो उसकी मृत्यु हो जाए, या रोगी आदि रहने के कारण स्वयं त्याग पत्र दे दे, और या वह निकम्मा समझ कर प्रजाजनों द्वारा पृथक् कर दिया जाए। अथर्व वेद ३।४।७ में लिखा है कि :—

"दशमीभुग्रः सुमता वशेह"

अर्थात् हे राजन्, तू सुप्रसन्न रह कर इस राजगद्दी पर या इस राष्ट्र में दसवीं अवस्था तक भी राज्य करता रह। ९० वर्षों से ऊपर की अवस्था को "दशमी" अवस्था कहते हैं। मनुस्मृति में लिखा है कि :—

"शूद्रस्तु दशमीं गतः"

अर्थात् जब शूद्र अपनी दसवीं अवस्था तक पहुँच जाए तब वह भी सत्कार और अभिवादन के योग्य हो जाता है। इस प्रकार चुना हुआ राजा यदि प्रजा का सदा भला करता है तो वह जब तक जीवित रहे तब तक राज्य कर सकता है, ऐसी वैदिक भावना है। यह भावना सर्वोत्तम तथा सर्वोत्कृष्ट भावना है।

राजा के सहायक

राजा राज्य का शासन करता है। परन्तु राजा को राज्यशासन सम्बन्धी नियमों के बताने तथा राज्य की सम्यक् व्यवस्था कायम रखने के लिए सभा और समिति के निर्देशों के अनुसार चलना होता है। वेदों में इस सभा और समिति का वर्णन कई स्थानों पर आया है। कई यूरोप के विद्वानों ने लिखा है कि जूआ-घर को सभा कहते हैं, और युद्ध को समिति। यह बात बिल्कुल ग़लत है। सूत्रकारों के समय सभा का अर्थ जूआ-घर भी था—इसमें विवाद नहीं। इसी प्रकार वैदिक काल के बाद समिति का अर्थ युद्ध भी हो गया—इसमें भी विवाद नहीं। परन्तु यह निश्चित है कि संहिता भाग में सभा का मुख्य अर्थ "शासक सभा" है, और समिति का मुख्य अर्थ "शासक सभा" से भी ऊँची सभा है। एक राष्ट्र में राजा की सहायक सभा को तो वेदों में "सभा" कहा है और इसके मेम्बरों को सभ्य तथा सभासद् कहा है। परन्तु समिति-संगठन, सभा-संगठन से ऊँचा संगठन है। जब राष्ट्र परस्पर रक्षा की भावना से मिल कर एक संयुक्त-राष्ट्र बनाते हैं तब इस संयुक्त राष्ट्र के राजा को जो सहायक-संस्था दी जाती है उसे वेदों में समिति कहते हैं। यजुर्वेद १२।८० में लिखा है कि :—

"यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविव। विप्रः स उच्यते भिषग्रक्षोहामीवचातनः।"

अर्थात्, जिस व्यक्ति में ओषधियों का उत्तम संगम होता है जैसे कि समिति में राजाओं का, उस बुद्धिमान् व्यक्ति को भिषक् अर्थात् वैद्य कहते हैं। "यह वैद्य रोगकीटों का मारने वाला होना चाहिए, तथा रोगों को नष्ट करने वाला होना चाहिए।" वैद्य वही है जिसमें ओषधियों का उत्तम संगम होता है, जिसमें ओषधिविज्ञान एक समन्वय में रहता है। इस वर्णन में ओषधियों के परस्पर विरोध या लड़ाई का भाव नहीं है। इसी प्रकार समिति उसे कहेंगे जिसमें कि राजा लोग इकट्ठे हों और परस्पर मिल कर अपने संयुक्त राष्ट्र के राजा के सहायक, परामर्श दाता तथा नियम निर्माता बनें। अथर्व वेद १२। १। ५६ में लिखा है कि :—

"ये संग्रामाः समितयः"

अर्थात् जो संग्राम और समितियाँ हैं, उनमें हे मातृभूमि! हम तेरी कीर्ति को गाएँ। इस मन्त्र में संग्राम और समिति शब्द इकट्ठे पड़े गए हैं—अतः निश्चित है इन दोनों शब्दों के अर्थ भिन्न हैं, एक ही नहीं। साथ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि समिति शब्द "सम्" और "इति" इन दो शब्दों के मेल से बना है। अंग्रेजी भाषा का कमिटी (Committee) शब्द समिति का ही अपभ्रंश प्रतीत होता है। अंग्रेजी Com सम् और ittee इति। इसलिए (Committee) सम् इति समिति। इस प्रकार भी समिति शब्द के अर्थ पर विशेष प्रकाश पड़ सकता है। अतः सभा और समिति—ये राष्ट्र और संयुक्त-राष्ट्र की सहायक-व्यवस्थाएँ हैं। सभा तो राष्ट्र के राजा की सहायक सभा है। समिति संयुक्त-राष्ट्र के राजा की सहायक सभा है। सभा में प्रजाजनों के प्रतिनिधि होते हैं, और समिति में राष्ट्रों के। राजा स्वयं प्रतिनिधिरूप में एकत्र होकर संयुक्त राष्ट्र के राजा को सहायता देते हैं। संयुक्त-राष्ट्र को वर्तमान समय में हम (Confederation) या (Federation) कह सकते हैं। इस संयुक्त-राष्ट्र को वैदिक भाषा में हम साम्राज्य कह सकते हैं, और संयुक्त-राष्ट्र के राजा को सम्राट्। साम्राज्य सम्राट् में वह "सम्" शब्द है जो कि समिति में "सम्" शब्द है। इस प्रकार सम्राट्,

साम्राज्य और समिति—ये तीनों शब्द एक प्रकार के राष्ट्रसंगठन के पारिभाषिक शब्द प्रतीत होते हैं। और वह राष्ट्र संगठन है-संयुक्त-राष्ट्र संगठन।

सभा और समिति पर और अधिक प्रकाश

सभा और समिति के ठीक ठीक भावों को समझनेके लिए हमें अथर्व वेद के उस सूक्त पर विशेष विचार करना चाहिए, जिसमें कि राष्ट्रभाव के उत्क्रमण का विशेष का वर्णन है। वह सूक्त निम्नलिखित है। यथा :—

> "विराड् वा इदमग्र आसीत्, तस्या जाताया : सर्वमबिभेदियमेवेदं भविष्यतीति ॥१॥ सोदक्रामत् सा गार्हपत्ये न्यक्रामत् ॥ १ ॥ गृहमेधी गृहपतिर्भवति य एवं वेद ॥ ३ ॥ सोदक्रामत्, साहवनीये न्यक्तामत् ॥ ४ ॥ यन्त्यस्य देवा देवहूतिं प्रियो देवानां भवति य एवं वेद ॥ ५॥ सोदक्तामत् सा दक्षिणाग्नौ न्यक्रामत् ॥ ६ ॥ यज्ञर्तो दक्षिणीयो वासतेयो भवति य एवं वेद ॥ ७ ॥ सोदक्रामत् सा सभायां न्यक्रामत् ॥८॥ यन्त्यस्य स भां सभ्यो भवति य एवं वेद ॥ ९ ॥ सोदक्रामत् सा समितौ न्यक्रामत् ॥ १० ॥ यन्त्यस्य समिति सामित्यो भवति य एवं वेद ॥ ११ ॥ सोदक्रामत् सामन्त्रणे न्यक्रामत् ॥ १२ ॥ यन्त्यस्या-मन्त्रणमामन्त्रणीयो भवति य एवं वेद ॥ १३ ॥

अथर्व वेद काण्ड ८, सूक्त १० और पर्याय १ के ये प्रसिद्ध मन्त्र हैं। इन में राष्ट्र आदि के भावों के उत्क्रमण (Evolution) का वर्णन है। वर्णन बहुत महत्व का है। इन मन्त्रों का अर्थ मन्त्रक्रम से निम्न लिखित है। यथा :—

"निश्चय से पहले विराट्-अवस्था थी, उसके जन्म होते ही उससे सब डरे कि क्या यही अवस्था आगे रहेगी ॥१॥ इस विराट् अवस्था में उत्क्रान्ति (उन्नति) हुई, यह विराट्-अवस्था गार्हपत्य-संगठन में उतरी ॥२॥ जो व्यक्ति इस प्रकार जानता है वह गृह-यज्ञ को रचाता है और गृहजीवन का पति (रक्षक) बनता है ॥३॥ इस गार्हपत्य-संगठन में भी उत्क्रान्ति हुई, वह गार्हपत्य-संगठन आहवनीय-संगठन में उतरा ॥४॥ जो व्यक्ति इस प्रकार जानता है उसके देव-निमन्त्रण पर देव लोग आते हैं और वह देवों का प्रिय बन जाते हैं ॥५॥ इस आहवनीय-संगठन में भी उत्क्रान्ति हुई, वह आहवनीय-संगठन दक्षिणाग्नि-संगठन में उतरा ॥६॥ जो व्यक्ति इस प्रकार जानता है वह दक्षिणाग्नि-संगठन रूपी यज्ञ में जाने का अधिकारी होता है, वह वसती अर्थात् निवास के योग्य नगर के जीवन का उपकार करने वाला होता है ॥७॥ इस दक्षिणाग्नि-संगठन में भी उत्क्रान्ति हुई, वह दक्षिणाग्नि-संगठन सभा-संगठन में उतरा ॥८८॥जो व्यक्ति इस प्रकार जानता है, उसकी सभा देव में लोग आते हैं और वह व्यक्ति इस सभा का सभासद् या सभापति बनता है ॥९॥ इस सभा-संगठन में भी उन्नति हुई, वह सभा-संगठन समिति संगठन में उतरा ॥१०॥ जो व्यक्ति इस प्रकार जानता है उसकी समिति में देव लोग आते हैं, और वह व्यक्ति इस समिति का सदस्य होता है ॥११॥इस समिति-संगठन में भी उत्क्रान्ति हुई, वह समिति-संगठन आमन्त्रण-संगठन में उतरा ॥१२॥ जो व्यक्ति इस प्रकार जानता है उसके आमन्त्रण में देव लोग आते हैं,और वह व्यक्ति इस आमन्त्रण का सदस्य बनता है॥१३॥

विराट् गार्हपत्य-संगठन

संगठन की अवस्था में उन्नति हो कर उच्च से उच्च संगठन कैसे बनते गए,—इस का संक्षिप्त वर्णन ऊपर दिया गया है। वेद की दृष्टि में पहिले विराट् अवस्था थी। विराट् का अर्थ यहां पर "राजा का न होना",—ऐसा प्रतीत होता है। वि–विरुद्ध ; राट्–राजा ; अर्थात् राजा होने की विरोधी अवस्था, राजा का न होना, किसी प्रकार की भी राज्य-व्यवस्था का न होना। यही विराट्-अवस्था है। इस दृश्यमान समष्टि-जगत् में जो परमात्मा का शासन है उसे भी विराट्-शासन कहते हैं, अर्थात् परमात्मा के ही केवल शासन का होना, मनुष्यकृत शासन-व्यवस्था का न होना। दोनों प्रकार से भाव यही सूचित होता है कि पहिले मनुष्यकृत शासन-व्यवस्था का अभाव था। जब यह अवस्था हुई तो इसके होते ही सब भयभीत होने लगे। परमात्मा का विराट्-शासन तो उन्नतावस्था के मानुष हृदयों तथा मानुषमस्तिष्कों पराज्य कर सकता है। परन्तु अविकसित अवस्था के मनुष्यों के हृदयों और मस्तिष्कों पर परमात्मा का विराट्-शासन नियन्त्रण नहीं कर सकता। ऐसी अवस्था में मनुष्यकृतशासन और व्यवस्था ही काम में आती है। मनुष्य जाति की अविकसित अवस्था में मनुष्यकृत शासन-व्यवस्था अभी विकसित न हुई थी। मनुष्यकृत शासन-व्यवस्था के विकसित न होने से सब डरते थे कि उनकी जान-माल की रक्षा कैसे होगी। इस भय की अवस्था में वे कहने लगे कि क्या यही अवस्था भविष्य में भी रहेगी।।१।।

इस भय से मनुष्यों में सूझ पैदा हुई। अभी तक पति-पत्नी का भी व्यवस्थित सम्बन्ध विकसित न हुआ था। इस भय का पहिला परिणाम यह हुआ कि पहले गार्हपत्य-संगठन बना। पति और पत्नी इकट्ठे रहने लगे, पत्नी ने समझा कि अमुक मेरा पति है, और पति ने समझा कि अमुक मेरी पत्नी है इस प्रकार की पारस्परिक भावना में सम्बद्ध होकर पति और पत्नी के सम्बन्ध की व्यवस्था बनी। अब पति और पत्नी दोनों मिलकर एक दूसरे के जान-माल की रक्षा करने लगे। शत्रु के आने पर उस के साथ ये दोनों मिल कर लड़ने लगे। इस संगठन में परस्पर के मेल से इन दोनों की शक्ति बढ़ गई। इसे ही गार्हपत्य-संगठन कहा है। इस संगठन में गृह बना, और उस गृह के ये दोनों पति अर्थात् रक्षक बने। उस गृह तथा गृह की वस्तुओं की रक्षा में इन दोनों का परस्पर सहयोग होने लगा। दोनों ही गृह के पति या रक्षक कहलाए। दोनों के पति अर्थात् रक्षक होने से दोनों का ही गृह पर और गृह की वस्तुओं पर समान अधिकार था। दोनों की सन्तानें हुई। सन्तानों के होने पर इन दोनों की शक्ति और बढ़ गई। पति, पत्नी और सन्तानें मिल कर गृह प्रबन्ध, गृह रक्षा तथा गृह का शासन करने लगे। यह गार्हपत्य-संगठन हुआ।

गार्हपत्य-संगठन से आहवनीय-संगठन

गार्हपत्य-संगठन के बाद आहवनीय-संगठन का विकास हुआ। आहवनीय-संगठन को ग्राम-संगठन कहा जा सकता है। "आहवनीय" शब्द में "आ" और "हू" दो विभागों पर विचार करता है। आ+हू का अर्थ है आह्वान करना, बुलाना, आस पास के सभी गृहपतियों को बुलाना और उन्हें बुलाकर एक संगठन के सूत्र में पिरोना। इस प्रकार आहवनीय-संगठन गार्हपत्य-संगठन से व्यापी संगठन है—ग्राम-संगठन इस ग्राम-व्यापी संगठन को आहवनीय-संगठन कहा है। इस आहवनीय संगठन के नेता को

वेद में "ग्रामणी"* कहा है, अर्थात् ग्राम का नायक नेता। जिस सद्गृहपति को विचार उठा कि ग्राम के सब गृहपतियों को एकत्र कर ग्राम की रक्षा के लिए एक संगठन बनाना चाहिए उसने शेष गृहपतियों का आव्हान किया और आहवनीय-संगठन बताया। यह सद्-गृहपति इस आहवनीय-संगठन का सदस्य या सभापति बना। ग्राम के देव अर्थात् समझदार लोग इसके आव्हान करने पर आए और उन्होंने आहवनीय-संगठन का निर्माण किया। यह सद्-गृहपति उन सब देवों का प्रिय बन गया, क्योंकि इसने ऐसा एक संगठन सुझाया जिससे ग्राम की रक्षा हुई, और ग्राम के गृहपति आपस में मिलकर परस्पर की रक्षा करने लगे।

आहवनीय-संगठन से दक्षिणाग्नि-संगठन

ग्राम-संगठन स्थापित हो गया और ग्राम का नेता ग्रामणी कहलाया। शनैः शनैः इन्होंने अपनी एक सेना भी बना ली। सेना के नायक को सेनानी† कहा गया। वेद में ग्रामणी और सेनानी शब्द मन्त्र में इकट्ठे पठित हैं। अतः प्रतीत होता है सेनानी ग्राम की सेना का नायक है, जैसे कि ग्रामणी ग्राम के संगठन का नायक है। इस प्रकार प्रत्येक ग्राम के भीतर तो शान्ति हो गई, परन्तु आहवनीय-संगठनों के रहते भी ग्राम ग्राम में परस्पर लड़ाइयां, मार-लूट और आक्रमण जारी रहे। संसंस्कृत का संग्राम शब्द अर्थपूर्ण है। संग्राम का अर्थ है ग्रामों का मेल। सम्+ग्राम। आरम्भ में ग्राम का ग्राम के साथ मेल युद्ध की भावना से ही होता रहा होगा इस परिस्थिति से लोग तंग आ गए और दक्षिणाग्नि-संगठन की नींव नींव डाली। दक्षिण का अर्थ होता है "चतुर" और अग्नि का अर्थ होता है "अग्रणी"। निरुक्त‡ में लिखा है कि "अग्निः अग्रणीः" अर्थात् अग्नि का अर्थ "अग्रणी" भी होता है। दक्षिणाग्नि-संगठन के बनाने वाले ग्राम ग्राम के चतुर नेता थे। इस संगठन में ग्राम ग्राम की प्रजा शामिल न थी, न प्रत्येक ग्राम के प्रत्येक गृहपति। क्योंकि इससे यह संगठन अक्रियात्मक बन जाता। इसलिए ग्राम ग्राम के दक्षिण अर्थात् चतुर चतुर नेता इकट्ठे हुए और इन्होंने मिल कर एक संगठन बना लिया। इस संगठन को वेद ने दक्षिणाग्नि-संगठन कहा है। इसे हम जिला-संगठन कह सकते हैं। जिस व्यक्ति ने दक्षिणाग्नि-संगठन पहले पहला सुझाया उसकी कीर्ति गाई जाने लगी। उसने इस दक्षिणाग्नि-संगठन को यज्ञ का रूप दिया। उसने समझाया कि दक्षिणाग्नि-संगठन एक यज्ञ है। इस यज्ञ में इस यज्ञ के देवों का सत्कार करना होगा, उनका कहना या शासन मानना होगा, उनके साथ संगतिकरण करके उन्हें इस यज्ञ के रचाने में सहायता देनी होगी, और इस यज्ञ में दान देना होगा। दिये कर या टैक्स को दान की भावना से देना होगा। तभी यह दक्षिणाग्नि-संगठन ठीक प्रकार चल सकेगा। इस दक्षिणाग्नि-संगठन के यज्ञ में इसे सुझाने वाला व्यक्ति भी शामिल हुआ, सदस्य के रूप में या सभापति के रूप में शामिल हुआ, उसे सभी वसतियों का हितकारी समझा गया, वह वासतेय बना।

दक्षिणाग्नि से सभा-संगठन

दक्षिणाग्नि-संगठन से ग्रामों में परस्पर व्यवस्था हो गई, इसके रहन सहन में शान्ति हो गई, और इनमें परस्पर-विचार से उन्नति होने लगी। दक्षिणाग्नि-संगठन को हम वर्तमान दृष्टि में तहसील-संगठन या जिला संगठन कह सकते हैं। इस संगठन में और उन्नति हुई और इस का परिणाम हुआ सभा-संगठन।

*देखो यजुर्वेद १५।१५।। †देखो यजुर्वेद १५।१५।। ‡दैवत काण्ड अ. ७ पा. ४।

सभी-संगठन एक राज्य का संगठन है। क्योंकि अथर्व वेद* में "राजा सम्बोधित करता है सभा को और सभासदों को, कि "तुम मुझे शिक्षित करो, सलाह दो, और मेरे साथ एक वाणी† वाले होकर राज्य के प्रबन्ध में मेरे सहायक बनो।" इससे ज्ञात होता है कि सभा-संगठन के नीचे उतना प्रदेश सम्मिलित होता है जितने पर कि एक राजा राज्य करता हो। राष्ट्र-संगठन की इस उत्क्रान्ति में सभा वर्णन यह स्पष्ट सूचित कर रहा है कि सभा-संगठन एक ऊँचा राष्ट्र-संगठन है, सभा जूआ-घर नहीं है। अथर्व वेद‡ में सभा को "नरिष्टा" कहा है। नरिष्टा का अर्थ है नृ+इष्टा या नर+इष्टा अर्थात् नरों द्वारा इष्ट जिसे कि नर या प्रजा चाहती है, जो प्रजा की इच्छा से निर्मित हुई है। जिसमें कि प्रजा द्वारा चुने गए प्रतिनिधि शामिल हैं। इस सभा-संगठन को सुझाने वाला व्यक्ति इस सभा का स्वयं भी सभासद् बनताहै और सभा के निर्माण का जब वह प्रस्ताव करता है तो लोग उसकी सभा में दिलचस्पी लेने लगते हैं, और इस प्रकार सभा-संगठन का निर्माण हो जाता है।

सभा-संगठन से समिति-संगठन

सभा-संगठन एक राष्ट्र का संगठन है। एक जाति के एक राष्ट्र का संगठन सभा-संगठन है। यह स्वाभाविक और अधिक युक्तियुक्त है कि एक भावना वाले, एक विचार वाले, एक रीति रिवाज वाले, एक इतिहास वाले, एक सभ्यता वाले और एक प्रकार की सामाजिक प्रथाओं वाले लोगों का एक संगठन हो। ये अपनी जाति की भावनाओं के अनुसार अपने राष्ट्रिय नियम और कानून बनाएँ, और वंश परम्परा से प्राप्त संस्कारों के आधार पर अपने उन्नति के मार्ग पर अग्रसर हों। इस प्रकार जब जाति जाति के अनुसार राष्ट्र स्थापित हो जाएँ और इनमें अपने अपने सभा-संगठन काम करने लगे तो इनमें अधिकाधिक उन्नति की सम्भावना होती है। परन्तु इस सभा-संगठन में यह गारण्टी नहीं होती कि एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के साथ न लड़ेगा और इनमें आर्थिक नीति के कारण परस्पर संघर्ष न पैदा होगा। इसके लिये राष्ट्र-संगठन से ऊंचा उठ कर हमें संयुक्त-राष्ट्र का संगठन बनाना होगा। संयुक्त-राष्ट्र-संगठन में अलग अलग राष्ट्रों की सत्ता मिट नहीं जाती। अलग अलग राष्ट्रों की सत्ता के रहते हमें संयुक्त-राष्ट्र-संगठन बनाना होगा। जैसे कि अमरीका का इस समय एक संयुक्त राष्ट्र-संगठन है। इसके अध्यक्ष को या राजा को सम्राट् कहते हैं। सम्राट् का अर्थ है संयुक्त राजाओं का राजा, या संयुक्त राष्ट्रों का राजा। इस संगठन की शासक व्यवस्था को समिति कहते हैं। यह पहिले कहा जा चुका है कि समिति में राजा लोग इकट्ठे होते हैं, भिन्न भिन्न राष्ट्रों के भिन्न भिन्न राजा या उनके प्रतिनिधि समिति में एकत्र होकर साम्राज्य शासन के सहायक होते हैं, सम्राट के परामर्शदाता होते हैं। समिति-संगठन को हम कनफ़ेडरेशन या फ़ेडरेशन कह सकते हैं।

समिति-संगठन से आमन्त्र-संगठन

समिति-संगठन एक संयुक्त-राष्ट्र-संगठन है। एक जैसी भावनाओं वाले या एक स्वार्थ वाले राष्ट्र परस्पर मिल कर एक संयुक्त-राष्ट्र बना सकते हैं। और इनकी शासक सभा को हम समिति कह सकते हैं।

---

*सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने।
येना संगच्छा उप मा स शिक्षाच्चारु वदानि पितरः संगतेषु ॥ (७, १, १)

†ये ते के च सभासदस्ते मे सन्तु सवाचसः ॥ (७, १, २)

‡विदम ते सभे नाम नरिष्टा नाम वा असि (७, १, २)

परन्तु ऐसे कई संयुक्त-राष्ट्र हो सकते हैं। इन नाना संयुक्त-राष्ट्रों का भी परस्पर संगठन चाहिए। तभी विश्वशान्ति सम्भव है। नहीं तो एक संयुक्त-राष्ट्र दूसरे संयुक्त-राष्ट्र के साथ लड़ेगा। इस प्रकार जब संसार के प्रत्येक राष्ट्र अपने अपने संयुक्त-राष्ट्रों में शामिल हो जाए, और तत्पश्चात् ये नाना संयुक्त-राष्ट्र जब एक विश्वव्यापी महा-संयुक्त-राष्ट्र में संयुक्त हो जाए उस समय इस महा-संयुक्त-राष्ट्र की शासक सभा को वेद की परिभाषा में "आमन्त्रण" कहेंगे। "आ" अर्थात् सब ओर के राष्ट्र मिलकर जिस शासक सभा में आकर "मन्त्रण" अर्थात् मन्त्रणा करते हैं, विचार करते हैं तो उस शासक सभा को वेद के शब्दों में हम आमन्त्रण कहेंगे। इसलिए आमन्त्रण-संगठन विश्वव्यापी संगठन है, पृथिवीव्यापी संगठन है। वेद प्रतिपादित राष्ट्रों का परस्पर संगठन कितने महत्व का और कितनी ऊँची भावनाओं वाला है—यह बात इस संक्षिप्त लेख द्वारा अवश्य प्रकट हो जाती है। यहाँ यह दर्शा देना भी आवश्यक है कि इस महा-संयुक्त राष्ट्र के अधिपति को वेद में एकराट् तथा जनराट् कहा है।

विश्वनाथ विद्यालंकार
वेदोपाध्याय, प्रोफ़ेसर

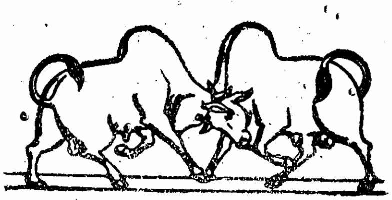

विविध

नमः शिवाय च

* * *

शिवतराय च

—वेद

हैदराबाद में वकील-आन्दोलन और " राव साहब "

राष्ट्रों के उत्थान में वकीलों का प्रमुख स्थान रहा है। भारत के स्वाधीनता संग्राम में भी वकील वर्ग ने अपना महत्वपूर्ण सहयोग प्रदान किया है। राजनीतिक क्षेत्र के अतिरिक्त, सामाजिक, शैक्षणिक और सांस्कृतिक क्षेत्रोंमें भी देश विदेश के वकीलों ने उल्लेखनीय कार्य किया है। अपने व्यावसायिक क्षेत्र में वकीलों को अपनी बुद्धि, प्रतिभा और स्वतंत्र विचारशैली और तक निष्ठ प्रणाली से लाभ उठाने का अधिक अवसर मिलता है। उसी का यह परिणाम है कि अन्य वर्गों की अपेक्षा सार्वजनिक जीवन में विभिन्न क्षेत्रों में मार्ग दर्शन, निमंत्रण संगठन तथा संचालन का दायित्व वकीलों पर अधिक रहता है।

" स्वराज्य मेरा जन्म सिद्ध अधिकार है और मैं उसे प्राप्त करके रहूंगा " महामंत्र के द्रष्टा तथा उद्घोषक लोकमान्य तिलक वकील ही थे। राष्ट्र नायक श्री जवाहरलाल नेहरू के महान् पिता श्री मोतीलाल नेहरू भी वकील ही थे।

ब्रिटिश साम्राज्य की समस्त शक्ति को " सत्य " और न्याय की दुहाई देकर केवल " अहिंसा " के बल पर ललकारने वाले " बापू " भी " मोहनदास " की विकालत के कारण ही अवतरित हो सके।

लोकमान्य तिलक में ब्राह्मणोंका चिंतन, प्रतिभा और त्याग था। स्व० श्री मोतीलाल के त्याग में क्षत्रियों का वीरता और पराक्रम के साथ शत्रुओं के लिए आह्वान था। गांधी जी जन्म से वैश्य, कर्म से क्षत्रिय और चिंतन से ब्राह्मण थे। भारत के वकील—रत्नों की इस परम्परा को हैदराबाद ने भी यथा सम्भव निभाया है।

हैदराबाद की राजनीतिक तथा सांस्कृतिक चेतना यहां के वकील वर्ग से बहुत कुछ अनुप्राणित हुई है। स्व० केशवराव कोरटकर के नाम को कौन भुला सकता है? उस महान् पिता के "राव साहब" महान् पुत्र हैं। और गुणों के साथ साथ इन्हें समाज सेवा का व्रत पैतृक संपत्ति के रूप में प्राप्त हुआ है। गुरूकुल की प्रारम्भिक शिक्षा ने राव साहब में भारतीय सांस्कृतिक और आदर्शों के लिए आकर्षण उत्पन्न किया। विलायत से बैरिस्टर होकर आने के कारण पाश्चात्य संस्कृति के वास्तविक मूल्य को आंकने का इन्हें सुअवसर मिला। हैदराबाद की तत्कालीन राजनीतिक और सामाजिक दासता के वातावरण मे स्वाधीन वृत्ति और सेवाभाव के जिस दीप को स्व० केशवराव ने प्रकाशमान् किया उनके सुपुत्र श्री विनायक राव ने उसे अपने असीम स्नेह से अखंड रूप से प्रज्वलित रखा।

अपनी विकालत के प्रारम्भिक दिनों से ही "राव साहब" ने उसे अर्थ प्राप्ति का साधन न बनाकर केवल कर्त्तव्यपूर्ति की साधना के रूप में स्वीकार किया था। सन् १९३६ के बाद भारत वर्ष के बदलते हुए राजनीतिक रंगमंच के साथ साथ हैदराबाद में भी उसकी प्रतिक्रिया होने लगी। तीन प्रादेशिक परिषदों की स्थापना के कारण हैदराबाद राज्य में पहली बार राजनीतिक चेतना को प्रस्फुटित होने के लिए व्यापक क्षेत्र मिला। इसकी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप यहां के प्रतिगामी शासकवर्ग ने साम्प्रदायिक वैमनस्य ओर विद्वेष को भड़काकर दंगों की शरण ली और यहां के विभिन्न धर्मी जनता को एक होकर संयुक्त मोर्चे के रूप में खड़े होने का अवसर ही नहीं दिया। ध्रुवपेठ, बिदर, लातूर आदि स्थानों की साम्प्रदायिक दुर्घटनाएँ इसी विषैली मनोवृत्ति की उपज हैं। "राव साहब" ऐसे अवसरों पर न्याय का नाटक करने वाले अधिकारियों के सम्मुख अभियुक्तों की ओर से सच्चे न्यायदान के लिए लड़ते रहते। इसके बाद जब कभी ऐसा कोई सार्वजनिक मुक़दमा, साम्प्रदायिक दंगा अथवा राज्य शासन के कोपभाजित अभियुक्त "न्याय" और विधि की वेदी पर "बलि" दिए जाने लगते तथा "राव साहब" ही उन निराधारों के आधार बने रहते। भारत की स्वाधीनता के क्षण जैसे जैसे निकट आ रहे थे हैदराबाद की स्थिति गम्भीरतर होती गई और राज्य की अन्य जनशक्तियों का पक्ष लेकर "राव साहब" ने भी यहाँ की "फ़ेसिस्ट" दमन नीति को ललकारा।

पहले ट्रावनकोर के प्रधान मंत्री ने और बाद में हैदराबाद के शासक ने फ़रमान द्वारा अपने स्वतंत्र होने की घोषणा की। इसी आधार पर यहां की इत्तिहादुल मुसल्मीन की संस्था ने "आज़ाद हैदराबाद" के लक्ष्य को स्थिर कर उसकी प्राप्ति के लिए उचित, अनुचित सब प्रकार के प्रयत्न किए। अब इत्तिहादुल मुसल्मीन संस्था हैदराबाद-राज्य शक्ति की प्रतीक बन गई और यहां के निज़ाम अब केवल मुसल्मानों की आशा-आकांक्षाओं के प्रतिनिधि मात्र बनकर रह गए। "हम राजा हैं" की घोषणा इसी के फल-स्वरूप थी। और धीरे धीरे निज़ाम साहब की शक्ति का क्षय करके स्वयं "राजा" के रूप में

अभि व्यक्त होकर इत्तिहाद ही संस्था ने घोषणा की "अब हैदराबाद की रक्षा केवल मुसल्मानों से ही सम्भव है" परिस्थिति गम्भीर होती गई।

"इत्तिहाद" संस्था की ओर से "करो या मरो की घोषणा हुई और राज्य की सुरक्षा के लिए एक लाख नवयुवकों की सेना के लिए ललकारा गया"। स्थिति यहाँ तक पहुंची कि इत्तिहादुल मुसल्मीन के अंजुमन के अध्यक्ष ने "किंग कोठी" के डिक्टेटर नें राज्य सत्ता को मुसल्मानों में वितरित कर दिए जाने की धमकी दी। रज़ाकार संगठन का जन्म इन्हीं परिस्थितियों में हुआ और हैदराबाद की आज़ादी के साथ साथ मछलीपट्टण और मार्मगोवा को वापस लेने के भी स्वप्न देखे जाने लगे और कभी तो दक्षिण भारत में एक और पाकिस्तान बनाने की धमकियाँ भी दी जाने लगी थी। इसके साथ साथ राज्य में अशान्ति, लूटमार और अराजकता की ज्वालाएँ भड़कने लगीं। रज़ाकारों का उद्देश्य जनता को अत्याचारों द्वारा आतंकित करना जिससे प्रभावित होकर वह हैदराबाद को भारतीय संघ में सम्मिलित न हो और हैदराबाद में "उत्तरदायी शासन पद्धति" (जिम्मेदाराना हुकूमत) की अपनी न्यायोचित मांगों को छोड़ दें।

इत्तिहदुल मुसल्मीन जैसी प्रतिगामी और अन्याय पर आधारित फैसिस्ट शक्तियों का विरोध करने के लिए जन आन्दोलन का श्रीगेणश स्टेट कांग्रेस की ओर से हुआ। दस सहस्र सत्याग्रही बन्दी जीवन की यातनाएँ डेढ़ वर्ष तक सहते रहे। विद्यार्थियों ने स्कूल कालेजों का बहिष्कार करके स्वाधीनता यज्ञ में अपनी आहुतियाँ दीं। इधर रज़ाकारों की पूरी ताकत प्रगतिवादी और स्वाधीनता प्रिय शक्तियों को कुचलने में व्यस्त थी। निराश्रित जनता विवशता से राज्य के बाहर चली जा रही थी। गांव के गांव उजड़ रहे थे। करोड़ों की लूट मची हुई थी। लाखों बे घर-बार हो रहे थे। हज़ारों व्यक्ति घायल और निराधार हो चुके थे। सैकड़ों मौत का शिकार बन चुके थे। दर्जनों को ज़िन्दा जलाया गया था। अबलाओं पर असहनीय अत्याचार हो रहा था। साम्प्रदायिक मनोवृत्ति के कारण ऐसे पीड़ितों की सहायता को शासक वर्ग राजद्रोह मानने लगा। स्टेट कांग्रेस का प्रभावशाली आन्दोलन चल रहा था किन्तु इसकी पूरी शक्ति बाहर से संगठित हो रही थी और आन्दोलन का संचालन और नियंत्रण भी बाहर से हो रहा था इसीलिए यहाँ के बढ़ते हुए अत्याचारों को प्रकाशन देना और भारतीय जनता की भावनाओं को संपादित करने का सुअवसर उसे प्राप्त न था। जैसे वातावरण नें वकीलों का वर्ग इस बढ़ती हुई अशान्ति को सह न सका और उसने अपनी आवाज़ रज़ाकार संगठन के विरुद्ध उठाकर यह घोषित किया कि हैदराबाद का शासन रज़ाकार संगठन को अवैध क़रार देने तथा आंतकवादियों को दण्ड देने में असमर्थ है। इसके प्रति अपना निषेध प्रदर्शित करते हुए वकीलों ने २५ फरवरी १९४८ को एक वक्तव्य देकर अनिश्चित काल के लिए न्यायालय का कामकाज स्थगित कर दिया। साथ ही वकीलों ने यह भी स्पष्ट किया कि जब तक रज़ाकार संगठन समाप्त नहीं हो जाता, हैदराबाद, भारत संघ में सम्मिलित नहीं हो जाता, हैदराबाद में सम्पूर्ण उत्तरदायी शासन पद्धति स्थापित न होगी, तब तक हैदराबाद में शान्ति प्रस्थापित होना तथा विधि और न्याय का शासन चलना कठिम है। जब तक इनकी पूर्ति न होगी वकील फिर अपने काम पर नहीं आएँगे! २५ फरवरी के वक्तव्य पर हस्ताक्षर के बाद में "दौरा कमेटी" के प्रयत्नों से यह संख्या कुछ ही दिनों में (७००) तक पहुंच गई। इस अवसर पर एक घटना विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि वरंगल में जब वकीलों ने अपना मंतव्य दिया तो वहाँ के

शासक श्री हबीब मुहम्मद ने कहा—"क्या आप पटेल राज्य" की स्थापना के लिए षड्यंत्र करना चाहते हैं ? आपके घरों को लूटकर भस्म कर डालेंगें।"

वकीलों का बहिष्कार कुछ स्थानों पर इतना प्रभावशाली था कि वहाँ की मुंसिफ़ कचहरियों का कार्य ठंडा पड़ गया।

२५-२-४८ का दिन हैदराबाद के इतिहास में अपूर्व था। भारत के इतिहास में भी यह घटना उल्लेखनीय मानी जाएगी। राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेकर न्यायालयों का बहिष्कार करना नई बात तो न थी। वकीलों का स्वतंत्र संगठन करके, स्वतंत्र दृष्टिकोण से प्रेरित होकर विधि विशेषज्ञों का विधिवत आन्दोलन का हैदराबाद में नया ही रूप था। इसमें न सामान्य जनता की भावना की विवशता थी न राजनीतिक दलों के प्रतिक्रियात्मक आन्दोलन का आभास। सामान्य जनता को प्रेरित करना सहज साध्य होता है इसलिए कि उसके प्रिय नेता के एक शब्द पर एक संकेत पर जनता संगठित होकर आन्दोलन में कूद पड़ती है और ऐसी जनता को संगठन के सूत्र में रखना कठिन भी नहीं होता। किन्तु वकीलों का अपना स्वतंत्र संगठन बनाना सहज साध्य न था। प्रत्येक वकील के अपने हित थे, धंधे से सम्बन्धित स्थार्य भी था। इनके जीवन निर्वाह का मार्ग ही बन्द करने का प्रश्न था। फिर वृत्ति और उद्योग के कारण प्रत्येक वकील सामान्य जनता की अपेक्षा अधिक तार्किक और व्यावहारिक होता है। ऐसे अवसर पर एक कुशल सारथी की तरह "राव साहब" ने शक्तिशाली वकीलों को एक ही दिशा में चलने के लिए प्रेरित किया। उन्हें इसका बहुत बड़ा श्रेय प्राप्त है कि हैदराबाद राज्य भर में (७००) से अधिक वकीलों को एक संगठन सूत्र में लाकर खड़ा कर दिया।

वकील समिति के सामने न्यायालयों के बहिष्कार के बाद बड़ा प्रश्न था आगे क्या हो ? एक विचार धारा तो यह थी कि संगठन के रूप में काम करने का अवसर ही इस समिति को नहीं मिलेगा। वकील समिति के सदस्य एक के बाद दूसरे पकड़े जाएँगे और अपनी आप सारी समस्या समाप्त हो जाएगी। किन्तु दूसरी विचारधारा यह थी कि हमारा कार्य केवल कोर्ट से अवकाश प्राप्त करके घरों पर निष्क्रिय कालक्रमण करना अथवा वारंट की प्रतीक्षा करना नहीं है अपितु राज्य में स्थित निरपराध, भूख पीड़ित, जनता के दुःखों को वाणी दी जानी चाहिए। शासन से आतंकित होकर राज्य के बाहर जाने में असमर्थ जनता का साहस बढ़ाना चाहिए। राज्य में रहकर यहां के प्रतिदिन घटित होने वाली दुर्घटनाओं को दुनिया के सामने लाया जाए। राज्य के बाहर से स्टेट काँग्रेस का जो आन्दोलन चल रहा था उसके "घरेलू मोर्चे" के रूप में यहाँ की जनता की शक्तियाँ उभार कर उसे संगृहीत कर, शासन के विरुद्ध विद्वेष की भावनाओं को तीव्रतर अनुभव कराया जाए। हैदराबाद के राजनीतिक प्रश्न को "विधिपूर्वक" अखिल भारतीय स्तर पर लाकर खड़ा कर दिया जाए, भारत सरकार की हैदराबाद संघ की नीति का समर्थन कर उसके हाथों को "कानूनी" ढंग से मजबूत करें। इन सब बातों की इसलिए आवश्यकता अनुभव की जा रही थी कि यही वे दिन थे जब "आज़ाद हैदराबाद" के प्रश्न को राष्ट्र संघ में ले जाने की मांग हो रही थी। इधर हैदराबाद के शासकवर्ग की अक्षमता इत्तिहादुल मुसल्मीन की बढ़ती हुई आततायिता और जनता की अरक्षितता को ध्यान में रखते हुए इस बात की संभावना थी कि लाखों और लोगों की तरह वकील भी काम धंधों से अवकाश पाकर आराम से कहीं बाहर जाकर अपना जीवन बिता सकते थे किन्तु सब प्रकार की सुविधाएँ उन्हें प्राप्त होने पर

भी वकीलों ने शरणार्थी बनना पसन्द नहीं किया। वे अपने स्थानों पर डटे रहे। ऐसे वकीलों को यदि निष्क्रिय बैठने दिया जाता तो संभव था इनकी प्रतिभा और शक्ति का पूरा-पूरा लाभ उठाया न जा सकता था। उपयोग वकीलों की क्षमता तथा आकांक्षा को पहचान कर इनकी शक्ति को निरर्थक न जाने देते हुए उनका यथोचित करने का सुअवसर वकील समिति के कारण प्राप्त हुआ और एक कुशल सेनानी के रूप में 'राव साहब' को इसका बहुत बड़ा श्रेय प्राप्त है।

वकील समिति की बढ़ती हुई सफ़लता को देख कर कई ईर्ष्यापूर्ण और विरोधी शक्तियाँ बाधा डालने तथा जनमत को कलुषित करने का प्रयत्न कर रही थीं। किन्तु चट्टान से टकरा कर छिन्न भिन्न होने वाली लहरों की तरह उन विघ्न संतोषों का प्रयत्न असफल रहा इसलिए कि हम वकीलों के हित विघ्नहर्ता विनायक के हाथों में सुरक्षित थे।

वकील समिति ने अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए एक समिति बनाई जो "शिकायत-जांच-कमेटी—" कहलाती थी। राज्य भर में प्रतिदिन घटित होने वाले अत्याचारों को प्रकाशित कराने के साथ साथ भीषण अग्नि काण्डों तथा पाशविक हत्याओं की प्रत्यक्ष जांच करने के लिए कई स्थानों पर प्राणों की बाजी लगाकर घटना स्थल पर वकील समिति के सदस्य पहुंच जाते थे। यह इसलिए भी आवश्यक था कि रज़ाकारों को बढ़ावा देने में पुलिस का हाथ होता था और शासक रज़ाकारों को दण्ड देना भी नहीं चाहते थे। ऐसी स्थिति में इस प्रकार की घटनाओं की कोई पूछताछ या कार्यवाही नहीं होती थी। समाचारों को प्रकाशित नहीं होने दिया जाता था। इसलिए प्रत्यक्ष जांच पर आधारित वृत्तान्तों को वकील समिति ने प्रकाशित किया। ऐसे वृत्तान्तो में बिदर और वरंगल की घटनाओं की जांच स्मरणीय रहेगी। इस प्रकार से प्राप्त सामग्री को हैदराबाद तथा भारत सरकार के शासक वर्ग तक मंतव्य, प्रार्थना पत्र अथवा तार द्वारा पहुंचाया जाता था। इन में से एक उल्लेखनीय घटना १२-३-४८ की औंढानागनाथ की है। इसके समाचार, पत्रों में दस दिन बाद २२-३-४८ को प्रकाशित हुए। घटनाओं की जांच का कार्य इतना सुचारु रूप से चलता था कि आगे होने वाली घटनाओं की सूचना देकर पुलिस तथा शासक को सचेत किया जाता था। घटनाओं की गम्भीरता की दृष्टि से स्टेट मिनिस्ट्री, प्रधान मंत्री श्री जवाहरलाल नेहरू, एजेंट जनरल श्री कन्हैयालाल मुन्शी, तथा कांग्रेस के अध्यक्ष डा० राजेन्द्र प्रसाद को यहाँ की स्थिति से समय-समय पर सूचित रखा गया। और हैदराबाद के शासक वर्ग को भी स्थिति सम्बन्धी मंतव्यों और विचारों की प्रतिलिपियाँ भेजी गई थीं। पुलिस ऐक्शन से कुछ दिन पूर्व हैदराबाद से सम्बन्धित जो श्वेतपत्र भारत सरकार ने प्रकाशित किया था उसकी तैयारी में वकील समिति की विशेष रिपोर्ट का पर्याप्त उपयोग किया गया है। शिकायतों की जांच कमेटी द्वारा लगभग (५००) घटनाओं की छानबीन की गई थी।

हैदराबाद इत्तिहादुल मुसल्मीन की संस्था की ओर से जो भाषण, प्रस्ताव और लेख आद छिपने थे उनको अंग्रेज़ी में अनुवादित करके भारत सरकार की सेवा में पांच खंडों में प्रेषित किया गया था।

पुलिस कार्यवाही के बाद हैदराबाद में जो मुकद्दमें चलाए गए उनमें इस सामग्री का पर्याप्त उपयोग किया गया।

वकील समिति के कार्यों को प्रकाशित करने वाले प्रेस और प्रकाशन विभाग द्वारा भी प्रशंसनीय कार्य हुआ किन्तु कुछ काल बीतने के पश्चात् यहाँ की सरकार ने प्रेस तथा समाचार पत्रों पर प्रतिबंध लगा दिया। उस समय यहाँ के समाचार बाहर के पत्रों में प्रकाशित करने की व्यवस्था की गई थी। अन्त समय तक "रहनुमा" और "इमरोज़" ने वकील समिति के साथ सम्पूर्ण सहयोग किया। फल यह हुआ कि "रहनुमा" बंद किया गया और "इमरोज़" के सम्पादक श्री शुईब उल्ला खाँ की अमानुषीय हत्या की गई।

प्रारम्भ से ही भारत सरकार के एजेंट जनरल श्री के. एम. मुंशी के साथ वकील समिति का निकट का सम्पर्क था। और कई महत्वपूर्ण घटनाओं ने इस सम्बन्ध को और गहरा बना दिया। १५ अगस्त १९४८ को स्वाधीनता दिवस के उपलक्ष में श्री मुंशी जी के निमंत्रण पर वकील समिति के १५०-२०० सदस्य हैदराबाद से बोलारम जा रहे थे। पहले तो रेलवे की यह स्थिति थी कि दो ट्रेनें कैंसिल कर दी गईं जिसमें हम लोगों के बोलारम पहुंचने में खूब बिलम्ब हो। बाद में तीसरी ट्रेन से सिकन्दराबाद जाते ही आगे की ट्रेन रोक दी गई। एक घंटे तक सिकन्दराबाद पर जब सब लोग ट्रेन की प्रतीक्षा कर रहे थे तब रज़ाकारों का एक सशत्र जत्था स्टेशन पर पहुंचा। हम लोग गाड़ी में सवार होकर मुश्किल से दो एक मील गए होंगे कि गाड़ी को आगे बढ़ने से रोका गया। बाद बार ज़ंजीरें खींची गई और बाहर से रज़ाकारों ने अपने लंबे लंबे तेज़ भालें खिड़की में से फेंकना शुरू किया। अवसर बड़ा विकट था। जैसे तैसे हम लोग बोलारम पहुंचे। समारोह के पश्चात् जब वापस लौटने का प्रश्न आया तो श्री मुंशी जी ने कहा वे मोटरों का प्रबन्ध करके उनके सैनिकों के नियंत्रण में हम को हैदराबाद सुरक्षित पहुंचाएँगे किन्तु वकील समिति के सदस्य दृढ़ता से इस बात पर अड़े रहे कि वे रेल द्वारा ही वापस जाएँगे चाहे परिणाम कुछ भी हो "यदि हमारे रक्तदान से हैदराबाद की समस्या का तुरन्त हल निलकता हो तो हम इसके लिए तैयार हैं" यही आत्म बलिदान की ज्योति सब के मुखों पर विकीर्ण थी। इसी दृढ़ता का यह परिणाम था कि बोलारम से वापस होते समय फिर कोई दुर्घटना नहीं हुई।

वकील समिति की ओर से समय समय पर कई महत्वपूर्ण वक्तव्य प्रकाशित होते रहे और जनता के मनोबल को दृढ़ और स्थिर रखने का सफल प्रयत्न किया जाता था। जब स्थिति अधिक विकट बन गई तो ६ अप्रैल १९४८ को आला हज़रत की सेवा में एक विस्तृत पत्र भेजकर तत्कालीन स्थिति पर प्रकाश डालते हुए वकील समिति की मांगें प्रस्तुत की गई। जब विधान समिति के निर्माण के सम्बन्ध में आला हज़रत ने घोषणा की तो वकील समिति ने उसकी वैधानिक आलोचना प्रकाशित की।

प्रारम्भ से ही वकीलों के इन कार्यों को न सहकर राज्य सरकार के कुछ अधिकारियों ने विद्रोह के अभियोग में वकीलों पर मुकदमा चलाने की धमकियाँ और नोटिसें दी, सनदें जब्त करने के प्रस्ताव पास हुए मगर किसी का यह साहस न हुआ कि इस बौद्धिक वर्ग को अधिक नष्ट किया जाए। तब किसी न किसी हीले हवाले से वकील समिति के कार्यकर्ताओं को बंदी बनाना शुरू कर दिया गया। दौरा उपसमिति के सदस्य रामचंद्रर राव का देकर तथा वासुदेवाराव गावसूदकर को निरर्थक बमकाण्ड में फांसा गया। वकील समिति के प्रधान मंत्री श्री धरणीधर संघी को ३१-३-१९४८ को "डिफेंस" हैदराबाद के अनुसार पकड़ा गया। दो दिन बाद २-४-४८ को सिकन्दराबाद के प्रसिद्ध वयोवृद्ध कार्यकर्ता श्री ताताचारी, वकील

समिति के उत्साही युवक श्री रामगोपाल तथा श्री ए. राघवन को केवल संदेह पर बन्दी बनाया गया। ऐसी घटनाओं से वकीलों का उत्साह घटने की अपेक्षा और बढ़ता ही गया।

यहां की इंडिपेंडेंट प्रोग्रेसिव पार्टी ने विधि मंडल का बहिष्कार किया। लिंगायत परिषद् के सदस्यों ने इसका अनुकरण किया जिसमें श्री श्रीनिवास राव मदनूरकर के प्रयत्न विरोध रूप से उल्लेखनीय हैं। इन लोगों ने जो वक्तव्य दिया वह उस समय की शक्तिशाली सरकार के विरुद्ध शांतिमय मार्गों से जूझने वाली जनता की मनोवृत्ति का अच्छा परिचायक है। व्यापारियों और साहूकारों की समिति ने तीन दिन तक सम्पूर्ण हड़ताल की। दो हज़ार से अधिक महिलाओं ने उनकी बहनों पर होने वाले अत्याचारों के विरुद्ध निषेध प्रदर्शित करते हुए एक दिन का अनशन किया। इन सब कार्यों में निषेध समिति ने सक्रिय प्रेरणा का सहयोग दिया।

परिस्थितियाँ तेज़ी से बदल रही थीं। हैदराबाद का शिष्ट मंडल दिल्ली से असफल लौटा। भारत ने आर्थिक नाका बंदी की तो राज्य की स्थिति और बिगड़ गई। भारत और हैदराबाद की सीमाओं पर हमलों के कारण प्रजा त्रस्त थी। ऐसे अवसर पर विधि मंडल में जब श्री लायक अली ने घोषणा की कि राज्य में शान्ति बनी हुई है और भारत सरकार अपनी सेना सिकन्दराबाद भेजने का प्रयत्न न करे तब वकील समिति के कर्णधार श्रीयुत विनायक राव ने ९ सितम्बर १९४८ को एक क्रांतिकारी वक्तव्य देकर प्रधान मंत्री श्री लायकअली को चेतावनी दी कि उनका विधि मंडल का मंतव्य असत्य, निराधार तथा भ्रमोत्पादक है। राज्य में शान्ति नाम मात्र भी नहीं है और भारत सरकार यहाँ की जनता की सुरक्षा के लिए सेना अविलंब भिजवा दे। इसका परिणाम वही हुआ जो होना था।

प्रतिदिन १२ से ४ बजे तक "उदय" जामबाग के कार्यालय में नियमित रूप से पधारने वाले "राव साहब" ११ सितम्बर को नहीं आए। एक बज गया। सदस्यों की अशान्ति बढ़ी। दो बजे रोज़ की तरह सब सदस्यों के लिए चाय बनकर तैयार थी। "राव साहब" का एक स्पेशल हरा कप बिना शक्कर की चाय के साथ उनकी प्रतीक्षा कर रहा था। मगर वे नहीं आए। घर पर आदमी भेजने से मालूम हुआ कि बाहर पुलिस है, राव साहब को बन्दी बनाया गया है। तब वकील समिति के अन्य पदाधिकारी भी यह समझे थे कि अब किसी भी समय कार्यालय पर धावा हो सकता है किसी भी सदस्य के बंदी बनाए जाने की संभावना है किन्तु वकील समिति का कार्य हैदराबाद सरकार की ओर से बंद किए जाने के बदले भारत सरकार ने ही १३ सितम्बर १९४८ को पुलिस एक्शन के साथ हैदराबाद शासन की जड़ें हिला दी।

वकील समिति ने जिस उद्देश्य से अपना आन्दोलन चलाकर न्यायालय का काम स्थगित कर दिया था उसकी पूर्ति सैनिक शासन के साथ अधिकांश में हो गई। इसके द्वारा पहला कानून (कानून निशान १ सन् १३५८ फ.) यही बना कि वकीलों के कार्य स्थगन के कारण मुकदमों पर जो प्रभाव पड़ चुका था उन पर फिर से विधिवत् कार्यवाई किए जाने का न्यायालयों को आदेश दिया गया।

हैदराबाद के स्वाधीनता संग्राम में वकीलों ने जो भी कुछ किया उसका विहंगावलोकन मात्र है। वकीलों ने अपने आंदोलन द्वारा यह सिद्ध कर दिया कि वे केवल संस्थागत अधिकारों की रक्षा के लिए

ही अपनी प्रतिभा का उपयोग करना नहीं जानते अपितु, देश,जाति और समाज के मूलभूत अधिकारों की प्राप्ति और रक्षा के लिए भी वे उसी आत्मीयता के साथ कार्य कर सकते हैं ।, यह सब सम्भव न होता यदि " राव साहब" म ब्राह्मणों का चिंतन कर्ण का सा त्याग और उदारता, दार्शनिकों की सी निरपेक्षता न होती और वे इन गुणों से प्रेरित होकर वकीलों का सफल नेतृत्व न करते। "राव साहब" की सबसे बड़ी विशेषता यही रही कि उन्होंने आन्दोलन को निष्क्रियता से बचाया और उसे इतना प्रखर भी न होने दिया कि सब की आंखें चकाचौंध हो जाएँ। वकीलों के संगठन के रूप में " राव साहब" न केवल (७००) वकीलों का नेतृत्व कर रहे थे अपितु हैदराबाद के बुद्धिजीवी वर्ग का मार्ग दर्शन कर रहे थे। वे उन तूफ़ानी दिनों में हैदराबाद में रह कर यहाँ की लाखों जनता के सम्बल बने रहे। ईश्वर उन्हें दीर्घायु दे जिससे देश की प्रगति में उनकी प्रतिभा का समुचित उपयोग किया जा सके।

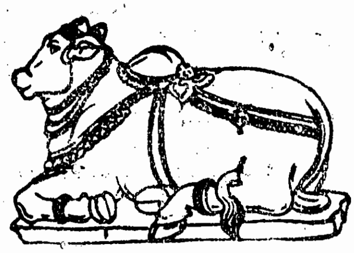

गोपालराव एकबोटे, बी. ए. एलएल-बी.
शिक्षा मंत्री, हैदराबाद-राज्य

राष्ट्र निर्माता महर्षि दयानन्द

आदर्श समाज सुधारक के रूप में महर्षि दयानन्द का नाम इतना प्रसिद्ध हो चुका है कि उसकी यहां विशेष रूप से चर्चा करनी अनावश्यक प्रतीत होती है। किन्तु यह खेद और आश्चर्य की बात है कि नवयुग विधाता और आदर्श भारतीय राष्ट्रनिर्माता के रूप में उनकी इतनी ख्याति नहीं, जितनी वस्तुतः होनी चाहिए थी। यद्यपि नेता सुभाषचन्द्र जी बोस जैसे कई सुप्रसिद्ध राजनैतिक नेताओं ने उनके इस रूप को पहचाना और निम्न शब्दों में श्रद्धांजलि समर्पित की थी :—

"Swami Dayanand Saraswati is certainly one of the most powerful personalities who have shaped modern India and are responsible for its moral regeneration and religious revival. His Aryasamaj is clearly and unquestionably one of the most potent factors in rebuilding, reforming and rejuvinating the institutions of Hindu India .... we find that the most prominent Aryasamajists are at the same time the most influential Nationalist leaders in upper India. In tenacity, capacity for organised work, intensity and compactness, Aryasamaj is next to none,

The Aryasamaj is an indigenous organic growth. May the Samaj that Swami Dayanandji founded be ever worthy of him and may it be an instrument for the social, economical and political, spiritual salvation of India we all love so deeply.

अर्थात् स्वामी दयानन्द सरस्वती उन महान् शक्तिशाली व्यक्तियों में से हैं, जिन्होंने अर्वाचीन भारत का निर्माण किया और जो उसके नैतिक तथा धार्मिक पुनरुद्धार के उत्तरदाता हैं। उनकी स्थापित आर्य समाज निस्सन्देह हिन्दू भारत की संस्थाओं के पुनर्निर्माण, सुधार और नव जीवन प्रदान करने वाले अत्यधिक शक्तिशाली तत्वों में से एक है।—हम देखते हैं कि उत्तर भारत में प्रमुख आर्य समाजी, सबसे अधिक प्रभावशाली राष्ट्रीय नेता भी हैं। स्थिरता, दृढ़ता, संगठित कार्यक्षमतादि की दृष्टि से आर्य समाज किसी से भी कम नहीं है। आर्य समाज एक संगठित स्वदेशीय विकास है। मेरी ईश्वर से प्रार्थना है कि स्वामी दयानन्द जी द्वारा स्थापित समाज अपने प्रवर्तक के अनुरूप तथा योग्य हो और वह भारत की समाजिक आर्थिक, राजनैतिक तथा आध्यात्मिक मुक्ति का कारण बन सके; जिसके लिए कि हम लोग इतना तरस रहे हैं।"

इस श्रद्धांजलि के अंतिम भाग में जो प्रार्थना है, उसमें स्वामी दयानन्द द्वारा स्थापित आर्य समाज से भारत की सामाजिक और आध्यात्मिक मुक्ति का ही नहीं, प्रत्युत उसके साथ साथ आर्थिक और राजनैतिक मुक्ति का जो स्पष्ट निर्देश है; वह अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

कांग्रेस की भू. पू. प्रधाना डा० एनी बीसेन्ट ने अपनी " India a Nation " नामक पुस्तक में तो अत्यधिक स्पष्ट शब्दों में यह घोषणा की कि—

"Swami Dayanand was the first to prolaim India for Indians."

अर्थात् स्वामी दयानन्द प्रथम व्यक्ति थे, जिन्होंने इस बात की घोषणा की कि भारत भारतीयों के लिए है।

भारत के उप प्रधान मंत्री, राजनीतिज्ञ शिरोमणि लौह पुरुष सरदार वल्लभ भाई पटेल ने अपनी मृत्यु से कुछ ही दिन पूर्व ९ नवम्बर १९५१ को देहली के रामलीला मैदान में महर्षि निर्वाणोत्सव पर भाषण देते हुए जो श्रद्धांजलि समर्पित की थी, वह भी इस प्रसंग में उल्लेखनीय है। उसमें उन्होंने कहा था कि :

"Swami Dayanand was a valient warrior and a soldier of truth. He was a brave man. He taught us to be brave and fight the evil bravely. He was a true follower of Indian culture. Every aspect of his life was built in accord with the best values of ancient Indian Culture."

अर्थात् स्वामी दयानन्द एक वीर योद्धा और सत्य के सैनिक थे। वे एक वीर पुरुष थे। उन्होंने हमें भी वीर बनना और बुराइयों के विरुद्ध वीरता से लड़ना सिखाया। वे भारतीय संस्कृति के सच्चे अनुयायी थे। उनके जीवन का प्रत्येक भाग प्राचीन भारतीय संस्कृति की सर्वोच्च महत्वपूर्ण शिक्षाओं के अनुकूल था। इत्यादि

जगद् विख्यात विचारक श्री रोमा रोलां ने महर्षि दयानन्द विषयक अपने विचारों का उपसंहार करते हुए ठीक ही लिखा था कि :—

I have said enough about this Sanyasi with the soul of a leader to show how great an uplifter of humanity he was in fact the most vigorous

force of the immediate and present action in India at the moment of the rebirth and reawakening of the national consciousness. He was one of the most ardent prophets of reconstruction of national organisation. I feel it was he who kept the vigil.

Life of Shri Ramkrishna Parmahamsa.

भावार्थ यह कि मैंने इस संन्यासी के विषय में जिसमें एक नेता की आत्मा विद्यमान थी, पर्याप्त कह दिया है यह दिखाने को की वह मनुष्यों का कितना महान् उद्धारक था। वस्तुतः भारत के अन्दर राष्ट्रीय जागृति के लाने में सबसे अधिक शक्तिशाली हाथ उसी का था। भारत के इस पुनरुद्धार और राष्ट्रीय संगठन के सबसे अधिक उत्साही पैग़म्बरों व नेताओं में से वह एक था। मैं अनुभव करता हूं कि वही था जो सदा जागरूक और सावधान रहा।

ऐसी श्रद्धांजलि देश विदेश के अन्य अनेक उच्च विचारकों और भारतीय नेताओं ने महर्षि के प्रति समर्पित की।

स्वराज्य का शुद्ध विचार

प्रायः यह कहा जाता है कि श्री दादाभाई नौरोजी प्रथम राष्ट्रीय नेता थे, जिन्होंने कांग्रेस के मंच से सन् १९०६ के कलकत्ता अधिवेशन में सबसे पूर्व स्वराज्य शब्द का राजनैतिक अर्थ में प्रयोग किया। किन्तु यह विचार सर्वथा अशुद्ध सिद्ध होता है, जब हम महर्षि दयानन्द के अद्भुत ग्रंथ 'सत्यार्थ प्रकाश' और 'आर्याभिविनयादि पर' दृष्टिपात करते हैं। 'सत्यार्थ प्रकाश' में महर्षि दयानन्द ने स्पष्ट शब्दो में लिखा है कि "अब अभाग्योदय से और आर्यों के आलस्य, प्रमाद, परस्पर के विरोध से अन्य देशों के राज्य करने की तो कथा ही क्या कहनी, किन्तु आर्यावर्त में भी आर्यों की अखण्ड स्वतंत्र, स्वाधीन निर्भय राज्य इस समय नहीं है। जो कुछ भी है, सो भी विदेशियों के पादाक्रान्त हो रहा है। कुछ थोड़े राजा स्वतंत्र हैं। दुर्दिन जब आता है, तब देशवासियों को अनेक प्रकार के दुःख भोगना पड़ता है। कोई कितना ही करे, परन्तु जो स्वदेशीय राज्य होता है; वह सर्वोपरि उत्तम होता है। अथवा मतमतान्तर के आग्रहरहित अपने और पराए का पक्षपातशून्य, प्रजा पर पिता माता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं है। परन्तु भिन्न भिन्न भाषा, पृथक् पृथक् शिक्षा, अलग व्यवहार का विरोध छूटना अति दुष्कर है। बिना इसके छूटे परस्पर का उपकार और अभिप्राय सिद्ध होना अति कठिन है।" (सत्यार्थ प्रकाश, अष्टम समुल्लास)

महर्षि दयानन्द के स्वराज्य के महत्व विषयक ये शब्द स्वर्णाक्षरों में लिखने योग्य हैं। ये शब्द सन् १८७५ के लगभग लिखे गए थे, जब अखिल भारतीय महासभा का जन्म भी न हुआ था और सन् १८८५ में कांग्रेस की स्थापना के पश्चात् भी उसके श्री दादाभाई नौरोजी जैसे मान्य नेता भी अंग्रेज़ों के राज्य को ईश्वरीय देन वा Divine dispensation के रूप में समझते थे। महर्षि के इन शब्दों में स्वराज्य का सुराज्य से भेद अत्यधिक स्पष्टतया निरूपित किया गया है। जो इंग्लैण्ड के सुप्रसिद्ध राजनीतिज्ञ कैम्पवेल के इन शब्दों का सहसा स्मरण कराता है कि

"Good Government can never be a substitute for the Government of the people by themselves."

अर्थात् सुराज्य स्वराज्य का स्थान कभी नहीं ले सकता।

स्व० डा० श्यामाप्रसाद मुखोपाध्याय ने २०-२-१९४४ को आर्य महासम्मेलन, देहली के अध्यक्षीय भाषण में महर्षि के इन शब्दों को उद्धत करते हुए ठीक ही कहा था कि :—

Could there have been a clearer and bolder analysis of our political bondage? Truely did the great French savant Romas Rolland say that Maharshi Dayanand transfused into the body of India his own formidable energy, his certainty, his lion's blood."

अर्थात् क्या इससे बढ़कर हमारी राजनैतिक दासता का कोई स्पष्ट और साहसपूर्ण विश्लेषण किया जा सकता था? फ्रांस के महान् विद्वान रोमा रोंला ने सचमुच ठीक ही कहा था कि 'महर्षि दायानन्द ने भारत के आलस्यग्रस्त शरीर में अपनी अदम्य शक्ति, दृढ़ निश्चय और सिंहसमान रक्त का संचार कर दिया।' इत्यादि।

जिन विदेशी शासकों के शासन को अनेक वर्षों तक कॉंग्रेस की स्थापना के पश्चात् भी राष्ट्र नेता भारत के लिए ईश्वरीय विधान समझते थे; उसके विषय में महर्षि दयानन्द ने 'सत्यार्थ प्रकाश' के दशम समुल्लास में सन् १८७५ में स्पष्ट लिखा था कि :—

"देखो! जब आर्यों का राज्य था, तब ये महोपकारक (गाय आदि) पशु नहीं मारे जाते थे तभी आर्यावर्त अन्य भूगोल देशों में बड़े आनन्द में मनुष्यादि प्राणी वर्तते थे; क्योंकि दूध घी, बैल आदि पशुओं की बहुताई होने से अन्न रस पुष्कल प्राप्त होते थे। जब से विदेशी मांसाहारी इस देश में आए गो आदि पशुओं के मारने वाले मद्य-पानी राज्याधिकारी हुए हैं; तब से क्रमश: आर्यों के दु:ख की बढ़ती होती जाती है।" (सत्यार्थप्रकाश दशम समुल्लास)

इसी समुल्लास में एक अन्य स्थान पर महर्षि ने लिखा :—

"जब स्वदेश ही में स्वदेशी लोग व्यवहार करते और परदेशी स्वदेश में व्यवहार राज्य करें तो बिना दारिद्रच और दु:ख के दूसरा कुछ भी नहीं हो सकता।" (सत्यार्थप्रकाश दशम समुल्लास)

राजनीति विषयक षष्ठ समुल्लास में राज्य में मंत्री कौन होने चाहिए इस विषय का प्रतिपादन 'मनुस्मृति' के अनुसार करते हुए लिखा है कि "स्वराज्य, स्वदेश में उत्पन्न विद्वान् शूरवीर उत्तम धार्मिक चतुर मंत्री हों।"

'आर्याभिविनय' नामक प्रार्थना पुस्तक में भी महर्षि ने अनेक स्थानों पर इस प्रकार की प्रार्थनाएँ लिखीं हैं कि "अन्य देशवासी राजा हमारे देश में कभी न हो तथा हम लोग पराधीन कभी न हों।" (रामलाल कपूर ट्रस्ट संस्करण सम्वत् १९९४ पृ० २१४)

'ऋजुनीती नो वरुण:।'इस ऋग्वेद मंत्र की व्याख्या में महर्षि के आर्याभिविनय में लिखा—"हम पर सहाय करो, जिससे सुनीति युक्त हो के हमारा स्वराज्य अत्यंत बढ़े।" उपर्युक्त संस्करण पृ. ५३

स्वामी दयानन्द का सन् १८५७ की क्रान्ति में भाग :—

गुरुकुल कांगड़ी विश्व विद्यालय के सुयोग्य स्नातक पृथिवीसिंह विद्यालंकार ने अपने "राजस्थान का इतिहास" नामक ग्रंथ में अनेक प्रमाणों से इस बात को सिद्ध करने का यत्न किया है कि श्री स्वामी दयानन्द ने सन् १८५७ की क्रांति में प्रचार, प्रेरणादि द्वारा सक्रिय भाग लिया था। सुप्रसिद्ध

ऐतिहासिक श्रीयुत जयचन्द्र विद्यालंकार ने मेरे पत्र के उत्तर में लिखा था कि इस बात के प्रबल प्रमाण विद्यमान हैं कि स्वामी दयानन्द ने सन् १८५७ की क्रांति में पर्याप्त सक्रिय भाग लिया था। यदि यह सत्य है, तो प्रश्न होता है कि महर्षि दयानन्द ने उस क्रान्ति के असफल होने पर राजनैतिक आन्दोलन में ही मुख्यतया भाग न लेकर क्यों धार्मिक और सामाजिक सुधारान्दोलन पर इतना बल दिया। इसका कारण उनके अपने ही शब्दों में स्पष्ट है। "सत्यार्थ प्रकाश" के दशम समुल्लास में उन्होंने एक और स्थान पर लिखा "विदेशियों के आर्यावर्त में राज्य होने के कारण आपस की फूट, मतभेद, ब्रह्मचर्य का सेवन न करना, विद्या न पढ़ना, पढ़ाना वा बाल्यावस्था में अस्वयंवर विवाह, विषयासक्ति, मिथ्या भाषादि, कुल दोष, वेद विद्या का अप्रचार आदि कुकर्म है। जब आपस में भाई भाई लड़ते हैं, तभी तीसरा विदेशी आकर पंच बन बैठता है।—आपस की फूट से कौरव पाण्डव और यादवों का तो सत्यानाश हो गया, सो तो हो गया; परन्तु अब तक भी वही रोग पीछे लगा है; न जाने यह भयंकर राक्षस कभी छूटेगा वा आर्यों को सब सुखों से छुड़ाकर दुःख सागर में डुबा मारेगा? उसी दुष्ट दुर्योधन गो हत्यारे स्वदेश विनाशक नीच के दुष्ट मार्ग पर आर्य लोग अब तक भी चलकर दुख बढ़ा रहे हैं। परमेश्वर कृपा करे कि यह राज रोग हमें आर्यों में से नष्ट हो जाए।" (सत्यार्थप्रकाश' दशम समुल्लास पृ. ३२६, आर्य-साहित्य मण्डल चतुर्थावृत्ति सम्वत् २००७)

सन् १८५७ की राजनैतिक क्रान्ति की असफलता पर गम्भीरता पूर्वक एकान्त में विचार करने के पश्चात् महर्षि दयानन्द उपर्युक्त परिणाम पर पहुंचे होंगे। तभी आर्यावर्त में विदेशी राज्य के कारणों को ही दूर करने का उन्होंने विशेष रूप से प्रयत्न किया और साथ साथ रियासतों के राजाओं को सुधारने के महत्वपूर्ण कार्य में वे तत्पर रहे। इस विषय में उनकी हार्दिक अभिलाषा को प्रकट करने के लिए जोधपुर से आश्विन बदी ३ सम्वत् १९४० तदनुसार २२ सितम्बर सन् १८८३ को अर्थात् अपने बलिदान से लगभग १।१४ मास पूर्व लिखा पत्र उल्लेखनीय है; जिसमें उन्होंने महाराजा प्रताप सिंह जी को लिखा:—

"श्रीयुत मान्यवर शूरवीर महाराज श्री प्रतापसिंह जी आनन्दित रहो। यह पत्र बाबा साहिब को भी दृष्टिगोचर करा दीजिएगा। मुझको इस बात का बहुत शोक होता है कि श्रीमान् जोधपुराधीश आलस्य आदि में वर्तमान आप और बाबा साहिब दोनों रोग युक्त शरीर वाले हैं। अब कहिए उस राज्य का कि जिसमें सोलह लाख से कुछ ऊपर मनुष्य बसते हैं; उनकी रक्षा और कल्याण का भार आप लोग उठा रहे हैं। सुधार और बिगाड़ भी आप ही तीनों महाशयों पर निर्भर है। तथापि आप लोग अपने शरीर का आरोग्य, संरक्षण और आयु बढ़ाने के काम पर बहुत कम ध्यान देते हैं। यह कितनी बड़ी शोचनीय बात है। मैं चाहता हूं कि आप लोग अपनी दिनचर्या मुझसे सुनकर सुधार लेवें; जिससे मारवाड़ को क्यों, अपने आर्यावर्त देश भर का कल्याण करने में आप लोग प्रसिद्ध होवें। आप जैसे योग्य पुरुष जगत् में बहुत कम जन्मते हैं और जन्म के भी बहुत कम चिरंजीवी होते हैं। इसके हुए बिना देश का सुधार कभी नहीं हो सकता। उत्तम पुरुष जितना अधिक जीवे, उतनी ही देश की उन्नति होती है। इस पर ध्यान आप लोगों को अवश्य देना चाहिए। "दयानन्द सरस्वती"

(देखो महर्षि दयानन्द का पं. व्य. और विज्ञापन, द्वि. सं. प्रका. रामलाल कपूर ट्रस्ट, देहली)

महर्षि दयानन्द प्रजातन्त्र राज्य के पक्षपाती थे। उन्होंने 'सत्यार्थ प्रकाश' के षष्ठ समुल्लास में स्पष्ट लिखा कि एक को स्वतंत्र राज्य का अधिकार न देना चाहिए ; किन्तु राजा जो सभापति, तदधीन सभा, सभाधीन राजा और सभी प्रजा के आधीन और प्रजा राजसभा के अधीन रहे। यदि ऐसा न करोगे तो 'राष्ट्रमेव विश्याहन्ति'—जो प्रजा से स्वतंत्र, स्वाधीन राजवर्ग रहे ; तो राज्य में प्रवेश कर के प्रजा का नाश किया करे। इसलिए किसी एक को राज्य में स्वधीन न करना चाहिए। पृ. १६१।— महाविद्वानों को विद्यासभाधिकारी, धार्मिक विद्वानों को धर्म सभाधिकारी प्रशंसनीय धार्मिक पुरुषों को राज सभा के सभासद् और जो उन सब में सर्वोत्तम गुण कर्म स्वभाव युक्त महान् पुरुष हो, उसको राज सभा का पतिरूप मान के सब प्रकार से उन्नति करें। तीनों सभाओं की सम्मति से राजनीति के उत्तम नियम और नियमों के अधीन सब लोग वरतें! सब के हितकारक कामों में सम्मति करे ; सर्वहित करने के लिए परतन्त्र और धर्म युक्त कामों में अर्थात् जो जो निज कार्म हैं उनमें स्वतंत्र रहें।" इत्यादि उससे बढ़कर प्रजातन्त्र राज्य का और क्या प्रतिपादन हो सकता है ? संस्कृत 'वाक्य प्रबोध' जैसे लघु ग्रंथ में महर्षि ने प्रश्न उठाया है —'यः प्रजां पीडयित्वा स्वार्थं साधयेत् स राजा भवितुमर्होऽस्ति न वा ? अर्थात् जो प्रजा को दुख देकर अपना प्रयोजन साधे, वह राजा हो सकता है वा नहीं ? इस का उत्तर द्रष्टव्य है। महर्षि कहते हैं " नहि नहि नहि , सतु दस्युः खलु। नहि नहि नहि, वह तो डाकू ही है।"

इस प्रकार के वाक्यों से यह स्पष्ट ज्ञाता होता है कि महर्षि दयानन्द वेद शास्त्रों के अपने समय के अनुपम विद्वान् होने के अतिरिक्त राजनीति के कितने मर्मज्ञ थे ?

सच्ची एकता के प्रबल समर्थक

यहां यह बात भी विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि महर्षि दयानन्द की दृष्टि में आर्यावर्त वा भारत में विदेशियों को राज्य होने के कारणों में से सब से प्रथम तथा मुख्य आपस की फूट थी। मत मतान्तरों के आग्रह संकुचित दृष्टि जन्म-सिद्ध जाति-भेद, अस्पृश्यता आदि के कारण भी भारतीयों में एकता का नितान्त अभाव था। महर्षि ने इस फूट और परस्पर विरोध को दूर करके सच्ची एकता की स्थापना के लिए कई प्रयत्न किए। साम्प्रदायिकता को दूर करके एक सार्वभौम सार्वजनिक धर्म की ओर जो वेदों में प्रतिपादित सर्वथा पक्षपात रहित और तर्क सम्मत था, महर्षि ने भारत के ही नहीं समस्त जगत् के विद्वानों और बुद्धिमानों का ध्यान आकृष्ट किया। अपने अमर ग्रंथ 'सत्यार्थ प्रकाश' के अन्त में उन्होंने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में लिखा :

" जो जो बात सबके सामने माननीय है उनको मैं मानता—अर्थात् जैसे सत्य बोलना सब के सामने अच्छा और मिथ्या बोलना बुरा है ; ऐसे सिद्धान्तों को स्वीकार करता हूं और जो मत मतान्तरों के परस्पर विरुद्ध झगड़े हैं उनको मैं प्रसन्न (पसन्द) नहीं करता ; क्योंकि इन्हीं मतवालों ने अपने मतों का प्रचार कर मनुष्यों को फँसा के परस्पर शत्रु बना दिए हैं। इस बात को काट सर्व सत्य का प्रचार कर, सबको ऐक्य मत में करा, द्वेष छुड़ा परस्पर में दृढ़ प्रीतियुक्त करा के, सबसे सब को सुख लाभ पहुंचाने के लिए मेरा प्रयत्न और अभिप्राय है। सर्व शक्तिमान् परमात्मा की कृपा, सहाय और आप्तजनों की सहानुभूति से यह सिद्धान्त सर्वत्र भूगोल में शीघ्र प्रवृत्ति हो जावे ; जिससे सब लोग सहज से धर्मार्थ काम मोक्ष की सिद्धि करके सदा उन्नत और आनन्दित होते रहे। यही मेरा मुख्य प्रयोजन है।" "सत्यार्थप्रकाश"

स्वमंतव्यामन्तव्य प्रकाश पृ. ७६०. प्रथम एक्य सम्मेलन : महर्षि दयानन्द ने केवल इतना लिख कर ही सन्तोष नहीं किया ; किन्तु सन् १८७७ में दिल्ली दरबार के अवसर पर देहली में उन्होंने सब से पहले एक ऐक्य-सम्मेलन का आयोजन किया ; जिसमें सर सैयद अहमदखां, का. केशवचन्द्र सेन, नवीनचन्द्र राय आदि अनेक मतों और समाजों के नेताओं को उन्होंने इस उद्देश्य से एकत्रित किया कि किस तरह देश में उच्ची एकता को स्थापित किया जा सकता है। खेद है कि इस अत्यन्त प्रशंसनीय प्रयत्नों में महर्षि को सफलता प्राप्त न हो सकी ।

एक राष्ट्र भाषा व लोक भाषा

भारत में एकता की स्थापना के लिए महर्षि दयानन्द ने एक ऐसी भाषा की आवश्यकता को तीव्रता से अनुभव किया, जिसको सब देशवासी सुगमता से समझ और बोल सकें। उन्होंने इसे आर्य भाषा, प्रकृत भाषा वा लोकभाषा वा 'भाषा' के नाम से पुकारा ; जिसे अब हिन्दी के नाम से कहा जाता है। अपनी मातृभाषा गुजराती होते हुए भी उन्होंने सत्यार्थप्रकाशादि अपने मुख्य ग्रंथ इस लोक भाषा (हिन्दी) में लिखे और यहां तक कहा कि "मेरी आंखें उस दिन को देखने के लिए तरह रही हैं, जब काश्मीर से कन्या कुमारी तक सब एक ही भाषा को समझने और बोलने लग जाएँ। इस इच्छा की पूर्ति के लिए उन्होंने अपने पंजाबी भक्तों को 'सत्यार्थप्रकाश' के उर्दू अनुवाद तक की अनुमति देना उचित नहीं समझा। लोगों को प्रेरित करके लाखों की संख्या में उन्होंने ब्रिटिश सरकार के पास आवेदन पत्र इस आशय के भिजवाए कि हिन्दी को ही सरकारी भाषा के रूप में स्वीकार किया जाए। यद्यपि दुर्भाग्यवश उनको इस अत्यन्त अभिनन्दनीय प्रयत्न में सफलता न मिल सकी ; तथापि अन्ततः उनके अनुयायी स्वामी श्रद्धानन्द जी, श्री घनश्याम सिंह गुप्त, आदि आर्यों तथा श्री पुरुषोत्तमदास टंडन, श्री सेठ गोविंददास, डा. रघुवीर आदि अन्य माननीय नेताओं के प्रयत्न स्वरूप १४ सितम्बर १९४९ को संविधान परिषद् ने हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकृत किया और १५ वर्ष के अन्दर उसको इस पद पर सम्पूर्णतया आसीन करने का निश्चय किया ; जो प्रसन्नता की बात है।

स्वराज्य और गौ रक्षा

महर्षि दयानन्द स्वराज्य को सारी प्रजा और प्राणियों के सुख के लिए मानते थे अतः उनका गौ आदि प्राणियों की रक्षा और उनके वध के निषेध पर बड़ा बल था। " गोकरुणानिधि " नामक लघु पुस्तक उन्होंने इस ओर जनता और शासकों का ध्यान आकृष्ट करने के लिए लिखी और श्री रायबहादुर मूलराज एम. ए. से उसका अनुवाद अंग्रेजी में करवाया। इस लघु पुस्तक में महर्षि ने गौ आदि की रक्षा के महत्व का बड़े ही मर्मस्पर्शी शब्दों में प्रतिपादन करते हुए लिखा है :—"दो ही प्रकार से मनुष्य आदि की रक्षा, जीवन, सुख, विद्या, बल और पुरुषार्थ आदि की वृद्धि होती है। एक अन्नपान दूसरा आच्छादन। इन में से प्रथम के बिना मनुष्यादि का सर्वथा प्रलय और दूसरे के बिना अनेक प्रकार की पीड़ा होती है।

"देखिए जो पशु निस्सार घास तृण पत्ते फल फूल आदि खाएँ और सार दूध आदि अमृत रूपी रत्न देवें हल गाड़ी में चलके अनेक विध अन्न आदि उत्पन्न कर सबके बुद्ध बल पराक्रम को बढ़ा के निरोगता करें पुत्र पुत्री और मित्र आदि के समान पुरुषों के साथ विश्वास और प्रेम करें जहां बांधे वहां बंधे रहें, जिधर चलाएँ उधर चलें, जहां से हटावें वहां से हट जावें, देखने और बुलाने पर समीप चले आवें, जिनके मरने पर चमड़ा भी कण्टक आदि से रक्षा करें, जंगल में चर के अपने बच्चे और स्वामी की रक्षा के लिए तन मन

लगावें, जिनका सर्वस्व राजा और प्रजा आदि मनुष्यों के सुख के लिए है इत्यादि शुभ गुण युक्त सुखकारक पशुओं के गले छुरों से काटकर जो अपना पेट भर सब संसार की हानि करते हैं उनसे भी अधिक कोई विश्वास घाती अनुपकारी दुख देने वाले और पापी जन होंगे ?—इस से यह ठीक है कि गो आदि पशुओं के नाश होने से राजा और प्रजा का भी नाश हो जाता है। क्योंकि जब पशु न्यून होते हैं, तो दूध आदि पदार्थ और खेती आदि कार्यों की भी घटती होती है।"

'गोकरुणानिधि' के अन्तिम भाग में महर्षि ने लिखा :—

"ध्यान दे कर सुनिए कि जैसा दुःख सुख अपने को होता है, वैसा ही औरों को भी समझा कीजिए और यह भी ध्यान में रखिए कि वे पशु आदि और उनके स्वामी तथा खेती आदि कर्म करने वाले प्रजा के पशु आदि और मनुष्यों के अधिक पुरुषार्थ से ही राजा का ऐश्वर्य अधिक बढ़ता और न्यून से नष्ट होता है इसी लिए राजा प्रजा से कर लेता है कि उनकी यथावत् रक्षा करें न कि राजा और प्रजा के जो सुख के कारण गाय आदि पशु हैं उनका नाश किया जाए। इसलिए आज तक जो हुआ सो हुआ आगे आंखें खोलकर बसके हानिकारक कर्मों को न कीजिए और न करने दीजिए। हां हम लोगों का यही काम है कि आप लोगों को भलाई और बुराई के कर्मों को जता देवें और आप लोगों को यही काम है कि पक्षपात छोड़ सब रक्षा और बढ़ती करने में तत्पर रहें। सर्व शक्तिमान् जगदीश्वर हम और आप पर पूर्ण कृपा करे कि जिससे कि हम और आप लोग विश्व के हानिकारक कर्मों को छोड़ सर्वोपकारक कर्मों को करके सब लोग आनन्द में रहें। इन सब बातों को सुन मत डालना किन्तु सुन रखना, **इन अनाथ पशुओं के प्राणों को शीघ्र बचाना।**

"हे महाराजाधिराज जगदीश्वर ? जो इन को कोई न बचावे, तो आप इनकी रक्षा करने और हमसे कराने में शीघ्र उद्यत हूजिए।"

कितने हृदयस्पर्शी और प्रभावजनक ये शब्द हैं ? महर्षि दयानन्द इस विषय में भी केवल अपने विचार लिखित व मौखिक रूप से प्रकट करके चुप नहीं हो गए; अपितु दो करोड़ हस्ताक्षर कराकर उन्होंने उस समय भारत की सम्राज्ञी महारानी विक्टोरिया के पास एक आवेदन पत्र भिजवाने का निश्चय किया और उसके लिए विशेष प्रयत्नशील रहे। खेद है कि सन् १८८३ में विष द्वारा देहावसान के कारण वे अपने इस अत्यन्त प्रशंसनीय कार्य में तब सफलता प्राप्त नहीं कर सके। पर उनके अनुयायी आर्यों तथा अन्य अनक नेताओं ने (जिनमें पूज्य महात्मा गांधी जी का नाम भी उल्लेखनीय है; जिन्होंने यहां तक लिखा था कि मेरी दृष्टि में गोवध और मनुष्यवध समान है) इस विषय में प्रयत्न जारी रखा। जिसके परिणाम स्वरूप उत्तर प्रदेशीय सरकार ने गोवध निषेधक विधान पारित कर लिया है और पंजाब, बिहार, मध्य प्रदेश, आदि की सरकारें भी शीघ्र उसका अनुसरण करने वाली हैं। सभी प्रादेशिक सरकारों को इस विषय में अविलम्ब विधान बना कर महर्षि दयानन्द के स्वराज्य विषयक इस स्वप्न को पूरा करना चाहिए।

लेख पहले ही अधिक लम्बा हो गया है। अतः अधिक लिखना उचित नहीं प्रतीत होता। केवल इतना स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि महर्षि दयानन्द ने विशुद्ध स्वदेशभक्ति व राष्ट्रीयता का प्रचार किया; न कि पाश्चात्य प्रकार की उस राष्ट्रीयता का जिसकी आलोचना कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने इन कठोर शब्दों में की थी कि :

"We have felt the iron grip of this nationalism at the root of our life, and for the sake of humanity we must stand up and give warning to all, that this nationalism is a cruel epidemic of evil that is sweeping over the human world of the present and eating into its moral vitality....."

Nationalism, p. 16.

"अर्थात् हमने इस पाश्चात्य राष्ट्रीयता की लोहमय पकड़ को अपने जीवन के मुल में अनुभव किया है और अब हमें मानवता की रक्षा के लिए सीधा खड़े हो जाना चाहिए। और सब को यह चेतावनी देनी चाहिए कि यह राष्ट्रीयता बुराई की एक संक्रामक (छूत की) बीमारी है जो वर्तमान मानव जगत् में फैल रही है और जो उसकी नैतिक शक्ति को घुन की तरह खा रही है।"

महर्षि दयानन्द ऐसी संकुचित राष्ट्रीयता के समर्थक न थे; जो अन्य देश वालों से घृणा करना और उन्हें तुच्छ समझाना सिखाती है। किन्तु वे उज्ज्वल देश भक्ति के जो माता के साथ अपनी मातृ भूमि से प्रेम करना सिखाती है, प्रचारक थे। "सत्यार्थ प्रकाश" के एकादश समुल्लास में उन्होंने ब्रह्मसमाज की आलोचना करते हुए लिखा है :—

"हम और आप को अति उचित है कि जिस देश के पदार्थों से अपना शरीर बना, अब भी पालन होता है, आगे होगा; उसकी उन्नति तन मन धन से सब जने मिल कर प्रीति से करें।" सत्यार्थप्रकाश पृ. ४८३.

इस प्रकार हमने देखा कि महर्षि दयानन्द न केवल एक अति महान् धार्मिक और सामाजिक सुधारक थे; बल्कि एक आदर्श भारतीय राष्ट्र निर्माता और नवयुग विधाता भी थे; जिनकी अति विशाल दृष्टि थी। अस्पृश्यता के विरुद्ध अब विधान स्वीकृत हो चुका है और उसे अपराध घोषित किया गया है। किन्तु इसकी सबसे प्रथम अपने युग में घोषणा महर्षि दयानन्द ने ही की थी कि "जो आज कल छूतछात और धर्म नष्ट होने की शंका है वह केवल मूर्खों के बहकाने और आज्ञान बढ़ने से है। (सत्यार्थप्रकाश दशम मुल्लास पृ. ३२२) विश्ववंद्य महात्मा गांधी ने भी महर्षि दयानन्द को इस आन्दोलन का प्रवर्तक बताया था। अस्पृश्यता जन्म सिद्ध जाति भेद की कुप्रथा का ही परिणाम है। अतः उस प्रथा को वेदादि शस्त्र विरुद्ध और अत्यन्त हानिकारक बताते हुए महर्षि ने उसके मूल को ही काटने का प्रशंसनीय प्रयत्न किया था; जिसके विषय में श्री रोमारौंला ने ठीक ही लिखा था कि

"Nobody had been a more ardent champion of the untouchables' outraged rights than Swami Dayanand. They (the so-called untouchables) were admitted in the Aryasamaj on a footing of perfect equality, as Aryas are not a caste."

अर्थात् स्वामी दयानन्द से बढ़कर अस्पृश्य वर्ग का कोई अधिक उत्साही और प्रबल समर्थक नहीं हुआ। उन्हें आर्य समाज में पूर्ण समानता के आधार पर प्रविष्ट किया गया क्योंकि आर्य किसी जाति को मानने वाले नहीं।" स्त्री शिक्षा और स्त्रियों की शिक्षा विषयक महर्षि के विचार भी अत्यधिक उदार थे; इसको सब जानते हैं।

माननीय श्री विनायक राव विद्यालंकार, जिनको यह अभिनन्दन ग्रंथ श्रद्धा पूर्वक भेंट किया जा रहा है ऐसे आदर्श नवयुग विधाता और राष्ट्र निर्माता के अनुयायी हैं और उन द्वारा निर्दिष्ट सत्य मार्ग पर चलने का वे सदा प्रयत्न करते रहें हैं। वे अपनी सरलता, निर्भयता, निष्कपटता, निराभिमानिता, सत्य-निष्ठता, उज्ज्वल देश भक्ति और परोपकार भावनादि गुणों से सबके माननीय बने हैं। मैं भी उनके चिर परिचित बंधु के रूप में उनके प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करता हूं और सर्व शक्तिमान् भगवान् से उनकी दीर्घायु आरोग्य शक्ति, सुख समृद्धि और कीर्तिवृद्धि की प्रार्थना करता हूं जिससे उनके द्वारा हमारे देशवासियों का कल्याण चिरकाल तक होता रहे।

धर्मदेव विद्यावाचस्पति,
विद्यामार्तण्ड
गुरूकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी, हरिद्वार

स्वामी दयानन्द का राष्ट्रीय दृष्टिकोण और आर्य समाज का वास्तविक स्वरूप

१९२० की वह घटना आर्य समाज के सम्बन्ध में कुछ विचार करते ही सहसा याद आ जाती है। अमर शहीद स्वामी श्रद्धानन्द जी के साथ मुझे तब पहली बार कलकत्ता जाने का अवसर प्राप्त हुआ था और गुरुकुल से स्नातक हुए मुझे कुछ ही महीने हुए थे। आर्य समाज मंदिर कार्नवालिस स्ट्रीट में स्वामी जी के व्याख्यान का आयोजन किया गया। व्याख्यान का विषय था "साम्यवाद का भूत।" कुछ वेदमंत्र पढ़ने के बाद स्वामी जी ने अपना व्याख्यान आरम्भ किया और वैदिक साम्यवाद की व्याख्या करते हुए कहा कि साम्यवाद की यह ऊँची भावना आज के रूस में कहाँ पाई जाती है जिस से हमारी सरकार इतना भय खाती है। वह समझती है कि वह साम्यवाद कहीं अफ़गानिस्तान के रास्ते इस देश में न आ जाए। इसलिए पश्चिमोत्तर सीमा पर ऐसी कार्यवाहियाँ की जाती हैं जैसी कि पानी की बाढ़ को रोकने के लिए की जाती हैं। मैं यह घोषणा करना चाहता हूँ कि साम्यवाद को उस रास्ते से रूस से आने की आवश्यकता नहीं है। वह किसी भी बाहर देश से नहीं आएगा। वह इस देश में पहले से ही विद्यमान है। आर्य समाज के यज्ञ वेदी से उठने वाले धुएं के साथ उठेगा और सारे देश में फैल जाएगा। उसको

कौन और कैसे रोक सकता है ? फिर उन्होंने यह भी कहा कि रूस के साम्यवाद का आधार केवल कूट-नीति अथवा राजनीति है। वह स्वार्थों को एक कर सकती है अथवा लौकिक स्वार्थों से प्रेरित होकर कुछ लोग उसको स्वीकार कर सकते हैं किन्तु वैदिक साम्यवाद जनता के दिल और दिमाग तक को एक सूत्र में बांध देता है। वह जनता के हृदय व आत्मा को एक माला में पिरो कर उसमें अदम्य भावना का संचार करने की अद्भुत क्षमता रखता है।

स्वामी जी के उस व्याख्यान की विस्तृत रिपोर्ट "श्रद्धा" नाम से उन दिनों में निकलने वाले उनके पत्र में आज भी पढ़ी जा सकती है। यह कहना कुछ अत्युक्ति नहीं है कि स्वामी दयानन्द के बाद आए समाज के महान् व्यापक रूप को यदि कोई समझ सका तो वे अमर शहीद स्वामी श्रद्धानन्द थे। उन्होंने १९०७-८ में और उससे पहले तथा बाद में भी आर्य समाज को राजद्रोही संस्था बताकर कुचलने का जब प्रयत्न किया गया और 'सत्यार्थ प्रकाश' को जप्त करने कराने के लिए जब राजनीतिक एवं साम्प्रदायिक माया जाल रचे गए, तब उनको छिन्न भिन्न करने और आर्य समाजियों को अपनी नैतिकता पर कायम रखने का जो प्रयत्न स्वामी जी ने किया उससे भी यह प्रकट है कि स्वामी जी आर्य समाज को कोरी साम्प्रदायिक वा धार्मिक संस्था हीन मानकर उसको महान् क्रांतिकारी संस्था मानते थे। सचमुच ही आर्य समाज वर्तमान युग के ऐसे जीवित संदेश के रूप में प्रकट हुआ जिसकी कि देश को तब सब से अधिक आवश्यकता थी। उस का प्रादुर्भाव समय की आवश्यकता की पूर्ति करने के लिए प्रचंड विद्रोह, चहुंमुखी क्रांति, संघर्षमय आन्दोलन और नव निर्माणकारी संगठन के रूप में हुआ। धर्म उसका साधन अवश्य था किन्तु साध्य नहीं। हमारे व्यक्तिगत जीवन के लिए भी धर्म केवल साधन है जब उसको जीवन का साध्य बना लिया गया तब हमारे साथ साथ धर्म का भी सहसा ही पतन हो गया। धर्म आत्मिक साधना का साधन न रहकर पेट का विषय बन गया और पंडों, पुजारियों-पुरोहितों तथा पंडितों के रूप में अनेक धर्म के ठेकेदार जहाँ तहाँ पैदा हो गए। आर्य समाज पर भी धर्म को साध्य मान लेने का अत्यन्त विपरीत प्रभाव पड़ा है। उसका तेजस्वी क्रांतिकारी स्वरूप धुंधला पड़ गया ह और उसकी गणना साम्प्रदायिक संस्थाओं में हिन्दू धर्मकी एक शाखा के रूप में की जाने लगी है।

आर्य समाज के वास्तविक स्वरूप को समझने के लिए जो कसौटियाँ हो सकती हैं वे हमारी सम्मति में निम्न लिखित हैं:

१. संस्थापक महर्षि दयानन्द की भावना और कल्पना
२. ऐतिहासिक पृष्ठिभूमि और उसकी आवश्यकता
३. गुरुकुल को शिक्षा प्रणाली का प्रादुर्भाव
४. अमर शहीद स्वामी श्रद्धानन्द जी का विशिष्ट व्यक्तित्व

इन सब कसोटियों पर यदि विस्तार से आर्य समाज की परख की जाए तो एक बड़ी पोथी तैयार हो जाए। इस सीमित स्थल में केवल संकेत ही किया जा सकता है।

१. संस्थापक महर्षि दयानन्द की भावना और कल्पना किसी भी व्यक्ति को समझने के लिए उसके लेखों, भाषणों तथा जीवनी पर एक दृष्टि डालना आवश्यक है। महर्षि दयानन्द का सबसे अधिक प्रसिद्ध ग्रंथ "सत्यार्थ प्रकाश" है जिस को अन्य सम्प्रदायों के धार्मिक ग्रंथों के समान आर्य समाज का प्रधान धार्मिक

थ माना जाने लगा है। ऐसा मानना ठीक नहीं है क्योंकि प्रधान धार्मिक ग्रंथ तो केवल चार वेद हैं। स्वामी जी के लिखित ग्रंथों में उसको प्रधान अथवा प्रमुख स्थान अवश्य दिया जा सकता है। वह आदि से अन्त तक एक ही भावना से ओतप्रोत है और वह भावना है देश प्रेम और देश भक्ति की। देश प्रेम और देश भक्ति की यह भावना कोरी कल्पना ही नहीं थी। लोगों में देश भक्ति तथा देश प्रेम की भावना का संचार करने के लिए स्वामी दयानन्द यह अनिवार्य मानते थे कि लोगों के व्यक्तिगत जीवन को पवित्र सात्विक एवं आस्तिक बनाया जाए। इसीलिए उन्होंने 'सत्यार्थ प्रकाश' के पहले प्रारम्भिक समुल्लासों में व्यक्ति के व्यक्तिगत जीवन के निर्माण पर ज़ोर दिया। इसी प्रकार के व्यक्ति के दिमाग़ को समस्त अन्ध विश्वासों तथा रुढ़ियों से मुक्त करना चाहते थे। "ईश्वर" और "धर्म" के सम्बन्ध में हमारे देश में इतनी अधिक कल्पनाएँ की गई कि उनके जंजाल में फंसा हुआ मनुष्य का दिमाग़ हल्का हो नहीं सकता। "सत्यार्थ प्रकाश" के पहले समुल्लास में ईश्वर में ईश्वर के सौ नामों की व्याख्या करके उन्होंने यह बताने का यत्न किया कि ईश्वर के सम्बन्ध में विभिन्न शब्दों से की गई कल्पनाएँ कितनी भ्रमपूर्ण हैं।

व्यक्ति के व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन की चर्चा के बाद सत्यार्थ प्रकाश का सार्वजनिक चर्चा का प्रकरण राज धर्म की व्याख्या से आरम्भ होता है और उसके बाद यत्र-तत्र उनकी उत्कृष्ट देशभक्ति और देश-प्रेम का अत्यन्त उज्ज्वल परिचय मिलता है। स्वदेश का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है कि पारसमणि पत्थर तो जिसको छूने के साथ लोहा सोना बन जाता है कहीं पाया नहीं जाता किन्तु एक पारस-मणि अवश्य है और वह ह हमारा देश आर्यावर्त, जिसको छूते ही दूसरे दरिद्र देश मालामाल बन जाते हैं। जहाँ भी कहीं उन्होंने स्वदेश का वर्णन किया वहाँ ऐसी उत्कृष्ट भावना प्रकट की गई है। स्वदेश में विदेशियों की हुकूमत सहन करना उनके स्वभाव से सर्वथा विपरीत था। उसका विचार आते ही उनका हृदय क्रांतिकारी भावना से भर जाता है। एक जगह उन्होंने लिखा है कि विदेशियों का राज्य माता पिता की तरह दया, सहानुभूति और न्याय करने वाला भी स्वदेश के खराब खराब शासन से अच्छा नहीं हो सकता। "सत्यार्थ प्रकाश" के अन्त में जहाँ मनुष्य की व्याख्या करते हैं वहाँ वे स्पष्ट शब्दों में विदेशी हुकूमत को सहन करने का विरोध करते हैं और धर्म के विरुद्ध आचरण करने वाले चक्रवर्ती सम्राट् की भी सत्ता को स्वीकार न कर उसके प्रति अप्रिय आचरण करते हुए उसका अन्त करने का प्रतिपादन करते हैं। स्वदेश के लिए स्वराज्य ही नहीं किन्तु सार्वभौम चक्रवर्ती साम्राज्य की भावना तथा कल्पना उन्होंने स्थान-स्थान पर प्रकट की है। ब्रह्म समाज तथा प्रार्थना समाज की आलोचना करते हुए स्वामी जी ने उनमें सबसे बड़ा दोष देशभक्ति की कमी बताया है और कहा है कि ये लोग एकाएक विदेशियों की नकल करने लग जाते हैं। अपने देश के महापुरुषों को बड़ा न मानकर विदेशियों की प्रशंसा करने लग जाते हैं। इसी प्रकरण में उन्होंने स्वदेशी का प्रतिपादन यह लिखते हुए किया है कि यूरोप के लोगों ने इस गर्म देश में आकर भी अपने देश का मोटा पहरावा नहीं छोड़ा। उनके यहाँ यदि कोई विदेशी देश-भूषा में जाता है तो उसका सत्कार करते हैं और यदि कोई देशी जूता पहन कर जाए तो वह उनके यहाँ नहीं जा सकता। विदेशियों की नकल करना बुद्धिमत्ता नहीं है। फिर आर्य समाज के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है कि जैसा आर्य समाज इस देश का उपकार कर सकता ह वैसा कोई दूसरा नहीं कर सकता। इसी प्रकार की उत्कृष्ट भावनाओं से "सत्याथ प्रकाश" ओतप्रोत है।

थियोसोफ़ी की प्रवर्तक मैडम ब्लैवेस्की ने अमरीका से स्वामी जी को लिखा कि हम लोग भारत में आकर थियोसोफ़ी का प्रचार करना चाहते हैं उसमें आप हमारा साथ दीजिए । स्वामी जी ने उनको लिखा कि मेरे देश में किसी बात की कमी नहीं हमें बाहर से कुछ भी नहीं चाहिए । यहाँ आकर आप मेरे साथ काम कीजिए मैं आपके साथ कार्य कर सकूंगा ? स्वामी जी किसी भी रूप में विदेशियों का वर्चस्व अपने देश में सहन नहीं कर सकते थे यही उनकी उत्कृष्ट देश भक्ति थी।

"सत्यार्थ प्रकाश" के ही समान अपितु उससे भी अधिक स्वामी जी के वेद भाष्य का महत्व है और उनका वेद भाष्य अन्ध विश्वास, रूढ़िवाद तथा परम्परावाद के विरुद्ध सक्रिय विद्रोह है, क्योंकि उन्होंने शब्दों के रूढ़िगत अर्थों को मानने से इंकार करते हुए उनके यौगिक अर्थों का वह सिलसिला शुरू किया जिससे वैदिक ग्रंथों के सम्बन्ध में ही विचार करने की एक नयी धारा को जन्म दिया ।

सायणा तथा महिधर सरीखे आचार्यों की नकल करतेहुए पश्चिम के विद्वानों ने वैदिक ग्रंथों के सम्बन्ध में जो भ्रांत धारणाएँ बना ली थीं और हमारे देश में भी पढ़े लिखे लोगों के दिमाग़ में वैदिक ग्रंथों के प्रति उनके ही कारण जो उपेक्षा एवं उदासीनता पैदा हो गई थी उस सबका स्वामी जी ने इस प्रकार निराकरण किया । 'आर्याभिविनय' एक छोटी सी प्रार्थना पुस्तक है, जिसमें चुने हुए वेद मंत्र दिए गए हैं । उसकी भूमिका में स्वामी जी ने लिखा है कि प्रत्येक मंत्र के आधिभौतिक, आधिदैविक, तथा आध्यात्मिक दृष्टि से तीन अर्थ किए जा सकते हैं । यद्यपि इस पुस्तिका में तीनों दृष्टियों से मंत्रों की व्याख्या नहीं की गई फिर भी उसमें स्थान स्थान पर देश भक्ति की उत्कृष्ट भावना का उल्लेख किया गया है । प्रार्थना मंत्रों की व्याख्या में स्थान स्थान में यह कहा गया है, कि हम कभी भी पराधीन न हों हमारे देश पर विदेशी शासन न हो और हम सदा ही स्वराज्य का उपभोग करें ।

"गोकरुणा निधि" स्वामी जी की छोटी सी पुस्तक है, जिसमें गो पालन के अर्थ शास्त्र पर विचार किया गया है । गांधी जी ने चर्खे को जो महत्व दिया है और अपने अर्थ शास्त्र का जिस प्रकार उसको केन्द्र बिन्दु बनाया ठीक वही महत्व स्वामी जी ने गाय को दिया और गोपालन उनके अर्थ शास्त्र का केन्द्र बिन्दु था । स्वदेश की आर्थिक उन्नति को चरम सीमा पर पहुंचाने के लिए गोपालन उनकी दृष्टि में प्रमुख साधन था । चीन और रूस सरीखे साम्यवादी देशों में मशीनरी के उत्पादन को अपनी अर्थ नीति का आधार न बनाकर खेती और पशु पालन को ही उसका आधार बनाया है । यही दृष्टि स्वामी दयानन्द की थी जो उनकी इस छोटी सी पुस्तक से प्रकट होती है ।

इस प्रकार स्वामी जी की भावना और कल्पना को समझने का यदि प्रयत्न किया जाए तो ये बिलकुल स्पष्ट है कि देश प्रेम और देश भक्ति उनमें सर्वोपरि थी ।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और उसकी आवश्यकता

आर्य समाज की स्थापना के समय की स्थिति पर यदि विचार किया जाए तो यह मालूम हो सकेगा कि तब उसकी क्या आवश्यकता थी । प्रकृति का यह नियम है कि जिस समय जिस चीज़ की आवश्यकता होती है, उसका निर्माण प्रायः स्वतः ही हो जाता है क्रांतिकारी महापुरुष और संस्थाएँ भी समय की आवश्यकता की पूर्ति करने के लिए प्रकट होती हैं । यहां हम बहुत विस्तार में नहीं जाना चाहते केवल संकेत के रूप में उस समय की स्थिति का उल्लेख करना चाहते हैं । १८५७ के स्वतंत्रता संग्राम के कारणों की जिन

ऐतिहासिकों ने मीमांसा की है प्रायः वह सब इस मत के हैं कि ईसाइयत का प्रचारक उसका एक मुख्य कारण था। विदेशी लेखकों के उस समय के बड़े से बड़े अफ़सर भी जिस किसी उपाय से यहाँ ईसाई धर्म का प्रचार करने में लगे रहते थे। औरतो और सेना के अधिकारी भी अपना मुख्य काम यही समझते थे। ईसाई पादरी कुछ ही वर्षों में सारे देश को ईसाई धर्म में रंग देने की निश्चित् योजना बना कर इस देश में आए थे और उस योजना को पूरा करने के लिए उनके झुंड के झुंड गिद्धों की तरह इस देश में आ पड़े थे। लार्ड मकाले ने तो खुले आम यह घोषणा की थी कि इस देश में एक ऐसी श्रेणी पैदा करनी चाहिए जो हाड़ मांस में भले ही हिन्दुस्तानी बनी रहे, परन्तु उसका आचार विचार रहन सहन और दिल दिमाग़ एक दम ही अंग्रेज़ियत में रंग दिया जाना चाहिए। उन्होंने इस दृष्टि से इस देश में जिस अंग्रेज़ी शिक्षा का सूत्रपात किया उसके बारे में उन का यह दावा था कि यदि बीस वर्ष यह शिक्षा प्रणाली चल गई तो बंगाल में एक भी हिन्दुस्तानी ऐसा न रहेगा जिसमें स्वदेश तथा स्वधर्म का थोड़ा सा भी अभिमान शेष रह जायगा। किसी यूरोपियन लेखक ने पश्चिम के साम्राज्यवादी राष्ट्रों के सम्बन्ध में यह बिल्कुल ठीक लिखा है कि वे जिन साधनों से विदेशों में अपनी सत्ता कायम करते हैं उनमें शराब, गोली और बाईबिल मुख्य स्थान है। यह भी वह ऐतिहासिक पृष्ठभूमि जिसमें स्वामी दयानन्द का प्रादुर्भाव हुआ था और जिसमें आर्य समाज की स्थापना की गई थी। यह स्वतः सिद्ध सचाई ह कि ईसाईयत की फैलती हुई लहर को रोकने का प्रायः सारा श्रेय केवल आर्य समाज को है। आर्य समाज के उपदेशकों तथा पंडितों ने जहाँ तहाँ ईसाई पादरियों का मुकाबला किया और उनके मायाजाल को छिन्न भिन्न किया। ऐसा प्रतीत होता ह कि उस समय आय समाज की ही देश को आवश्यकता थी। १८५७ के स्वतंत्रता संग्राम की दुर्भाग्य पूर्ण असफलता के बाद यहाँ ऐसी परिस्थितियाँ पैदा कर दी गई कि जिनमें सशस्त्र क्रान्ति का किया जा सकना सम्भव नहीं था। ईसाई प्रचारकों को उनके ही मोर्चों पर परास्त करने के लिए प्रचार तथा कार्य के वे साधन और मार्ग अपनाने आवश्यक थे जो ईसाई पादरियों ने अपनाए हुए थे। आर्य समाज ने ऐसा पूरी सफलता के साथ किया। आर्य समाज के कार्य का यही राष्ट्रीय स्वरूप और महत्व है। १९२० तक भी वे खुले रूप में यह स्वप्न देखते रहे हैं कि इस देश में ईसाई धर्म के सहारे अंग्रेज़ी सत्ता को अजर अमर बनाया जा सकता है। उस समय सयुक्त पार्लमेन्टरी कमेटी के सामने दिए गए ईसाई पादरियों के बयानों में ऐसा दावा किया गया था। यह निश्चित है कि यदि आर्य समाज ने उनके इन स्वप्नों और दावों को मिथ्या सिद्ध नहीं किया होता तो भारत की महान् परम्परागत संस्कृति नष्ट भ्रष्ट हो चुकी होती और भारत भी कैनाडा, दक्षिण अफ्रीका न्यूज़ीलेंड और आस्ट्रेलिया की तरह सदा के लिए इंग्लैंड का उपनिवेश बना लिया गया होता और उसका अपना स्वतंत्र अस्तित्व लुप्त हो गया होता। आर्य समाज ने ही उसकी इस दुर्भाग्य पूर्ण स्थिति से रक्षा की है। इस दृष्टि से देखना चाहिए कि आर्य समाज ने किस प्रकार समय की आवश्यकता की पूर्ति की ह। उसके कार्य का राष्ट्रीय दृष्टिकोण से यही महत्व है।

गुरुकुल शिक्षा प्रणाली का प्रादुर्भाव

लार्ड मैकाले ने इस देश में जिस अंग्रेज़ी शिक्षा प्रणाली को प्रारम्भ किया था वह कितनी घातक थी इस पर यहाँ नए सिरे से विचार करने की आवश्यकता नहीं है। देश के सभी नेता उसके विरोधी थे। और प्रायः सभी ने स्वतंत्र शिक्षा के महत्व तथा आवश्यकता को अनुभव किया था। कइयों ने शिक्षा के क्षेत्र में कुछ काम भी किया था। परन्तु वे किसी नई दिशा का श्रीगणेश नहीं कर सके थे उन्होंने प्रायः अंग्रेज़ी

शिक्षा प्रणाली की नकल ही की। आर्य समाज ने भी लाहोर में जिस दयानन्द ऐंग्लो वैदिक कालेज की स्थापना की थी और शिक्षा के क्षेत्र में जो काम किया था वह अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली की ही प्रायः नकल था। स्वामी श्रद्धानन्द (तब उनका नाम लाला मुन्सीराम था) और उनके साथी उससे सहमत नहीं थे। उस पर जो मतभेद पैदा हुआ उसी के कारण आर्य समाज दो दलों में बंट गया। दूसरे दल ने स्वामी दयानन्द के मत के अनुसार गुरुकुल की स्थापना करने का निश्चय किया। आर्य समाज में गुरुकुल शिक्षा प्रणाली का प्रारम्भ राष्ट्रीय दृष्टिकोण से एक क्रान्तिकारी प्रयोग था बीसवीं सदी के प्रारम्भ में दक्षिण में लोकमान्य तिलक के नेतृत्व में और पूर्व में श्री अरविन्द के नेतृत्व में राष्ट्रीय आन्दोलन ने नई करवट लेकर क्रान्ति का रूप धारण किया था। उत्तर में उसको क्रान्ति का रूप देने का श्रेय आर्य समाज को है। और उसका श्री गणेश गुरुकुल शिक्षा प्रणाली के सूत्रपात के साथ हुआ था।

इंग्लैण्ड के भूतपूर्व प्रधान मंत्री रैम्जो मैकडोनल्ड १९१४ में लैबर कमीशन के साथ जब भारत आए थे तब वे गुरुकुल भी पधारे थे। यहाँ से लोटकर उन्होंने इंग्लैंड के समाचार पत्रों में आर्य समाज ओर गुरूकुल के सम्बन्ध में एक लेख लिखा था उसमें उन्होंने दोनों की राष्ट्रीयता का अत्यन्त सुन्दर विवेचन किया था। गुरुकुल को लार्ड मैकाले की शिक्षा पद्धति के विरुद्ध सक्रिय विद्रोह बताते हुए उन्होंने लिखा था कि वहाँ एक भी अंग्रेज अध्यापक नहीं हैं। शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी नहीं है और सरकारी विश्वविद्यालय का पढ़ाई का कार्यक्रम नहीं है। वहाँ अपनी ही डिग्रियाँ दी जाती हैं। यह स्पष्ट ही सरकारी सत्ता की अवज्ञा है सरकारी अधिकारी इसको राजद्रोह समझते हैं और सारे ही आर्य समाज को इसी दृष्टि से देखते हैं।

गुरुकुल के सम्बन्ध में सरकारी अधिकारियों ने अपनी ऐसी ही धारणा बनाई हुई थी। स्वामी श्रद्धानन्द ने एक बार कुछ गुप्त सरकारी कागज प्रकाशित किए थे। जिनसे पता चलता था कि सरकारी अधिकारी गुरूकुल को संदेह की किस दृष्टि से देखते हैं। श्री बंकिमचन्द्र चटर्जी "आनन्दमठ" में जिन क्रान्तिकारी संन्यासियों का वर्णन किया गया है सरकारी अधिकारी यह समझते थे कि उन सरीखे संन्यासी पैदा करने के लिए ही गुरुकुल खोला गया है। इसमें तनिक भी संदेह नहीं है कि गुरुकुल की स्थापना राष्ट्रीयता के गढ़ के रूप में की गई थी। स्वामी दयानन्द की राष्ट्रीयता का वह मूर्त रूप था। बड़े बड़े सरकारी अधिकारी उसको एक स्वतंत्र राज्य कहा करते थे।

वैलण्टाइन शिरोल ने अपनी पुस्तक "अनरैस्ट इन इंडिया" में लिखा है कि जहाँ जहाँ आर्य समाज प्रबल है, वहाँ वहाँ राजद्रोह भी प्रबल है। पंजाब में जहाँ भी कहीं कुछ असन्तोष पैदा होता था उसका सारा दोष आर्य समाज के सिर मढ़ दिया जाता था जो भी कोई देश भक्ति की बात करता था उसको आर्य समाजी कह दिया जाता था भले ही वह सिख या मुसलमान क्यों न हो। सरदार अजीत सिंह और बाबा गुरुदत्त सिंह सरीखों को भी आर्य समाजी कहा गया था। पंजाब केसरी लाला लाजपतराय और भाई परमानन्द पर आर्य समाजी होने से ही क्रांतिकारी होने का आरोप लगाया गया था। लालाजी को मांडले में नजरबन्द किया गया और बाद में वर्षों विदेशों में रहने के लिए मजबूर किया गया। भाई जी को फांसी की सजा दी गई और बड़ी कठिनाई से फांसी की काल कोठरी से उनके जीवन की रक्षा की जा सकी। आर्य समाज पर जहाँ तहाँ बड़ी कड़ी निगरानी रखी जाती थी। आर्य समाजी उपदेशक छावनियों में नहीं जा सकते थे। अनेक आर्य समाजियों पर राजद्रोह के अनेक प्रकार के मुकदमे चलाए गए। उनको सरकारी नौकरियों के

अयोग्य समझा जाता था। कई बार 'सत्यार्थ प्रकाश' के विरुद्ध मुकदमें चलाए गए और उसको जब्त करने की भूमिका बनाई गई। पटियाला में सारे ही आर्य समाजियों को गिरफ्तार करके महीनों उन पर मुकदमा चलाया जाता रहा। और आर्य समाज पर सरकारी ताला पड़ा रहा। अन्त में आर्य समाजियों को राज्य से निर्वासित करने की शर्त पर मुकदमा वापस हुआ। यह एक टैस्ट केस थी जो केवल इसलिए चलाया गया था कि यदि उसमें राजद्रोह का अभियोग साबित हो जाए तो तभी आर्य समाजों को गैर कानूनी ठहरा दिया जाए। उन दिनों में स्वामी श्रद्धानन्द ने न केवल पटियाला में किन्तु सभी स्थानों में इस सरकारी प्रकोप का सामना किया और आर्य समाजियों को अपने आदर्श में विचलित न होकर अपनी नैतिकता पर कायम रहने का साहस बंधाया। बीसवीं सदी के पहले दस बारह वर्ष आर्य समाज के लिए अग्नि परीक्षा के थे। आर्य समाज में जो दो दल हुए उनका मुख्य कारण लाला लाजपतराय जी ने अपनी आत्मकथा में सरकार की दुर्नीति को बताया और लिखा है कि उसके बढ़ते हुए प्रभाव को कम करने के लिए ऐसा किया गया था जिनको इसके लिए हथियार बनाया गया था। उनके नाम भी उन्होंने दिए। इन सब घटनाओं के प्रकाश में यदि आर्य समाज को देखा जाए तो उसके राष्ट्रीय स्वरूप को सहज में समझा जा सकता है। यह भी एक कठोर सत्य है कि आर्य समाज की राष्ट्रीयता को कुंठित करने के लिए उसको मुसल्मानों का विरोधी बनाकर उसको हिन्दू मुस्लिम संघर्ष में वैसे ही उलझा दिया गया जैसे कि महात्मा गांधी के असहयोग और सत्याग्रह आन्दोलन को विफल बनाने के लिए सारे देश में हिन्दू मुस्लिम उत्पात कराए गए थे। दिल्ली में स्वामी श्रद्धानन्द की एक फिरे दिमाग़ मुसलमान के हाथों हत्या करवाना सिन्ध में "सत्यार्थ प्रकाश" के विरुद्ध कार्यवाही करवाना और निज़ाम हैदराबाद में आर्य समाज के विरुद्ध उन परिस्थितियों का पैदा करवाना जिनमें उसको सत्याग्रह के लिए बाध्य होना पड़ा अंग्रेज़ी राज की दुर्नीति के ही परिणाम थे।

अमर शहीद स्वामी श्रद्धानन्द का विशिष्ट व्यक्तित्व

स्वामी दयानन्द की भावना के अनुसार न केवल अपने जीवन को ढालने का अपितु समस्त आर्य समाज को ही उसके अनुरूप बनाए रखने का सबसे अधिक प्रयत्न अमर शहीद स्वामी श्रद्धानन्द ने किया। इसी से उनके विशिष्ट व्यक्तित्व से भी आर्य समाज के स्वरूप को समझा जा सकता है। गुरुकुल की स्थापना करके उन्होंने आर्य समाज की राष्ट्रीय भावना जिस भावना को सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया उसकी चर्चा की जा चुकी है। गुरुकुल की राष्ट्रीयता को प्रकट करना पर्याप्त होना चाहिए। दक्षिण अफ्रीका में महात्मा गांधी का सत्याग्रह जब चलारहा था तब राजर्षि गोपालकृष्ण गोखले की अपील पर स्वामीजी ने गुरुकुल की पढ़ाई बन्द करके सब विद्यार्थियों अध्यापकों तथा कर्मचारियों से मेहनत मज़दूरी करवा कर और भोजन में कांट छांट करके १५०० रुपए जमा किए। वह पहली रकम थी जो किसी शिक्षा संस्था द्वारा उस सत्याग्रह के लिए दी गई थी। ऐसे राष्ट्रीय अवसरों पर गुरुकुल के विद्यार्थी इसी प्रकार आर्थिक सहायता किया करते थे। और दुर्भिक्ष आदि पर तो स्वयं सेवक का काम भी किया करते थे। गांधी जी पर इस का इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि उन्होंने साबरमती में सत्याग्रह आश्रम बनने के समय तक फ़ोनिक्स आश्रम के विद्यार्थियों को गुरुकुल में रखा। और अफ़्रीका से लौटने पर वे कृतज्ञता प्रकट करने के लिए एकाएक गुरुकुल पधारे। उसके बाद गांधी जी जब हरिद्वार में कुम्भ के अवसर पर पधारे तब स्वामीजी ने मायापुर में उनके अभिनन्दन का एक विशेष समारोह का आयोजन किया। उसमें दिए गए अभिनन्दन पत्र में सबसे पहले उनके लिए "महात्मा" शब्द का प्रयोग किया गया था। तभी से

उनके नाम के लिए "महात्मा" पर्यायवाची बन गया। तब स्वामी जी का नाम महात्मा मुन्शीराम जी था। स्वामीजी ने अपना महात्मा शब्द गांधी जी को प्रदान कर दिया। इस प्रकार गंगा जमुना का सा दो महात्माओं का जो संगम हुआ वह हमारे देश के राजनीतिक जीवन के लिए वरदान सिद्ध हुआ। गांधी जी ने जब सत्याग्रह का शंखनाद किया तब स्वामीजी गुरुकुल के कार्य से एक प्रकार से त्यागपत्र देकर दिल्ली चले आए। उस समय उन्होंने गुरुकुल की सचालक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान को जो पत्र लिखा था वह ऐतिहासिक महत्व रखता है। उसमें उन्होंने लिखा था कि "मेरी सम्मति में असहयोग" की व्यवस्था के क्रियात्मक प्रचार पर ही मातृभूमि का भविष्य निर्भर है। यदि यह आन्दोलन अकृतकार्य हुआ और महात्मा गांधी को सहायता न मिली तो देश की स्वतंत्रता का प्रश्न ५० वर्ष पीछे पड़ जाएगा। यह जाति के लिए जीवन मृत्यु का प्रश्न हो गया है। इसलिए मैं इस काम म शीघ्र ही लग जाऊँगा। यदि आपकी सम्मति में इस काम में लगने के लिए मुझको गुरुकुल और आर्य समाज के अन्य कार्यों से अलग होना चाहिए तो जैसा पत्र आप तजवीज करेंगे मैं पब्लिक में भेज दूंगा। मैं इस कार्य से रुक नहीं सकता। मुझे यह काम इस समय सर्वोपरि दीखता ह।

गुरुकुल से दिल्ली आकर सत्याग्रह आन्दोलन को सफल बनाने में स्वामी जी जुट गए। दिल्ली में उन दिनों में जो घटी वे हमारे आजादी के इतिहास में सदा ही चमकती रहेंगी। उन दिनों में दिल्ली में रामराज्य कायम हो गया था।—घण्टा घर के नीचे स्वामी जी की छाती पर गोरखों ने नंगी किरचें तान दी थीं। तब स्वामी जी ने अपार जन समूह को नियंत्रण से बाहर नहीं होने दिया। जामा मस्जिद के मिम्बर पर से वेद मंत्रों का उच्चारण करके स्वामी जी का व्याख्यान देना एकाकी घटना है। पंजाब में फौजी शासन लागू करके डायरशाही और औडायर शाही में उसको बुरी तरह क्षत विक्षत किया गया था तब उसकी सुधि लेने के लिए सबसे पहले स्वामी जी लाहोर पहुंचे थे और उनकी ही प्रेरणा पर कॉंग्रेस ने गांधी जी, पं० मोतीलालजी ओर देशबंधु दास की जांच समिति नियुक्त की थी। अमृतसर में कॉंग्रेस का अधिवेशन असम्भव बना दिया गया था। वह स्वामीजी के ही प्रयत्नों से सम्भव हो सका। और स्वामीजी ही उसके स्वागताध्यक्ष चुने गए थे। स्वामी जी ने मुहावरेदार हिन्दी में अपना भाषण देकर कांग्रेस में सबसे पहले हिन्दी की प्रतिष्ठा की थी,। और जिन विचारों को उन्होंने उस समय प्रकट किया था उन को वर्षों बाद कांग्रेस ने स्वीकार किया। अमृतसर में सिखों के गुरु का बाग़ सत्याग्रह के लिए वे जेल तक गए। १९२१ में तिलक स्वराज्य फंड में अक करोड़ रुपया जमा होने पर उनका प्रस्ताव यह था कि कम से कम ५ लाख रुपया दलितोंद्धार में अथवा छूतछात को दूर करने पर खर्च किया जाना चाहिए। उस समय के नेता उनके उस प्रस्ताव से सहमत नहीं हुए। इसी पर उन्होंने कांग्रेस से अलग होकर स्वतंत्र रूप से दलितोद्धार का काम शुरू कर दिया। हिन्दू महा सभा के साथ भी उनकी पट नहीं सकी, क्योंकि उसके नेता समाज सुधार के सम्बन्ध में प्रगतिशील नहीं थे। स्वामीजी न किसी भी क्षेत्र में और किसी भी संस्था के साथ अपने विचारों तथा सिद्धान्तों में समझौता नहीं किया।

इस प्रकार स्वामीजी के जीवन में जो राष्ट्रीयता ओत-प्रोत थी उससे भी आर्यसमाज के राष्ट्रीय स्वरूप को समझने में सहायता मिलती है। स्वामी दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश में न केवल स्वराज्य किन्तु अपने देश के लिए सार्वभौम चक्रवर्ती साम्राज्य तक की कल्पना का उल्लेख जगह जगह किया है। उनके अन्य

ग्रंथों में भी यह भावना पायी जाती है। सुप्रसिद्ध क्रान्तिकारी श्री श्यामजी कृष्ण वर्मा उनकी ही प्रेरणा पर विदेशों में गए थे। वहाँ उन्होंने पहले लन्दन में फिर पैरिस में इंडिया होम के नाम से क्रान्ति के लिए केन्द्र की स्थापना की थी। वह स्वामीजी की शिक्षा, दीक्षा और प्रेरणा का परिणाम था।

अन्त में स्वामीजी के तीव्र खण्डन मण्डन और उसके लिए प्रयुक्त की गई कठोर भाषा के सम्बन्ध में दो शब्द लिखने अत्यन्त आवश्यक हैं। उनके इस कार्य के महत्व को न समझ कर जिस साम्प्रदायिक दृष्टि से देखा जाता है उसके कारण उनकी राष्ट्रीयता भी दब सी गई है। इस देश में ईसाईयत का प्रचार केवल अंग्रजी साम्राज्य को सुदृढ़ बनाने के लिए किया गया था और यह समझा जाता था कि लोगों को ईसाई बनाकर उनके स्वाभिमान तथा स्वदेशाभिमान का सदा के लिए अन्त किया जा सकता है। ईसाई पादरी लोगों की धर्मान्धता और अन्ध विश्वास से अनुचित लाभ उठाते हुए उनको ईसाई बना रहे थे। इसी लिए स्वामीजी ने धर्मान्धता और अन्ध विश्वासों का अन्त करना आवश्यक समझा। उनके हृदय में देश भक्ति की जो अदम्य भावना थी उसी से प्रेरित होकर उन्होंने कठोर भाषा का प्रयोग किया। गांधी जी अंग्रेज़ी राज के लिए कितनी कठोर भाषा काम में लाते थे। खण्डन मण्डन के प्रकरण में सर्वत्र स्वामीजी की राष्ट्रीय भावना स्पष्ट रूप में झलकती है। श्राद्ध, मूर्तिपूजा तथा अन्य प्रकरणों में भी उन्होंने जिन कसोटियों से काम लिया उनमें राष्ट्रीयता की एक मुख्य कसोटी थी। उन सब रूढ़ियों तथा अन्ध विश्वासों में उनको देश की हानि और राष्ट्र का विनाश दीख पड़ता था। दिल्ली दरबार के समय उन्होंने यह यत्न किया था कि सभी विचारों, मतों और सम्प्रदायों के नेता मिलकर देश की भलाई के सम्बन्ध में विचार करें और उसके लिए कोई निश्चित कार्यक्रम स्थिर करें। राजपूताना के राजपूत राजाओं के यहाँ वे इसी बात की खोज करने गए थे कि किसी के हृदय में देश भक्ति की कुछ भावना शेष है कि नहीं। और किसी की तलवार में कुछ पानी है कि नहीं पिछले दिनों में यह भी पता किया गया है कि उन्होंने १८५७ के स्वतंत्रता संग्राम में सक्रिय भाग लिया था। और उसकी पराजय की उनके हृदय पर जो चोट लगी उससे उनके जीवन की दिशा ही बदल गई। उन्होंने सन्यासी होकर सरस्वती शाखा को स्वीकार किया था। इस शाखा के साधु सन्यासियों ने अपनी स्वतंत्र राष्ट्रीय वृत्ति का कभी भी परित्याग नहीं किया। आनन्द मठ के साधु सन्यासी इसी शाखा के थे। किसी न किसी रूप में वे उसके लिए यत्नशील रहे।

वे देश की बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार अपने को बदल नहीं सके। स्वामी जी ने इस दिशा में जो प्रयत्न किया उसी के फल स्वरूप आर्यसमाज की स्थापना हुई। लेकिन यह बड़े दुःख का विषय है कि आर्यसमाज अपने संस्थापक की राष्ट्रीय वृत्ति पर कायम नहीं रह सका। उसने अपने को केवल धार्मिक संस्था का जो रूप दिया उसके कारण उसकी राष्ट्रीयता दब गई और आज उसकी गणना हिन्दू धर्म की शाखाओं में की जाकर उसको केवल एक साम्प्रदायिक संस्था के रूप में देखा जाने लग गया है। यह वस्तुस्थिति और उसके संस्थापक की भावना एवं कल्पना के सर्वथा विपरीत है।

सत्यदेव विद्यालंकार
दिल्ली

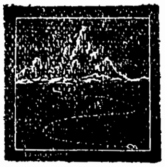

ऋषि दयानन्द का राजनैतिक दृष्टिकोण

विदेशी आक्रान्ता सिकन्दर के आक्रमण के बाद भारत के राजनीतिक क्षेत्र में, विदेशी राजनीति के संसर्ग में आने के परिणामस्वरूप कई उलझनें पैदा हो गई थीं। उस समय उनका हल विष्णुशर्मा चाणक्य ने कौटिल्य-अर्थशास्त्र की रचना करके किया। परिणामरूप विदेशी आक्रान्तों की प्रगति रुकी और भारत में मौर्य राज-वंश का शासन चक्र चलता रहा। चाणक्य ने किसी नई राजनीति का आविष्कार नहीं किया था। उन्होंने भारतीय आर्य राजनीति की बदली हुई परिस्थितियों के अनुसार नया रूप दिया था।

उसी प्रकार से लम्बे मुसल्मानी शासन काल और फ़िरंगी अंग्रेज़ों के शासन काल में भारतीय राज-नीतिक क्षेत्र में अनेक उलझनें तथा आए दिन संदेह-संशय पैदा करने वाली परिस्थितियाँ पैदा हो गई थीं। उनका हल कोई ऐसा व्यक्ति ही कर सकता था, जो चाणक्य की भाँति निष्काम भाव से तात्कालिक राज-नीतिक परिस्थितियों को दृष्टि में रखता हुआ भारत के राजवर्ग तथा प्रजावर्ग का मार्ग प्रदर्शन कर सके। ऋषि दयानन्द ने कई वर्षों तक भारत का भ्रमण करके जनता तथा राजा की शक्ति तथा स्थिति को अपनी

आंखों देखा था। उसको देखकर ही उन्होंने वेदों, मनुस्मृति तथा रामायण, महाभारत में प्रतिपादित राजनैतिक सिद्धान्तों को, व्यवहारिक रूप देने वाले राजनैतिक शास्त्र की रूपरेखा, मुख्यतया "सत्यार्थ प्रकाश" के छठे समुल्लास में तथा "ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका" के राज-प्रजा-धर्म में अंकित की है। इसके साथ साथ समय समय पर महाराणा उदयपुर तथा अन्य देशी-नरेशों को उनकी परिस्थितियों के अनुसार पत्र-व्यवहार द्वारा मार्ग प्रदर्शन करते रहे। इस पत्र-व्यवहार* में उनका राजनीतिक दृष्टिकोण हमारे सामने आता रहा है।

राजनीति शास्त्र के दो भाग होते हैं, एक सिद्धान्त और दूसरा उनका व्यावहारिक रूप देश के विदेशी राज्य के आधीन होने के कारण ऋषि दयानन्द व्यावहारिक राजनीति का प्रतिपादन नहीं कर सके। इसलिए उन्होंने केवल मात्र राजनीतिक सिद्धान्तों का ही मुख्य रूप से विवेचन किया। मूल-वेद मन्त्रों और संस्कृत श्लोकोंकी उनकी अपनी भाषा में की गई राजनीति विषयक व्याख्या ही उनके राजनैतिक दृष्टिकोण को जनताके सामने विशदरूप में रखती है।

राजा और प्रजा का पारस्परिक सम्बन्ध

"इसका यह अभिप्राय है कि एक को स्वतन्त्र राज्य का अधिकार न देना चाहिए किन्तु राजा जो सभापति तदाधीन सभा, सभाधीन राजा, राजा और सभा प्रजा के आधीन और प्रजा राज सभा के आधीन रहे।" (स. प्र. ६ स.)

"तीनों सभाओं (विद्या सभा, धर्म सभा, राज सभा) की सम्मति से राजनीति के उत्तम नियम और नियमों के आधीन सब लोग बर्तें? सबके हितकारक कार्यों में सम्मति करें; सर्व हित करने के लिए परतन्त्र और धर्मयुक्त कामों में अर्थात् जो जो निज के काम हैं उनमें स्वतन्त्र रहें।" आज कल की प्रचलित भाषा में 'वेलफेयर स्टेट' और 'सैक्युलर स्टेट' के स्वरूप को इसमें अच्छा लक्षण नहीं किया जा सकता। देश के राजनीतिक नेता यदि अपने सामने इस आदर्श को रखें, तो राष्ट्रभर के अनेक अन्दरूनी संघर्ष नहीं पैदा होंगे।

इसलिए तीनों अर्थात् विद्या-सभा, धर्म-सभा और राज-सभाओं में मूर्खों की कभी भरती न करें; किन्तु सदा विद्वान् और धार्मिक पुरुषों को स्थापन करें (स० प्र०)। इसी लिए ऋषि दयानन्द ने 'सत्यार्थ प्रकाश' के तृतीय समुल्लास में इस बात पर बल दिया है कि राज-नियम और प्रजा-नियम ऐसा होना चाहिए कि प्रत्येक नागरिक को बाधित रूप में शिक्षित किया जाए। पाश्चात्य राजनीति की परिभाषा में (Universal education must precede universal sufferage) सार्वजनिक राजनैतिक मताधिकार से जनता को बाधित रूप से शिक्षित करना चाहिए। जिसका लाभ समुदाय-विशेष के लिए या समुदाय विशेष द्वारा ही से संचालित न होकर राष्ट्रभर के होना चाहिए। जिसमें जनता का प्रत्येक सदस्य समान रूप से शिक्षा प्राप्त कर सके। तभी हम प्रजातन्त्र व जनतन्त्र राज्य के लाभों को प्राप्त कर सकेंगे।

---

*'ऋषि, दयानन्द के पत्र और विज्ञापन', सम्पादक: भगवद्दत्त, बी. ए. प्रकाशक: रामलाल कपूर ट्रस्ट, गुरुबाजार, अमृतसर।

यदि एक अकेला सब वेदों का जानने हारा द्विजों में उत्तम संन्यासी जिस धर्म की व्यवस्था करे, वही श्रेष्ठ धर्म है। क्योंकि एक अज्ञानियों के सहस्रों, लाखों, करोड़ों, मिलकर जो कुछ व्यवस्था करे, उसको कभी न मानना चाहिए।

भारत के वर्तमान संविधान में सबसे बड़ा दोष यही है कि इसमें सभाओं के प्रतिनिधियों के लिए ऐसी कोई व्यवस्था नहीं की गई है। जिसके अनुसार उनका धर्मात्मा तथा शिक्षित होना आवश्यक हो। राष्ट्रपति डा. राजेन्द्र प्रसाद ने भी इस कमी को स्वीकार किया था।

राजा व सभापति का उद्देश्य तथा मन्त्रियों के लिए आवश्यक गुण

स्वराज्य में और स्वदेश में उत्पन्न हुए वेदादि शास्त्रों के जानने वाले शूर-वीर जिनका लक्ष्य अर्थात् विचार निष्फल न हो और कुलीन अच्छे प्रकार सुपरीक्षित ७ वा ८ उत्तम धार्मिक चतुर 'सचिवान्' अर्थात् मन्त्री करे।

एक ही स्त्री के साथ विवाह करे ; दूसरी सब स्त्रियों को अगम्य समझ कर दृष्टि से भी न देखे।

और आप सदा राजकार्य में तत्पर रहे अर्थात् यही राजा का संध्योपासना आदि कर्म है। जो रात-दिन राजकार्य में प्रवृत्त रहना और राज काम बिगड़ने न देना।

(सत्यार्थ प्रकाश)

युद्ध नीति

जो धार्मिक राजा हो, उससे विरोध कभी न करे ; किन्तु उससे सदा मेल रखे और जो दुष्ट प्रबल हो, उसीके जीतने के लिए (सेनादि) प्रयोग करना चाहिए।

किन्तु कभी कभी शत्रु को जीतने के लिए उनके सामने से छिप जाना उचित है। क्योंकि जिस प्रकार से शत्रु को जीत सके, वसे काम करे। जैसा सिंह क्रोध से सामने आकर शस्त्राग्नि में शीघ्र भस्म हो जाता है ; वैसे मूर्खता से नष्ट-भ्रष्ट न हो जावे। (राजपुताना में राजपूत राजा इसी कमी के कारण अनेक बार हारते रहे।)

"चीता के समान छिपकर शत्रुओं को पकड़े और समीप में आए बलवान् शत्रुओं से सस्सा के समान दूर भाग जाए और पश्चात् उनको छल से पकड़े।"

"बुद्धिमान् लोग दण्ड ही को धर्म कहते हैं।"

स्वामी दयानन्द जी क्षत्रिय धर्म में हिंसा अहिंसा को साधन रूप में मानते थे और इसी लिए स्थान स्थान पर उन्होंने शस्त्र-विद्या सीखने का आदेश दिया। भारत वर्ष की वर्तमान अहिंसात्मक राजनीति

को वह एकान्त सत्य मानते थे। उन्होंने इस बात का अनुभव किया था कि पीड़ितों की रक्षा तथा पापियों के दमन के लिए हिंसा को साधन रूप में स्वीकार करना अनिवार्य है। राजा व सभापति के लिए शस्त्रास्त्र विद्या का जानना आवश्यक समझते थे।

"सब राजपुरुषों को युद्ध करने की विद्या सिखावें और आप सीखें तथा अन्य प्रजाजनों को सिखावें, जो पूर्व शिक्षित योद्धा होते हैं; वही अच्छी प्रकार लड़-लड़ा जानते हैं।" (सत्यार्थ प्रकाश ६ स०)

किसानों तथा साधारण जनता को क्या समझें?

"प्रजा को अपने सन्तान के सदृश्य सुख देवे ओर प्रजा अपने पिता सदृश्य राजा और राज पुरुषों को जाने। यह बात ठीक है कि 'राजाओं के राजा' किसान आदि परिश्रम करने वाले हैं। और राजा उनका रक्षक है। जो प्रजा न हो तो राजा किसका? और राजा न हो तो प्रजा किसकी कहावे? दोनों अपने अपने काम में स्वतन्त्र और मिले हुए प्रीति युक्त काम में परतन्त्र रहें। प्रजा की साधारण सम्मति के विरुद्ध राजा व राजपुरुष न हों और राजा की आज्ञा के विरुद्ध राजपुरुष व प्रजा न चले। यह राजा का राजकीय निज काम अर्थात् जिसको पालिटिक्स कहते हैं, संक्षेप से कह दिया। अब जो विशेष देखना चाहे, वह चारों वेद, मनुस्मृति, शुक्र-नीति, महा-भारत आदि में देख कर निश्चय करें।"

इस समय हमारे देश में राजनीति शास्त्र की शिक्षा का आधार यूरोपियन राजनीति शास्त्र के ग्रन्थ माने जाते हैं। भारतीय राजनीति शास्त्रों की भयंकर उपेक्षा की जाती है। भारत के स्वतन्त्र होने के बाद इस दिशा में कुछ परिवर्तन होने लगा है। भारतीय विश्व विद्यालयों में राजनीति शास्त्र की पाठविधि कोटिल्य अर्थशास्त्रादि को उचित स्थान मिलना चाहिए।

शासन तन्त्र का मूलाधार

विदेशी शासन काल में ग्रामों की अपेक्षा नगरों को शासन तन्त्र का मूलाधार बनाया जाता है। क्यों कि इस व्यवस्था से ही उन्हें शासन तन्त्र चलाने में सुविधा होती है। परन्तु स्वराज्य में स्वदेशी शासन तन्त्र में ग्राम को ही इकाई मानकर शासन प्रबन्ध व्यवस्था की जानी चाहिए। ऋषि दयानन्द ने इसी सिद्धान्त के अनुसार शासन प्रबन्ध की निम्न लिखित व्यवस्था निर्दिष्ट की है।

"इस लिए दो, तीन, पांच और सौ ग्रामों के बीच में एक राजस्थान, रक्खे. . . . .

और बीस बीस ग्रामों के पांच अधिपति और सौ-सौ ग्राम के अध्यक्ष और वे सहस्र सहस्र के दश अधिपति, दश सहस्र के अधिपति को लक्ष ग्रामों की राज-सभा को प्रतिदिन का वर्तमान जनाया करे। और वे सब राज-सभा महाराज-सभा अर्थात् सार्वभौम चक्रवर्ती महाराज सभा में सब भू-लोक का वर्तमान जनाया करे।" (सत्यार्थ प्रकाश)

इस उद्धरण में यह भावना स्पष्ट दिखाई देती है कि ग्राम को इकाई मानकर शासन-तन्त्र चलाना चाहिए और इन सबको एकरूप में ग्रथित कर राष्ट्रीयता ओर अन्तर्राष्ट्रीय भावमा को सहायक बनाकर चलना चाहिए।

राजनीति शास्त्र चर्चा को ऋषि दयानन्द ने इन शब्दों से समाप्त किया है:

"और यह समझें कि "वयं प्रजापतेः प्रजा अभूम" (यजुर्वेद १८।२९) हम प्रजापति अर्थात् परमेश्वर की प्रजा और परमात्मा हमारा राजा हम उसके किंकर भृत्यवत् हैं। वह कृपा करके अपनी सृष्टि में हमको राज्याधिकारी करे और हमारे हाथ से अपने सत्य न्याय की प्रवृत्ति करावें।"

ऋषि दयानन्द द्वारा प्रतिपादित राजनीति की इकाई देश मूलक, व जाति, वर्ग मूलक मेरे भाव के स्थान पर मानवता व आर्यत्व था। वह मनुष्यजाति को गुण रूप आर्य-अनार्य विभाग में बांट कर भारतीयता अंग्रेजियत आदि राष्ट्रीयता में विभाग करते थे। परन्तु पुस्तक में राष्ट्रीयता का आधार वर्गभेद व शरीर रचना भेद माना जाता था।

सत्यार्थ प्रकाश के दशवें समुल्लास में इसी सिद्धान्त की स्थापना की गई है। इसी प्रकार से सुराज्य और स्वराज्य में से स्वराज्य को उत्तम माना गया है और यह घोषणा की कि 'माता पिता के समान व्यवहार करने वाला विदेशी राज्य किसी भी अवस्था में स्वदेशी राज्य से अच्छा नहीं हो सकता।'

एक भाषा, एक शिक्षा, एक व्यवहार के साथ-साथ वह आवश्यक समझते थे कि राजनीति का आधार ब्रह्मचर्य होना चाहिए। भारतीय राजनीति में राजा के लिए संयमी होना आवश्यक माना गया है। मूर्तिपूजादि बुराईयों को भी वह भारतीय राजनैतिक स्वाधीनता के लिए हानिकारक समझते थे। इस लिए भी मूर्तिपूजा का खण्डन विशेष रूप से किया गया।

ऋषि दयानन्द द्वारा प्रतिपादित राजनीति में राजनीति को धर्म-सत्य-न्याय की स्थापना का साधन माना जाता है। युरोपियन राजनीति में धर्मों तथा आदर्शवादों के सिद्धान्तों को राजनैतिक स्वार्थों की पूर्ति का साधन बनाया जाता था। ऋषि दयानन्द ने इस मनोवृत्ति को अनुचित माना है।

वर्तमान युग में क्या अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति और क्या राष्ट्रीय राजनीति को यदि हम विश्व शान्ति या मानव जाति के लिए कल्याणकारी बनाना चाहते हैं, तो हमें ऊपर निर्दिष्ट-ऋषि दयानन्द द्वारा प्रतिपादित राजनैतिक दृष्टिकोण से—वर्तमान काल की राजनैतिक समस्याओं पर विचार करना चाहिए।

ऋषि दयानन्द को अपना आचार्य मानने वाले तथा आर्य समाज को मनुष्यमात्र को आर्य बनाने का साधन मानने वालों को विविध राजनैतिक क्षेत्रों में कार्य करते हुए इन मौलिक-सिद्धान्तों को आंखों से ओझल नहीं होने देना चाहिए। पौराणिक काल में, मुसल्मानी शासन काल में (शिवाजी, रामदास,

ब्रह्मेन्द्र स्वामी आदि को छोड़कर) भारत में, विशेषतः उत्तर भारत में, ऐसी प्रथा चल गई थी कि आध्यात्मिक नेता राजनीति को अस्पृश्य मानते थे। अपने ग्रन्थों में वह सब पापों की निन्दा भर्त्सना करते थे। परन्तु राजनीतिक पापों की चर्चा न करते थे। परन्तु ऋषि दयानन्द ने इस मनोवृत्ति को बदला। अपने ग्रन्थ 'सत्यार्थ प्रकाश' में आत्मा-परमात्मा, प्रकृति चर्चाओं के साथ साथ देश तथा विश्व की सामाजिक, राजनैतिक समस्याओं के भी हल उपस्थित किए। ऋषि दयानन्द वर्तमान युग के चाणक्य हैं और उनका 'सत्यार्थ प्रकाश' वर्तमान युग का कौटिल्य अर्थ शास्त्र है। इस स्थापना से ऋषि दयानन्द का राजनैतिक दृष्टिकोण जनता तथा राजनैतिक नेताओं के सामने स्पष्ट रूप में चित्रित हो जाता है। आशा है, राष्ट्र की विविध राज सभाओं में कार्य करने वाले कभी कभी 'सत्यार्थ प्रकाश' आदि दयानन्द के ग्रन्थों का राजनैतिक दृष्टिकोण से अध्ययन करने का क्रम जारी करेंगे। •

भीमसेन विद्यालंकार
अम्बाला छावनी

चीन में भारतीय पंडित

आचार्य परमार्थ

आचार्य परमार्थ उज्जैन के एक सुशिक्षित ब्राह्मण परिवार में लगभग ४९८ ई. में पैदा हुए। ये घुमक्कड़ तबीयत के आदमी थे। जवानी में ही घर छोड़कर पाटलिपुत्र (पटना) चले आए। ये संस्कृत भाषा एवं भारतीय दर्शन के अच्छे पंडित थे। ५३९ ई. में चीन का एक दूत-मंडल संस्कृत ग्रंथ और कुछ भारतीय पंडितों के चीन ले जाने के लिए पटना आया। परमार्थ इस अवसर को कब चूकने वाले थे। चीनी दूत के साथ समुद्र मार्ग से लंका, जावा आदि देशों का भ्रमण करते हुए ५४६ ई. में चीन पहुँचे।

नानकिंग में आचार्य परमार्थ रहने लगे। किन्तु उस समय चीन की राजनैतिक परिस्थिति अच्छी नहीं थी। इस लिए वे दक्षिण चीन चले गए। किन्तु यहाँ भी कुछ समय बाद अशान्ति छा गई। परमार्थ को दक्षिण चीन की राजधानी भी छोड़नी पड़ी। यद्यपि इन्हें अनेक बार स्थान परिवर्तन करना पड़ता था, फिर भी जो समय मिल पाता उसका उपयोग संस्कृत ग्रंथों का चीनी भाषा में अनुवाद करने में लगाते थे। लेकिन इस में कुछ संदेह नहीं कि चीन के उथल-पुथल से परमार्थ ऊब गए। ५५७ ई. के

आस पास इन्होंने बर्मा जाने का निश्चय किया और संभव है वहाँ से भारत आना चाहते हों। किन्तु अपने चीनी शिष्यों के आग्रह से उन्हें अपना इरादा बदलना पड़ा।

शांति क़ायम हो जाने पर आचार्य परमार्थ पुनः नानकिंग वापस आ गए और कुछ वर्षों तक वहीं साहित्य-साधना में लगे रहे। किन्तु एक बार जब मनुष्य का दिल टूट जाता है, तो उसे जोड़ना कठिन हो जाता है। परमार्थ का मन अशांत ही रहा। कुछ समय बाद उन्होंने फिर एक बार स्वदेश लौटने का संकल्प किया, किन्तु शिष्यों को जब गुरु का संकल्प मालूम हुआ तो वे अत्यंत दुःखी हुए। अन्त में बन्दरगाह पर ही उन्हें थोड़े समय के लिए रुकना पड़ा। कुछ दिनों बाद अपने शिष्यों को समझा-बूझा कर परमार्थ पश्चिम जानेवाले एक जहाज़ से भारत के लिए चल पड़े। पर भाग्य देखिए! हवा की प्रतिकूलता के कारण उन्हें कैंटन में ही जहाज़ से उतर जाना पड़ा। यहां के लोग परमार्थ की प्रसिद्धि से परिचित थे। स्थानीय शासक ने उनका बड़ा स्वागत किया। किन्तु परमार्थ की मानसिक स्थिति अच्छी नहीं थी। धीरे-धीरे उन्हें अपने जीवन से विरक्ति हो गई। चित्त की उदासीनता से तंग आ कर उन्होंने आत्म हत्या करने की कोशिश की, पर असफल रहे। इस घटना के बाद क्रमशः उनका स्वास्थ्य गिरता ही गया। अन्त में सरस्वती का वह वरद पुत्र ७१ वर्ष की आयु में ५६९ ई. में अपनी मातृभूमि से हज़ारों मील दूर, उसके पुनर्दर्शन की अतृप्त इच्छा लिए ही इस संसार से चल बसा।

आचार्य परमार्थ का जीवन अशांतिपूर्ण रहा, किन्तु उनका काम बहुत ठोस था। २३ साल के चीन प्रवास के जीवन में उन्होंने चीनी भाषा को ७० संस्कृत ग्रंथों का रूपान्तर प्रदान किया। आज इनमें से ३२ ग्रंथ नष्ट होने से बच रहे हैं। परमार्थ ने ही सबसे पहले चीनी जनता को सांख्य दर्शन से परिचय कराया। आचार्य वसुबन्धु का जीवन चरित्र चीनी भाषा को उन्होंने ही प्रदान किया। उनके द्वारा अनूदित संस्कृत ग्रंथों में श्रद्धोत्पाद शास्त्र, अभिधर्मकोष शास्त्र, विज्ञप्तिमात्रसिद्धि, तर्कशास्त्र आदि प्रमुख हैं। परमार्थ अपने जीवन से सदा असंतुष्ट रहे, किन्तु उनका साहित्यिक जीवन पूर्ण सफल रहा। प्रसिद्ध जापानी विद्वान् तकाकुसू ने लिखा है, "परमार्थ का अनुवाद कार्य बहुत उत्तम और संतोषप्रद था। हम उनके कृतज्ञ हैं कि उन्होंने अपने अनुवाद द्वारा वसुबन्धु, असंग, ईश्वर कृष्ण, नागार्जुन, अश्वघोष, वसुमित्र और गुणमति जैसे प्रकांड भारतीय पंडितों की रचनाओं को सुरक्षित रखा।"

आचार्य धर्म गुप्त

आचार्य धर्म गुप्त काठियावाड़ के रहनवाले थे। वे बड़े साहसिक और घुमक्कड़ थे। २३ वर्ष की आयु में वे कन्नौज आए जो उस समय विद्या का एक प्रमुख केन्द्र था। वहाँ वे जिस विहार में ठहरे उसका नाम था 'कोमुदी-संघाराम'। उनकी प्रतिभा और अध्ययवसाय से लोग बहुत प्रभावित हुए। दो वर्षों तक बड़े परिश्रम से उन्होंने वहाँ बौद्ध साहित्य का अध्ययन किया। पच्चीस साल की आयु में उनकी भिक्षु दीक्षा हुई। इसके बाद वे उत्तर पंजाब गए जहाँ एक राजकीय संघाराम में ठहरे। उन्हीं दिनों चीन से कुछ भिक्षु बौद्ध साहित्य के संग्रह के लिए आए थे और उसी राजकीय संघाराम में ठहरे हुए थे। इन्हीं यात्रियों से धर्म गुप्त को पता लगा कि चीन में भी बौद्ध धर्म का प्रचार है। बस, फिर क्या था। उन्होंने चीन जाने का निश्चय कर लिया।

आचार्य धर्म गुप्त पंजाब से कपिशा पहुँचे और वहाँ दो साल रहे। उत्तर से आनेवाले व्यापारियों की जबानी उन्होंने चीन के बारे में अनेक प्रकार की जानकारी प्राप्त की। कपिशी से चल कर तुखार बदख्शाँ होते हुए ताशकुर्गान पहुँचे। यह रास्ता बहुत ही दुर्गम और कठिन था। पर धर्म गुप्त जैसा धुन का पक्का समर्थ साधक मार्ग में होने वाले इन कष्टों को क्या समझता ! सभी प्रकार की आपत्तियों को झेलते हुए वे अपने लक्ष्य की ओर बढ़ते जा रहे थे। एक वर्ष तक ताशकुर्गान में ठहरने के बाद वे काशगर पहुँचे। इस प्रदेश में भारतीय धर्म और सभ्यता का खूब प्रचार हो चुका था। मध्य ऐशिया उन दिनों भारतीय संस्कृति, साहित्य और कला का प्रमुख केन्द्र था। इसलिए धर्म गुप्त काशगर के राजकीय विहार में दो वर्षों तक रुक गए।

आचार्य धर्म गुप्त काशगर से कूचा गए। कूचा, जो आजके चीनी तुर्किस्तान का एक भाग था, उन दिनों सभी दृष्टि से बृहत्तर भारत का ही एक अंग था। यहां की राजभाषा संस्कृत थी, लिपि भारतीय, साहित्य भारतीय और एक शब्द में यहाँ का सब कुछ भारतीय था। यहाँ उन दिनों संस्कृत के बड़े बड़े धुरंधर पंडित रहते थे। बौद्ध धर्म ही प्रधान धर्म था। पश्चिम देशों से चीन का व्यापार इसी देश होकर होता था। इसलिए यह व्यापार का भी प्रमुख केन्द्र था। यहाँ के भारतीय वातावरण में धर्म गुप्त दो वर्षों तक रहे।

कूचा का राजा भारतीय संस्कृति और धर्म का अनन्य उपासक था। आचार्य धर्म गुप्त की विद्वत्ता और अनुभव से वह इतना प्रभावित हुआ कि दो सालके बाद भी वह उन्हें कूचा से बाहर नहीं जाने देना चाहता था। पर धर्म गुप्त जैसे भ्रमणशील व्यक्ति कब एक जगह रहना पसंद कर सकता था। जब राजा और जनता के इस प्रेममय प्रतिबन्ध को तोड़नेका और कोई उपाय नहीं देखा तो वे मौका पा एक दिन चुपके से ग़ायब हो गए।

कूचा से चलकर आचार्य धर्म गुप्त करासार (अग्निदेश), तुर्फान और हामी होते हुए ५९० ई. में चीन पहुँचे। कूचा से चीन पहुँचने में भी धर्म गुप्त को काफ़ी समय लग गया। क्योंकि मार्ग में पड़नेवाले प्रदेशों में भारतीय धर्म और संस्कृति का बड़ा प्रचार था। हर जगह लोग भारतीय पंडितों का स्वागत करते थे और चाहते थे कि वे वहीं रहें। कुछ वर्षों तक धर्म गुप्त चाङ-गान में ठहरे और फिर लो-याङ आ गए। चीन में रहते इन्होंने बहुत से संस्कृत ग्रंथों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। भारतीय साहित्य और धर्म के प्रति चीनी जनता में अनुराग बढ़ाने में वे बहुत सहायक हुए। अनेक प्रदेशों का भ्रमण करने से इनका अनुभव बहुत विस्तृत और गहरा था। इन्होंने अपनी यात्रा का एक वर्णन भी लिखा था, पर दुर्भाग्यवश आज वह प्राप्त नहीं है। अगर कभी यह ग्रंथ मिला तो इतिहास की एक बड़ी चीज़ होगी। इस पुस्तक में ऐसे विषयों पर प्रकाश डाला गया है, जिनकी भारतीय लेखकों ने बड़ी उपेक्षा की है। इस ग्रंथ में दस अध्याय थे, जैसे (१) उत्पादन, (२) जलवायु, (३) भवन और रहने के तरीके, (४) सरकार, (५) रीति-रिवाज, (६) खाना-पीना, (७) पोशाक, (८) शिक्षा, (९) धन और व्यापारिक वस्तुएँ, और (१०) पहाड़, नदी, राज्य, शहर एवं उत्सव। बारीक से बारीक दृष्टि रखनेवाले ह्वेनत्सांग जैसे चीनी यात्री भी मध्य एशियाई देशों की इतनी चीज़ों के वर्णन में असफल रहे हैं।*

आचार्य धर्म गुप्त की मृत्यु लो-याङ में ही ६१९ ई. में हुई। भारत के इस महान् विद्वान् और पर्यटक की कीर्ति को हम भूल चुके हैं, पर चीनी जनता उन्हें आज तक याद करती है। कहते हैं, इन्होंने

*श्री. प्र. च. बागची—इंडिया एण्ड चायना

की असभ्य जातियों में अब तक भारतीय धर्म, संस्कृति और ज्ञान का संदेश नहीं पहुँचा है। उस समय तक भारतीयों को विश्व के जितने भी सभ्य देशों का ज्ञान था उन सब देशों में वे अपना संदेश पहुंचा चुके थे। किन्तु भारतीय सीमा के उत्तरी देश दुर्गम और असभ्य होने के कारण अछूते रह गए थे। इसलिए उन देशों में भारतीय सभ्यता का प्रचार करने का संकल्प सर्व प्रथम प्रभाकर मित्र के हृदय में ही उठा। इस महान् संकल्प को पूरा करने के निमित्त उन्होंने अपने दस चुने हुए भिक्षु और गृहस्थ शिष्यों को साथ ले नालन्द से रवाना हुए।

आचार्य प्रभाकर अपने शिष्यों सहित उत्तर का भ्रमण करते हुए पश्चिमी तुर्किस्तान पहुँचे। कुछ दिनों में यहाँ की असभ्य जातियों के हृदय में इन भारतीय पंडितों ने अपना स्थान बना लिया। तुर्क सरदार इन्हें आदर की दृष्टि से देखने लगा। वह इनका उपदेश बड़े ध्यान से सुनता था। धीरे धीरे तुर्क सरदार और वहाँ की जनता भारतीय धर्म और संस्कृति में दिलचस्पी लेने लगी।

६२० ई. में चीन का एक प्रतिनिधि मंडल तुर्क दरबार में आया। प्रभाकर मित्र इसके सम्पर्क में आए और चीन जाने की इच्छा प्रकट की। किन्तु तुर्क जनता और उसका सरदार आचार्य प्रभाकर मित्र और उनके साथियों को छोड़ना नहीं चाहते थे। चीनी दूत के प्रयत्न से चीन सम्राट् ने तुर्क सरदार के नाम एक आज्ञापत्र निकाला कि वह प्रभाकर मित्र और उनके साथियों को चीन आने दे और साथ ही इस दुस्साहसी भारतीय पंडित को भी चीन आनेका निमंत्रण दिया। तुर्क सरदार को सम्राट् की आज्ञा माननी पड़ी और ६२७ ई. में चीनी राजदूत के साथ आचार्य प्रभाकर मित्र चीन पहुँचे।

चीनी सम्राट् आचार्य प्रभाकर मित्र की प्रतिभा, पांडित्य और योग्यता से बहुत प्रभावित हुआ। उसने प्रभाकर मित्र से भारतीय बौद्ध साहित्य का चीनी भाषा में अनुवाद करने की प्रार्थना की। १९ विद्वान् भिक्षुओं की एक कमिटी प्रभाकर मित्र को अनुवाद कार्य में मदद देने के लिए बनाई गई। इनमें दो भारतीय भिक्षु भी थे। एक वर्ष तक काम करने के बाद ही चीनी विद्वानों में प्रभाकर मित्र की बड़ी इज्जत होने लगी। किन्तु कनफ्युशस के धर्मानुयायी इस भारतीय पंडित का सम्मान देखकर जलने लगे और अन्त में वे सम्राट् को बहकाने में सफल हुए। सम्राट की उदासीनता देखकर प्रभाकर को बड़ी चोट लगी। वे इतने निराश हुए कि ६३३ ई. में ६९ वर्ष की आयु में उनका शरीरान्त हो गया। उनके शिष्योंने अपने महान् गुरु की याद में उनकी अस्थियों को लेकर एक स्तूप निर्माण किया।

आचार्य प्रभाकर मित्र सिर्फ तीन ही भारतीय ग्रंथों का चीनी भाषा में अनुवाद कर सके। इन तीनों ग्रंथों में आचार्य असंगकृत महायान सूत्रालंकार सूत्रका अब तक चीनी भाषा में अनुवाद नहीं हुआ था। शेष दो ग्रंथ-रत्नताराधारिणी सूत्र और आचार्य नागार्जुनकृत माध्यम कारिका और उसपर उन्हींके शिष्य आर्यदेव की टीका का अनुवाद क्रमशः धर्मरक्ष और कुमारजीव ने पहले भी किया था।

आचार्य बोधिरुचि

आचार्य बोधिरुचि का जन्म दक्षिण भारत में ५७१ ई. में हुआ था। बारह वर्ष आयु में ही ये गृह त्याग कर इधर-उधर घूमते-फिरते अध्ययन करते रहे। जाति से ये ब्राह्मण थे। घुमक्कड़ होते हुए भी इन्होंने ब्राह्मण दर्शन, ज्योतिष, गणित और आयुर्वेद का गहरा अध्ययन किया था। उन दिनों शास्त्रार्थ का बड़ा महत्व था। पांडित्य-प्रदर्शन का सब से अच्छा सुलभ तरीका यही माना जाता था।

पंडित लोग एक राज्य से दूसरे राज्य जाते थे और वहाँ के पंडितों से शास्त्रार्थ करते थे, यदि जीत गए तो धन और यश दोनों ही पाते थे। इस तरह जो जितना ही भ्रमण कर अपने विरोधी मतानुयायियों को परास्त करता था वह उतना ही यशस्वी और पंडित माना जाता था। बोधिरुचि धन की कामना नहीं रखते थे, पर ज्ञान की पिपासा बहुत तीव्र थी। इसलिए घूमते रहते थे। कहते हैं, एक बार यशघोष नाम के एक बौद्ध भिक्षु के साथ बोधिरुचि का शास्त्रार्थ हुआ। यशघोष से ये बहुत प्रभावित हुए और बौद्ध धर्म स्वीकारकर बौद्ध साहित्य का अध्ययन करने लगे। थोड़े ही समय में इनकी गणना बौद्ध पंडितों में होने लगी।

बोधिरुचि अभी दक्षिण भारत में ही थे कि ६९२ ई. में चालुक्य दरबार में चीन का एक दूतमंडल आया। बोधिरुचि के पांडित्य की प्रसिद्धि इस समय तक दूर दूर फैल चुकी थी। चीनी दूत को इन्होंने बहुत प्रभावित किया। उसने इनसे चीन चलने की प्रार्थना की। बोधिरुचि दूत की प्रार्थना को सहर्ष स्वीकारकर समुद्रमार्ग से ६९३ ई. में चीन पहुँचे।

चीन पहुँचकर आचार्य बोधिरुचि ने संस्कृत ग्रंथों का चीनी भाषा में अनुवाद करना प्रारंभ किया। उनकी सहायता के लिए चुने हुए विद्वानों की एक समिति बनाई गई। इस समिति में अनेक प्रसिद्ध चीनी विद्वानों के अतिरिक्त कई भारतीय पंडित भी थे। पहले एक एक संस्कृत शब्दों का चीनी पर्यायवाची शब्द चुना जाता, फिर अनुवाद करके वाक्य ठीक किया जाता और अंत में शैली दुरुस्त करके पूरे अर्थ पर विचार किया जाता था। इस प्रकार आचार्य बोधिरुचि ने कुल ५३ भारतीय ग्रंथों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। इन ग्रंथों में से आज सिर्फ ४१ ग्रंथ चीनी त्रिपिटक में मौजूद हैं।

आचार्य बोधिरुचि द्वारा अनूदित ग्रंथों में सबसे महत्वपूर्ण है रत्नकूट। इसमें ४९ सूत्र हैं। वास्तव में इस ग्रंथ का एक-एक सूत्र एक-एक ग्रंथ है। चीनी, जापानी और कोरियाई जीवन पर इस ग्रंथ ने बहुत प्रभाव डाला। इस ग्रंथ समूह में सबसे अधिक पढ़ा जाने वाला सूत्र है 'सुखावती व्यूह'। जापान का 'जोदो' निकाय (सम्प्रदाय) का आधार यही ग्रंथ है। बृहत् सुखावती व्यूह का २५२ ई. में संघवर्मन् ने और लघुसुखावती व्यूह का ४०५ ई. में कुमार जीव ने अनुवाद किया था। इस ग्रंथ की लोकप्रियता का अनुमान इससे भी लगाया जा सकता है कि इसके बारह बार चीनी भाषा में अनुवाद किया गया। अनेक चीनी और जापानी विद्वानों ने इसकी टीका और व्याख्या लिखी। इसके आधार पर अनगिनत ग्रंथ लिखे गए।

बौद्ध धर्म में बौद्धिकता की ही प्रधानता है; भक्ति के लिए बहुत कम स्थान है, किन्तु सुखावती व्यूह ने मानव हृदय की इस प्यास को मिटाने का बहुत हदतक प्रयत्न किया है। पता नहीं बौद्ध धर्म में भक्ति पद्धति कहां से आ घुसी। कुछ विद्वानों की राय है कि यह ईसाइयों की देन है। मेरी राय में इसके लिए उतनी दूर जाने की जरूरत नहीं है। भारत स्वयं भक्तों का देश है। भारतीय समाज में बुद्धिजीवियों की कमी नहीं रही है, किन्तु यह भी सही है कि भक्ति का स्थान सदा से प्रमुख रहा है। आचार्य बोधिरुचि ने रत्नकूट ग्रंथ-समूहका अनुवाद ७०६ ई. में शुरू किया और वह ७१३ ई. में समाप्त हुआ। इस पवित्र ग्रंथ की समाप्ति के दिन जो समारोह हुआ उसमें चीनी सम्राट् और साम्राज्ञी स्वयं उपस्थित हुए।

अपने दीर्घ जीवन का अंतिम क्षण समीप जान एक दिन आचार्य बोधिरुचि ने शिष्यों से कहा, "जैसे पानी की बूंद धीरे धीरे नष्ट हो जाती है, वैसे ही मेरा शरीर दुर्बल होता जा रहा है। यद्यपि मैं बहुत दिनों तक जीवित रहा, पर अब अनुभव करता हूं कि अन्त निकट आ रहा है। अब तक अपनी दुर्बलता दूर करने के लिए भोजन करता रहा हूं। अब मैं अन्त के निकट आ गया हूं, फिर इसे और लम्बा करने से क्या लाभ ?" और तबसे उन्होंने अन्न ग्रहण करना छोड़ दिया ; ५५ दिनों तक निराहार रहे। फिर शिष्यों से कहा, "मुझे अब शांत वातावरण की आवश्यकता है। किसी प्रकार का शोर मत करो।" इस प्रकार इन्होंने अपने शिष्यों, मित्रों और प्रशंसकों के बीच १५६ वर्ष की दीर्घ आयु में ७२७ ई. में मातृ-भूमि से हज़ारों मील दूर इस नाशवान् शरीर का विसर्जन किया।*

आचार्य अमोघ वज्र

आचार्य अमोघ वज्र एक तांत्रिक बौद्ध भिक्षु थे। तंत्रवाद कब बौद्धधर्म में घुसा, यह बताना कठिन है। पर इसका प्रारंभ वैदिक साहित्य से ही होता है। "मंत्र से मतलब उन शब्दों से है, जिनमें लोग मारण, मोहन, उच्चाटन आदि की अद्भुत शक्ति मानते हैं। यह हम वेदों में भी पाते हैं। ॐ वौषट्, श्रौषट् आदि शब्द ऐसे ही हैं, जिनका प्रयोग यज्ञों में आवश्यक माना जाता है। मंत्रों का इतिहास ढूंढ़िए तो आप इन्हें मनुष्य के सभ्यता पर पैर रखने के साथ साथ तरक्की करते पाएँगे। प्राचीन बाबुल (बेबिलोन), असुर, मिस्र आदि देशों में भी मंत्रका अच्छा ज़ोर था। फलतः मंत्रयान बौद्धों का नया आविष्कार नहीं है। केवल प्रश्न है कि बौद्धों में इसका आरंभ कैसे हुआ ? बुद्ध के समय में ऐसे शान्ति-सौभाग्य लाने वाले पूजा-प्रकार या कल्प प्रचलित थे। गन्धारी-विद्या या आवर्तनी-विद्या पर भी लोग विश्वास रखते थे। बुद्ध ने इन सबको मिथ्याजीव (झूठी रोजगारी) कह कर मना किया ; तो भी इससे उनके शिष्य इन विद्याओं में पड़ने से रुक न सके।†

अमोघ वज्र बौद्ध धर्म के तांत्रिक सम्प्रदाय में थे जो बाद में वज्रयान कहलाया। इनके गुरु वज्र बोधि मध्य-भारत के ईश्वर वर्मन् नाम के किसी राजा के लड़के थे। भारतीय तंत्र-साहित्य का इन्होंने अच्छा अध्ययन किया था और इसमें इन्हें प्रसिद्धि भी खूब मिली थी। ये पल्लव राजा नरसिंह पोतवर्मन् के गुरु थे। बाद में लंका गए जहां अमोघ वज्र से मुलाकात हुई। अमोघ वज्र के मातापिता ब्राह्मण थे और उत्तर भारत के रहने वाले थे, पर बाद में वे लंका जाकर बस गए थे। ७०० ई. के आस-पास लंका में ही इनका जन्म हुआ था। जब ये १५ वर्ष के थे तभी वज्रबोधि ने इन्हें बौद्धधर्म की दीक्षा दी।

लंका द्वीप के राजा ने एक दूत-मंडल चीनी सम्राट् के दरबार में महाप्रज्ञापारमिता सूत्र और अन्य उपहार सामग्री के साथ भेजा। वज्रबोधि और अमोघ वज्र भी इस दूत मंडल के साथ ७२० ई. में चीन पहुँचे। कुछ वर्षों तक तंत्रवाद का प्रचार करते रहने के बाद वज्रबोधि अपने प्रिय शिष्य अमोघ वज्र को तांत्रिक साहित्य संग्रह के लिए भारत भेजना चाहते थे। किन्तु ७३२ ई. में उनकी मृत्यु हो गई। असमय में गुरु की मृत्यु हो जाने के कारण अमोघ वज्र को कुछ समय के लिए अपनी भारत-यात्रा स्थगित करनी पड़ी।

* श्री. प्र. च. बागची—इं. एण्ड चा.

† श्री. रा. सांकृत्यायन-पुरातत्व निबंधावली।

७३६ ई. में अमोघ वज्र ने भारत के लिए चीन छोड़ा। वे समुद्र-मार्ग से लंका आए। उन दिनों लंका में महायान के साथ साथ वज्रयानका भी बहुत जोर था। वहां का दन्तविहार ‡ उस समय वज्रयान (तंत्र यान) का एक प्रमुख केन्द्र था। अमोघ वज्र तीन वर्षों तक वहां तंत्रविद्या का अध्ययन करते रहे। फिर लंका से भारत आए और अनेक तांत्रिक ग्रंथों के साथ ७४६ ई. में चीन वापस चले गए। अपने बारे में एक पत्र (७७१ ई.) लिखते हुए उन्होंने चीन सम्राट् को लिखा, "बाल्यावस्था से मैंने अपने गुरु (वज्रबोधि) की चौदह साल (७१९ ई. से ७३२ ई.) तक सेवा की और योगसिद्धांत (तंत्र यान) की उनसे शिक्षा पाई। तब मैंने भारत के पांच भागोंका भ्रमण किया और अनेक शास्त्रों और सूत्रों का संग्रह किया। पांचसौ से अधिक विभिन्न ग्रंथ जो अब तक चीन नहीं आ सके उनके साथ ७४६ ई. में मैं (चीन की) राजधानी लौट आया। उस वर्ष से और अब (७७१ ई.) तक ७७ ग्रंथों का मैंने (संस्कृत से चीनी भाषा में) अनुवाद किया है।†

अमोघ वज्र की विद्वत्ता, साहस और तंत्रज्ञान से चीनकी जनता बहुत प्रभावित हुई। सम्राट् के लिए उन्होंने अनेक अवसरों पर पुरश्चरण आदि किया। इससे सम्राट् बहुत प्रसन्न हुआ और इनके खर्च के लिए कुछ भूमि जागीरके रूप में प्रदान किया। सम्राट् इनकी अलौकिक करामतों से इतना प्रभावित हुआ कि इन्हें "ज्ञानकोष" की उपाधि से विभूषित किया। इतना सम्मान प्राप्त करने पर भी अमोघवज्र के हृदय से मातृभूमि की ममता नहीं गई। वे वृद्धावस्थामें ही सही एक बार भारतमाता का दर्शन करना चाहते थे। अनेक प्रयत्न करने के बाद उन्हें भारत आने की आज्ञा मिली। अभी वे चीनकी सीमासे बाहर भी नहीं हो पाए थे कि जनता और दरबारियों के आग्रह से सम्राट् ने अपनी पूर्व आज्ञा रद्द कर दी। फलत: अमोघ वज्र को पुनः राजधानी वापस आना पड़ा।

अमोघ वज्र ने संगठित और क्रमबद्ध रूप से चीन में भारतीय तंत्रवाद की स्थापना की। किन्तु यह ध्यान में रखने की बात है कि तंत्रवाद का जो विकृत और गंदा रूप भारत और तिब्बत में था उसका प्रचार उन्होंने वहाँ नहीं किया। यह भी एक कारण हो सकता है कि सातवीं सदी तक तंत्रयान अपने विकृत रूप में आया हो, अथवा पंच मकार का सेवन अभी गुप्त रूप से ही होता हो। पर आठवीं सदीसे तो मदिरा और स्त्री तंत्र साधना के लिए परमावश्यक साधन माना जाने लगा। भारत में बुद्ध की निर्मल शिक्षा और भारतीय समाज के पतन का बीज तंत्रयान में अच्छी तरह दिखाई देता है। "गुह्य समाजतंत्र के अनुसार इन तंत्र साधकों के लिए प्राणिहत्या, झूट बोलना, चोरी करना और व्यभिचार करना भी गुह्य था।* ये तांत्रिक लोग किसी प्रकार के नैतिक नियम को नहीं स्वीकार करते थे। इनकी राय में इनकी ही मान्यता बुद्धकी शिक्षा थी। जो सही बुद्ध वचन थे उन्हें ये मिथ्या कहते थे। अपनी लड़की और माता के साथ भी व्यभिचार करना

---

‡ लंका का वह दन्त विहार आज भी कंडी नगर में मौजूद है और भगवान् बुद्ध का दांत वहां कहते हैं, सुरक्षित है।

† श्री प्र. कु. मुखर्जी द्वारा इं. लि. इनचा. एं. फार ईस्ट में उद्धृत।

* प्राणिनश्च त्वया घात्या वक्तव्यं च मृषा वचः।
अदत्तं च त्वया गुह्यं सेवन योषितामपि ॥

ये धर्म ही मानते थे। * भक्ष्याभक्ष्य, पेयापेय, और गम्यागम्य से ये 'योगी' अपने को पूर्णतः विमुक्त मानते थे। * बहुत दिनों तक इनका सारा काम गोपनीय रहा। जहाँ के राजा इनके शिष्य होते थे वहाँ यह सम्प्रदाय खुलकर अपना काम करता था। सच पूछा जाए तो आठवीं-नवीं सदी का भारतीय समाज नाक तक इस गुह्य समाजके कृत्यों में डूबा था। ब्राह्मण से लेकर शूद्र तक और राजा से लेकर रंक तक इसमें शामिल थे। नैतिक स्तर इतना गिर गया था कि विदेशी आक्रान्ताओं के एक छोटे दल का भी भारत मुकाबला नहीं कर सका।

भारतीय तंत्रवाद जो आज भी अपने उसी विकृतावस्था में किसी न किसी रूप में भारत में मौजूद है, चीन की भूमि पर उस समय जड़ नहीं जमा सका। ऊपर हम कह आए हैं कि जिस विकृतावस्था में तंत्रवाद भारत में था उस रूप में वह चीन नहीं पहुँचा था फिर भी चीनी जनता ने उसका विशेष स्वागत नहीं किया। पर जापान में तंत्रयान का एक परिष्कृत रूप में अच्छा प्रवेश पाया। जापान में तंत्रयान के संस्थापक थे कोबो देयशी जिन्होंने चीन में तंत्र का अभ्यास किया था। अमोघ वज्र ने १०८ भारतीय ग्रंथों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। ७७४ ई. में ७१ वर्ष की आयु में चीन में ही इन्होंने शरीर त्याग किया।

---

* जनयित्रीं स्वसारं च स्वपुत्रीं भागिनेयिकाम्।
कामयन् तत्त्वयोगेन लघु सिध्येद्धि साधकः॥

—प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि।

* घातयेत् त्रिभवोत्पत्ति परवित्तानि हारयेत्।
कामयेत् परदारान्वै मृषावादमुदीरयेत्॥
कर्मणा येन व सत्वा कल्पकोटिशतान्यपि।
पंच्यन्ते नरके घोरे तेन योगी विमुच्यते॥
भक्ष्याभक्ष्यविनिर्मुक्तो पेयापेयविवर्जितः॥
गम्यागम्यविनिमुक्तो भवेद् योगी समाहितः॥
चाण्डालकुलसंभूतां डोम्बिकां वा विशेषतः।
जुगुप्सितकुलोत्पन्नां सेवयन् सिद्धिमाप्नुयात्॥
शुक्रं वरोचनं ख्यातं परं वज्रोदकं तथा।
स्त्रीन्द्रियं च यथा पद्मं वज्रं पुंसेन्द्रियं तथा॥

—ज्ञानसिद्धिः

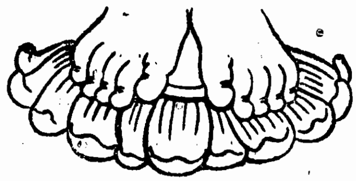

सुमन वात्स्यायन
राष्ट्रभाषा प्रेस, वर्धा

काव्यमालिका

कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः

* * *

देवस्य पश्य काव्यम्

—वेद

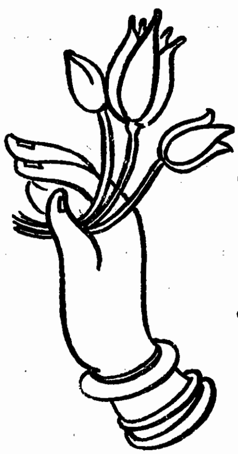

मनोमय

★

तुम हंसते हंसते घृणा बन गए मन में
जन मंगल हित हे

अब काटो जग का अंधकार,
भू के पापों का विषम भार,
मेटो मानव का अहंकार
चिर-संचित तुम्हें समर्पित हे
युग परिवर्तन में !
तुम तपते तपते द्वेष बन गए मन में
जन मंगल हित हे।

अब करो जीर्ण से संघर्षण
फिर हरो धरा मन के बंधन
युग की जड़ता हो नव चेतन
गति दो नूतन को इच्छित हे,
जग जीवन रण में !
तुम सहते सहते रोष बन गए मन में
जन मंगल हित हे !

फिर मृत्यु भीत जन हों निर्भय,
मन प्राण ले सकें नव निर्णय,
उर करे नहीं तुम पर संशय
तुम घट घट वासी परिचित हे
चिर जन्म मरण में !
फिर प्रेम, बनो तुम न्याय क्षमा मन मन में
जन मंगल हित हे।

मानव अंतर हो भू विस्तृत
नव-मानवता में भव विकसित
जन मन हो नव चेतना ग्रथित
जीवन शोभा हो कुसुमित हे
फिर दिशि क्षण में !

तुम देव, बनो चिर दया प्रेम जन जन में
जग मंगल हित हे !

इलाहाबाद

—सुमित्रा नन्दन पंत

गीत

★

(१)

राग उतर फिर फिर जाता है, बीन चढ़ी ही रह जाती है

बीत गया युग एक तुम्हारे
मन्दिर की ड्योढ़ी पर गाते,
पर अन्तर के तार बहुत-से
शब्द नहीं झंकृत कर पाते,

एक गीत का अन्त दूसरे
का आरम्भ हुआ करता है

राग उतर फिर फिर जाता है, बीन चढ़ी ही रह जाती है

(२)

अपने मन को ज़ाहिर करने
का दुनिया में बहुत बहाना,
किन्तु किसी में माहिर होना
हाय, न मैंने अब तक जाना,

जब-जब मेरे उर में, सुर में
द्वन्द्व हुआ है, मैंने देखा,

उर विजयी होता, सुर के सिर हार मढ़ी ही रह जाती है
राग उतर फिर-फिर जाता है, बीन चढ़ी ही रह जाती है

(३)

भाषा के उपकरण करेंगे
व्यक्त न मेरी आश-निराशा,
सोच बहुत दिन तक मैं बैठा
मन को मारे, मौन बना-सा,

लेकिन तब थी मेरी हालत
उस पगलाई-सी बदली की

बिन बरसे-बरसाए नभ में जो उमड़ी ही रह जाती है
राग उतर फिर-फिर जाता है, बीन चढ़ी ही रह जाती है

(४)

चुप न हुआ जाता है मुझ से
और न मुझ से गाया जाता,
धोखे में रख कर अपने को,
और नहीं बहलाया जाता

शूल निकलने-सा सुख होता
गान उठाता जब अम्बर में

लेकिन दिल के अन्दर कोई फांस गड़ी ही रह जाती है
राग उतर फिर-फिर जाता है, बीन चढ़ी ही रह जाती है

नई दिल्ली

—हरिवंश राय "बच्चन"

एक भारतीय प्रेम गीत

★

स्त्री

मेरे प्रिय! मेरा हृदय तुम्हारी उंगलियों में
ठीक उसी तरह सरकता हुआ जा पहुँचता है
जैसे कि बीन की आवाज़ सुन कर एक साँप
जहाँ रात्रि को सुगन्धपूर्ण वायु
एक प्रेमी की तरह
चमेली के बग़ीचों और शिरीष कुंजों में
विहार करती है
पके हुए रंगीन फलों की डालियों पर
जहाँ सुन्दर तोते
फूलों की तरह इकट्ठे हो जाते हैं

* * *

पुरुष

जिस तरह गुलाब की पंखड़ियों में
सुगन्ध रहती है
उसी तरह—ठीक उसी तरह
तुम्हारा हृदय मेरे हृदय में निवास करता है
या फिर उस तरह
जैसे कि अशोक वृक्ष में किसी पक्षी का घोंसला

प्रिये, चुपचाप बिलकुल चुपचाप रहो
जब तक कि प्रातःकाल,
श्वेत ताल के क्षेत्रों पर
अपने सोने के तम्बुओं को लगा देता है

हैदराबाद—दक्षिण

—सरोजिनी नायडू

कवि

★

मैं कवि, अपनी लेखनी को
अपने ही रक्त में डुबो कर मनुष्यों के लिए लिखता हूं
मेरा प्रत्येक गीत
जीवन से थके-हारों को
ऐसे लोगों को, जिनके लिए जीवन बीच बीच में
नीरस होजाता है
नया रक्त और नव जीवन प्रदान करता है

मैं अपने हृदय के रुधिर में से
ऐसे गीतों का प्रणयन करता हूँ
जो कि धरती से लेकर सुदूर तारों भरे आकाश में तक व्याप्त हो जाते हैं

मेरी कविता की प्रत्येक पंक्ति
देव और मनुष्य के भेद को दूर कर देती है

मैं इसलिए नहीं लिखता
क्योंकि मैं लिख सकता हूँ
मैं इसलिए लिखता हूँ
क्योंकि लिखना मेरा धर्म है
मेरा जन्म समय के प्रारम्भ के साथ हुआ था
मैं मिट्टी के कणों में से फूलों को विकसित करता हूँ
युगों तक लोग मेरी वाणी को बोलते हैं
मेरे शब्दों में ध्रुव सत्य है,
स्रष्टा मनुष्य से बड़ा और कौन-सा भगवान् है?

नई दिल्ली —हरीन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय

झलक

★

खुश रहता हूँ, चुप रहता हूँ
चुप रह कर दिल की कहता हूँ

हलका हूँ सब कुछ सहता हूँ
ऊपर ही ऊपर रहता हूँ

मैं डाली पर हूँ तो क्या है
मैं मिट्टी पर हूँ तो क्या है

मैं सेजों पर हूँ तो क्या है
मैं काँटों पर हूँ तो क्या है

हो ज्योति दिवस की तो क्या है
हो रात अँधेरी तो क्या है

जैसा हूँ वैसा रहता हूँ
जब देखो हँसता रहता हूँ

जब खिलता हूँ तब हँसता हूँ
जब झड़ता हूँ तब हँसता हूँ

हँसना ही है जीना मेरा
हँसना ही है मरना मेरा

अपनी मैं आप बनावट हूँ
अपनी मैं आप सजावट हूँ

अपने में आप चहकता हूँ
अपने में आप महकता हूँ

जो मुझ से आकर मिलता है
उसका दिल मुझ सा खिलता है

जो कुछ इस जग से पाता हूँ
वह सब जग को दे जाता हूँ

मैं हर रंगत में खिलता हूँ
मैं हर दिल की कोमलता हूँ

छोटा हूँ दिल-सा प्यारा हूँ
सब की आँखों का तारा हूँ

जो मुझे मारने आता है
मेरी खुशबू फैलाता है

जिसने मुझ को पहचाना है
उसने ईश्वर को जाना है

जो मुक्ति जगत् से पाते हैं
फूलों में झलक दिखाते हैं

हैदराबाद —वंशीधर विद्यालंकार

गीताञ्जलि के दो मेघ गीत

★

(१)

घिरे मेघ पर मेघ घुमड़ कर, बढ़ता सघन अँधेरा,
मुझे द्वार पर बिठा रखा क्यों तुमने यहां अकेला ?
रहता फँसा बिबिध काजों में
जन में जिस दिन काज,
लेकर के आश्वास तुम्हारा
बैठा हूँ पर आज
मुझे द्वार पर बिठा रखा क्यों तुमने यहां अकेला ?

यदि तुम मुझे न दर्शन दोगे कर मेरी अवहेला
किस प्रकार फिर भला कटेगी मेरी बादल-वेला ?
दूर दूर तक आँख बिछाए
दरस लालसा से अकुलाए
क्रंदन करते प्राण हमारे इस बतास की वेला,
मुझे द्वार पर बिठा रखा क्यों तुमने यहां अकेला ?

* * *

(२)

सावन घन की गहन छाँह में
तुम निज गोपन चरण बढ़ा कर,
सब की दीठ बचाकर, नीरव
निशा सदृश तुम आए
आँख मूंदता है प्रभात औ'
वायु पुकारा करे वृथा
निलज नील आकाश ढाँककर
निबिड़ मेघ हैं छाए
कूजनहीन भूमि कानन की
द्वार घरों के बन्द हुए ;

पथिक कौन तुम आज अकेले
पथिकहीन पथ आए ;
हे प्रियतम ! हे सखा अनन्यतम
खुला द्वार मम घर का
स्वप्न समान सामने से मत
जाना प्रिय ! ठुकराए

अनु : मुरलीधर श्रीवास्तव 'शेखर'
छपरा

—रवीन्द्रनाथ ठाकुर

मेरे मन

★

अन्तर्मुख अन्तर्मुख हो जा, रे मेरे मन
उझक उझक देखेगा तू किस किस के लाञ्छन

कर निज दर्शन मानव की प्रवृत्ति को निहार
लख इस नभचारी का यह पंकिल जलविहार
तू लख इस नैष्ठिक का यह व्यभिचारी विचार

यह लख निज में तू तब करना मूल्यांकन
अन्तर्मुख अन्तर्मुख हो जा रे मेरे मन

बहुत सरल है करना अन्यों का तिरस्कार
पर, है दुष्कर करना निज पर पाहन प्रहार
अन्यों का चीर हरण तो है सधा व्यापार

कठिन कर्म जो है वह है निज का नग्न करण
अन्तर्मुख अन्तर्मुख हो जा रे मेरे मन

देखे हैं कितने ही तूने विश्वासघात
और लखे हैं तूने अन्यों के स्वरनिपात
पर क्या है स्मरण अपनी भी रंचवात

अन्यों की निन्दा के पहले कर उसे स्मरण
अन्तर्मुख अन्तर्मुख हो जारे मेरे मन

कृष्ण अनादर से यदि यमुना को श्याम कहे
तो वह निज कर में दर्पण को क्यों न गहे
आत्म साध्य हो तो क्यों जग में अविचार रहे

मानव की वीथी में क्यों बिखरें कण्टक गण
अन्तर्मुख अन्तर्मुख हो जा रे मेरे मन

करे हेम यदि अपना आदि वस्तु रूप वरण
हो क्यों रज करे स्वर्ण स्पर्द्धा का भार वहन
ऊँचे नीचे क्यों हों माटी माटी के कण

क्यों न थमे अपने ही आप दोष का वितरण
अन्तर्मुख अन्तर्मुख हो जा रे मेरे मन

नई दिल्ली

—बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

विज्ञान और धर्म

★

विज्ञान धर्म को धारण कर
कल्याण विश्व का करता है

आविष्कारों की कथा, ज्ञान गरिमा का तत्व बढ़ाती है
पाकर सुबुद्धि बल भौतिकता, उपकारमयी बन जाती है
जल थल, नभचारी यानों ने, दूरी का भेद मिटाया है
गति तीव्र इन्द्रियों की करके मानव महत्व दरसाया है

जग को हितकारी होता है, सबके दुख-संकट हरता है
विज्ञान धर्म को धारण कर कल्याण विश्व का करता है

रोगों का रौरव दूर किया भोगों के साज सजाए हैं
भौतिक जीवन के उपादान, यन्त्रादि लोक ने पाए हैं
तन को सुख साधन दान किए मनरंजन के सामान दिए
लोहे लकड़ी जड़ द्रव्यों को प्रतिभा ने प्राण प्रदान किए,

सत सेवा में संलग्न सदा, अघता अधर्म से डरता है
विज्ञान धर्म को धारण कर कल्याण विश्व का करता है

जब स्वार्थवाद का दुष्ट दैत्य निजता-परता फैलाता है
रच रच कर भीषण महायुद्ध, तब वज्र बाण बरसाता है
विज्ञान नाश का कारण क्यों अज्ञान सर्व संहारक है
मानव दानव का दम्भ, दर्प, पशुता पाखण्ड प्रचारक है

कुटिला कुनीति का क्रूर भाव विष विषम भावना भरता है
विज्ञान धर्म को धारण कर कल्याण विश्व का करता है

शुभ साधन बुद्धि विपर्यय से दुख के कारण बन जाते हैं
अपना अस्तित्व मिटाने को मानव नर मेध रचाते हैं
उपभोग वस्तु का सदा भावना मनोवृत्ति पर निर्भर है
शिव शंकर है विज्ञान कभी और कभी घोर प्रलयंकर है

संकल्प बुद्धि का प्रेरक है शुचिता शुभ सत्य अमरता है
विज्ञान धर्म को धारण कर कल्याण विश्व का करता है

हो अपने को प्रतिकूल, न वह व्यवहार अन्य के साथ करो
धन, धाम, धरा, अधिकार, नारि, सुख-सुविधा औरों की न हरो
तुम जियो जगत् में बन्धुभाव से, सब लोगों को जीने दो
विज्ञान धर्म के मधुर मिलन का प्रेमामृत नित पीने दो

सद्भाव, स्नेह, समता, ममतामय-पथ ही ठीक ठहरता है
विज्ञान धर्म को धारण कर, कल्याण विश्व का करता है

आगरा —हरिशंकर शर्मा

मुक्ति

मुक्ति लेकर क्या करूँगा ?
आह ! क्या निःसंग होकर
शून्यता ही में तरूँगा ?
मुक्ति लेकर क्या करूँगा ?

मुक्त तो था ही किसी दिन,
फिर कहाँ से बन्ध आया ?
और मुझको इस जगत् के
खेल में किसने बुलाया ?
क्या किसी निर्जन सुमन-सा
मैं अकेला ही झड़ूँगा ?
मुक्ति लेकर क्या करूँगा ?

हे अमर सुख के निकेतन,
हे जगत्–लीला–विहारी !
मैं नहीं, तो फिर कहाँ तुम ?
और यह लीला तुम्हारी ?
व्योम में क्या वायु-सा मैं
आह एकाकी मरूँगा ?
मुक्ति लेकर क्या करूँगा ?

तुम सखा जीवन-मरण के,
है अमर यह प्रीति-बन्धन !
तुम जहाँ, मैं भी वहीं हूँ ;
नित्य हम दोनों चिरन्तन !
जब लिया पहचान तुमको,
तब भला किससे डरूँगा ?
मुक्ति लेकर क्या करूँगा ?

मुक्ति क्या उससे पृथक्, जो
विश्व-कौतुक चल रहा है?
बन्ध वह क्या, प्रेम जिसमें
प्रिय! तुम्हारा पल रहा है?

तुम रहोगे साथ, तो
संसार-सागर में तरूँगा!
मुक्ति लेकर क्या करूँगा?

पटना

—आरसी प्रसाद सिंह

गीत

★

जलती पाकर स्नेह तुम्हारा मेरे मन की दीपशिखा यह !

कालरात्रि-सी अमा निशा यह
जाग रही अपनी लट खोले,
चिर कृतान्त की प्रतिमा प्रतिपल
डोल रही निज घूंघट खोले,

झंझा झोंकों का अदम्य आन्दोलन
दिशि-दिशि में उद्वेलित,

जलती फिर भी ज्योति एक निर्द्वन्द्व निराकुल निष्कम्पित रह !
जलती पाकर स्नेह तुम्हारा मेरे मन की दीपशिखा यह !

धूल उड़ रही है वन-वन में,
प्रखर ताप से दग्ध दिशांचल,
कोकिल की काकली स्तब्ध
फूलों की धुली-पुंछी स्मिति कोमल

ढोता-सा उपवन यह जैसे
मधु ऋतु का शव त्रस्त हृदय से,

फिर भी दूर-सुदूर कहीं से आती चिर सुगन्ध यह मह-मह !
जलती पाकर स्नेह तुम्हारा मेरे मनकी दीपशिखा यह !

सूखे सर-सरिता नद निर्झर,
सम्मुख विस्तृत सैकत मरु-पथ,
मृगमरीचिका—छलना दुस्सह,
ताप-प्रहार भयंकर अश्लथ,

शेषश्वास-सा पथिक, क्लान्ति से
जर्जरमानस जर्जरअन्तर,

फिर भी आती दूर कहीं से कोई जीवन-धारा बह-बह !
जलती पाकर स्नेह तुम्हारा मेरे मन की दीपशिखा यह !

किसने बोये अमृत-बीज
जो मरण-भूमि में उग-उग आते ?
मिटते रहते बनते रहते,
मिटते-मिटते बन-बन जाते !
किसका शुभ आशीष शीश पर
धर कर जग आश्वस्त अटल-सा ?

किसकी अमर कहानी संसृति का कण-कण जाता है कह-कह ?
जलती पाकर स्नेह तुम्हारा मेरे मन की दीपशिखा यह !

—जितेन्द्रकुमार

पो. खगडिया,
जिला-मुंगेर, बिहार

कवि का पाथेय

★

कवि:—

मैं कवि हूँ, गाता गीत ज़माने के
मैं कवि हूँ, रचता पद वीराने के
मैं कवि हूँ, दुख में, सुख में मुसकाता
निश और दिवा का जीवन से नाता
सुन्दर—कविता के प्राणों की बाती
शिव, सत्य, सभी तो मीठे से साथी
है मुझे कला की मंज़िल को पाना
शिव, सत्य, सुन्दरम् बाना पहिनाना

कला :—

संशय मत कर, तू पास चला आ मेरे
लिख नित्य नए, नव जीवन गीत घनेरे
यह सृष्टि सभी तो देखे मधुर सबेरा
मानव के मन का भागे सभी अँधेरा
नव ज्योति किरण का दीप जला प्राणों में
दे गाती को कुछ नया नया गानों में
मैं नई प्रेरणा, नई कल्पना दूंगी
मैं स्वयं मधुर से गीतों में विहरूंगी

कवि :—

तुम मुझे बुलाती देवि ! चला आता हूं
कुछ नई प्रेरणा, नई शक्ति पाता हूँ
जब मिला तुम्हारा मुझको दृढ संबल है
तो निश्चय मंज़िल पाना हुआ सरल है
पर अभी अँधेरा पद पर जो गहरा है
कुछ शंकाओं सा अन्तर में ठहरा है

भावना :—

तुझ में मानव का बल है, नव जीवन है
तुझ में आगे बढ़ने का नव यौवन है
जब कदम बढ़ा तो—बढ़ता चल आगे ही
मंज़िल मिलती है—आगे बढ़ने से ही
मैं कवि तेरे जीवन की साधिन बनकर
नव भावों की की दुनिया में ले जाऊँगी
वह सभी सजग हो जाएगा कविता में
मैं जो तेरे मन, प्राणों में गाऊँगी
बस बढ़ा चला चल, आगे—आगे—आगे
जिससे रुकने का भाव सदा को भागे
रुकना, जीवन को मौत बना देता है
बढ़ना, मुरदे में प्राण उगा देता है

कवि :—(चैतन्य होकर, नए उत्साह से)

जब तुम मेरी मीठी साधिन हो गोरी
नव जीवन का रस मुझे दिए जाओगी
तो नया सबेरा होगा इस कविता का
तुम नई दुलहिन सी मन में मुसकाओगी

युग :—(कविका उत्साह देखकर, डाह से, विरोध में)

उस नई किरण के उगने के पहले ही
मैं घोर अमां का कालापन भर दूंगा
वह नव प्रकाश काला होकर निकलेगा
अमृत भी शिव का कालकूट उगलेगा
कुछ नई समीक्षा होगी इस दुनिया में
जिससे नन्हीं सी किरण खेल जाएगी
मधु नया सबेरा होने से पहले ही
उस किरण का मौत गीत गाएगी

(अनेकों विघ्न बाधाएँ जिससे नई कविता
मुरझा सी जाती है और कवि की हिम्मत
भी पस्त सी हो जाती है।

कवि : (निराशा से)

नूतन दुनिया को नहीं कभी माया है
नूतन की होती कुछ विचित्र काया है
है जिसे देखकर दुनिया शोर मचाती
नूतन से सारी जगती ही घबराती
जब जब धरती पर नया सबेरा आया
धरती चीखी चिल्लाई, नाची, रोई
बस चट्टानों सी अड़ी राह में नव के
जब नई दिशा ने नई चेतना बोई

भावना : (हिम्मत दिलाती हुई)

पर नया सबेरा फूटा है, फूटेगा
नूतन सदैव आया है आएगा
जड़ता, चेतन को नहीं रोक पाएगी
मृत में जीवन का रूप सद गाएगा
क्या तुम, प्रकाश को रोक कभी पाया है ?
कांटों ने ही फूलों को विकसाया है
इसलिए न घबराओ ! कवि बाधाओं से
रुकने वाला क्या जीत कभी पाया है ?
तू पथ निर्मित कर, बढ़ अपनी मंज़िल पर
वह तुझे बुलाती कला, उधर आगे को
तू नहीं अकेला मैं भी साथ रहूँगी
कुछ थाम ज़रा हिम्मत से मन-धागे को

कवि : (नए जोश से बढ़ता हुआ)

मंज़िल पाने को मेरे डग व्याकुल हैं
इस ह्रई दौड़ में, नए प्राण आगे हैं
नव नई भावना, नया लोक लाई है
वे सभी बंध तो स्वयं . आज भागे हैं
मैंने पाई वह कला रूप की मंज़िल
जिससे जीवन को मिलती नई जवानी
मैं दूंगा जग को नवजीवन की मस्ती
जिससे भागेगी जड़ता, दुख—वीरानी

मेरे गीतों में आज नई तड़पन है
मेरे गीतों में अमृत भरी-जवानी
में बाँट रहा हूँ जगती में जीवन को
जिससे फूटी है जन में नई कहानी

युग : (प्रसन्न होकर, कवि से)

जीवन देने से जीवन-तन बनता है
प्राणों से प्राणों का नव क्रम चलता है
तूने दी जीवन नव आभा मदमाती
मानव में फूटी नई किरण मुसकाती
तू जीता, मेरी हार हुई सुन्दरतर
जीवन तो बढ़ता चलता है धरती पर---

---प्रो० मित्तल, एम. ए.

कल रात स्वप्न में देखा मैंने

★

(एक गीति-कथा)

कल रात स्वप्न में देखा मैंने आया हूँ मैं द्वार तुम्हारे
आँगन के इस ओर छोर पर खड़ा उपेक्षित एक किनारे
बीच विशद आँगन की उस मौलश्री के तल शयन बिछाए
बैठी हो तुम सम्राज्ञी-सी घने केश कन्धों पर छाए
गोरी, तनु, ऊर्मिल अंगुलियों बुन रहीं 'किरोसे' से स्वेटर
अनियारी स्वप्नभरी आंखें रचती माया उन डोरों पर
वे बड़ी पलक दो बार उठीं कुछ दर्पभरी, कुछ मानभरी
तुम देख चुकीं मैं खड़ा वहां पर फिर न हाय आंखें "उघरीं"
अवहेलाभरी मुक्तता से उस अलक-जाल को लहरा कर
सांपों से मानों खेल उठीं चम्पक अंगुलियों में भर-भर
जैसा कि सरिश्ता है अपना, सोचा था दौड़ी आओगी
दोनों हाथों से खींच पकड़ तुम गिरफ्तार कर ले जाओगी
फिर वही दुरन्त चपल कौतुक, भोली उत्सुक जिज्ञासाएँ
ज़िदभरे प्रश्न चञ्चल अल्हड़, रक्खोगी घंटों उलझाए

* * *

कल तक मेरी उँगली पर जो क्रीड़ा करती थी मचल-मचल
उसकी सम्मोहन-सीमा पर मैं खड़ा इशारे को क़ायल !
मेरा सब मान, गर्व-गौरव, बह चला विफल पानी-पानी
सब ज्ञान-गठरियाँ हुईं व्यर्थ—लगती थी कोरी नादानी
उन चञ्चल लहरों के भीतर ऐसी थी तिमिर-गर्भ माया !
ऐसी अभेद्य पर्वतमाला बन गई, मृदुल लहरिल काया ?
चाहा बढ़ कर तोड़ूं सीमा, कुछ हँसी-खेल में बहला लूं
चिर परिचित रेशम ज़ुल्फ़ों को अपनी आंखों से सहला लूं
पर सब साहस, पुरुषार्थ, ज्ञान औ, गुरुता मेरी स्तम्भित थी
विधि-लिपि मेरे जीवन की उन बुनते फन्दों में कीलित थी।

लड़खड़ाते पैरों लौटा मैं हाय, सर्वहारा
आकाश मुक्त बन गया मुझे, आत्मा की युग-युग की कारा

*   *   *

चिर परिचित बजी चूड़ियाँ वे, बल खाती आ तुम खड़ी हुई
फिर वही चपल लीलावन्ती दरवाज़ा रोके अड़ी हुई
मैं बोला "क्यों नाराज़ हुई, 'उस दिन' मुझसे ऐसे रूठी ?"
बोली : "सपना देखा होगा, यह बात सरासर है झूठी !"
मैं शर्माया, बन गया खिलौना उन लहराती बाहों का
उड़ चला अनन्तों के भीतर, नीचे जल था चिर चाहों का
कारा टूटी, पर सागर है, इस पर तिरने का अन्त नहीं
चिर चञ्चल क्षितिज पुतलियों के, इस यात्रा का सीमन्त नहीं

बम्बई

—वीरेन्द्र कुमार जैन

मैं तुम्हें पहचान लूँगा

★

मैं तुम्हें पहचान लूंगा
जन्म जन्मों में कहीं भी तुम मिली मैं जान लूंगा
मैं तुम्हें पहचान लूंगा

दूर जीवन-गिरि शिखर पर तुम रहो ज्यों नीलतारा
चीन्ह लूंगा किन्तु मैं नीचे घटा से मुख तुम्हारा
मैं तुम्हें पहचान लूंगा

काल सीमाहीन है अगणित समेटे युग-युगान्तर
है विपुल संसार कितना क्या दिखोगी तुम न क्षण भर
मैं तुम्हें पहचान लूंगा

काँपते लयकार से जिसके विहग-नवरश्मि-निर्झर
लख तुम्हें मुझमें बजेगा उस अनामी राग का स्वर
मैं तुम्हें पहचान लूंगा

जग उठेगी दीप्ति तन में प्राण में उल्लास-ज्वाला
दामिनी-सी जो तड़प प्रतिरोम कर देगी उजाला
मैं तुम्हें पहचान लूंगा

दूर बे पहचान युग में भी तुम्हारा तेज उज्ज्वल
खींच मेरे आत्म को भरता रहेगा नित नया बल
मैं तुम्हें पहचान लूंगा

रावर्टसन कालेज, जबलपुर

—रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'

गीत

★

वंशी मत छेड़ो, स्वर बंधन बन जाएगा
ऐसे मत टेरो, सारा गांव जग जाएगा
माना ; तुम अम्बर से विस्तृत पथ पर तप कर,
बादल बन कर मेरी गलियों में आए हो
मेरी अपनी पीड़ित आहों के अधरों पर,
भावी मुस्कानों की आशा बन छाए हो
पर, मन को घेरो कुछ रिमझिम संकेतों से–
खुल कर मत बरसो, दिल मेरा बह जाएगा

बंधु ! टूट जाएँगे अपने सोए जग के,
पूछेगा गांव 'कौन जादूगर आया है'?
'किसकी वंशी का स्वर सम्मोहन
वशी-करण मन्त्रों सा, सबके प्राणों में अलसाया है'
सूने-पन के पाहुन ! विव्हल मन को थामो,
जादू मत मारो जी उन्मन हो जाएगा"
मर्यादा की सांपिन कड़ियां पग में लिपटीं,
लज्जा की बैरिन दीवारें भी जगती हैं
पहरू से खनक खनक उठते हैं पग-नूपुर
चोरों सी सासें यह चौंक चौंक उठती हैं
परदेसी पंथी ! आकुल घड़ियों में बिलमों–
आऊँगी मैं तब, जब साहस सध जाएगा
वंशी मत छेड़ो, स्वर बंधन बन जाएगा
ऐसे मत ठेरो, सारा गांव जग जाएगा।

८, गुर्टू छायालय, बनारस

—रवीन्द्र भ्रमर

अमर प्रेम

★

प्राण ! जबतक एक भी कण स्नेह का
सरस करता लोक की मरु भूमि को,
एक भी स्पन्दन हठीले हृदय का
वायु-मण्डल को विकम्पित कर रहा ;

निरख प्राची में उषा के हास को
विहँसते जब तक सुमन उद्यान में,
खोलतीं कलियां उनींदे पलक दल
स्पर्श से जबतक हठीले वायु के ;

अनिल की कोमल तरंगों पर लहर,
बाल रवि की रश्मियां पर रेशमी
थिरकती जबतक रँगीले लास से
प्रिय ! सरोवर की सुकोमल वीचियां ;

कण्टकों से विद्ध होकर भी सदा,
पंक में गिर, भीगकर जलधार में
निठुर मालिन की, नवीन गुलाब पर
प्राण देती प्राण ! जब तक मधुकरी ;

सांध्य-नलिनी की निमीलित क्रोड़ में
बद्ध होकर भी, दलों के संकुचित
हर्षमय परिरम्भ में, जबतक मधुप
प्यार करता बाल नलिनी को प्रिये !

उपल-वर्षा को सहन कर धीर से
तज प्रलोभन नीरनिधि, सर, सरित का
स्वाति जल के एक अबतक बिन्दु पर
तृषित चातक निमिष गिन गिन काटता ;

"पी कहां" की ध्वनि हृदय की पीर-सी
चीरती उर, प्रेम के मधु-सूत्र-सी

उठ पपीहे के वियोगी कण्ठ से
छू क्षितिज के छोर जबतक गूंजती ;
पवन की मन्थर लहर पर घूमते
किरण-गर्भित बादलों-से रेशमी
इन्द्र धनुषी पंख फैला, मेघ पर
मुग्ध होकर नाचता जबतक शिखी ;

नित जला तिलतिल हृदय के स्नेह को
कर तिमिर को दान शुचि आलोक का,
विश्व गति का पन्थ ज्योतित कर रहे
जल रहे जबतक निशा के दीप हैं ;

प्राण के सन्ताप से अपने विकल
वेदिका पर ज्योति की बलिदान-से
प्राण अर्पण शलभ जल जल कर रहे
बाल-रवि पर तारकों-से प्रात के ;

डालियों में मंजरित सहकार की
भ्रमर-गुंजित निभृत नील-निकुंज में
लीन-सी कोकिल मधुर रस घोलती
चीर नभ, जबतक निरन्तर कूकती ;

मधुर वीणा की सुरीली तान के
बँध सुनहले सूत्र में, जबतक मृगी
ताल-पूर्ति समान आती-सी खिंची
मूक प्रतिध्वनि-सी विपिन के अंक से ;

दूर प्रियतम के, सुधा की धार-से
स्निग्ध-कर-चुम्बित अँगारे स्नेह से
चुन, उसे अपलक दृगों से देखती
जी रही जबतक चकोरी चाह-सी ;

काल-सरि के कूल से दिन-रात में
धूप-छाया-से मिलन औ विरह के
मधुर लय-संगीत में सुख-दुःख के
कोक जीवन का अनुक्रम रच रहे ;

शैवलिनि जबतक धरा की प्यास-सी
बाहु फैलाकर प्रलम्बित कूल-सी
ले तरंगित हृदय शतशत चाह से
नीरनिधि का कर रही अभिसार है;

आंसुओं से सघन जीवन-तिमिर धो,
क्षितिज पर पलकें बिछाकर ज्योति-सी,
तारकों के दीप लेकर विधु-मुखी
खोजती जबतक दिवा को यामिनी;

दिवस निज शतशत करों से पोंछ कर
यामिनी के पलक भीगे, तिमिर को
लीन कर आलोक में जबतक प्रिये!
दे रहा वरदान एकाकार का;

एक स्वर की लहर के दो छोर-से
समव्यथित हो एक भाव-अभाव से
प्रेमियों के हृदय जबतक मलय की
करुण लय पर अमर स्पन्दित हो रहे;

चौंक उठते श्रवण परिचित कण्ठ से,
सिहर उठते अंग परिचित स्पर्श से,
पुलक उठती श्वास परिचित गन्ध से,
अधर परिचित अधर का रस जानते;

हृदय जबतक मूक उर के भाव को
आँसुओं की मौन भाषा में प्रिये!
श्रवण करता, अधर जबतक अधर को,
नयन नीरव नयन को पहचानते;

एक ही चिर ज्योति के आलोक से
दूर भी दीपित रुचिर दो बिन्दु-से,
एक उर, दो देह से, तबतक सदा
मैं तुम्हारा, और तुम मेरी प्रिये!

कोटा

—डा० रामानन्द तिवारी शास्त्री

भाग्य और कर्म

★

कौन हिला जाता है मेरे जीवन का विश्वास !

वह अजेय मानव, कि देवता भी जिनसे डरते हैं
पृथ्वी ही क्या ? राज्य स्वर्ग पर भी जो कर सकते हैं
पुण्य चरित्रों से जिनके इतिहास बना करते हैं
हरिश्चन्द्र से खड़े राह में वही बिका करते हैं !

फूलों पर भी जहाँ राम की रो रो रात गुजरती
और सत्य की सीता को मिलता है बनवास !

मानव ने नापा भू-नभ को अपने एक चरण से !
मानव जो हारा न कभी अविराम प्रगति के प्रण से !
बाँध नहीं पाईं बाधाएँ जिसकी मुक्त रवानी--
किन्तु होड़ ली जिसने सम्मुख आए जरा मरण से

मानव जिसकी शक्ति प्रगति का अंतिम उदाहरण है !
भाग्यवाद है क्या उस ईश्वरता का चरम विकास ?

युग युग से पर अजय आत्मबल मानव का कहता है
शक्तिवान् ठोकरें समय की कब तक सह सकता है
अपने कर्मों से जब अपना भाग्य बना करता है !
भाग्य भुजाओं में बन्दी है उससे क्यों डरता है ?

कर्मवीर बदला करते हैं किस्मत की आवाज़ !
कायर ग्रहण किया करते हैं भाग्यवाद के पाश !

लक्ष्य दूर है, कठिन कर्म की काँटों भरी डगर है !
जय से हो लगी जीवन की सम्मुख क्षेत्र समर है!
लेकिन आत्मा से महान् क्या क्षुद्र देह का डर है !
शाश्वत है तो सुरभि, फूल हर डाली का नश्वर है !

दे सकता है ज्योति दीप-सा जीवन जलने वाला
अमर हुआ करता है उसकी मिट्टी का इतिहास !

कानपुर. --कुमारी श्यामा श्रीवास्तव

जीवन का संकल्प

★

जीवन का संकल्प आज साकार, न होगा तो कब होगा ?

पथ ने कुसुमित स्वप्न सजाए
भावों ने मंगल स्वर गाए
कण कण कहता वही सिद्धि का
स्वामी जो इस पर बढ़ आए

आज मनुजता का अभिनव शृंगार, न होगा तो कब होगा ?
जीवन का संकल्प आज साकार, न होगा तो कब होगा ?

लहर लहर की है अभिलाषा
तट की विजय बने परिभाषा
झंझा से खिलवाड़ न हो पर
रहे न जग में कोई प्यासा

वर्तमान का माझी अब यदि पार, न होगा तो कब होगा ?
जीवन का संकल्प आज साकार, न होगा तो कब होगा ?

युग ने सारे बंधन तोड़े
युग ने वैभव के घर फोड़े
युग ने स्वार्थ अहं, लिप्सा के
पथ हैं 'पंचशील' से मोड़े

अब कर्मों का क्षेत्र मुक्ति का द्वार, न होगा तो कब होगा ?

बहु-जन हित अब भावी का आधार, न होगा तो कब होगा ?
जीवन का संकल्प आज साकार, न होगा तो कब होगा ?

इलाहाबाद

—शांति मेहरोत्रा

पौरुष

★

मैं मनु का हूँ पुत्र हरी धरती का बेटा
मैंने अपनी क्रोड़ बीच यह विश्व समेटा
अनजाने पथ चला, स्नेह से जग को सींचा
देख स्वप्न, फिर स्वप्न लोक को भू पर खींचा
स्नेह-शान्ति की सृष्टि सदा मुझको भाती है
अग-जग पर मेरी मीठी ममता छाती है
शान्ति उपासक, किन्तु क्रान्ति से कब भय खाता?
बनता तब तक मुझे नहीं संघर्ष सुहाता
किन्तु कूद संघर्ष बीच जब मैं पड़ता हूँ
ध्येय ध्यान में लिए, प्राप्ति हित जब अड़ता हूँ
रोक न सकता मुझे कभी कोई है पथ में
दर्शन देती मुझे सफलता, इति क्या, अथमें
पाप-प्रलोभन नहीं विपथ मुझ को कर पाते
गिरि से ऊंचे विघ्न नहीं बाधक बन पाते
मेरे बल में प्राण भरा करता है निश्चय
प्रबल आत्म-विश्वास निरन्तर कहता "जय जय"
मैं बढ़ता हूँ और विघ्न हटते जाते हैं
ज्यों झंझा में मेघ स्वयं छटते जाते हैं
सिद्धि मिले, या नहीं, मुझे श्रद्धा साधन में
"किया कर्म" सन्तोष यही क्या कम जीवन में?
प्रभु से मांगू विजय? विजय क्या फिर जीवन की
आत्म बंचना नहीं करूं ले ओट विनय की
कान्त कामना यही कि बल अपना दो सम्बल
लक्ष्य और गतिमान् रहे जीवन का प्रतिपल
श्रम-सीकर का दान पन्थ नित लेता जाए
मेरा दृढ़ संकल्प प्रेरणा देता जाए
घिरे घोरतम भले पंथ में रजनी काली
पथ दिखलाती रहे प्रबल पौरुष की लाली"

वर्धा

—रामेश्वर दयाल दुबे

गीत

★

प्राण अपरिचित ! मुझमें तुममें
सच कहती सम्बन्ध कहीं है !

बार बार लगता है मानो
कोई दूर पुकार रहा है,
उस पुकार की वंशी पर
इस उर के राग उतार रहा है
उस पुकार के इंगित पर फिर
प्राणों का संगीत सिहरता—
सच कहती हूँ उस पुकार—
इन गीतों में सम्बन्ध कहीं है !

बार बार कुछ अनजानी सी
उर को छेड़ छेड़ छिप जाती,
झीने घन-पट-ओट इन्दु ज्यों
झलक झलक ओझल हो जाती,
मिल कर भी अप्राप्य सदा के !
तुमको क्या खोना, क्या पाना—
सच कहती, पर इसी खेल से
मेरा चिर सम्बन्ध कहीं है !

बार बार छल रहा निरन्तर
युग युग से इक छल आकर्षक,
शलभों सा सर्वस्व लुटाते
जिस पर तन मन से आराधक,
किन्तु कभी ऐसा भी होता
छलने वाला ही छल जाता—
सच कहती इस छल से मेरे
सब कुछ का सम्बन्ध कहीं है !

मुझको तो विश्वास मुझे तुम
एक दिवस अपना हो लोगे,
किन्तु कदाचित् तुमको भय है
जैसे तुम मुझको खो दोगे ;
तभी न रचते रहते बन्धन
नित्य निरन्तर मुझे बाँधने—
सच कहतो, मेरी विमुक्ति का
बन्धन से सम्बन्ध कहीं है !

लखनऊ

—'दीप्ति'

श्री विनायकरावप्रशस्तिः

★

(१)

श्रीविनायकरावाय, वित्तसाचिव्यधारिणे।
आर्यनार्यातिनाशाय, नमस्ते कीर्तिशालिने ॥

(२)

तव स्तवमिषेणाद्य प्रीयते मम मानसम्।
कस्य वा स्तवनार्हस्य स्तवने मूकतोचिता ॥

(३)

शार्दूलोऽसि प्रकोष्ठे मदकल करटी मांसलस्कन्ध कूटे,
दोः स्तम्भे नागराजो ध्वनिषु जलधरः केसरी मध्यदेशे।
धम्मिल्ले ध्वान्तधारा, मनसि जलनिधिः भ्रु युगे कालदण्डः
नूनं त्वं राव! विद्वत्कुलतिलकमणे! सिद्ध वैनायकोऽसि ॥

(४)

यो हैदराबादनिवासिपुंसां हृदम्बुजे कौस्तुभवच्चकास्ति।
यस्यामरां कीर्तिमुदारशीलां, आर्याःसमुल्लासयुता गृणन्ति ॥
विनायको लौकिककर्ममात्रे साक्षी नयाक्षीणमतिः स रावः।
विनायकस्तद्धृदयं मनस्वी विभाति सत्कर्मधनो जनेषु ॥

(५)

एष श्रीराव वैनायकचरितमहाम्भोनिधिः क्वातिवेलः,
क्वासौ खद्योतपोतप्रमुषित विभवश्चेतसो नः प्रकाशः।
तस्माद् व्यर्थः प्रयासो भवति परमिमं चेतसो भक्तिभावम्
नूनं व्यक्तुं भवेन्मे न हि न हि मुनिता श्लाप्यते शंसनीये ॥

(६)

स राजनीतौ कणिकोऽ र्थशास्त्रे नन्दस्य वंशोत्खनने पटीयः।
चाणक्यवद्दैत्यगुरुप्रभावान् सर्वाञ्जनानात्मसमाँस्तनोति
विद्वद्वरिष्ठः प्रतिभागरिष्ठः, श्रेष्ठः सतां भूपति पंक्तिशिष्टः
विनायको राव इति प्रतीतः प्रीत्या परेशस्य चिरायुरस्तु ॥

(७)

हिन्दी यदा कोऽपि न वक्तुमीशः
बिभ्यद्दिल्लानां क्षय माऽवनैषीत् ।
तदा भयं मानसतो व्युदस्य
यः केशवस्मारकमाततन्। माततनिष्ट ॥

(८)

त्वमार्यसम्मेलनकर्मसक्तो
मदान्धभक्तैर्यवनैः प्रहारैः ।
हतो दयाहीनमहीन तेजा
नम्यो जनानां गुलबर्गमध्ये ॥

(९)

न संध्यां संधत्ते हरिमपि न चित्ते कलयति
न वा मौञ्जीबन्धं व्रतनियमनिर्बन्धमावि च ।
श्रुतीर्निन्दन् बाईबिलमपि कुरानं च पठति
स आर्यं त्वां दृष्ट्वा सपदि भजते साधु पदवीम् ॥

(१०)

मुन्शी यदा कार्यधुरं स्म धत्ते
दीना भ्रमन्ति स्मच हिन्दवोऽत्र ।
तदा त्वदीयो धृतिसागरोऽयं
नोद्वेल्लतामापदहोऽति चित्रम्॥

(११)

श्री विनायकरावस्य स्तुतिव्याजेन मेऽर्चना
अभिनन्दनकालेऽसौ सूरीणां नन्दयेन्मनः॥

चन्दौसीवास्तव्यः

——प्रकाशवीर शास्त्री, विद्याभास्कर